भारत की शासन प्रणाली

(Indian Political System)

राजस्थान विश्वविद्यालय क नय कोस के अनुसार

डॉ० दिनेश चन्द्र चतुर्वेदी
एम ए पी एच डी
अध्य क्ष राजनीतिशास्त्र विभाग
जे वी कालिज बडौत।
(मरठ विश्वविद्यालय)

SYLLABUS

Paper II Indian Political System

The syllabus would cover in the main the following items

1. Landmarks in India's National Movement 1885–1947
2. The Constituent Assembly—its structure and approach
3. Outline of Indian Constitution—Federalism , The Indian Presidency, Office of Prime Minister , Parliament, Office of Governor , Supreme Court and Judicial Review
4. The Nature and determinants of Indian Politics
5. The Party System and Pressure Groups
6. Elections
7. India's Foreign Policy

प्रस्तावना

किसी भी देश के सांविधानिक ढांचे तथा उसकी राजनीति को उसके ऐतिहासिक सन्दर्भ से अलग करके नहीं समझा जा सकता। भारत इस सामान्य नियम का अपवाद नहीं है। जिन लोगों ने भारत की औपनिवेशिक दासता के विरुद्ध संघर्ष में नेतृत्व प्रदान किया था उन्हीं लोगों ने स्वाधीन भारत के संविधान की रचना की थी तथा वही लोग एक लम्बे समय तक स्वतन्त्रता के बाद की भारतीय राजनीति पर छाये रहे थे। इसलिए प्रस्तुत पुस्तक में निरूपित पाठ्य सामग्री यथार्थ में एक प्रकार की अवयवी एकता की रचना करती है।

पुस्तक का प्रणयन राजस्थान विश्वविद्यालय के बी ए के नए पाठ्य क्रम को ध्यान में रखकर किया गया है। पुस्तक दो खण्डों में विभाजित है। पहले खण्ड में राष्ट्रीय आन्दोलन की विवेचना है और उस समय की महत्त्वपूर्ण घटनाओं के राजनीतिक पहलुओं पर भी प्रकाश डाला गया है। दूसरे खण्ड में जहां सांविधानिक ढांचे की विवेचना है वहां उसमें इस बात का भी उल्लेख है कि इस ढांचे में पाई जाने वाली संस्थाओं ने देश की बदलती हुई सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों को किस प्रकार प्रभावित किया है अथवा वे स्वयं उनसे प्रभावित होकर अपने आपको बदलने के लिए विवश हुई हैं।

पुस्तक के सम्बन्ध में एक निवेदन और है। घटनाओं और संस्थाओं को सभी अपने अपने दृष्टिकोण से देखते हैं। यद्यपि इस पुस्तक में चर्चित सामग्री को यथासम्भव वस्तुनिष्ठ बनाने का प्रयत्न किया गया है तथापि लेखक ने अपने दृष्टिकोण के आधार पर उनकी विवेचना करने के अपने मूल अधिकार को तिलांजलि नहीं दी है। फलतः बहुत सम्भव है कि इसके कारण इस पुस्तक में कुछ ऐसी स्थापनायें हों जिनसे पाठक सहमत न हो सकें। परन्तु यह कोई बुरी बात नहीं है क्योंकि लेखक का विश्वास है कि वैचारिक प्रगति की प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक होती है। वाद और प्रतिवाद के टकराव के परिणामस्वरूप ही संवाद की रचना होती है। पुस्तक के विषय में भेजे जाने वाले सभी सुझावों का स्वागत है।

दिनेश चन्द्र चतुर्वेदी

विषय-सूची

1

राष्ट्रीय आन्दोलन के ऐतिहासिक चरण

2

भारत की शासन व्यवस्था की रूपरेखा

राष्ट्रीय चेतना का अभ्युदय
(GENESIS OF NATIONAL CONSCIOUSNESS)

1857 से पहले

भारत में एकछत्र साम्राज्य का अंत—1707 में मुगल सम्राट औरंगजेब की मृत्यु हो जाने पर भारत में एकछत्र मुगल साम्राज्य का भी अंत होने लगा। देश के विभिन्न भागों के प्रांतीय सूबेदार या नवाब स्वतन्त्र होने गये। कुछ भागों में हिन्दू राजाओं ने अपनी स्वतन्त्र रियासतें बना लीं। उधर मराठे भी स्वतन्त्र हो गये पंजाब में सिक्खों ने भी स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। यह क्रम जारी रहा और भारत के देशी राजा तथा नवाबों की स्वाधीन रियासतें स्थापित करने की ऐसी प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि उनमें पारस्परिक युद्ध होते रहे और राष्ट्रीय एकता की भावना के विकास को कोई अवसर नहीं मिला।

यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों की गतिविधियाँ—इस बीच यूरोप की फ्रांसीसी डच पुर्तगाली तथा ब्रिटिश व्यापारिक कम्पनियाँ समुद्री मार्ग से भारत में व्यापार करने आ रही थीं। इन्होंने दक्षिण भारत के विभिन्न नगरों में देशी राजा तथा नवाबों की आज्ञा प्राप्त करके अपनी व्यापारिक कोठियाँ निर्मित कीं और उनकी सुरक्षा के निमित्त अपनी छोटी छोटी सेनायें भी रख लीं। प्रारम्भ में इन कम्पनियों के मध्य पारस्परिक युद्ध हुए और अंत में इनके मध्य के युद्धों तथा संधियों का परिणाम यह हुआ कि भारत में ब्रिटेन की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ही सबसे प्रबल सिद्ध हुई। फ्रांसीसी और पुर्तगाली बस्तियाँ पांडीचेरी गोवा दमन दीव में ही अंत तक बनी रहीं और डच कम्पनी का अस्तित्व समाप्त हो गया। ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपनी इस विजय का न केवल आर्थिक लाभ ही उठाया अपितु वह भारत में राजनीतिक गतिविधियाँ भी बढ़ाने लगी।

यूरोपीय साम्राज्यवादी उद्देश्य—यह युग यूरोपीय साम्राज्यवाद का युग था जिसमें इंगलैण्ड साम्राज्यवादी देशों का सिरमौर बनता जा रहा था। इस युग के साम्राज्यवाद का प्रमुख उद्देश्य एशिया तथा अफ्रीका के विभिन्न देशों में अपने साम्राज्य का विस्तार करना था ताकि इन साम्राज्यवादी देशों के पूँजीपति व्यापारी तथा उद्योगपति अपने साम्राज्य के उपनिवेशों का आर्थिक शोषण कर सकें। इन देशों से कच्चा माल प्राप्त करके अपने देश के कारखानों को चलाने उनमें उत्पादित माल को उपनिवेशों में बेचने तथा इन उपनिवेशों में अपनी अतिरिक्त पूँजी को लगा कर उनका शोषण करने में सफल हो सकें। यह तभी सम्भव था जबकि उपनिवेशों में उनका निरंकुश शासन स्थापित हो जाता।

अतः यद्यपि ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी मूल रूप से केवल एक व्यापारिक कम्पनी थी तथापि इसके भारत स्थित अधिकारियों तथा कर्मचारियों ने अपने देश की सरकार तथा इंगलैण्ड स्थित कम्पनी के अधिकारियों को यह समाधान करने में सफलता प्राप्त कर ली कि कम्पनी के मालिकों तथा समूचे रूप में इंगलैण्ड का हित इसी बात पर निर्भर करता है कि भारत में इंगलैण्ड का साम्राज्य स्थापित हो जाये। कम्पनी के भारत स्थित शासकों तथा अधिकारियों ने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त भारतीय राजा तथा नवाबों के पारस्परिक युद्धों तथा कलहों का पूर्ण लाभ उठाने में कोई कमी नहीं रख छोड़ी। इन्होंने युद्धरत पक्षों में से यथावसर एक का पक्ष लेकर उसे जिताया और पुरस्कार-स्वरूप अपने व्यापार क्षेत्र का विकास किया। 1600 से लेकर डेढ़ सौ वर्ष

की अवधि मे ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी का व्यापार क्षेत्र भारत के सम्पूर्ण समुद्रतटीय प्रदेशो से लेकर पर्याप्त दूर तक आन्तरिक क्षेत्रो मे फैल गया ।

1757 से लेकर 1857 तक की शताब्दी भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य के विकास तथा विस्तार का काल है। 1757 के प्लासी के युद्ध मे कम्पनी के अधिकारियो ने जो महत्त्वपूर्ण कूटनीतिक भूमिका प्रस्तुत की वह भारत मे अग्रेजी शासन की स्थापना का श्रीगणेश सिद्ध हुई। इसके फलस्वरूप कम्पनी को बगाल मे दीवानी का अधिकार प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् 1772 तक कम्पनी की यह अधिकार सीमा बिहार, उडीसा तथा अवध के प्रान्तो तक विस्तृत हो गयी। जब यह स्पष्ट हो गया कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत मे केवल व्यापार करने वाली कम्पनी मात्र नही है, अपितु उसके हाथ मे भारत के पर्याप्त बडे क्षेत्र पर शासन करने का अधिकार भी आ गया है। इग्लेण्ड की तत्कालीन सरकार ने यह अनुभव किया कि जब तक कम्पनी के ऊपर ससद का पर्याप्त नियन्त्रण नही रहेगा तब तक वह भारत मे शासन-कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न नही कर सकेगी। अत कम्पनी के कार्य-कलापो का नियमन करने के हेतु 1773 मे ब्रिटिश ससद ने रेग्यूलेटिग एक्ट पास किया। इसके अनुसार कम्पनी के अधिकार-क्षेत्र मे आ गये भारतीय प्रदेशो की शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध मे कानून बनाया गया। यहाँ से ब्रिटिश भारत के सावैधानिक विकास का श्रीगणेश हुआ।

1773 से लेकर 1853 तक प्रति 20 वर्ष के उपरान्त कम्पनी के चार्टर कानूनो मे परिवर्तन तथा परिवर्धन होता गया। साथ ही भारत स्थित कम्पनी के शासको ने ब्रिटिश सरकार की सहायता तथा प्रेरणा लेकर देश में साम्राज्य विस्तार का क्रम जारी रखा। 1857 तक समूचा भारत ब्रिटिश साम्राज्य की सत्ता के अधीन हो गया। थोडे से देशी राजा तथा नवाब अभी तक स्वतन्त्र थे, परन्तु भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी की नीति ऐसी थी जिसके अनुसार सम्भवत थोडे ही समय मे इनका अस्तित्व भी समाप्त हो जाता।

1857 का विद्रोह तथा भारत मे राष्ट्रीय चेतना की जागृति के कारण

1857 की घटना ने भारतीय राजनीति मे एक नया मोड लिया। यो कहना चाहिए कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासको की साम्राज्य विस्तार तथा शोषण की नीति ने भारत में राष्ट्रीय चेतना की जागृति करने का अवसर प्रदान किया। निम्नाकित परिच्छेदो मे उन तथ्यो का विवेचन किया गया है जो ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल की प्रमुख नीतियो को प्रदर्शित करते है और जिनके फलस्वरूप भारत मे राष्ट्रीय चेतना की जागृति होने लगी।

(1) **अंग्रेजो की साम्राज्य लिप्सा**—कुछ लोगो की धारणा है कि भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना का कोई निश्चित तथा नियोजित उद्देश्य नही था, बल्कि यह बात 'अवसरवशात् तथा अकस्मात्' हो गयी, परन्तु इस धारणा मे कोई सत्याश नही है। निस्सन्देह, अग्रेज भारत मे व्यापार करने के लिए आये थे। परन्तु यदि उनका उद्देश्य केवल व्यापार करना ही होता तो कम्पनी के शासको को भारतीय नरेशो के पारस्परिक युद्धो मे किसी एक का पक्ष लेने का कोई औचित्य नही था। इसके उपरान्त बगाल मे पहले दीवानी का अधिकार प्राप्त करके द्वैत शासन की नीति अपनाना और बाद मे शनै- शनै वास्तविक शासक हो जाना, उनकी सुनियोजित साम्राज्यवादी राजनीतिक गतिविधियो का ज्वलन्त प्रमाण है। यदि इग्लैण्ड की सरकार भारत मे साम्राज्य स्थापित करने की इच्छुक न होती तो उसे क्लाइव तथा वारेन हेस्टिंग्स के कार्यकलापो को अस्वीकार कर देना चाहिए था, जबकि स्वय इग्लैण्ड मे भी अनेक राजनेताओ ने इनका कडा विरोध किया था। वास्तविकता यह थी कि इग्लैण्ड उस युग मे साम्राज्य विस्तार के कार्य मे लीन था और इग्लैण्ड का राजनीतिक तथा आर्थिक हित इसी मे था कि वह एशियाई देशो मे राजनीतिक प्रभुत्व कायम करके वहाँ शोषण नीति अपनाकर लाभान्वित हो सके। अत भारत मे कम्पनी के अधिकारियो ने इग्लैण्ड की इस साम्राज्य लिप्सा को सफल करने मे यहाँ की प-

स्थितिया का पूरा लाभ उठाया और इग्लण्ड की सरकार ने निरतर इस नीति का अपना पूर्ण समर्थन प्रदान किया उसे प्रोत्साहित करने म कोई कमी नही रखी तथा इस काय म पूर्ण सहायता प्रदान की और अन्त कम्पनी की अयोग्यता दिखाकर भारत का शासन अपने हाथ म ले लिया। जब भारतवासी इस नीति को भली भाँति समझने लग गये तो उनम ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करने की भावना जागृत होने लगा।

(2) **ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शासन नीतियाँ**—साम्राज्यवाद के औचित्य को श्वेत लोगो के दायित्व (white man s burden) की सज्ञा देकर व्यक्त किया जाता रहा है। भले ही किसी अत्यन्त पिछडे तथा असभ्य क्षेत्र के सम्बन्ध म यह धारणा सही सिद्ध हुई हो परन्तु भारत जैसे देश के सम्बन्ध म जो शिक्षा सस्कृति एव राजनीति के क्षेत्र म अग्रेज जाति की अपेक्षा अति प्राचीन काल म ही अधिक विकसित अवस्था म था यह धारणा कोई अथ नही रखती। यह तो तत्कालीन भारत की राजनीतिक अस्तव्यस्तता का कुप्रभाव था कि यहाँ का आर्थिक विकास पाश्चात्य देशो के समानान्तर नही चल रहा था जिसके कारण यूरोप के पूँजीवादी देशो को यहाँ अपनी श्रेष्ठतर स्थिति प्रदर्शित करने का बहाना मिल गया। अपना राजनीतिक प्रभुत्व कायम कर लेने पर अग्रेजो को यहाँ रेल तार डाक की व्यवस्था तथा थोडे से कारखानो को स्थापित करना पडा। परन्तु यह सब उन्होने भारत की जनता के हितार्थ नही बल्कि अपने शासनतन्त्र को सुदृढ बनाने की सुविधाए प्रदान करने के लिए ही किया। सम्भवत यदि भारत का राजनीतिक तन्त्र सुदृढ होता और यहा का शासन भारतीयो के हाथ म होता तो औद्योगिक विकास म भारत पश्चिम के देशो की तुलना म अधिक उन्नतिशील हो गया होता। वास्तव म इस काल म ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शासन नीति भारत का हर दृष्टि म शोषण कर लेने पर आधारित रही।

(3) **भारतीय अर्थव्यवस्था को नष्ट करने का प्रयास**—अग्रेजो की आर्थिक नीति का प्रमुख लक्ष्य भारतीय उद्योग धन्धो शिल्प कलाओ आदि को नष्ट करना यहा के कच्चे माल को इग्लण्ड के कारखानो म पहुँचाना तथा इग्लण्ड के बने तयार माल से यहा के बाजारो को भर देना था परिणाम यह हुआ कि भारत के शिल्प जीवियो को भुखमरी का सामना करना पडा। भारत म जमीदारी प्रथा लागू करके ब्रिटिश शासक चन्द जमीदारो के हितैषी बन गये और बेचारे किसानो की दशा शोचनीय होती गयी। कृषि ही एकमात्र जीविका का साधन थी। परन्तु इस पर दबाव इतना बढ गया कि भूमि की उवरा शक्ति नष्ट भी होती गयी। इस प्रकार भारतीय जनता अग्रेजो की आर्थिक दासता के नीचे कुचल गया।

ब्रिटिश शासको ने भारतीय शिक्षा सस्कृति साहित्य कला आदि के विकास की थोडा तनिक भी ध्यान नही दिया। जो थोडी सी शिक्षा सस्थायें स्थापित की उनका उद्देश्य थोडे म ऐसे भारतीयो को इतनी ही शिक्षा देना था जिसम कि ब्रिटिश शासन के अन्तगत छोटे छोटे क्लर्कों के रूप म उन्हे नियुक्त कर लिया जा सके। इसलिए शिक्षा का माध्यम अग्रेजी भाषा को बनाया गया भारतीय भाषाओ सस्कृति साहित्य तथा शिक्षा-पद्धतियो को पूर्णतया उपेक्षित रखा गया। यद्यपि मुगल शासन काल म भी इस दिशा मे विशेष ध्यान नही दिया गया था तथापि मुगलो की नीति भारतीय सस्कृति को नष्ट करके अपने निजी स्वार्थों के हित म उसके स्थान पर अपनी सस्कृति थोपना नही रहा था। प्रत्युत् उस काल म हिंदू तथा मुस्लिम सस्कृतिया परस्पर एक मे मिलने लगी थी क्योकि भारत म आकर मुगल लोग भारत को ही अपनी भूमि मानने लगे थे। अग्रेजो की इस नीति का परिणाम यह हुआ कि भारतवासियो को शिक्षा के किसी भी क्षेत्र म प्रगति करने का अवसर नही मिला। अग्रेज यह भी नही चाहते थ कि भारतीयो को शासन के उच्च पदो पर रखा जाये। इसलिए भी शिक्षा के विकास को उपेक्षित रखा गया।

(4) **शासन व्यवस्था म स्वेच्छाचारितावाद तथा उसका विदेशीकरण**—ब्रिटिश शासन की नीति पूर्णतया केन्द्रीकृत स्वेच्छाचारितावाद की थी। भारत म अति प्राचीन काल से ग्राम पचायतो की व्यवस्था थी ये पचायतें ग्रामीण स्वायत्त शासन का काय करती थी। यद्यपि मुस्लिम शासन

काल मे उन्हे विकसित करने का प्रयास नही किया गया तथापि मुस्लिम शासको की नीति उन्हे समाप्त करने की भी नही रही। मुसलमान शासको ने ग्रामीण शासन-व्यवस्था मे कर वसूली तक ही अपने कार्य-कलापो को सीमित रखा था, न कि वहाँ अपनी किसी व्यवस्था को थोपकर परम्परागत व्यवस्था का अन्त करने का उद्देश्य रखा। परन्तु ब्रिटिश शासको ने ग्रामीण स्वायत्त शासन की पचायत प्रणाली का अन्त करके उसके स्थान पर उच्चोच्च व्यय की नौकरशाही व्यवस्था को स्थानापन्न किया। इसका उद्देश्य यही था कि भारतवासियो मे स्वायत्त शासन की चेतना किसी भी स्तर पर विद्यमान न रह सके। धीरे-धीरे उन लोगो ने भारत मे विदेशी न्याय तथा कानून पद्धति को लागू किया। इस प्रकार भारत की समूची राजनीतिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था का विदेशीकरण हो गया।

(5) **ईसाई धर्म-प्रचार और पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव**—ब्रिटिश शासन की नीति ने जहाँ भारतवासियो को आर्थिक, सास्कृतिक तथा राजनीतिक दृष्टि से दास बनाया, वहाँ इन शासको के सरक्षण मे ईसाई मिशनरियो को भी धर्म-प्रचार के कार्य मे प्रोत्साहित किया गया। दरिद्रता की शिकार जनता को विविध प्रकार के प्रलोभन देकर मिशनरियो ने बहुत बडी सख्या मे भारत के हिन्दुओ को ईसाई धर्म की दीक्षा ग्रहण करने मे मदद दी। इस प्रकार भारत की जनता के ऊपर पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता तथा साहित्य का गहन प्रभाव पडना स्वाभाविक था। परिणामस्वरूप भारत-वासियो को 'विदेशी शासन तथा सभ्यता का उपासक' बना लेने मे अग्रेज शासको को सफलता मिली। यद्यपि ब्रिटिश शासको का उद्देश्य भारतीय जनता को अपनी ऐसी नीति के द्वारा पूर्णतया दासत्व की स्थिति मे रखना था, तथापि इसका प्रभाव उनकी इच्छा के विरुद्ध सिद्ध हुआ। तत्कालीन भारतीय शिक्षित लोगो ने पाश्चात्य शिक्षा के द्वारा वहाँ के विद्वानो के विचारो का अध्ययन किया। वहाँ की राजनीतिक परम्पराओ, प्रणालियो, इतिहास, दर्शन तथा चिन्तन के अध्ययन के द्वारा उन्हे ब्रिटिश शासको की कूटनीतिक चालो तथा भारत की दासता का ज्ञान हुआ। अतएव भारत मे पाश्चात्य शिक्षा तथा सस्कृति का प्रसार होने से भारतीय शिक्षित वर्ग मे राष्ट्रीय चेतना की जागृति होने लगी।

(6) **लार्ड डलहौजी की शासन नीति तथा सेना मे रोष**—ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासको के अत्याचारो तथा कार्य-कलापो का चरमोत्कर्ष भारत के गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी की नीतियो द्वारा स्पष्ट तथा प्रकट हो गया। लार्ड डलहौजी ने निस्सन्तान देशी राजा तथा नवाबो को गोद लेने की प्रथा अपनाने से रोक दिया और उनकी रियासतो को ब्रिटिश भारत मे मिलाना शुरु किया। कुछ रियासतो के शासको के ऊपर अकुशल शासन का आरोप लगाकर उन्हे अग्रेजी साम्राज्य मे मिलाना प्रारम्भ किया। इस नीति से सतारा, झासी, अवध, बीदर, बरार, नागपुर, आदि के शासको मे भीषण विद्रोह की भावना उत्पन्न हो गयी, इसी बीच सेना मे ऐसे कारतूस प्रचलित किये गये जिन्हे प्रयुक्त करने से पूर्व दात से काटना पडता था। सैनिको मे यह भावना उत्पन्न हो गयी कि इन कारतूसो मे गाय और सुअर की चर्बी लगी है और अग्रेज लोग भारतीय हिन्दू तथा मुसलमानो का धर्म-भ्रष्ट करने के लिए यह सब कार्य कर रहे हैं।

1857 का विद्रोह

विद्रोह का भडकना—ब्रिटिश शासको की राजनीतिक तथा आर्थिक शोषण एव अत्याचार की नीतिया अधिक समय तक भारतीय जन-मानस से छिपी नही रह सकी। यदि ब्रिटिश शासक भारतीय जनता को अपनी प्रजा समझ कर जनता के हित मे जनता की परम्पराओ के अनुसार शासन करते तो सम्भवत उनकी लोकप्रियता बढती और भारत का इतिहास 1857 के पश्चात् जैसा हुआ, उससे भिन्न प्रकृति का होता। परन्तु ब्रिटिश शासको का उद्देश्य तो कुछ और था। भारत मे स्वेच्छाचारी शासन तो साधन था, उनका साध्य था भारत का सर्वाङ्गीय शोषण। ऐसा व्यवहार थोडे ही समय तक चल सकता था। लार्ड डलहौजी के चले जाने पर भारतीय जनता का

गेप तथा अम ाप जनत क्षेत्रा म फूटन नगा। अब यह प्रकट होन नग गया कि अग्रजा का साम्राज्यवाटा नीनि श्वत नोगा का दायित्व नहा अपितु कान नोगा का दायित्व थी अर्थात् कान नागा का शोषण करक हा श्वत नोगा की इच्छा पूण हा सकनी थी। इसनिए अग्रज सम्पूण भारत म अपना स्वच्छाचारी निरकुश शासन कायम करना चाहत थ। 1857 म ब्रिटिश शासन का नीनिया क विरुद्ध विस्फाट की आग मना म प्रारम्भ हुइ। मरठ छावनी के मनिका न कारतूस क प्रश्न को नकर विद्राह प्रारम्भ किया। शाघ्र ही यह ज्वाना स्थान-स्थान पर भडक उठी। बन्सत राजा-नवावा न भी अपना स्वाधानता प्राप्त करन का अवसर दखा। दिल्ली म एक प्रकार स बन्दी के रूप म पडे हुए अतिम मुगन सम्राट बहादुरशाह न भी अपन को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। विद्राह शाघ्र ही हिंसात्मक हा गया। ब्रिटिश शासका न इस कुचनन म कोई कमी नहा रखी। दूसरी आर भारतीय देशभक्ता न भी दमनकारी अग्रजा को नष्ट करन म पूरी शक्ति लगायी। झासी की रानी नक्ष्मीबाई तात्या टाप मगन पाड आदि न स्वतन्त्रता क नाम पर विदेशी शासका क विरुद्ध नडत हुए अपन प्राणा की आहुति दकर अपना नाम अमर कर दिया। यद्यपि कुछ इनिहासकार 1857 क विद्राह को सनिक विद्रोह की और कुछ गदर की सना दते है तथापि यह विद्राह इसस कुछ और था। पट्टाभि सीतारामया न इसे प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम कहा है। यह बात दूसरी है कि यह क्रान्ति सुसगठित तथा सुनियोजित नहीं थी परतु इतना स्पष्ट है कि इसका विस्तार यही सिद्ध करता है कि इसक मनानी ब्रिटिश शासन की नीति म क्रुद्ध हाने क कारण उमम मुक्ति चाहत थ। उस समय ब्रिटिश शासन का नाव इतनी सुदृढ हा चुकी थी कि क्रान्तिकारिया का एक छोटा-सा वग आवश्यक मनिक सज्जा तथा सुसगठित युद्ध की तयारी क बिना ब्रिटिश शासन स नोहा नहीं न सकता था। अत अग्रजा ने विद्राह का दबा दिया और इसका दमन करन म भा उन्हाने पूण नशसता का आचरण किया। विद्राह को दबान म ब्रिटिश शासका न बदना लने की नाति अपनायी जिसन शासन को आतकवादी बना दिया।

विद्राह की प्रतिक्रिया

(अ) साविधानिक परिवतन—1773 म इग्नण्ड की ससद न भारत म इस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा सचानित शासन क ऊपर अपना नियन्त्रण आरम्भ कर दिया था। तब से कम्पना ससद द्वारा पारित अधिनियमा तथा चाटरा क अनुसार शासन करने नगी थी। 1857 तक लगभग सम्पूण भारत म ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित हा चुका था। भारत का प्रधान शासक गवनर जनरन था जा अपना परिषद की सनाह म अधिशासन का काय करता था। प्राता क गवनर अथवा नफ्टीनन्ट गवनर उसक अधान थ। इग्नण्ड की सरकार न 1853 म कम्पनी के निए अतिम चाटर (आज्ञा-पत्र) पारित किया था। इग्नण्ड की सरकार को यह अनुभव होन नगा था कि इतन बडे दश का शासन कम्पनी क ऊपर छाडना उचित नहीं है। 1857 क विद्रोह ने इग्नण्ड की सरकार की इस धारणा का पुष्ट कर दिया। अभी तक बाड आफ कट्रान भारतीय शासन का नियन्त्रण निदेशन तथा निरीक्षण करना था और कोट आफ डाइरेक्टस केवन परामशवादी निकाय क रूप म थी। गवनर जनरन की परिषद म 12 सदस्य थे उन्हा क परामश स वह विधि निर्माण तथा प्रशासन का काय करता था। उसकी शक्ति इतनी अतुल थी कि वह अपनी परिषद का अवहलना कर सकता था। इन बारह सदस्या म स्वय गवनर जनरन प्रधान सेनापति चार साधारण अधिशासनिक परिषद क सदस्य दो कनकत्ता की सुप्रीम कोट के न्यायाधीश तथा शष चार सदस्य बगान मद्रास बम्बई एव आगरा व अवध (वतमान उत्तर प्रदेश) प्राता की सरकारा द्वारा नियुक्त सरकारी कमचारी हाते थ। 1853 क अधिनियम के द्वारा भारत म प्रशासकीय अधिकारियो की नियुक्ति एव सावजनिक भारतीय सिविन सवा प्रतियोगिता परीक्षा क अनुसार हाने नगी। एक विधि आयोग का निर्माण किया गया था जिसका उद्देश्य भारतीय विधि का सहिताकरण करने का सस्तुति दना था। भारतीय सीमा के अतगत जो क्षेत्र कम्पना के शासन क

अन्तर्गत थे, परन्तु ब्रिटिश भारतीय प्रान्तो के अन्दर नही थे उनके प्रशासन के हेतु सपरिषद् गवर्नर-जनरल को चीफ कमिश्नर नियुक्त करने का अधिकार दिया गया था। इस प्रकार भारत के शासन के सचालन मे विधायिका का प्रयोग करने की प्रथा का श्रीगणेश हो चुका था।

परन्तु विद्रोह के फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार को कम्पनी के हाथ से शासन सत्ता छीन लेने का स्वर्ण अवसर प्राप्त हो गया। उसने यह अनुभव किया कि इस घटना के पश्चात् कम्पनी के ऊपर कुछ नियन्त्रण लगा देना मात्र पर्याप्त नही है। अत कम्पनी के ऊपर अकुशलता तथा अक्षमता का दोष मढकर ब्रिटिश सरकार ने भारत की शासन सत्ता अपने हाथ मे ले ली और कम्पनी के शासन का अन्त कर दिया। इसी के साथ-साथ 1784 के 'पिट का इण्डिया एक्ट' से चले हुए भारत के द्वैध शासन का भी अन्त हो गया, जिसके अनुसार ब्रिटिश सरकार तथा कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स दोनो का नियन्त्रण बना हुआ था। 1858 मे ससद ने भारतीय शासन के हेतु जो अधिनियम बनाया, उसके अनुसार भारत मे ब्रिटिश शासन के विकास का तृतीय चरण प्रारम्भ हुआ—प्रथम चरण मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की वे गतिविधियाँ थी जिनके अनुसार उसने एक व्यापारिक कम्पनी के रूप मे यहाँ की राजनीतिक गतिविधियो मे भाग लेकर प्लासी का युद्ध जीतने और दीवानी का अधिकार प्राप्त करने मे सफलता प्राप्त की थी। दूसरा चरण था 1773 के रेग्यूलेटिंग एक्ट का पास किया जाना जिसके अनुसार कम्पनी तथा ब्रिटिश सरकार की मिली-भगत से भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य का पूर्ण प्रसार हो गया। इस बीच विभिन्न चार्टरो द्वारा भारत मे ब्रिटिश शासन का विकास होता रहा। तृतीय चरण 1858 से प्रारम्भ होकर 1947 तक रहा। इस अवधि मे भारत का शासन ब्रिटिश ताज के अधीन था और इसी अवधि मे भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन छिडा।

जहाँ तक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रश्न है, उपर्युक्त प्रथम चरण मे उसका अस्तित्व नही के बराबर था। उस युग मे भारतीय नरेशो तथा सम्राटो की दुर्बलता एव राष्ट्रीय एकता की भावना का अभाव भारत की राजनीतिक पराधीनता के लिए उत्तरदायी सिद्ध हुआ। ब्रिटिश राज के दूसरे चरण मे भी यह कमी बनी रही। परन्तु इस काल के अन्तिम वर्षो मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के ब्रिटिश शासको की साम्राज्यवादी नीतियो के कारण राष्ट्रीय चेतना जागृत होने लगी थी। 1857 की क्रान्ति वास्तव मे केवल एक सैनिक विद्रोह अथवा थोडे से राजा नवाबो की ब्रिटिश शासको के विरुद्ध बगावत नही थी। इस विद्रोह के पूर्व, विद्रोह की अवधि मे तथा विद्रोह के पश्चात् ब्रिटिश शासको की नीति भारतवासियो को यह चेतावनी देती सिद्ध हुई कि अग्रेज लोग भारत का राजनीतिक, आर्थिक, सास्कृतिक एव सर्वाङ्गीण शोषण करना चाहते है। 1857 की क्रान्ति सुनियोजित तथा सुसगठित नही थी, अन्यथा यदि यह सफल हो जाती तो 1857 से ही भारत का राजनीतिक इतिहास बदल जाता। परन्तु इस क्रान्ति तथा इसके पश्चात् की ब्रिटिश शासको की गतिविधियो ने भारत मे राष्ट्रीय चेतना का निरन्तर विकास किया, अत 1858 के उपरान्त के सावैधानिक विकास एव भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को एक-दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अध्ययन मे भारत के सावैधानिक विकास का समानान्तर अध्ययन करना आवश्यक है।

(आ) सेना का पुनर्गठन—ब्रिटिश सरकार ने 1858 मे पील आयोग की स्थापना की और उसकी सस्तुतियो के आधार पर 1861 मे भारत की सेना का पुनर्गठन किया। चूँकि 1857 की घटना सैनिक विद्रोह के रूप मे प्रकट हुई थी, अत अब अग्रेजो ने भारतीय सेना पर विश्वास करना छोड दिया। सेना मे उच्च पद तो अग्रेजो को दिये ही जाते थे, साथ ही अब गोरो की सेना को अधिक सुदृढ किया जाने लगा। सेना के डिवीजनो का सगठन जातीयता तथा प्रान्तीयता के आधार पर किया गया, यथा सिक्ख, जाट, मराठा, गोरखा, राजपूत आदि के रेजीमेट। इसका उद्देश्य विभिन्न जातियो तथा प्रान्तो के सैनिको की टुकडियो को आवश्यकता पडने पर एक-दूसरे के विरुद्ध खडा कर लेना था। यह कदम भारतवासियो मे अग्रेजो की 'फूट डालो' की नीति का आरम्भ था। भारतीय सेनाओ के ऊपर ब्रिटिश अधिकारियो का नियन्त्रण

कठोरतम बनाया गया। सेना में मुसलमानों को न्यूनतम स्थान दिया गया। क्योंकि उस समय तक अंग्रेजों की यही धारणा थी कि भारत में उनके पूर्ववर्ती शासक मुसलमान थे और वे पुनः अपनी सत्ता प्राप्त करना चाहते थे।

(इ) विदेशी संस्कृति का विकास—अंग्रेजों ने भारतीयों को बौद्धिक दासता का शिकार बनाना अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्रेयस्कर समझा और इस दृष्टि से उन्होंने पाश्चात्य पद्धतियों को अधिक लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया। भारत में ब्रिटिश ढंग की न्याय पद्धति लागू की गयी। संसदीय प्रणाली को लागू करने के उद्देश्य से 1861 में भारतीय परिषद् अधिनियम (Indian Councils Act 1861) लागू किया। अंग्रेजी शिक्षा तथा संस्कृति के प्रसार के लिए 1858 में कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई में विश्वविद्यालयों की स्थापना की गयी। इस प्रकार अंग्रेजों का उद्देश्य अब भारतीयों पर बौद्धिक विजय प्राप्त करना हो गया ताकि भारतवासी अपनी भारतीय परम्पराओं, संस्कृति आदि को भूलकर राष्ट्रीय प्रगति न कर सकें और अंग्रेजियत के दास बन जायें।

(ई) जातीय भेदभाव का श्रीगणेश—1857 के विद्रोह से अंग्रेजों ने यह निष्कर्ष निकाला कि इसके लिए हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान अधिक उत्तरदायी थे क्योंकि भारत में अंग्रेजों के पूर्ववर्ती शासक होने के नाते वे अपनी सत्ता को पुनः प्राप्त कर लेना चाहते थे। अतः अंग्रेजों ने मुसलमानों पर अविश्वास करना प्रारम्भ किया। यों तो अब अंग्रेज सभी भारतीयों को शंका की दृष्टि से देखने लग गये थे तथापि 1857 के पश्चात् मुसलमानों को उच्च पदों से वंचित रखा गया। सेना में उन्हें कोई प्रोत्साहन नहीं दिया गया। यद्यपि महारानी विक्टोरिया की घोषणा (1858) में कहा गया था कि जाति-पाँति, धर्म, रंग आदि का भेदभाव किये बिना सभी भारतवासियों को उच्च पदों पर नियुक्त किया जायगा तथापि इस नीति पर अत्यन्त सावधानी के साथ आचरण किया जाने लगा। इससे पूर्व अंग्रेज लोग भारतवासियों से बहुत अधिक सामाजिक सम्पर्क रखते थे परन्तु अब वे उसे भी समाप्त करने लगे और भारतवासियों को अपने से हीन मानकर घृणा की दृष्टि से देखने लगे।

(उ) देशी राजा तथा नवाबों के प्रति व्यवहार में परिवर्तन—यद्यपि 1857 तक अंग्रेजों ने भारत की अधिकांश भूमि पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था और इसमें उनका स्वेच्छाचारी शासन स्थापित हो चुका था तथापि अभी भी देश के अन्दर अनेक रियासतें ऐसी थीं जो देशी राजा या नवाबों के द्वारा शासित थीं परन्तु वे ब्रिटिश शासन से पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं थीं। उनके साथ ब्रिटिश सरकार ने विविध सन्धियाँ की थीं जिनके अन्तर्गत वे राजा या नवाब ब्रिटिश सरकार के दबाव में ही थे। अंग्रेजों ने अब भारतीय जनता के रोष के विरुद्ध उन्हें ऐसे प्रतिक्रियावादी तत्वों के रूप में खड़ा करना प्रारम्भ किया जिनकी सहायता से वे अपनी स्थिति को और अधिक सुदृढ़ कर सकें। अतः महारानी की घोषणा में उन्हें यह आश्वासन दिया गया कि ब्रिटिश सरकार उनके अधिकारों, सम्मान तथा स्थिति को अपना ही समझेगी और उनके साथ हुई सन्धियों को पूर्ण रूप से मानेगी। ये देशी राजा तथा नवाब बाद के राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में भारतवासियों के मार्ग में प्रतिक्रियावादी रोड़े सिद्ध हुए और 1947 तक उनका कार्यभाग स्वतन्त्रता आन्दोलन में देश के नेतृत्व के विरुद्ध ब्रिटिश राजभक्ति प्रदर्शित करने का बना रहा।

1857 के विद्रोह की समाप्ति पर भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के अधिकार का अन्त करने तथा ब्रिटिश सरकार द्वारा स्वयं भारतीय शासन अपने हाथ में ले लेने के सम्बन्ध में 1858 में जो कानून ब्रिटिश संसद ने पास किया था वह एक प्रकार से अन्तरिम कानूनी व्यवस्था थी, इसका वास्तविक रूप 1861 के इण्डिया कौंसिल एक्ट में व्यक्त हुआ।

1861 से 1885 तक की अवधि में राष्ट्रीयता का विकास

राष्ट्रीयता की भावना का उदय—1857 के विद्रोह ने यह सिद्ध कर दिया था कि भारतवासियों में राष्ट्रीय चेतना जागृत होने लग गयी थी। साम्राज्यवाद का तथा

विशेष रूप से भारत के सदर्भ मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का उद्देश्य उपनिवेश की जनता का राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एव सास्कृतिक शोषण रहा था। इस तथ्य से भी इनकार नही किया जाता कि विदेशी राजनीतिक दासता के पजो मे जकडी किसी पराधीन देश की जनता मे राष्ट्रवादी भावना का सचार शोषक देश ही करता है। यद्यपि 1857 की क्रान्ति को विदेशी सरकार ने तलवार तथा शस्त्र वल से दबा लेने मे सफलता प्राप्त कर ली थी, तथापि जिस स्वेच्छाचारितावाद की नीति से इसके पश्चात् ब्रिटिश सरकार भारत मे अपना साम्राज्य सुदृढ करने मे तुल गयी, उसकी प्रतिक्रिया यही हुई कि भारत मे राष्ट्रवादी तत्त्व विकसित होने लगे और उनका मुख्य उद्देश्य देश को पराधीनता से मुक्त कराना था। परन्तु आवश्यकता इस बात की थी कि भारतीय राष्ट्रीयता की भावना को सुसगठित किया जाये। ब्रिटिश शासन भारत मे इतनी सुदृढता से स्थापित हो चुका था कि उसे उखाड फेकने के लिए राष्ट्रीय एकता तथा सगठन से युक्त देशव्यापी आन्दोलन को भी उतना ही अधिक सुदृढ तथा शक्तिशाली बनाया जाये। भारत की आम जनता का विशाल भाग ऐसी राष्ट्रीय तथा राजनीतिक चेतना से युक्त नही था। अत 1857 के पश्चात् जहाँ राजनीतिक तथा राष्ट्रीय चेतना के विकास के कार्य-कलाप देश मे विकसित होने लगे, वहाँ ब्रिटिश शासन के अत्याचार भी उसी गति से बढने लगे। ब्रिटिश शासको ने राष्ट्रीय चेतना तथा आन्दोलन को दबाने मे अपनी दमनकारी नीतियो को किसी प्रकार कम नही किया। इसी के फलस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास को भी सामग्री प्राप्त होती गयी। ज्यो-ज्यो राष्ट्रीय चेतना मे विकास होने लगा त्यो-त्यो ब्रिटिश शासको ने देश की राष्ट्रीय एकता को विनष्ट करने के उद्देश्य से यहाँ की जनता मे भेदभाव तथा विघटन उत्पन्न करने के साधनो को प्रोत्साहन देना शुरू किया, ताकि उनकी सत्ता बनी रहे। 1885 तक भारतीय राष्ट्रीय चेतना को बलशाली बनाने मे ब्रिटिश शासको के निम्नाकित कार्य-कलापो का योगदान था

(1) **अकाल तथा दरबार**—जब 1876 मे लार्ड लिटन भारत का गवर्नर-जनरल बनकर आया तो उसने भारत मे अनेक दमनकारी तथा समय के प्रतिकूल व्यवहार प्रारम्भ किये। वह पक्का साम्राज्यवादी था। उस काल मे दक्षिण भारत मे भयकर अकाल पड रहा था। परन्तु उसने 1877 मे देहली मे एक शानदार दरबार आयोजित किया जिसका उद्देश्य महारानी विक्टोरिया को कैसरे-हिन्द की उपाधि से सम्मानित करना था। इसमे लाखो रुपया व्यय किया गया जबकि अकाल पीडित जनता को राहत देने के कार्यो की उपेक्षा की गयी। भारतवासियो मे ब्रिटिश शासको की इस उपेक्षा-नीति से भीषण असन्तोष होने लगा। विद्वानो ने लिटन के इस आचरण की तुलना प्राचीन रोम की इस कहावत से की है कि 'जब रोम जल रहा था तो नीरो बाँसुरी बजा रहा था' (Nero was fiddling while Rome was burning)।

(2) **वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट**—लार्ड लिटन ने अनुभव किया कि भारत मे प्रेस की स्वतन्त्रता भारतवासियो के हृदय मे राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करने मे सहायक सिद्ध हो रही है। इस समय तक भारत मे 400 से भी अधिक देशी भाषाओ के पत्र प्रकाशित होने लगे थे। इनके द्वारा लार्ड लिटन की दमनकारी शासन नीति का विरोध किया जाने लगा था। ब्रिटिश नौकरशाही इस विकास को सहन नही कर सकती थी। लार्ड लिटन को विश्वास हो गया कि भारतवासियो को समाचार-पत्रो की स्वतन्त्रता प्रदान करना ब्रिटिश साम्राज्यवाद को हानि पहुँचाना है। अत 1878 मे उसने व्यवस्थापिका से तुरन्त वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट पास करवाकर भारतवासियो को विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के अधिकार से वचित कर दिया। इस कानून के अन्तर्गत जिलाधीशो को यह अधिकार दे दिया गया कि वे समाचार-पत्रो के प्रकाशको तथा प्रेसो से जमानते माग सकते थे ताकि वे शासन की नीतियो के विरुद्ध कोई विचार व्यक्त न करने की प्रतिज्ञा करे। उसकी अवज्ञा करने पर जमानत जब्त कर ली जाती थी और शासन के ऐसे कार्यो के विरुद्ध न्यायालयो मे अपील तक नही की जा सकती थी। यह कानून भारतीय प्रेस के विरुद्ध एक तीव्र

प्रतिगामी कदम था। इस कानून को लागू करने में भी शासन के अधिकारियों ने कोई कमी बाकी नहीं रखी। इसका परिणाम यह हुआ कि जनता में भीषण असन्तोष फैला और इस कानून के विरोध में एक देशव्यापी आन्दोलन उमड़ पड़ा। इंग्लैण्ड में उदार दलीय नेता ग्लैडस्टन ने भी इसकी निन्दा की और भारत का वायसराय होने से पूर्व लार्ड रिपन ने भी इसे अनावश्यक तथा अवांछनीय कहा।[1] यह आन्दोलन पर्याप्त सुदृढ़ हो गया और पांच वर्ष तक लगातार चलता रहा। इस कानून को सरकार ने तभी निरस्त किया जबकि लार्ड रिपन जो भारतवासियों के सबसे बड़े हितैषी गवर्नर जनरल माने गये हैं ने इस कानून की बुराइयों को देखते हुए इसे रद्द करने का प्रस्ताव किया। इस कानून ने भारत में देशव्यापी राष्ट्रीयता की लहर फैलाने का कार्य किया।

(3) **कपास आयात-कर का उन्मूलन**—लार्ड लिटन ने भारत में राष्ट्रीयता की लहर को और अधिक सुदृढ़ बनाने में अपनी साम्राज्यवादी नीति का एक और दृष्टान्त प्रस्तुत किया। उसका उद्देश्य इंग्लैण्ड के लंकाशायर तथा मान्चेस्टर के कपास के कारखानों के मालिकों को लाभान्वित करने के निमित्त भारत में नव-स्थापित देशी कपास कारखानों को नष्ट करना था। यद्यपि भारत के नव-स्थापित कपास कारखाने अनेक असुविधाओं के होते हुए तथा समुचित प्रोत्साहन के अभाव में भी पर्याप्त प्रगति कर रहे थे तथापि साम्राज्यवादी शासक उनकी ऐसी उन्नति को सहन नहीं कर सकते थे। उन्हें नुकसान पहुंचाने के उद्देश्य से लार्ड लिटन ने इंग्लैण्ड के कारखानों से तैयार कपास के माल से आयात-कर हटा दिया ताकि उन कारखानों का माल भारत में और अधिक सस्ता बिक सके। इस कानून का विरोध स्वयं वाइसराय की कार्यकारी परिषद् में किया गया था परन्तु लार्ड लिटन ने उसकी परवाह न करके इसे पास कर दिया। भारत के व्यापारियों के तीव्र विरोध के बावजूद इस कानून में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। इससे भारतवासियों को महान क्षोभ व असन्तोष हुआ। उन्हें यह विश्वास होने लगा कि ब्रिटिश शासक भारत का हर प्रकार से शोषण करने पर तुले हैं। स्वाभाविक था कि इसके कारण राष्ट्रीय भावना का विकास होने लगा।

(4) **लार्ड लिटन के अन्य कार्य कलाप**—लार्ड लिटन ने काबुल के ऊपर अनावश्यक चढ़ाई करके अफगान युद्ध का खतरा मोल लिया और उसके निमित्त सेना संचय में बहुत धन व्यय किया। उसने देश की गरीबी अकाल तथा भुखमरी की उपेक्षा करके ऐसी युद्ध-नीति अपनाकर भारत की जनता में और अधिक असन्तोष फैलाया। 1857 के विद्रोह के पश्चात् अंग्रेज लोग भारतवासियों को शंका की दृष्टि से देखने लग गये थे। लार्ड लिटन सदृश प्रतिगामी वायसराय के लिए यह बात अस्वाभाविक नहीं थी कि वह भारतवासियों को अशक्त बनाने में कोई कमी करता। उसने अपने शासन काल में शस्त्र विधेयक पास करके ऐसा कानून बनाया जिसके अनुसार भारतवासियों को बिना सरकार की आज्ञा प्राप्त किये शस्त्र रखने का अधिकार नहीं रहा। परन्तु भारत में रहने वाले यूरोपीय व्यक्तियों पर यह कानून लागू नहीं होता था। इस प्रकार लिटन ने भारतवासियों को निःशस्त्र कर दिया। साथ ही इससे सम्बद्ध जातीय भेदभाव की नीति के कारण भारतीय जनता का ब्रिटिश शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया दर्शाना स्वाभाविक था। भारतीय नेताओं की दृष्टि में यह कानून भारतीयों का महान् अपमान था क्योंकि इसके द्वारा भारतीय जनता को स्वयं अपने ही देश में हीनतर स्तर का नागरिक बना दिया गया था।

(5) **भारतीय सिविल सेवा**—जबसे भारतीय सिविल सेवा का आरम्भ हुआ था तभी से शिक्षित भारतीय नवयुवक इस प्रतियोगिता परीक्षा में सम्मिलित होने के लिए इंग्लैण्ड जाने लगे और अनेक प्रतिभाशाली अभ्यर्थियों ने इस परीक्षा में इंग्लैण्ड के अभ्यर्थियों से उच्च प्रतिभा प्रदर्शित करनी शुरू की। ब्रिटिश शासक इसे सहन नहीं कर सके। अत भारत के नवयुवकों को इससे वंचित रखने के उद्देश्य से इस परीक्षा की न्यूनतम आयु सीमा 21 वर्ष से घटाकर 19 वर्ष

[1] स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा स्वामी रामकृष्ण परमहंस इसके अपवाद हैं।

कर दी गयी, ताकि इस अल्पायु मे भारत का कोई भी नवयुवक इस परीक्षा का लाभ न उठा सके। इस नियम के विरुद्ध भारतीय शिक्षित वर्ग ने व्यापक आन्दोलन छेडा और इगलैण्ड की ससद के समक्ष इसके विरोध मे स्मरण-पत्र भी प्रस्तुत किये गये। इस आन्दोलन को सुरेन्द्रनाथ बनर्जी द्वारा स्थापित इण्डियन एसोसियेशन के माध्यम से सुनियोजित ढग से सम्पन्न किया गया।[1] परिणामस्वरूप कालान्तर मे ब्रिटिश सरकार को पुन इण्डियन सिविल सर्विस की न्यूनतम आयु सीमा 21 वर्ष करने को विवश होना पडा। परन्तु इसके कारण राष्ट्रीयता की भावना को और अधिक बल मिला।

(6) **इलबर्ट बिल विवाद**—लार्ड लिटन के पश्चात् लार्ड रिपन भारत के गवर्नर-जनरल बनकर आये। वह अत्यन्त उदार व्यक्ति थे। उन्हे यह आभास हुआ कि उनके पूर्ववर्ती वाइसराय की नीतियो तथा कार्य-कलापो से भारतवासियो मे महान् असन्तोष फैला है। साथ ही यह भी कि लार्ड लिटन की अनेक नीतियाँ अत्यन्त अवाछनीय थी। लार्ड लिटन के काल तक भारत मे यूरोपियनो के विवादो की सुनवाई भारतीय सेशन जज या जिलाधीश नही कर सकते थे। अत न्याय कार्य मे भी जातीय भेदभाव की नीति प्रचलित थी। लार्ड रिपन की कार्यकारिणी के एक सदस्य सर इलबर्ट कोर्टनी ने भारतीय व्यवस्थापिका परिषद् मे एक विधेयक इस उद्देश्य का रखा कि न्यायिक क्षेत्र मे इस भेदभाव को समाप्त कर दिया जाये। इलबर्ट बिल के द्वारा भारतीय जिलाधीशो तथा सेशन जजो को यूरोपियनो के विवादो को तय करने का भी अधिकार दिया गया, परन्तु इससे यूरोपियनो को बडा क्षोभ हुआ। उन लोगो ने इस कानून का घोर विरोध किया। वे रिपन की उदार नीति से असन्तुष्ट तो थे ही क्योकि रिपन ने अपने शासन काल मे वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट को रद्द कर दिया था, अफगानिस्तान के साथ भी एक सम्माननीय सधि करके सैनिक व्यय को कम किया था और भारतवासियो के प्रति उनका दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण था। परन्तु इलबर्ट बिल का विरोध उन्होने जी-जान से किया। उन्होने यह मत प्रकट किया कि इस कानून का भारतीय न्यायाधीश अनुचित लाभ उठायेगे। वे यूरोपियनो के मामलो को निर्णीत करने के लिए अक्षम है। इन लोगो ने लार्ड रिपन के विरुद्ध अनेक अपमानजनक व्यवहार भी किये। इस विवाद का अन्त तभी हुआ जबकि यह समझौता किया गया कि यूरोपियनो के विवादो की सुनवाई भारतीय न्यायाधीश यूरोपियन ज्यूरी की सहायता से कर सकेगे। परन्तु इस सारे काण्ड ने भारतवासियो के हृदय मे अग्रेजो के प्रति विरोध उत्पन्न कर दिया। अब भारतवासियो को स्पष्ट हो गया कि अग्रेज उन्हे हर तरह से हीनता की स्थिति मे रखना चाहते है।

(7) **इण्डियन एसोसियेशन की स्थापना**—1857 के विद्रोह के पश्चात् और विशेष रूप से लार्ड लिटन की दमनकारी नीतियो के परिणामस्वरूप भारत के विभिन्न प्रान्तो मे अनेक प्रकार के समुदायो की स्थापना होने लगी थी। परन्तु ये समुदाय विशुद्ध रूप से स्थानीय अथवा क्षेत्रीय प्रकृति के थे और इनका क्षेत्र भी सीमित था इन्ही मे से सुरेन्द्र नाथ बनर्जी द्वारा 1876 मे स्थापित इण्डियन एसोसियेशन भी एक था। परन्तु इसकी विशेषता यह थी कि इसे 'इण्डियन' कहा गया था, जिसके कारण इसका क्षेत्र तथा स्वरूप राष्ट्रीय था। तत्कालीन सरकार की दमन नीतियो के कारण भारत मे जो राष्ट्रीय चेतना जागृत हो रही थी उसको सगठित तथा एकीकृत करने के उद्देश्य से सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने उत्तरी तथा दक्षिणी भारत का भ्रमण किया, ताकि वे ब्रिटिश शासन की दमनकारी नीतियो के विरुद्ध देश-व्यापी जनमत का निर्माण कर सके। जब इण्डियन सिविल सर्विस के लिए न्यूनतम आयु कम कर दी गयी और इलबर्ट बिल के विरोध मे यूरोपीय लोगो ने 150000 रुपया एकत्र करके यूरोपीय प्रतिरक्षा सगठन (European Defence Association) स्थापित किया और अपने पक्ष मे इस कानून को पास करा लिया तो भारत मे भी इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप राष्ट्रीय कोष एकत्र किया गया जिसका उपयोग

[1] ताराचन्द, भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास (2), 379।

न्दरन जिन विवा म भारत क पक्ष को प्रस्तुत करन म होन वाल व्यय के लिए किया जाना था । अत 1883 म सुरेन्द्रनाथ बनर्जी न कलकत्ता म तीन दिवसीय भारतीय राष्ट्रीय सम्मलन को आहूत किया । इसम विभिन्न प्रान्तों क प्रतिनिधियों न भाग लिया । यह सम्मलन यथेष्ट उत्साह क वातावरण म सम्पन्न हुआ । इससे यह स्पष्टतया प्रकट हो गया कि भारत म राष्ट्रीय चेतना सक्रिय रूप से जागत हो चुकी है और उसका उद्देश्य ब्रिटिश शासन की दमनकारी नीतियों का विरोध करना है क्योंकि ब्रिटिश शासन हर प्रकार स भारतवासियों को दबाने व नीचा दिखाने क प्रयत्नों म लगा है ।

लाड लिटन क चल जान पर लाड रिपन (1880–84) क वाइसरायत्व काल म उसकी शासन नीतियों म जो उदारता दर्शायी गयी उसके कारण भी भारत के अनेक शिक्षित वर्गों म यह धारणा उत्पन्न हुई कि अन्याय तथा अत्याचारपूर्ण शासन को सगठित विरोध उसे समाप्त कर देने म सहायक सिद्ध होता है अतएव यदि भारतीय राष्ट्र भावना को सगठित करके विकसित किया जायेगा तो भारत म ब्रिटिश सरकार की अन्यायपूर्ण तथा शोषणकारी नीतियों के ऊपर प्रतिरोध लग सकेगा । लाड रिपन न लिटन क अनेक अन्यायी कदमों को समाप्त किया था । साथ ही उसके शासनकाल म भारत म स्वशासन क निमित्त स्थानीय स्वायत्त शासन का श्रीगणेश हुआ था । इससे भी भारतीय राष्ट्रीय भावना को विकसित होन क लिए बहुत प्रोत्साहन मिला । रिपन क चल जान पर लाड डफरिन क शासन काल म निश्चित रूप स भारतीय राष्ट्रीयता का सगठित स्वरूप प्रस्फुटित हो गया ।

प्रश्न

1 उन्नीसवीं शताब्दी क अन्तिम चरण म भारत म राष्ट्रीय जागरण क क्या कारण थ ?
2 लाड लिटन क शासनकाल म व कौनसे काम हुए जिन्होंने भारतवासियों म राष्ट्रीय चेतना को जन्म दिया ?

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

(INDIAN NATIONAL CONGRESS EARLY PHASE)

भारत मे राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्पत्ति के कारण

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का अभिप्राय उस आन्दोलन से है जिसका उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्यशाही की दासता से भारत को मुक्त करना था। बहुधा यह माना जाता है कि इस आन्दोलन का इतिहास भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस (1885 मे स्थापित) के समानान्तर है। परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्पत्ति का एकमात्र श्रेय काग्रेस को ही प्रदान करना पूर्ण सत्य नही है। जैसा गत अध्यायो मे दर्शाया गया है, भारत की राष्ट्रीयता अति पुरातन है। मध्य युग मे अफगानो तथा मुगलो के राजनीतिक प्रभुत्व तथा उसके पश्चात् ब्रिटिश साम्राज्यशाही के प्रभुत्व ने भारत की जनता की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना को दबाए रखा था। ब्रिटिश शासन की कूटनीतियो ने इस भावना को प्रकट मे ला दिया। उस युग मे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अभ्युदय मे विविध तत्त्वो का योगदान रहा है—

(1) **अट्ठारहवी तथा उन्नीसवीं सदियो के सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलन**—भारत मे अत्यन्त दीर्घकाल से विधर्मियो के शासन के कारण हिन्दू धर्म को भीषण क्षति पहुँची थी। हिन्दू समाज अपनी सस्कृति को भूलने लग गया था। मुसलमानो तथा अग्रेजो के शासन काल मे इस्लाम तथा ईसाई धर्म प्रचारको ने हिन्दू समाज की इस हीनावस्था का लाभ उठाने का प्रयास किया। फलस्वरूप हिन्दू समाज की राष्ट्रीयता की भावना कुण्ठित होने लगी। 1828 मे बगाल मे राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना करके हिन्दू समाज को अपनी प्राचीन सस्कृति की महानता को समझने का अवसर प्रदान किया। उनके इस कार्य को देवेन्द्र नाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर ने आगे बढाया। इसी प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 1875 मे आर्य समाज की स्थापना करके हिन्दू समाज को अपनी वैदिक सभ्यता को समझने मे मदद की। इन समाज-सेवको तथा धर्म-सुधारको ने हिन्दू धर्म की व्याख्या करके उसमे प्रचलित अन्धविश्वास तथा नैराश्य भाव को दूर करने का प्रयास किया और समाज को हिन्दू धर्म की महत्ता तथा उसकी वास्तविकता से परिचित कराया। राजा राममोहन राय ने बाल-विवाह, सती-प्रथा आदि सामाजिक बुराइयो को समाप्त करने मे भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया। स्वामी रामकृष्ण परमहस तथा उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म तथा हिन्दू सस्कृति की महत्ता से न केवल हिन्दू समाज को ही प्रभावित किया, अपितु विदेशो तक मे उन्होने हिन्दू धर्म तथा सस्कृति की श्रेष्ठता का प्रबल प्रचार किया। श्रीमती ऐनी बेसेंट ने स्वय हिन्दू धर्म को ग्रहण कर लिया और उनकी थियोसॉफिकल सोसाइटी की स्थापना के कारण धार्मिक जागृति को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। उत्तरी भारत मे आर्य समाज का व्यापक प्रचार स्वामी दयानन्द के अन्य प्रभावशाली शिष्यो, स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपतराय आदि ने किया। महाराष्ट्र मे महादेव गोविद रानाडे ने ब्रह्म समाज के सदृश प्रार्थना समाज की स्थापना की। उसका उद्देश्य भी हिन्दू समाज मे आ गयी बुराइयो, सकीर्णताओ तथा कुप्रथाओ को दूर करना था। इन आन्दोलनो ने हिन्दू समाज की एकता बढाने, अन्धविश्वास का त्याग करने तथा धार्मिक एव सामाजिक कुरीतियो का अन्त करने मे बहुत मदद की। इनके परिणामस्वरूप देश के सभी

भागा म भारत म राष्ट्रीयता की भावना क विकास को भी पर्याप्त बल मिला। इन धार्मिक समाजा ने अनक बडी-बडी शिक्षा सस्थाओ की स्थापना करवायी। इन धार्मिक तथा सामाजिक पुनर्जागरण आन्दोलना का प्रभाव राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन पर भी पडा। दूसरी ओर मुसलमाना क अन्दर भी सर सयद अहमद खाँ सदृश नताओ ने सुधार आन्दोलन जारी किया और मुसलमाना को *पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण करने पर्दा प्रथा को समाप्त करन तथा स्त्री शिक्षा को बढावा* दने क लिए प्रोत्साहित किया। जहा थियोसाफिकल सोसाइटी ने हिन्दू सेन्ट्रल स्कूल बनारस की स्थापना की वहा सर सयद अहमद ने अलीगढ आन्दोलन चलाकर अलीगढ म मुहमदन ऐंग्लो ओरियन्टल कालिज की स्थापना करवायी। इस प्रकार इन आन्दोलना तथा इनके नताओ क विचारा न भारतीय जनता म भारतीय सस्कृति क प्रति प्रम तथा श्रद्धा की भावना को जाग्रत करक दश प्रम तथा राष्ट्र प्रम को प्रोत्साहित किया। लोगा म यह धारणा बलवती होने लगी कि अपन धम तथा अपनी सस्कृति को बनाए रखन तथा उनका विकास करने के लिए यह बात आवश्यक है कि देश म विदेशी शासन न रह। राष्ट्रीय स्वाधीनता इस उद्देश्य की पूर्ति क लिए आवश्यक है। साथ ही इन सुधार आन्दोलना ने भारतीय जनता को अनेक सामाजिक कुरीतिया को समाप्त करके अन्धविश्वासा को त्यागने की प्ररणा भी दी।

इन आन्दोलना क कुछ प्रवतका पर पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव भी पर्याप्त था।[1] पाश्चात्य शिक्षा न इन्ह उन देशा के सुधार आन्दोलना की प्ररणा दी और विवेक तक तथा विज्ञान क आधार पर अपनी सस्कृति को सुधारने का प्रोत्साहन दिया। यद्यपि ये धम-सुधारक राष्ट्रवादी थ तथापि इन्होने अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता की कामना करत हुए पाश्चात्य सस्कृति शिक्षा तथा व्यवस्थाओ की भलाइया को भी स्वीकार किया। इनकी शिक्षाओ के प्रभाव से भारतवासियो म नयी चेतना जाग्रत हुई। यद्यपि हिन्दू तथा मुस्लिम समाज एव धम सुधार आन्दोलना की समानान्तर प्रगति ने बाद के काल म साम्प्रदायिक भावना के विकास म मदद दी तथापि साम्प्रदायिक शक्तिया के शक्तिशाली खिंचाव के होते हुए भी 19वी सदी के उत्तराध म राष्ट्रीयता का पौधा बढता चला गया।[2]

(2) ब्रिटिश शासन तथा भारतीय एकता—भारत की राष्ट्रीय एकता स किसी को आपत्ति नही होनी चाहिए। ऐतिहासिक भौगोलिक सास्कृतिक धार्मिक आदि विविध दृष्टिया स भारत सदव एक राष्ट्र रहा है। यद्यपि भारत की राजनीतिक एकता के माग म ब्रिटिश शासन के पूव अनक बाधाए रही तथापि अनक शासन काला म समूचा भारत एक राजनीतिक इकाई भी रहा था। अग्रजा न 1857 तक लगभग समूचे भारत को एक शासनिक इकाई के रूप म परिणत कर लिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि सारे देश की प्रशासनिक व्यवस्था राजकीय कानून एव न्याय पद्धति समरूप हो गयी। इसके कारण समस्त भारतवासियो क हित तथा कष्ट एक से हो गए। यह बात भारतवासिया क लिए बडे गौरव की है कि उनम विधर्मिया के साथ राष्ट्रीय सह-अस्तित्व बनाए रखने की क्षमता रही है। भारत म हिन्दू तथा मुसलमान अपने सामाजिक आर्थिक राजनीतिक आदि मामला म परस्पर मिल जुलकर रह रहे थे। ब्रिटिश शासन से उत्पन्न कष्ट दोना सम्प्रदाया के लिए समान होने के कारण उनम एक राष्ट्रीयता की भावना का उदय होने लगा। यह तो बाद म ब्रिटिश साम्राज्यवादियो की चाल रही कि उन्होने इस राष्ट्रीय एकता को नष्ट करन के लिए फूट डालो और राज्य करो की नीति अपनाकर इन दोना सम्प्रदाया क मध्य फूट उत्पन्न करान का अभियान चलाया। ब्रिटिश शासन न भारत म रेल तार डाक आदि की व्यवस्था की। यद्यपि ऐसा उन्होने केवल अपने शासन की सुविधा का तथा अग्रज व्यापारी तथा व्यवसायियो के हितो को ध्यान म रखकर ही किया तथापि इन साधना न भारतीय राष्ट्रीय एकता का विस्तार करने म भी मदद पहुँचाई। अग्रजा द्वारा स्थापित शिक्षा-सस्थाओ म अग्रजी भाषा को

[1] तारा चन्द वही 407। [2] वही 404।

शिक्षा का माध्यम बनाने का परिणाम यह हुआ कि देश के विभिन्न भागो के शिक्षित भारतीयो को परस्पर विचारो का आदान-प्रदान करने की सुविधा प्राप्त हो गयी। उन्हे अपनी सामूहिक समस्याओ पर एक साथ विचार करने के लिए आसानी से एकत्र होने की सुविधा प्राप्त हुई और अग्रेजी भाषा के माध्यम से विविध भाषा-भाषी क्षेत्रो के लोग एक साथ बैठकर अपनी समस्याओ पर विचार-विनिमय करने लगे। इससे उनमे एकता की भावना बढने लगी।

(3) **पाश्चात्य शिक्षा तथा सस्कृति**—भारत मे पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली (Western system of education) के फलस्वरूप उच्च शिक्षा प्राप्त भारतवासियो को पाश्चात्य देशो के दर्शन, राजनीतिक सस्थाओ तथा आन्दोलनो, इतिहास, साहित्य आदि का अध्ययन करने का अवसर मिला। इन शिक्षित वर्गो के ऊपर मैजनी, रूसो, वाल्टेयर आदि के क्रान्तिकारी विचारो तथा लॉक, वर्क, मिल, माटेस्क्यू, मैकॉले आदि की रचनाओ का प्रभाव पडा। साथ ही फ्रास की क्रान्ति अमरीकी स्वातन्त्र्य सग्राम, इग्लैण्ड की जनता के स्वतन्त्रता-प्रेम आदि के अध्ययनो ने भी उन्हे अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की आकाक्षा रखने की प्रेरणा दी। इस समूचे साहित्य के अध्ययन ने भारतीय शिक्षित वर्ग के मनोवल को उन्नत किया। साथ ही उन्हे पाश्चात्य साहित्य तथा दर्शन के प्रति अगाध प्रेम रखने की प्रेरणा दी। इस प्रकार यद्यपि भारत मे पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली लागू करने का ब्रिटिश शासको का उद्देश्य भारतीय शिक्षित वर्ग को केवल छोटे-छोटे शासकीय पदो पर नियुक्त करना तथा भारतवासियो मे पाश्चात्य ढग की शासन तथा न्याय-व्यवस्था के प्रति आस्था रखने की भावना का प्रचार करना था, जिससे कि वे भारत मे अपने ढग की शासन-व्यवस्था को लोकप्रिय बना ले और भारतवासियो मे यूरोपीय शिक्षा, सभ्यता तथा सस्कृति के प्रति निष्ठा जाग्रत करके उन्हे सदा अपनी दासता मे बनाए रखे, तथापि उनकी इच्छा के प्रतिकूल यह प्रणाली भारतवासियो मे राष्ट्रीयता की भावना को जाग्रत करने के निमित्त वरदान सिद्ध हुई। शिक्षित भारतवासियो को यह समझने मे देर नही लगी कि विदेशी शासको का उद्देश्य भारत का राजनीतिक, आर्थिक एव सास्कृतिक शोषण करके अपने साम्राज्य को सुदृढ बनाए रखना तथा भारतवासियो को सदैव दासता की स्थिति मे रखना मात्र है, साथ ही यह भी कि कोई राष्ट्र या जाति पराधीन रहकर उन्नति नही कर सकती। पाश्चात्य देशो के राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलनो के अध्ययन ने भारतवासियो को भी यह पाठ पढाया कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन प्रारम्भ करके वह भी स्वतन्त्र राष्ट्र बन सकते है। यह भी एक कारण था कि प्रारम्भ के भारतीय देश-भक्त राष्ट्रीय नेताओ ने पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली का स्वागत किया ताकि अधिकतम भारतवासी पाश्चात्य देशो के साहित्य तथा इतिहास के अध्ययन द्वारा अपनी राष्ट्रीय चेतना को विकसित कर सके। अतएव पाश्चात्य शिक्षा भारत मे राष्ट्रीय जागरण के लिए वरदान सिद्ध हुई। दादा भाई नौरोजी के विचार से पाश्चात्य शिक्षा से हमे एक नूतन प्रकाश मिला है और उसने बताया है कि 'राजा प्रजा के लिए होता है, न कि प्रजा राजा के लिए', राजा राममोहन राय ने भी पाश्चात्य शिक्षा को भारत के लिए वाछनीय माना था। इस बात मे कोई सन्देह नही कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख नेतागणो ने (आरम्भ से अन्त तक) पाश्चात्य शिक्षा के कारण ही प्रेरणा प्राप्त की थी। इस दृष्टि से पाश्चात्य शिक्षा तथा सस्कृति के प्रसार का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मे महत्त्वपूर्ण योगदान है।

(4) **भारतीय प्रेस का योगदान**—भारत मे राष्ट्रीयता की भावना को जाग्रत करने मे भारतीय समाचार-पत्रो तथा पत्रिकाओ का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। भारत मे प्रेस का विकास यूरोपियनो ने प्रारम्भ मे ईसाई धर्म प्रचार के साहित्य का प्रसार करने के उद्देश्य से किया था। कालान्तर मे प्रारम्भ के कुछ उदार गवर्नर जनरलो ने भारत मे प्रेस के विकास तथा उसकी स्वतन्त्रता को प्रोत्साहित किया। यह तो नही कहा जा सकता कि प्रेस को ऐसा प्रोत्साहन ईमानदारी की नीयत से दिया गया था, क्योंकि ऐसा करने मे भी ब्रिटिश साम्राज्यशाही के कई निहित स्वार्थ भी थे। उनने विशाल देश का शासन सचालित करने के लिए उन्हे जनमत का ज्ञान करना

आवश्यक था। जन प्रतिनिधि-सभाओं के अभाव में प्रेस ही एकमात्र ऐसा साधन था जो शासकों को जनता की समस्याओं का ज्ञान करा सकता था। यदि शासक यह सुविधा भी न देते तो उनके लिए शासन चलाना कठिन हो जाता परन्तु भारत में प्रेस का विकास पर्याप्त मन्द गति से हुआ। शीघ्र ही अंग्रेजी तथा विविध भारतीय भाषाओं में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन होने लगा। 1857 के विद्रोह के पश्चात् भारतीय समाचार-पत्रों ने शासन की दुर्बलताओं तथा शिकायतों को निर्भीकता के साथ प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। साथ ही प्रान्तीय भाषाओं में प्रकाशित होने वाले पत्रों ने आंग्ल भारतीय पत्रों के शासन के प्रति पक्षपातपूर्ण विचारों की भी खुले रूप में आलोचना की। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत के जनसाधारण में शासन की नीतियों के विरुद्ध जनमत का निर्माण करने तथा जनता को शासन की खराबियों से अवगत कराने में भारतीय समाचार-पत्रों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की। इसके कारण जनता में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत करने में बहुत सहायता मिली। यद्यपि ब्रिटिश शासक हिन्दू मुस्लिम पत्रों में एक दूसरे सम्प्रदाय के विरुद्ध लगाए जाने वाले विचारों को प्रोत्साहन देने लगे थे तथापि अंग्रेजी और देशी भाषाओं के पत्र मिलकर भारत को एकता के सूत्र में बांधते चले जा रहे थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के सभी भारतीय नेताओं (राजा राममोहन राय से लेकर श्री जवाहरलाल नेहरू तक) को जनता तक अपनी राष्ट्रवादी विचारधाराओं का प्रसार करने में प्रेस से बहुत अधिक सहायता मिली। समाचारपत्रों तथा पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त आंग्ल तथा भारतीय भाषाओं में नये साहित्य का सृजन होने लगा। भारत के राष्ट्रप्रेमी विद्वानों की राष्ट्रवादी विचारधाराएं प्रेस के विकास के परिणामस्वरूप जनता में द्रुत गति से प्रसारित होने लगीं। बंकिमचन्द्र चटर्जी का आनन्द मठ, उनका गीत वन्दे मातरम्, रवीन्द्र बाबू का जन गण मन, मैथिलीशरण गुप्त की भारत भारती, तिलक का गीता रहस्य आदि विविध साहित्यों का सृजन, प्रसार तथा प्रचार प्रेस के विकास का ही फल था। पाश्चात्य साहित्य के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद तथा प्रकाशन होने लगा। अतएव 1857 के पश्चात् भारतीय प्रेस की तीव्र प्रगति ने राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करने में बहुत मदद पहुंचाई।

(5) **भारत की आर्थिक स्थिति**—साम्राज्यवाद का प्रमुख उद्देश्य उपनिवेश की जनता का आर्थिक शोषण होता है। राजनीतिक प्रभुत्व तो इस उद्देश्य का साधन है। अंग्रेज लोग भारत में व्यापार के उद्देश्य से आए थे और अधिकाधिक आर्थिक लाभ प्राप्त करने के लिए उन्हें तभी सफलता मिलती जबकि उनका यह राजनीतिक आधिपत्य कायम हो जाता। सम्भवतः उन्हें यह आभास रहा कि वे भारत में अधिक दीर्घ अवधि तक शासन नहीं कर सकेंगे क्योंकि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की लहरें भारत में फैले बिना नहीं रह सकेंगी और अन्य उपनिवेशों की भांति उन्हें भी भारत के राजनीतिक प्रभुत्व से हाथ धोना ही पड़ेगा। अतएव उनका प्रमुख लक्ष्य भारत में शासन करना, भारत में निवासित होकर यहां की जनता से मिल जुल जाना कभी नहीं रहा। उनमें जातीय श्रेष्ठता का दर्प इतना अधिक था कि वे कभी भी अपने को भारतीयों के साथ समानता की स्थिति में रखना नहीं चाहते थे। अतः उन्होंने मुर्गी के सब अण्डे एक साथ निकाल लेने की नीति का अवलम्बन लिया। पाश्चात्य देशों में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप मशीन निर्मित उत्पादित माल को बनाने उसे अधिकाधिक मात्रा में बेचकर लाभ कमाने की प्रतियोगिता दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ रही थी। इंगलैण्ड में मैनचेस्टर, लिवरपूल, लंकाशायर आदि में कारखानों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही थी। इन कारखानों का पनपना विदेशों (उपनिवेशों) से प्राप्त कच्चे माल पर निर्भर था। अतः भारत के अंग्रेज शासकों ने भारत में केवल नए औद्योगिक कारखाने ही नहीं खोले अपितु यहां से कपास आदि कच्चे माल को इंगलैण्ड पहुंचाकर वहां की मशीनों द्वारा निर्मित तैयार माल से भारत के बाजारों को भरना शुरू कर दिया। इसका प्रभाव यह हुआ कि भारत के करोड़ों शिल्प जीवियों तथा कुटीर उद्योगों को भीषण आघात पहुँचा। यहाँ के जुलाहों, लुहारों, चमारों आदि शिल्प-जीवियों के लिए जीवन निर्वाह करना कठिन हो

गया । उद्योग-धन्धो मे ऐसा भीषण अवरोध आ जाने के परिणामस्वरूप जनता का शहरीकरण रुक गया और करोडो शिल्प-जीवी ग्रामो की ओर बढने लगे । कृषि-भूमि पर भार बढ गया । परन्तु अग्रेजो द्वारा जमीदारी प्रथा लागू करने का परिणाम यह हुआ कि कृपको की स्थिति भी जमीदारो के अत्याचारो के कारण दयनीय हो गयी । कृषि भूमि पर भार बढने से भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट हो गयी और कृपि उत्पादन मे कमी आने लगी । इस प्रकार भारत की जनता को भीषण आर्थिक सकट का सामना करना पडा । विदेशी शासको की यह नीति कभी भी नही रही कि वे भारत मे किसी भी प्रकार से उत्पादन क्षमता को बढाने का प्रयास करे । इन सबके परिणाम-स्वरूप भारतवासियो मे विदेशी शासन के प्रति रोष उत्पन्न होने लगा और वे यह प्रतीत करने लगे कि देश के आर्थिक पतन को बचाने का एकमात्र उपाय विदेशी शासन-सत्ता से देश को मुक्त कराना है ।

1857 **के विद्रोह के पश्चात् ब्रिटिश शासको का दमन चक्र**—1857 के विद्रोह के पश्चात् भारत मे ब्रिटिश शासको ने कठोर दमन की नीति अपनायी थी । इस सन्दर्भ मे लार्ड लिटन की दमन नीतियो का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। अकाल पडने पर राहत कार्यो का उपेक्षा करना, सेना पर अनावश्यक व्यय, दरबारो मे फिज़ूल खर्ची, वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट द्वारा भारतवासियो की विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का दमन, भारतीय शस्त्र विधेयक, कपास आयात-कर का उन्मूलन आदि ने भारतीय राष्ट्रीय चेतना के विकास मे आग के ऊपर तेल डालने का कार्य किया । भारतीय राष्ट्रीय चेतना के विकास के निमित्त इलबर्ट बिल विवाद ने तो विस्फोट का कार्य किया । इस घटना ने भारत की जनता को स्पष्टतया बता दिया कि अग्रेज जाति भारतीयो के ऊपर श्रेष्ठता का दावा करती है । अत यह एक आत्म-सम्मान का प्रश्न था जिसे कोई भी सम्माननीय भारतीय सहन नही कर सकता था । ब्रिटिश शासको के इन कुचक्रो से भारत-वासियो को यह समाधान हो गया कि जब तक भारतवासी अग्रेजो की राजनीतिक दासता मे रहेगे, तब तक उनको आत्म-सम्मान, आर्थिक विकास एव उनके नागरिक अधिकारो की सुरक्षा नही हो सकती । इसके ऊपर भारतीय सिविल सेवा के सम्बन्ध मे भारतवासियो के समक्ष रोडा अटकाने के हेतु न्यूनतम आयु सीमा को कम कर देना भी इस बात का प्रमाण था कि ब्रिटिश शासक स्वय अपनी प्रतिज्ञाओ को भी ताक मे रख देते है । अत ऐसा शासन भारतवासियो को सहनीय नही हो सकता ।

राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म

राष्ट्रीय चेतना की जागृति—ऊपर भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के जिन कारणो का सक्षिप्त परिचय दिया गया है, उसके अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे जहाँ ब्रिटिश शासक यह विश्वास कर रहे थे कि अब भारत मे उनका साम्राज्यशाही शासन पूर्ण रूप से स्थापित हो चुका है और उन्होने विरोधियो को भली-भाँति दबा लिया है, वहाँ दूसरी ओर ब्रिटिश साम्राज्यशाही के विरुद्ध भारतवासियो मे एक नई चेतना भी जाग्रत हो चुकी थी । यद्यपि अभी यह अकुरित ही हो रही थी, तथापि यह एक ऐसा बीज था जिसे नष्ट कर सकना ब्रिटिश शासको के लिए असम्भव था । वह कही न कही से फिर अकुरित होता जाता । भारत मे ऐसी राष्ट्रीय चेतना जाग्रत होने के बहुमुखी कारण थे, इनमे से लगभग सभी कारण ब्रिटिश शासन की ही देन कहे जा सकते है, यदि अग्रेज लोग ईमानदारी की भावना से भारतीय प्रजा के हितो को ध्यान मे रखकर शासन की नीतियाँ अपनाते तो सम्भव था कि उनका साम्राज्य भारत मे और अधिक समय तक चलता, साथ ही यदि वे मुसलमान आक्रमणकारियो की भाँति भारत मे ही बस जाने तथा यहाँ शासन करने का उद्देश्य रखते और अपने को भारतीयता के रग मे रगना चाहते तो भारत का राजनीतिक इतिहास कुछ और होता, जिस प्रकार भारत मे हिन्दू तथा मुसलमान साथ-

साथ एक भारतीयता की भावना से रह रहे हैं उसी प्रकार वे भी रह सकते थे परन्तु अंग्रेज भारत में भारतीय बनने के लिए कभी नहीं आये थे। उनका जातीय अभिमान शोषण नीति तथा दमनकारी शासन एक दुधारी तलवार के रूप में सिद्ध हुआ।

राष्ट्रीय चेतना को सक्रिय रूप मिलना—19वीं सदी के अन्त तक भारत में राष्ट्रीयता की चेतना जागृत हो चुकी थी परन्तु अभी उसमें सक्रियता का अभाव था इसे आन्दोलन का रूप प्राप्त नहीं हो पाया था। कोई भी आन्दोलन बिना सुसंगठित प्रयास के सफल नहीं हो सकता। भारतीय राष्ट्रीय चेतना को सुसंगठित करने के प्रयासों में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के द्वारा स्थापित इण्डियन एसोसियेशन तथा बम्बई और मद्रास के प्रान्तीय संगठन प्रथम कदम थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के द्वारा आहूत इण्डियन नेशनल कान्फ्रेंस (1883) के अधिवेशन ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को सुसंगठित रूप में संचालित करने की प्रेरणा दी। अतः इण्डियन एसोसियेशन को यदि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रथम सक्रिय प्रयास कहा जाये तो यह सर्वथा उपयुक्त होगा। लार्ड लिटन के अत्याचारी कृत्यों से भारत में पर्याप्त रोष उत्पन्न हो चुका था। परन्तु उसके उत्तराधिकारी लार्ड रिपन की उदार नीतियों ने भारतीय राष्ट्रीय चेतना को उग्र बनाने से रोक लिया। लार्ड रिपन के द्वारा स्थानीय स्वायत्त शासन का श्रीगणेश किया जाना तथा लार्ड लिटन द्वारा की गई अनेक भूलों का सुधार किया जाना राष्ट्रीय आन्दोलन को उदार रूप में विकसित करने में सहायक सिद्ध हुआ। रिपन के पश्चात् 1884 में लार्ड डफरिन भारत के गवर्नर जनरल हुए। उसके शासन काल में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की 1885 में स्थापना थी।

कांग्रेस की स्थापना—भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्मदाता सचमुच कोई भारतीय नहीं अपितु भारतीय सिविल सेवा से अवकाश प्राप्त एक अंग्रेज व्यक्ति था। यों तो ऐसी एक राष्ट्रीय संस्था की स्थापना आवश्यक हो चुकी थी और इसके लिए पर्याप्त भूमिका निर्मित हो चुकी थी सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का इण्डियन एसोसियेशन इसका स्थान ले सकता था। परन्तु एक अवकाश प्राप्त अंग्रेज आई सी एस के मस्तिष्क में इस विचार का उत्पन्न होना एक महत्त्वपूर्ण बात है। वह व्यक्ति थे सर एलन आक्टेवियन ह्यूम साहब को भारतीय प्रशासन का अनुभव तो था ही साथ ही वे भारत में विकसित हो रही राष्ट्रीय जागृति के प्रति भी जागरूक थे। अतः उन्होंने अनुभव किया कि यदि राष्ट्रीयता की यह लहर उग्र हो उठी और शासन के विरुद्ध जनता के असन्तोष को क्रांतिकारी होने से रोका नहीं गया तो उसके भयंकर परिणाम हो सकते हैं। अतः उन्होंने मार्च 1883 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों को एक हृदयस्पर्शी पत्र लिखकर कुछ निःस्वार्थ तथा स्वतन्त्रता प्रेमी व्यक्तियों की मांग की जो सत्यनिष्ठ कार्यकर्त्ता हों। उन्होंने तत्कालीन वायसराय लार्ड डफरिन के समक्ष अपनी योजना रखी और यह विचार व्यक्त किया कि भारत के प्रमुख राजनयिकों को साल में एक बार एक साथ एकत्र होकर अपने सामाजिक विषयों के सम्बन्ध में विचार विनिमय करने का अवसर प्रदान करना चाहिए। यद्यपि ह्यूम साहब इस राजनीतिक प्रकृति का सम्मेलन नहीं बनाना चाहते थे तथापि लार्ड डफरिन ने इसे राजनीतिक स्वरूप प्रदान करना चाहा। उनका मत था कि ऐसा सम्मेलन भारत में शासन के विरोध में मत व्यक्त करने वाला सिद्ध हो तो वह इंग्लैण्ड के विरोधी पक्ष की भांति प्रभावकारी सिद्ध हो सकता है। अतः ऐसे सम्मेलन के द्वारा सरकार का ध्यान उसकी कमियों तथा त्रुटियों की ओर आकर्षित करके उसमें सुधार के सुझाव देना भी होना चाहिए। इसके पश्चात् ह्यूम साहब ने इंग्लैण्ड जाकर वहां के प्रमुख राजनयिकों से भी परामर्श किया और अपनी योजना में उनकी अभिरुचि उत्पन्न की। भारत लौटकर उन्होंने ऐसे सम्मेलन का आयोजन किया। इस प्रकार ह्यूम साहब की योजना को न केवल भारत के गवर्नर जनरल ने ही स्वीकार किया अपितु अनेक ब्रिटिश राजनेताओं ने भी उसका स्वागत किया।

ह्यूम साहब के प्रयासों से कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन दिसम्बर 1885 में पूना में बुलाने

का आयोजन किया गया। परन्तु इस अवधि मे पूना मे प्लेग फैल जाने के कारण इसका स्थान वम्वई मे निर्धारित किया गया। फलस्वरूप 28 दिसम्बर 1885 को वम्वई के गोकुलदास तेजपाल सस्कृत कालेज के भवन मे भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस का जन्म तथा प्रथम अधिवेशन सम्पन्न हुआ। यही भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस भविष्य में राष्ट्रीय आन्दोलन की सचालक, निदेशक तथा सर्वस्व रही। इसी के अथक प्रयासो ने भारत को राजनीतिक दासता से मुक्त कराया। इतना ही नही, अपने वर्तमान स्वरूप मे आज भी यह स्वतन्त्र भारत के केन्द्रीय शासन की वागडोर अपने ही हाथो मे लिये हुए है, यद्यपि अव इसका स्वरूप वहुत वदल चुका है।

काग्रेस का प्रारम्भिक रूप—काग्रेस की स्थापना के पश्चात् उसके विकास, कार्य-कलापो एव उपलब्धियो का इतिहास ही वास्तव मे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास है। इसकी स्थापना का श्रय अवश्यमेव एक अग्रेज व्यक्ति को प्राप्त है और यह भी स्पष्ट है कि इसकी स्थापना को ब्रिटिश शासको से प्रोत्साहन मिला था, जिनके विचार मे काग्रेस 'देशी पार्लियामेन्ट का अकुर' थी। स्वय ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि वाइसराय ने इसे ऐसा स्वरूप प्रदान किया था। यह सस्था विशुद्ध रूप से राजनीतिक थी और इसीलिए इसकी सदस्यता सरकारी कर्मचारियो तथा अधिकारियो के लिए निषिद्ध की गई थी। साथ ही काग्रेस की स्थापना उसे ब्रिटिश सरकार के लिए भारतीय जनमत के अनुसार एक मित्र के रूप मे परामर्शदात्री सस्था के रूप मे की गई थी, न कि ब्रिटिश सरकार का विरोध करके उसे अपदस्थ करने के उद्देश्य से कार्य करने वाली सस्था के रूप मे। परन्तु यह वात तो स्पष्ट हे कि जिस चीज का निर्माण ईमानदारी की भावना से न किया जायेगा वह अपने निर्माणकर्ता के लिए मित्र के रूप मे नही रह सकती, इसलिए काग्रेस भविष्य मे ब्रिटिश सरकार की इच्छा के विरुद्ध सिद्ध हुई। अत यदि काग्रेस की स्थापना का श्रेय ब्रिटिश शासको को दिया जाता है, तो यह भी स्पष्ट है कि ब्रिटिश शासको ने इसकी स्थापना तथा विकास को शुद्ध भावना से नही लिया, परिणामस्वरूप वह स्वय ब्रिटिश शासन की शत्रु तथा विनाशकारी सिद्ध हुई। कूपलैण्ड के मत से 'भारतीय राष्ट्रीयता ब्रिटिश राज्य की शिशु थी और ब्रिटिश अधिकारियो ने उसका पालन-पोषण किया,' यदि यह बात सही है तो इसमे यह भी जोडा जा सकता हे कि ब्रिटिश राज्य तथा ब्रिटिश अधिकारियो को या तो शिशु का पालन करना ही नही आता था अथवा उन्होने शैशव अवस्था से ही उस शिशु को सन्देह की दृष्टि से देखकर उसे अपना शत्रु वना लिया, क्योकि ब्रिटिश साम्राज्यशाही शुरू से अन्त तक कभी भी भारत के प्रति ईमानदार नही रही।

काग्रेस की स्थापना के उद्देश्यो की समीक्षा

ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षक—भारत मे अपने साम्राज्य की नीव सुदृढ कर लेने के उपरान्त ब्रिटिश शासक अपनी साम्राज्यवादी आकाक्षाओ की पूर्ति करने मे इतने मदोन्मत्त हो गये थे कि वे भारत मे जागृत राष्ट्रीयता की लहर के औचित्य तथा स्वरूप को या तो समझ नही पाये या उनकी यह धारणा वनी रही कि वे इस उमडती हुई राष्ट्रीय भावना को वल-प्रयोग से विनष्ट कर देगे और जहाँ पर वल-प्रयोग सफल सिद्ध नही होगा, वहाँ पर अपनी कूटनीतिक चालो का अवलम्बन करके उसे रोकने मे समर्थ हो जायेगे, परन्तु काग्रेस की गतिविधियाँ ब्रिटिश शासको की इच्छाओ पर तुषारपात करने वाली सिद्ध हुई। कभी-कभी यह कहा जाता है कि काग्रेस का जन्म 'ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा' के लिए हुआ था। यह एक ऐसी धारणा हे जिसे स्पष्ट रूप से न स्वीकार किया जा सकता है और न जिसका पूर्ण विरोध ही किया जा सकता है।

साम्राज्यशाही अत्याचारो के विरुद्ध एक अभय दीप के रूप मे—नि सन्देह काग्रेस की स्थापना के पीछे सर ए० ओ० ह्यूम का लक्ष्य यह था कि ब्रिटिश शासन की नीतियो के विरुद्ध भारतीय जनता से जो तीव्र रोष उत्पन्न हो गया है उसे यदि यो ही छोड दिया जायेगा तो वह किसी भी क्षण उग्र रूप धारण कर लेगा और 1857 की क्रान्ति की भाँति फिर कोई नवीन क्रान्ति

अपना सिर उठा लेगी यह तो स्पष्टतया नहीं कहा जा सकता कि ह्यूम साहब ब्रिटिश साम्राज्य को भारत में बने रहने देना नहीं चाहते थे इसलिए उसका विरोध करने के लिए उन्होंने राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का विचार किया होगा। ऐसी भावना तो किसी भारतीय नेता के मन में ही उदय हो सकती है परन्तु जैसी लाला लाजपत राय की भी धारणा रही है ह्यूम साहब स्वयं इतने उदार व्यक्ति थे कि ब्रिटिश साम्राज्यशाही द्वारा भारत में किये जा रहे अमानुषिक अत्याचारों को पसन्द नहीं करते थे। उनका मन्तव्य यह था कि ब्रिटिश शासन के अन्यायपूर्ण कार्यों के प्रति भारत में फैल रहे असन्तोष के विरुद्ध एक अभय दीप (safety valve) की आवश्यकता है। वह अभय दीप कांग्रेस थी। ह्यूम साहब जैसा कि कांग्रेस के एक अन्य आरम्भिक अंग्रेज नेता विलियम वेडरबर्न ने भी माना है कांग्रेस को एक ऐसी संस्था के रूप में देखना चाहते थे जो भारतवासियों के असन्तोष को वैधानिक रूप से व्यक्त करने का साधन बने ताकि उग्र क्रांति के खतरों से बचाव हो सके। कांग्रेस की स्थापना ने ह्यूम साहब के इस मन्तव्य को पूर्ण किया और वह प्रबुद्ध भारतीय नेताओं का आकर्षण केन्द्र बन गई। इस संगठन की सदस्यता प्राप्त करके उन नेताओं ने भारतीय जनता का असन्तोष इस संस्था के माध्यम से वैधानिक एवं शान्तिपूर्ण तरीकों से व्यक्त करना प्रारम्भ किया। परन्तु इसका यह अर्थ लेना भी उचित नहीं है कि कांग्रेस की स्थापना केवल मात्र ब्रिटिश साम्राज्यवाद की रक्षा के उद्देश्य से की गई थी। यदि ऐसा ही होता तो जिन ब्रिटिश शासकों ने कांग्रेस की स्थापना को प्रोत्साहन दिया था वे इस संस्था को ब्रिटिश साम्राज्यशाही के हितों में विकसित होने देने के प्रयास करते। प्रारम्भ के तीन अधिवेशनों बम्बई (1885) कलकत्ता (1886) तथा मद्रास (1887) में वहां के गवर्नरों ने कांग्रेस के प्रतिनिधियों का यथोचित सम्मान किया परन्तु शीघ्र ही ब्रिटिश शासकों ने कांग्रेस के प्रति अपना दृष्टिकोण बदलना प्रारम्भ कर दिया। लार्ड डफरिन ने कांग्रेस की स्थापना के सम्बन्ध में पूर्ण प्रोत्साहन देकर उसे राजनीतिक स्वरूप तक प्रदान किया था। परन्तु उसी लार्ड डफरिन ने 1887 में यह विचार व्यक्त किया कि कांग्रेस केवल एक अत्यन्त सूक्ष्म अल्पसंख्यक वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है (represents a microscopic minority of the people) और वह अपने उद्देश्य का भी अशुद्ध प्रतिनिधित्व करती है। 1888 में जब कांग्रेस का अधिवेशन इलाहाबाद में हुआ तो ब्रिटिश सरकार कांग्रेस को वैर भावना की दृष्टि से देखने लग गई थी। इस दृष्टि से यह मानना उचित नहीं है कि कांग्रेस की स्थापना का उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य का पोषण करना था।

कांग्रेस विशुद्धतया एक राष्ट्रीय संस्था है—यदि कांग्रेस के स्वरूप को देखा जाय तो भी यह बात पुष्ट हो जाती है कि कांग्रेस का उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद का पोषण करना नहीं था। प्रारम्भ से ही इस संस्था का स्वरूप राष्ट्रीय हो गया। यह किसी वर्ग विशेष या किसी जाति धर्म सम्प्रदाय आदि की प्रतिनिधि संस्था मात्र नहीं थी अपितु इसकी सदस्यता अंग्रेज हिन्दू मुसलमान पारसी आदि सभी वर्गों के व्यक्तियों ने ग्रहण की जो भारत के विभिन्न क्षेत्रों के रहने वाले तथा भारतीय सामाजिक जीवन के सार्वजनिक सुमान्य नेता थे। इनमें से किसी का भी उद्देश्य केवल मात्र ब्रिटिश साम्राज्यवाद की रक्षा करके अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति करना नहीं था। ह्यूम वेडरबर्न फिरोजशाह मेहता दादाभाई नौरोजी सुरेन्द्रनाथ बनर्जी बदरुद्दीन तैयबजी उमेशचन्द्र बनर्जी आदि किसी भी आरम्भिक नेता को राष्ट्रीय न मानकर किसी वर्ग विशेष या साम्राज्यवाद का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। कालान्तर में श्रीमती एनी बेसेंट तथा सरोजिनी नायडू सदृश महिलाओं ने इसमें भाग लेकर महिलाओं का प्रतिनिधित्व किया। वास्तव में जब ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने इसके राष्ट्रीय स्वरूप को विकसित होते देखा तो उन्हें इससे अपने साम्राज्यवाद को खतरा ही मालूम पड़ने लगा। परिणामस्वरूप उन्होंने इसमें साम्प्रदायिकता के विष को फैलाया और सर सैयद अहमद खां सदृश एक प्रबुद्ध राष्ट्रीय नेता के ऊपर मुस्लिम सम्प्रदायिकता का जादू फेरकर फूट डालो और राज्य करो की नीति का अवलम्बन करके कांग्रेस की एकता को नष्ट करने का प्रयास किया।

आरम्भिक वर्षो मे कांग्रेस की नीति

कांग्रेस के उद्देश्य—कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन (1885) की अध्यक्षता करते हुए उमेश चन्द्र बनर्जी ने कांग्रेस के निम्नांकित चार उद्देश्य घोषित किये थे—

(1) देश के भिन्न-भिन्न भागो से आने वाले देश-प्रेमी कार्यकर्ताओ के मध्य वैयक्तिक घनिष्ठता तथा मैत्री की अभिवृद्धि करना,

(2) भारत के मित्र लार्ड रिपन के शासन काल मे देश मे जिस राष्ट्रीय एकता की स्थापना हुई है, उसका सुदृढीकरण करने के निमित्त मैत्रीपूर्ण व्यक्तिगत वार्तालाप द्वारा जातिगत, धर्मगत तथा प्रान्तीय भेदभावो का अन्त करना,

(3) पूर्ण विचार-विनिमय कर लेने के उपरान्त देश की निवर्तमान ज्वलन्त सामाजिक समस्याओ पर देश के शिक्षित वर्ग की परिपक्व राय का अधिकृत रिकार्ड निर्मित करना, तथा

(4) उन साधनो तथा विधियो का निर्धारण करना जिसके अनुसार आगामी 12 मासो मे देश के राजनीतिज्ञो को सार्वजनिक हित मे परिश्रम करना है।

प्रथम अधिवेशन के प्रस्ताव (राजनीतिक स्वरूप)—उक्त उद्देश्यो से यह स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ मे कांग्रेस का उद्देश्य मुख्यतया अपने संगठन को सुदृढ करना तथा उसके सदस्यो मे राष्ट्र प्रेम, एकता, लगन तथा समाज सेवा की भावना का विकास करना था। इन उद्देश्यो के अन्तर्गत किसी भी प्रकार के राजनीतिक उद्देश्य की चर्चा नही है। परन्तु इस प्रथम अधिवेशन मे ही कांग्रेस ने देश के हित मे तत्कालीन सरकार के समक्ष अपनी माँगे प्रस्तावो के रूप मे रखी थी। उनके अनुसार यह माँग की गई थी कि ब्रिटिश सरकार को भारतीय प्रशासन की जाँच के लिए एक शाही आयोग नियुक्त करना चाहिए, इग्लैण्ड की भारत परिषद् को समाप्त किया जाय, आई० सी० एस० परीक्षा इग्लैण्ड तथा भारत दोनो स्थानो पर साथ-साथ हो और उसके लिए प्रत्याशियो की न्यूनतमम आयु-सीमा मे वृद्धि की जाय, भारत सरकार का सैनिक व्यय कम किया जाये, बरमा को भारत मे न मिलाया जाय तथा भारतीय व्यवस्थापिका परिषद् के दोषो को दूर किया जाये। इस अधिवेशन मे केवल 72 प्रतिनिधि उपस्थित थे और वे सही अर्थ मे भले ही जनता के प्रतिनिधि नही थे, प्रत्युत् स्वेच्छापूर्वक देश-प्रेम की भावना से प्रेरित होकर आये थे। परन्तु जिन उद्देश्यो, भावनाओ तथा उत्साह को लेकर एक शान्त वातावरण मे यह छोटा-सा अधिवेशन सम्पन्न हुआ वह भविष्य मे कांग्रेस की महानता तथा उसकी कार्यविधि का सही-सही रूप था। कांग्रेस की भावी प्रगति को हम चार युगो मे विभक्त कर सकते है—

(अ) प्रारम्भिक युग, जब इसकी स्थापना हुई थी और उदार विचार वाले बुद्धिजीवियो ने इसका पोषण किया था।

(ब) कांग्रेस के संकट का युग, जब इसमे नरम तथा उग्र दो दल हो गये और जब मुस्लिम सम्प्रदायवाद ने इसके ऊपर आघात किया।

(स) गांधी युग, जबकि गांधी जी के नेतृत्व मे इसने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से संघर्ष करके भारत को स्वतन्त्र किया।

(द) स्वतन्त्रता के पश्चात् की कांग्रेस जबकि वह भारत के प्रमुख राजनीतिक दल के रूप मे देश के शासन की बागडोर संभाले हुए है।

कांग्रेस की लोकप्रियता का विकास—*कांग्रेस का प्रथम चरण 1885 से आरम्भ होकर* 1907 तक के काल का है। इन दो दशाब्दियो मे कांग्रेस अपने शैशव काल मे थी। इस अवधि मे देश के सार्वजनिक जीवन से सम्बद्ध समस्त भारतीय शिक्षित वर्ग तथा जन-नेता इसके सक्रिय सदस्य रहे। इन लोगो के निःस्वार्थ त्याग तथा लगन से कार्य करने के कारण कांग्रेस बडी तीव्र गति से अत्यन्त लोकप्रिय संस्था बन गयी। 1885 मे केवल 72 प्रतिनिधियो ने इसके अधिवेशन मे भाग लिया था, 1886 मे यह संख्या 406, 1887 मे 600 तथा 1888 मे 1248

हो गयी। यही प्रगति भविष्य म जारी रही और 1906 तक कांग्रेस भारत क भारी बहुमत की प्रतिनिधि संस्था मानी जान का दावा कर सकती थी।

प्रारम्भिक नेता—इस अवधि म कांग्रेस क कायकलाप तथा कायविधिया पूणतया उदारवादी थी। इस अवधि म इसक कायकलापा को एक शिक्षित मध्यम श्रेणी क लोगा का आन्दोलन माना जाता है जो सांविधानिक तरीका स ब्रिटिश शासका के समक्ष आवेदका की संस्था क रूप म काय करती थी। इसक प्रारम्भिक युग क सबस उत्साही नेता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी[1] तक ऐसी नीति क समथक थे जबकि उन्ह कठोर होना चाहिए था क्योंकि ब्रिटिश शासन की धृष्टतापूण नीति का सबस महान् प्रहार उन्ही को सहन करना पड़ा था उस युग के नेताआ म से कुछ प्रमुख व्यक्ति थ ए ओ ह्यूम विलियम वेडरबन उमेश चन्द्र बनर्जी दादाभाई नौरोजी दीनशा वाचा फीरोजशाह मेहता गोपाल कृष्ण गोखले बदरुद्दीन तयबजी रानाडे सुब्रह्मण्य अय्यर आनन्द मोहन बोस सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि। केवल सर सयद अहमद खा सदृश नेता इससे बाहर रह। कांग्रेस क द्वितीय युग क संघष की अवधि के प्रमुख नेता बाल गंगाधर तिलक विपिन चन्द्र पाल लाला लाजपत राय एनी बसेन्ट आदि थ। यह वर्गीकरण वास्तव म कालगत न होकर नीतिगत है क्योंकि उक्त अधिकांश नेता समकालीन हैं प्रारम्भ म कांग्रेस की नीतिया उदारवादी रही कालान्तर म व उग्रवादी हो गयी। गोखले उक्त दोना युगा का प्रतिनिधित्व करते हैं क्योंकि व मूलरूप स प्रथम युग के उदारदलीय नेता थे। 1907 म कांग्रेस क नरम तथा गरम दलीय नेताओं के मध्य फूट पड़ने पर वे 1915 तक उदार नीतिया पर विश्वास करन क साथ साथ उग्रवादियों को पुन कांग्रेस म लाने क लिए प्रयत्नशील रह।

प्रारम्भिक नीतियाँ—प्रथम युग क कांग्रेस की राजनीतिक गतिविधिया ब्रिटिश सरकार क समक्ष भारतीय शासन व्यवस्था के सम्बन्ध म विविध प्रकार की मागा को रखने की रही। यद्यपि इन नेताओं द्वारा रखी गयी माग पर्याप्त नरमवादी थी और यह कहना अनुचित भी नहीं होगा कि इनम स अनक की पूर्ति तो आज स्वतन्त्रता के 26 वष बाद तक भी नहीं हो पायी है यथा अनिवाय निशुल्क शिक्षा तथापि इन मागा को हमारे आरम्भिक कांग्रेसी नेता सर्वाधिक महत्त्व देते थ। कांग्रेस की महत्ता तथा लोकप्रियता ऐसी विभूतिया के द्वारा इसे स्थापित किय जाने तथा शैशव काल म उसका पोषण करन क कारण ही बनी। इन मागा के अन्तगत सांविधानिक सुधार प्रशासनिक सुधार आर्थिक सुधार अवाछनीय करा का हटाया जाना अवाछनीय तथा प्रशासनिक एव सनिक व्यय म व्यापक कटौती भारत के शिक्षित वग को उच्च सेवाआ म समुचित स्थान देना नागरिका की स्वतन्त्रताओं तथा अधिकारा की स्वीकारोक्ति तथा उनका संरक्षण आदि शामिल ह। यद्यपि य माँग बड़ी दीघ अवधि तक अपूण ही रही तथापि इन मागा न ब्रिटिश शासका को भारतीय जनमत के प्रति सजग रखन म महत्त्वपूण योगदान दिया और इनम स अनेक मागा को आंशिक रूप म ही सही पूण करन के लिए शासन को कदम उठाने क लिए विवश भी होना पड़ा। आरम्भिक वर्षों म कांग्रेस की नीतियों को निम्नांकित शीषका के अन्तगत रखा जा सकता है—

क्रमिक सुधारो मे विश्वास—यद्यपि कांग्रेस की उत्पत्ति ब्रिटिश शासन के अत्याचारा क विरुद्ध राष्ट्रीयता की भावना को लेकर हुई थी तथापि कांग्रेस संगठन का नेतृत्व प्रारम्भ म एस उदार व्यक्तियो क हाथ म रहा जो एक सशक्त साम्राज्यशाही क विरुद्ध क्रान्तिकारी आन्दोलन द्वारा सफलता पर विश्वास नहीं करते थे। इन्ह यह विश्वास था कि भारतीय प्रशासन म क्रमिक सुधार लाकर यदि भारतवासियों को शासन म भाग लेने का अवसर मिलता रहे तो वह स्वशासन की शिक्षा के लिए अच्छा साधन सिद्ध हो सकता है क्योंकि बिना ऐसा प्रशिक्षण प्राप्त

[1] सुरेन्द्र नाथ बनर्जी आई सी एस परीक्षा पास करने वाले सबसे पहले भारतीय थे। अंग्रेज शासक उनकी इस प्रतिभा को सहन नहीं कर रह थे। भारत मे ऐसे उच्च पद पर नियुक्त हो जाने के एक या दो वर्षों क भीतर ही सरकार ने उनके ऊपर कुछ आरोप लगाकर उन्हे पदच्युत कर दिया।

किये स्वायत्त शासन या स्वाधीनता की माँग सफल नही हो सकेगी। काग्रेस के आरम्भिक नेता क्रान्तिकारी आदर्शवादी न होकर व्यावहारिक सुधारवादी अथच उदारवादी थे। उनका विश्वास शासन-सुधारो मे अधिक था और वे इसी बात से सन्तुष्ट थे कि यदि भारतीय शासन परिषदो मे भारतवासियो का प्रतिनिधित्व बढा दिया जाय, सेना एव सिविल सेवाओ मे उन्हे अधिक अवसर दिया जाय और स्थानीय स्वायत्त शासन को प्रभावशाली ढग से विस्तृत किया जाय, तो वह भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता के मार्ग मे सन्तोषजनक कदम सिद्ध होगा। अतएव काग्रेस के प्रारम्भिक अधिवेशनो मे इन्ही उदार माँगो के प्रस्ताव पारित किये जाते रहे और शासन के विरुद्ध कोई क्रान्तिकारी प्रतिरोध नही उठाया गया।

(2) **ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठा**—काग्रेस के आरम्भिक नेताओ के ऊपर पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव था। वे यह विश्वास करते थे कि भारतीय राष्ट्रीय चेतना के विकास मे ब्रिटिश शासन का पर्याप्त योगदान है। अग्रेजो ने भारत मे अपना एकछत्र राज्य स्थापित करके छिन्न-भिन्न भारत का राजनीतिक एकीकरण किया है। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव ने भारतवासियो को एक साथ मिलने-जुलने तथा पारस्परिक विचारो के आदान-प्रदान करने मे मदद दी है। भारत मे प्रशासनिक एकता लाने के उद्देश्य से अग्रेजो के प्रयास भारतीय राष्ट्रीय एकता की स्थापना लाने के लिए वरदान सिद्ध हुए है। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के शब्दो मे 'इग्लैण्ड हमारा पथप्रदर्शक रहा है।' ब्रिटिश शासन ने भारत को नयी जागृति प्रदान करके उसे मध्य युग के अवनति के गर्त से ऊपर उठाया है। ब्रिटिश शासन के कारण ही भारतवासी पाश्चात्य सभ्यता तथा सस्कृति का का ज्ञान कर सके है और उस ज्ञान ने भारतीय राष्ट्रीय चेतना को एक नयी दिशा प्रदान की है। इन समस्त धारणाओ की पृष्ठभूमि मे आरम्भिक राष्ट्रीय नेता ब्रिटिश शासन को भारत का शत्रु न समझकर उसके प्रति निष्ठा की भावना रखते थे। गोखले का मत था कि 'अग्रेज जाति की न्यायप्रियता तथा उदारता मे हमारी अबाध निष्ठा है।'[1] भारत के आरम्भिक राष्ट्रीय नेताओ मे ब्रिटिश राज के प्रति भक्ति की भावना दादाभाई नौरोजी के इन शब्दो से ज्ञात होती है, 'हमे पुरुषो की तरह यह घोषणा करनी चाहिए कि हम पूर्णरूपेण राजभक्त हैं।'[2]

इसका यह अर्थ भी नही लेना चाहिए कि ये भारतीय नेता ब्रिटिश राज के प्रति अन्धभक्ति रखते थे या अपने निजी स्वार्थो की पूर्ति के लिए ही ब्रिटिश शासको के प्रति श्रद्धा तथा निष्ठा रखते थे और ब्रिटिश शासन के अन्यायपूर्ण कृत्यो को नजरन्दाज करते थे। सही बात तो यह थी कि ब्रिटिश शासन की अन्यायपूर्ण तथा दमनकारी नीतियो ने ही काग्रेस सगठन को निर्मित करने की प्रेरणा दी थी, ताकि उनका विरोध सगठित रूप से किया जा सके और यह भी इन नेताओ को ज्ञात था कि यदि भारतवासी किसी प्रकार के उग्र साधनो का अनुसरण करके विरोध करेगे तो ब्रिटिश शासन उनका उसी रूप से दमन कर देगा और यह हिसावृत्ति भारतीय राष्ट्रीय चेतना को कुचल देगी। साथ ही ब्रिटिश शासक भी भारतीय नेताओ की भावनाओ से अनभिज्ञ अथवा उदासीन नही रह सकते थे। उन्होने भी अनुभव किया कि भारत के शासन मे भारतीयो का सहयोग आवश्यक है। अत ऐसा सहयोग लेने मे उन्होने काग्रेस के नेताओ को ही चुना। उनमे से अनेक को उपाधियो से अलकृत किया तथा शासन-परिषदो मे स्थान दिया। इन नेताओ ने ऐसे पदो को प्राप्त करने मे पदलोलुपता की भावना नही दर्शायी प्रत्युत उनका यह आचरण ब्रिटिश शासन तथा भारतीय राष्ट्रीयता दोनो के लिए लाभकारी सिद्ध हुआ। दूसरी ओर भारत के प्रतिभाशाली व्यक्तियो को काग्रेस मे सम्मिलित होने के लिए भी यह व्यवस्था प्रेरणास्पद सिद्ध हुई।

(3) **सावैधानिक साधनो के प्रयोग पर विश्वास**—काग्रेस के आरम्भिक नेता उदारवादी थे। उनकी धारणा यह नही रही कि वे ब्रिटिश सरकार की दमनकारी तथा निरकुशतावादी

[1] 'We have abounding faith in the justice and generosity of English people'
[2] 'Let us stand up like men and proclaim that we are loyal to the backbone'

नीतियों एवं आचरणों का हिंसात्मक तथा क्रांतिकारी साधनों से विरोध करें। वे न तो ऐसे साधनों को उचित समझते थे और न ही ऐसे साधनों का अवलम्बन करने में सफलता सम्भव थी। अतः इन नेताओं ने वैधानिक साधनों के द्वारा अपनी मांग सरकार के सम्मुख रखना अपना लक्ष्य बनाया। अवांछनीय कानूनों का विरोध स्मरण-पत्रों, प्रस्तावों, शिष्ट मण्डलों अथवा आवेदन पत्रों के द्वारा करना उनका मुख्य साधन था। बहुधा उनकी ऐसी पद्धति को राजनीतिक भिक्षावृत्ति की संज्ञा दी जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि वे अपनी राजनीतिक मांगों को भारत तथा इंग्लैण्ड स्थित ब्रिटिश सरकार के समक्ष प्रार्थना-पत्रों, आवेदनों तथा प्रत्यावेदनों (prayer pititions protests) के रूप में रखते थे। उनका उद्देश्य सरकार से संघर्ष करना नहीं था। उस काल में कांग्रेस की प्रमुख मांग पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने की भी नहीं था। अपितु वह यही चाहती थी कि जिस प्रकार इंग्लैण्ड की जनता अपने देश में स्थानीय स्वायत्त शासन के अधिकारों का उपभोग करती थी वैसी सुविधा भारतवासियों को भी अपने देश में मिलनी चाहिए। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय स्तरों पर वाइसराय तथा गवर्नरों की परिषदों में भारत के लोगों को अधिकाधिक प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए और उन्हें कार्यपालिका के सदस्यों से प्रश्न पूछने, बजट पर वाद विवाद करने आदि का अवसर मिलना चाहिए। सुयोग्य भारतीयों को सरकार में उच्च पदों पर नियुक्त किया जाना चाहिए। कभी कभी अपने प्रतिनिधियों को धारा-सभाओं में निर्वाचित करने के अधिकार की मांग भी रखी जाती थी। साथ ही प्रारम्भिक नेताओं ने तत्कालीन ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रशासनिक तथा आर्थिक कार्यकलापों में जो दमनकारी तथा शोषणकारी कानून बनाये थे और जो भारत के अहित की नीतियां अपनायी थीं उन्हें समाप्त करने की माँग भी की जाती रही। इन नेताओं का विश्वास था कि सरकार उनकी उचित मांगों पर विचार करेगी, न करने पर उसके समक्ष बारम्बार आवेदन किया जायेगा। इस दृष्टि से उस युग के नेताओं के ये साधन समयोचित तथा व्यावहारिक थे।

(4) **ब्रिटिश शासन की ईमानदारी पर विश्वास**—उस युग के भारतीय नेताओं की ऐसी भिक्षावृत्ति की नीति अपनाने का कारण केवल यही नहीं था कि वे उग्र तथा क्रान्तिकारी साधनों को अपनाने में अपने को अशक्त समझते रहे हों। साथ ही यह बात भी नहीं थी कि वे ब्रिटिश शासन के अनेक दमनकारी रवैयों को सामान्य रूप से ही लेते हों। वास्तविकता यह थी कि उन नेताओं को अंग्रेज जाति की न्यायप्रियता तथा ईमानदारी पर पूरा विश्वास था। वे पाश्चात्य शिक्षा तथा ब्रिटेन में अपने व्यक्तिगत अनुभवों के प्रभाव से यह विश्वास करते थे कि अंग्रेज लोग स्वभावतः स्वतन्त्रता प्रेमी हैं अतः वे अपनी भारतीय प्रजा को भी ऐसी सुविधा देंगे। साथ ही इन नेताओं की यह भी धारणा थी कि अभी भारत स्वशासन के लिए भली भाँति तैयार नहीं हो पाया है अतः ज्यों-ज्यों अंग्रेज शासक यह अनुभव करने लगेंगे कि अब भारतवासी ऐसी क्षमता रखने लग गये हैं त्यों त्यों वे शनैः शनैः भारतवासियों को ऐसे राजनीतिक अधिकार देना प्रारम्भ कर देंगे। अतएव इंग्लैण्ड में भी इस जनमत को जागृत करना उन नेताओं ने अपना लक्ष्य बनाया। चूंकि इंग्लैण्ड के भारत स्थित शासक यहां मनमाना व्यवहार करते थे क्योंकि वे इंग्लैण्ड से अत्यन्त दूर भारत में नौकरशाही शासन का स्वाद चख चुके थे अतः भारतीय नेताओं ने उनकी ऐसी गतिविधियों के विरुद्ध इंग्लैण्ड की जनता के मध्य जनमत का निर्माण करना अपना लक्ष्य बनाया क्योंकि भारतीय नेताओं को इंग्लैण्ड की जनता की स्वाभाविक ईमानदारी तथा न्यायप्रियता पर विश्वास था। ये भावनाएं कांग्रेस के उस युग के नेता समय-समय पर व्यक्त भी करते रहे और सार्वजनिक रूप से अंग्रेजों का गुणगान करते रहे। उन्हें यह विश्वास था कि जिस प्रकार अंग्रेजों ने अन्य उपनिवेशों को स्वतन्त्रता प्रदान की है उसी प्रकार वे भारत को भी शनैः शनैः यह अधिकार देंगे।

प्रारम्भिक नीतियों की आलोचना—भले ही तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में उस युग के भारतीय उदारवादी नेताओं की ये नीतियां तथा धारणाएं व्यावहारिक दृष्टि से ठीक रही

हो, तथापि यह मानना उचित नही है कि उनकी धारणाएँ ठीक ही थी। वास्तव मे वे नेता ब्रिटिश साम्राज्यवादियो के कुचक्रो का सही मूल्याकन नही कर सके। उन्होने भारत के सन्दर्भ मे अग्रेज जाति की जनतन्त्रप्रियता तथा न्यायप्रियता का गलत अर्थ समझा। अग्रेजो के हृदय मे ऐसी धारणा अपने देश मे भले ही विद्यमान रही है, परन्तु भारत मे वे साम्राज्यवादियो के रूप मे आये थे। उन्हे भारत का आर्थिक शोषण करना था और यदि वे भारतवासियो की स्वशासन की माँग को थोडा भी प्रोत्साहन देकर पूर्ण करने लगते तो उनकी सब आकाक्षाएँ समाप्त हो जाती। भारत का आर्थिक शोषण उनके लिए तभी सम्भव था जबकि वे यहाँ पूर्ण स्वेच्छाचारी शासन कायम रखते। अत उदारवादी नेता यह न समझ सके कि ब्रिटिश शासक भारतीयो को न तो स्वशासन की दिशा मे शिक्षित करना चाहते थे और न उनका कभी यह उद्देश्य था कि योग्यता प्राप्त कर लेने पर वे धीरे-धीरे भारतवासियो की किसी भी ऐसी माँग को पूर्ण करेगे। यदि थोडे से शिक्षित वर्ग को उन्होने कभी शासन की सेवाओ मे रखा तो उसका उद्देश्य राजनीतिक चेतना प्राप्त व्यक्तियो को आन्दोलन करने से रोकने का प्रलोभन देना मात्र था। वे इन व्यक्तियो से ब्रिटिश राज के प्रति अन्ध-निष्ठा रखने की ही कामना करते थे। यदि अग्रेज सचमुच लोकतन्त्रप्रिय, स्वतन्त्रताप्रेमी तथा न्यायप्रिय थे तो जैसी स्वतन्त्रता इग्लैण्ड की जनता को प्राप्त थी, वैसी भारत मे भारतवासियो को देने मे निरन्तर आना-कानी करना क्या उनकी ऐसी उक्त भावनाओ से सगति रखता था ? एक स्वेच्छाचारी साम्राज्यवादी सत्ता से स्वाधीनता तथा स्वतन्त्रता की उपलब्धि 'राजनीतिक भिक्षावृत्ति' का साधन अपनाकर नही हो सकती थी। अतएव आरम्भिक उदारवादी काग्रेसी नेताओ की नीति बहुत प्रभावकारी सिद्ध नही हो सकी।

मूल्यांकन—परन्तु जिन परिस्थितियो के अन्तर्गत काग्रेस का शैशव काल बीता, उनके अन्तर्गत सम्भवत उदारवादियो की नीतियाँ ही व्यावहारिक दृष्टि से सबसे उपयुक्त थी। उस समय तक भारतीय राष्ट्रीयता इतनी सगठित नही थी कि वह कठोर साधन अपनाकर स्वाधीनता प्राप्त कर सकती। ऐसी क्रान्ति को अग्रेज शासक आसानी से दबा देते। ऐसी स्थिति मे पुन 1857 के विद्रोह का वातावरण उत्पन्न हो जाता। न मालूम उसके क्या परिणाम होते। अतएव उदारवादी राष्ट्रवाद का भारतीय राष्ट्रीयता के सगठन को विकसित करने मे महत्त्वपूर्ण हाथ रहा। इन नेताओ ने एक ओर ब्रिटिश सरकार के समक्ष अपनी राजनीतिक माँगे रखकर उसे यह चेतावनी देने का कार्य किया कि उसके अत्याचारी एव स्वेच्छाचारी शासनिक कृत्य शासितो को ज्ञात है और भारतीय जनता उनके सम्बन्ध मे जागरूक है। अत उसे ऐसे कार्यो के सम्बन्ध मे सावधान रहना चाहिए। दूसरी ओर इन राष्ट्रवादी नेताओ ने भारतीय जनता को विदेशी शासको की अन्यायपूर्ण नीतियो से परिचित कराके भारतीय जनमत को प्रबल बनाने मे योगदान किया। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीयता को सही दिशा प्रदान करके उसका निर्देशन किया। यह बात भी बहुत कुछ मान्य है कि 1892 का भारतीय कौन्सिल अधिनियम ब्रिटिश सरकार ने इन्ही उदारवादियो की माँगो से प्रभावित होकर पास किया।

प्रभाव—इस दृष्टि से उदार राष्ट्रवादी नीति समयोचित थी। भले ही उन नेताओ ने साम्राज्यवादी विदेशी शासको की कूटनीतिक चालो का सही उत्तर अपने कार्यक्रम द्वारा न दिया हो, तथापि उनका महत्त्वपूर्ण योगदान यह था कि उनके कार्यकलापो ने भारतीय जनमत को राष्ट्रीय एकता की दिशा मे मोडा और भारतवासियो मे अपने राजनीतिक अधिकारो के प्रति चेतना उत्पन्न की। इस दृष्टि से उदार राष्ट्रवादियो को भारतीय राष्ट्रीयता के प्रणेता कहना सर्वथा उचित है। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन रूपी भव्य भवन की सुदृढ नीव का निर्माण इन राष्ट्रवादियो की नीति थी, जो डा० सीतारामैया के शब्दो मे, 'पहले उपनिवेशो के ढग के स्वशासन, फिर साम्राज्य के अन्दर होम रूल और उसके पश्चात् स्वराज्य तथा अन्त मे

पूर्ण स्वाधीनता की मांग के रूप में निर्मित हुआ। यद्यपि कूपलैंड के मत से भारतीय राष्ट्रीयता ब्रिटिश राज की शिशु थी और ब्रिटिश अधिकारियों ने इस पालन में आशीर्वाद दिया' तथापि वास्तविकता कुछ और है। यदि लार्ड रिपन सदृश वाइसराय सचमुच में भारतवासियों को राजनीतिक एवं लोकतन्त्रीय शिक्षा देने के उद्देश्य से स्थानीय स्वशासन संस्थाओं की स्थापना कर गये और लार्ड डफरिन ने कांग्रेस की स्थापना को भारत के शासन संचालन में भारतीय जनमत प्राप्त करने का साधन मानकर उसे प्रोत्साहन दिया तो यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रिटिश अधिकारियों ने भारतीय राष्ट्रीयता का पालन-पोषण किया क्योंकि बाद में स्वयं लार्ड डफरिन को कांग्रेस के ऊपर काफी सन्देह होने लग गया था और थोड़े ही वर्षों के बाद लार्ड कर्जन सदृश वाइसराय तो भारतीय राष्ट्रीय मांगों का कट्टर दुश्मन सिद्ध हुआ था।

क्या ब्रिटिश शासक भारतीय राष्ट्रीयता के पोषक थे?—कांग्रेस की स्थापना होने पर यदि प्रारम्भिक कांग्रेसी नेताओं ने ब्रिटिश शासन की कुचालों का तीव्र तथा क्रान्तिकारी विरोध करने की अपेक्षा उससे सहयोग करने, आवेदन करने तथा भिक्षावृत्ति के द्वारा ही सही, भारतीय राष्ट्रीय मांगों को पूर्ण करने की नीति अपनायी तो इसका यह अर्थ नहीं था कि ब्रिटिश शासक भारतीय राष्ट्रीयता के पोषक थे। कांग्रेस की उत्पत्ति के दो या तीन वर्ष तक ब्रिटिश शासकों ने कांग्रेसी नेताओं का स्वागत किया। परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है वही लार्ड डफरिन जिन्होंने इस राजनीतिक स्वरूप देने का प्रस्ताव किया था दो ही वर्ष बाद इस सन्देह की दृष्टि से देखने लगे और राजद्रोही संस्था से मानने लगे। कई प्रान्तों के गवर्नरों ने अपने अधीन प्रशासनिक अधिकारियों तथा सरकारी कर्मचारियों को आदेश दे दिये थे कि यदि वे कांग्रेस के अधिवेशनों या सभा में उपस्थित होंगे तो उसे अनुशासन भंग का अपराध माना जायेगा। कांग्रेस की बढ़ती हुई लोकप्रियता का दमन करने के लिए भारतीय दण्ड संहिता के द्वारा शासनविरोधी भाषण देने या ऐसे कार्य-कलापों को दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया। राष्ट्रीयता को कुचलने के उद्देश्य से अब ब्रिटिश शासकों ने जो नई नीति अपनायी वह तब से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक ही नहीं अपितु आज तक भी भारतीय राष्ट्रीयता के लिए अभिशाप सिद्ध हुई है। उस समय तक अंग्रेज मुसलमानों को ब्रिटिश राज्य का शत्रु मानते थे। उनके मत से 1857 के विद्रोह में मुसलमानों का प्रमुख हाथ था और मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता यूरोपीय संस्कृति की विरोधी थी। अतः 19वीं सदी के अंतिम वर्षों तक ब्रिटिश शासकों ने भारतीय मुसलमानों को शिक्षा, राजनीतिक जीवन, सार्वजनिक सेवाओं, सेना आदि में प्रोत्साहन न देने की नीति अपनाकर उन्हें उपेक्षित रखा। राष्ट्रीयता के विकास के फलस्वरूप अनेक शिक्षित मुसलमान कांग्रेस में शामिल हो गये थे और चूंकि कांग्रेस प्रारम्भ से ही एक राष्ट्रीय तथा धर्म निरपेक्ष संस्था के रूप में विकसित हो रही थी अतः ब्रिटिश शासकों ने कांग्रेस में फूट डालने तथा भारतीय राष्ट्रीय एकता को अवरुद्ध करने के उद्देश्य से साम्प्रदायिकता को भड़काने की नीति अपनायी। उन्होंने अब मुसलमानों को प्रोत्साहित करना शुरू किया और उनमें हिन्दू सम्प्रदाय के विरुद्ध घृणा करने की भावना उत्पन्न की। अंग्रेजों की यह 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास में निरन्तर एक विषैले कांटे की भांति चुभती रही। कांग्रेस तथा भारतीय राष्ट्रीयता के जन्म के पश्चात् शीघ्र ही ब्रिटिश शासकों का रुख इनके विरुद्ध हो गया। वास्तविकता यह थी कि भारतीय राष्ट्रीयता के जन्म के उपरान्त जहां भारतीय उदारवादी राष्ट्र नेता ब्रिटिश शासकों के समक्ष सहयोग और सद्भावना की धारणा रखते हुए अपनी कुछ न्यायसम्मत मांगों को रखने की नीति अपना रहे थे वहां ब्रिटिश शासक कांग्रेस की ऐसी नीति को सहन नहीं कर सके और उसके विकास को निरन्तर सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। 1892 के सुधार ब्रिटिश सरकार ने किसी ईमानदारी की भावना से लागू नहीं किये अपितु कुछ विवशताओं के कारण किये।

1892 का भारतीय कौन्सिल अधिनियम : पृष्ठभूमि तथा प्रभाव

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा भारत के सांविधानिक विकास

का क्रम समानान्तर विकसित हुआ है। इसका कारण स्पष्ट है—

(1) **अग्रेजो की भारत मे यूरोपीय सस्थायें स्थापित करने की धारणा**—भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का श्रीगणेश ऐसे समय मे तथा ऐसी परिस्थितियो के अन्तर्गत हुआ था जिसे दबा सकना किसी भी सत्ता के लिए सम्भव नही था। भारतीय राष्ट्रीयता की माँगे इतनी न्यायपूर्ण तथा वास्तविक थी कि प्रारम्भिक राष्ट्रीय उदार नेताओ की भिक्षावृत्ति की नीति मे भी उतना ही बल था जितना कि किसी कानूनी न्यायिक माँग मे हो सकता है, इसीलिए काग्रेस के नेतृत्व मे विकसित हुई राष्ट्रीयता ने काग्रेस के द्रुत विकास को पूर्ण सहयोग प्रदान किया। यद्यपि मैकाँले सदृश यूरोपीय राजनेता भारत मे पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता, सस्कृति एव सस्थाओ को शनै शनै इस रूप मे ला देना चाहते थे कि भारतवासी उनसे इतना साम्य स्थापित कर ले कि वे फिर अपनी समम्त सस्थाओ तथा सस्कृति को ही भूल जाये। इस प्रकार भारत का ही नही अपितु समूचे एशियाई देशो का, जहाँ यूरोपीय साम्राज्यवाद फैला हुआ था, यूरोपीयकरण हो जाये। भारत मे राष्ट्रीयता का विकास भले ही यूरोपीय सम्पर्क के प्रभाव से हुआ, किन्तु वह अपना स्वतन्त्र तथा स्वदेशी दिशा मे ही वढ रहा था। अत इस विकास के सन्दर्भ मे अब ब्रिटिश शासको के लिए यह बात आवश्यक हो गयी थी कि वे शीघ्रातिशीघ्र भारतीय शासन मे ब्रिटेन के नमूने की सस्थाओ की स्थापना करे।

(2) **काग्रेस की भारत मे ससदीय सस्थायें स्थापित करने की माँग**—1892 के अधिनियम को पारित करने का एक प्रधान कारण यह भी था कि काग्रेस ने अपने प्रथम अधिवेशन मे ही यह प्रस्ताव पास कर लिया था कि भारत के गवर्नर जनरल एव प्रान्तीय व्यवस्थापिका मे अधिक से अधिक निर्वाचित सदस्य वढाये जाये और व्यवस्थापिका सभाओ के विस्तार द्वारा सदस्यो को कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखने तथा आय-व्ययक पर विचार-विनिमय करने का अवसर दिया जाये अर्थात् काग्रेस की माग भी भारत मे ससदीय शासन-प्रणाली को प्रारम्भ करने की हो गयी थी। ब्रिटिश शासको को यह अनुभव होने लग गया था कि देश का शासन सचालित करने मे जनमत का ज्ञान करना आवश्यक है और इसके हेतु व्यवस्थापिकाओ का विस्तार करके उनमे जनमत को व्यक्त करने वाले जन-नेताओ को लेने से ही समस्या का समाधान हो सकता है।

(3) **ब्रिटिश नौकरशाही की गृह सरकार के नियन्त्रण से मुक्त रहने की अभिलाषा**—भारत मे ब्रिटिश नौकरशाही के अधिकारी यहाँ के शासन को अधिकाधिक मात्रा मे गृह सरकार (ब्रिटेन स्थित सरकार) के नियन्त्रण तथा निर्देशन से स्वतन्त्र रखना चाहते थे। इसलिए वे सीमित शक्तियो से युक्त भारतीय सदस्यो से निर्मित व्यवस्थापिकाओ की स्थापना मे अभिरुचि रखने लगे।

1892 के अधिनियम के द्वारा प्रथम वार भारतीय शासन मे व्यवस्थापिका के सम्वन्ध मे निर्वाचन के सिद्धान्त को अपनाया गया। इस दृष्टि से इस अधिनियम को यदि किसी अर्थ मे सुधार कहा जाये तो वह यही हे कि इसने शासन मे जनता के नेताओ को अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने जाने का अवसर दिया और शासन की परिषदो मे उनकी सख्या मे विस्तार किया। साथ ही कार्यपालिका से प्रश्न पूछने तथा वजट पर वाद-विवाद करने का अवसर दिया। परन्तु गर्वनर-जनरल तथा गवर्नरो को इतने अधिक अधिकार प्राप्त थे और इन परिषदो मे शासन द्वारा नियुक्त तथा नामाकित सदस्यो की सख्या इतनी अधिक थी कि गैर-सरकारी सदस्यो की आवाज को वे प्रभावशून्य समझते थे। शासन सम्वन्धी नीतियाँ, निर्णय तथा कानून पहले ही अन्तिम रूप से निर्णीत हो जाते थे और परिषदो के ये तथाकथित निर्वाचित सदस्य केवल उन पर अपने विचार रख सकते थे। जो वहुधा अस्वीकृत हो जाते थे। स्पष्ट है कि ब्रिटिश शासन की ऐसी नीति का विरोध अब उदार नीति से प्रभावकारी सिद्ध नही हो सकता था।

प्रश्न

1. क्या आप इस कथन से सहमत हैं कि भारत में राष्ट्रवाद का उदय पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली से अनुप्राणित था ?
2. उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में भारत में वे कौनसी परिस्थितियाँ काम कर रही थी जिन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना को सम्भव बनाया ?
3. क्या आप इस कथन से सहमत हैं कि कांग्रेस की स्थापना अंग्रेजों ने इसलिए करवाई थी ताकि देश में बढ़ते हुए असंतोष को रोका जा सके ?
4. अपने आरम्भिक वर्षों में कांग्रेस के क्या उद्देश्य थे ? उनको प्राप्त करने के लिए कौन-कौन सी रीतियाँ अपनाई गई ?
5. कांग्रेस के उदारवादी नेताओं की सैद्धांतिक निष्ठाओं पर प्रकाश डालिए।

3

राष्ट्रीयता का प्रारम्भिक युग
(NATIONALISM . EARLY PHASE)

आधुनिक भारत के इतिहास मे 19वी शताब्दी का द्वितीय उत्तरार्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण युग है। इस युग मे भारत मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपना पूर्ण राजनीतिक आधिपत्य स्थापित कर लिया था। ब्रिटिश साम्राज्यवादियो को भारतीय सस्कृति, धर्म, भापा, परम्पराओ आदि के बनाये रखने मे कोई अभिरुचि नही थी। वे भारत के राजनीतिक, आर्थिक एव सास्कृतिक शोपण मे ही अपना हित समभते रहे थे। इसलिए भारत मे पाश्चात्य शिक्षा, सस्थाओ एव शासन पद्धतियो को लागू करने मे उनकी अभिरुचि बनी रही। मैकॉले सदृश राजनेता भारतीय सस्कृति को समाप्त करके यहाँ पूर्णतया यूरोपीय सस्कृति थोप देना चाहते थे। परन्तु जब 19वी शताब्दी के अनेक भारतीय प्रतिभाशाली व्यक्तियो को पाश्चात्य देशो मे जाने, वहाँ शिक्षा प्राप्त करने तथा उन देशो की प्रगति का अनुभव करने का अवसर प्राप्त हुआ तो उन्हे अपने देश की सास्कृतिक अवनति को देखकर अत्यन्त दु ख हुआ। इनमे से अनेक महापुरुषो ने यह अनुभव किया कि भारत की प्राचीन सस्कृति पाश्चात्य देशो की तुलना मे महानतर थी। परन्तु ऐसी महान् सस्कृति का महान् देश विदेशी आधिपत्य के प्रभाव मे आकर पतितावस्था मे चला जा रहा है। इसका प्रमुख कारण यही है कि भारतीय हिन्दू समाज मे कतिपय बुराइयाँ घर कर चुकी है। धार्मिक अन्ध-विश्वासिता, सकीर्णताये, छूआछूत की भावना, बाल-विवाह, सती प्रथा, विधवाओ की समस्या, अशिक्षा आदि ने हिन्दू समाज को बिल्कुल गिरा दिया है। ऐसी स्थिति मे जब तक हिन्दू समाज को इन बुराइयो से मुक्त न किया जाये, तब तक भारत का उत्थान सम्भव नही है। उक्त सामाजिक तथा धार्मिक बुराइयो से हिन्दू समाज को मुक्त कराके उनमे आत्म-सम्मान, आत्म-विश्वास तथा देश-प्रेम की भावना का सचार कराना अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार 19वी शताब्दी के आरम्भ मे भारत के कुछ बुद्धिवादी महापुरुषो मे भारत के धार्मिक तथा सास्कृतिक पुनर्जागरण के प्रति तीव्र उत्कठा जागृत हुई। इन महापुरुषो मे राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, महादेव गोविद रानाडे तथा स्वामी रामकृष्ण परमहस का नाम अग्रणी है। ये नेता विशुद्ध रूप मे राष्ट्रवादी तो नही माने जा सकते, क्योकि ये न तो राष्ट्रीय राजनीतिक स्वतन्त्रता की भावना रखने वाले आन्दोलनकारी नेता थे और न ही इनमे मे कोई ऐसे राजनीतिक चितक की श्रेणी मे आता है जैसे कि पाश्चात्य देशो के चिंतक रूसो, काट, ग्रीन, हीगल, मार्क्स आदि थे। परन्तु इन्होने जिन समाज-सुधार तथा धर्म-प्रचार आन्दोलनो का सूत्रपात किया, वे परोक्ष रूप मे भारत मे राष्ट्रीयता की भावना जागृत करने वाले सिद्ध हुए। इन सामाजिक एव धार्मिक सुधार आन्दोलनो को राजनीतिक धारणाओ, विचारो ,एव सक्रिय राजनीति से पृथक् समभा जा सकता है। इन आन्दोलनो ने अन्ततोगत्वा भारतवासियो मे यह भावना जागृत करने मे सहायता प्रदान की कि भारत का सास्कृतिक पतन मुख्यतया राजनीतिक पराधीनता का फल है। अत भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है। प्रारम्भ मे इन पुनर्जागरण आन्दोलनो के नेताओ मे यह धारणा रही कि सामाजिक एव धार्मिक सुधार राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की पूर्व शर्ते है। परन्तु शनै शनै जब राष्ट्र भावना अधिक विकसित हो गयी तो आगामी आन्दोलनो मे यह विचार व्यक्त किये जाने लगे कि पहले राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनी आवश्यक है और राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने पर सामाजिक तथा धार्मिक सुधार

*ग्ढन ढग स सम्पन्न किय जा सकेंगे।

इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के आरम्भिक युग के नेताओ को हम दो श्रेणियो म रख सकत हैं। प्रथम क अतगत पुनर्जागरण व सुधारवादी नेता आत हैं। इनम राजा राममोहन राय तथा उनके द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज कायक्रम को बढान वाले उनक अनुयायी नेता हैं। इसी श्रेणी म स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित आय समाज के नेता महादेव गोविंद रानाडे द्वारा स्थापित प्राथना समाज क नेता स्वामी रामकृष्ण परमहस द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन तथा उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द और अनन्त थियोसोफिकल समाज की प्रमुख नेत्री श्रीमती एनी बसेंट क नाम प्रमुख हैं। दूसरी श्रेणी म हम काग्रेस की स्थापना हो जाने पर काग्रेस क आरम्भिक युग क उन नेताओ को रखत ह जिन्ह उदारवादी (moderates) कहा जाता है। इनके अन्तगत दादाभाई नौरोजी सुरेन्द्रनाथ बनर्जी फीरोजशाह महता गोपालकृष्ण गोखले आनन्दचन्द्र बनर्जी सुब्रह्मण्य अय्यर दीनशा वाचा ए ओ ह्यूम विलियम वेडरबन आदि प्रमुख हैं। ये लोग सक्रिय राष्ट्रीय नेता थ और इनके कायकलाप तथा विचार मुख्यतया राजनीतिक थ यद्यपि पूव के समाज सुधार तथा धम सुधार आन्दोलनो के विचारो का भी इनके ऊपर पर्याप्त प्रभाव था। ये नेता उदारवादी इस अथ म थ कि ये ब्रिटिश शासन का सहयोग लेकर सामाजिक धार्मिक एव राजनीतिक सुधारो को सम्पन्न कराना तथा वधानिक तरीको स शन शन भारतवासियो को राजनीतिक अधिकार प्राप्त कराना चाहत थ। परन्तु 20वी सदी क प्रारम्भ म भारत के राष्ट्रीय नेतत्व म कुछ उग्रवादी धारणायें उत्पन्न होने लगी। परिणामस्वरूप उदारवादियो की नीतियो क विरोध म बाल गगाधर तिलक अरविन्द घोष लाला लाजपतराय विपिनचन्द्र पाल श्रीमती एनी बसेंट आदि ने उग्र राष्ट्रीयता क विचार रखे। ये नेता भारत को विदेशी सत्ता म स्वतन्त्र कराना प्रथम काय मानते थे। ये समाज सुधार तथा धार्मिक सुधार क कार्यों क विरोधी नही थ। परन्तु इनका विश्वास था कि विदेशी राजनीतिक सत्ता की सहायता लेकर इन सुधारो को करवाया जाना कोई औचित्य नही रख सकता और न वह प्रभावशाली हो सकता है।

इस दृष्टि स हम राष्ट्रीय आन्दोलन क नेतृत्व को निम्नांकित श्रेणियो म वर्गीकृत करके राजनीतिक विकास क्रम के अन्तगत उनके विचारो तथा कायकलापो का विवेचन करेंगे

(1) सुधार आन्दोलनो के नेता
(2) काग्रेस क आरम्भिक उदारवादी नेता
(3) पूव गाधी युग के उग्रवादी नेता
(4) गाधी युग क नेता

सुधार आन्दोलनो के नेता

(क) राजा राममोहन राय (1772–1833)

राजा राममोहन राय का जन्म 1772 म बगाल क उच्च ब्राह्मण कुल म हुआ था। बचपन म ही इन्ह बगला भाषा के अतिरिक्त फारसी तथा अरबी भाषाए सिखायी गयी। तत्पश्चात् इन्होने संस्कृत भाषा का अध्ययन किया। इन भाषाओ के अध्ययन का प्रभाव यह हुआ कि इन्होने अल्पायु म ही इनके माध्यम से इस्लाम तथा हिन्दू धर्मों क मूल ग्रन्थो कुरान वेद उपनिषदो आदि का अध्ययन किया और इन्हे हिन्दू धम के अन्तगत आ गए अनेक अन्धविश्वासो स घृणा होने लगी। ये मूर्ति पूजा तथा अनेकेश्वरवाद को हिन्दू धम का अभिन्न अग नही मानने लगे। कुछ बडे होने पर ये तिब्बत गये। वहाँ इन्होने बौद्ध धम ग्रन्थो का अध्ययन किया। बौद्ध धम म जो बुराइयाँ आ गयी थी उनसे भी इन्हे घृणा हो गयी। इन्होने अपने व्यक्तिगत जीवन म हिन्दू समाज म आ गयी अनेक कुरीतियो का भी कटु अनुभव किया यथा सती प्रथा बाल विधवाओ की समस्या बहु विवाह प्रथा महिलाओ की दासता की स्थिति आदि। उन्होने यह निष्कर्ष निकाला कि ये समस्त

सामाजिक कलक धर्म पर आधारित कुप्रथाओ के विकास का फल है, न कि किसी धर्म विशेष के मौलिक सिद्धान्त। बाइस वर्ष की उम्र से इन्होने अग्रेजी भाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया और उसमे भी दक्षता प्राप्त की। इसके कारण उन्हे ईसाई धर्म ग्रन्थो, पाश्चात्य देश के दार्शनिको के विचारो तथा पाश्चात्य साहित्य का अध्ययन करने का अवसर मिला। इससे उन्होने ईसाई धर्म की भलाइयो तथा बुराइयो का भी अनुभव किया। ये पाश्चात्य शिक्षा से बहुत प्रभावित हुए जिसके अन्तर्गत अनेक विज्ञानो, सामाजिक शास्त्रो तथा दर्शन का अध्ययन कराया जाता था।

भारतीय समाज के अन्तर्गत सामाजिक एव धार्मिक सुधार कार्यो का आन्दोलन चलाने की तीव्र आकाक्षा उनके हृदय मे जागृत हुई। उनके विचारो से उनके अनेक साथी बहुत प्रभावित हुए। उन सबके सहयोग से 1828 मे राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना की। ब्रह्म समाज तत्कालीन भारतीय सामाजिक एव धार्मिक स्थितियो के अन्तर्गत सुधार आन्दोलन की एक प्रमुख सस्था थी, इसके अनुसार अनेकेश्वरवाद, समस्त मानव जाति के एक धर्म, मूर्ति पूजा का विरोध, एक निराकार ब्रह्म की सत्ता के ऊपर विश्वास, साम्प्रदायिक भेद-भाव की समाप्ति आदि के प्रचार आन्दोलन चलाए गए। ब्रह्म समाज के अनुसार जिस एकमात्र मानव धर्म को महत्त्व दिया गया उससे यह निष्कर्ष निकालना कठिन नही है कि राजा राममोहन राय हिन्दू होते हुए भी किसी प्रचलित ऐसे धर्म पर विश्वास नहीं रखते थे जिसमे साम्प्रदायिकता की भावना रहती हो। भारत की तत्कालीन परिस्थितियो के सन्दर्भ मे जहाँ कि धार्मिक भेदभावो ने समाज की एकता तथा प्रगति को अवरुद्ध करने मे महत्त्वपूर्ण कार्य भाग सम्पन्न किया था, राजा राममोहन राय के ब्रह्म समाज आन्दोलन मे भारतीय राष्ट्रीय एकता का भारी समर्थन मिलता है।

राजा राममोहन राय का कार्य क्षेत्र हिन्दू समाज मे प्रचलित विभिन्न बुराइयो का अन्त कराने मे अधिक था। उन्होने सती प्रथा को कानून द्वारा बन्द करवाने मे तत्कालीन रूढिवादी हिन्दुओ के विरोध का डटकर सामना किया और इस बर्बर प्रथा के विरुद्ध भारी जनमत तैयार किया। महिलाओ के उत्थान मे उनकी भारी अभिरुचि थी। बाल-विधवाओ के पुनर्विवाह, बाल विवाह की समाप्ति, बहु-विवाह की समाप्ति, स्त्री-शिक्षा, आदि का उन्होने तीव्र प्रचार किया। हिन्दुओ मे जाति-प्रथा से उत्पन्न हुए सामाजिक दोषो का भी उन्होने तीव्र विरोध किया। हिन्दू समाज सुधार के निमित्त उन्होने विभिन्न हिन्दू धर्मशास्त्रो, स्मृतियो आदि से प्रमाण देकर बुराइयो का निवारण कराने का प्रचार किया।

यद्यपि राजा राममोहन राय को न तो एक राजनीतिक चितक की श्रेणी प्राप्त होती है और न ही वे एक राजनेता की श्रेणी मे आते है, तथापि उनके अनेक विचार तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत बहुत महत्त्व रखते हे। वे 19वी शताब्दी के भारतीय पुनर्जागरण के आदि प्रणेताओ मे से थे। यह पुनर्जागरण सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि जीवन के समस्त क्षेत्रो से सम्बद्ध था। यद्यपि इसमे पाश्चात्य सस्कृति, दर्शन तथा राजनीति के प्रभाव को अमान्य नही किया जा सकता, तथापि इसके अन्तर्गत राजा राममोहन राय ने जिन विचारो को रखा वे कोरे पाश्चात्य विवेकवाद, बुद्धिवाद, आधिभौतिकतावाद से प्रभावित न होकर हिन्दू सस्कृति, धर्म तथा शास्त्रो के विवेकपूर्ण निर्वचन पर भारतीय परिस्थितियो के सन्दर्भ मे व्यक्त विचारो पर आधारित थे। चूंकि भारत मे उस समय विदेशी निरकुश शासन कायम था, अत भारतीयो की नागरिक, वैयक्तिक एव राजनीतिक स्वतन्त्रताओ पर भारी अकुश लगे थे। अत राजा राममोहन राय ने अनुभव किया कि जब तक भारतवासी इन स्वतन्त्रताओ से वचित रहेगे तब तक समाज-सुधार या धर्म-सुधार कार्य सम्भव नही होगे। पाश्चात्य देशो की परिस्थितियो के अध्ययन ने उन्हे यह समाधान कर दिया था कि पाश्चात्य देशो, विशेषकर इग्लैण्ड, मे जनता ने उन्नति इसीलिए की हे कि वहाँ नागरिक स्वतन्त्रताओ का उपभोग करते है। भारत मे समाज सुधार एव धर्म-सुधार के निमित्त प्रेस की स्वतन्त्रता अपरिहार्य थी। किन्तु भारत की सरकार ने प्रेस की स्वतन्त्रता पर भारी प्रतिबन्ध लगा दिये थे। अत राजा जी ने इसके विरुद्ध सावधानिक तरीके से आन्दोलन प्रारम्भ

रर दिया। उन्होंने कलकत्ता सुप्रीम कोर्ट के समक्ष जनता की नागरिक स्वतन्त्रताओं पर लगे गवर्नर जनरल के अध्यादेश के विरुद्ध स्मरण पत्र पेश किया। वहां उसे अस्वीकार कर देने पर प्रिवी कौंसिल में भी स्मरण पत्र भेजा। यद्यपि वहां भी वह अस्वीकृत हो गया तथापि उन्होंने सांविधानिक तरीकों से इस न्यायोचित माग की पूर्ति के लिए आन्दोलन जारी रखा। अन्ततः उनकी मृत्यु के दो वर्ष पश्चात् 1835 में सर चार्ल्स मेटकाफ जब गवर्नर जनरल होकर आया तो उसने भारतीय प्रेस को स्वतन्त्रता प्रदान की।

भारत में ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थापित न्याय व्यवस्था के अन्तर्गत न तो भारतवासियों को सस्ता न्याय मिल सकता था और न यहां न्यायपालिका कार्यपालिका से स्वतन्त्र थी। राजा जी ने इनके विरुद्ध आवाज उठायी। उन्होंने सरकार के समक्ष प्रस्ताव रखे कि न्यायालयों में ज्यूरी प्रथा लागू की जाय, न्यायाधीश तथा मजिस्ट्रेट के पद पृथक किये जाय, कम्पनी की नागरिक सेवा में भारतीय नागरिकों की अधिक से अधिक संख्या में नियुक्ति की जाय और विधि निर्माण के निमित्त भारतीय जनमत का ध्यान किया जाए। उन्होंने किसानों के ऊपर जमींदारों के अत्याचारों के विरुद्ध भी कानून बनाने की मांग की।

राजा राममोहन राय सबसे पहले वह नेता थे जिन्होंने भारतीय जनता की राजनीतिक एवं नागरिक स्वतन्त्रताओं के सम्बन्ध में वैधानिक तरीके से सरकार के समक्ष मांग रखी। व्यक्तिक स्वतन्त्रता की उपलब्धि कराना उनके राजनीतिक विचारों का केन्द्र था। नागरिक अधिकारों के निमित्त वे विधि के शासन को लागू करने के हिमायती थे। उन्होंने पाश्चात्य देशों की राजनीतिक धारणाओं का सन्देश भारतवासियों को दिया और अन्त में 1830 में जब वे इंग्लैण्ड गए तो वे प्रथम भारतीय व्यक्ति थे जिन्होंने इंग्लैण्ड की यात्रा की थी। वहां के स्वतन्त्रता प्रेमी तथा मानवता प्रेमी महान् विभूतियों ने उनका हृदय से स्वागत किया। राजा जी ने इंग्लैण्ड की जनता को भारत की स्थिति से अवगत कराया और इंग्लैण्ड में भारतीय जनता की मांगों के समर्थन में जनमत जुटाने का कार्य किया। कुछ काल तक वहां रहने के पश्चात् 1833 में वहां उनकी मृत्यु हो गयी।

भारतीय पुनर्जागरण को प्रेरणा देने वाले समाज-सुधार एवं धर्म-सुधार के कार्य को एक नवीन दिशा में सचालित करने वाले, पाश्चात्य संस्कृति का भारतीय संस्कृति के साथ समन्वय करने वाले तथा भारत की राष्ट्रीय एकता की भावना का संचार करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करने वाले और भारतवासियों को नागरिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता के महत्त्व का सन्देश देने वाले वे प्रथम भारतीय थे। उनके अथक प्रयासों का ही यह फल हुआ कि भारत का बुद्धिजीवी वर्ग समाज-सुधार, धर्म सुधार एवं राजनीतिक मांगों के प्रति जागरूक हुआ। उनके विचारों ने भारतीय राष्ट्रीय जीवन में एक नई लहर पैदा की। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके ब्रह्म समाज के कार्य को उनके शिष्यों महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा केशवचन्द्र सेन ने आगे बढ़ाया और कालान्तर में आर्य समाज, प्रार्थना समाज तथा अन्य सुधार संगठनों को उनसे प्रेरणा मिली। जब भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ तो राष्ट्रीय आन्दोलन के लगभग सभी आरम्भिक नेता जिन्हें हम उदारवादी कहते हैं, राजा राममोहन राय के विचारों से प्रभावित थे और उन्हीं की नींव पर उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को आगे बढ़ाया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने उन्हें भारत में सांविधानिक आन्दोलन का जनक कहकर सम्बोधित किया है। राजा राममोहन राय ने जो सन्देश भारत को दिया था, उसके कारण भारत का नव जागरण तथा राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ हुआ।

(ख) स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824–1883)

राजा राममोहन राय के ब्रह्म समाज आन्दोलन की ही भांति उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीयार्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित आर्य समाज ने हिन्दू धर्म सुधार, भारतीय समाज के सुधार तथा भारत में नव राष्ट्रवादी शिक्षा का प्रसार करने में बहुत बड़ा योगदान किया

है। यह भी एक महत्त्वपूर्ण वात है कि ब्रह्म समाज का महत्त्व धीरे-धीरे घटता गया, परन्तु आर्य समाज आज तक अपने विकसित रूप मे न केवल विद्यमान है, अपितु भारतीय हिन्दू समाज के अन्तर्गत उसे व्यापक मान्यता प्राप्त हुई है। स्वामी दयानन्द सरस्वती, जिनका मूल नाम मूलशकर था, 1824 मे गुजरात के एक कट्टर हिन्दू ब्राह्मण परिवार मे पैदा हुए थे। उनके पिता एक कट्टर शिव उपासक थे। अत मूल शकर को वाल्य काल मे शिव भक्ति की शिक्षा दीक्षा दी गयी। वाल्यवस्था से ही मूल शकर एक प्रतिभाशाली तथा विवेकपूर्ण चिन्तन करने वाले व्यक्ति सिद्ध हुए। शिवरात्रि के पर्व पर एक दिन रात्रि को शिव मन्दिर मे जागरण करते हुए उन्होने देखा कि एक चूहा शिवलिंग के ऊपर चढाये गये प्रसाद को खा गया और शिवजी की मूर्ति जो इतनी महान् शक्तिशाली मानी जाती रही, वह स्वय चूहे से अपनी रक्षा नही कर सकी। उन्होने अपने आपसे प्रश्न किया और अपने पिता से भी, कि आखिर यह क्या रहस्य था। कुछ काल पश्चात् उनके घर मे विशूचिका से दो मृत्युएँ हो गयी। उन्होने तव भी यही प्रश्न किया कि जो परम शक्तिशाली शिव-मूर्ति निरन्तर पूजी जा रही है, वह ऐसा त्राण नही दे सकती तो उस मूर्ति की पूजा पर विश्वास रखना कौन-सा धर्म है ? वस यही से वे सत्य ईश्वर की खोज मे लीन हो गये। वे राजा राममोहन राय की तरह मूर्ति पूजा के विरोधी तो हो ही गये। साथ ही सत्य की खोज मे लग गये। पिता ने उनका मन वहलाने के लिए उनकी शादी का प्रस्ताव किया तो वे घर छोडकर ही चले गये और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उत्तर भारत के विभिन्न तीर्थो मे भ्रमण करने लगे। उन्हे ऐसे गुरु की तलाश थी, जो उन्हे सत्य का दर्शन करा सके। अनेक मठो मे जाकर उन्होने दर्शन का अध्ययन किया, योगाभ्यास भी किया, साथ ही वेदो का भी अध्ययन किया। उन्हे कोई सच्चा साधु नही मिला जो उनकी निष्ठा का भाजन वन सके। अन्तत 24 वर्ष की आयु मे उन्होने स्वामी पूर्णानन्द से दीक्षा लेकर सन्यास ले लिया और स्वामी पूर्णानन्द ने उनका नाम दयानन्द सरस्वती रखा। वाद मे वे मथुरा मे स्वामी विरजानन्द के कठोर अनुशासन मे उनके शिष्य रहे। उन्होने दयानन्द को उपदेश दिया कि वे इस विश्व मे फैले अनाचार आदि से विरक्त रहे और वेदो मे वर्णित धर्म को अपनाये तथा विश्व को इसका सन्देश दे।

यद्यपि स्वामी दयानन्द ने सन्यास धारण कर लिया था, तथापि वे सासारिक जीवन से विरक्त नही हुए। उन्होने सन्यास सत् की खोज के लिए धारण किया था। उन्हे ब्रह्म के दर्शन वेदो मे हुए। सनातन हिन्दू-धर्म मे प्रचलित अनेकेश्वरवाद कर्म-काण्ड, मूर्ति-पूजा आदि को उन्होने धार्मिक आडम्वर तथा पाखण्ड समझा। राजा राममोहन राय की मूर्ति-पूजा विरोधी तथा एकेश्वरवादी ब्रह्म समाज की शिक्षाओ का आधार उनका उपनिषदो का ज्ञान था, जवकि स्वामी दयानन्द ने वेदो तथा वैदिक धर्म का अवलम्वन किया और यह उपदेश दिया कि वास्तविक धर्म वैदिक धर्म हे जो आधुनिक विज्ञान, विवेक, तर्क आदि सवका मूल है। वेदो मे वह समूचा ज्ञान भरा पडा ह जो कि आधुनिक विकास के अन्तर्गत व्यक्त हुआ है। पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र आदि की सत्यता सदिग्ध है। वेदो मे निहित ज्ञान वास्तव मे ईश्वर की वाणी है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने वैदिक धर्म को ही वास्तविक धर्म माना और उसी का उपदेश जनता को दिया। स्पष्टतया उनके विचार जाति-पातिगत भेदभाव, छुआछूत की भावना, ऊँच-नीच आदि के कट्टर विरोधी थे। इस दृष्टि मे उन्होने सनातन हिन्दू धर्म के अन्तर्गत आ गयी वुराइयो का कट्टर विरोध किया।

अपनी शिक्षाओ का प्रसार करने के लिए उन्होने 1875 मे वम्वई मे आर्य समाज की स्थापना की। फिर उसका प्रसार लाहौर तथा उत्तरी भारत के अन्य स्थानो मे भी किया। स्वामी जी द्वारा स्थापित आर्य समाज एक ऐसी सस्था थी जिसके उपदेश सरल, मानवतावादी एव सुगमतापूर्वक ग्राह्य सिद्ध हुए। इनमे हिन्दू धर्म के अन्तर्गत मान्य सस्कारो, कर्मकाण्ड, परिपाटियो आदि की जटिलता नही थी। आर्य समाज ने शुद्धिकरण की योजना अपनाकर विधर्मियो को भी,

हिन्दू धर्म में जाने का मार्ग प्रशस्त किया। सनातन हिन्दू धर्म के अन्तर्गत धर्म बहिष्कृत लोगों तथा विधर्मियों को अपने में मिला लेने की व्यवस्था नहीं थी। आर्य समाज ने इस कठोर नियम का खण्डन किया और इस प्रकार उसने भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान किया। ब्रह्म समाज के अन्तर्गत पाश्चात्य संस्कृति तथा ईसाइयत का भी प्रभाव बना रहने से वह अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाया जबकि आर्य समाज विशुद्ध तथा हिन्दुत्व तथा वैदिक संस्कृति पर आधारित होने के कारण अत्यन्त जनप्रिय सिद्ध हुआ।

स्वामी दयानन्द ने तत्कालीन हिन्दू समाज में अन्तर्गत जिन बुराइयों को देखा उन्हें समाप्त करने का अभियान भी प्रारम्भ किया। बाल विवाह, बहु विवाह, विधवाओं की समस्या, शिक्षा प्रसार आदि के सम्बन्ध में भी स्वामी जी ने बुराइयों का निराकरण करने के आन्दोलन चलाये। शिक्षा प्रसार के क्षेत्र में आर्य समाज का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। सैकड़ों की संख्या में छोटी बड़ी अनेक शिक्षा संस्थायें आर्य समाज के द्वारा स्थापित की गयी हैं। स्वामी जी ने अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा की आवश्यकता को बहुत महत्त्व दिया। उनका मत था कि 18 वर्ष की उम्र तक शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य बच्चों की बौद्धिक शक्तियों का विकास उनमें इन्द्रिय साधन की टेव उत्पन्न करना, ब्रह्मचर्य पालन, शारीरिक विकास तथा आत्मानुशासन की प्रवृत्ति जाग्रत करना होना चाहिए। वे गुरुकुलों सदृश शिक्षा संस्थाओं की स्थापना पर बल देते थे। सह शिक्षा को वे उचित नहीं मानते थे।

स्वामी जी की शिक्षा योजना राष्ट्रीय शिक्षा की द्योतक थी। उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज की शिक्षायें धर्म निरपेक्षता की ऐसी योजनाएं हैं जिनके अन्तर्गत साम्प्रदायिक भेदभाव, जातिगत भेदभाव या धर्मगत घृणा को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। वे विभिन्न धर्मों के अन्तर्गत अन्धविश्वासों के विरोधी थे। उनका आर्य समाज ऐसा हिन्दू धर्म था जो एक मानवतावादी धर्म की शिक्षा देता है और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को शामिल करने का प्राविधान है। भारत सदृश विविध धर्मों को मानने वाली जनता के निमित्त राष्ट्रीय एकता की धारणा को बलवती बनाने के लिए आर्य समाज से उत्तम और क्या व्यवस्था हो सकती थी? स्वामी जी की अन्य शिक्षाओं के अन्तर्गत उनका स्वदेशी के प्रति प्रेम, वर्ण व्यवस्था द्वारा उत्पन्न अस्पृश्यता का विनष्ट करना, हिन्दी को राष्ट्र भाषा के रूप में मानना[1], महिला उद्धार, सत्य के प्रति निष्ठा, धार्मिक सहिष्णुता तथा सामाजिक कुप्रथाओं का तीव्र विरोध शामिल हैं। इस प्रकार नव जागरण के युग में समाज तथा धर्म के क्षेत्र में जो सुधारों की योजनायें तथा प्रचार उन्होंने सम्पन्न किये उन्होंने भारतीय जनता में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत करने तथा एक प्रबुद्ध चेतना उत्पन्न करने की दिशा में महान् योगदान किया।

स्वामी दयानन्द के विचारों का क्षेत्र धर्म तथा समाज सुधार तक ही सीमित नहीं है। राजनीतिक क्षेत्र में भी उनके विचार महत्त्वपूर्ण हैं। वे एक यथार्थ लोकतन्त्रवादी थे। यद्यपि वे समाज को एक सावयव के रूप में मानते थे तथापि उसके अन्तर्गत व्यक्ति की गरिमा को बनाये रखने के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुत्व की धारणा पर बल देते थे। राज्य के कार्य क्षेत्र के सम्बन्ध में उन्होंने अपने युग में यूरोपीय देशों में विकसित यद्भाव्यम् (laissez faire) नीति का विरोध करके लोककल्याणकारी राज्य के आदर्श को मान्य किया। वे शासन सत्ता के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के विरोधी थे और प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं द्वारा शासन संचालन किये जाने की आवश्यकता पर उन्होंने बल दिया। उस काल में भारत की शासन सत्ता ब्रिटिश नौकरशाही के स्वेच्छाचारी शासन के अन्तर्गत थी। उस समय में स्वामी दयानन्द ने प्राचीन भारतीय लोकतन्त्री पद्धतियों को लागू किये जाने की आवश्यकता पर बल दिया। उनका मत था

[1] स्वामी दयानन्द स्वयं गुजराती थे। उनकी रचनाएँ जिनमें सत्यार्थ प्रकाश प्रमुख है हिन्दी में लिखी गयी थी।

कि देश की प्रतिनिध्यात्मक संस्था मे तीन प्रकार की सभाये होनी चाहिए, राज्य सभा (राजनीतिक कार्यो के लिए), धर्म सभा (धर्म सम्बन्धी व्यवस्था के लिए) और विद्या सभा (सामाजिक एव सांस्कृतिक कार्यो के लिए)। वे प्रबुद्ध प्रतिनिधियो के हाथ मे शासन सत्ता रखने की नीति के समर्थक थे। उनके राजनीतिक विचार प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओ की शिक्षाओ पर आधारित थे, मुख्यतया वेदो तथा स्मृतिकारो के विचारो पर।

स्वामी दयानन्द के विचारो तथा उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज के कार्य-कलापो ने 19वी सदी के भारतीय पुनर्जागरण के विकास मे महान् योगदान किया। उन्होने हिन्दू समाज को अन्धविश्वासो, सामाजिक कुप्रथाओ के गर्त तथा विविध प्रकार के भेदभावो मे फस जाने से बचाया, साथ ही ईसाई मिशनरियो तथा मुस्लिम धर्म के अत्याचारो से भी बचाया। 19वी सदी के भारतीय पुनर्जागरण के अधिकाश नेता पाश्चात्य सस्कृति के प्रशसक थे। उनके कार्यकलापो मे पाश्चात्य रग था। स्वामी दयानन्द ने भारतवासियो को विशुद्ध भारतीय सस्कृति की गरिमा का उपदेश देकर भारतीय राष्ट्रीय भावना के सचार का बीज वपन किया। यही कारण था कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मे पाश्चात्य प्रेमी उदारवादियो की नीतियो के विरुद्ध उग्र राष्ट्रीयता का अभ्युदय हुआ। तिलक, लाला लाजपतराय, विपिन चन्द्र पाल, महात्मा अरविन्द, विवेकानन्द आदि सभी ने विशुद्ध भारतीय सस्कृति का सन्देश दिया। इनके विचारो मे स्वामी दयानन्द के प्रभाव को विशिष्ट स्थिति प्राप्त होती है। दयानन्द को एक विशुद्ध राजनीतिक विचारक की श्रेणी तो प्राप्त नही होती, और न ही वे अपने युग के अन्य कई नेताओ की भाँति के राजनेता के रूप मे थे जिन्होंने किसी प्रकार के सावैधानिक आन्दोलन मे सक्रिय भाग लिया हो। परन्तु समाज तथा धर्म सुधार कार्यो के सम्पादन के साथ-साथ उन्होने जिन राजनीतिक आदर्शो की व्याख्या की थी, उनके कारण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को बहुत प्रेरणा मिली और उनके अनुयायी बाद मे सक्रिय राष्ट्रीय राजनीतिक नेता बने।

(ग) स्वामी विवेकानन्द (1863–1900)

19वी शताब्दी के धर्म-सुधार तथा समाज-सुधार आन्दोलनो मे राजा राममोहन राय के ब्रह्म समाज तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती के आर्य समाज ने भारत की हिन्दू जनता मे जिस नव-चेतना का सचार किया था, उसे और अधिक भारतीय दृष्टिकोण से व्यक्त करके भारतीय धर्म को सार्वभौम रूप प्रदान करने का कार्य स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन ने किया। स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त पर आधारित हिन्दू धर्म तथा हिन्दू सस्कृति की महानता को विश्व के समक्ष प्रस्तुत करके उसके मानवतावादी स्वरूप का भारत मे ही नही अपितु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे प्रचार करने मे सफलता प्राप्त की। उनकी शिक्षाओ तथा विचारो का भारत के कोने-कोने मे प्रचार होने मे बाद के राष्ट्रीय नेताओ, विशेषकर गाधी जी ने राष्ट्रीय आन्दोलन की अवधि मे राजनीति तथा आध्यात्मिकता के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने मे अवलम्बन किया और उस युग मे पाश्चात्य की भौतिकतावादी प्रवृत्ति से राजनीतिक विचारो तथा व्यवहार को मुक्त करने की प्रेरणा विश्व को दी।

सही अर्थ मे दयानन्द सरस्वती की भाँति स्वामी विवेकानन्द भी न तो विशुद्ध रूप से एक राजनीतिक चिंतक थे और न ही उन्हे एक राष्ट्रीय नेता मानना उपयुक्त है। परन्तु उस युग के धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक पुनर्जागरण मे उन्होने भारत की राजनीतिक एव राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी। स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाओ का बहुत अधिक प्रभाव पडा। इस अर्थ मे वे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के आरम्भिक नेताओ की श्रेणी मे आते है। स्वामी दयानन्द, जो कि अंग्रेजी भाषा मे बिल्कुल अपरिचित थे, ने वेदो को अपने विचारो का आधार बनाकर वैदिक धर्म तथा वैदिक सस्कृति का व्यापक प्रचार किया, स्वामी विवेकानन्द एक प्रतिभाशाली ग्रेजुएट थे, उन्होने पाश्चात्य दर्शन का गहन अध्ययन

लिया था। वे अमरीका तथा यूरोप के अनेक देशों में भी गये थे। इसलिए अंग्रेजी साहित्य पाश्चात्य दर्शन एवं संस्कृत ग्रंथों के गहन अध्ययन के आधार पर उन्होंने भारतीय संस्कृति की गरिमा को पाश्चात्य ज्ञान की तुलना में उत्कृष्ट सिद्ध करने का सफल प्रयास किया।

स्वामी विवेकानन्द का जन्म बंगाल के एक सम्भ्रान्त कायस्थ परिवार में हुआ था। वे बचपन से ही एक प्रतिभाशाली तथा प्रखर बुद्धि वाले व्यक्ति सिद्ध हुए। उनकी माता हिन्दू धर्म ग्रंथों का विशद ज्ञान रखती थीं उनसे बालक विवेकानन्द[1] (जिनका प्रारम्भ का नाम नरेन्द्रनाथ था) को भारी प्रेरणा मिली। उनकी विलक्षण बुद्धि तथा स्मरण शक्ति की प्रशंसा उनके अध्यापकों ने निरन्तर की है। विद्यार्थी जीवन से ही वे दर्शन तथा अध्यात्म ज्ञान में रुचि रखते थे। उनका ध्यान भारत की दीन तथा दरिद्र जनता के दुखों की ओर गया। उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य दरिद्र जनता के कष्टों का निवारण करना बनाया और इस उद्देश्य से वे परमात्मा की खोज करने लगे। उन्हें इस उद्देश्य की सफलता के लिए एक गुरु की आवश्यकता थी और ऐसे गुरु उन्हें रामकृष्ण परमहंस मिले। यद्यपि रामकृष्ण ने विवेकानन्द में शिष्यत्व के पूरे गुण पाए तथापि विवेकानन्द सदृश विवेकशील व्यक्ति ने उनका गुरुत्व स्वीकार करने में पूर्व बहुत लम्बी अवधि तक उनकी सेवा की और उनके स्वरूप को पहचानने का प्रयास किया। अन्त में उन्होंने गुरु को राम तथा कृष्ण के अवतार के रूप में स्वीकार किया और गुरु तथा शिष्य की आत्मा का मिलन गुरु के शरीरान्त के समय ही हुआ। उसके पश्चात् विवेकानन्द ने अपने गुरु के सन्देश का प्रचार आरम्भ किया।

उन्होंने कलकत्ता के समीप बारानगर में 1886 में रामकृष्ण के नाम से एक मठ स्थापित किया जहां पर उनके सहचारी लोग अध्यात्म का अध्ययन करते थे। उसके पश्चात् वे भ्रमण के लिए चल दिए। सारे भारत का भ्रमण करके उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि परमात्मा का निवास प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में है। भारत की दरिद्र जनता के कष्टों का निवारण ही परमात्मा की सच्ची सेवा है। वे भारत की जनता के मध्य अमीर गरीब के भेदभाव से दुखी हुए। जाति प्रथा के दोषों को देखकर उन्हें बड़ा आघात पहुँचा। अन्त में वे कन्याकुमारी के पास समुद्र स्थित एक चट्टान पर बैठकर विचार करने लगे कि उनका क्या कर्त्तव्य है? उन्हें बोध हुआ कि मानव मात्र की आत्मा में परमात्मा का वास है। अतः मानव मात्र की सेवा ही सच्ची ईश्वर सेवा है। उन्होंने यह अनुभव किया कि मानव आत्मा में जो दिव्य तत्त्व है उसे प्रकाश में लाकर उसकी आत्मा को विकृत करने वाले तत्त्वों—काम क्रोध लोभ मायामोह आदि से मुक्त कराना चाहिए। ऐसा दिव्य सन्देश हिन्दू धर्म की शिक्षाओं में विद्यमान है। उन्होंने समूचे भारत को एक राष्ट्र के रूप में लिया। इस राष्ट्रीय महानता तथा एकता को बनाए रखने में हिन्दू धर्म की शिक्षाएं योगदान करती हैं। *राष्ट्र की जनता को कष्टों तथा दरिद्रता से त्राण देने की युक्ति यही है कि राष्ट्र का* जीवन सम्पूर्ण के लिए त्याग तपस्या तथा सेवा की भावना से निर्मित किया जाय। यही वास्तविक मानव धर्म है जिसकी शिक्षा हिन्दू धर्मशास्त्रों के अन्तर्गत दी गयी है। यही भारतीय राष्ट्र संस्कृति तथा हिन्दू धर्म की महानता है। इन्हीं का प्रचार एवं इनकी सही कार्यान्विति मानव को उनके कष्टों से त्राण दे सकती है।

1893 में अमरीका के शिकागो नगर में विश्व भर के धर्मों का महासम्मेलन हुआ था। विवेकानन्द को उसमें शामिल होकर हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करने की सलाह कुछ भारतीयों ने दी। उन्हें यह प्रस्ताव उचित लगा। परन्तु इसके निमित्त उन्होंने अमीर लोगों द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता अस्वीकार कर दी और निर्धन जनता द्वारा एकत्र धन ही स्वीकार किया क्योंकि वे उसी निर्धन हिन्दू समाज का प्रतिनिधित्व करने जाने वाले थे। अनेक कष्ट सहन करते

[1] यह नाम उन्हें खेतड़ी के राजा ने उस समय दिया जबकि वे अमरीका की यात्रा पर जाने वाले थे और उसके पश्चात् इसी नाम से प्रसिद्ध हो गये। इससे पूर्व उन्होंने अपने कई नाम रखे और अपना वास्तविक नाम गुप्त रखा।

हुए वे अमरीका पहुँचे। वहाँ सम्मेलन के प्रतिनिधियो की सूची मे उनका नाम अंकित कराने की तिथि बीत चुकी थी। उनकी कोई पूर्व योजना भी नही थी, न उन्हे सम्मेलन की कार्य-विधियो की जानकारी थी। परन्तु वहाँ कुछ ऐसे व्यक्तियो से अकस्मात् उनका परिचय हो गया जिन्होने धर्म-सम्मेलन के अधिकारियो के समक्ष उनकी प्रतिभा का परिचय कराया और उन्हे धर्म-सम्मेलन मे आमंत्रित करा दिया। इस महासम्मेलन मे भाग लेने वाले विश्व के विविध धर्मो के प्रतिनिधियो मे से विवेकानन्द ही ऐसे व्यक्ति थे जो सबसे कम उम्र के थे। उन्होने देखा कि सभी लोग अपने लिखित भाषण दे रहे थे, परन्तु उनके पास ऐसी कोई तैयारी नही थी। परन्तु उनका आशु व्याख्यान सुनकर श्रोता लोग चकित हो गए। उनके व्याख्यान ने सम्पूर्ण श्रोताओ को हिन्दू धर्म की महानता के प्रति आकृष्ट किया। यह पहला अवसर था जबकि इतनी विशाल संस्था के समक्ष किसी भारतीय ने हिन्दू धर्म की महानता का सन्देश देकर विश्व के विविध धर्मावलम्बियो के ऊपर अपनी छाप छोडी। राष्ट्रीय गरिमा को विश्व के समक्ष प्रस्तुत करने का यह महान् कार्य विवेकानन्द ने पूर्ण किया। उनके प्रभाव मे अनेक अमरीकी लोग आ गए। फिर वे इग्लैण्ड गए। वहाँ भी उनका इसी प्रकार सम्मान हुआ। जब वे भारत वापस आए तो फिर देश भर मे भ्रमण किया। अल्मोडा जिले मे चम्पावत के पास मायावती नामक स्थान पर स्वामी रामकृष्ण व विवेकानन्द की स्मृति मे अद्वैत आश्रम की स्थापना उनके कुछ शिष्यो ने की है। यहाँ पर अध्यात्म चितन के साथ-साथ गरीब रोगो को बीमारियो की नि शुल्क चिकित्सा प्राप्त करने की सुविधा भी दी जाती है। बेलूर मठ की स्थापना भी 1898 मे की गयी थी। यह मिशन का प्रमुख केन्द्र है। अमरीका के न्यूयार्क नगर मे उन्होने वेदान्त सोसाइटी की स्थापना की जिसका उद्देश्य अमरीका वासियो को वेदान्त का ज्ञान कराना था। यूरोप मे मैक्समूलर को उनसे मिलकर बडा सुख तथा सन्तोष हुआ। इसी प्रकार इग्लैण्ड के अनेक दार्शनिक भी उनकी शिक्षाओ से बहुत प्रभावित हुए।

भारत मे उभरती हुई राष्ट्रीयता के युग मे स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाओ ने राष्ट्रीय नेताओ के समक्ष आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का आदर्श प्रस्तुत किया। स्वामी जी ने बताया कि राष्ट्र का वास्तविक जीवन केवल धर्म है। उन्होने भारतवासियो को चेतावनी दी कि पाश्चात्य देशो की भौतिकतावादी संस्कृति भारतीय राष्ट्र के उत्थान मे कभी सहायक सिद्ध नही हो सकती। उन्होने हिन्दू धर्म की रूढिवादी परम्पराओ को अमान्य किया जिनके अन्तर्गत जाति-प्रथा, छुआछूत आदि बुराइयाँ आ गयी थी। उन्होने ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्तियोग तीनो को सही परिपेक्ष मे रखा और हिन्दू धर्म के मानवतावादी तथा आध्यात्मिक स्वरूप को यथार्थ के सन्दर्भ मे व्यक्त किया। उन्होने बताया कि धर्माचरण दरिद्रता मे सम्भव नही है, दरिद्रता निवारण सच्चा मानव धर्म है। विवेकानन्द मूर्ति पूजा के विरोधी नही थे, प्रत्युत् वे मूर्ति पूजा को एक साधन के रूप मे मानते थे। जाति-पाति के भेदभाव, छुआछूत की प्रथा के निवारण तथा अन्य ऐसी कुप्रथाओ का अन्त करने के लिए उन्होने शिक्षा की महत्ता पर बल दिया। यद्यपि विवेकानन्द न एक राजनेता थे और न वे राजनीति मे सहानुभूति रखते थे, तथापि उनके विचारो मे देशभक्ति तथा राष्ट्रप्रेम की भावनाएँ भरी पडी थी। अत अध्यात्मिक आधार पर राष्ट्रवाद के विकास मे उनकी शिक्षाओ का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा जिसे बाद मे तिलक, अरविंद तथा गाधी जी ने अपनाया। उनका अध्यात्मवाद हठधर्मी या विरक्ति का नही है। वह कर्म की शिक्षा पर बल देता है। वे एक अर्थ मे समन्वयवादी थे। भारतीय अध्यात्म का पाश्चात्य के भौतिकवाद के साथ, तथा भारतीय वेदान्त का पाश्चात्य के विज्ञान के साथ समन्वय करके वे ऐसे मानव समाज की स्थापना पर जोर देते थे जिसमे असमानता, अन्याय, शोषण, निरकुशता आदि को समाप्त किया जाय और मानवता सब परस्पर भ्रातृत्व की भावना मे जीवन-यापन करे। इस प्रकार स्वामी जी ने भारत को ही नहीं अपितु विश्व को मानवधर्म की महत्ता सिखायी जिसका स्रोत उन्होने वेदान्त तथा भारतीय संस्कृति मे देखा। परिणाम यह हुआ कि स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाओ ने भारतवासियो को राष्ट्रीयता की चेतना दी और वे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के महत्त्व को समझने लगे। इस दृष्टि मे भारतीय

राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रभावित करने में स्वामी विवेकानन्द का नाम विस्मृत नहीं किया जा सकता।

राष्ट्रीय उदारवादी नेता

(क) दादाभाई नौरोजी (1825–1917)

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भिक अग्रगण्य नेताओं में दादाभाई नौरोजी की सेवाओं को विस्मृत नहीं किया जा सकता। उन्हें कभी-कभी राष्ट्रीय आन्दोलन के भीष्म पितामह की संज्ञा दी जाती है। कांग्रेस की स्थापना एवं उसके विकास में वे 1885 से 1917 तक आजन्म अपना सक्रिय सहयोग देते रहे। वे अपनी पीढ़ी के इस संस्था के वयोवृद्ध नेता थे। दादाभाई नौरोजी कांग्रेस के आरम्भिक युग के उदारवादी नेताओं में से थे। उनका राष्ट्रप्रेम तथा देशभक्ति उन्हीं की तरह उच्च कोटि की थी। दादाभाई नौरोजी का कांग्रेस के साथ सम्बन्ध बिलकुल प्रारम्भ में ही हो चुका था और उसके पश्चात् अपनी पर्याप्त वृद्धावस्था तक वह कांग्रेस की सेवा करते रहे। उदारवादियों की परम्परा के अनुरूप नौरोजी भी अंग्रेजी शिक्षा तथा संस्थाओं की श्रेष्ठता पर विश्वास रखते थे। इन आरम्भिक उदारवादी नेताओं की श्रेणी में दादाभाई नौरोजी राजनीतिक भिक्षावृत्ति की नीति के अगुवा बने रहे। उन्हें 1886, 1893 तथा 1906 में तीन बार कांग्रेस की अध्यक्षता करने का सम्मान प्रदान किया गया। उन्होंने इस दायित्व को पूर्ण निष्ठा के साथ सम्पन्न किया। उनके नेतृत्व में डा० पट्टाभि सीतारामैया के शब्दों में कांग्रेस का स्वरूप प्रशासनिक कठिनाइयों को दूर करने की याचना करने वाले नेताओं के एक अंग से एक ऐसी राष्ट्रीय सभा के रूप में विकसित हुआ जिसका उद्देश्य निश्चित रूप से स्वराज्य प्राप्ति हो गया।

कांग्रेस की स्थापना के कुछ ही वर्षों के पश्चात् ब्रिटिश सरकार कांग्रेस पर सन्देह करने लग गयी थी और उसे समाप्त कर देने के प्रयास भी किए गए। परन्तु दादाभाई नौरोजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने अपनी यही नीति घोषित की कि वह इंग्लैण्ड की न्यायप्रियता पर विश्वास रखती है। ब्रिटेन के प्रति उनकी असीम निष्ठा के कारण उन्हें इंग्लैण्ड की कामन सभा के लिए भी निर्वाचित किया गया। स्वयं दादाभाई इस महान् संस्था में प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा रखते थे। वे इस संस्था में चुने जाने वाले प्रथम भारतीय थे। वे इस संस्था में जाकर ब्रिटिश सरकार तथा ब्रिटिश जनता को भारत की वास्तविक स्थिति से अवगत कराना चाहते थे। वहाँ उन्होंने इंग्लैण्ड की जनता को बताया कि कांग्रेस भारत की शिक्षित जनता की संस्था है जो ब्रिटिश संस्थाओं तथा परम्पराओं के प्रति निष्ठावान है। जब 1905 में लार्ड कर्जन की प्रशासन नीतियों विशेषकर बंग विच्छेद को लेकर देश में घोर असन्तोष छा गया था और बंगाल में विस्फोटक स्थिति उत्पन्न हो गयी थी तो 1906 में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में दादाभाई नौरोजी को कांग्रेस अध्यक्ष के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। इस समय देश में उग्रवादी राष्ट्रीयता का विकास होने लग गया था। ब्रिटिश शासन की नीतियों का विरोध बढ़ता जा रहा था। देश में स्वदेशी आन्दोलन तीव्र गति से बढ़ रहा था। अंग्रेजों ने भी मुसलमानों में साम्प्रदायिक भावना बढ़ाने की नीति अपनाकर कांग्रेस की राष्ट्रीय एकता को अवरुद्ध करने का कुचक्र फैला दिया था। इनके परिणामस्वरूप शासन की नीतियों के विरुद्ध जनता के असन्तोष को दबाने के लिए शासन ने जो दमन की नीति अपनाई थी उसकी प्रतिक्रिया अब अधिक स्वायत्त शासन की माँग (स्वराज्य) बहिष्कार स्वदेशी तथा राष्ट्रीय शिक्षा के प्रसार के रूप में बढ़ गयी। यही सब प्रस्ताव 1906 के कलकत्ता अधिवेशन में दादाभाई नौरोजी के नेतृत्व तथा अध्यक्षता में कांग्रेस के द्वारा पास किये गये। उन्होंने ब्रिटिश सरकार की स्वेच्छाचारी प्रशासनिक तथा आर्थिक नीतियों का पर्दाफाश किया। उनकी रचना (British Unrulion India) में उन्होंने तथ्यगत आँकड़े देकर ब्रिटिश शासकों की आर्थिक तथा प्रशासनिक शोषण की नीतियों की कटु आलोचना

की उनके शान्त तथा उदार नेतृत्व मे काग्रेस की एकता तथा प्रतिष्ठा बनी रही। यद्यपि काग्रेस के अन्दर उग्रवादी तत्त्व पर्याप्त अधिक विकसित हो चुके थे तथापि उनके प्रभाव से कम से कम 1906 मे काग्रेस मे विभाजन रुक गया।

दादाभाई नौरोजी की देश भक्ति, राष्ट्रसेवा, सौजन्यता तथा ओजस्विता के कारण उन्हे 'राष्ट्रीय आन्दोलन का पितामह' कहना सर्वथा सत्य है। यही कारण है कि उनके सफल नेतृत्व मे 1906 तक काग्रेस की उदारवादी नीतियाँ बनी रही। साथ ही ब्रिटिश सरकार के समक्ष काग्रेस की नीति बीस वर्ष के अन्दर ही 'भिक्षावृत्ति' से कही अधिक आगे बढ गई और नौरोजी के काल मे ही 'स्वराज्य' की माँग तक पहुँच गई। यद्यपि उस काल की स्वराज्य की माँग 1929 की पूर्ण स्वाधीनता की माँग के सदृश नही थी, तथापि वह औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग के रूप मे थी। ब्रिटिश नौकरशाही का विरोध बढने लग गया था। इस विकास-क्रम मे दादाभाई नौरोजी का सक्रिय भाग रहा।

(ख) सुरेन्द्रनाथ बनर्जी (1848–1925)

भारत मे राष्ट्रीय आन्दोलन का सगठित सूत्रपात करने वाले अग्रगण्य नेता, अपने युग के महानतम व्याख्यानदाता, ब्रिटिश शासनकाल मे इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा उत्तीर्ण करने वाले सर्वप्रथम भारतीय एव ब्रिटिश शासन तथा ब्रिटिश सस्कृति के सच्चे पुजारी होते हुए भी भारतीय राष्ट्रीय चेतना को सक्रिय रूप प्रदान करने वाले महापुरुषो मे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का नाम सर्वप्रथम आता है। उस युग मे भारतीयो के लिए इग्लैण्ड मे जाकर सिविल सर्विस परीक्षा मे सफलता प्राप्त करना अत्यन्त दुस्तर कार्य था, परन्तु सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इसमे सफल हुए। 1871 मे वह मजिस्ट्रेट पद पर नियुक्त हुए परन्तु दो वर्ष के बाद उनके ऊपर सरकारी आचरण मे दोष लगाकर उन्हे पदच्युत कर दिया गया। यह तत्कालीन शासको का अन्यायपूर्ण व्यवहार था। बनर्जी ने इसके विरुद्ध इग्लैण्ड की सरकार के समक्ष अपील भी की परन्तु कोई सुनवाई नही हुई। इसके उपरान्त श्री बनर्जी ने अपना जीवन राष्ट्र सेवा मे लगा दिया। कुछ समय तक मेट्रोपोलिटन कालेज मे अग्रेजी के प्रवक्ता रहे, फिर पत्रकारिता का कार्य करने लगे। सरकार की आलोचना करने पर उन्हे एक बार कारावास का दण्ड भी मिला।

राष्ट्रीय आन्दोलन के एक प्रारम्भिक नेता के रूप मे बनर्जी का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान इण्डियन एसोसिएशन की स्थापना (1876) करना था, जो काग्रेस की पूर्वगामी सस्था थी और काग्रेस की स्थापना हो जाने पर उसमे विलीन हो गई। इसके उपरान्त बनर्जी आजन्म काग्रेस की सेवा करते रहे। वह दो बार (1895 तथा 1902 मे) काग्रेस के अध्यक्ष भी चुने गए। 1905 मे जब ब्रिटिश सरकार ने बग-विच्छेद कर दिया, तो बनर्जी ने उसके विरोध मे एक प्रभावशाली आन्दोलन का नेतृत्व किया। इससे पूर्व वह भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उदारवादी नेता थे। जब काग्रेस मे उग्रवादी दल उत्पन्न हो गया तो बनर्जी अपनी उदारवादी नीति पर दृढ बने रहे। वह जहाँ एक सच्चे राष्ट्रभक्त तथा देशभक्त नेता थे, वहाँ वह ब्रिटिश शासन तथा ब्रिटिश सस्थाओ के भी भक्त बने रहे। वह सदैव यही प्रयत्न करते रहे कि अग्रेजो से भारतीय माँगे पूर्ण कराने मे शाति का नही अपितु शाति तथा सहयोग का मार्ग अपनाया जाये और अपनी कठिनाइयाँ वैधानिक तरीको से रखी जाएँ। उन्हे पूर्ण विश्वास था कि 'भारत अपनी स्वतन्त्रता यथासमय प्राप्त करेगा जिसका मूल अग्रेजी, चरित्र अग्रेजी तथा सस्थाएँ भी अग्रेजी होगी।'[5] वह इग्लैण्ड को भारत का राजनीतिक मार्गदर्शक मानते थे। वह अपने को ब्रिटिश प्रजा कहने मे नही हिचकते थे। ब्रिटिश सविधान तथा सस्थाओ के प्रति उनकी अटूट निष्ठा थी। परन्तु वह यह मानते थे कि अग्रेज भारतवासियो को अपनी प्रजा समझ कर उन्हे वह सुविधाएँ नही देते हैं, जिन्हे वह स्वय इग्लैण्ड के प्रजाजनो के रूप मे प्राप्त कर रहे है। इस पर भी लार्ड मिटो के शासन काल मे बनर्जी साहब को लाठी चार्ज मे पुलिस के डण्डो की चोट खानी पडी।

बीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों में जब कांग्रेस के अन्दर उग्रवादियों का प्रभाव बढ़ने लगा तो सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का प्रभाव कम होने लगा। परन्तु वे 1925 तक अर्थात् अपनी मृत्यु पर्यन्त कांग्रेस तथा राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व यथापूर्व अपनी उदारवादी नीतियों के अनुसार ही करते रहे। उनकी वाक्पटुता, विलक्षण स्मरण शक्ति तथा व्याख्यान कला जिसमें देशप्रेम की भावना कूट-कूट कर भरी थी और उनकी शान्तिप्रियता उनके श्रोताओं को मुग्ध करने की शक्ति रखती थी। यही कारण है कि कांग्रेस के आरम्भिक युग में वे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के एक महान् जनप्रिय नेता बने रहे।

(ग) महादेव गोविन्द रानाडे (1842–1901)

उन्नीसवीं सदी के द्वितीयार्ध में भारतीय राष्ट्रीय चेतना को तत्कालीन परिस्थितियों के अन्तर्गत जागृत तथा विकसित करने में राजा राममोहन राय की भांति ही दूसरे समाज-सुधारक महादेव गोविन्द रानाडे थे। बम्बई के एक सम्भ्रान्त ब्राह्मण कुल में उत्पन्न इस विभूति को अंग्रेजी शिक्षा में एक अद्वितीय दक्षता प्राप्त हुई। अपने पिता की धार्मिक रूढ़िवादिता के विरुद्ध विचार रखते हुए भी रानाडे उनके आज्ञाकारी पुत्र थे जिसके कारण उन्हें अपनी इच्छा के विरुद्ध 31 वर्ष की अवस्था में विधुर हो जाने पर एक ग्यारह वर्ष की कन्या के साथ विवाह करना पड़ा परन्तु जीवन भर उन्होंने बाल विवाह, विधवा विवाह निषेध, जाति-पांति के भेदभाव आदि कुप्रथाओं का तीव्र विरोध किया। उनकी विद्वता, सार्वजनिक जीवन में अभिरुचि, न्यायप्रियता, अंग्रेजी शिक्षा तथा पाश्चात्य संस्कृति के प्रति निष्ठा की भावना को देखकर तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने उन्हें शासन के उच्च न्यायिक पदों पर नियुक्त किया। वह भारत में अंग्रेजी शासन काल में किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश बनने वाले प्रथम भारतीय थे। आजन्म सरकारी सेवा में रहते हुए भी रानाडे ने सार्वजनिक राजनीतिक जीवन में कार्य किया और भारत में राष्ट्रीयता के बीजों को अंकुरित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

उस काल का भारतीय राष्ट्रवाद ब्रिटिश शासन का विरोधी नहीं था, अपितु आवश्यकता इस बात की थी कि भारतीय जनता में देश प्रेम, आत्म सम्मान, आत्म विश्वास, राष्ट्रीय एकता सदृश भावनाओं को जागृत किया जाय। यह तभी सम्भव था जबकि भारतीय समाज में प्रचलित सामाजिक बुराइयों का अन्त हो और जनता रूढ़िवादी विचारों का परित्याग करे। राजा राममोहन राय ने समाज-सुधार की दिशा में जो कार्य किया था उसे रानाडे ने और आगे बढ़ाया। राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज की भांति ही रानाडे ने प्रार्थना समाज की स्थापना की। इसका उद्देश्य जनता में रूढ़िवादी सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने की प्रेरणा उत्पन्न करना था। रानाडे ब्रिटिश शासन या पाश्चात्य शिक्षा तथा संस्कृति के विरोधी नहीं थे अपितु वे भारत की सामाजिक बुराइयों का अन्त करने के लिए उन्हें वरदान मानते थे। इसका यह अर्थ नहीं कि रानाडे भारत की राजनीतिक पराधीनता को उचित समझते थे, प्रत्युत् धारणा यह थी कि ब्रिटिश शासन भारतवासियों को पाश्चात्य राजनीतिक संस्थाओं तथा आदर्शों का ज्ञान करायेगा और उसके द्वारा भारतवासी पाश्चात्य लोकतन्त्री संस्थाओं तथा आदर्शों का ज्ञान करके अपने देश में उनके कार्यान्वयन का लाभ प्राप्त कर सकेंगे। इस दृष्टि से रानाडे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की आरम्भिक विचारधारा के नेताओं के मार्गदर्शक थे। रानाडे का विश्वास था कि मानव जीवन के विभिन्न पक्षों (सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक) में सावयविक एकता है। इनमें से एक की कमी दूसरे को प्रभावित करती है। अतः समस्त सुधार अलग-अलग नहीं हो सकते। राजनीतिक स्वाधीनता तभी साकार हो सकती है जबकि जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी मानव स्वाधीन हो। अतः रानाडे ने तत्कालीन हिन्दू समाज में प्रचलित रूढ़िवादी बुराइयों को समाप्त करना सर्वप्रथम कार्य समझा। राजा राममोहन राय के प्रयासों से सती प्रथा बन्द हो चुकी थी। रानाडे ने बाल विवाह तथा बहु विवाह की प्रथाओं को समाप्त

करने तथा विधवा-विवाह को प्रोत्साहन देने के विचारो का समर्थन किया। जाति-पाँति के भेद-भाव को नष्ट करके सामाजिक एकता लाना उनकी दृष्टि मे हिन्दू समाज की प्रथम आवश्यकता थी। रानाडे को देश की अधिकाश जनता की आर्थिक दरिद्रता के प्रति गहरी सहानुभूति थी। उन्होने इसके कारणो पर भी प्रकाश डाला था। अत उन्होने औद्योगिक विकास, ब्रिटिश सरकार की आर्थिक शोषण नीति का अन्त किया जाना, पूँजी का समुचित विनियोजन आदि द्वारा इन दोषो को दूर करने के विचार रखे।

समाज-सुधार के निमित्त उस युग मे जो सस्थाएँ तथा सम्मेलन आयोजित किये जा रहे थे उनके कार्य-कलापो मे रानाडे ने सक्रिय भाग लिया और उनमे समय-समय पर उन्होने जो व्याख्यान दिये थे, वे समाज-सुधारको के प्रेरणा स्रोत सिद्ध हुए। रानाडे पाश्चात्य लोकतन्त्री सस्थाओ तथा आदर्शो के प्रति निष्ठा रखते थे। उन्होने भारत के देशी नरेशो को भी शासन-व्यवस्था मे लोकतन्त्री सुधार लाने के सुझाव दिये। रानाडे उदार विचारो वाले राजनीतिज्ञ थे। उनके सामाजिक, राजनीतिक एव अन्य विचारो का प्रभाव तत्कालीन भारतीय राष्ट्रवादी नेताओ पर प्रचुर मात्रा मे पडा। काग्रेस के जन्मदाता ए० ओ० ह्यूम रानाडे को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। रानाडे के विचारो ने गोखले, तिलक तथा महात्मा गाधी को बहुत प्रभावित किया था। आरम्भ काल के सभी राष्ट्रीय नेताओ के विचारो पर रानाडे का प्रभाव था। 1883 मे जब लार्ड रिपन के शासन काल मे स्थानीय स्वायत्त शासन सस्थाओ की स्थापना की गयी तो रानाडे ने उनका स्वागत किया और उनके विचार से ऐसा प्रयास भारत मे स्वशासन की शिक्षा के निमित्त आवश्यक कदम था। रानाडे की सच्ची तथा उदार राष्ट्रसेवा की भावना से प्रभावित होकर सरकार ने उन्हे बम्बई की प्रान्तीय परिषद् मे विधि-सदस्य बनाया था।

राष्ट्रीयता की भावना के विकास मे रानाडे की सेवाओ को भारत कभी नही भूल सकता। उनका वैयक्तिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम, समाज-सुधार के निमित्त ठोस सुझाव, राष्ट्रीयता की जागृति के निमित्त सामाजिक सस्थाओ मे कार्य करना, तत्कालीन शासन के अनौचित्यपूर्ण कानूनो का विरोध तथा पूर्ण लगन से अपने निर्दिष्ट कार्यो को करना आदि गुणो ने भविष्य के राष्ट्रीय नेताओ के समक्ष अनुकरणीय दृष्टान्त प्रस्तुत किये। जीवन के विविध क्षेत्रो मे उनके कार्य-कलापो ने उन्हे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भिक नेताओ के मध्य एक सम्माननीय स्थान दिया है।

(ब) गोपाल कृष्ण गोखले (1866–1915)

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के आरम्भिक उदारवादी नेताओ मे गोपाल कृष्ण गोखले का नाम स्वर्णाक्षरो मे अकित किया जाता है। गोखले का जन्म महाराष्ट्र के चितपावन ब्राह्मण कुल मे रत्नगिरि जिले के एक ग्राम मे हुआ था। अल्पायु मे ही उनके पिता का देहावसान हो जाने के कारण उनके भाई ने, जो स्वय भी आर्थिक दृष्टि से बहुत हीन स्थिति मे थे, गोखले की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की। अठारह वर्ष की उम्र मे उन्होने बम्बई के ऐलफिन्स्टन कालेज मे स्नातक की उपाधि ग्रहण की। इसके पश्चात् वह दक्षिण शिक्षा समाज (Deccan Education Society) के सदस्य बने। वह गणित के उच्च कोटि के विद्वान् थे। साथ ही उन्हे साहित्य मे विशेष रुचि थी। बर्क तथा बेन्थम के विचारो का उन्होने अच्छा अध्ययन किया था। इसके कारण उनमे रूढिवादिता की छाप आ गयी। कालान्तर मे वे फर्ग्यूसन कालेज मे शिक्षक नियुक्त हुए। वहाँ इनका सम्पर्क लोकमान्य बाल गगाधर तिलक के साथ हुआ, जिन्हे गोखले बडे सम्मान की दृष्टि से देखते थे। परन्तु दोनो के विचारो मे साम्य नही था। गोखले के भावी जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करने वाली बात उनका रानाडे के साथ सम्पर्क होना था। गोखले रानाडे को आजन्म अपना गुरु मानते रहे। उन्ही के साथ गोखले ने राजनीतिक एव सार्वजनिक जीवन मे कार्य करने का प्रशिक्षण प्राप्त

किया। रानाडे ने उन्हें पूना की सार्वजनिक सभा का सचिव बनाया। इस सभा का कार्य सार्वजनिक समस्याओं का अध्ययन करके उनके सम्बन्ध में स्मरण पत्र बनाकर सरकार के पास भेजना था। साथ ही दक्षिण शिक्षा समाज के कार्य-कलापों का सम्पादन करना भी गोखले का दायित्व था। अन्य अनेक शिक्षा संस्थाओं की सेवा करने का दायित्व भी गोखले ने अपनाया था। इन सब कार्यों के परिणामस्वरूप गोखले का परिचय जनसाधारण के साथ एक सुधारक के रूप में बहुत अधिक हो गया। इस बीच गोखले पत्र-पत्रिकाओं द्वारा भी अपने विचारों को प्रकाशित कराने लगे थे। उस समय राष्ट्रीय नेतृत्व में उग्र तथा उदार पंथी दो वर्ग हो गये थे। रानाडे के शिष्यत्व के कारण गोखले उदारपंथी वर्ग का नेतृत्व करते रहे।

सार्वजनिक जीवन—गोखले के सार्वजनिक जीवन के कार्यों को कई भागों में विभक्त किया जा सकता है यथा राष्ट्रीय कांग्रेस के एक नेता के रूप में भारत सरकार सर्वोच्च परिषद् के सदस्य के रूप में भारत की समस्याओं के सम्बन्ध में अनेक बार इंगलैण्ड में की गयी यात्राओं के रूप में तथा समाज-सुधार सम्बन्धी कार्यों के रूप में उनके द्वारा की गयी राष्ट्रीय सेवाएं।

यद्यपि गोखले कांग्रेस 1889 में प्रविष्ट हो गये थे तथापि कांग्रेस में उनका सक्रिय भाग 1901 में प्रारम्भ हुआ जबकि उन्हें बम्बई प्रान्तीय कांग्रेस का सचिव बनाया गया। 1903 में वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मन्त्री बने। 1905 में उन्हें कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया। कांग्रेस के इतिहास में यह युग संकट का काल था क्योंकि उस समय कांग्रेस में उदार तथा उग्रपंथी नेता स्पष्ट दो दलों में विभाजित होने लगे थे। 1906 में किसी तरह इस विभाजन को टाल दिया गया था जबकि वयोवृद्ध नेता नौरोजी को अध्यक्ष चुना गया। परन्तु 1907 में जब तिलक लाजपतराय तथा विपिन चन्द्र पाल जो कि उग्रवादी नेता थे कांग्रेस से अलग हो गये तो गोखले को बहुत दुःख हुआ। यद्यपि वे आजन्म उदारवादी नेता बने रहे यथापि उन्होंने दोनों गुटों में एकता लाने का निरन्तर प्रयास किया। 1914 में एनी बेसेन्ट के कांग्रेस में प्रवेश करने पर उनके सहयोग से गोखले ने दोनों गुटों के मध्य एकता लाने का असफल प्रयास किया। यद्यपि उनके जीवित रहते हुए यह बात न हो सकी तथापि 1916 में उनकी मृत्यु के अगले तीन वर्ष लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन में पुनः कांग्रेस एक हो गयी। 1905 में बंगाल विभाजन के परिणामस्वरूप भारत में अंग्रेजी शासन नीति तथा विशेष रूप से तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जन के दमनचक्र के विरुद्ध देश में काफी असन्तोष फैल गया था। यद्यपि गोखले के विचार आरम्भ के उन राष्ट्रीय नेताओं से मिलते जुलते थे जो ब्रिटिश शासन के प्रशंसक थे और उसे भारत के लिए वरदान मानते थे साथ ही राष्ट्रीय मांगों के सम्बन्ध में प्रार्थना पत्रों आवेदनों तथा प्रत्यावेदनों की नीति अपनाते थे तथापि 1905 में कांग्रेस के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए गोखले ने लार्ड कर्जन की शासन नीति की कटु आलोचना की। साथ ही उन्होंने तत्कालीन कांग्रेस के स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन भी किया भले ही वे बहिष्कार नीति का विरोध करते रहे।

गोखले एक अद्भुत प्रतिभा वाले अर्थशास्त्री थे। उनकी सार्वजनिक सेवाओं ने उन्हें इतना लोकप्रिय बना दिया था कि वे बम्बई प्रांतीय धारा-सभा के सदस्य निर्वाचित हो गये। 1902 में उन्हें वायसराय की सर्वोच्च विधान परिषद् का सदस्य भी निर्विरोध चुन लिया गया। इन विधान परिषदों में गोखले के भाषण अत्यधिक प्रभावशाली होते थे। यद्यपि अनेक अवसरों पर इन विधानसभाओं में सरकारी सदस्यों का बहुमत होने के कारण सरकार मनचाहे कानून पास करा लेती थी तथापि गोखले के वैधानिक तर्कों द्वारा व्यक्त विरोधों की उपेक्षा करने का पूरा साहस सरकार को नहीं होता था। एक प्रकाण्ड अर्थशास्त्र ज्ञाता तथा वित्तीय मामलों का विशेषज्ञ होने के नाते सरकार के बजट पर गोखले के आलोचनात्मक भाषण अत्यन्त प्रभावशाली हुआ करते थे। बहुधा उनके सुझावों को सरकारी पक्ष भी मानने को तैयार हो जाता था। गोखले ने दादाभाई नौरोजी द्वारा प्रस्तुत अंग्रेजों की आर्थिक नीति की बुराइयों को विधान-परिषद के बजट अधिवेशनों में ठोस सुझावों को रखते हुए व्यक्त किया। लार्ड कर्जन के शासन काल में जिन प्रतिगामी कानूनों,

के विधेयक विधानसभा मे रखे गये थे (यथा, भारतीय विश्वविद्यालय विधेयक, प्रेस विधेयक, प्रशासकीय गोपनीय तथ्य विधेयक, आदि) इनका गोखले ने तीव्र विरोध किया। इस प्रकार विधान-परिषद् मे रहते हुये गोखले निरन्तर राष्ट्र की सेवा करते रहे।

जब दादाभाई नौरोजी ने इग्लैण्ड तथा भारत के मध्य वित्तीय सम्बन्धो के बारे मे ब्रिटिश शासन की शोषण नीति का तथ्यो द्वारा तीव्र विरोध किया तो ब्रिटिश सरकार द्वारा इस सम्बन्ध मे नियुक्त वेलबाइ आयोग के समक्ष साक्ष्य देने हेतु दक्षिण सभा ने गोखले को इग्लैण्ड भेजा। वहाँ गोखले ने ब्रिटिश सरकार के समक्ष यह सिद्ध किया कि भारत सदृश गरीब देश को अत्यधिक कर-भार सहन करना पड रहा है और भारत सरकार का सैनिक व्यय ससार के महानतम देशो की अपेक्षा उच्चतर है। उन्होने भारत मे सिविल सेवा के भारतीयकरण के भी सुझाव रखे। दूसरी बार गोखले 1905 मे काग्रेस द्वारा भेजे गये शिष्ट-मण्डल के साथ इग्लैण्ड गये। वहाँ उन्होने अनेक सभाओ मे भाषण दिये और उदारपथी भारतीय नेताओ की नीति के अनुरूप अपीलो द्वारा भारत की मागो के प्रति ब्रिटिश जनता तथा सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। इन माँगो मे भारतीय विधान-परिषदो मे निर्वाचित सदस्यो की सख्या तथा परिषदो के अधिकारो के विस्तार, इग्लैण्ड की कामन सभा मे भारतीय सदस्यो के निर्वाचन, इग्लैण्ड मे भारत मन्त्री की परिषद् मे भारतीयो की सख्या मे वृद्धि आदि शामिल थी। गोखले ने भारतवासियो के लिए और अधिक स्वायत्त शासन के अधिकारो की मागे रखी। पुन 1906 मे वे इग्लैड गये। उस समय वे भारत-मन्त्री मार्ले से मिले, जो भारत मे शासन-सुधार सम्बन्धी प्रस्तावो का मसविदा तैयार कर रहे थे। उन्होने मिस्टर मार्ले को भारतीय राष्ट्रीय माँगो से भली-भाँति अवगत कराया, परन्तु जब बग-विच्छेद के परिणामस्वरूप भारत मे उग्रवादी राष्ट्रीयता ने जोर पकडा और लाजपतराय तथा बाद मे लोकमान्य तिलक को बन्दी कर लिया गया, तो गोखले को यह दु ख हुआ कि कि कही ब्रिटिश सरकार क्रुद्ध होकर जो कुछ देना चाहती थी, उसे भी देने से इनकार न कर दे। अत 1908 मे वे पुन इग्लैण्ड गये। उन्होने तिलक को मुक्त कराने का भरसक प्रयत्न किया, पर सफलता नही मिली। ऐसी स्थिति मे भी यह सब गोखले के प्रयासो का ही फल था कि ब्रिटिश सरकार ने 1909 का शासन सुधार कानून पास किया। गोखले की नीति सदैव ब्रिटिश सरकार तथा नौकरशाही के साथ सहयोग करने व अपील तथा आवेदनो द्वारा राष्ट्रीय माँगो को रखने की रही। ब्रिटिश शासक भी गोखले की माँगो का आदर करते थे, परन्तु अपनी शासन नीति के कुचक्रो मे फँसे अधिकारी इन माँगो को पूर्ण करने मे उदासीन रहते थे। गोखले का विचार था कि तत्कालीन परिस्थितियो मे वैधानिक तरीका ही उपयुक्त था, न कि हिसात्मक क्रान्ति द्वारा भारत की मागो को पूर्ण कराने का। अत भारतीय राष्ट्रवादी नेताओ के विरोध के बावजूद गोखले इन माँगो को रखने के लिए इग्लैण्ड भागते रहते थे। उन्होने छ सात बार ऐसी यात्राएँ की। ब्रिटिश सरकार ने उन्हे सी० आई० ई० की उपाधि भी दी। भारतीय सिविल सेवाओ के सम्बन्ध मे ब्रिटिश सरकार द्वारा निर्मित (1912) इस्लिग्टन आयोग के सदस्य के रूप मे उन्होने महत्वपूर्ण कार्य किया। इस कमीशन के समक्ष उन्होने यथार्थवादी सुझाव कमीशन को दिये। गोखले ने इन सब सुविधाओ को इसीलिए स्वीकार किया कि वे इनके माध्यम से भारत की राष्ट्रीय माँगो के प्रति ब्रिटिश सरकार को और अधिक सजग रख सके, इसलिए नही कि वे अवसरवादी थे, या निजी स्वार्थ-साधन से प्रेरित होकर ऐसी नीति अपनाते थे।

जब दक्षिण अफ्रीका मे वहाँ की सरकार के भारतीयो के प्रति रग-भेद के अत्याचारो के विरुद्ध महात्मा गाधी ने आन्दोलन छेडा, तो गोखले ने गाधी जी को भरपूर सहयोग दिया और अपने अचूक प्रयासो से भारतीयो पर लगाये गये पॉल टैक्स तथा सविदाबद्ध श्रम के कानूनो को समाप्त कराने मे सफलता प्राप्त की। गोखले ने 1905 मे भारत सेवक सघ की स्थापना करके भारत के युवा वर्ग मे सार्वजनिक सेवा की भावना उत्पन्न करने की प्रेरणा दी। स्वय गाधी जी को भी उन्होने इसका सदस्य बनाया। सघ के मुख्य उद्देश्य जनता मे देश-प्रेम तथा समाज-सेवा की भावना

को उत्पन्न करना जनता में सक्रिय राजनीतिक चेतना जागृत करना स्त्री शिक्षा दलित वर्गों का उत्थान देश के औद्योगिक विकास में सहायता देना आदि थे।

गोखले के राजनीतिक विचारों का आधार उनकी व्यक्तिगत भावनाएं रानाडे का शिष्यत्व तथा तत्कालीन परिस्थितियों के अंतर्गत उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाना था। राष्ट्रीय नेताओं—नौरोजी सुरेन्द्रनाथ बनर्जी फीरोजशाह मेहता आदि उदारवादियों की भांति गोखले ने भी शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा भारतीय राष्ट्रवाद को विकसित करने का प्रयास किया। वे ब्रिटिश शासन को भारतीय राष्ट्रवाद के विकास के निमित्त वरदान मानते थे और ब्रिटिश सरकार तथा नौकरशाही के साथ सहयोग करके राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन को बढ़ाना चाहते थे। हिंसात्मक तथा असांविधानिक साधनों में उनका विश्वास नहीं था न वे ब्रिटिश सरकार के मार्ग में रोड़ा अटकाने की नीति को उपयुक्त समझते थे। इस प्रकार उन्होंने राजनीति का आदर्शीकरण करने की नीति अपनायी। जब मुस्लिम साम्प्रदायिकता का विकास होने लगा तो गोखले ने इसे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के निमित्त एक अभिशाप समझा और सदैव हिन्दू मुस्लिम एकता तथा कांग्रेस में फूट होने पर दोनों गुटों में एकता लाने के लिए प्रयत्नशील रहे। उनका विचार था कि जब तक समाज में अंतर्निहित बुराइयों को दूर करके उसमें सुधार नहीं लाया जायगा और जब तक भारत वासियों में शनै शनै राजनीतिक चेतना की अभिवृद्धि नहीं हो जायेगी तब तक राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन सफल नहीं हो सकेगा। अत गोखले शासन तथा समाज में क्रमिक सुधार के पक्ष में थे। उनका विश्वास था कि ब्रिटिश शासक इतने हृदयहीन नहीं हैं कि वे भारतवासियों को स्वायत्त शासन के निए सक्षम देख लेने पर उन्हें स्वायत्त शासन के अधिकार नहीं देंगे। उनके राष्ट्रीय आन्दोलन का उद्देश्य भारत में औपनिवेशिक ढंग के स्वराज्य की प्राप्ति करना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु गोखले भारत के शिक्षित वर्ग को कार्यशील रखना चाहते थे। साथ ही भारत सेवक-संघ द्वारा वे जनता की राष्ट्रीय चेतना को विकसित करने का लक्ष्य भी रखते थे।

यद्यपि गोखले का कार्य-क्षेत्र सांविधानिक साधनों शिक्षित वर्ग तथा परिषदों तक ही सीमित रहा और उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को भारत की आम जनता का आन्दोलन बनाने का कभी स्वप्न नहीं देखा तथापि यह कहना भूल होगी कि गोखले जनसाधारण के प्रति उदासीन थे। वस्तुत आम जनता के कष्टों के प्रति उनके हृदय में अगाध सहानुभूति थी। उनका देश प्रेम अनन्य था। देश की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में जीवन भर उन्होंने इतना कठिन परिश्रम किया कि उसका प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल पड़ा और 1915 में 49 वर्ष की अल्पायु में ही उनका देहावसान हो गया। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में जब राष्ट्रीय चेतना में पर्याप्त वृद्धि होने लगी तो ब्रिटिश सरकार को राष्ट्रीय स्वायत्त शासन की मांगों के समक्ष झुकना पड़ा। 1909 तथा 1919 के शासन सुधार अधिनियमों के अंतर्गत ब्रिटिश सरकार ने जो भी प्रस्ताव रखे उनके निमित्त उसने यदि किसी भारतीय नेतृत्व की मांग सुनी तो यह गोखले के ही विचार थे। भले ही स्वेच्छा चारी साम्राज्यवादियों ने उन्हें पूर्णतया स्वीकार नहीं किया तथापि यह मानना पड़ेगा कि ब्रिटिश शासक गोखले के परामर्श पर सर्वाधिक विश्वास रखते थे।

राष्ट्रीय आन्दोलन तथा स्वतन्त्रता के पश्चात् भी भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत हिंसात्मक क्रान्ति के मार्गों का अनुसरण करके अपने राजनीतिक उद्देश्य को पूर्ण नहीं कर सकता था। इस तथ्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि समय-समय पर भारत में ऐसी महान् विभूतियों ने जन्म लिया है जिनकी राष्ट्रीय सेवाएं तथा बलिदान उच्च कोटि के थे और जिन्होंने शान्तिपूर्ण तथा वैधानिक तरीकों में विश्वास न रखकर उग्रवादी मार्ग को अपनाया। तिलक लाजपतराय विपिनचन्द्र पाल नेताजी सुभाषचन्द्र बोस मानवेन्द्रनाथ राय आदि ऐसे विचारों वाले राष्ट्रभक्त थे। आज भी देश के नेतृत्व में अनेक उग्रपंथी हैं। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत अपने उग्रवादी तरीकों से अपने उद्देश्य पूर्ण करने में कभी समर्थ नहीं हो सकता। गोखले के बाद गांधी जी ने उनकी नीतियों का अनुसरण किया और देश को विदेशी शासन से

मुक्त कराने का श्रेय प्राप्त किया। गाधी जी गोखले को अपना राजनीतिक गुरू मानते थे। स्वतन्त्रता के पूर्व तथा पश्चात् भी देश का नेतृत्व जिन विभूतियो ने सफलतापूर्वक किया है, उन्हे हम गोखले का ही शिष्य मान सकते हे। सक्षेप मे, हमे यह मानना पडेगा कि गोखले ने अपने युग के साथ बढते हुए अपने समय की परिस्थितियो को पहचाना और राष्ट्रीय आन्दोलन को वह रूप दिया जो उन परिस्थितियो मे सर्वोत्तम था। साथ ही उन्होने भविष्य के नेतृत्व को भी यह शिक्षा दी कि भारत का राजनीतिक हित शान्तिपूर्ण तरीको से राजनीति का सचालन करने मे है। इस दृष्टि से गोखले देश के युग-युग के नेता सिद्ध होते है। क्रान्तिकारिता का जोश क्षणिक सफलता दे सकता है और अत्याचारी शासन के विरुद्ध जन-मानस को किंचित सान्त्वना देने मे अच्छा प्रतीत हो सकता है, किन्तु शान्तिपूर्ण तथा अहिसात्मक क्रान्ति मे स्थायित्व होता है यह बात हमे गोखले के विचारो तथा सेवाओ से स्पष्ट होती है।

(च) फीरोजशाह मेहता (1845–1915)

काग्रेस के सस्थापको मे सर फीरोजशाह मेहता का नाम भी प्रमुख व्यक्तियो मे से है। इनकी उच्च शिक्षा इग्लैण्ड मे हुई थी, जहाँ वे दादाभाई नौरोजी के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुए थे। साथ ही उनके ऊपर रानाडे के विचारो का भी प्रभाव पडा था। मेहता का सार्वजनिक जीवन बम्बई कारपोरेशन की सदस्यता तथा अध्यक्षता एव बम्बई विधान-परिषद् की सदस्यता से अधिक सम्बद्ध रहा है। वे 1890 मे काग्रेस के अध्यक्ष चुने गये थे। उसके पश्चात् काग्रेस सगठन मे वे अनेक महत्त्वपूर्ण पदो पर कार्य करते रहे। यद्यपि 1910 मे भी उन्हे काग्रेस अध्यक्ष चुना गया था, तथापि पद-ग्रहण से पूर्व ही कुछ कारणवश वे इसे स्वीकार नही कर सके।

मेहता काग्रेस के उदारवादी गुट के एक प्रमुख नेता थे। परन्तु 1907 मे काग्रेस विभाजन मे गोखले की भाँति उन्हे भी बहुत दुःख हुआ और वे भी गोखले की भाँति ही निरन्तर एकता का प्रयास करते रहे। काग्रेस के कार्य-कलापो मे मेहता ने दादाभाई नौरोजी के आर्थिक विचारो का समर्थन करके देश की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए ब्रिटिश शासन के समक्ष भारत के पक्ष को रखा। वह एक सुयोग्य दार्शनिक चिन्तक भी थे। उन्होने पाश्चात्य देशो के अनेक विद्वानो, यथा ग्रीन, वोल्टेयर, मिल आदि के विचारो का अध्ययन किया था। वे इस तथ्य को नही मानते थे कि 'इतिहास की स्वय पुनरावृत्ति' होती है, उनका तो विश्वास था कि हर युग तथा हर देश मे प्रगति के विकास का क्रम तत्कालीन परिस्थितियो पर निर्भर करता है। उदारवादियो की भाँति मेहता भी देश के क्रमिक राजनीतिक उत्थान पर विश्वास रखते थे। उन्हे पाश्चात्य शिक्षा तथा सस्कृति की महानता पर अधिक विश्वास था। वे अग्रेजो की भारतीय शासन नीति का विरोध अपने वैचारिक तर्को के द्वारा करते थे। उनके मत से ब्रिटेन शक्ति के बल पर भारत मे अपनी सत्ता को बनाये रखने मे सफल नही होगा। ब्रिटिश शासको की स्वेच्छाचारिता अग्रेज जाति के चरित्र के प्रतिकूल है। शक्ति पर आधारित राजनीति के सचालन से ब्रिटेन को बहुत सेना सचय करना पडेगा जो भारतवासियो पर कर-भार बढायेगा। फिर भी वे ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठा रखने की बात करते थे। वे भारतीयो के स्थानीय स्वायत्त शासन के अधिकार तथा शिक्षा मे प्रगति के कट्टर हिमायती थे। परन्तु यह एक आश्चर्य की बात थी कि वे भारत मे सस्कृत की शिक्षा को उपेक्षापूर्ण दृष्टि से देखते थे। मेहता ने अनेक समितियो तथा शिष्ट-मण्डलो मे प्रतिनिधित्व प्राप्त किया। वे व्यवहारवादी थे, न कि कोरे सिद्धान्तवादी। परन्तु भारत मे उग्रवाद के विकास के साथ मेहता के विचारो का महत्त्व भी कम होता गया। फिर भी वे आजन्म काग्रेस के उदार तथा सच्चे सेवक बने रहे और उदारवादियो की भाँति ब्रिटिश शासन की ईमानदारी पर निष्ठा रखते हुए उसके समक्ष भारत की स्वायत्तता की अधिकाधिक माँगो को रखते रहे।

(छ) अन्य प्रारम्भिक नेता

ए० ओ० ह्यूम (1829–1912)—ए० ओ० ह्यूम स्कॉटलैण्ड के निवासी थे, जो भारत

सरकार की सेवा में एक इण्डियन सिविल सेवक थे। अपने सेवा-काल में उन्होंने जन शिक्षा, पुलिस में सुधार, मद्य निषेध, वनाक्युलर प्रेस, किशोर अपराधी-सुधार तथा अन्य घरेलू आवश्यकताओं के सम्बन्ध में प्रयत्न किये। सेवा से अवकाश प्राप्त करने पर (1882) उनकी अभिरुचि भारत के सार्वजनिक जीवन में बढ़ने लगी। भारत में विकसित राष्ट्रीय भावना से प्रभावित होकर उन्होंने यह अनुभव किया कि भारत के सही जनमत को जानने के लिए भारत के विभिन्न भागों के राजनेताओं को प्रतिवर्ष एक संस्था के रूप में एक साथ सम्मिलित होने का अवसर मिलना चाहिए। यह केवल मात्र एक सामाजिक या धार्मिक संस्था ही न हो अपितु राजनीतिक भी हो। उन्होंने अपने इस विचार को तत्कालीन वायसराय लार्ड डफरिन के समक्ष रखा जिसने उनके प्रस्ताव का न केवल स्वागत ही किया बल्कि उन्हें प्रोत्साहन भी दिया। ह्यूम साहब इस संस्था के राजनीतिक स्वरूप को सीमित रखना चाहते थे परन्तु लार्ड डफरिन का विचार था कि यह संस्था इंग्लैण्ड की संसद के विरोधी दल की भांति बाहर से शासन की आलोचना का कार्य करे तो अच्छा होगा। इसके उपरान्त ह्यूम साहब अपने इस प्रस्ताव को लेकर इंग्लैण्ड गये और वहां उन्होंने मन्त्रिमण्डल से भी परामर्श किया। भारत लौटकर उन्होंने राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में प्रमुख योगदान किया। इसलिए उन्हें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्मदाता कहा जाता है। बाद में भी वे जब तक भारत में रहे निरन्तर कांग्रेस के कार्यों में भाग लेते रहे। ए० ओ० ह्यूम के साथ-साथ सर विलियम वेडरबर्न का नाम भी देना आवश्यक है। वह कांग्रेस के दो अधिवेशनों (1886 तथा 1910) में अध्यक्ष रहे।

व्योमेश चन्द्र बनर्जी—ह्यूम की भांति व्योमेश चन्द्र बनर्जी का नाम भी कांग्रेस के आदि संस्थापकों की श्रेणी में आता है। उन्होंने कांग्रेस के प्रथम (1885) तथा आठवें (1892) अधिवेशन में अध्यक्षता की थी। उनके प्रथम अध्यक्ष पद के भाषण में कांग्रेस के उद्देश्यों की घोषणा की गयी थी। बनर्जी के मत से कांग्रेस को सामाजिक समस्याओं में उतना ही उलझना चाहिए जितना राजनीतिक मामलों में। वे अंग्रेजों की इस धारणा के विरोधी थे कि कांग्रेस की आवाज भारत की जनता की आवाज न होकर थोड़े से निराश यूरोपीय लोगों की या थोड़े से भारतीय बुद्धिजीवियों की आवाज है। वे 1890 में एक विशिष्ट मण्डल के साथ इंग्लैण्ड भी गये। उन्होंने भारत की न्याय पद्धति में ज्यूरी प्रथा को लागू करने के सम्बन्ध में जोरदार तर्क दिये। उनका मत था कि यूरोपीय न्यायाधीश जो भारतीय भाषाओं का ज्ञान नहीं रखते न्याय प्रक्रिया में वादी प्रतिवादी या साक्षी के वक्तव्यों का विदेशी भाषा में अनुवाद करके विवाद के सम्बन्ध में सही तथ्यों का पता नहीं लगा सकते। अतः ज्यूरी प्रथा आवश्यक है।

दीनशा वाचा—कांग्रेस के प्रारम्भिक वर्षों से ही दीनशा वाचा का सम्पर्क कांग्रेस से रहा और उन्होंने कांग्रेस के अधिवेशनों में ब्रिटिश सरकार की भारत के प्रति अपनायी जाने वाली अनुचित नीतियों का तथ्यों के आधार पर विरोध किया। कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में ही उन्होंने ब्रिटिश सरकार की सैनिक नीतियों का विरोध किया था। द्वितीय अधिवेशन में उन्होंने भारत की आर्थिक हीनता के सम्बन्ध में तथ्यों को देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि किस प्रकार अंग्रेज लोग इंग्लैण्ड को धनी बनाने तथा भारत का आर्थिक शोषण करने में लगे हैं। गोखले की भांति दीनशा वाचा भी वित्तीय मामलों में विशेष दक्षता रखते थे और उन्होंने सरकार की वित्तीय नीतियों का तीव्र विरोध करते हुए कांग्रेस के अधिवेशनों में विविध प्रस्ताव रखे। 1901 में उन्होंने कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता की। उसके पश्चात् भी वह कांग्रेस के महामन्त्री या अन्य महत्वपूर्ण पदों पर बने रहे। वे ब्रिटिश सरकार की अवांछनीय शासन नीतियों विशेष रूप से आर्थिक नीतियों के कट्टर आलोचक थे। पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दों में दीनशा वाचा की समता रखने वाले तो शायद थोड़े से व्यक्ति रहे होंगे परन्तु उनसे श्रेष्ठतर कोई भी नहीं था। उनके ब्रिटिश शासन विरोधी शब्दों के आधार पर उन्हें उग्रवादी नेताओं की श्रेणी प्राप्त नहीं होती। परन्तु सीतारामय्या के शब्दों में यह भी आश्चर्य की बात है कि एक युग का उग्रवादी दूसरे युग का उदारवादी बन

गया । उन्हे बाद मे नाइट की उपाधि दी गयी और केन्द्रीय विधान-परिषद् का सदस्य बनाया गया ।'

उपर्युक्त विभूतियो के अतिरिक्त राष्ट्रीय आन्दोलन के आरम्भिक नेताओ मे सुब्रह्मण्य अय्यर, वदरुद्दीन तैयबजी आदि का नाम भी उल्लेखनीय है । इसी अवधि मे काग्रेस के नेताओ के मध्य ऐसी विभूतियाँ भी प्रविष्ट हुई जो प्रार्थना, आवेदनो तथा प्रत्यावेदनो द्वारा सरकार के समक्ष राष्ट्रीय माँगो को प्रस्तुत करने की नीतियो पर विश्वास नही रखती थी, अपितु उनका दृष्टिकोण ब्रिटिश शासन विरोधी था । प्रारम्भ मे इनकी आवाज दवी रही, परन्तु बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो मे गतिविधियाँ तीव्र हो गयी और उनका उद्देश्य तथा उनके साधन उग्र प्रकृति के हो गये । अगले अध्याय मे हम उग्रवादी आन्दोलन का विवेचन करते हुए इन उग्रवादी नेताओ का परिचय देगे ।

उदारवादी राष्ट्रीयता का मूल्याकन

विगत पृष्ठो मे दिया गया विवरण ही वास्तव मे उदारवादी राष्ट्रीयता के मूल्याकन की विपय-वस्तु है । अतएव यहाँ पर केवल सक्षेप मे कुछ बातो का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा । 19वी सदी के द्वितीयार्ध मे भारतीय राष्ट्रीय चेतना के अभ्युदय मे मुख्यतया समाज तथा धर्म सुधार आन्दोलनो का प्रभाव था । इन सुधारको मे से अधिकाश नेता पाश्चात्य शिक्षा, सस्थाओ एव साहित्य और दर्शन से प्रभावित थे । उस युग मे इग्लैण्ड मे भी उदारवादी विचारधारा बढ रही थी जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र के निमित्त वैधानिकता वाद पर विश्वास रखती थी । भारत का तत्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग इन विचारो से प्रभावित हुआ और इसी बुद्धिजीवी वर्ग के हाथ मे राष्ट्रीय काग्रेस का नेतृत्व रहा । ये लोग ब्रिटिश शासन पद्धति तथा अग्रेज जाति के लोकतन्त्र प्रेम एव न्याय भावना से प्रभावित होने के कारण ब्रिटिश सरकार की सदस्यता पर विश्वास रखते थे । इसलिए इन्होने उसके साथ सहयोग की नीति अपनाकर भारत की राजनीतिक एव प्रशासनिक व्यवस्था मे सुधारो की माँगे रखना उपादेय समझा । विद्रोह तथा क्रान्ति द्वारा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की उपलब्धि के लिए न तो देश तैयार था, न ऐसा सगठन सम्भव था । सुदृढ ब्रिटिश शासन ऐसे विद्रोह को शीघ्र ही दमनकारी साधनो से कुचल देता । अत उदारवादी नेता समय के साथ चले और उन्होने यथार्थवादी रुख अपनाकर राष्ट्र की जनता मे राजनीतिक चेतना जागृत करने की नीति अपनायी । इसके निमित्त उन्होने सामाजिक बुराइयो को दूर करवाने, शिक्षा प्रसार एव शनै शनै भारतीयो के शासन मे अधिकाधिक भाग को सुनिश्चित कराने की मागे रखना ठीक समझा । यदि ब्रिटिश शासन इन देशभक्त तथा राष्ट्र-प्रेमी नेताओ के उद्देश्यो को ईमानदारी की भावना से समझते तो उग्रवादी या क्रान्तिकारी राष्ट्रीयता के अभ्युदय की समस्या ही नही आती । इस दृष्टि मे उदारवादी राष्ट्रीयता ने भारत मे राष्ट्रीयता की भावना को जागृत करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की, और देश को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए माँग करने, आन्दोलन करने तथा सघर्ष करने के लिए शिक्षित किया ।

प्रश्न

1 राजा राममोहन राय को भारतीय राष्ट्रवाद का जनक क्यो कहा जाता है ?
2 राष्ट्रीय जागरण मे स्वामी दयानन्द सरस्वती के योगदान पर प्रकाश डालिए ।
3 निम्न नेताओ के राष्ट्रीय आन्दोलन मे योगदान पर विवेचनात्मक टिप्पणी लिखिए—
 (अ) दादाभाई नौरोजी,
 (ब) महादेव गोविन्द रानाडे,
 (स) गोपाल कृष्ण गोखले ।

4
उग्र राष्ट्रीयता का अभ्युदय
(NATIONALISM THE EXTREMIST PHASE)

उग्र राष्ट्रीयता का अर्थ ✓

यद्यपि भारत म राष्ट्रायता क अभ्युदय का एक प्रमुख कारण दश म विदेशी राजनीतिक सत्ता का शोषणकारी तथा स्वच्छाचारी होना था तथापि प्रारम्भिक युग क राष्ट्रीय आदोलन का उद्देश्य स्पष्टतया विदेशी शासन का समाप्त करना नहा था। उस समय भारतीय राष्ट्रीय काग्रस का नतृत्व करन वाली विभूतिया म अग्रेजी शासन के प्रति पूण निष्ठा तथा विश्वास की भावना बनी रही। उनका विश्वास था कि ब्रिटिश शासन भारत क लिए वरदान सिद्ध हुआ है। ये नता भारत म पाश्चात्य शिक्षा सस्कृति तथा राजनीतिक सस्थाओ क प्रचलन को भारतवासियो के हित की वस्तु मानत थ। साथ ही उन्ह अग्रज जाति के राजनीतिक आचरण तथा चरित्र म पूण विश्वास था। यद्यपि प्रारम्भिक राष्ट्रीय नताओ न ब्रिटिश शासन तथा नौकरशाही के अवाछनीय कायकलापो तथा नीतियो की आलोचना भी की तथापि उनका विश्वास था कि अग्रज हृदयहीन नहा हैं। उनक समक्ष यदि भारत की परिस्थितिया मागो तथा कठिनाइयो को रख स रखा जाय तो व अपनी शासन-नीति म सुधार करके क्रमश भारतीय राष्ट्रीय मागो को स्वीकार करग और शन शन भारतवासियो को शासन म अधिकाधिक भाग लन का अवसर प्रदान करेंगे। इस प्रकार कालान्तर स भारत म स्वायत्त शासन लागू हो जायेगा। परन्तु राष्ट्रीय काग्रस के अभ्युदय के पश्चात् क 15 वर्षों की अवधि म इस दिशा म कोई प्रगति नही हुई प्रत्युत् ब्रिटिश सरकार का रवया प्रतिक्रियावादी सिद्ध होन लगा। 1892 के भारतीय परिषद् अधिनियम के अन्तगत भी बहुत रुखाई दर्शायी गयी। नौकरशाही का व्यवहार भी प्रतिगामी होता गया। इसके परिणाम स्वरूप भारत क राष्ट्रीय नेतृत्व के अन्तगत नयी प्रवृत्तिया उत्पन्न होने लगा। युवा पीढी के अनेक नेता काग्रस की आवेदना तथा प्रार्थनाओ म विश्वास करन की नाति का विरोध करन लग। उन्ह यह विश्वास नहा रहा कि ब्रिटिश शासन के अन्तगत भारत का स्थिति म सुधार हो सकेगा। अत इनका उद्देश्य पहले स्वराज्य प्राप्त करना था जिसस बाद म भारतीय स्वय अपनी समस्याए हल कर सक। इन लोगो न ब्रिटिश शासन के प्रति सहयोग तथा सहकारिता की नाति का विरोध किया और शासन क अन्यायपूर्ण कृत्यो की अवज्ञा तथा बहिष्कार की नीति का समथन किया। यद्यपि इन लोगो न हिंसात्मक साधनो को नहा अपनाया तथापि विरोध तथा असहयोग की नाति अपनाना तथा देशवासियो म स्वदेशी सस्कृति के प्रति प्रम विशुद्ध भारतीय राष्ट्र भावना देश भक्ति तथा देश-सेवा का भावना को भरना और राष्ट्र के प्रति कष्ट सहने का आह्वान करना इनका लक्ष्य था। इनक कायकलापो नीतियो तथा गतिविधियो न भारतीय राष्ट्रीय आदोलन म उस नयी प्रवृत्ति को जन्म दिया उस उग्रवाद (extremism) या उग्र राष्ट्रायता का नाम दिया जाता है।

उग्रवाद की उत्पत्ति क कारण

जिन आशाओ तथा विश्वासो का लेकर काग्रस का जन्म हुआ था और जिन साधनो के द्वारा काग्रस सगठन क आरम्भिक नेता राष्ट्रीय आदोलन का सचालन कर रहे थे उनके प्रति

ब्रिटिश शासन का रवैया न केवल उदासीनतापूर्ण ही रहा अपितु प्रतिगामी भी होने लगा। राष्ट्रीय चेतना को दवाना तथा शासन-नीतियो मे और अधिक कठोरता तथा स्वेच्छाचारिता लाना ब्रिटिश शासको की नीति का अग होता गया। परिणामस्वरूप ऐसी घटनाएँ तथा परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई जिनके कारण निम्नाकित थे—

(1) **हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान**—यद्यपि धार्मिक तथा सामाजिक पुनर्जागरण ने भारतीय राष्ट्रीय चेतना की उत्पत्ति मे महान् योगदान किया था, तथापि राष्ट्रीयता के विकास मे पाश्चात्य सस्कृति, शिक्षा तथा साहित्य का प्रभाव वढने लगा था क्योकि आरम्भ के कतिपय राष्ट्रीय नेता-गण पाश्चात्य सस्थाओ को अपेक्षाकृत उच्चतर समझने लगे थे। परन्तु इसी अवधि मे भारत मे ऐसी विभूतियो का जन्म हुआ जिन्होने हिन्दू धर्म तथा सस्कृति का अध्ययन करके उसकी श्रेष्ठता की वात का प्रचार न केवल भारत मे ही अपितु पाश्चात्य देशो मे भी किया। इस वर्ग के नेताओ ने प्रारम्भ के नेताओ की पाश्चात्य सभ्यता की प्रशसा करने की प्रवृति का विरोध किया। स्वामी विवेकानन्द ने 1893 मे शिकागो के धार्मिक सम्मेलन मे हिन्दू धर्म की महानता सिद्ध करके ससार को मोहित कर लिया था। वाल गगाधर तिलक ने अपने माडला जेल की अवधि मे 'गीता रहस्य' लिखकर कर्मयोग की महानता वतायी। स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारो से प्रभावित होकर लाला लाजपतराय ने आर्य समाज के विकास द्वारा वेदो की महत्ता को दर्शाया। विपिन चन्द्र पाल तथा अरविन्द घोष ने भी हिन्दू दर्शन की महानता को दर्शाया। इन सभी नेताओ ने न केवल हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान तक ही अपने प्रचार-कार्य को सीमित रखा, अपितु इन्होने यह प्रचार किया कि राष्ट्र का हित इसी वात पर निर्भर करता है कि वह राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो क्योकि तभी उसकी सास्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक एव अन्यान्य सामाजिक क्षेत्रो मे उन्नति सम्भव है। विदेशी शासको के समक्ष भिक्षावृत्ति की नीति अपनाकर देश का उत्थान नही हो सकता। अत किसी भी जाति का पहले राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना जन्मसिद्ध अधिकार है। इन नेताओ ने अपने युग के उदारवादी नेताओ की इस धारणा से पूर्ण असहमति व्यक्त की कि राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा स्वायत्तता की पूर्ण शर्त सामाजिक सुधार है। इसके विपरीत उन्होने वताया कि जव राष्ट्र स्वतन्त्र हो जायेगा तो वह अपनी इच्छानुसार वाछित दिशा मे समाज सुधार के कार्यो को अधिक उत्तम ढग से कर सकेगा। विदेशी शासको से धार्मिक या सामाजिक सुधारो की माग करना हास्यास्पद है।

(2) **राष्ट्रीय माँगो के प्रति शासन की रुखाई**—यद्यपि प्रारम्भ के काग्रेसी नेताओ ने राष्ट्रीय असन्तोष के निराकरण के सम्वन्ध मे प्रार्थना तथा आवेदनो की नीति अपनायी थी और ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठा तथा विश्वास व्यक्त किया था, तथापि ब्रिटिश शासन तथा नौकरशाही ने इन मागो के सम्वन्ध मे प्रतिगामी नीतियाँ अपनायी। काग्रेस के जन्म के 7 वर्ष वाद 1892 के भारतीय परिषद् अधिनियम ने भारतवासियो को शासन मे भाग लेने का कोई भी वाछित अवसर नही दिया। यहाँ तक कि उदारवादी नेता भी ब्रिटिश सरकार की ऐसी नीति से असन्तुष्ट हो गये थे, और वैधानिक साधनो से अपनी माँगे मनवाने के तरीके पर से उनका विश्वास हटने लगा था। ब्रिटिश नौकरशाही ने दमन की नीति अपनाना शुरु किया। 1897 मे तिलक को राजद्रोह के अपराध मे जेल का दण्ड दिया गया। उन्हे प्रिवी कौसिल मे अपील करने की आज्ञा तक नहीं दी गयी। तिलक का केवल यही अपराध था कि उन्होने वम्वई मे प्लेग फैलने पर उसे रोकने मे सरकार की ढुलमुल नीति के विरुद्ध 'केसरी' पत्रिका मे लेख लिखा था। ब्रिटिश नौकरशाही की दमनकारी नीतियाँ सर्वत्र फैल रही थी, अत भारतीय नेताओ मे असन्तोष वढता गया और उनके आन्दोलन मे उग्रता की मात्रा वढती गयी।

(3) **प्लेग तथा अकाल फैलना**— 1896–97 मे दक्षिण भारत मे भयकर अकाल फैला। इसके निवारण के सम्वन्ध मे सरकार ने कोई भी अभिरुचि नही दिखायी। 1899–1900 मे

वर्षा की कमी के कारण पुन अकाल पड़ा। सरकार ने इस बार भी वही रवया अपनाया। भारतीय जनता को अब यह प्रतीत होने लगा कि ब्रिटिश शासक अनावश्यक कार्यों में अत्यधिक व्यय करते हैं परन्तु जनहित के आवश्यक कार्यों की उपेक्षा करते हैं। यदि अपनी सरकार होती तो वह इस संकट का सामना स्वयं अधिक कुशलता से कर लेती। अतएव भारत को विदेशी शासन से मुक्त कराना भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। जहाँ अकाल से लाखों व्यक्ति पीड़ित थे अथवा कालग्रस्त हो चुके थे वहाँ इसी अवधि में पूना में भयंकर प्लेग फैल गया। इसमें लाखों व्यक्ति मर गये। यद्यपि सरकार ने इसकी रोकथाम के लिए भरसक प्रयत्न किया तथापि प्लेग आयुक्त मिस्टर रैंड के तौर तरीकों से जनता में भारी असन्तोष फैल गया। इसके हेतु सैनिक दस्तों की मदद से बीमारों को उनके घरों में जाकर निकलवाया गया। इस रवैये से कट्टर धर्मपंथियों को असन्तोष हुआ। किसी युवक ने मिस्टर रैंड तथा उसके साथियों की हत्या तक कर डाली। फलत उसे फाँसी का दण्ड दिया गया। सरकार के गलत रवैये को प्रकाशित करने के अपराध में तिलक को जेल की सजा दी गयी। इस सबका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय असन्तोष और अधिक उग्र होता गया क्योंकि तिलक की लोकप्रियता बहुत बढ़ चुकी थी।

(4) **लार्ड कर्जन की दमन नीति**– ब्रिटिश शासन के रवैये के विरुद्ध भारत में असन्तोष बढ़ता जा रहा था। इस समय (1898–1905) में लार्ड कर्जन को भारत का वायसराय नियुक्त किया गया। वह एक कुशल प्रशासक अवश्य था परन्तु जन हित की उपेक्षा रखने वाला कुशल प्रशासन उत्तम शासन नहीं हो सकता। कर्जन भारतीयों से घृणा करता था वह उन्हें किसी भी रूप में स्वशासन के योग्य नहीं समझता था। उसने घोषणा की थी भारतवासी एक जनसमूह नहीं हैं न उनकी एक भाषा है न एक जाति न एक धर्म वे एक महाद्वीप या एक साम्राज्य तक नहीं है एक विश्व तो दूर रहा।[1] साथ ही वह यूरोपीय लोगों को भारतवासियों से हर दृष्टि में उच्च मानता था। इस आधार पर उसने ब्रिटेन के भारत के ऊपर शासन करने के औचित्य को स्वीकारा। अपने शासनकाल में उसने अनेक ऐसे कारनामे किये जिन्हें कोई भी स्वाभिमानी देशभक्त सहन नहीं कर सकता। इनमें से प्रथम था कलकत्ता कार्पोरेशन एक्ट 1899 जिसके अनुसार कलकत्ता निगम के सदस्यों की संख्या 50 से घटाकर 25 कर दी गयी। इसका उद्देश्य भारतवासियों के स्थानीय स्वायत्त शासन के अधिकार को कम करना था। बहाना यह बनाया गया कि अधिक सदस्यों के होने से केवल वाद विवाद में समय नष्ट होता है और कुशलता नहीं रहती। दूसरा कार्य था भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम 1904 जिसके अनुसार भारतीय विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता कम करके उनके ऊपर सरकारी नियन्त्रण की मात्रा बढ़ा दी गयी। तथाकथित सुधार योजना विश्वविद्यालय में अध्ययन तथा परीक्षा प्रणाली में सुधार की थी परन्तु इसके नाम पर विश्वविद्यालयों के ऊपर केन्द्रीय सरकार तथा शिक्षा संचालक का नियन्त्रण बढ़ा लिया गया। भारतीय शिक्षित वर्ग ने कर्जन के भारतीयों के प्रति घृणित विचारों का प्रतिरोध किया तो उसने भारतीय शिक्षित वर्ग को और अधिक असम्मानजनक उत्तर दिया। उसने स्पष्ट कहा कि मेरा विश्वास है कि कांग्रेस अपने पतन की ओर जा रही है और मेरी भी आकांक्षा यही है कि मैं कांग्रेस की शान्तिपूर्ण मृत्यु के निमित्त सहायता दे सकूँ।[2] तीसरा कानून सरकारी गोपनीय विषयों सम्बन्धी कानून 1904 (Official Secrets Act 1904) था इसके अनुसार सरकारी कर्मचारियों के ऊपर सरकारी कार्यकलापों को गोपनीय रखने के सम्बन्ध में अत्यधिक प्रतिबन्ध लगा दिया गया और समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता को भी मर्यादित कर दिया गया। उन्हें सरकार की नीतियों तथा कार्यकलापों की आलोचना करने या उन्हें प्रकाशित करने की छूट नहीं दी गयी। सरकार का विरोध राजद्रोह माना गया। इसके उपरान्त लार्ड

1 Quoted in Tara Chand *History of the Freedom Movement in India* Vol III 295
2 *Ibid* 300

कर्जन की सीमान्त नीति तथा सैनिक अभियान, जिनके अनुसार तिब्बत, फारस की खाडी, चीन आदि मे सैनिक दस्ते भेजे जाना शामिल थे, भारतीय जनमत को बहुत अनुचित प्रतीत हुए। बगाल मे लार्ड कार्नवालिस के द्वारा भूमि के स्थायी बन्दोवस्त की व्यवस्था के विरुद्ध जो मत व्यक्त किया जा रहा था, कर्जन ने उसकी भी उपेक्षा की और उसमे सुधार लाने की दिशा मे कोई कदम नही उठाये। इससे ब्रिटिश शासको की साम्राज्यवादी नीति तथा स्वेच्छाचारिता स्पष्ट हो गयी। डा० ताराचन्द के अनुसार 'कर्जन एक प्रतिभाशाली व्यक्ति था कुशलता उसका मौलिक सिद्धान्त था, परन्तु उसमे आचरण की अनेक कमियाँ थी। अब वह असाधारण रूप से महत्त्वाकाक्षी, हठी, दूसरो की राय की उपेक्षा करने वाला, विरोधियो के प्रति प्रतिशोधी, आत्माभिमानी तुनुक मिजाजी आदि था। उसमे कल्पना शक्ति तथा सहानुभूति का नितान्त अभाव था, वह सूझबूझ तिरस्कार करने वाला तथा अपने अधीनस्थो तक पर विश्वास न करने वाला व्यक्ति था।[1]

लार्ड कर्जन भारतीयो से घृणा करता था। वह उन्हे हर प्रकार से, हर क्षेत्र मे अक्षम, अयोग्य तथा अकुशल मानता था। यह धारणा उसने कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण मे व्यक्त की थी। वह 'भारत राष्ट्र' सदृश किसी धारणा के अस्तित्व तक को स्वीकार नही करता था। उसकी धारणा थी कि काग्रेस जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करने वाली कोई वास्तविक सस्था नही है, वह शीघ्र ही समाप्त हो जायेगी। लार्ड कर्जन द्वारा काग्रेस की ऐसी निन्दा करने पर तत्कालीन भारतमन्त्री हैमिल्टन ने कर्जन को शावाशी दी और कहा कि यदि काग्रेस एक या दो वर्ष मे समाप्त हो जाये तो उसकी समाप्ति का पूर्ण श्रेय आपको मिलेगा।[2] कर्जन के विधि-मन्त्री रैले की भी यही धारणा रही थी कि काग्रेस द्वारा अपनी महत्ता का दावा करना अयथार्थ था। वह जिस जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली अपने को समझती थी उसमे से 99% ने तो उसका नाम तक नही सुना था। लार्ड कर्जन के इन समस्त कार्यकलापो ने भारतीय शिक्षित वर्ग मे भीषण असन्तोष उत्पन्न कर दिया। इसके विरोध मे भारत के उग्र तत्त्वो ने ही नही, अपितु उदारवादियो ने भी पूरा भाग लिया। गोखले तथा लाला लाजपत राय एक शिष्ट-मण्डल लेकर इग्लैण्ड गये। परन्तु वहाँ भी उन्हे कोई सफलता नही मिली। लाला लाजपत राय को पूरा विश्वास हो गया कि ब्रिटिश शासन-नीति के अत्याचारो से भारत को छुटकारा देने का एकमात्र साधन देश को स्वतन्त्र कराना है, तभी भारतवासी स्वय अपने भविष्य के निर्माता बन सकते है। ब्रिटिश सरकार के समक्ष भिक्षावृत्ति की उदार नीति से भारतवासियो के कष्टो तथा उनके ऊपर किये गये अपमानो का निराकरण नही हो सकता। भारत के सामने सबसे ज्वलन्त समस्या स्वराज्य प्राप्त करने की है।

(5) **विदेशो मे भारतीयो के ऊपर अत्याचार**—इसी अवधि मे दक्षिण अफ्रीका मे बसने वाले भारतीयो तथा एशियाई मूल के निवासियो के ऊपर वहाँ की गोरी सरकार की रग-भेद की नीति जोर पकड रही थी। उन्हे कुछ विशेष स्कूलो मे प्रवेश नही मिलता था, रेल मे वे उच्च श्रेणी मे नही बैठ सकते थे। 1907 मे ट्रान्सवाल की सरकार ने एशियाई पजीयन कानून पास करके उनके कष्टो को और अधिक बढाया तथा उनके ऊपर नागरिकता के लिए पजीकरण की शर्त लगा दी। उस समय महात्मा गाधी अफ्रीका मे वकालत करने गये थे। उनसे यह अपमान सहा नही गया। उन्होने अकेले इसका विरोध करने के लिए सत्याग्रह का साधन प्रयुक्त किया। भारत मे इसकी प्रतिक्रिया यह यह हुई कि ब्रिटिश सरकार के समक्ष इसका विरोध करने की माँग रखी गयी। परन्तु यहाँ की सरकार ने मौन धारण किया। परिणामस्वरूप भारतीय नेतागणो मे ब्रिटिश शासको की नीतियो के विरुद्ध उग्रता आ गई।

(6) **वग-विच्छेद**—ब्रिटिश शासन नीति के विरुद्ध असन्तोष के उपर्युक्त कारण स्वय ही

[1] *Ibid*, 294–95
[2] *Ibid*, 296

किसी भाँति कम महत्त्व के नही थे। लार्ड कर्जन की नीतियो ने उस असन्तोष को और अधिक गम्भीर रूप दे दिया। उसके अत्याचारी कृत्यो को इतने भर से सन्तोष नही हुआ। उसकी सबसे महान् तथा अनिष्टकारी नीति उसके बंगाल विभाजन सम्बन्धी कानून से स्पष्ट हो गयी। वास्तव मे बंगाल विभाजन के पीछे ब्रिटिश सरकार की वह नीति काय कर रही थी जो भविष्य मे लगभग 50 वर्ष तक भारत मे ब्रिटिश शासन को बनाये रखने मे सफल हुई। यह थी मुस्लिम साम्प्रदायिकता की नीति जिसकी बदौलत अंग्रेजो ने भारत मे अपना सिक्का मजबूत करने का सुअवसर प्राप्त किया।[1] लार्ड कर्जन ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया कि प्रशासन की कुशलता तथा सुविधा के लिए बंगाल प्रान्त को पूर्वी तथा पश्चिमी बंगाल नाम के दो प्रान्तो मे बाँटना आवश्यक है क्योंकि उस समय बंगाल प्रान्त मे बिहार उडीसा भी शामिल थे। परन्तु वास्तविकता यह थी कि बंगाल मे बढती हुई राष्ट्रीयता को दबाने के लिए यह नीति अपनायी गयी थी। पूर्वी बंगाल मे मुस्लिम-बहुल जनता रहती थी। उसे यह आश्वासन दिया गया कि प्रान्त के विभाजन से मुसलमान लोग दूसरे सम्प्रदाय के दबाव से मुक्त रहकर अपनी समृद्धि कर सकेंगे। बंग विच्छेद ब्रिटिश सरकार की फूट डालो और शासन करो (Divide and Rule) की नीति का सबसे प्रथम सक्रिय कदम था।

बंग विच्छेद कानून लार्ड कर्जन के शासन-काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसने न केवल भारत के राष्ट्रीय नेतृत्व को ही घोर असन्तुष्ट किया अपितु अनेक ब्रिटिश अधिकारी भी इससे असन्तुष्ट थे। लार्ड किचनर जो स्वयं वायसराय की कार्यकारिणी का सदस्य था इसके विरुद्ध था। उसने कहा था कि सरकार को तब तक न चैन मिलेगा और न किसी प्रकार का समझौता सफल होगा जब तक कि संयुक्त बंगाल के निर्माण की दिशा मे कोई कदम न उठाया जाय। ब्रिटिश पत्रो ने भी बंग विच्छेद योजना की आलोचना की थी। उनका मत था कि इस विभाजन के कारण बंगाल की जनता मे भारी असन्तोष फैलना स्वाभाविक है। भारत के समाचार पत्रो ने इसकी तीव्र आलोचना की। उनका मत था कि प्रान्त मे विभिन्न जातियो तथा भाषाओ की समस्या का समाधान विभाजन के अतिरिक्त अन्य किसी विवेकपूर्ण तथा ईमानदार तरीके से किया जाना चाहिए था। बंग विच्छेद कानून के विरुद्ध भारतीय राष्ट्रीय नेताओ मे और विशेष रूप से बंगाल के राष्ट्रीय नेताओ मे तीव्र रोष उत्पन्न हुआ। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के शब्दो मे बंगाल विच्छेद की घोषणा एक बम के रूप मे गिरी। हमे ऐसा प्रतीत हुआ कि इससे हमारा घोर अपमान किया गया है। हमे ऐसा लगा कि यह बंगाली भाषी जनता की आत्म चेतना तथा एकता के ऊपर एक भीषण प्रहार था। इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया न केवल बंगाल मे ही हुई अपितु सारे भारत मे ब्रिटिश शासन की दमनकारी नीतियो के विरुद्ध फैल हुए असन्तोष रूपी अनल मे इसने घी डालने का काय किया। यहाँ तक कि नरम दल के नेता नौरोजी सुरेन्द्रनाथ बनर्जी गोखले आदि भी इससे बहुत असन्तुष्ट हो गये। इसका परिणाम यह हुआ कि देशव्यापी स्वदेशी आन्दोलन छेडा गया। विदेशी माल का बहिष्कार किया जाने लगा। देश के राष्ट्रीय आन्दोलन मे इसके कारण उग्रता का आ जाना स्वाभाविक था। बंगाल की युवा पीढी के अनेक नेताओ ने तो यह प्रतिज्ञा कर ली कि बंग विच्छेद का अन्त करने के लिए जो भी साधन उचित समझे जायेंगे उन्हें प्रयुक्त किया जायेगा। कांग्रेस ने गोखले को इंग्लैण्ड भेजा ताकि वे वहाँ इसका विरोध करें, परन्तु गोखले को खाली हाथ निराश लौटना पडा। इससे राष्ट्रीय आन्दोलन मे उग्र तत्त्वो का विकास हो गया। अनेक विद्वानो की धारणा है कि कांग्रेस मे उग्रवाद तथा आतंकवाद की उत्पत्ति का मुख्य कारण बंग विच्छेद ही है। यद्यपि 1905 मे किया गया यह विभाजन केवल छ वर्ष तक कार्यान्वित रहा और इस बीच राष्ट्रीय आन्दोलन मे पर्याप्त उग्रता आ गयी थी तथापि 1911 मे

[1] इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा (अध्याय 6)।

Governm t sho ld have no real pe ce no co cil atio s un ted sort of cti h d been taken in the direct on of a U ted Beng l Quoted in Tara Ch d *op cit* 317

इसकी समाप्ति हो जाने पर भी उग्रवाद का अन्त नही हुआ। इस राष्ट्रव्यापी माँग को मानने के लिए ब्रिटिश सरकार को बाध्य होना पडा था, परन्तु इसके पश्चात् उसने भारत मे साम्प्रदायिकतावाद को और अधिक उग्र बना दिया। अत भारतीय राष्ट्रीयता मे अब आरम्भ के नेताओ की उदारवादी नीतियो पर से विश्वास हट गया।

(7) **अन्य कारण**—इनके अतिरिक्त अन्य कई घटनाएँ इस बीच घटी जिन्होने भारतीय राष्ट्रीयता को उग्र बनाने मे योगदान किया। उन्नीसवी सदी के अन्तिम वर्षो मे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रो मे कुछ ऐसी घटनाएँ घटी जिन्होने यह सिद्ध कर दिया कि एशियाई देश यूरोपीय देशो से सैनिक बल मे कम नही हैं। इटली की अबीसीनिया से तथा रूस की जापान से हार इसके प्रमाण थे। मध्य एशिया के अनेक राष्ट्र भी राष्ट्रीय प्रगति की दिशा मे अग्रसर हो रहे थे। इनका प्रभाव भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर पडे बिना नही रह सकता था। इनसे भारतवासियो मे भी आत्म-विश्वास बढा और भारतीय राष्ट्रवाद राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए उग्र होता गया। इस दृष्टिकोण के नेताओ ने उदारवादियो की नीतियो तथा साधनो का विरोध किया। उनका विश्वास याचना, प्रार्थना तथा वैधानिकतावाद से हट गया। इन सबका परिणाम यह हुआ कि बीसवी सदी के आरम्भ मे राष्ट्रीय आन्दोलन मे उग्रवाद की नयी प्रवृत्ति आ गई।

उग्र राष्ट्रीयता का स्वरूप

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उग्रवादी नेताओ की त्रयी मे बाल, लाल, पाल (बाल गगाधर तिलक, लाला लाजपतराय तथा बिपिन चन्द्र पाल) का नाम प्रसिद्ध है। ब्रिटिश शासको की प्रतिगामी तथा अत्याचार-पूर्ण शासन-नीतियो के विरोध मे इस वर्ग के राष्ट्रीय नेताओ का उदारवादियो की 'राजनीतिक भिक्षावृत्ति' तथा आवेदनो और प्रार्थनाओ द्वारा वैधानिक तरीको से राष्ट्रीय माँगो को पूर्ण कराने की नीति पर से विश्वास हट गया। देश को आर्थिक राजनीतिक तथा प्रशासनिक उत्पीडनो से मुक्त कराने के निमित्त उग्रवादियो ने राष्ट्रीय मागो के सम्बन्ध मे स्वराज्य, स्वदेशी, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा इन चार सिद्धान्तो को अपना लक्ष्य बनाया। लोकमान्य तिलक ने राष्ट्रीय आन्दोलन को अपना यह चिरस्मरणीय नारा प्रदान किया कि 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मै उसे लेकर रहूँगा।' उनकी यह धारणा थी कि भारत के उत्थान का एकमात्र साधन स्वराज्य की प्राप्ति है। स्वराज्य प्राप्त हो जाने पर ही भारतवासी अपनी अन्य समस्याओ को हल करने मे समर्थ हो सकेगे। अत राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रमुख लक्ष्य विदेशी शासन को किसी भी तरीके से निकाल बाहर करना होना चाहिए। इस साध्य की प्राप्ति के साधन स्वदेशी, बहिष्कार अथवा निष्क्रिय प्रतिरोध तथा राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन थे। विदेशी सरकार की आर्थिक शोषण की नीति के कारण भारतीय उद्योगो को धक्का पहुँच रहा था। भारतीय बाजारो मे विदेशो मे बनी वस्तुएँ आ रही थी। अत इन आन्दोलनकारियो ने स्वदेशी आन्दोलन का प्रचार किया और जनता से माँग की कि वह अपने देश मे बनी वस्तुओ का उपयोग करे तथा विदेशी माल का बहिष्कार करे। साथ ही विदेशी सरकार द्वारा स्थापित शिक्षा-सस्थाओ के बहिष्कार की भी माग की गयी। इन नेताओ ने स्थान-स्थान पर राष्ट्रीय शिक्षालय खुलवाये और उनमे शिक्षा को राष्ट्रीय स्वरूप देने का प्रयास किया।

यह आन्दोलन प्रारम्भिक उदारवादी आन्दोलन से पूर्णतया भिन्न प्रकृति का था। इसका क्षेत्र केवल शिक्षित वर्ग तक सीमित नही रहा, अपितु इसका उद्देश्य जन-जागृति था। जनता मे स्वदेशी तथा राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार करके उसे देश मे स्वराज्य-प्राप्ति के लिए तैयार करने का आह्वान किया जाने लगा। इन आन्दोलनकारियो ने उदारपथियो की विधान परिषदो के माध्यम से शासन-सुधार करवाने की धारणाओ को भ्रान्तिपूर्ण ठहराया, क्योकि विदेशी शासको के अत्याचार तथा दमनचक्र निरन्तर बढते जा रहे थे। अत 1905 के पश्चात् राष्ट्रीय आन्दोलन मे एक पूर्णतया नवीन प्रवृत्ति आ गई, जो स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय बनी रही। इस उग्रवाद ने काग्रेस

की गतिविधिया का भी नया रूप प्रदान किया।

बगाल मे उग्रवादी आदोलन—उग्रवादी राष्टीय आदोलन की गतिविधिया को तीन भागो म विभक्त किया जा सकता है बगाल महाराष्ट्र तथा समग्र रूप म समूचे देश म। उग्रवाद की उत्पत्ति का प्रमुख कारण वग विच्छेद होने से बगाल की जनता म क्षोभ का बढना स्वाभाविक था। अत वग विच्छेद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप आदोलन की तीव्रता बगाल म सर्वाधिक रही। उदारवादी नेता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तक ने लाड कर्जन की नीति की घोर निदा की। एन एम समय का मत था कि आज बर्क तथा शेरिडन जीवित होते तो लाड कर्जन की नीतियो के कारण उसके ऊपर भी महाभियोग लगाते।[1] बगाल म विभाजन के विरुद्ध जलूस निकाले गये प्रदर्शन किये गये तथा जनसभाए आयोजित की गयी। सरकार ने इन सबका दमन करने म कोई कमी नहीं रखी। हडतालें हुई जिनम विद्यार्थियो तथा जनता सबने भाग लिया उन्हें सरकार ने दण्डित भी किया। बगाल म आदोलन को दबाने के लिए गोरखा सेना बुलायी गयी। परन्तु जहा सरकार ने चन्द आदोलनकारियो को दण्ड दिया वहा आदोलनकारियो की सख्या निरतर बढती गयी। पूर्वी बगाल के गवनर बी फुलर ने अग्रेजो की वग विच्छेद की नीति को स्पष्ट कर दिया। उसका कथन था कि मेरी दो पत्निया है—हिन्दू तथा मुस्लिम और मैं मुस्लिम पत्नी को अधिक प्यार करता हू। स्पष्ट था कि वग विभाजन का उद्देश्य भारत म साम्प्रदायिक विष को फैलाना था जिसकी आड म अग्रेजी शासन पनपता रहता।

आदोलन को तीव्र करने के लिए स्वदेशी तथा बहिष्कार की नीति अपनायी गयी। विपिन चन्द्र पाल के नेतृत्व म तथा उनके द्वारा विविध पत्र-पत्रिकाओ म लिखे गये लेखो के द्वारा वन्दे मातरम गीत का जोरदार प्रचार हुआ। घर घर म जाकर नेताओ ने जनता से अपील की तथा प्रतिज्ञा करवायी कि वे विदेशी वस्तुओ का उपयोग नहीं करेंगे। विदेशी माल की दुकानो पर धरना दिया गया और स्थान-स्थान पर विदेशी माल की होली जलायी गयी। विद्यार्थी समाज ने इस आदोलन की प्रगति म विशेष रुचि दर्शायी। विपिन चन्द्र पाल अरविन्द घोष सुरेन्द्रनाथ बनर्जी प्रभृति अनेक नेताओ ने आदोलन का नेतृत्व किया। विपिन चन्द्र पाल ने मद्रास का दौरा किया वहा भी वग विच्छेद के विरुद्ध प्रचार करवाया। अन्त म सरकार ने उन्हें मद्रास छोडने को विवश किया। स्थान-स्थान पर राष्ट्रीय शिक्षालयो की स्थापना की गयी। 5 मई 1905 को घोषित वग विच्छेद का आदेश 16 अक्टूबर 1905 से लागू किया गया और इस बीच हुए भारी विरोध की सरकार ने तनिक भी परवाह नहीं की बल्कि उसे दबाया। अत 16 अक्टूबर 1905 का दिन भारत म एक महान् शोक दिवस के रूप म मनाया गया। ब्रिटिश नौकरशाही की दमन-नीति के बावजूद आन्दोलन शान्त नहीं हुआ और आन्दोलन न केवल उग्र हुआ अपितु क्रान्तिकारी तथा आतकवादी भी होने लगा।

आदोलन के विरुद्ध सरकार की प्रतिक्रिया—वग भग के विरुद्ध जो उग्रवादी आदोलन छिडा था उसे दबाने के लिए लाड कर्जन तथा पूर्वी बगाल व आसाम के ले० गवनर फुलर ने शक्ति का प्रयोग किया। इसी बीच इगलैण्ड म उदार दल की सरकार बन गई। लाड मार्ले भारत मत्री बने और लाड मिन्टो ने कर्जन का स्थान लिया। इन्होने अपनी नीति को किंचित बदला। मिन्टो की धारणा थी कि काग्रेस का प्रतिनिधित्व करने वाला वग शासन का नेतृत्व नहीं कर सकेगा। परन्तु साथ ही वह काग्रेस को पूर्णतया उपेक्षित रखना भी उचित नहीं समझता था। अत उसने काग्रेस के उदार नेताओ बनर्जी गोखले तथा मोतीलाल घोष के साथ सम्पर्क स्थापित किया। दूसरी ओर ब्रिटिश राज के प्रति मुसलमानो की निष्ठा को बनाये रखने के उद्देश्य से उसने वग विभाजन का विरोध करने वाले राष्ट्वादी तत्त्वो से मुसलमानो की सहानुभूति हटाने की नीति को आवश्यक समझा। परन्तु विभाजन को निरस्त करने के सम्बन्ध म उसने स्पष्ट इनकारी प्रकट की। स्वायत्त शासन की माग के सम्बन्ध म उसने एसी सुधार योजना निर्मित

[1] P Sitaramayya *op cit* 78

करने की सोची जिसे कार्यान्वित करने मे हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक भेदभाव स्पष्ट हो जाय और शासन सुधार योजना कार्यान्वित न हो सके। डा० ताराचन्द के अनुसार 'मिंटो की योजना की सफलता को सुनिश्चित करने के लिए यह भी आवश्यक था कि भारत के राष्ट्रवादी तत्त्वो मे भी फूट हो जाय, ताकि मुसलमानो के प्रति उसकी नीति के बावजूद उदारवादियो के विरोध को रोका जा सके। साथ ही, राजनीतिक सुधारो का जो अस्पष्ट या तुष्टिकारक रूप उनके समक्ष रखा जाने वाला था, वह आन्दोलनकारियो का ध्यान बटाने मात्र को एक कदम था।'[1] पूर्वी बगाल मे फुलर का आतक तीव्र होता जा रहा था और यह माग तीव्र हो रही थी कि उसे वापिस किया जाय। स्वय लार्ड मिंटो उससे सन्तुष्ट नही था। भारतमत्री ने भी लार्ड मिंटो से सहमति व्यक्त की। अत मिंटो ने फुलर को त्यागपत्र देने के लिए विवश किया। परन्तु आन्दोलनकारी इतने भर से सन्तुष्ट नही थे।

बगाल मे उग्रवादी आन्दोलन जोर पकडता गया। दूसरी ओर ब्रिटिश नौकरशाही हिन्दू जनता के विरुद्ध मुसलमानो को उकसाती रही। परिणामस्वरूप पूर्वी बगाल मे भीषण साम्प्रदायिक दगे होने लगे। बगाल की एकता के निमित्त जो आन्दोलन चलाया गया था, उसकी अनेक रस्मे हिंदू धर्म-परम्पराओ के अनुसार चलाई गई, यथा राखी बाधना, चूल्हो मे आग न जलाना, वन्दे मातरम् का गीत गाना, काली की पूजा आदि। यह रस्मे इस्लाम धर्म-विरोधी मानी जाने लगी। जब मुसलमानो को सरकार का प्रोत्साहन मिला तो दगो मे हिंदुओ के ऊपर किये गये जुल्मो को नौकरशाही ने अनदेखा किया। सक्षेप मे, ब्रिटिश सरकार निरन्तर काग्रेस के अन्दर तथा हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायो के मध्य फूट उत्पन्न कराने के सभी तरीके अपनाने मे व्यस्त रही और अधिकारीगण इन सब अत्याचारो के लिए सरकार के कार्य-कलापो का औचित्य प्रदर्शित करते रहे। परिणामस्वरूप उग्रवादी आन्दोलन क्रातिकारी तथा आतकवादी दिशा मे बढने लगा। सरकार के भीषण दमन के बावजूद आन्दोलन मे शिथिलता नही आ सकी। यद्यपि सरकार ने प्रमुख नेताओ को लम्बी कारावास की सजाये दी और तिलक, लाजपत राय, अरविंद घोष आदि प्रमुख के नेता बन्दी हो गये, तथापि आन्दोलन 1911 मे बगाल विभाजन आदेश के निरस्तीकरण हो जाने पर भी शान्त नही हुआ। उग्रवादी आन्दोलन का स्वरूप राष्ट्रव्यापी हो गया और क्रातिकारियो तथा आतकवादियो ने अपनी गतिविधियाँ तीव्र करना आरम्भ कर दिया।

महाराष्ट्र मे उग्रवादी आन्दोलन—महाराष्ट्र ने दो महान् राष्ट्रीय नेताओ गोखले तथा तिलक को जन्म दिया था। गोखले उदारवादी नेता थे और ब्रिटिश शासन की ईमानदारी पर विश्वास रखते थे। परन्तु 1900–1905 की अवधि मे ब्रिटिश शासन के दमनकारी कारनामो मे गोखले भी बहुत असन्तुष्ट हो गए थे। यद्यपि उन्होने उग्रवादी नीतियो तथा गतिविधियो का अनुसरण नही किया, तथापि ब्रिटिश शासन की नीतियो की उन्होने भी भर्त्सना की। तिलक उग्रवादी राष्ट्रीयता के सबसे महान् प्रवर्तक थे। सच्चे अर्थो मे उनको उग्रवाद का जनक कहा जाना चाहिए। यद्यपि वे उदारवादी नेताओ का आदर करते थे, तथापि वे उनकी राजनीतिक भिक्षावृत्ति तथा अग्रेजो की ईमानदारी पर विश्वास रखने की नीति के विरोधी थे। उनका लक्ष्य औपनिवेशिक ढग का स्वराज्य प्राप्त करना नही था, बल्कि पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना था जिसे वे प्रत्येक भारतवासी का जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे। अत स्वराज्य-प्राप्ति के निमित्त वे किसी भी प्रकार का बलिदान करने की धारणा रखते थे। उन्होने 'केसरी', 'मराठा' आदि पत्रो के द्वारा जनता तथा नवयुवको को आत्म-निर्भरता, आत्म-विश्वास तथा आत्म-बलिदान की शिक्षा दी। तिलक पाश्चात्य सस्कृति की गरिमा के विरोधी थे। उनकी भारतीयता की धारणा असदिग्ध थी। उन्होने स्वय भी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्यो मे कष्ट सहे और लम्बी अवधि का कारावास भोगा। अत वे जनता के 'लोकमान्य' नेता बने। भारत मे विदेशी शासको के अत्याचारो के विरुद्ध उन्होने जनता को सगठित करने तथा उसमे आत्म-त्याग और आत्म-विश्वास

[1] Tara Chand *op cit* p 343

की भावना जागृत करने के निमित्त महाराष्ट्र में गणपति उत्सव, शिवाजी उत्सव सदृश संगठनों का आयोजन किया। इनके द्वारा जनता को सहयोग, अनुशासन तथा देश प्रेम की शिक्षा दी। राष्ट्रीय चेतना की जागृति करने में इन संगठनों का महान् योगदान है।

अन्यत्र उग्रवाद का प्रभाव—ब्रिटिश शासन के विरुद्ध असन्तोष केवल बंगाल तथा महाराष्ट्र तक ही सीमित नहीं रहा। शासन की दमनकारी नीतियों ने सारे देश में असन्तोष उत्पन्न कर दिया था। पंजाब में लाला लाजपत राय भी इससे बहुत रुष्ट हो गए थे। वे एक शिक्षा-सुधारक, समाज सुधारक तथा धर्म सुधारक थे। उन्होंने आर्य समाज की उन्नति में विशेष योगदान किया। उनके भाषण बहुत प्रभावशाली थे। ब्रिटिश शासन के अत्याचारपूर्ण रवैये तथा अंग्रेजों द्वारा *भारतवासियों को हर दृष्टि से हीन मानने की धारणा ने उनके रोष को उभारा। वे गोखले के* साथ शिष्ट मण्डल में इंग्लैण्ड भी गए थे। जब उन्हें निराश लौटना पड़ा तो उन्होंने देशवासियों को बताया कि अब आवेदन तथा प्रार्थनाओं से काम नहीं चलेगा। भारतवासियों को स्वतन्त्रता की लड़ाई में आत्म विश्वास तथा आत्म बल से कार्य करना पड़ेगा। इस प्रकार वे भी तिलक के अनुगामी बन गए। सरकार ने उन्हें देश निकाले का दण्ड दिया।

उग्रवाद तथा कांग्रेस—चूंकि इस अवधि में कांग्रेस ही एकमात्र राष्ट्रीय संस्था थी जो राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करती आ रही थी अतः सभी राष्ट्रीय नेता या तो कांग्रेस के सदस्य थे या किसी न किसी रूप में राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कांग्रेस पर निर्भर रहते थे। निःसन्देह अंग्रेजों की फूट डालो की नीति ने थोड़े से शिक्षित मुस्लिम वर्ग को कांग्रेस विरोधी बनाकर साम्प्रदायिकता को जागृत करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। इस श्रेणी में सर सैयद अहमद खां का नाम उल्लेखनीय है परन्तु स्वयं कांग्रेस के नेतृत्व में भी सिद्धान्तों तथा साधनों के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न होने लग गया था। दादाभाई नौरोजी, गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि उदारवादी नेता अपनी पुरानी ब्रिटिश राज भक्ति की नीति पर विश्वास करते थे। परन्तु बाल, लाल, पाल की त्रयी इस नीति की कट्टर विरोधी हो गयी थी। बंग विच्छेद के उपरान्त 1905 के बनारस कांग्रेस अधिवेशन में यह स्पष्ट हो गया था कि कांग्रेस में दो दल (उदारवादी तथा उग्रवादी) बन गए हैं और इन दलों के नेता कांग्रेस के भावी कार्यक्रम की समरूप नीति का निर्माण नहीं कर सकेंगे क्योंकि उनके साधन एक दूसरे के बिल्कुल विरुद्ध थे। इस अधिवेशन की अध्यक्षता गोखले ने की थी। उस वर्ष प्रिंस आफ वेल्स भारत पधारे थे। उदारवादी उनके स्वागत का समर्थन करने लगे परन्तु उग्रवादी इसके विरुद्ध थे। इस अधिवेशन में जो प्रस्ताव पास किये गये उन्हें सर्वसम्मत नहीं माना जा सकता। परन्तु 1906 में उग्रवाद जोर पकड़ चुका था। इस (कलकत्ता) अधिवेशन में उग्रवादी नेता तिलक को कांग्रेस का अध्यक्ष चुनना *चाहते थे जो उदारवादियों को सहनीय नहीं था। अतः वयोवृद्ध नेता नौरोजी को अध्यक्ष चुनकर* संकट टाल दिया गया। परन्तु उग्रवादी इस अधिवेशन में स्वराज्य, बहिष्कार, स्वदेशी तथा राष्ट्रीय शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम का प्रस्ताव पास कराने में सफल हो गये और प्रथम बार कांग्रेस ने भारतीय राष्ट्रीयता का उद्देश्य इंग्लैण्ड तथा उपनिवेशों की भांति का स्वायत्त शासन प्राप्त करना घोषित कर दिया।

परन्तु 1906 का अधिवेशन कांग्रेस के अन्दर उमड़ती हुई फूट का निराकरण करने का उपचार सिद्ध नहीं हुआ। बंगाल में राष्ट्रीयता की भावना उग्र होती जा रही थी। तिलक सदृश उग्रवादी नेता उदारवादियों की ब्रिटिश शासकों से मिली भगत करने के प्रयासों को सहन नहीं कर सके। परिणामस्वरूप कांग्रेस के अन्दर फूट की ज्वाला अन्दर ही अन्दर सुलग रही थी और 1907 में सूरत के कांग्रेस अधिवेशन में यह स्पष्टतया बाहर फूट पड़ी। कांग्रेस के इतिहास में 1907 की फूट की घटना की पुनरावृत्ति 1969–70 में हुई। परन्तु दोनों के स्वरूप में भिन्नता है। उस समय दोनों का उद्देश्य राष्ट्रीय हित था न कि सत्ता प्राप्ति या नेतृत्व प्राप्ति की व्यक्ति-

गत आकाक्षा। नेतृत्व प्राप्त करने की आकाक्षा इस उद्देश्य से निर्देशित थी कि काग्रेस के कार्यक्रम मे अपने साधनो का समावेश किया जा सके। अत उदारवादी नेताओ ने रासबिहारी घोष का नाम अध्यक्ष पद के लिये प्रस्तावित किया। उग्रवादी लाला लाजपतराय को अध्यक्ष बनाना चाहते थे। उग्रवादी उस समय बहुसख्यक नही थे। अत रासबिहारी घोष का नाम प्रस्तावित होने पर उन्होने विरोध किया। ऐसी स्थिति मे बैठक को स्थगित कर दिया गया। परन्तु दूसरे दिन फिर यही दृश्य उत्पन्न हुआ। पुलिस ने हस्तक्षेप करके बैठक को नही होने दिया। इस पर उग्रवादी काग्रेस से पृथक् हो गए। वे पूरे आठ वर्ष तक काग्रेस से अलग रहे। इस बीच काग्रेस ने अपने सविधान मे सशोधन करके अपना उद्देश्य साविधानिक तरीको से कार्य करना स्वीकार कर लिया। उग्रवादियो के लिये यह भी एक बडा धक्का था। काग्रेस के प्रमुख नेता गोखले, फीरोजशाह मेहता आदि एकता लाने का प्रयास करते रहे, परन्तु उनके स्वप्न उनकी मृत्यु के पश्चात् ही साकार हो पाए।

इस बीच ब्रिटिश शासको ने उग्रवादियो का दमन करना प्रारम्भ कर दिया। जिन समाचार पत्रो द्वारा राष्ट्रीय नेता ब्रिटिश शासन की नीतियो का विरोध करते थे उन पर प्रतिबन्ध लगाए गए। अरविन्द घोष के ऊपर अभियोग चलाने का निष्फल प्रयास भी सरकार ने किया जिसके परिणामस्वरूप उन्होने ब्रिटिश भारत छोडकर फ्रासीसी बस्ती पाण्डीचेरी मे अपना निवास स्थान बना लिया। कर्जन के उत्तराधिकारी लार्ड मिन्टो ने गोखले तक की भर्त्सना की, बगाल के अनेक नेताओ को देश निकाले का दण्ड दिया गया। ब्रिटिश शासको के दमनचक्र का विरोध करने पर राजद्रोह के अपराध मे तिलक को 6 वर्ष का कारावास देकर माडला जेल भेज दिया गया। उनके साथ जेल तक मे मानवोचित व्यवहार करने की चिन्ता ब्रिटिश नौकरशाही ने नही की। इसका परिणाम यह हुआ कि युवा पीढी के नेता हिसात्मक क्रान्ति तथा आतकपूर्ण भूमिगत साधनो का प्रयोग करने लगे। यद्यपि इस बीच मार्ले-मिंटो सुधार (1909) पास किए गए थे, तथापि उनके फलस्वरूप सन्तोष तो अलग रहा, राष्ट्रीय नेतृत्व मे और अधिक असन्तोष फैल गया। 1911 मे बग-विच्छेद को निरस्त करने पर भी विरोध शान्त नही हुआ। 1911 मे लार्ड हार्डिज (वाइसराय) के ऊपर किसी आतकवादी ने बम फेका। यद्यपि वाइसराय बच गया तथापि इससे शासको का रोष और अधिक उग्र हो गया। प्रेस पर और अधिक प्रतिबन्ध लगा दिया गया, उनसे जमानते माँगी गयी। इस अवधि मे तिलक जेल मे थे जहाँ उन्होने 'गीता-रहस्य' तथा 'दि आर्किक्टिक होम ऑफ दि वेदाज' नामक ग्रन्थ लिखे। ये ग्रन्थ उनकी विद्वता तथा विचार व चिन्तन शक्ति की महानता के द्योतक है। साथ ही इनका अध्ययन किसी भी हिन्दू मानस मे कर्त्तव्यपरायणता भरने मे समर्थ हो सकता है। गीता-रहस्य मे तिलक ने कर्मयोग की महत्ता को दर्शाया है। जेल से छूटने पर तिलक ने 'होम रूल' आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। इस समय श्रीमती ऐनी बेसेन्ट जो एक आइरिश महिला थी हिन्दू धर्म तथा भारतीय राष्ट्रीयता से बहुत प्रभावित हो गयी थी। इन्होने हिन्दू धर्म को अपना लिया था। थियोसाफिकल सोसाइटी का कार्य उन्होने बडी लगन के साथ किया था। वह 1914 मे काग्रेस मे प्रविष्ट हुई और होम रूल आन्दोलन मे सतत कार्य करती रही। 1915 की अवधि तक उदारवादी नेताओ गोखले तथा मेहता का अवसान हो चुका था, नौरोजी 90 वर्ष के हो चुके थे। अत ऐसा प्रतीत होने लगा कि राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व सम्भालने वालो की कमी होने लगी है। भाग्यवश इसी अवधि मे महात्मा गाधी काग्रेस का नेतृत्व करने के लिये उपलब्ध हो गए। 1914 मे प्रथम महायुद्ध छिड गया था। इग्लैण्ड युद्ध मे एक पक्ष था। अत काग्रेस के समक्ष समस्या आई कि भारतीयो को युद्ध मे इग्लैण्ड की सहायता करनी चाहिए या नही। काग्रेस के दो दलो मे एकता हुए बिना आन्दोलन का सफलता सदिग्ध प्रतीत होने लगी। 1916 के काग्रेस के लखनऊ अधिवेशन मे उग्रवादी पुन काग्रेस मे आ गए और 11 वर्ष पुरानी फूट का अन्त हो गया।

उग्रवादियो के साधन तथा सिद्धान्त ✓

उग्रवादी आन्दोलन के नेताओं ने ब्रिटिश शासन की दमनकारी तथा सुधारों के सम्बन्ध में ढुलमुल की नीति से असन्तुष्ट होकर उदारवादी नेताओं की सांविधानिकतावादी तथा राजनीतिक भिक्षावृत्ति की नीति का विरोध किया था। उग्रवादी नेताओं ने स्वराज्य प्राप्ति को अपना लक्ष्य घोषित किया और उसकी प्राप्ति के हेतु स्वदेशी बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा की प्रगति के साधन अपनाये। स्पष्ट है कि उग्रवादी आन्दोलन के सिद्धान्त तथा साधन भी उग्र प्रवृत्ति के थे।

(1) उग्रवादी क्रमिक सुधारों के पक्ष में नहीं थे। वे यह नहीं चाहते थे कि पहले सामाजिक सांस्कृतिक तथा आर्थिक सुधार किए जायें तब राजनीतिक लक्ष्य प्राप्त होगा। उनकी धारणा तो यह थी कि पहले स्वराज्य प्राप्त होना चाहिए अर्थात् सुधार तभी उचित ढंग से सम्पन्न हो सकते हैं जबकि राजनीतिक सत्ता अपने देशवासियों के हाथ में रहे।

(2) उग्रवादी ब्रिटिश सरकार से याचना करके अपनी मांगें मनवाना पसन्द नहीं करते थे। वे जनता में आत्मविश्वास की भावना भरना चाहते थे। वे जनता की क्रांतिकारी शक्ति पर विश्वास रखते थे न कि सांविधानिक साधनों पर। साथ ही वे थोड़े से शिक्षित वर्गों के सहयोग पर निर्भर न रहकर आम जनता की राजनीतिक चेतना पर विश्वास करते थे।

(3) उग्रवादियों के साधन स्वदेशी का आम प्रचार विदेशी माल का बहिष्कार शासन के अन्यायपूर्ण कृत्यों के साथ असहयोग सविनय अवज्ञा तथा निष्क्रिय प्रतिरोध थे। इनके द्वारा वे जनता में रचनात्मक कार्यों की प्रेरणा भरकर भारतवासियों के शारीरिक एवं नैतिक उत्थान को अपना लक्ष्य मानते थे।

(4) यद्यपि उग्रवादी प्रथम चरण में अहिंसात्मक आन्दोलन को ही मान्यता देते थे लेकिन उसकी अक्षमता में कुछ उग्रवादी हिंसात्मक साधनों को भी उपादेय समझने लगे। यद्यपि स्वयं महात्मा गांधी ने बाद में उग्रवादियों के अहिंसात्मक साधनों को अपना लक्ष्य बनाया तथापि उग्रवादी महात्मा गांधी के इस सिद्धान्त से कि साधनों की पवित्रता पर साध्य की पवित्रता निर्भर रहती है मतभेद रखते थे। वे मैक्यावली के इस सिद्धान्त को मानते थे कि साधनों का औचित्य साध्य पर निर्भर रहता है (end justifies the means)। उनका साध्य स्वराज्य प्राप्ति था उसे किसी भी प्रकार प्राप्त करना ही वे अपना प्रमुख लक्ष्य मानते थे।

(5) उग्रवादी ब्रिटिश शासकों की न्यायप्रियता तथा ईमानदारी पर विश्वास नहीं रखते थे। उनके मत से अंग्रेजों ने अन्यायपूर्वक भारत में अपना साम्राज्य स्थापित किया है और वे अन्याय की नीति का अनुसरण करके ही अपनी सत्ता बनाए रखना चाहते हैं। अतः उनसे भारतवासी अपनी स्वायत्तता की मांग वैधानिक तरीकों या शान्तिपूर्ण प्रार्थनाओं के द्वारा नहीं मनवा सकते। इनका विश्वास था कि अंग्रेजों ने भारत में जो भी थोड़े से सुधार किये हैं वे भारतीयों के हितों को ध्यान में रखकर नहीं किये हैं बल्कि अपने निजी स्वार्थों को सिद्ध करने की नीयत से किये हैं। इनके पीछे भारत का आर्थिक शोषण सांस्कृतिक तथा राजनीतिक पतन निहित है। पाश्चात्य रंग में रंगकर भारत का उत्थान नहीं हो सकता। अतः स्वदेशी का प्रचार आवश्यक है। पाश्चात्य शिक्षा के स्थान पर राष्ट्रीय शिक्षा की योजना कार्यान्वित करनी चाहिए।

(6) उग्रवादियों ने अपने आन्दोलन का प्रचार करने के निमित्त प्रेस का पर्याप्त प्रयोग किया। समाचार-पत्रों में तिलक लाजपतराय विपिन चन्द्र पाल स्वामी विवेकानन्द के भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त आदि ने जनता में राष्ट्रीय भावना की प्रेरणा देने वाले लेख लिखे। इसी के साथ साथ इन नेताओं ने हिन्दू धर्म-दर्शन तथा संस्कृति की महानता का प्रचार भी किया। ये सभी नेता धार्मिक दृष्टि से कट्टर हिन्दू थे। अतः हिन्दू धर्म की शिक्षाओं के द्वारा भी इन नेताओं ने भारत में राष्ट्रवाद को उग्र बनाने का प्रयास किया ताकि धर्म के नाम पर हिन्दू जनता अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तैयार हो सके।

XVI उग्रवादी राष्ट्रीयता के प्रमुख नेता

लोकमान्य बाल गगाधर तिलक (1856–1920)

भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम के सेनानियो मे बाल गगाधर तिलक का नाम सबसे प्रमुख महारथियो की श्रेणी मे आता है। महाराष्ट्र की इस महान् विभूति का जन्म 1856 मे भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम से एक वर्ष पूर्व उसी चितपावन ब्राह्मण परिवार मे हुआ था, जिसमे गोखले इनके दस वर्ष पश्चात् उत्पन्न हुए थे। तिलक महाराष्ट्र के उस वीर स्वातन्त्र्य-प्रेमी महारथी शिवाजी की प्रतिमूर्ति थे जिसने शक्तिशाली मुगल सम्राट औरगजेब के दाँत खट्टे किये थे। जिस प्रकार छत्रपति शिवाजी मुगल सम्राट औरगजेब के मार्ग मे सदा एक काँटे की तरह बने रहे उसी प्रकार तिलक भी भारत मे ब्रिटिश साम्राज्यशाही के शरीर मे निरन्तर चुभने वाले काँटे की भाँति बने रहे। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का आरम्भ उन उदारवादी नेताओ के द्वारा किया गया था जो ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठा की भावना रखते थे, जो पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता तथा सस्कृति के उपासक थे, जो भारतीय राष्ट्रीय माँगो के सम्बन्ध मे प्रार्थना, आवेदन आदि की नीति पर चलकर ब्रिटिश सरकार के समक्ष भिक्षावृत्ति के मार्ग का अनुसरण करते थे और जिन्हे अग्रेजो की सत्यता तथा न्यायप्रियता पर विश्वास था।

परन्तु ऐसे युग मे तिलक एक उच्च कोटि के उग्रवादी नेता के रूप मे उत्पन्न हुए, जिन्हे उदारपथियो की उपर्युक्त किसी भी नीति पर सन्तोष या विश्वास नही था। वे सच्चे अर्थ मे भारतीय ही नही अपितु सच्चे हिन्दू थे। उन्हे भारत मे ब्रिटिश सरकार के अन्यायपूर्ण कृत्यो से तीव्र घृणा थी। उनका विचार था कि भारत का आर्थिक शोषण करने के लिए अग्रेजो ने भारत को राजनीतिक दासता की स्थिति मे रखा है। तिलक की सुप्रसिद्ध घोषणा थी कि 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूँगा।' यहाँ पर 'मेरा' शब्द से तिलक का अभिप्राय भारतवासियो से था, और जहाँ तक 'स्वराज्य लेकर रहूँगा', पदावली का सम्बन्ध है, तिलक कौटिल्य तथा मैकियाविली की विचारधारा के अनुसार साध्य की पवित्रता पर किसी भी साधन को को अपनाने के पक्ष मे था। तिलक का राष्ट्र-प्रेम तथा राष्ट्रवाद अनन्य था। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के हित मे वे किसी भी प्रकार के बलिदान से नही घबडाते थे।

पत्रकारिता उनके जीवन का प्रमुख व्यवसाय रहा था। उन्होने मराठी भाषा के दैनिक पत्र 'केसरी' का तथा अग्रेजी भाषा के साप्ताहिक पत्र 'मराठा' का सम्पादन करके इनके द्वारा ब्रिटिश शासन तथा नौकरशाही के कुचक्रो का विरोध करना शुरू किया। काग्रेस की स्थापना हो जाने के बाद 1889 मे वे काग्रेस मे प्रविष्ट हुए। तभी से उनकी उग्र विचारधारा के कारण तत्कालीन उदारवादी नेता उनसे घबडाने लगे। 1881 मे जब कोल्हापुर के राज्य की अव्यवस्था के सम्बन्ध मे कुछ लेख उनके पत्रो मे प्रकाशित हुए तो उसके लिए तिलक को तीन मास का कारावास भी सहना पडा। तभी से तिलक की लोकप्रियता बढ गई थी। तिलक का उद्देश्य भारत के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना था। उसके लिए उन्होने जहाँ पत्रो के द्वारा विदेशी शासन-नीति का विरोध किया, वहाँ गणपति तथा शिवाजी उत्सवो का सगठन करके जनता मे ऐसे प्रशिक्षित वीरो को उत्पन्न करने का उद्देश्य रखा जो राष्ट्र के हित मे सहयोग तथा अनुशासन से कार्य करते हुए अपना सब कुछ उत्सर्ग करने को तत्पर रहे।

जब महाराष्ट्र मे अकाल तथा प्लेग फैला और प्लेग कमिश्नर मिस्टर रैड की हत्या करने वाले अभियोगी को फासी की सजा दी गयी तो तिलक ने अपने पत्रो द्वारा सरकार की प्लग निवारक नीति तथा उसके सम्बन्ध मे प्रशासनिक अधिकारियो की दमनकारी गतिविधियो की तीव्र आलोचना की थी। परन्तु तत्कालीन सरकार ने, जो तिलक को सदैव अपना प्रथम कोटि का शत्रु मानती थी, तिलक के विरुद्ध रैड की हत्या के षड्यन्त्र का आरोप लगाया। यद्यपि तिलक ने अपने पत्रो द्वारा तथा न्यायालय मे भी इस हत्या मे अपने किसी भी प्रकार के सम्बन्ध न होने की सफाई

गी तथापि 1897 म सरकार ने उन्हे 18 मास के कठोर कारावास की सजा द दी। सरकार क इस अन्यायपूर्ण कृत्य के कारण तिलक की प्रतिष्ठा महाराष्ट्र म ही नहा अपितु सारे देश म फल गयी। यहा पर यह भी स्मरणीय है कि गोखले ने इस अवसर पर लन्दन म भारत के ब्रिटिश शासकों क विरुद्ध कई बात कही थी। परन्तु भारत लौटने पर उन्होंने अपने उन शब्दों को वापिस ले लिया जबकि तिलक ने जेल जाना पसन्द किया। तिलक को केवल एक वर्ष बाद ही मुक्त कर दिया गया। परन्तु यह शर्त लगा दी गयी कि यदि वे ऐसे राजनीतिक द्रोहों म पुन भाग लेंगे तो 6 माह की शेष अवधि उनके आगे के दण्ड म जोड दी जायगी।

1899 मे निरन्तर तिलक कांग्रेस क ऊपर यह दबाव डालते रहे कि वह अपनी नरम नीति को छोडे। परन्तु कांग्रेसी नेता तिलक स सहमत नहीं हुए। 1899 के *कांग्रेस अधिवेशन म तिलक* ने लार्ड सण्डस्ट के अन्यायपूर्ण प्रशासनिक रवैये के विरुद्ध प्रस्ताव पास कराने का प्रयास किया परन्तु कांग्रेस राजी नहीं हुई। कांग्रेस के अन्तर्गत तिलक क प्रमुख साथी विपिनचन्द्र पाल तथा लाला लाजपतराय क अतिरिक्त बहुत थोडे से व्यक्तियों का गुट था। लार्ड कर्जन की शासन नीति तथा बंग विच्छेद के कारण जो देशव्यापी असन्तोष उत्पन्न हुआ उसके कारण तिलक के साथियों की संख्या म वृद्धि हुई। 1906 के कांग्रेस अधिवेशन म उग्रवादियों की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर कांग्रेस ने उन्हें दबाने क उद्देश्य स दादाभाई नौरोजी को कांग्रेस अध्यक्ष चुना क्योंकि *नौरोजी सदृश वयोवृद्ध नेता क विरोध म कोई भी उग्रवादी उम्मीदवार खडा नहीं होता।* परन्तु 1907 म सूरत अधिवेशन म तिलक तथा उनके दल की शक्ति बहुत बढ गयी थी। परिणामस्वरूप बडे हंगामे तथा विद्रोह के वातावरण म वह अधिवेशन उग्र तथा उदार दल के मध्य संघर्ष को व्यक्त कर देने के लिए ही हुआ। 1907 म कांग्रेस ने अपने संविधान म जो संशोधन किया उसके अनुसार तिलक क उग्र दल क नेताओं क लिए कांग्रेस की सदस्यता का द्वार बन्द हो गया। यद्यपि 1906 म तिलक का दल कांग्रेस सभापतित्व को प्राप्त करने म सफल नहीं हुआ था। तथापि यह सब तिलक का ही प्रभाव था कि उस अधिवेशन म कांग्रेस को स्वराज्य स्वदेशी बहिष्कार तथा *राष्ट्रीय शिक्षा सम्बन्धी अपने उद्देश्यों की घोषणा करनी पडी।*

कांग्रेस से अलग हो जाने पर भी तिलक का उग्रवादी आन्दोलन कम नहीं हुआ। इस अवधि म बंग विच्छेद तथा मुस्लिम लीग की स्थापना के कारण साम्प्रदायिकता को उकसाना और शासन सुधार के मसविदा पर विचार करना ब्रिटिश शासन की नीति के प्रमुख तत्त्व रहे। इन मामलों म ब्रिटिश शासन के रवैया की तिलक निन्दा करते जा रहे थे। ब्रिटिश सरकार तिलक स बचना चाहती थी। कांग्रेस से वे पृथक हो चुके थे। अत 1908 म ब्रिटिश सरकार ने उनके ऊपर राजद्रोह का आरोप लगाकर उन्हें 6 वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया जिसके साथ *साथ पिछले 6 माह की कारावास की शेष अवधि भी जोड दी गयी। उन्हें बरमा स्थित माडला* जेल भेज दिया गया। उन्हें प्रीवी कौंसिल म अपील करने की अनुमति तक नहीं दी गयी। बाद म उनके कारावास को कठोर न करके साधारण कर दिया गया। परन्तु माण्डला जेल म जेल-अधिकारी तिलक के ऊपर कडी नजर रखते थे। तिलक के इस प्रवास से भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को बडा धक्का लगा। परन्तु उनका यह प्रवास एक दृष्टि से वरदान सिद्ध हुआ। भले ही उन्हें अध्ययन कार्य के निमित्त वांछित साधन उपलब्ध नहीं कराये गये तथापि उनके जीवन की एक महान् अभिलाषा पूर्ण हुई जिसे वे सक्रिय सार्वजनिक जीवन म रहते हुए पूर्ण नहीं कर सकते थे। वहाँ उन्होंने अपने दो प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की। प्रथम था दी आर्कटिक होम आफ दी वेदाज और दूसरा था गीता रहस्य। इन ग्रन्थों की रचना से यह सिद्ध हो गया कि तिलक भारतीय संस्कृति तथा वेद शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित भी थे। इसी अवधि म उनकी धर्मपत्नी का देहावसान भी हुआ परन्तु तिलक अपनी वैयक्तिक तथा गृह-परिस्थितियों की परेशानियों के बावजूद सरकार के समक्ष नहीं झुके। 1914 म जब महायुद्ध छिड गया और राजनीतिक वातावरण भी कुछ बदल गया तो कारावास की अवधि पूर्ण होने स कुछ समय पूर्व तिलक को छोड दिया गया।

परन्तु इस कारावास ने तिलक को राष्ट्रसेवा के लिए और अधिक प्रोत्साहन दिया। जेल से मुक्त होते ही उन्होंने पुन अपने को स्वराज्य आन्दोलन मे डाल दिया। 1915 मे राष्ट्रीय नेतृत्व का अवसान प्रारम्भ होने लगा था। गोखले की मृत्यु होने पर उनकी विचारधारा से तीव्र विरोध रखते हुए भी तिलक ने उन्हे भाव-भीनी श्रद्धाजलि अर्पित की और उनकी राष्ट्रसेवा के लिए उनकी भूरि-भूरि प्रशन्सा की। 1916 मे काग्रेस दलो के मध्य एकता हो जाने पर पुन तिलक काग्रेस मे आ गये। इस वार तिलक को श्रीमती ऐनी बेसेंट के होम रूल आन्दोलन से पर्याप्त प्रेरणा मिली। दोनो के सहयोग से होम रूल लीग की स्थापना की गयी। इस आन्दोलन का नेतृत्व करने तथा आजीवन राष्ट्र की सेवाओ मे रत रहने के कारण सारे देश मे उनकी लोकप्रियता बढ गयी थी और इसीलिए भारतवासी उन्हे 'लोकमान्य' तिलक के नाम से जानते है। होम रूल आन्दोलन की अवधि मे तिलक को महाराष्ट्र का ही नही, अपितु समूचे भारत का 'वेताज का राजा' माना जाता था। इसके वाद की अवधि मे भी तिलक अपने मिशन मे कार्य करते रहे और जीवन के अन्तिम क्षणो तक देश-सेवा, देश-प्रेम, तथा स्वाधीनता के लिए प्राण-पण से कार्य करते रहे। 1 अगस्त 1920 को भारतमाता की पचास वर्ष तक सेवा करने के वाद भारत का यह प्यारा नेता इस ससार से विदा हो गया।

तिलक तथा गोखले की तुलना—तिलक के बाद उनके दल के जो नेता शेप रह गये थे उन्होंने उनसे प्रेरणा ली। लाला लाजपतराय इस श्रेणी मे आते हैं। परन्तु 1920 के पश्चात् राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व गाधीजी के हाथ मे आ गया। गाधी गोखले के शिष्य थे अथवा तिलक के, यह स्पष्टतया बता सकना कठिन है, क्योकि उनकी विचारधारा तथा कार्यप्रणाली मे दोनो की छाप वनी रही। गोखले तथा तिलक के सम्बन्ध मे स्वय गाधी जी के शब्दो मे ही उनकी धारणा व्यक्त की जा सकती है। गाधी जी ने कहा था 'लोकमान्य तिलक मुझे एक महासागर की तरह प्रतीत हुए जिसमे किसी का भी प्रविष्ट हो सकना कठिन है। परन्तु गोखले गगा की भाँति थे, जिसमे सुगमतापूर्वक गोता लगाया जा सकता है।' तिलक की विशालहृदयता, तथा निर्भीकता के समक्ष शायद ही कोई राष्ट्रीय नेता ठहर सकेगा। सी० वाई० चिन्तामणि के अनुसार माण्टेग्यू ने एक वार कहा था कि 'भारत मे केवल एक ही वास्तविक उग्र राष्ट्रवादी थे और वह थे तिलक। सचमुच वे 'महाराष्ट्र केसरी' ही नही अपितु 'भारत केसरी' थे। वह सही माने मे एक लौह-पुरुष थे और जिस कार्य मे हाथ डालते थे उसे पूर्ण करने के लिए साधनो की खोज करना उनके लिए कठिन कार्य नही था। गोखले तथा तिलक दोनो राष्ट्रीय आन्दोलन के महाराष्ट्रीय नेता थे, दोनो के अन्तिम उद्देश्यो मे समानता होने के साथ-साथ साधनो मे इतनी भिन्नता थी कि बहुधा दोनो को एक दूसरे का विरोधी माना जाता है। परन्तु वास्तव मे दोनो एक-दूसरे के पूरक थे। इस समानता तथा अन्तर को पट्टाभि सीतारामैया के शब्दो मे व्यक्त करना अधिक उपयुक्त होगा 'तिलक तथा गोखले दोनो महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे, दोनो एक ही चितपावन वश के थे। दोनो प्रथम श्रेणी के देशभक्त थे। दोनो ने अपने जीवन मे महान् वलिदान किया। परन्तु दोनो के स्वभाव एक दूसरे से वहुत भिन्न थे। यदि हम उस युग की प्रचलित शब्दावली का प्रयोग करे तो हमे गोखले को 'उदारवादी' तथा तिलक को 'उग्रवादी' कहना पडेगा। गोखले की योजना निवर्तमान सविधान को सुधारने की थी, तिलक उसका पुनर्निर्माण करना चाहते थे। गोखले आवश्यक रूप से नौकरशाही के साथ सहचार करना चाहते थे, तिलक आवश्यक रूप से उससे लडना चाहते थे। गोखले का उद्देश्य था जहा सम्भव हो, सहयोग से कार्य किया जाये और जहाँ आवश्यक हो, विरोध किया जाये, तिलक का झुकाव प्रतिरोध की नीति पर था। गोखले का सम्बन्ध मुख्यत प्रशासन तथा उसके सुधार के साथ था, तिलक की सर्वोच्च धारणा राष्ट्र तथा उसका निर्माण करना था। गोखले का आदर्श प्रेम तथा त्याग था, तिलक का आदर्श सेवा तथा कष्ट सहन करना था। गोखले विदेशियो पर विजय प्राप्त करने की आकाक्षा रखते थे, तिलक उन्हे हटाना चाहते थे। गोखले दूसरो की सहायता पर निर्भर रहते थे, तिलक आत्म-निर्भरता पर जोर देते थे। गोखले की दृष्टि

विशिष्ट वग या शिक्षित वग पर थी तिलक आम जनता तथा करोडो भारतीयो पर दृष्टि रखत थ। गोखले का काय क्षेत्र विधान परिषद थी तिलक का विचार स्थल गाव का मण्डप था। गोखले का माध्यम अग्रजी भाषा थी तिलक का माध्यम मराठी भाषा। गोखले का उद्देश्य ऐसा स्वायत्त शासन प्राप्त करना था जिसके लिए जनता को अग्रेजो द्वारा निर्धारित शर्तों के अन्तगत अपने योग्य सिद्ध करना पडेगा तिलक का उद्देश्य स्वराज्य था जिसे व प्रत्येक भारतीय का जन्मसिद्ध अधिकार कहत थे जिसकी प्राप्ति उन्हे बिना किसी प्रकार के विदेशी दबाव या अवरोध के करनी पडेगी। गोखले अपने युग के साथ थ तिलक अपने युग से आगे बढ चुके थ।[1]

इन दोनो महान् नेताओ की तुलना का उपयुक्त विवरण इतना स्पष्ट है कि इससे आगे और कुछ कहना शेष नहीं रह जाता। निस्सन्देह तिलक अपने युग से आगे बढ गये थ। यदि व 1920 के उपरान्त की अवधि म जीवित रहते तो निस्सन्देह राष्ट्रीय आन्दोलन म उनका प्रभाव कहीं अधिक महान् हो जाता। उनके अपने युग म उनकी नीतियो का समथन स्वय राष्ट्रीय नेताओ के द्वारा नहीं किया गया। साथ ही उस समय ब्रिटिश सत्ता इतनी सुदृढ थी कि उसने तिलक के आन्दोलन को दबाने म तथा उन्हे दीघ अवधि तक प्रवास म रखकर आन्दोलन को तीव्र तथा उग्र बनाने से बचा लिया। परन्तु तिलक ने राष्ट्रीय आन्दोलन म वह जान भर दी जिसने ब्रिटिश नौकरशाही को निरन्तर सचेत रखा और भविष्य के नेताओ को ब्रिटिश साम्राज्यशाही के विरुद्ध सघष करने की प्रेरणा देकर देश के राष्ट्रीय आन्दोलन म एक नया जीवन भर दिया। यद्यपि जिस अवधि म तिलक राष्ट्रीय आन्दोलन को वास्तविक स्वरूप प्रदान करत उस अवधि म सरकार ने उन्हे लम्बी कारावास की स्थिति म रख दिया था तथापि उन्होने उस अवधि का सदुपयोग करके राष्ट्र की बहुमूल्य सेवा की। साथ ही उनके कारावास दण्ड के कारण उनकी लोकप्रियता बढी और राष्ट्र के जनमानस की चेतना का भी विकास हुआ।

2 लाला लाजपतराय (1865–1928)

यदि लोकमान्य तिलक को महाराष्ट्र केसरी कहा गया है तो उनके समकालीन तथा समकक्ष नेता लाला लाजपतराय को पजाब केसरी कहा जाता है। तिलक की भाति ही लाला लाजपतराय भी स्वतन्त्रता सग्राम के प्रमुख उग्रवादी राष्ट्रीय नेता थे। व न केवल एक राजनीतिक नेता थ अपितु एक उच्च कोटि के शिक्षा प्रेमी हिन्दू धम के कट्टर समथक परन्तु साम्प्रदायिक सहिष्णुतावादी अपने युग के महान् व्याख्यानदाता देशभक्त तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के अनन्य पुजारी थे। वे 1888 म काग्रेस म प्रविष्ट हुए थ। तिलक की भाति व भी उदारवादियो की राजनीतिक भिक्षावृत्ति की नीति के विरोधी थ। अतएव तिलक तथा विपिन चन्द्र पाल के साथ उन्होने काग्रेस के अन्दर राष्ट्रवादी दल की स्थापना करने म महत्त्वपूर्ण भाग लिया। काग्रेस म प्रवेश करत ही उन्होने उर्दू म जो भाषण दिया था उसने उन्हे अपने युग के सर्वोत्तम सावजनिक वक्ता के रूप म सिद्ध कर दिया। सी वाई चिन्तामणि का मत है कि एक सावजनिक वक्ता के रूप म लाला लाजपतराय लायड जाज के समकक्ष थ उनमे जनता-जनता के मध्य अपने विचारो के प्रति जागृति उत्पन्न करने की अतीव प्रतिभा थी।

लाला लाजपतराय एक हिन्दू राष्ट्रवादी थ। परन्तु साथ ही व हिन्दु मुस्लिम एकता के भी समथक थे। उनके ऊपर स्वामी दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओ का प्रभाव था अत आय समाज के प्रचार म उन्होने बहुत अधिक अभिरुचि दर्शायी। वे महान् शिक्षाप्रेमी थ। उन्होने लाहौर म डी ए वी कालेज की स्थापना की और 1888 के काग्रेस अधिवेशन म यह प्रस्ताव रखा कि

[1] Sitaramayya *op cit* 99

[2] डी ए वी का पूरा रूप दयानन्द एग्लो वैदिक है। इस नाम स स्पष्ट होता है कि स्वामी दयानन्द तथा उनके शिष्य आग्ल भाषा के विरोधी न थे। परन्तु व शिक्षा को राष्ट्रीय रूप देना चाहते थ जो वैदिक परम्पराओ पर निर्मित हो।

काग्रेस को कम से कम आधा दिन शिक्षा तथा उद्योग-धन्धो की समस्या पर विचार करने मे लगाना चाहिए । लालाजी पाश्चात्य सस्कृति की अपेक्षा भारतीय सस्कृति की श्रेष्ठता के समर्थक थे । इन गुणो के अतिरिक्त वे एक उच्च कोटि के पत्रकार भी थे । उन्होने पजाबी, वन्देमातरम् तथा जनता (The People) पत्रो का प्रकाशन तथा सम्पादन किया ।

1906 मे लाला जी को गोखले के साथ काग्रेस ने एक शिष्ट-मण्डल के सदस्य के रूप मे इग्लैण्ड भेजा, जिसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार के समक्ष भारतीय दृष्टिकोण को रखना था । परन्तु जब इस मिशन मे उन्हे निराश होकर लौटना पडा तो लाला जी ने अपने देशवासियो को बताया कि उदारवादियो की नीति का अनुसरण करके देश का कोई हित नही हो सकेगा । अत देशवासियो को आत्म-विश्वास तथा आत्म-निर्भरता की नीति अपनाकर देश की स्वतन्त्रता के लिए सघर्ष करना पडेगा । मातृभूमि के हित मे हमे किसी भी प्रकार का त्याग करने के लिए तैयार रहना चाहिए । 1907 मे, जब उग्रवादी आन्दोलन जोर पकड रहा था तो पजाब मे भूमि सुधार सम्बन्धी शासन नीति का घोर विरोध करने के आरोप मे लाला जी को सरदार अजीतसिंह के साथ देश निकाले की सजा दी गयी । परन्तु छ मास पश्चात् उन्हे मुक्त कर दिया गया । 1907 के सूरत अधिवेशन मे जब उग्र तथा नरम दल का सघर्ष चरम सीमा पर पहुँच गया, तो तिलक ने लाला जी का नाम काग्रेस अध्यक्ष पद के लिए प्रस्तावित किया । इस अवसर पर गोखले ने यह चेतावनी दी कि 'यदि आप सरकार की अवज्ञा करेगे तो सरकार आपको और अधिक दबायेगी ।'[1] यद्यपि लाला जी इस दृष्टिकोण की परवाह नही करते थे, तथापि उन्होने अपना नाम इसलिए वापिस ले लिया कि कही दोनो दलो के मध्य कटुता बहुत न बढ जाए । 1908 मे तिलक के कारावास के उपरान्त लाला जी को भी निर्वासित कर दिया गया । जब वे वापिस आये तो उनके पीछे खुफिया दल इस प्रकार घूमने लगा कि लाला जी ने भारत से बाहर चला जाना पसन्द किया । 1914–16 की अवधि मे वे अमरीका मे रहे । वहाँ उन्होने अपनी पुस्तक 'यग इण्डिया' लिखी, जिसका भारत तथा इग्लैण्ड मे प्रसारण बन्द कर दिया गया था । 1920 के काग्रेस अधिवेशन मे लाला जी को काग्रेस अध्यक्ष चुना गया ।

लाला लाजपतराय असहयोग आन्दोलन के समर्थक नही थे । सीतारामैया के शब्दो मे 'वह एक सत्याग्रही नही अपितु एक योद्धा थे । उनकी दृष्टि मे सविनय अवज्ञा निष्क्रिय प्रतिरोध से पृथक् अन्य कोई अर्थ नही रखती ।' लाला जी भारतवासियो के विधान परिषदो मे प्रविष्ट होने की नीति के समर्थक थे । 1920 मे उन्हे केन्द्रीय विधान-परिषद् के लिए चुना गया था । वहाँ वे स्वराज्य दल के उपनेता रहे । परन्तु बाद मे वे इस दल से अलग हो गये और मदनमोहन मालवीय जी के सहयोग से उन्होने राष्ट्रवादी दल की स्थापना की ।

1928 मे जब भारत मे साइमन कमीशन के विरुद्ध तीव्र आन्दोलन चल रहा था तो लाला जी ने भी इसमे भाग लिया । इसे दबाने मे पुलिस ने जो दानवीय रवैया अपनाया उसमे लाला जी को भीषण लाठी-प्रहार का सामना करना पडा । परिणामस्वरूप कुछ ही दिनो के बाद उनकी मृत्यु हो गयी । जिस दिन उस गोरे सार्जेण्ट ने उनके ऊपर लाठी चलायी थी, उस दिन सायकाल अपने भाषण मे लाला जी ने जो शब्द कहे थे वे चिरस्मरणीय हैं । उन्होने कहा था 'मेरे ऊपर किया गया लाठी का एक-एक प्रहार एक दिन ब्रिटिश साम्राज्य की अर्थी की एक-एक कील के रूप मे सिद्ध होगा ।' भारत को अपने स्वतन्त्रता सग्राम के इस महान् योद्धा, देशभक्त, शिक्षाशास्त्री, वक्ता, समाज सुधारक तथा त्यागी नेता पर गर्व करके, उनके जीवन मे शिक्षा लेनी चाहिए ।

3 विपिन चन्द्र पाल (1859–1932)

उग्र राष्ट्रवादी नेताओ की त्रयी मे लोकमान्य बाल गगाधर तिलक, लाला लाजपतराय

[1] 'If you flout the government, Government will throttle you Gokhale

तथा विपिन चन्द्र पाल को बाल लाल पाल के नाम से सम्बोधित करने की परम्परा बनी हुई है। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के निर्माण में पंजाब में लाला लाजपत राय महाराष्ट्र में बाल गंगाधर तिलक तथा बंगाल में विपिन चन्द्र पाल तीन कोण बिन्दुओं का स्थान लेने वाले है। बंगाल ने राष्ट्रीय आन्दोलन की अवधि में जहां सुरेन्द्रनाथ बनर्जी सदृश उदारवादियों को जन्म दिया है वहां विपिन चन्द्र पाल अरविन्द घोष मानवेन्द्र राय सुभाष चन्द्र बोस सदृश क्रांतिकारियों को भी पैदा किया है। वास्तव में जितने क्रांतिकारी नेता बंगाल ने पैदा किये है उतने शायद ही देश के किसी अन्य भागों में उत्पन्न हुए होंगे। विपिन चन्द्र पाल तिलक गुट के राष्ट्रवादी नेता थे।

विपिन बाबू न केवल एक राष्ट्रवादी नेता ही थे अपितु एक दार्शनिक तथा पत्रकार भी थे। उन्होंने राष्ट्रवाद की व्याख्या सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के रूप में की है। वे एक अन्तर्राष्ट्रीयतावादी विचारक थे। उन्होंने विभिन्न पत्र पत्रिकाओं से अपना सम्बन्ध रखा और उनके माध्यम से अपने राष्ट्रवादी एवं राजनीतिक विचारों को व्यक्त किया। प्रारम्भ में वे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की भांति उदारवादी नेता थे। परन्तु उनके राष्ट्रवादी विचार उन्हें अधिक समय तक उदारवादी नहीं रख सके। कांग्रेस से उनका सम्पर्क प्रारम्भ में ही बन गया था। बाद में वे महात्मा अरविन्द घोष के पत्र वन्देमातरम् से सम्बद्ध हो गये। उन पर अरविन्द के क्रांतिकारी विचारों का भी प्रभाव पड़ा। वे न्यू इण्डिया पत्र का भी सम्पादन कुछ काल तक हो करते रहे।

1902 के उपरान्त उनके विचारों में उग्रवादिता आने लगी उन्होंने बंग विच्छेद के सरकारी निर्णय का घोर विरोध किया और जब कांग्रेसियों ने 1906 में स्वराज्य को अपना उद्देश्य घोषित कर दिया तो विपिन बाबू ने स्वदेशी बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा के कार्यक्रम का प्रचार करने के लिए बंगाल का व्यापक दौरा किया। 1907 में जब मद्रास में जाकर उन्होंने अपना राष्ट्रीय आन्दोलन जारी किया तो उनके प्रभाव से जनता में नयी चेतना उत्पन्न होने लगी। तत्कालीन मद्रास की सरकार इसे सहन नहीं कर सकी और उसने विपिन बाबू के मद्रास में निवास पर पाबन्दी लगा दी। एक बार जब अरविन्द घोष के ऊपर उनके पत्र वन्देमातरम् में प्रकाशित लेखों के सम्बन्ध में अभियोग चल रहा था तो विपिन बाबू को उसमें गवाही देने के लिए बुलाया गया। विपिन बाबू जानते थे कि उनकी गवाही से अरविन्द पर आरोप सिद्ध हो जायगा। अतः उन्होंने न्यायालय में किसी भी प्रश्न का उत्तर देने से इनकार कर दिया। इस पर न्यायालय की मानहानि के आरोप में उन्हें छः माह का कठोर कारावास दण्ड दे दिया गया। 1908 में वे ब्रिटेन में रहे वहां कुछ क्रांतिकारी कार्यकर्त्ताओं के आमन्त्रण पर इंगलैण्ड गये। वहां से लौटने पर उनके एक लेख के सम्बन्ध में उन पर अभियोग चलाया गया। परन्तु इस अवसर पर उन्होंने क्षमायाचना कर ली। सीतारामय्या के मत से इसके बाद विपिन चन्द्र पाल की लोकप्रियता कम हो गयी क्योंकि उनका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी हो चला था।

1907 से 1916 तक वे भी कांग्रेस से पृथक रहे। उसके उपरान्त कुछ वर्ष तक कांग्रेस में रहने पर 1921 में फिर उससे अलग हो गये क्योंकि वे गांधी जी के असहयोग आन्दोलन के समर्थक नहीं थे। वे विधान परिषदों के बहिष्कार तथा विदेशी वस्त्रों की होली जलाने की नीति से भी सन्तुष्ट नहीं थे। बाद के 11 वर्षों में उनका राजनीतिक जीवन लगभग निष्क्रिय रहा। 1932 में उनकी मृत्यु हो गयी।

4 श्रीमती ऐनी बेसेंट

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं में आइरिश महिला श्रीमती एनी बेसेन्ट का नाम चिरस्मरणीय है। वे 1893 में थियोसाफिकल सोसाइटी की एक सदस्या के रूप में भारत आयी थी। इस संगठन का मुख्य उद्देश्य धार्मिक सामाजिक तथा शैक्षिक विकास था। 20 वर्ष तक श्रीमती एनी बसेंट भारत में इसी क्षेत्र में कार्य करती रही और थियोसाफिकल सोसाइटी की भारतीय शाखा की अध्यक्षा रही। उन्होंने भारतीय धर्म ग्रन्थों वेद उपनिषद् तथा श्रीमद्भगवद्गीता का

अध्ययन किया। अन्त मे उन्होने यह घोषित किया कि हिन्दू धर्म पाश्चात्य धर्मो की तुलना मे श्रेष्ठतम है। उन्होने स्वय भी हिन्दू धर्म को अपनाया वे एक विदुषी सार्वजनिक वक्ता तथा कर्मठ महिला थी। उन्होने सम्पूर्ण देश का भ्रमण किया और अपने को लोकप्रिय बनाया। उनके द्वारा किया गया श्रीमद्भगवद्गीता का अग्रेजी अनुवाद इस रूप की सर्वप्रथम तथा जनप्रिय रचना सिद्ध हुई थी। इस प्रकार ऐनी बेसेट ने हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान मे स्वामी दयानन्द, तिलक, स्वामी विवेकानन्द तथा अरविन्द घोष के समान कार्य किया।

श्रीमती बेसेट ने सामाजिक सुधार कार्यो मे भी अतीव रुचि दर्शायी। वे बाल-विवाह की कट्टर विरोधी थी, साथ ही महिलाओ को विधवा जीवन व्यतीत करने को विवश करने की प्रथा का भी उन्होने विरोध किया। वे महिलाओ को पुरुषो के तुल्य सामाजिक स्थिति प्रदान करने की समर्थक थी। शिक्षा के क्षेत्र मे भी वे राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति की समर्थक थी। उन्होने बनारस मे सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना करवायी, जो कालान्तर मे मदनमोहन मालवीय जी के अथक् परिश्रम तथा प्रयासो से हिन्दू विश्वविद्यालय बन गया।

1908 से 1913 की अवधि मे वे इग्लेण्ड गयी। वहाँ उस समय आयरलैण्ड मे होम रूल आन्दोलन चला हुआ था। चूँकि बेसेट इस अवधि मे भारतीयता के रग मे रग चुकी थी, और यद्यपि वे भारतीय राजनीतिक जीवन मे सक्रिय रूप से प्रविष्ट नही हुई थी, तथापि यहाँ के राष्ट्रीय आन्दोलन का उन्हे अच्छा ज्ञान हो चुका था। उन्हे लगा कि राजनीतिक पराधीनता भारतवासियो के जीवन के विभिन्न क्षेत्रो में उनकी अवनति का मुख्य कारण है। अत उनके मन मे यह विचार उत्पन्न हुआ कि भारत मे भी होम रूल आन्दोलन सफलतापूर्वक चलाया जा सकता है। इग्लेण्ड से भारत लौटने पर 1914 मे उन्होने अपना जीवन क्रम थियोसॉफी से राजनीति मे बदल लिया। उस समय तिलक भी जेल से छूट चुके थे। भारत मे स्वराज्य तथा स्वदेशी आन्दोलन चला हुआ था। काग्रेस के दो दलो के सघर्ष के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति मन्द हो चुकी थी। बेसेट ने 1915 मे दोनो दलो के मध्य एकता लाने का अथक् प्रयत्न किया, परन्तु उन्हे यह सफलता 1916 मे मिली। उसी वर्ष तिलक के सहयोग मे ऐनी बेसेट ने भारतीय होम रूल लीग की स्थापना की। यद्यपि यह आन्दोलन बहुत अधिक नही चल सका, क्योकि 20 अगस्त 1917 की माटेग्यू की घोषणा के बाद यह आन्दोलन मन्द पड गया था, तथापि बेसेट के प्रयासो से राष्ट्रीय आन्दोलन मे एक नयी जागृति उत्पन्न हुई।

श्रीमती ऐनी बेसेट ने उग्रवादियो को क्रान्तिकारियो के पथ पर जाने से रोकने, उन्हे ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहकर ही स्वराज्य प्राप्त करने की प्रेरणा देने तथा उन्हे उदारवादियो के और अधिक समीप लाने मे सफलता प्राप्त की। मद्रास के दैनिक पत्र 'न्यू इण्डिया' का आरम्भ उन्ही के प्रयासो से हुआ। 1914–17 की अवधि मे वे भारत की एक उच्च कोटि की राष्ट्रीय नेता बन गयी और उनकी इन सेवाओ के परिणामस्वरूप 1917 मे उन्हे काग्रेस के अध्यक्ष पद पर चुना गया। श्रीमती बेसेट ने स्वदेशी बहिष्कार आन्दोलन को नरम बनाया। वे स्वदेशी आन्दोलन की विरोधी नही थी, परन्तु वे इसे एक राजनीतिक अस्त्र नही बनाना चाहती थी। वे ब्रिटिश माल का बहिष्कार करने की नीति को भी उचित नही समझती थी। 1916 मे उनके राष्ट्रीय आन्दोलन मे आने पर सरकार ने उन्हे उनके दो साथियो वाडिया तथा अरुण्डेल के साथ निर्वासित कर दिया। इससे उनकी लोकप्रियता और बढ गयी। जब माटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार कानून पास हुआ तो बेसेट ने यह कहकर कि 'यह सुधार इग्लेण्ड के हक मे अशोभनीय तथा भारतवासियो के हक मे अस्वीकृत करने योग्य' है उनकी भर्त्सना की। 1920 मे जब काग्रेस ने असहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव पास किया, तो श्रीमती बेसेट ने काग्रेस छोड दी।

काग्रेस से अलग हो जाने के पश्चात् वे आजन्म भारत की सेवा करती रही। उन्होने ब्रिटिश ससद के एक सदस्य मि० लैसबरी के माध्यम से 'कामनवेल्थ ऑफ इण्डिया' बिल ससद

म पेश करवाया यद्यपि यह विधेयक गिर गया तथापि इससे यह प्रकट होता है कि श्रीमती बेसेंट भारत की सच्ची मित्र थी।

5 महर्षि अरविन्द घोष (1872–1950)

मनुष्य कुछ सोचता है परन्तु होता वही है जो परमात्मा को स्वीकार्य है। इस तथ्य पर विश्वास करने वाले आधुनिक भारत के महान् दार्शनिक तथा योगिराज महर्षि अरविन्द थे जिनके जीवन में उक्त तथ्य साकार हुआ। अरविन्द घोष के पिता डा कृष्णधन बगाल के एक उच्च कोटि के चिकित्साशास्त्री थे। वे कुछ वर्षों तक इंगलैण्ड में रहे और वहां के लोगों के जीवन क्रम विचारों तथा आदर्शों के महान् प्रशंसक बन गए। भारत लौटने पर उन्होंने यही इच्छा रखी कि वे अपने बच्चों की शिक्षा दीक्षा पूर्णतया विलायत के वातावरण में करेंगे और उन्हें पक्का अंग्रेज बनाकर उच्च पदों पर नियुक्त हुआ देखेंगे। उन्होंने यही किया जब अरविंद केवल 7 वर्ष के थे तो उन्हें शिक्षा के लिए इंगलैण्ड भेज दिया गया। उन्हें भारतीयता से बिल्कुल पृथक रखा गया। वही अरविंद जब ब्रिटिश वातावरण में पले लिखे और एक उद्भट विद्वान् सिद्ध हुए तो 21 वर्ष की उम्र में भारत लौटने पर उन्होंने अपना जीवन क्रम उलट डाला और आजन्म भारतीय संस्कृति भारतीय दर्शन तथा समग्र रूप में न केवल विशुद्ध भारतीयता को अपनाया अपितु भारत को मां शक्ति के रूप में देखने तथा पूजने वाले कट्टर भारतीय बने और भारतीय आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के महानतम दार्शनिकों की श्रेणी प्राप्त की।

अठारह वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने भारतीय सिविल सेवा (I C S) की परीक्षा पास की। परन्तु इंगलैण्ड में रहते हुए उन्होंने पाश्चात्य देशों के कुछ महान् राष्ट्रवादियों मजिनी प्रभृति की रचनाएं पढ़ी थीं। भारत में हो रही राष्ट्रीय प्रगति का भी उन्हें ज्ञान प्राप्त होता रहा था। अतएव कहा जाता है कि वे भारतीय सिविल सेवा के अधिकारी बनना पसन्द नहीं करते थे क्योंकि उनके मन में भारत माता की सेवा करने की भावना जागृत हो चुकी थी। इसलिए उन्होंने केवल घुड़सवारी की परीक्षा में अपने को असफल सिद्ध करवा लिया। स्वयं इंगलैण्ड में अपने विद्यार्थी जीवन में ही उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि मातृभूमि की सेवा का सर्वप्रथम साधन उसे राजनीतिक दृष्टि से स्वाधीन करवाना है। उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के लिए अपने जीवन को अर्पित कर देने का प्रण कर लिया। उस समय जब वे भारत लौटे तो उनकी व्यक्तिगत आर्थिक स्थिति निर्बल हो चुकी थी। अतः उन्हें आजीविका का कोई साधन ढूंढना था। वे बड़ौदा नरेश की सेवा में प्रविष्ट हुए। 1893 से 1906 तक वे वहां विविध प्रशासनिक एवं शैक्षणिक संस्थाओं में कार्य करते रहे। यह 13 वर्ष का जीवन उन्होंने मुख्यतया भारत के महानतम ग्रंथों तथा भारत की प्राचीन संस्कृति के अध्ययन में लगाया और उसके प्रभाव से वे पक्के भारतीय बन गये। इसी अवधि में भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता के आन्दोलनकारी संगठन कांग्रेस के साथ उन्होंने अपना सम्पर्क बनाया। वे इसके कई अधिवेशनों में शामिल हुए। 1906 में उन्होंने बड़ौदा नरेश की सेवा छोड़ दी।

राष्ट्रीय आन्दोलन के तत्कालीन उदारवादी नेताओं की राजनीतिक भिक्षावृत्ति की नीति से अरविंद बहुत चिढ़ गये। वे तिलक तथा विपिन चन्द्र पाल की धारणाओं को उचित समझते थे। बड़ौदा रहते हुए उन्होंने योगाभ्यास भी किया था। उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद को आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्त किया और राजनीति एवं अध्यात्मवाद के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध दर्शाया। उनके राजनीतिक विचार सर्वप्रथम बम्बई से प्रकाशित होने वाली पत्रिका इन्दु प्रकाश में एक लेखमाला के रूप में New Lamps for Old शीर्षक से प्रकाशित हुए। इनमें उन्होंने उदारवादी नीतियों की कटु आलोचना करके क्रान्तिकारी कार्य-कलापों के महत्त्व को स्वाधीनता संघर्ष के निमित्त उचित ठहराया और इसके लिए तैयार रहने के निमित्त जनता का आह्वान किया। वे सशस्त्र विद्रोह द्वारा देश को स्वतन्त्र कराने के समर्थक थे। उन्होंने क्रान्तिकारियों के गुप्त संगठनों

को भी सगठित करने का प्रोत्साहन दिया। इस कार्य मे उन्हे उनके भाई बारीन्द्र घोष का भी महचार प्राप्त था। वस्तुत बीसवी सदी के क्रान्तिकारी आतकवादी आन्दोलन का सूत्रपात अरविंद के कार्यकलापो से ही हुआ माना जाना चाहिए।[1]

बीसवी सदी का प्रथम दशक भारतीय राजनीति के अन्तर्गत भारतवासियो मे ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध भारी असन्तोष का काल था। बगाल इस आन्दोलन का मुख्य केन्द्र था। लार्ड कर्जन की नीतियो ने इस असन्तोष मे आग के ऊपर घी डालने का कार्य कर दिया था। तिलक, बिपिन चन्द्र पाल तथा लाला लाजपतराय इस उग्र राष्ट्रीयता के सक्रिय नेता थे। बग-विच्छेद की घटना ने इस आक्रोश को चरम सीमा पर पहुँचा दिया था। स्वदेशी, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा के कार्यक्रम द्वारा स्वराज्य की प्राप्ति को राष्ट्रीय आन्दोलन का लक्ष्य घोषित कर दिया गया था। अरविंद सदृश क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी विचारो के व्यक्ति को अब बडौदा नरेश की सेवा से कोई अभिरुचि नही रह गयी, अत 1906 मे वे वहाँ से नोकरी छोडकर स्वतन्त्रता आन्दोलन मे शामिल हो गये। अरविंद ने अपने जीवन का लक्ष्य देश-सेवा, देश की स्वतन्त्रता के लिए कार्य करना तथा जन-सेवा मे अपने जीवन को लगाना बना लिया। वे देश को माता के तुल्य मानने लगे। उसकी सेवा मे ही वे परमात्मा की प्राप्ति सम्भव समझते थे। उनकी यह धारणा थी कि उन्हे जो भी शक्ति अथवा क्षमता प्राप्त है वह परमात्मा ने उन्हे देश-सेवा के लिये प्रदान की हैं। उमे भारत माता की सेवा मे लगाकर तन-मन से कार्य करके उन्हे ईश्वर के दर्शन हो सकते है। उन्होने अनुभव किया कि ब्रिटिश शासन रुपी दैत्य भारत माता का रक्त चूस रहा है। उस दैत्य के मुँह से माता को मुक्त करना उसकी सन्तान का कर्त्तव्य है। अरविद ने यह भी निष्कर्ष निकाला कि राष्ट्र (भारत माता) को विदेशी प्रभुत्व से मुक्त कराने के लिए शस्त्र बल सम्भव नही है, अत ज्ञान के बल से उसे मुक्त कराया जा सकता है। अरविद के विचारो से तत्कालीन उदारवादी नेता बहुत व्यग्र हुए। बाल-लाल-पाल तो उनके विरोधी थे ही इसलिए अरविंद उनके कट्टर सहयोगी बन गये। राष्ट्रीय शिक्षा के निमित्त उन्होने एक छोटे से वेतन पर 'नए राष्ट्रीय स्कूल' के प्रधानाचार्य का पद ग्रहण किया। राष्ट्रीय चेतना के प्रसार के लिए उन्होने 'वन्देमातरम्' पत्रिका का सह-सम्पादक बनना स्वीकार कर लिया। अपने लेखो तथा भाषणो मे उन्होने राष्ट्रवाद को आध्यात्मिक रूप प्रदान करके जनता मे राष्ट्रभक्ति का प्रचार किया। उन्होने राष्ट्रवाद को ईश्वर के रूप मे विकसित किया।

अलीपुर बम-काण्ड मे उन्हे तथा उनके भाई बारीन्द्र को वन्दी बनाया गया। 1 वर्ष तक वे वन्दी बने रहे। परन्तु उनके ऊपर सन्देह का आरोप सिद्ध नही हो पाया। अत उन्हे छोड दिया गया। परन्तु उनकी क्रान्तिकारी गतिविधियो के प्रति सरकार निरन्तर शकालु बनी रही। जेल से निकलने पर अरविन्द ने अनुभव किया कि सरकार ने सभी राष्ट्रवादी नेताओ तथा कार्यकर्ताओ को वन्दी बना लिया था। जेल मे भी वे निरन्तर योगाभ्यास तथा गहन चिन्तन मे लीन रहते थे। वहाँ उन्होने गीता का विशेष अध्ययन किया था। अब भी वे स्वतन्त्रता सघर्ष को जारी रखने के लिए कृत-सकल्प थे। अत उन्होने जनशिक्षा के लिए 'कर्मयोग' तथा 'धर्म' नाम के दो पत्र निकाले। सरकार भी उनके पीछे पड गयी। ऐसी स्थिति मे उन्होने देखा कि अब उनके लिए ब्रिटिश प्रभुत्व के आधीन वाली भूमि मे रहना सम्भव नही है। 1910 मे वे ब्रिटिश भारत छोड कर फ्रासीसी बस्ती पाण्डीचेरी चले गये और राजनीति से विरक्त होकर सन्यास धारण कर लिया। अब उन्होने अपना क्षेत्र अध्यात्म चिन्तन बना लिया। इस प्रकार 1910 से 1950 तक पूरे 40 वर्ष उन्होंने पाण्डीचेरी के आश्रम मे अध्यात्म चिन्तन मे बिताए और राजनीति से पृथक् रहे। दिसम्बर 1950 मे उनका शरीरान्त हो गया। स्वतन्त्रता के बाद भी वे पाण्डीचेरी मे ही बने रहे।

यद्यपि सक्रिय राजनीति मे उन्होने मुख्यतया केवल 4 वर्ष तक कार्य किया और इससे पूव भी राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तर्गत उग्र तथा क्रान्तिकारी विचारो का समर्थन करते रहे, तथापि

[1] इस आन्दोलन का वर्णन आगामी पृष्ठो मे पृथक् से किया जायेगा।

उनके राजनीतिक जीवन की इस छोटी-सी अवधि में उनके विचारों ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में एक नव-स्फूर्ति लाने का कार्य किया। उग्र राष्ट्रवाद के वे एक महान् समर्थक तथा क्रान्तिकारी राष्ट्रीयता के मुख्य प्रेरणा स्रोत थे। उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद को आध्यात्मिक रूप प्रदान करके उसे पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त कराया और उदारवादियों की पाश्चात्य-परस्त नीतियों का अन्त करने में योगदान किया।

उग्र राष्ट्रीयता का मूल्यांकन

जिस प्रकार कांग्रेस की उत्पत्ति के बाद के प्रारम्भिक वर्षों में उदारवादी नेताओं के विचारों पर पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के प्रेमी तथा भारतीय पुनर्जागरण के नेताओं—राजा राममोहन राय एवं महादेव गोविन्द रानाडे के विचारों का प्रभाव था। उसी प्रकार 20वीं सदी के आरम्भिक वर्षों में उग्र राष्ट्रवादी नेताओं के ऊपर स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द तथा महर्षि अरविन्द के विचारों का प्रभाव पड़ा। ये मनीषी भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं हिन्दू धर्म ग्रन्थों की महत्ता को समझे और उन्हीं के आधार पर उन्होंने हिन्दू धर्म तथा आध्यात्मिकता को भारत के राष्ट्रीय जीवन का प्रमुख अंग स्वीकार किया। स्वामी विवेकानन्द तथा अरविन्द भारत के ही नहीं अपितु विश्वभर के आध्यात्मिक शिक्षक सिद्ध हुए। उदारवादी नेताओं को भारत की महानता पर विश्वास नहीं था, इसीलिए उनका लक्ष्य ब्रिटिश शासन के अधीन ही भारत के कल्याण की कामना बनी रही। परन्तु उग्रवादी राष्ट्रीयता के प्रेरणा स्रोतों ने भारतीय धर्म, भारतीय संस्कृति एवं भारत की जनशक्ति पर विश्वास किया और वे ब्रिटिश साम्राज्यशाही का भारत पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व बनाये रखने की नीति को सहन नहीं कर सके। निस्सन्देह उदारवादी नेताओं की देशभक्ति तथा जनकल्याण की भावना को चुनौती नहीं दी जा सकती। परन्तु उनके विचारों का राष्ट्रवाद बौद्धिक अधिक था धार्मिक कम। उग्रवादियों ने राष्ट्रवाद को धर्म का रूप प्रदान किया और यही कारण था कि उनके विचारों ने राष्ट्रीय चेतना को जनसाधारण के मध्य प्रसारित करने में सफलता प्राप्त की।

राष्ट्रवाद का एक प्रमुख तत्व किसी जनसमूह के मध्य राजनीतिक स्वतन्त्रता की धारणा का होना है। उग्रवादी राष्ट्रीयता के समर्थकों ने इस तत्व को भारतीय राष्ट्रीयता का अभिन्न अंग बनाया। उनकी स्वराज्य की माँग तथा आकांक्षा उनका साध्य थी इसके निमित्त उन्होंने विदेशी सरकार के साथ संघर्ष करके इसे प्राप्त करना भारतवासियों का प्रथम कर्त्तव्य बनाया और इसके साधन के रूप में स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा एवं निष्क्रिय प्रतिरोध का कार्यक्रम बनाया। महर्षि अरविन्द ने भारतीय राष्ट्रीयता को आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता के रूप में चित्रित किया। उग्र राष्ट्रीयता के सभी नेता धर्म को संकुचित साम्प्रदायिकता के रूप के नहीं लेते थे अपितु उन्होंने हिन्दू धर्म को व्यापक मानवीय धर्म के रूप में चित्रित किया और उसे एक वन्य धर्म के रूप में व्यक्त किया। भारत सदृश देश में जहाँ विभिन्न जातियों, भाषाओं, धर्मों तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं का अस्तित्व रहा है राष्ट्रवाद की उक्त व्यापक धारणा बहुत प्रभावी तथा महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई।

यद्यपि गांधी जी ने घोषित किया था कि वे गोखले को अपना राजनीतिक गुरू मानते थे। तथापि गांधी जी के ऊपर विवेकानन्द के अध्यात्मवाद, तिलक की कार्य प्रणाली तथा अन्य उग्रवादियों के प्रभाव को अमान्य नहीं किया जा सकता। उन्होंने अहिंसा को अपना सर्वश्रेष्ठ साधन बनाया परन्तु उनका राष्ट्रवाद आध्यात्मिक, राजनीति धर्म-सापेक्ष तथा स्वदेशी व निष्क्रिय प्रतिरोध की नीतियाँ उग्र राष्ट्रीयता से प्रेरित थी। जब कांग्रेस का पूर्ण नेतृत्व उनके हाथ में आ गया तो समय समय पर उनके द्वारा संचालित आन्दोलन उग्रवादियों की नीतियों में प्रगति लाने वाले सिद्ध हुए। निस्सन्देह राष्ट्रवाद को धर्म से समीकृत करने की उग्र राष्ट्रवादियों की नीति का विदेशी शासकों ने अपने हित-साधन में प्रयोग किया और भारत की हिन्दू तथा मुस्लिम जनता के

मध्य कटुता उत्पन्न करके भारतीय राष्ट्रवाद मे साम्प्रदायिकता का विष फैला दिया, तथापि यह भी स्मरणीय है कि उग्र राष्ट्रवादी कभी भी साम्प्रदायिक भेदभाव को वाछनीय नही मानते थे ।

ऐसे समय मे जबकि उदारवादी नेताओ ने ब्रिटिश राजा के प्रति पूर्ण निष्ठा व्यक्त करके तथा अग्रेज जाति की न्यायप्रियता पर विश्वास करते हुए ब्रिटिश शासन के आधीन ही भारत-वासियो के कल्याण तथा राजनीतिक अधिकारो एव सुधारो की मॉगे रखी, साथ ही पाश्चात्य सस्कृति तथा सस्थाओ की महानता का प्रचार किया, ब्रिटिश साम्राज्यशाही तथा नौकरशाही भारत की जनता को सुख-समृद्धि एव स्वायत्त शासन की मॉगो को न केवल उपेक्षित रखने लगी, अपितु अन्याय, अत्याचार एव निरकुशतावाद से भरी शासन नीतियो को सचालित करने पर तुली रही । इन परिस्थितियो मे उग्र राष्ट्रीयता का विकास न केवल स्वाभाविक था, अपितु उग्रवादी नेताओं से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन मे एक नये उत्साह का सचार किया और उसे केवल थोडे से बुद्धिवादी वर्ग तक सीमित न रखके एक जन-आन्दोलन मे परिणत करने का कार्य किया । इतिहास इस बात का साक्षी है कि भीख मॉगकर किसी भी देश की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता कभी प्राप्त नही हुई । जो राष्ट्र अपनी परम्परागत सस्कृति, धर्म, आदर्शो तथा मूल्यो को भूलकर विदेशी तत्त्वो पर विश्वास करता है, वह कभी महान् नही बन सकता । यही सब बाते उग्र राष्ट्रीयता के नेताओ ने भारत के जन-मानस मे भरी और देश को स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिए प्रेरित किया ।

बीसवी सदी के आरम्भिक वर्षो मे भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के अन्तर्गत उदारवादी नेताओ की पाश्चात्य-परस्त नीतियो के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे जहॉ एक ओर उग्र राष्ट्रीयता विकसित हुई, वहॉ इस उग्र राष्ट्रवाद को दबाने के ब्रिटिश शासको के प्रयासो के विरुद्ध और अधिक गम्भीर प्रतिक्रिया के रूप मे क्रान्तिकारी तथा आतकवादी आन्दोलन का सूत्रपात होने लगा । क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेताओ तथा कार्यकर्त्ताओ के ऊपर उग्र राष्ट्रीयता का ही प्रभाव था । इस वर्ग मे उन भावुक युवको का कार्यभाग था जो ब्रिटिश शासको के अन्यायो को सहने मे अपने विवेक को तब खो बैठे । इस आन्दोलन का विवरण हम आगामी पृष्ठो मे करेगे । इस प्रकार उग्र राष्ट्रीयता ने एक ओर क्रान्तिकारी आन्दोलन को प्रोत्साहित किया, तो दूसरी ओर गाधी जी सदृश सत्य, अहिसा, धर्म, आध्यात्मिकता आदि के साधनो पर विश्वास करके राष्ट्रीय आन्दोलन का सचालन करने मे उग्रवादियो से अधिक प्रभावित हुए । सक्षेप मे, उग्र राष्ट्रीयता ने स्वतन्त्रता आन्दोलन को वह प्रेरणा दी, जिसे लेकर भविष्य मे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के अन्तर्गत नये जीवन का सचार हुआ । यह दूसरी बात है कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियो ने उग्र राष्ट्रीयता की भावनाओ को अपने स्वार्थ मे गलत निर्वचन करके उसके आधार पर साम्प्रदायिक फूट का प्रचार करने मे सफलता प्राप्त कर ली और इसी कारण वे भारत मे अपना प्रभुत्व अधिक लम्बी अवधि तक बनाये रखने मे सफल हो गये । साथ ही, अन्त मे उन्होने राष्ट्र के टुकडे कराके ही अपना प्रभुत्व छोडा, तथापि वे इसे नष्ट नही कर सके ।

प्रश्न

1 उग्र राष्ट्रवाद से क्या अभिप्राय समझते हैं ? वह उदार राष्ट्रवाद से कहा और कैसे भिन्न है ?
2 यह कहना कहा तक उचित है कि 'उग्रवाद न केवल ब्रिटिश शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति था वरन् वह उदारवादी नेताओ की कार्य-पद्धति के विरुद्ध भी विद्रोह की घोषणा था ।'
3 उन परिस्थितियो की विवेचना कीजिए जिन्होने भारत मे उग्रवादी राजनीति को पनपाया ।
4 तिलक और गोखले के राष्ट्रीय आन्दोलन को योगदान की तुलना कीजिए ।
5 उग्रवादी राजनीति ने देश की राजनीति को किस प्रकार प्रभावित किया ?

क्रान्तिकारी तथा आतकवाद
(NATIONALISM THE REVOLUTION TERRC ..DE)

भारनाय राप्टीय स्वतन्त्रता आन्दालन की अवधि म 19वा शताब्दी क अंतिम वर्षों म उदारवादी तथा 20वा शताब्दी के आरम्भिक वर्षों म उग्रवादी आदोलन प्रारम्भ हुए थ। उदार वादियो की राजनीतिक भि ावृत्ति की नीति तथा सावैधानिक साधना द्वारा शन शन राजनीतिक अधिकारा की मागें तथा सुधार चाहन की प्रवृत्ति उग्रवादिया का पसन्द नहा रही। स्वय उग्रवादी भी हिंसात्मक साधना द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति पर विश्वास नहा रखत थ। उन्होने स्वशासन स्वदेशी बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा को अपन आन्दोलन का लक्ष्य बताया था। य नीतिया ब्रिटिश शासन के विरुद्ध निष्क्रिय प्रतिरोध की द्योतक था। परन्तु 19वा शताब्दी के अन्तिम वर्षा म भारत क विभिन्न भागा विशपकर (महाराष्ट्र बगाल तथा पजाब) म युवा पीढी क कुछ भावक व्यक्ति भारत म ब्रिटिश सरकार की अन्यायपूर्ण नीतिया स इतन असन्तुष्ट हो गय थ कि उन्ह उदारवादिया तथा उग्रवादिया की शान्तिवादी तथा अहिंसात्मक साधना स स्वशासन या स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकन की नीतिया पर तनिक भी विश्वास नहा रहा। इन भावक युवका का विचार था कि पशु बल पर निर्मित तथा आधारित साम्राज्यवाद का एसे साधना स समाप्त कर सकना असम्भव है। य लोग यूराप की विभिन्न क्रान्तिया स प्रभावित थे। रूस म जारशाही क विरुद्ध लडक रही क्रान्ति फ्रास की प्रसिद्ध क्रान्ति एव अमरीकी स्वतन्त्रता की क्रान्ति आदि इनक प्रेरणा स्रोत थ। इनका मुख्य लक्ष्य दशवासिया का एव व्यापक क्रान्ति क लिय प्रेरित तथा सक्रिय करक तुरन्त ब्रिटिश शासन को भारत की भूमि स उखाड फेंकना था।

क्रान्तिकारी आन्दोलन केवल 19वा सदी क अन्तिम वर्षों या 20वी सदी क आरम्भिक वर्षा म सचालित भावक युवा वर्ग की गतिविधिया को नहीं माना जाना चाहिए। वस्तुत एस आन्दोलन की जडें भारत म ब्रिटिश शासन की स्थापना के साथ-साथ जम चुकी थी और उनका प्रभाव समय-समय पर प्रकट होता रहा था। जिसकी परिणति 1947 म स्वतन्त्रता प्राप्त हो जान पर ही हुई। प्लासी का युद्ध मसूर म हैदरअली तथा टीपू सुल्तान क साथ मराठाओ क अग्रजा के साथ सघर्ष पजाब म महाराजा रणजीत सिंह का अग्रजा क साथ सघर्ष आदि को इसस पृथक नहा माना जा सकता। यद्यपि य सघर्ष क्रान्तिकारी आन्दोलन न होकर प्रतिरक्षात्मक युद्ध थ परन्तु य क्रान्तिकारिया क लिए प्ररणा स्रोत सिद्ध हुए। 1857 की प्रसिद्ध स्वतन्त्रता क्रान्ति इस आन्दोलन का ज्वलत प्रमाण थी। इस क्रान्ति का भल ही ब्रिटिश सरकार न शस्त्र बल स दबा दिया तथापि इसक बडे दूरगामी प्रभाव हुए। इसन ब्रिटिश शासका को पशु बल द्वारा स्वतन्त्रता सम्बन्धी मांगा को दबाने और अपन साम्राज्य का सुदृढ बनाय रखने के लिए अधिक अन्यायपूर्ण तथा दमनकारी नीतिया का अपनान की प्ररणा दी तो भारत क भावक युवका का भी इसन क्रान्तिकारी प्रतिरोध करन का प्रोत्साहन दिया। व शठे शाठयम समाचरेत के सिद्धान्त पर चलन लग।

20वा सदी क आरम्भ स भारत म क्रान्तिकारी या आतकवादी आन्दोलन का श्रीगणेश महाराष्ट्र स आरम्भ होता है जबकि क्रान्तिकारियो ने 1899 म मि रण्ड की हत्या कर दी। इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि राष्ट्रीय आन्दोलन क अन्तर्गत उग्रवादिया का जोर बढने लगा और

उन्हे कुचलने मे भी कोई कमी नही रखी। परिणामस्वरूप क्रान्तिकारियो ने भी अपनी मध्य कट- धियाँ तीव्र करनी आरम्भ कर दी। इनके कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य जनसाधारण को भी - ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आम-क्रान्ति करने के लिए प्रेरित करना, भारतीय सैनिको मे क्रान्तिकारी भावना का सचार करना, आवश्यकता पडने पर छापामार युद्धो की तैयारी करना, क्रान्तिकारियो को सशस्त्र करना और इस उद्देश्य के लिए देश तथा विदेशो से भी शस्त्र सग्रह करना (विशेष रूप से उन देशो से जो ब्रिटेन के शत्रु थे), विदेशो मे जाकर वहाँ से क्रान्ति का प्रसार तथा प्रचार करना, आदि थे। भारत मे ही रहकर ऐसा प्रचार सम्भव नही होता, क्योकि इसे यहाँ की सरकार पशुबल से कुचल सकती थी। यहाँ के क्रान्तिकारी भूमिगत कार्य-कलाप करते रहे और जनता मे क्रान्ति का आवाहन करने के साधन अपनाते रहे।

महाराष्ट्र मे रैण्ड की हत्या के सम्बन्ध मे प्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता श्यामजी कृष्ण वर्मा का हाथ माना जाता है। इस घटना के पश्चात् वे इग्लैण्ड चले गये और वही उन्होने अपनी गति-विधियो का केन्द्र बनाया। उनके बाद महाराष्ट्र के क्रान्तिकारी नेताओ मे विनायक दामोदर सावरकर तथा उनके भाई गणेश सावरकर का नाम मुख्य है। चाफेकर बन्धु (दामोदर, बालकृष्ण तथा वासुदेव) भी प्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता थे जिन्हे बलवन्त फडके से प्रेरणा मिली थी। रैण्ड हत्याकाण्ड के सम्बन्ध मे फडके को फासी दी गयी थी। चाफेकर बन्धुओ का नारा था 'प्राण देने से पूर्व प्राण ले लो।' महाराष्ट्र के इन क्रान्तिकारियो ने अपने आन्दोलन को प्रभावी बनाने के लिए 'अभिनव भारत समिति' की स्थापना की थी।

क्रान्तिकारी आन्दोलन का दूसरा केन्द्र बगाल था, जहाँ लार्ड कर्जन के शासन काल मे प्रान्त का विभाजन कर दिया गया था। इस विभाजन के फलस्वरूप देशव्यापी अन्सतोष फैला था, यहाँ तक कि उदारवादी नेता भी इससे बहुत रुष्ट हो गये थे। भावुक युवको के लिए यह घटना असहनीय थी। लार्ड कर्जन की अन्य प्रतिगामी नीतियो ने क्रान्तिकारियो के असन्तोष को और अधिक उग्र बना दिया था। बगाल के उस युग के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी युवक अरविन्द घोष, उनके भाई बारीन्द्र घोष तथा स्वामी विवेकानन्द के भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त थे। इन्होने तत्कालीन पत्रो 'युगान्तर' तथा 'सध्या' के माध्यम से सरकार के विरुद्ध क्रान्तिकारी विचार व्यक्त करने आरम्भ किये। इन क्रान्तिकारियो ने घोषणा की कि 'समूचे भारत मे अग्रेजो की कुल सख्या डेढ लाख से अधिक नही है, यदि आप दृढ सकल्प हो तो भारत से ब्रिटिश सत्ता को एक दिन मे उखाड फेक दिया जा सकता है।' मराठा क्रान्तिकारियो की भाँति इन्होने भी यही नारा दिया कि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए आप प्राण दे देने को तैयार रहे, परन्तु अपने प्राण देने से पूर्व शत्रु के प्राण ले ले। उक्त क्रान्तिकारियो तथा उनके सहयोगियो के प्रयासो से बगाल मे अनेक गुप्त क्रान्तिकारी सस्थाओ की स्थापना की गयी। बगाल के क्रान्तिकारियो ने 1907 मे उस रेलगाडी पर बम फेका जिसमे वहाँ का गवर्नर यात्रा कर रहा था। कुछ काल बाद ढाका के जिला मजिस्ट्रेट को गोली से मारने का भी असफल प्रयास किया गया।

क्रान्तिकारी तथा आतकवादी आन्दोलन की आग पजाब मे भडकी। वहाँ के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता हरदयाल, सरदार अजीतसिंह, बाबा गुरुदत्त सिंह, भाई परमानन्द तथा उनके भाई बालमुकुन्द आदि थे, जिन्होने क्रान्तिकारियो को सगठित करने का प्रयास किया। इनमे से अनेक अमरीका गये। वहाँ इन्होने 'गदर' नामक पत्रिका निकाली और वहाँ रहने वाले भारतीयो मे 'गदर आन्दोलन' का प्रचार किया। जब ये लोग भारत वापिस आये तो यहाँ उन्होने सक्रिय रूप से क्रान्तिकारी गतिविधियाँ आरम्भ की। यह भी उल्लेखनीय है कि उग्रवादी आन्दोलन के नहर नेताओ की त्रयी बाल-लाल-पाल क्रमश महाराष्ट्र, पजाब तथा बगाल मे उत्पन्न हुई थी, तो क्रान्तिकारी भी इन्ही प्रान्तो की उपज थे।

इसके पश्चात् यह आन्दोलन लगभग भारत के सभी प्रान्तो मे फैला और इसका प्रसार 1947 मे स्वतन्त्रता प्राप्त होने तक किसी न किसी रूप मे चलता रहा। उग्रवाद को ब्रिटिश

सरकार ने दबा लिया था। तिलक को लम्बी अवधि तक कारावास में रखा गया। पंजाब में लाला लाजपतराय अपने जीवन के अंत तक उग्रवादी गतिविधियों में लीन रहते हुए शहीद हुए। विपिन चन्द्र पाल के स्थान पर बंगाल में क्रांतिकारियों का प्रभाव बढ़ने लगा था। परन्तु क्रांतिकारी तथा आतंकवादी कार्य-कलाप निरन्तर चलते रहे। इनका सर्वम उद्‌द् रूप चन्द्रशेखर आजाद सरदार भगत सिंह सदृश क्रान्तिकारियों की गतिविधियों में प्रकट होते हुए अन्ततः नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के अभियानों तक चलता रहा। यद्यपि महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा की राजनीति अपनाकर 1920 से निरन्तर स्वतन्त्रता आन्दोलन का नेतृत्व किया और हिंसात्मक तथा आतंकवादी कार्य-कलापों की भर्त्सना की थी तथापि उनके प्रमुख आन्दोलन भी क्रांतिकारी ही थे। असहयोग तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलन उग्रवाद के ही गांधीवादी रूप थे तो उनके द्वारा निर्देशित 1942 का भारत छोड़ो आन्दोलन क्रांतिकारी आन्दोलन के ही रूप में विकसित हुआ। नेताजी सुभाष बोस ने द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि में भारत से भागकर जापान से जिस आजाद हिन्द फौज का संचालन किया था उससे सम्बद्ध उनका अभियान क्रांतिकारी एवं आतंकवादी आन्दोलन का चरमोत्कर्ष रूप था।

भारत में क्रांतिकारी तथा आतंकवादी आन्दोलन का प्रथम चरण उग्रवाद ही है जिसका अभ्युदय उदारवादियों की राजनीतिक भिक्षावृत्ति की नीतियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। क्रांतिकारी नेता उग्रवाद से एक कदम आगे बढ़ गये थे तो आतंकवादी भी क्रान्तिकारियों से अगली मंजिल पर पहुँच गये। इन सभी आन्दोलनों के उद्देश्य होने के कारण समान थे। अन्तर केवल साधनों तथा मात्रा का था। ज्यों ज्यों उग्रवाद तीव्र होने लगा त्यों त्यों ब्रिटिश शासकों के अन्याय तथा अत्याचार बढ़ते गये परिणामस्वरूप उनके विरुद्ध आन्दोलनों में भी तीव्रता आने लगा। क्रांतिकारी आन्दोलन का श्रीगणेश महाराष्ट्र, बंगाल तथा पंजाब में हुआ परन्तु धीरे धीरे वह भारत के अन्य प्रांतों में भी फैल गया। स्थान स्थान पर अनेक घटनायें होने लगीं और क्रान्तिकारी युवक अधिक संगठित होने लगे। विदेशों में भी इनके संगठन कार्य करने लगे। वहां से वे पत्र पत्रिकाओं द्वारा प्रचार कार्य करने लगे। इस प्रकार 20वीं सदी के द्वितीय दशाब्द से क्रांतिकारियों की गतिविधियां भारत के विभिन्न भागों में बहुत तीव्र हो गयीं।

उत्तर प्रदेश में क्रांतिकारी आन्दोलन का आरम्भ 1907 से हुआ जबकि इलाहाबाद से स्वराज्य नामक पत्रिका निकली। 1909 में दूसरी पत्रिका कर्मयोगी प्रकाशित होने लगी। इनका मुख्य उद्देश्य भारत में स्थान स्थान पर क्रांतिकारियों के ऊपर सरकार द्वारा किये जाने वाले जुल्मों का जनता में प्रचार करना तथा सरकार की आलोचना करना था। उत्तर प्रदेश में क्रान्तिकारी आन्दोलन का प्रसार बंगाल से हुआ था। रास बिहारी तथा शचीन्द्र सान्याल ने बनारस में विद्रोह की तैयारी करनी शुरू की। ये लोग पंजाब के क्रांतिकारियों के साथ भी सम्पर्क बनाए रखने की कोशिश करते रहे। बम बनाना उन्हें यत्र-तत्र पहुँचाना सैनिकों में विद्रोह का बीज बोना आदि इनकी गतिविधियाँ थीं। बनारस में इन लोगों ने विद्रोह का एक षड्यन्त्र रचा। परन्तु यह सफल नहीं हो पाया। इससे सम्बद्ध अन्य क्रान्तिकारी विनायकराव कापले हरनाम सिंह सुशील लाहिड़ी आदि थे। दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना मैनपुरी षड्यन्त्र की थी जिसके प्रमुख शहीद पं. गेंदालाल थे। क्रांतिकारी युवकों के समक्ष सबसे बड़ी समस्या धन की थी जिसके बिना वे लोग अपने कार्यक्रम तथा गतिविधियों का संचालन नहीं कर सकते थे। अतः प्रारम्भ में उन्होंने अनेक धनी लोगों के यहाँ डाका डालकर रुपया प्राप्त किया कहीं-कहीं चोरियां भी कीं परन्तु उनकी ईमानदारी के उत्कृष्ट नमूने भी मिलते हैं। कभी-कभी ये चोरी किये गये धन की पूरी राशि (आना पाई तक में) की रसीद लिख जाते थे और यह प्रतिज्ञा कर जाते कि सम्बद्ध राशि स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने पर मय ब्याज के चुका दी जायेगी। बाद में इन्होंने सरकारी खजाने लूटने की योजनायें भी बनायी। उत्तर प्रदेश में लखनऊ के पास 1925 के काकोरी षड्यन्त्र में इन्होंने रेल का खजाना लूटा। यह उत्तर प्रदेश की सबसे बड़ी घटना थी। इसके संचालक नेताओं

मे से स्वनाम धन्य चन्द्रशेखर आजाद वन्दी नहीं किये जा सके थे। मन्मथनाथ गुप्त[1] भी फासी से वच गये। किन्तु रामप्रसाद विस्मिल, राजेन्द्र लाहिडी, रोशनसिह तथा अशफाकउद्दौला को फासी हुई। 27 फरवरी 1931 को चन्द्रशेखर आजाद इलाहाबाद के ऐल्फ्रेड पार्क मे अपने शत्रु पुलिस अधिकारियो के साथ गोली-युद्ध करते-करते शहीद हुए।

भारत के स्वतन्त्रता सग्राम की अवधि मे प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् सावैधानिक सुधारो की वार्ता की अवधि मे कुछ काल तक क्रान्तिकारियो ने अपनी गतिविधियाँ मन्द कर दी थी। माण्टफोर्ड सुधारो ने भारत मे भारी असन्तोष उत्पन्न कर दिया था। इसके विरुद्ध गाधी जी के सम्पूर्ण नेतृत्व मे असहयोग आन्दोलन छिडा। क्रान्तिकारी लोगो मे से कुछ इसमे भी शामिल हो गये। परन्तु वे गाधी जी की सत्य व अहिंसा की नीति को क्रान्तिवाद से सगतिपूर्ण नही मानते थे। जब असहयोग आन्दोलन काफी उग्र होने लगा तो गोरखपुर के निकट चौरीचौरा मे क्रान्तिकारियो ने जो पुलिस थाने मे हत्याकाड किया (1922), मे उसके कारण गाधी जी ने असहयोग आन्दोलन वापिस ले लिया। इस पर क्रान्तिकारियो को भारी निराशा हुई। दूसरी ओर स्वय काग्रेस के नेतृत्व का एक वर्ग काग्रेस से पृथक् स्वराज्य दल के रूप मे सगठित हुआ, तो क्रान्तिकारियो ने भी पृथक् से अपनी गतिविधियाँ तीव्र कर दी। जो स्वराज्यवादी कौसिलो मे प्रविष्ट हुए उन्होने सावैधानिक तरीको से माण्टफोर्ड सुधार योजना को सुधारने या समाप्त करने (To mend or to end) की योजना बनायी। परन्तु उनकी योजना सफल नही हो सकी। ब्रिटिश सरकार ने भावी सावैधानिक सुधारो के निमित्त साइमन कमीशन नियुक्त किया, जिसका स्वागत भारतवासियो ने काले झडो से किया। एक बार पुन सरकार का दमन-चक्र शुरु हुआ। लाहौर मे लाला लाजपतराय को पुलिस ने इतना मारा था कि कुछ ही समय बाद अस्पताल मे उनकी मृत्यु हो गयी। 1919 के जलियाँवाला बाग हत्याकाड तथा उसके समकालीन सरकार के अत्याचारो को न केवल पजाव अपितु सारा भारत नही भूला था। पजाब तो अब आग-बबूला हो चुका था। वहाँ के प्रमुख तथा चिरस्मरणीय क्रान्तिकारी नेता सरदार भगतसिह, सुखदेव तथा बटुकेश्वर दत्त एव साथियो ने एक क्रान्तिकारी दल की स्थापना की। चन्द्रशेखर आजाद भी इस दल मे थे। इससे पूर्व क्रान्तिकारियो का दल 'हिन्दुस्तानी गणतत्रात्मक सघ' कहलाता था। अब इस दल का नाम 'हिन्दुस्तानी समाजवादी गणतन्त्रतात्मक सघ' रख दिया गया। भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम मे समाजवाद शब्द भगतसिह के मस्तिष्क की उपज था। इससे स्पष्ट हो गया कि यह दल गरीब तथा मजदूर वर्ग का हितैषी था और भारत से साम्राज्यवाद को उखाडकर समाजवादी अधिनायकवाद कायम करना चाहता था। इस दल के प्रमुख नेताओ ने लाला लाजपतराय की हत्या का बदला लेने की योजना बनायी। बहुत विचार-विनिमय करके अन्त मे यह तय हुआ कि पहले लाला जी पर डडे चलाने वाले गोरे अधिकारियो स्काट तथा सैंडर्स को मारा जाये। इस षड्यन्त्र मे सैंडर्स ही मारा गया, स्काट बच गया। इसके बाद केन्द्रीय एसेम्बली मे बम फेकने की योजना बनायी गयी। भगतसिह व बटुकेश्वर दत्त इसके लिए चुने गये। इन्होने तय किया कि बम फेककर भागा नही जायेगा, बल्कि आत्मसमर्पण कर दिया जाएगा ताकि सारा भारत तथा दुनिया जान जाये कि क्रान्तिकारी कैसे साहसी वीर है। 8 अप्रैल 1929 को यह षड्यत्र किया गया। भारत की तत्कालीन केन्द्रीय विधान सभा मे जब दर्शक दीर्घा से भारत माता के इन दोनो लालो ने बम फेका तो सभा भवन धमाके से गूँज उठा। लोग सन्न व त्रस्त थे, उधर से दोनो क्रान्तिकारियो ने 'इन्कलाब जिन्दाबाद' तथा 'साम्राज्यवाद का नाश हो' के नारे लगाये और जो परचे फेके उनमे साम्राज्यशाही के विनाश के लिए जनता से अपील की गयी थी। दोनो युवक फासी के लिए तैयार हो गये थे। मामला चला और बाद मे सुखदेव भी वन्दी कर लिया गया।

[1] विशद् वृत्तान्त के लिए देखिए, मन्मथनाथ गुप्त, 'भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास', 1966।

मुकद्दमे की सुनवाई के बाद तीनों को फाँसी की सजा सुनायी गयी। सारे भारत के नेताओं ने फाँसी की सजा रुकवाने की पूरी कोशिश की। यहाँ तक 1931 में कांग्रेस का अधिवेशन कराची में हो रहा था तो कुछ नेता चाहते थे कि उसके बाद फाँसी दी जाय। परन्तु यह कुछ न हुआ। 23 मार्च 1931 को गुप्त रूप से इन तीन युवकों को फाँसी दी गयी और इनकी लाशें तक सरकार ने गुप्त रूप से जला दी और भस्मी सतलज नदी में फेंकवा दी। परन्तु इनकी अन्त्येष्टि तो भारत की करोड़ों जनता ने हृदय से की और उनके रक्त की एक एक बूँद भारत की मिट्टी में समा चुका है और आत्मा अमर हो चुकी है।

आजाद और भगतसिंह सदृश क्रान्तिकारियों की विदाई का वर्ष भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की अवधि में गाँधी जी द्वारा सचालित सविनय अवज्ञा आन्दोलन का वर्ष था। परन्तु इन दोनों घटनाओं के मध्य परस्पर सम्बन्ध वास्तविक नहीं हो पाया। कांग्रेस आन्दोलन मूल रूप से सांविधानिक सुधारों की दिशा में निर्दिष्ट रहा। सांविधानिक मांगों की अपूर्णता तथा उपेक्षा होने पर आन्दोलन तीव्र हो जाता था। फिर वार्तालापों का सिलसिला चलता था। उधर क्रान्तिकारियों के ऊपर ब्रिटिश सरकार का दमन चक्र उन्हें फाँसी या लम्बी अवधि के कारावास दंड दिये जाने पर देश भर में भावात्मक सहानुभूति दर्शायी जाती थी। परन्तु क्रान्तिकारी लोगों का रक्त उबलता रहता था। वे इन घटनाओं से दुखी या निराश नहीं होते थे। प्रत्युत् शहीदों के बलिदान उन्हें और अधिक प्रोत्साहन देते थे। भूमिगत षडयन्त्रों बम निर्माण शस्त्र संग्रह आदि के कार्य वे करते रहते थे। सरकार इनके प्रति पर्याप्त सजग रहती थी। इस पर भी विशेष रूप से बंगाल के अन्तर्गत अनेक क्रान्तिकारियों ने अनेक अंग्रेज अफसरों की हत्यायें की। 1931 के बाद कई वर्षों तक बंगाल में आतंकवाद का रूप बहुत उग्र हो चुका था। बंगाल में अनेक महिला क्रान्तिकारिणियों ने भी सक्रिय रूप से क्रान्ति में भाग लिया और लम्बी लम्बी जेल की सजायें भुगती। जलियावाला बाग हत्याकाण्ड का प्रमुख पात्र जनरल डायर तथा उस हत्याकाण्ड का आदेश देने वाला गवर्नर ओ डायर पंजाबियों के आँख में खटकते रहे। इसका बदला ऊधम सिंह ने लिया। वह पढ़ने के लिए लन्दन गया था। वहाँ उसने जनरल डायर को गोली से मारकर तृप्ति की साँस ली।[1] उसे इंग्लैण्ड की जेलों में खूब सताया गया और अन्त में फाँसी दी गयी।

इनके अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों में क्रान्तिकारी युवक सक्रिय बने रहे। भारत में 1935 के शासन अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वायत्तशासी सरकारें बनी। अधिकांश प्रान्तों में कांग्रेस मन्त्रिमंडल थे। ये सरकारें लगभग 2 वर्ष चली। सितम्बर 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया। अक्टूबर में जब ब्रिटिश सरकार ने भारत की इच्छा के विरुद्ध भारत को युद्ध का एक पक्ष घोषित कर दिया तो कांग्रेस इससे रुष्ट हो गयी। उसने प्रान्तीय मन्त्रिमंडलों को त्याग पत्र देने का आह्वान किया। 1940 में गाँधी जी का व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ हुआ। अब क्रान्तिकारी भी और अधिक सक्रिय हो गये। 1941 में जापान भी धुरी राष्ट्रों के साथ युद्ध में साझीदार बन गया। उसने बर्मा तक अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। ब्रिटिश सरकार द्वारा निर्देशित भारतीय सेना के जिन सैनिकों ने दक्षिण पूर्व के एशियाई देशों में जापान के समक्ष समर्पण कर दिया था उन्हें रासबिहारी घोष ने आजाद हिन्द फौज के नाम से संगठित किया। इसी बीच नेताजी सुभाष चन्द्र बोस जो उस समय तक कांग्रेस दल के वामपंथी नेता थे ने फारवर्ड ब्लाक दल की स्थापना की। वे सरकार द्वारा नजरबन्द कैदी बनाये गये थे। एक दिन वे बड़े रहस्यमय ढंग से पुलिस के चंगुल से निकल भागे। वेश बदलकर अनेक मुसीबतें सहते हुए वे काबुल के रास्ते जर्मनी पहुँचे। वहाँ उन्होंने आजाद हिन्द सेना संगठित की। 1943 के जून मास में वे जापान पहुँच गये। रास बिहारी के नेतृत्व में आजाद हिन्द सेना निष्फल सिद्ध होने लगी थी। नेताजी के जापान पहुँचने पर यह सेना पूर्णतया उनके निर्देशन में रख दी गयी। उन्होंने

[1] यद्यपि यह घटना स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने के बाद हुई तथापि इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि क्रान्तिकारियों की भावुकता कितनी तीव्र थी।

इस सेना मे नई जान फूँक दी । यद्यपि यह कार्य-कलाप जापान व जर्मनी मे चले, तथापि यह धारणा मिथ्या है कि सुभाष बाबू भारत मे जापानी साम्राज्यवाद चाहते थे । वे ब्रिटिश साम्राज्यशाही का अन्त चाहते थे और भारत को किसी भी विदेशी आधिपत्य से मुक्त कराना वे अपना परम कर्तव्य मानते थे । निस्सन्देह इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे जापान व जर्मनी की सहायता चाहते थे । जर्मनी व जापान की पराजय के साथ-साथ नेताजी की भी 1945 मे एक विमान दुर्घटना मे मृत्यु हो गयी । आजाद हिन्द फौज के अफसरो के ऊपर मुकदमा चलाया गया । परन्तु चूँकि अब भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता की बाते काफी प्रगति से बढ रही थी, अत इन प्रमुख अधिकारियो को कठोर दड नही मिला, बल्कि कालान्तर मे वे मुक्त हो गये । उन्ही के साथ आजाद हिन्द फौज के सभी बन्दी सैनिक भी छूट गये ।

दूसरी ओर 1942 मे जब गाधी जी ने 'भारत छोडो' आन्दोलन का सूत्रपात किया तो काग्रेस के सभी प्रमुख नेता बन्दी कर लिए गये । नेतृत्वहीन जनता आग-बबूला हो गयी । सचमुच 1942 मे समूचा भारत ब्रिटिश शासन के विरुद्ध क्रान्तिकारी हो गया था । अहिसा की नीति लगभग समाप्त हो गयी । अब काग्रेस के नेता, युवक एव पूर्व के क्रान्तिकारी भी सभी क्रान्तिकारी हो गये । सरकारी सम्पत्ति को नष्ट करना, तार काटना, इमारतो को जलाना आदि का सिलसिला प्रारम्भ हो गया । सरकार ने दमन के कोई साधन नही छोडे । परन्तु क्रान्ति नही रुकी । कई स्थानो पर क्रान्तिकारियो ने समानान्तर सरकारे तक अस्थायी रूप से स्थापित भी कर ली । सारा देश क्रान्ति की लपटो के साथ प्रज्ज्वलित हो रहा था । दूसरी ओर सरकार का दमन-चक्र भी उसी गति से बढ रहा था । इस दृष्टि से 1942 के आन्दोलन ने एक बार पुन क्रान्तिकारियो को प्रोत्साहित किया । अनेक काग्रेसी युवक भी क्रान्तिकारी तथा आतकवादी कार्य-कलापो मे सक्रिय हो गये । भूमिगत षड्यत्र भी हुए । उद्देश्य यह था कि सारे प्रशासनतत्र को क्षत-विक्षत कर दिया जाये और अग्रेजो को दरअसल भारत से अपना आधिपत्य छोडकर चले जाने को विवश किया जाये । अनेक क्रान्तिकारी नेताओ को बन्दी करने के लिए बडे-बडे पुरस्कार घोषित किये गये थे, परन्तु सरकार सफल नही हो पाई । ब्रिटिश शासन के आधीन भारत की नौकरशाही का द्विविध कार्य भाग रहा । कुछ तो पूर्णरूप से अग्रेजी शासन के प्रति वफादार रहे । कुछ को आन्दोलन के साथ सहानुभूति थी किन्तु अपनी रोजी बनाये रखने के लिए उन्होने बडी सावधानी से ही सरकार का साथ दिया । विश्व-युद्ध की तीव्रता के बावजूद सरकार ने आन्दोलन के क्रान्तिकारी स्वरूप पर नियत्रण पा लिया और उसे दबाने मे पशु-बल का भी पूरा प्रयोग किया । सचमुच यह एक प्रकार का देशव्यापी क्रान्तिकारी आन्दोलन था । विश्व-युद्ध की समाप्ति पर ब्रिटिश सरकार पर विजयी मित्र-राष्ट्रो का दबाव पडा, इग्लैण्ड की अपनी स्थिति भी बहुत कमजोर हो चुकी थी । इसी के साथ वहा के निर्वाचनो मे श्रमिक दल की सरकार बनी । भारत का रोष किसी भाति कम नही हो गया था । अत 1945 मे इग्लैण्ड ने भारत के काग्रेसी नेताओं को जेलो से रिहा किया और स्वतन्त्रता के लिए बातो का सिलसिला चलाया । अन्तत अग्रेजो को भारत की स्वतन्त्रता स्वीकार करने के लिए विवश होना पडा था । अत उन्हे तभी चैन मिला जबकि वे भारत को खडित करके यहाँ से गये । 15 अगस्त 1947 को जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो निस्सन्देह इसकी प्राप्ति का सेहरा काग्रेस के सिर पर बधा । परन्तु भले ही क्रान्तिकारी आन्दोलन को यह श्रेय नही मिला, इसलिए उसे असफल ही कहा जाता है ।

क्रान्तिकारी आन्दोलन की असफलता के कारण

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की अवधि मे एक ओर राष्ट्रीय काग्रेस वैधानिक ढग से अहिसात्मक सत्याग्रह आन्दोलन चलाकर भारतीय स्वतन्त्रता के लिए सघर्ष करती रही, तो दूसरी ओर देश के भावुक युवा वर्ग ने जिन्हे क्रान्तिकारी कहा जाता है, अपना आन्दोलन तथा गतिविधियाँ जारी रखी । उनका आन्दोलन बीसवी सदी के आरम्भ से स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने तक विभिन्न

चरणा म तथा विविध तरीका स चलता रहा। इसम दो राय नही हो सकती कि जितना त्याग तथा उत्साह का प्रदर्शन इन क्रांतिकारियो ने देश को साम्राज्यवाद के अन्याय अत्याचार तथा दमन के शासन से मुक्त कराने के लिए किया उतना शान्तिवादी तथा सावैधानिक तरीको पर विश्वास रखने वाले काग्रेस के बहुत कम नेता कर पाये। 1947 म देश स्वतन्त्र हो गया और स्वतन्त्रता प्राप्ति का श्रेय महात्मा गाधी एव भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस को प्राप्त हुआ। क्रांतिकारी शहीद नेता तथा युवक अपने उद्देश्यो म सफल नही हो पाये। सम्भवत यदि इनके ही काय कलापो से ब्रिटिश शासन को भारत से हटना पडता तो आज दिन भारत की राज्य व्यवस्था कुछ दूसरी ही भाति की होती। वह रूसी साम्यवादी अधिनायकतन्त्र की तरह की होती या फासावादी ढग की यह विवेचन करना यहा पर अप्रासगिक तथा निरथक है। हम यहा केवल उन कारणो तथा स्थितियो का विवेचन करते हैं जो क्रांतिकारी आदोलन की असफलता के लिए उत्तरदायी माने जा सकते है

पहला किसी भी स्वतन्त्रता आदोलन की सफलता इस बात पर निभर करती है कि उसके लिए सघष करने वाली सस्था को सुसगठित तथा देशव्यापी होना चाहिए। उसका एक निश्चित कायक्रम ही नही अपितु उसके सिद्धान्तो तथा नीतियो के पीछे एक क्रमबद्ध विचारधारा भी होनी चाहिए। भारतीय क्रांतिकारी आन्दोलन म इन दोनो बातो की कमी सदैव बनी रही।

दूसरा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन तभी सफल हो सकता है जबकि आन्दोलनकारी सगठन को सम्पूण या अधिकाश जनता का समथन तथा सहानुभूति प्राप्त हो परन्तु क्रांतिकारी आदोलनकारियो को ऐसे जन समथन का लाभ प्राप्त नही था। क्रांतिकारी स्वय म अद्भुत साहस व त्याग की भावना रखते थे उनके प्रचार साधन गुप्त तथा भूमिगत थे। उन्हे न तो शिक्षित वग का समथन मिला न धनी वग का। कमठ क्रांतिकारियो म अधिकाश नेता अशिक्षित तथा गरीब वग के थे। उन्हे अपने काय-कलापो के लिए धन नही मिलता था अत वे लूट पाट का काय करते थे। इसलिए भी उनकी गतिविधियो को लोक समथन नही मिल पाया।

तीसरा भारत की जनता का विशाल अग क्रांतिकारी साधनो की बुद्धिमत्ता पर विश्वास नही रखता था। भारत की जनता स्वभावत शान्ति प्रेमी है। दूसरी ओर काग्रेस की अहिंसात्मक सत्याग्रह की नीतिया पर्याप्त लोकप्रिय होती जा रही थी। काग्रेस का नेतृत्व देश के धनी विद्वान् तथा शिक्षित वग कर रहे थे। उनका प्रचार भी जनता म व्यापक हो चुका था। स्वय काग्रेस के नेतत्व को क्रांतिकारियो से बहुत सहानुभूति नही थी। इसलिए क्रांतिकारी आन्दोलन छुट पुट हिंसात्मक घटनाओ तक ही सीमित रहा।

चौथा क्रांतिकारियो के साधन हिंसात्मक थे। परन्तु हिंसात्मक क्रान्ति के लिए उनके पास न तो इतने शस्त्र थे न ऐसी प्रशिक्षित सेना जो कि सुदृढ साम्राज्यशाही पुलिस व सेना का सामना कर सकती। अतएव सरकार ने जहा तहा उन लोगो को पकड लिया और भारी से भारी सजाये दी।

पाँचवा क्रांतिकारियो के अन्तगत भी सभी लोग ऐसे साहसी तथा कमठ व्यक्ति नही थे जो कठिन से कठिन परीक्षा म भी खरे उतरते। बहुधा हुआ यह कि जब वे लोग षड्यन्त्रो म पकडे जाते तो उनमे से कुछ मुखबिर बन जाते और गुप्त भेदो का भडाभोड कर देते थे।

अन्तिम महानतम क्रांतिकारी सुभाष चन्द्र बोस ने द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि म आजाद हिन्द फौज सगठित कर ली थी। उनकी लोकप्रियता भी जनता म काफी बढ चुकी थी। किन्तु उनकी असामाजिक मत्यु ने एक बार पुन क्रान्तिकारी आन्दोलन की कब्र खोद दी। इसके पश्चात् स्वतन्त्रता आदोलन पुन काग्रेस के एकमात्र नेतत्व म सफल हुआ।

मूल्यांकन

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की सफलता का मुख्य श्रेय काग्रेस दल तथा उसके प्रमुख नेता महात्मा गाधी को प्राप्त हुआ है परन्तु इस आदोलन मे क्रान्तिकारियो तथा आतकवादियो

के योगदान की उपेक्षा करना उन महान् देशभक्त युवको के प्रति घोर अन्याय होगा जिन्होने भावुकता वश ही सही, अन्याय, दमन तथा अत्याचारपूर्ण विदेशी शासन को उखाड फेंकने के लिए अपने प्राणो की बाजी लगा देने मे किंचित मात्र भी सकोच नही किया। देश तथा जनता की निस्स्वार्थ सेवा करने का जो प्रवल उत्कठा इन वीर शहीदो के हृदय मे वनी रही और जिस अदम्य उत्साह से इन लोगो ने जीवन समस्त सुखो एव अपने प्राणो तक को देश की आजादी के समक्ष तुच्छ समझ कर उन्हे आजादी प्राप्त करने के साधनो मे ही लगा दिया, इसके प्रमाण इतिहास मे बहुत कम मिलेगे। इन भावुक देश के लालो ने इस तथ्य को स्पष्ट किया कि देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता भिक्षा की भाति माँगी नही जाती वल्कि उसे सघर्ष करके प्राप्त किया जा सकता है। विश्व की अधिकाश स्वतन्त्रता क्रान्तियाँ ऐसे ही सघर्षो द्वारा सफल हुई है। नेताजी सुभाष बोस का नारा था 'तुम मुझे रक्त दो, मै तुम्हे आजादी दिलाऊगा।' इसका सार यही था कि आजादी विना रक्तमय क्रान्ति के नही मिल सकती।

इसका यह अभिप्राय तो नही है कि गाधी जी के सत्य तथा अहिसा के साधनो पर चलने वाले तत्कालीन काग्रेस के नेताओ ने त्याग नही किया था, अथवा गाधीवादी आन्दोलन देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के निमित्त बुद्धिमत्तापूर्ण नही था। परन्तु यह कहा जा सकता है कि एक सुदृढ तथा शक्तिशाली विदेशी साम्राज्यशाही के चगुल से देश को आजाद कराने के गाधीवादी साधनो की सफलता कूर्मगति की सिद्ध होती। ब्रिटिश सरकार निरन्तर वैधानिक मागो को स्वीकार करने मे ढुल-मुल की नीति अपना रही थी, वह कभी भी भारत को स्वतन्त्रता नही देना चाहती थी। यही कारण था कि 1942 की गाधीवादी क्रान्ति तक कान्तिकारी तथा आतकवादी आन्दोलन मे परिणत होने लगी। इस वात मे भी सन्देह है कि यदि द्वितीय विश्वयुद्ध न होता और उसमे इग्लेण्ड की स्थिति इतनी अधिक निर्वल नही हो जाती तो ब्रिटिश सरकार 1947 मे भी भारत को स्वतन्त्र नही करती। यह तो परिस्थितियो की वेवशी थी कि अग्रेजो को भारत को स्वतन्त्रता देनी पडी, परन्तु स्वतन्त्रता देते हुए भी वे अपनी कूटनीतिक चालो से वाज नही आये और देश का विभाजन करके यहा की शान्ति को हमेशा के लिए खतरे मे डाल गये। गाधीवादी अहिंसात्मक आन्दोलन की दूरदर्शिता इसी तथ्य से सगति रखती है कि भारत सदृश निर्धन तथा नि शस्त्र जनता वाले देश की जनता यदि हिंसात्मक क्रान्ति का मार्ग अपनाती तो भारी रक्तपात होता और उसके पश्चात् भारी अव्यवस्था का वातावरण वन जाता इसलिए शान्तिपूर्ण तथा वैधानिक आन्दोलन द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करना काग्रेस का लक्ष्य वना रहा।

जहाँ तक कान्तिकारी तथा आतकवादी आन्दोलनकारियो की महत्ता का प्रश्न है, उनका उद्देश्य भी देश को विदेशी शासन से मुक्त कराना था, और वाद मे जैसा कि सरदार भगतसिह सदृश नेताओ के विचारो से प्रकट होता है, वे देश मे सर्वहारावर्गीय अधिनायकवादी समाजवाद की स्थापना चाहते थे। देश-प्रेम उनके रक्त की एक-एक वूंद मे भरा था, अन्याय तथा अपमान के समक्ष घुटने टेकना तो उनके लिए मौत के मुह मे जाने के सदृश था। उन्हे इस वात की चिन्ता नही थी कि आजादी प्राप्त हो जाने पर देश की राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था का क्या विधान होगा। वे किसी राजनीतिक विचारधारा के अनुगामी नही थे, प्रत्युत् उनका प्रथम उद्देश्य विदेशी शासन को उखाड फेकना था और सम्भवत इसमे सफलता प्राप्त हो जाने पर ही वे भविष्य मे शासन-प्रणाली के स्वरूप का समयोचित समाधान हो जाने का विश्वास रखते थे।

क्रान्तिकारियो को भले ही अपने उद्देश्य की पूर्ति मे सफलता नही मिली, तथापि उन्होने दो महान् योगदान किये पहला, उन्होने विदेशी शासको को स्पष्ट चेतावनी दी कि अन्यायपूर्ण तथा पशुवल पर आधारित साम्राज्यवाद कभी भी टिक नही सकेगा। किसी न किसी दिन उसे एक देशव्यापी विद्रोह के समक्ष घुटने टेकने ही पडेगे, क्योकि शासित जनता की सहन शक्ति की भी एक सीमा होती है। यही कारण था कि शासक लोग काग्रेस की वैधानिक मागो के समक्ष धीरे-धीरे झुकने लगे थे। दूसरा, क्रान्तिकारियो का और अधिक महत्त्वपूर्ण योगदान यह था कि

उन्होंने देश की जनता में क्रान्तिकारी चेतना उत्पन्न करने में मदद दी। स्वयं गांधी जी तथा उनके अनेक कांग्रेसी अनुयायी तक क्रांतिवाद की दिशा में प्रेरित होने लगे। कांग्रेस का वामपंथ क्रांतिकारी आन्दोलन की ही उपज माना जा सकता है। असहयोग तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलनों से सम्बद्ध हिंसात्मक घटनायें क्रांतिकारी आन्दोलन से प्रभावित थीं 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में करो या मरो का नारा बुलन्द हो गया था और गांधी जी के अहिंसा पर जोर देने के बावजूद यह आन्दोलन बहुत अधिक मात्रा में क्रान्तिवाद तथा आतंकवाद से प्रभावित रहा। यदि गांधीवादी आन्दोलन ऐसे क्रांतिवाद का सहारा न लेता तो सम्भवतः भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता कुछ और अनिश्चित अवधि के लिए टल जाती।

जहाँ तक त्याग तथा आत्म बलिदान का प्रश्न है इसमें दो राय नहीं हो सकती कि क्रान्तिकारियों के त्याग तथा आत्म बलिदान की समता में अन्य लोग नहीं ठहर सकते। इनके साधन उग्र या समयोचित भले ही न ठहरे हों परन्तु उन्होंने जो कार्य कलाप किये उन्हें अनैतिक नहीं माना जा सकता यदि अन्याय और अत्याचार का बदला हिंसा द्वारा लिया गया तो इसे अनैतिक नहीं कहा जा सकता। यदि कोई अधिकारी अपनी क्षमता का अनुचित लाभ उठाकर इरादतन अन्याय अत्याचार करे और उसे दंड देने के लिए सभी न्यायपूर्ण तथा वैधानिक तरीकों को सील मुहर कर दिया जाय और उस आतंकपूर्ण ढंग में कोई भावुक व्यक्ति दंड दे तो क्या इसे भी अनैतिक कहा जायगा? यहाँ कार्य आतंकवादियों ने किये परन्तु व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि के लिए नहीं बल्कि देश सेवा की भावना से प्रेरित होकर और साहसपूर्ण तथा वीरोचित ढंग से। ऐसे साहसपूर्ण कार्यों को अनैतिक अराजनीतिक या अन्यायपूर्ण कार्य कहा जाय तो फिर नैतिक राजनीतिक या न्यायपूर्ण कार्य और क्या हो सकते हैं?

संसार कर्मक्षेत्र है। मनुष्य जन्म लेता है कुछ कार्य करता है और मर जाता है या शहीद हो जाता है। वह भावी पीढ़ियों के लिए इतिहास की वस्तु बन जाता है। भावी पीढ़ियों को उसके कार्यों से कुछ भली या बुरी शिक्षायें प्राप्त होती हैं। यह भावी पीढ़ी का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक ऐसे ऐतिहासिक व्यक्ति के कार्य-कलापों का सही मूल्यांकन करे। भावी पीढ़ियों को केवल कुछ आदर्शों के भावावेश में नहीं आ जाना चाहिए बल्कि ऐसे ऐतिहासिक व्यक्तित्वों का सही मूल्यांकन करके उन्हें समुचित सम्मान तथा श्रद्धांजलि अर्पित करनी चाहिए। हमें महान् शहीदों की स्मृति को और अधिक अमर बनाने का प्रयास करना चाहिए। इनके कार्य-कलापों के सम्बन्ध में प्रचुर साहित्य का निर्माण, संग्रहालयों की व्यवस्था, मेमोरियल, इनके परिवारों की पीढ़ियों के लिए समुचित सहायता आदि की भरपूर व्यवस्था करना भारत की वर्तमान पीढ़ी का परम कर्तव्य है। यही इन शहीदों के प्रति देश की सच्ची श्रद्धांजलि होगी। इनके जीवन वृत्त सही परिप्रेक्ष्य में भावी युवा पीढ़ी के समक्ष पाठ्य विषयों के रूप में प्रस्तुत किये जाने चाहिए ताकि उनके जीवन तथा कार्य नये भारत का निर्माण करने वाले युवकों के लिए प्रेरणास्पद बने रहें। —

प्रश्न

1. भारत में क्रांतिकारी एवं आतंकवादी आन्दोलन में सन्निहित मान्यताओं पर प्रकाश डालिए।
2. भारत में क्रांतिकारी आन्दोलन का विकास कैसे हुआ? और उसमें बंगाल, उत्तर प्रदेश और पंजाब के नवयुवकों का क्या योगदान रहा?
3. उन परिस्थितियों की विवेचना कीजिए जिनके परिणामस्वरूप भारत में क्रांतिकारी आन्दोलन को सफलता प्राप्त नहीं हो सकी।

मुस्लिम साम्प्रदायिकता का अभ्युदय
(RISE OF MUSLIM COMMUNALISM)

धर्म की दृष्टि से भारत एक बहुल-सम्प्रदायी देश है, किन्तु भारतीय राष्ट्रीयता मे हिन्दू तथा मुस्लिम सम्प्रदायवाद का महत्त्वपूर्ण कार्यभाग रहा है। 13वी शताब्दी से भारत मे मुसलमानो का राजनीतिक आधिपत्य स्थापित हुआ था और अठारहवी शताब्दी के प्रारम्भ तक उनका प्रभुत्व बना रहा यद्यपि राजपूतो तथा मराठो ने समय-समय पर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए मुसलमान शासको से लोहा लिया तथापि वे मुसलमान शासको को निकाल भगाने या पराजित कर देने मे सफल नही हुए। 18वी शताब्दी तक यह स्थिति थी कि मुसलमान लोग पर्याप्त अधिक सख्या मे भारत मे बस गये थे और कुछ शासको के काल मे बहुत से हिन्दुओ को भी उन्होने इस्लाम धर्म मानने को विवश किया था। भारत के मुसलमान अपने को विदेशी नही अपितु भारतीय ही समझते रहे। उनका उद्देश्य यहाँ की शासन-सत्ता अपने हाथ मे रखना तथा भारतीय भूमि मे स्थायी रूप से निवसित हो जाना था। अत यूरोपीय लोगो की भाँति उनमे भारत का आर्थिक तथा राजनीतिक शोषण करने की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का कोई विचार नही रहा। वास्तविकता यह थी कि भारत के विभिन्न भागो मे हिन्दू तथा मुसलमान परस्पर मिल-जुलकर रहते थे। यद्यपि धर्म के नाम पर कभी-कभी उनके मध्य सघर्ष हो जाते थे, तथापि राष्ट्रीय जीवन मे साम्प्रदायिक पार्थक्य की भावना का प्राय अभाव था।

अंग्रेज लोगो ने जब भारत मे अपना शासन तथा प्रभुत्व स्थापित किया तो वे मुसलमान शासको के ही उत्तराधिकारी बने थे। अत वे मुस्लिम सम्प्रदाय को सदैव शका की दृष्टि से देखते थे। 1857 की क्रान्ति ने उनके मुस्लिम विरोध को और अधिक पुष्ट कर दिया था। उन्हे मुसलमानो से हमेशा यह भय बना रहा कि कही वे अपनी खोयी हुई सत्ता को पुन प्राप्त करने के लिए सक्रिय न हो उठे। अठारहवी शताब्दी के अन्त मे टर्की के ऊपर यूरोपीय राष्ट्रीय कुचक्रो की नीति के परिणामस्वरूप अरब मे जो वहाबी आन्दोलन छिडा था उसका प्रभाव भारत के मुसलमानो के ऊपर भी पडा था। भारतीय मुसलमानो पर इस्लाम धर्म की रक्षा के हित मे भी वहाबी आन्दोलन का प्रभाव पडना स्वाभाविक था। यद्यपि वहाबी आन्दोलन मुख्यत धार्मिक प्रकृति का था, तथापि इसने भारतीय मुसलमानो मे आर्थिक दृष्टि से एक दलित वर्ग होने की भावना विकसित की। उन्होने बगाल मे कई सर्वहारा आन्दोलनो मे भाग लेकर अपनी आर्थिक कठिनाइयो की माँगे व्यक्त की। परन्तु ब्रिटिश शासको ने इन आन्दोलनो को कुचलने मे कोई कमी नही रखी। इसके कारण अंग्रेज शासको का भारतीय मुस्लिमो के विरुद्ध सन्देह और अधिक बढ गया। 1857 की क्रान्ति मे अंग्रेज लोगो ने हिन्दुओ की अपेक्षा मुसलमानो को ही अपना वास्तविक शत्रु माना। इस कारण ब्रिटिश शासको ने भारतीय मुसलमानो को शिक्षा, नौकरी तथा आर्थिक क्षेत्रो मे भी उपेक्षित ही रखा। हिन्दुओ ने पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त करने मे काफी प्रगति की, परन्तु मुसलमानो ने इस दिशा मे कोई अभिरुचि नही दर्शायी। मुसलमानो को सेना तथा अन्य असैनिक (civil) सेवाओ से वंचित रखा गया। बहुत से मुसलमान अनेक कुटीर उद्योग-धन्धो पर निर्भर रहकर अपनी आजीविका कमाते थे। परन्तु अंग्रेजो की भारत मे कुटीर उद्योगो को नष्ट करने तथा भारत का आर्थिक शोषण करने की नीति ने इन गरीब मुस्लिम वर्गों को बडा धक्का पहुँचाया। सक्षेप मे, भारत मे ब्रिटिश शासन की स्थापना के आरम्भिक वर्षों मे ब्रिटिश शासको की नीति भारतीय मुसलमानो

को शिक्षा प्रशासन आर्थिक व्यावसायिक आदि सभी क्षेत्रों में उपेक्षित रखने तथा दबाये रखने की बनी रही। यद्यपि 1858 में महारानी विक्टोरिया की घोषणा में कहा गया था कि सार्वजनिक पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सरकार धर्म जाति आदि का भेदभाव नहीं करेगी तथापि भारतीय मुसलमानों के सम्बन्ध में इस घोषणा की पूर्णतया उपेक्षा की गई। इस प्रकार भारत की मुस्लिम जनता में एक उपेक्षित धार्मिक अल्पसंख्यक जनसमूह होने की चेतना उत्पन्न होना स्वाभाविक था।

मुस्लिम साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति में अंग्रेजों का हाथ

यह कथन सर्वथा सत्य है कि यदि भारत में राष्ट्रीय चेतना की जागृति का एक प्रमुख कारण ब्रिटिश शासन की नीति थी तो भारत में मुस्लिम साम्प्रदायिकता के विकास का पूर्ण दायित्व भी ब्रिटिश शासकों पर था। उनकी यह नीति समय-समय पर अलग अलग ढंगों से प्रयुक्त होती रही।

(1) उपेक्षा की नीति द्वारा साम्प्रदायिकता की भावना का विकास—प्रारम्भ में अंग्रेजों ने मुसलमानों को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रबल शत्रुओं के रूप में मानकर उन्हें हर दृष्टि से उपेक्षित रखा (इसका विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं)। इसका यह परिणाम हुआ कि भारतीय मुसलमानों में एक असन्तुष्ट तथा उपेक्षित अल्पसंख्यक वर्ग होने की चेतना उत्पन्न होने लगी। उन्होंने यह अनुभव किया कि ब्रिटिश शासन नीति के कारण हिन्दू बहुसंख्यक वर्ग उन्नति कर रहा है परन्तु मुस्लिम सम्प्रदाय की उपेक्षा की जा रही है। यद्यपि इसका दोष हिन्दू वर्ग पर नहीं मढ़ा जा सकता था तथापि मुस्लिम वर्ग में हिन्दुओं के प्रति द्वेष तथा ईर्ष्या की भावना उत्पन्न होने लगी। जो हिन्दू मुसलमान परस्पर मिल जुलकर रहते थे और यहां तक कि 1857 के विद्रोह में जिन्होंने परस्पर मिलकर अंग्रेजी शासन के विरुद्ध क्रान्ति की थी उनमें पारस्परिक ईर्ष्या की भावना उत्पन्न करने का दायित्व ब्रिटिश शासन नीति पर ही जाता है क्योंकि इस क्रान्ति के पश्चात् ब्रिटिश शासकों ने एक वर्ग को प्रोत्साहन देकर दूसरे की उपेक्षा की। इसके कारण मुसलमानों में साम्प्रदायिकता की भावना उत्पन्न होने लगी।

(2) विलियम हन्टर का कार्य—1871 में सर विलियम हन्टर की पुस्तक The Indian Musalmans में व्यक्त विचारों ने भारतीय मुसलमानों के प्रति ब्रिटिश नीति में आमूल परिवर्तन करने की नीति व्यक्त की। इस अवधि में भारत में राष्ट्रीय चेतना जागृति हो रही थी। अंग्रेजों को ऐसा आभास हुआ कि पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से भारत की हिन्दू जनता के शिक्षित वर्ग की राष्ट्रीय चेतना विकसित होती जा रही है। यदि यही प्रगति जारी रही और मुस्लिम जनता भी इसमें शामिल हो गई तो भारत की समस्त जनता की संगठित राष्ट्रीय भावना ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर कुठाराघात करने में सफल हो जायेगी। ब्रिटिश शासन की नौकरशाही के अनेक अन्य वर्ग भी ऐसा अनुभव करने लगे थे। अतः विलियम हन्टर ने यह दर्शाया कि भारतीय राष्ट्रीय चेतना को अवरुद्ध करने के हेतु आंग्ल मुस्लिम सहयोग आवश्यक है। इसका प्रभाव यह हुआ कि ब्रिटिश नौकरशाही जो पहले भारतीय मुसलमानों को शंका की दृष्टि से देखती थी अब मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने के लिए बेचैन हो गई।

(3) सर सैयद अहमद खां तथा मुस्लिम साम्प्रदायिकता—भारत में मुस्लिम साम्प्रदायिकता का जनक सर सैयद अहमद खां को माना जाता है। परन्तु यह बात विचारणीय है कि सर सैयद कहाँ तक इसके लिए उत्तरदायी हैं। उनका जन्म एक सम्भ्रान्त मुस्लिम परिवार में हुआ था और उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा तथा संस्कृति का गहन अध्ययन किया था। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत वे अनेक उच्च पदों पर नियुक्त हुए थे। भारत के अन्य आरम्भिक कांग्रेसी नेताओं की भांति वे पाश्चात्य शिक्षा संस्कृति एवं ब्रिटिश राज के भक्त थे। साथ ही उनमें राष्ट्रवादी भावनाएं भी कूट-कूटकर भरी हुई थीं। वे भारतीय जनता के मध्य राष्ट्रीय एकता लाने तथा भारतवासियों के पिछड़ेपन को दूर करने की तीव्र आकांक्षा रखते थे। उन्होंने यह अनुभव किया

कि भारतीय मुसलमानो के पिछड़ेपन का कारण उनकी पुरातनपन्थी सकीर्णता तथा रूढिवादिता थी। अत मुस्लिम जनसमाज को पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए और उनका सास्कृतिक दृष्टिकोण व्यापक होना चाहिए। सेवा से निवृत होने के पश्चात् उनका एकमात्र मिशन मुस्लिम जन-समुदाय की सेवा करना तथा उन्हे पिछड़ेपन के गर्त से उठाना हो गया। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होने अलीगढ आन्दोलन का श्रीगणेश किया। उनके प्रयासो से अलीगढ मे मुहम्मदन ऐंग्लो ओरियन्टल कालेज की स्थापना की गई जो बाद मे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की भाँति अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय के रूप मे स्थापित हो चुका है। इसका उद्देश्य मुस्लिम जनता मे पाश्चात्य शिक्षा के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करना था। सर सैयद ने ब्रिटिश नौकरशाही के अत्याचारो की घोर निन्दा की। काग्रेसी नेताओ की भाँति वे भारतीयो को विधान परिषदो मे अधिकाधिक प्रतिनिधित्व प्रदान करने की दलील देते थे। यह कहना भी गलत है कि उन्हे हिन्दुओ के साथ द्वेष था। उनकी धारणा यह थी कि 'हिन्दू तथा मुसलमान भारत की दो आँखे है।' हिन्दू शब्द साम्प्रदायिकता का प्रतीक नही है अपितु हिन्दू के अन्तर्गत प्रत्येक भारतवासी (मुसलमान भी) शामिल है। अत राष्ट्रीय उत्थान के हित मे हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा सहयोग आवश्यक है। काग्रेस की स्थापना के काल तक सर सैयद अहमद खाँ एक सच्चे राष्ट्रवादी नेता बने रहे। साथ ही मुस्लिम दलित वर्ग के उत्थान के लिए उन्होने पूर्ण प्रयास किया। परन्तु काग्रेस की स्थापना होने पर शनै शनै सर सैयद की विचारधारा परिवर्तित होने लगी और कालान्तर मे वे एक कट्टर हिन्दू विरोधी अथच साम्प्रदायिकतावादी बन गये। अकस्मात् ऐसा परिवर्तन क्यो हुआ ? क्या हिन्दू सम्प्रदाय के किसी वर्ग या व्यक्ति विशेष ने उन्हे कोई आघात पहुँचाया था ? अथवा क्या हिन्दू सम्प्रदाय के नेताओ ने मुसलमानो के विरुद्ध किसी प्रकार की साम्प्रदायिक भेदभाव की नीति अपनायी थी ? इन समस्त प्रश्नो का उत्तर नकारात्मक है। वास्तव मे ऐसा क्यो हुआ, इसके लिए भी ब्रिटिश शासन की नीति उत्तरदायी है।

(4) **मि० बेक तथा मुस्लिम साम्प्रदायिकता**—मुहम्मदन ऐंग्लो ओरियन्टल कालेज के प्रिंसिपल पद पर मिस्टर बेक को नियुक्त किया गया था। बेक ब्रिटिश साम्राज्यशाही का सच्चा भक्त था। वह विलियम हन्टर की नीति का समर्थक था। यदि सर सैयद के दिमाग को पलटने मे उसे सफलता न मिली होती तो राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वरूप ही बदल जाता। सर सैयद वास्तव मे हिन्दू विरोधी नही, अपितु ब्रिटिश विरोधी थे। सचमुच मे उनके जीवन का मिशन मुसलमानो को अपनी अधोगति से ऊपर उठाना था। परन्तु बेक ने उनके इस मिशन की सफलता के साधन के रूप मे उनके ऊपर ऐसा जादू डाला कि वे हिन्दू-विरोधी हो गये। उसने सर सैयद को यह समाधान कराया कि मुसलमानो का उत्थान आग्ल-मुस्लिम सहयोग से ही हो सकता है। मुसलमान भारत मे अल्पसख्यक हैं। राष्ट्रीय कार्यकलापो मे काग्रेस एक हिन्दू सस्था के रूप मे विकसित हो रही है जिसका उद्देश्य भारत मे हिन्दू-राज स्थापित करना है। भारतीय राष्ट्रवाद के अन्तर्गत मुसलमानो के हितो का सरक्षण नही हो सकता। यद्यपि अग्रेजो द्वारा सर सैयद को इस धारणा पर विश्वास दिलाना तथ्यो के बिल्कुल विपरीत था, क्योकि प्रारम्भ से ही काग्रेस मे मुसलमानो का प्रतिनिधित्व बना रहा और काग्रेस के किसी भी प्रस्ताव मे हिन्दू राज या मुस्लिम विरोध की तनिक सी गन्ध नही थी, तथापि अग्रेज लोगो ने अल्पसख्यक मुसलमानो को भडकाने मे सर सैयद के ऊपर प्रभाव डालने मे सफलता प्राप्त कर ली। यही से अग्रेजो की भारतीय राष्ट्रीयता के अन्दर 'फूट डालो और शासन करो' की नीति का सफल श्रीगणेश हुआ।

यहाँ पर यह कहना असगत नही होगा कि यदि ब्रिटिश नौकरशाही तथा मि० बेक सर सैयद के ऊपर अपना जादू चला लेने मे सफल न होते तो सर सैयद भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के एक महान् सेनानी सिद्ध होते। वे मुस्लिम जन-समुदाय का उत्थान करने वाले जनसेवक ही नही रहते अपितु समस्त भारत के राष्ट्रीय नेता बनते। परन्तु उन्हे यह समाधान करा दिया गया कि

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भारत में जिस रूप की प्रतिनिध्यात्मक शासन संस्थाओं की माँग करती आ रही है यदि उसे मान लिया जायगा तो भारतीय विधान सभाओं में हिंदुओं का न केवल बहुमत हो जायेगा अपितु चूंकि मुसलमान लोग सभी जगहों पर अल्पसंख्यक हैं अतः उनके प्रतिनिधियों को वहाँ से भी चुना जा सकना सम्भव नहीं होगा। इस विकृत विचार का प्रभाव यह हुआ कि कांग्रेस के विकास के साथ साथ सर सैयद ने कांग्रेस का विरोध करना शुरू कर दिया। जब इंगलैण्ड की संसद में भारत में प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की स्थापना के सम्बन्ध में 1889 में बिल पेश किया जाने लगा तो मि. बेक ने उसके विरोध में भारतीय मुसलमानों को संगठित किया और मुस्लिम रक्षा परिषद् की स्थापना करवायी। स्वयं बेक इसका सचिव था। यद्यपि इस परिषद् का उद्देश्य मुसलमानों के हितों की रक्षा करना था तथापि इसका वास्तविक उद्देश्य तो यह था कि मुसलमान कांग्रेस से पृथक् रहें। मि. बेक ने अनेक पत्रिकाओं में इस आशय के लेख प्रकाशित करवाये कि भारत एक राष्ट्र नहीं है। कांग्रेस मूल रूप से एक हिन्दू संस्था है और मुसलमानों की उसके प्रति कोई आस्था नहीं है न वे कांग्रेस की प्रतिनिध्यात्मक शासन संस्थाओं की स्थापना सम्बन्धी माँग के समर्थक हैं क्योंकि उनसे मुसलमानों को हिन्दू बहुसंख्यकों के अत्याचारों का सामना करना पड़ेगा। अतः मुसलमानों तथा यूरोपियनों को परस्पर संयुक्त होकर कांग्रेस का विरोध करना चाहिए। इसमें मुस्लिम अल्पसंख्यकों का हित निहित है। इस प्रकार भारत में मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध साम्प्रदायिक भाव से संगठित कराने का श्रेय मि. बेक को जाता है। भले ही सर सैयद अंग्रेजों के इस जादू मन्त्र के शिकार बने और उन्हें मुस्लिम साम्प्रदायिकता को जन्म देने के लिए बदनाम किया जाता है तथापि उन्होंने जो कुछ भी किया वह मुस्लिम जनता के उत्थान की भावना से प्रेरित था।

(5) **लार्ड कर्जन की नीति**—भारत में मुस्लिम साम्प्रदायिकता को साकार करने में लार्ड कर्जन ने सक्रिय कदम उठाया। उसके शासन काल तक यह स्पष्ट हो गया था कि भारत में राष्ट्रवादी आन्दोलन काफी विकसित हो गया है। अंग्रेजों की 'फूट डालो' की नीति इस राष्ट्रवाद को दबाने तथा उसके मार्ग में रोड़ा अटकाने का एक उत्तम साधन थी। लार्ड कर्जन ने इस नीति को साकार करने के लिए बंगाल प्रान्त को हिंदू तथा मुस्लिम बहुसंख्यक दो भागों में बाँट दिया। इसका उद्देश्य भारतीय मुसलमानों को कांग्रेस से दूर रखने की ओर प्रवृत्त करना था। यदि केवल प्रशासन की सुविधा के लिए ही बंगाल का विभाजन किया जाता जैसा कि लार्ड कर्जन ने इसके औचित्य को सिद्ध करने के लिए तर्क दिया था तो विभाजन रेखा दूसरे रूप की होती। भारतीय राष्ट्रीय नेता कर्जन की इस चाल से अनभिज्ञ नहीं थे। इसीलिए उग्र विभाजन का घोर विरोध किया गया। परन्तु यह इस बात का प्रमाण था कि अंग्रेज भारतीय मुसलमानों को भारतीय राष्ट्रीय संस्था के विरुद्ध एक प्रतिरोधी तथा सन्तोलन शक्ति के रूप में संगठित करना चाहते थे और साम्प्रदायिक फूट ही इस उद्देश्य की सफलता का एकमात्र साधन था।

(6) **लार्ड मिंटो तथा मुस्लिम साम्प्रदायिकता**—कर्जन के उत्तराधिकारी लार्ड मिंटो ने साम्प्रदायिक अलगाव को सुदृढ़ तथा सुस्थापित करने में जो कार्य किया वह राष्ट्रीय आन्दोलन के सम्पूर्ण इतिहास में एक प्रभावकारी अवरोध सिद्ध हुआ। कर्जन की नीतियों के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन में जो उग्रवादी दल बना था उसके अधिकांश नेता हिन्दू संस्कृति के प्रबल समर्थक थे यथा तिलक, लाजपतराय, अरविन्द आदि। यद्यपि इनके पीछे इस्लाम धर्म या मुस्लिम सम्प्रदाय विरोधी कोई भी धारणा स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं की गई थी तथापि मुस्लिम साम्प्रदायिकता को उत्तेजित करने वालों ने इसका भरपूर उपयोग किया। कांग्रेस की स्वराज्य की माँग को ब्रिटिश सरकार अधिक न दबा सकी। अतः उसने भारत में शासन सुधार सम्बन्धी कानून के अन्तर्गत प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की स्थापना का विचार किया। इस समय लार्ड मार्ले भारतमंत्री थे। परन्तु भारत में शासन सुधारों के सम्बन्ध में उन्हें वायसराय लार्ड मिंटो की बातें मानने को विवश होना पड़ा। लार्ड मिंटो के पास आगा खाँ के नेतृत्व में एक मुस्लिम

शिष्ट-मण्डल पहुँचा। उसने प्रतिनिध्यात्मक सस्थाओ के सम्बन्ध मे मुसलमानो के पृथक् निर्वाचन तथा सुरक्षित स्थानो की माँग रखी। साथ ही सामान्य सीटो पर भी मुसलमानो के लिए मतदान मे गुरुत्व (weightage) की माँग की। लार्ड मिन्टो ने इस शिष्ट-मण्डल की वातो को स्वीकार किया, और उनकी माँग का स्वागत करते हुए उसे प्रोत्साहन भी दिया। इस शिष्ट-मण्डल ने ब्रिटिश सरकार को मुसलमानो की ओर से पूर्ण राजभक्ति का आश्वासन दिया, साथ ही विधान सभाओ के अतिरिक्त सरकारी नौकरियो मे भी सुरक्षित स्थानो की माँग की। इस शिष्ट-मण्डल का सगठन करने मे अग्रेजो का सक्रिय हाथ था। मि० वेक के उत्तराधिकारी मि० आर्चीवोल्ड ने जो उस समय मुहम्मदन ऐंग्लो ओरन्टियल कालेज अलीगढ का प्रिसिपल था, वाइसराय के वैयक्तिक सचिव से इस सम्बन्ध मे पूर्ण विचार-विनिमय कर लिया था।

साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली—1909 के शासन सुधार अधिनियम के अन्तर्गत लार्ड मिन्टो के सुझावो के फलस्वरुप प्रथम बार भारत मे अग्रेजो ने साम्प्रदायिक आधार पर पृथक् निर्वाचन प्रणाली का सूत्रपात किया और यह प्रथा भारतीय राजनीति मे निरन्तर वनी रही। मुसलमानो को न केवल निर्वाचन मे ही गुरुत्व प्रदान किया गया अपितु उनके लिए निर्वाचन मे उम्मीदवारो की योग्यता भी शिथिल की गई। यदि आम सीट के लिए 3 लाख रु० पर आयकर देने की शर्त थी तो मुस्लिम सीट के लिए 3 हजार रु० पर आयकर देने की शर्त रखी गई। आम सीट के लिए तथा मुस्लिम सीट के लिए जो शिक्षा सम्वन्धी न्यूनतम योग्यताएँ निर्धारित की गई थी उनमे भी काफी अन्तर था। मुसलमान मतदाता पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र मे अपने मुस्लिम उम्मीदवारो को मतदान करने के साथ-साथ आम सीट के लिए खडे उम्मीदवारो के लिए भी मतदान कर सकते थे। यद्यपि साम्प्रदायिक निर्वाचनो का तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमन्त्री रामजे मैकडानेल्ड तथा भारतमन्त्री लार्ड मार्ले ने भी विरोध किया था, तथापि भारत स्थित ब्रिटिश नौकरशाही के कुचक्रो ने इसे मान्य करा लिया। इस दृष्टि से भारत मे साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली आरम्भ करने का श्रेय लार्ड मिन्टो को जाता है। समूचे अर्थ मे, भारत मे मुस्लिम साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति तथा उसके विकास के लिए भारत के मुसलमानो को दोष देना न्यायसगत नही है, अपितु इसका पूरा दोष ब्रिटिश नौकरशाही का था। वे ही इसके जन्मदाता, पोषक तथा फलभोगी वने रहे। वे फलभोगी इस अर्थ मे रहे कि इसके कारण ब्रिटिश साम्राज्यवाद काफी लम्बे समय तक भारत मे वना रह सका।

मुस्लिम साम्प्रदायिकता तथा राजनीति—भारत मे मुस्लिम साम्प्रदायिकता को उत्पन्न करना ब्रिटिश शासको का राजनीतिक षड्यन्त्र था। अग्रेजो ने भारत मे काग्रेस की स्थापना को एक ऐसे अभयदीप (safety valve) के रूप मे देखना चाहा था, जो ब्रिटिश शासन के विरोधी तत्त्वो को दवाने मे सहायक सिद्ध हो सके। परन्तु अपनी स्थापना के तीन या चार वर्षो के अन्दर ही काग्रेस ने जिन राष्ट्रीय माँगो को रखना शुरु किया, उनके कारण ब्रिटिश शासको को काग्रेस की गतिविधियाँ अपनी स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध प्रतीत होने लगी। अत काग्रेस का विरोध करने के लिए उन्होंने मुस्लिम साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहित किया। 1906 मे जव शासन सुधारो के सम्बन्ध मे प्रतिनिध्यात्मक सस्थाओ की माँग वढने लगी और मुसलमानो की ओर से साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की माँग की गयी, तो भारतीय मुसलमानो ने काग्रेस के समकक्ष एक राजनीतिक सगठन निर्मित करने की योजना वनायी। मुहम्मद शफी ने 1901 मे ही मुस्लिम लीग वनाने की धारणा व्यक्त की थी, परन्तु मुस्लिम लीग की स्थापना वास्तव मे 30 दिसम्वर 1906 को हुई जवकि मुसलमानो को लार्ड मिन्टो की कृपा से अपनी माँगे पूर्ण कराने मे पूरी सफलता प्राप्त हो गयी थी।

लीग के उद्देश्य—मुस्लिम लीग के मुख्य उद्देश्य ये थे—

(1) भारतीय मुसलमानो मे ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठा उत्पन्न कराना

(2) भारतीय मुसलमानो के राजनीतिक अधिकारो तथा हितो का सरक्षण कराना और

उनके सम्बन्ध म शासन स निष्ठापूवक प्राथना करना तथा

(3) भारतीय मुसलमाना म उपयक्त उद्देश्या स विरोध न रखने की स्थिति म अन्य सम्प्रदाया क विरुद्ध वर भाव रखन की धारणा का रोकना।

इस बात पर सन्देह करन की कोई गुजाइश नहा रह जाती कि स्वय ब्रिटिश शासका न ही कांग्रेस के विरुद्ध एक मुस्लिम राजनीतिक सगठन निर्मित करन का प्रोत्साहन मुसलमान नताओ को दिया था। वास्तव म मुस्लिम लीग क उपयुक्त उद्देश्य किसी भी रूप म उसके राष्ट्रीय या राजनीतिक स्वरूप के परिचायक नहा है। परतु कालान्तर म लीग क कार्य-कलाप राजनीतिक प्रकृति क होत गय। 1916 म कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग अल्प अवधि क लिए एक साथ आया जबकि खिलाफत आन्दोलन चला था। परन्तु यह सधि स्थायी नहीं रह सकी और मुस्लिम लीग को तब तक चन नहा पडा जब तक कि भारत का विभाजन नही हुआ (इसका विवचन आग किया जायगा)।

प्रश्न

1 भारत म मुस्लिम स प्र दायवाद ब्रिटिश शासन की दन था। इस रचना की समालोचना कीजिए।
2 1857 क बाद भारत म व कौन-सी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितिया काम कर रही थी जिनक फलस्वरूप मुस्लिम सम्प्रदायवाद का विकास हुआ।
3 भारत म मुस्लिम लीग की स्थापना एव उद्देश्या पर टिप्पणी लिखिए।

7

प्रथम विश्वयुद्ध तथा राष्ट्रीय आन्दोलन
(NATIONAL MOVEMENT AND WORLD WAR I)

1906 से 1915 तक की अवधि को भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्धकार का काल कहना अत्युक्ति नही होगी । इस काल मे काग्रेस की बागडोर उदारवादियो के हाथ मे रही । उग्रवादी राष्ट्रीय नेता तिलक 1908 से 1914 तक जेल मे पडे रहे । क्रान्तिकारी तथा आतकवादी आन्दोलन को सरकार ने दबा दिया था । क्रान्तिकारी आन्दोलन के सूत्रधार तथा प्रेरणा-स्रोत महर्षि अरविन्द ने राजनीति से ही सन्यास ले लिया था और 1910 मे वे ब्रिटिश भारत को छोडकर पाण्डिचेरी चले गए थे । लार्ड मिण्टो ने मुसलमानो को भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक् कर लेने मे सफलता प्राप्त कर ली थी । 1909 का शासन सुधार अधिनियम भी लागू हो गया था । परन्तु काग्रेस की फूट तथा मुस्लिम लीग की स्थापना ने राष्ट्रीय आन्दोलन को सशक्त होने से रोक लिया । काग्रेस की स्वराज्य की माँग पर 1909 के सुधार अधिनियम ने पानी फेर दिया था । अत राष्ट्रीय नेताओ मे ब्रिटिश शासन की नीतियो के विरुद्ध असन्तोष बढता जा रहा था । इस तथ्य से ब्रिटिश शासक अनभिज्ञ नही थे । कर्जन तथा मिण्टो की प्रतिगामी नीतियो के उपरान्त ब्रिटिश सरकार ने भारतीय असन्तोष को शान्त करने की नीयत से लार्ड हार्डिग्ज को वाइसराय बनाकर भेजा । निस्सन्देह तत्कालीन भारतमन्त्री क्रयू (Crewe) तथा वाइसराय हार्डिग्ज दोनो अपने पूर्ववर्ती पदाधिकारियो की तुलना मे बहुत निर्बल थे, तथापि हार्डिग्ज को भारतीय परिस्थितियो का समुचित ज्ञान था । वे मन्त्रिमण्डल मे एक स्थायी अपर सचिव तथा विदेश कार्यालय के प्रधान थे । साथ ही रिपन के पश्चात् शायद वही एक ऐसे वाइसराय थे, जिन्हे भारतवासियो के प्रति सहानुभूति थी । इस समय यूरोप मे महायुद्ध के बादल मँडरा रहे थे । लार्ड हार्डिग्ज ने भारतीय असन्तोष को दूर करने के लिए तुरन्त कदम उठाया । उनके शासन-काल मे अनेक ऐसी घटनाएँ हुई जिनके कारण राष्ट्रीय आन्दोलन ने 1919 तक एक नया मोड लिया ।

बग-विच्छेद का निरसीकरण—1911 मे सम्राट जार्ज पचम भारत की यात्रा पर आये । उस अवसर पर लार्ड हार्डिग्ज के वाइसरायत्व मे दो महत्त्वपूर्ण निर्णय घोषित किये गये । प्रथम के अनुसार बग-विच्छेद का अन्त करके बगाली भाषी-क्षेत्रो से युक्त बगाल को पुन एक प्रान्त बना दिया गया और पश्चिमी बगाल से बिहार, उडीसा और छोटा नागपुर के भाग निकालकर उन्हे एक पृथक् प्रान्त के रूप मे निर्मित कर दिया गया । इस प्रकार छ वर्ष तक चला आया एक महान् असन्तोष समाप्त हो गया । दूसरी घोषणा के अनुसार भारत की राजधानी कलकत्ता से हटाकर दिल्ली बना दी गयी । बगाल प्रान्त का शासन अब एक अलग गवर्नर के अधीन रखा गया । आसाम को चीफ कमिश्नर के अधीन रखा गया । इस प्रकार लार्ड हार्डिग्ज ने लार्ड कर्जन की एक महान् भूल का निराकरण करके भारतवासियो के मध्य लोकप्रियता प्राप्त की । परन्तु दुर्भाग्यवश आतकवादियो के एक वर्ग ने लार्ड हार्डिग्ज के ऊपर बम फेंककर, जिसमे वह बाल-बाल बच गये, ब्रिटिश शासको को पुन रुष्ट कर दिया । यह घटना वास्तव मे अवाछनीय थी, विशेष रूप से लार्ड हार्डिग्ज सदृश वाइसराय के विरुद्ध ऐसा कार्य उचित नही था । परन्तु यह घटना इस बात की द्योतक थी कि ब्रिटिश सरकार की विविध शासन नीतियो के विरुद्ध भारत मे भारी असन्तोष व्याप्त था और भावुक युवा-वर्ग क्रान्तिकारी तथा आतकवादी तरीको से ब्रिटिश साम्राज्य की जडे खोदना चाह रहा था ।

इस काल के काग्रेस के कणधार उदारवादी नेताओं ने पुन ब्रिटिश शासक की न्याय प्रियता तथा सत्यता पर आस्था व्यक्त करनी शुरू कर दी। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी मेहता गोखले नौरोजी पण्डित मदनमोहन मालवीय तेजबहादुर सप्रू आदि सभी इस काल के उदारवादी नेता थे जिन्होंने ब्रिटिश सरकार की प्रशंसा में हाथ बटाया। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं था कि ये उदारवादी नेता 1909 के सुधारों तथा बंग विच्छेद के निरसीकरण से सन्तुष्ट हो गये थे। जैसी उदारवादियों की प्रारम्भ से ही नीति बनी रही उन्होंने पुन सरकार के समक्ष विधान-परिषदों के सुधार की माग रखी। काग्रेस ने स्वराज्य (स्वायत्त शासन) प्राप्ति को अपना उद्देश्य बना लिया था परन्तु 1909 के सुधारों से उसे इस दिशा में कोई सन्तोष नहीं मिला था। पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली के दोष स्पष्ट हो चुके थे। अत जब 1913 के काग्रेस अधिवेशन में यह माग रखी गयी कि केन्द्रीय विधान परिषद में गैर सरकारी सदस्यों का बहुमत होना चाहिए और प्रान्तीय परिषदों में निर्वाचित सदस्यों का। ब्रिटिश सरकार ने अभी तक उत्तरदायी शासन की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया था। अत स्पष्टतया अब काग्रेस का नया मोर्चा इस माग के समर्थन में खोला जाना था। 1914 के काग्रेस अधिवेशन में यह माग रखी गयी कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वायत्तशासी सरकार निर्मित की जानी चाहिए।

श्रीमती ऐनी बेसट तथा तिलक का काग्रेस में प्रवेश—1914 में काग्रेस के नेतृत्व में परिवर्तन होने लगा। श्रीमती एनी बेसट जो एक आइरिश महिला थी थियोसाफिकल सोसाइटी का सचालन करती थी। उस समय आयरलैण्ड में होमरूल आन्दोलन चल रहा था। भारत आने पर उन्हें भारतीय संस्कृति के प्रति निष्ठा उत्पन्न हुई। साथ ही भारतीय जनता के कष्टों से वह बहुत चिन्तित हुई। उन्हें लगा कि यह सब भारत की राजनीतिक पराधीनता के कारण है। अत उन्होंने थियोसाफी का कार्य छोड़कर राजनीति में प्रवेश किया और आयरलैण्ड के नमूने पर भारत में भी होमरूल आन्दोलन छेड़ने का प्रण कर लिया। इस समय भारत का भावुक युवा वर्ग ब्रिटिश शासन से भारत को मुक्त कराने के लिए बेचैन था। बग विच्छेद की घटना से पूर्व नई पीढ़ी को अपने अनेक कर्मठ नेताओं के विचार सुनने को मिले थे। परन्तु 1908–1914 की अवधि में ये सभी महान् नेता भारत के राजनीतिक पद से पृथक हो गये थे। तिलक जेल में थे। लाजपतराय व विपिन चन्द्रपाल विदेशों में थे। उदारवादियों की भिक्षावृत्ति की नीति से युवा पीढ़ी ऊब गयी थी। उसमें संघर्ष का उत्साह था परन्तु नेतृत्व का अभाव खटक रहा था। श्रीमती बेसेण्ट के राजनीति में प्रवेश ने इस वर्ग की आशाओं में नया उत्साह उत्पन्न किया। भाग्यवश इसी वर्ष 6 साल की कारावास की अवधि पूर्ण होने के कुछ ही काल पूर्व सरकार ने तिलक को मुक्त कर दिया था।[1] यद्यपि तिलक शारीरिक दृष्टि से बहुत अस्वस्थ थे तथापि उनका राष्ट्र प्रेम उन्हें राजनीति में प्रविष्ट होने से नहीं रोक सका। श्रीमती बेसेट ने अनुभव किया कि जब तक उग्रवादी नेता काग्रेस में पुन न आ जायें तब तक होमरूल आन्दोलन प्रभावशाली नहीं हो सकता। अत वे तिलक से मिलीं। तिलक काग्रेस में आना तो चाहते थे परन्तु वे उदारवादियों के कार्यक्रम से समझौता नहीं कर सकते थे। उदारवादी नेता भी काग्रेस के दोनों दलों में एकता के लिए व्यग्र थे। 1915 में जब गोखले तथा मेहता की मृत्यु हो गयी तो इससे तिलक का काग्रेस में प्रवेश सुविधाजनक हो गया। उन्होंने न केवल होमरूल आन्दोलन की विचारधारा को आगे बढ़ाया प्रत्युत् अपने ढग से इस आन्दोलन को अपने प्रान्त में बढ़ाया और अपने अनेक अनुयायियों का सहचार भी प्राप्त किया। 1916 में उनकी अवस्था 60 वर्ष की हो चुकी थी अत जनता ने उनकी 60वीं वर्ष-गाठ पर उन्हें 1 लाख रुपए की थैली भेंट की। जिसे उन्होंने राष्ट्रीय कार्यों के लिए दान कर दिया। उनकी लोकप्रियता दिनों दिन बढ़ती जा रही थी। निस्सन्देह गोखले तथा फीरोजशाह मेहता की मृत्यु हो जाने से काग्रेस को बड़ा धक्का लगा। स्वय तिलक जो गोखले की नीतियों के प्रबल विरोधी थे गोखले की मृत्यु से सबसे

[1] See Tara Ch d *op cit* V l III 443   *Ibid* 449

अधिक दुखी हुए। 1915 मे काग्रेस ने अपने सविधान मे इस प्रकार का सशोधन किया जिसके कारण उग्र राष्ट्रवादी नेता पुन काग्रेस मे आ सके। परन्तु सशोधन के अनुसार जो अवधि सम्बन्धी प्राविधान रखा गया था, उसके अनुसार 1916 से पूर्व तिलक काग्रेस मे नही आ सकते थे। श्रीमती ऐनी बेसेट ने काग्रेस के दोनो दलो मे एकता लाने के पूर्ण प्रयास किये। अन्तत 1916 मे उनका मिशन सफल हो गया। इसके पश्चात् के पाँच वर्षो तक तिलक तथा बेसेट ने काग्रेस का नेतृत्व किया।

महायुद्ध तथा राष्ट्रीय आन्दोलन—1914 मे यूरोपीय महायुद्ध छिड गया था। इस युद्ध मे मित्र-राष्ट्रो ने (जिनमे इग्लैण्ड भी शामिल था) जर्मनी के विरुद्ध जो युद्ध की घोषणा की थी, उसका उद्देश्य 'लोकतन्त्र की रक्षा' घोषित किया गया था। भारतीय राष्ट्रीय नेताओ मे लार्ड हार्डिञ्ज के प्रयासो से यह धारणा जाग्रत हुई कि युद्ध मे इग्लैण्ड की हर प्रकार से सहायता करनी चाहिए। चूँकि युद्ध का उद्देश्य लोकतन्त्र की रक्षा करना है, अत युद्ध मे विजय हो जाने पर इग्लैण्ड भारत मे भी लोकतन्त्री व्यवस्था कायम करेगा। भारतीय नेताओ ने तन, मन, धन से इग्लैण्ड की सहायता की। स्वय महात्मा गाधी ने जो उस समय तक काग्रेस के प्रमुख नेता नही बने थे, युद्ध के लिए भारतवासियो की ओर से यथासम्भव इग्लैण्ड की सहायता करने के प्रयास किये। यदि भारतीय नेता इस अवसर पर ब्रिटिश सरकार से कोई आशा करते थे तो वह यही कि सरकार युद्ध के पश्चात् भारत मे स्वायत्त शासन स्थापित करने की घोषणा कर दे। परन्तु सरकार मौन ही रही। उग्रवादी नेता ब्रिटिश सरकार की नेक-नीयती पर अब भी आश्वस्त नही थे। भारत के सैनिक यूरोप मे इग्लैण्ड की ओर से युद्ध मे लडे और उन्होने इग्लैण्ड को विजयी बनाने का श्रेय तो लिया ही, साथ ही उन्होने यह भी अनुभव किया कि किसी देश की सहायता तथा प्रतिष्ठा के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता का सबसे अधिक महत्त्व है।

काग्रेस के दो दलो मे सन्धि—1914 मे श्रीमती बेसेट के काग्रेस मे प्रविष्ट होने पर राष्ट्रीय आन्दोलन का एक नया अध्याय शुरू हुआ। श्रीमती बेसेट ने राष्ट्रीय आन्दोलन मे एक नई जान फूँकने का कार्य किया, उन्होने सारे देश का भ्रमण किया और देश की वास्तविक परिस्थितियो का जायजा लिया। उन्हे यह प्रतीत हुआ कि उदारवादी नीतियो से राष्ट्र का हित सम्भव नही है। देश की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे वे तिलक की भाषा मे बोलती थी। उनका मत था कि यद्यपि युद्ध काल मे इग्लैण्ड की सहायता करते हुए भारत अपनी स्वतन्त्रता की माँग कर रहा था तथापि भारत अपनी स्वतन्त्रता की माँग अपनी इस राजभक्ति के प्रत्युपकार के रूप मे नही चाहता। 'भारत स्वतन्त्रता की माँग युद्ध-काल मे कर रहा है, वह युद्ध के पश्चात् भी इसकी माँग करता रहेगा, परन्तु एक पुरस्कार के रूप मे नही, अपितु अपने अधिकार के रूप मे करेगा।'[1] 1915 मे गोखले तथा मेहता की मृत्यु के कारण काग्रेस के नेतृत्व मे शून्यता आ गई थी। स्वय बेसेन्ट तथा तिलक भी काग्रेस के दोनो दलो के मध्य एकता लाने के लिए व्यग्र थे। दोनो का उद्देश्य होमरुल आन्दोलन को तीव्र करना तथा राष्ट्रवादी दल को मजबूत बनाना था।

1915 का काग्रेस अधिवेशन बम्बई मे सत्येन्द्र प्रसाद सिन्हा की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन मे राष्ट्रीय नेताओ ने पर्याप्त उत्साह के साथ बहुत बडी सख्या मे भाग लिया। साथ ही इस अधिवेशन मे बहुत से प्रस्ताव पारित किये गये जिनमे से अधिकाश प्रस्ताव पिछले प्रस्तावो की पुनरावृत्ति एव पुष्टिकरण के रूप मे थे। इस अधिवेशन मे काग्रेस सविधान के अन्तर्गत एक सशोधन के द्वारा यह प्राविधान किया गया कि 'कोई भी व्यक्ति इस शर्त पर काग्रेस का प्रतिनिधि चुना जा सकता है कि 31 दिसम्बर 1915 को वह लगातार 2 वर्ष की अवधि तक किसी ऐसे सगठन मे चुना गया हो जिसका उद्देश्य वैधानिक तरीको से ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वायत्त शासन प्राप्त करना रहा हो।' इस सशोधन ने राष्ट्रवादी नेताओ के काग्रेस मे प्रवेश के द्वार खोल दिये। परन्तु तिलक का ऐसा कार्यकाल अभी पूर्ण नही हो पाया था। अत अप्रैल 1916

[1] Sitaramayya, *op cit*, p 119

म तिलक ने अपने प्रान्त में होमरूल आन्दोलन छेड़ दिया सरकार ने उसका दमन किया तथा उनसे बहुत ऊंची धनराशि की जमानत मांगी ताकि वे अपने ऐसे आचरण में पृथक रहें। हाई कोर्ट ने सरकार की इस मांग को गैर कानूनी घोषित कर दिया। इस तिलक की प्रतिष्ठा और अधिक बढ़ गई। इसके 6 मास पश्चात् श्रीमती बेसेन्ट ने मद्रास में अखिल भारतीय होम रूल लीग की स्थापना की। राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति 1916 में इस रूप में चल रही थी कि इसका वास्तविक नेतृत्व अब उदारवादियों के हाथ से निकलता जा रहा था और तिलक तथा बेसेंट ही इसके वास्तविक नेता रह गये थे। 1916 के लखनऊ के कांग्रेस अधिवेशन में तिलक तथा उनके अनेक साथी कांग्रेस में प्रविष्ट हो गये। इस प्रकार लगभग एक दशाब्द की कांग्रेस की फूट का अंत हो गया और कांग्रेस के दोनों दल एक में मिल गये।

कांग्रेस-लीग समझौता (Lucknow Pact 1916)—कांग्रेस की बढ़ती हुई लोकप्रियता तथा शक्ति से व्यग्र होकर ब्रिटिश नौकरशाही ने फूट डालो और शासन करो की नीति का अवलम्बन करके भारत के मुसलमान सम्प्रदाय को कांग्रेस के विरुद्ध संगठित किया था। मुस्लिम लीग की स्थापना में स्पष्टतया नौकरशाही का हाथ था। यद्यपि 1909 के सुधारों के अन्तर्गत विधान परिषदों में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व को गुरुता देकर तथा पृथक निर्वाचन प्रणाली को अपनाकर भारत के मुसलमानों को प्रसन्न करने का प्रयास सरकार की प्रमुख नीति रही थी तथापि इस बीच कुछ ऐसी घटनाएं घटीं जिनके कारण भारतीय मुसलमान भी ब्रिटिश शासन की नीतियों से असंतुष्ट हो गये थे। लार्ड हार्डिंज ने हिन्दू मुस्लिम समस्या पर अपने पूर्ववर्ती वायसरायों के प्रति तटस्थता की नीति का अवलम्बन किया। बंग विच्छेद की समाप्ति ने साम्प्रदायिकतावादी मुसलमानों में ब्रिटिश सरकार के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर दिया। अभी तक अलीगढ़ मुस्लिम लीग तथा मुस्लिम साम्प्रदायिकतावाद का गढ़ था। परन्तु अब लीग का प्रधान कार्यालय लखनऊ में बना दिया गया। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में टर्की जो कि भारतीय मुसलमानों की निष्ठा का केन्द्र था इंग्लैण्ड की कृपा पर आश्रित रहता था। परन्तु इस बीच टर्की तथा इटली के युद्ध में इंग्लैण्ड ने टर्की का साथ नहीं दिया। इससे भारतीय मुसलमान अंग्रेजों से असंतुष्ट हो गये। इसी अवधि में मुस्लिम लीग के कुछ प्रमुख नेता यथा मुहम्मद अली जिन्ना तथा अली बंधु (मौलाना शौकत अली तथा मौलाना मुहम्मद अली) जो कि राष्ट्रवादी विचारों के थे मुस्लिम लीग की अंग्रेज भक्ति से असंतुष्ट हो गये। उन्हें मुसलमानों की ऐसी दासता पसन्द नहीं थी अतः वे भी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तथा स्वायत्त शासन की मांग करने लगे। इस प्रकार मुस्लिम लीग की विचारधारा के प्रारम्भिक स्वरूप में पर्याप्त भिन्नता आ गई।

1913 के लीग के लखनऊ अधिवेशन में लीग ने ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत वैधानिक साधनों द्वारा तथा अन्य सम्प्रदायों के साथ सहयोग करते हुए स्वायत्त शासन की प्राप्ति करना अपना उद्देश्य घोषित किया। यह उद्देश्य लगभग वही था जो कि कांग्रेस के उदारवादी नेता पूर्व ही घोषित कर चुके थे। अतः सैद्धान्तिक दृष्टि से लीग कांग्रेस के सन्निकट आने लगी। 1913 के कराची अधिवेशन में कांग्रेस ने लीग के इस उद्देश्य का स्वागत किया। जिन्ना जो उस समय एक पक्के राष्ट्रवादी नेता थे कांग्रेस की इस प्रतिक्रिया से बहुत प्रभावित हुए। 1915 में कांग्रेस का अधिवेशन बम्बई में हुआ तो लीग ने भी अपना अधिवेशन लगभग उसी अवधि में बम्बई में ही किया। परिणामस्वरूप दोनों संगठनों के नेताओं को परस्पर विचार विनिमय करने का अवसर मिला। दोनों दलों की एक संयुक्त सम्मेलन समिति गठी गई और उसकी संस्तुतियों के आधार पर दोनों दलों के मध्य समझौता सम्भव हो गया। 1916 में दोनों संगठनों के अधिवेशन लखनऊ में हुए। वहां इन दलों ने ऐतिहासिक कांग्रेस-लीग समझौते को स्वीकार किया।

कांग्रेस लीग समझौता हो तो गया परन्तु यह मुस्लिम साम्प्रदायिकता के विष को हटाने का उपचार सिद्ध नहीं हुआ अपितु अपनी इच्छा के विरुद्ध कांग्रेस को लीग की शर्तें माननी पड़ी ताकि लीग का सहयोग ब्रिटिश शासन की अनिवार्यता के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन के संचालन में

प्राप्त हो सके और राष्ट्रीय ऐक्य का विकास हो। इस समझौते के द्वारा मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन को स्वीकार किया गया। साथ ही प्रतिनिधित्व के निमित्त अल्पसंख्यकों के लिए गुरुता के सिद्धान्त को भी माना गया। इस प्रकार भविष्य में विधान परिषदों में मुसलमानों को अपनी जनसंख्या के अनुपात से कहीं अधिक सीटें प्राप्त हो सकती थीं। यह भी स्वीकार कर लिया गया कि अल्पसंख्यकों के हितों पर प्रभाव डालने वाले विधायनों में यदि सम्बद्ध जन-समुदाय के तीन-चौथाई प्रतिनिधि विरोध करें तो ऐसा विधायन विधान परिषदों में आगे नहीं बढ़ाया जा सकेगा। लीग की इन माँगों को स्वीकार करने में कांग्रेस के नेताओं की आशा सही सिद्ध नहीं हुई। वे यह ख्याल करते रहे कि कालान्तर में हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायवाद क्षीण पड़ जायेगा तो मुसलमान स्वयं ही पृथक् निर्वाचन प्रणाली का विरोध करेंगे, परन्तु कांग्रेस के नेताओं की ऐसी धारणा का भविष्य में उल्टा प्रभाव पड़ा। सरकार ने 1919 के सुधार-कानून के अन्तर्गत इन शर्तों को स्वीकार कर लिया।

कांग्रेस-लीग समझौते के अन्तर्गत भविष्य में भारत की शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में अनेक सांविधानिक सुधारों की मांगें भी रखी गई। इनमें से प्रमुख माँगों के अन्तर्गत प्रान्तीय शासन को केन्द्र के नियन्त्रण से मुक्त रखने, केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान परिषदों में व्यापक मताधिकार के आधार पर 80% निर्वाचित सदस्यों को रखने, केन्द्रीय तथा प्रान्तीय कार्यकारी परिषदों में कम से कम आधे सदस्यों को सम्बन्धित विधान परिषदों के निर्वाचित सदस्यों में से लिए जाने, तथा विधान परिषदों के अधिकार-क्षेत्र को और अधिक विस्तृत करने की शर्तें थीं। प्रतिरक्षा, वैदेशिक सम्बन्धों, युद्ध, शान्ति आदि के मामलों को केन्द्रीय सरकार के हाथ में रखने की बात भी इस समझौते के द्वारा मानी गई। अन्तत, इस समझौते के अन्तर्गत भारत सरकार के मामलों में भारत-मन्त्री के नियन्त्रण को कम करके उसकी स्थिति अन्य स्वायत्तशासी उपनिवेशों के उपनिवेश मन्त्री की भाँति रखने की माँग भी की गई थी। इसका अभिप्राय यह है कि कांग्रेस-लीग समझौते ने भारत के लिये एक प्रकार के औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग रखी और यह आशा व्यक्त की कि शीघ्र ही सम्राट् की सरकार यह घोषित करे कि ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य भारत में स्वायत्त शासन तथा उत्तरदायी सरकार की स्थापना करने का है। ये माँगें इतनी प्रगतिशील थीं कि तत्कालीन ब्रिटिश सरकार जो भारत में स्वेच्छाचारी साम्राज्यवाद की नीति पर डटी हुई थी, इन्हें स्वीकार नहीं कर सकती थी। यद्यपि युद्ध की समाप्ति पर ब्रिटिश सरकार ने 1919 में शासन सुधार अधिनियम पास किया तथापि इन सांविधानिक सुधारों को उन्होंने पूर्णतया उपेक्षित रखा।

कांग्रेस तथा लीग की एकता भी अस्थायी सिद्ध हुई। यह खिलाफत आन्दोलन[1] तक ही बनी रही। ज्योंही वह समाप्त हुआ, त्योंही लीग ने साम्प्रदायिक हठ-धर्मिता अंगीकार कर ली और 1922–23 से मुस्लिम लीग कांग्रेस की असली शत्रु बन गई।

होम-रूल आन्दोलन—महायुद्ध काल में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तर्गत श्रीमती ऐनी बेसेंट तथा तिलक के द्वारा संचालित होम-रूल आन्दोलन एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम सिद्ध हुआ। होम-रूल का आशय है स्वायत्त-शासन। इस अवधि में आयरलैंड में ऐसा आन्दोलन चला हुआ था। 1918 में जब श्रीमती ऐनी बेसेंट इंग्लैण्ड गई तो उन्हें यह प्रेरणा मिली कि भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तर्गत भी ऐसा ही आन्दोलन प्रारम्भ किया जाय। वैसे होम-रूल आन्दोलन भारत के लिए कोई नया कार्यक्रम नहीं था। 1906 में कांग्रेस अपना उद्देश्य 'स्वराज्य प्राप्ति' घोषित कर चुकी थी। तिलक ने यह आन्दोलन चला लिया था। 1914 में जब वे जेल से छूटे तो पुन इसके लिए कार्य करने लग गये थे। श्रीमती बेसेंट ने भारत लौटने पर दैनिक पत्र 'न्यू इण्डिया' तथा साप्ताहिक पत्र 'कॉमन वील' के द्वारा इस आन्दोलन का प्रचार किया। सारे देश का दौरा करके उन्होंने जनता को यह प्रेरणा दी कि भारत में स्वराज्य की प्राप्ति करना प्रत्येक

[1] इसका विवेचन आगामी अध्याय में किया गया है।

भारतवासी का जन्म सिद्ध अधिकार है। तिलक पहले ही ऐसी घोषणा कर चुके थे। अप्रैल 1916 में तिलक ने महाराष्ट्र में इस आन्दोलन का श्रीगणेश कर दिया था। उन्होंने भी केसरी तथा मराठा पत्रों के द्वारा इस आन्दोलन को अधिक व्यापक ढंग से प्रचारित करने का प्रयास किया। श्रीमती एनी बसेंट ने 1916 में मद्रास में होम रूल लीग की स्थापना की। इस समय महायुद्ध छिड़ा हुआ था। इस आन्दोलन का उद्देश्य यह नहीं था कि सरकार का अपमान किया जाय और उसके युद्ध सम्बन्धी प्रयत्नों में रोड़ा अटकाया जाय। प्रत्युत् तिलक तथा बसेंट दोनों ने युद्ध-कार्यों में सरकार की यथासम्भव सहायता करने की सलाह जनता को दी। साथ ही होम रूल लीग के माध्यम से उन्होंने इस बात पर बल दिया कि जब तक भारतवासी राजनीतिक स्वायत्तता प्राप्त नहीं कर लेते तब तक वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद की सहायता उचित रूप से नहीं कर पायेंगे। अतः स्वायत्त शासन प्राप्त करना प्रत्येक भारतवासी का मूल अधिकार है। यह आन्दोलन मूल रूप में प्रचारात्मक था। बसेंट तथा तिलक दोनों ने देशव्यापी तूफानी दौरे किये। स्थान स्थान पर सभायें आयोजित कीं और पत्र-पत्रिकाओं तथा परिपत्रों (Pamphlets) के द्वारा जनता में स्वायत्त शासन की माँग का प्रचार किया। बेसेंट ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शत्रु नहीं थीं अपितु वे इंग्लैण्ड तथा भारत को समान राष्ट्रों के रूप में मानती थीं। उनका उद्देश्य यह था कि स्वायत्तशासी भारत तथा इंग्लैण्ड के मध्य मित्र राष्ट्रों का सा सम्बन्ध हो न कि शासित तथा शासक राष्ट्रों का सा। इसी में दोनों का हित है। बसेंट इस बात को मानने के लिए भी राजी नहीं थीं कि भारतवासी इंग्लैण्ड के प्रति राजभक्ति रखें और उसके बदले में इंग्लैण्ड से स्वायत्त शासन की भीख मांगें अपितु स्वायत्त शासन भारतवासियों का जन्म सिद्ध अधिकार है। इसे संघर्ष करके प्राप्त करना चाहिए। वर्तमान सरकार निरंकुश होती जा रही है। श्रीमती बसेंट के मत से होम रूल का अभिप्राय यह है कि हम राजनीतिक क्षेत्र में ग्राम परिषदों जिला बोर्डों नगरपालिकाओं तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं से होते हुए राष्ट्रीय संसद तक अपने लिए पूर्ण स्वायत्त शासन की स्थापना करना अपना लक्ष्य मानते हैं जिनकी शक्तियाँ साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासित उपनिवेशों की विधान सभाओं के तुल्य हों। इस प्रकार बसेंट का होम रूल आन्दोलन 1906 में कांग्रेस द्वारा घोषित स्वदेशी आन्दोलन की भांति ही ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर भारत में स्वायत्त शासन की स्थापना करना था।

परन्तु तत्कालीन भारत के ब्रिटिश शासकों ने इस शान्तिपूर्ण आन्दोलन को दबाने में कोई कमी नहीं रखी। मद्रास के गवर्नर पेंटलैंड ने श्रीमती बसेंट तथा उनके दो सहयोगी कार्यकर्ताओं वाडिया तथा अरुण्डेल को नजरबन्द कर दिया। बसेंट के पत्रों न्यू इण्डिया तथा कामन वील पर प्रतिबन्ध लगाकर उनसे बीस हजार रुपये की जमानत मांगी जो बाद में जब्त कर ली गई। विद्यार्थियों को भी इस आन्दोलन में भाग लेने से रोका गया। बम्बई में तिलक से भी सदाचरण सम्बन्धी 40 हजार रुपये का बाण्ड मांगा गया और दस हजार रुपये की जमानत भी मांगी गई परन्तु अपील करने पर हाई कोर्ट ने इस सरकारी आदेश को अवैध घोषित कर दिया।

सरकार के इस दमन चक्र का प्रभाव यह हुआ कि होम रूल आन्दोलन अधिक लोकप्रिय हो गया। सरकार की दमनकारी नीति के विरुद्ध अनेक प्रदर्शनों तथा सभाओं का आयोजन होने लगा। देश के अधिकाधिक व्यक्ति इस लीग के सदस्य बनने लगे। इसी वर्ष कांग्रेस के दोनों दलों में एकता हो जाने तथा एनी बसेंट और तिलक के हाथ में राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व आ जाने का परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस पुनः उग्रवादी नेताओं की नीति का अनुसरण करने लगी। यद्यपि अभी तक महात्मा गांधी कांग्रेस के प्रमुख नेताओं की स्थिति में नहीं आ पाये थे तथापि वे कांग्रेस में प्रविष्ट हो गये थे और उन्होंने निःस्वार्थ भाव से युद्ध में अंग्रेजों की सहायता करने के लिए भारतवासियों का आह्वान किया। तिलक तथा बसेंट ने यह नीति अपनायी कि युद्ध काल में ब्रिटिश सरकार के समक्ष स्वराज्य का आन्दोलन तीव्र करने का लाभ उठाना चाहिए ताकि ब्रिटेन को युद्ध प्रयासों में सहायता देकर उन्हें भारतीय राष्ट्रीय मांगों के समर्थन करने के लिए विवश

किया जा सके, न कि राजभक्ति दर्शाकर ब्रिटेन से पुरस्कार के रूप मे स्वराज्य की याचना की जाय।

होम-रूल आन्दोलन लगभग उसी प्रगति से बढने लगा जिस प्रकार 1906–07 मे स्वदेशी आन्दोलन बढा था। इसके अन्तर्गत भी स्वदेशी तथा राष्ट्रीय शिक्षा के प्रचार को महत्त्व दिया गया। आन्दोलन की प्रगति तथा प्रभाव के बारे मे वाइसराय के गृह सचिव (Home Member) रेजीनाल्ड क्रेडोक ने लिखा था, 'स्थिति अत्यन्त कठिन है। जनसाधारण के मध्य उदारवादी नेताओ को कोई समर्थन नही मिलता, जो कि अब तिलक तथा बेसेट के प्रभाव मे है। स्वायत्त शासन (होम-रूल) पर जोर दिया जा रहा है जिसे भारत की कठिनाइयो के लिए जिम्मेदार अनगिनत गलतियो तथा दु खो से मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय माना जा रहा है। वैधानिक आन्दोलन की आड मे समाचार पत्रो को पढने वाली जनता के मनो मे ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध विष भरा जा रहा है।'[1] जब सरकार ने आन्दोलन को बलात् दबाया और बेसेट तथा तिलक के ऊपर अनेक प्रतिबन्ध लगाये तो इससे भारत का प्रबुद्ध जनमत और अधिक रुष्ट हो गया। 1916 मे काग्रेस-लीग एकता निर्मित हो चुकी थी। जिन्ना ने जो इस समय लीग के प्रमुख नेता थे, बेसेट की नजरबन्दी की तीव्र भर्त्सना की। उनके मत से इस व्यवहार का अर्थ है' 'काग्रेस तथा लीग द्वारा लखनऊ मे एक साथ स्वीकार कर ली गयी स्वायत्त शासन या होम-रूल योजना को ही नजरबन्द कर लेना।'[2] गाधी जी तथा तेजबहादुर सप्रू ने भी सरकार की इस नीति का विरोध किया।

जब इतने दबाव पडे तो 20 अगस्त 1917 को भारत मन्त्री ने भारत को स्वायत्तशासी अधिकार प्रदान करने की घोषणा की। इसी अवसर पर श्रीमती बेसेट को मुक्त भी कर दिया गया था। बेसेट की लोकप्रियता आसमान छूने लगी थी। उसी वर्ष उन्हे काग्रेस के अध्यक्ष पद पर निर्विरोध चुन लिया गया। अपने अध्यक्षीय भाषण मे उन्होने घोषणा की 'भारत को स्वतन्त्र देखना, उसे राष्ट्रो के मध्य ऊँचा सिर किये हुए देखना, भारत माता के पुत्रो-पुत्रियो को सर्वत्र सम्मान प्राप्त करते हुए देखना, भारत को अपने शक्तिशाली अतीत के अनुरूप देखना, जो कि और अधिक शक्तिशाली भविष्य के निर्माण मे लगा हुआ है—क्या इस सबके लिए कार्य करना, इसके लिए यातना भोगना, जीवित रहना तथा मरना कोई मूल्य नही रखता ?'[3]

20 अगस्त 1917 की घोषणा तथा होम-रूल आन्दोलन का अन्त—20 अगस्त 1917 को भारत मन्त्री मिस्टर माटेग्यू ने इग्लैण्ड की ससद मे भारत की शासन प्रणाली के भविष्य के बारे मे जो घोषणा की थी, उसका भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एव सावैधानिक विकास के सम्बन्ध मे एक ऐतिहासिक महत्त्व है। इस घोषणा का विवेचन करने से पूर्व इसके कारणो पर विचार करना आवश्यक है क्योकि जो ब्रिटिश सरकार आज तक भारतीय राष्ट्रीय माँगो को निरन्तर उपेक्षा की दृष्टि से लेती रही तथा आन्दोलन को सदा दमन के द्वारा दबाती रही और यही धारणा व्यक्त करती रही कि भारतवासी स्वायत्त शासन के लिए सर्वथा अयोग्य है, उसी सरकार ने स्वय भारत मे उत्तरदायित्वपूर्ण स्वायत्त शासन की स्थापना करने के अपने उद्देश्य की घोषणा की।

घोषणा के कारण—(1) इस बीच राजनीतिक घटनाक्रमो की प्रगति इस रूप मे होती जा रही थी कि ब्रिटिश नौकरशाही के लिए अनिश्चित काल तक राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने की नीति अपनाना सम्भव नही रह गया था। ब्रिटिश शासन ने भारत मे राष्ट्रीय शक्तियो के दबाने के लिए साम्प्रदायिक भेदभाव को प्रोत्साहित करके काग्रेस की प्रतिगामी सस्था मुस्लिम लीग स्थापित करवा ली थी। परन्तु 1916 मे काग्रेस-लीग समझौते ने ब्रिटिश नौकरशाही के इस कुचक्र पर पानी फेर दिया था।

(2) काग्रेस के दोनो दल 1907 मे पृथक् हो गये थे और उग्रवादी नेता न केवल काग्रेस से अलग ही हो गये थे, अपितु उनके नेतृत्व को सरकार ने कुचल डाला था। तिलक छ वर्ष तक जेल मे रहे। परन्तु 1916 मे पुन काग्रेस के दोनो दलो मे एकता स्थापित हो गयी थी। नर्म दल

[1] Quoted in Tara Chand, *op cit*, 450 [2] *Ibid*, 451 [3] *Ibid*

का नेतृत्व समाप्त होकर कांग्रेस का नेतृत्व पुनः उग्र दल के हाथ में आ गया था और तिलक तथा बेसेंट का होम रूल आन्दोलन अत्यधिक लोकप्रिय होने लगा था।

(3) महायुद्ध में भारत के राष्ट्रीय नेताओं में से किसी ने भी ब्रिटेन के युद्ध प्रयासों में अवरोध उत्पन्न नहीं किया था, प्रत्युत इस आशा से कि यह युद्ध लोकतन्त्र की रक्षा के लिए किया जा रहा है, ब्रिटेन की भरपूर सहायता करने का भारत की जनता में प्रचार किया। 1917 के मध्य युद्ध ऐसी स्थिति में पहुँच चुका था कि ब्रिटेन का भारत की सहायता के बिना विजय की आशा नहीं रह गयी थी अतः उस भारत की राष्ट्रीय मांगों को उपेक्षित रखकर भारत से सहयोग तथा सहायता की आशा रखना सम्भव नहीं था।

(4) 1914 में जब ब्रिटेन ने टर्की के विरुद्ध युद्ध छेड़ा तो इस युद्ध का संचालन भारत सरकार के ऊपर छोड़ दिया गया था। 1916 में ब्रिटिश सरकार के भारतीय युद्ध कार्यालय ने यह दायित्व अपने ऊपर लिया। इस युद्ध में जो अकुशलता दर्शायी गयी तथा सैनिकों को खाद्य सामग्री, चिकित्सा-साधन आदि प्रदान करने में जैसी असावधानी बरती गयी उसके भीषण दुष्परिणाम सामने आये। अतः ब्रिटिश सरकार ने इस अकौशलपूर्ण युद्ध-संचालन की जाँच के निमित्त एक मेसोपोटामिया आयोग नियुक्त किया। इस आयोग के प्रतिवेदन ने भारत की नौकरशाही सरकार की अयोग्यता तथा अकुशलता की तीव्र भर्त्सना की और इस कमी का सारा दायित्व उस पर थोपा। उस समय मिस्टर चेम्बरलेन भारत मन्त्री थे। मिस्टर माण्टेग्यू ने जो पहले भारत मन्त्री के संसदीय अवर सचिव रह चुके थे, संसद में भारत सरकार की इस अकुशलता की घोर निन्दा की। उन्होंने यहाँ तक कहा कि यदि ब्रिटेन भारत से युद्ध कार्य में सहायता की आकांक्षा करता है तो उसे यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अब वह समय आ गया है जबकि भारतवासियों को अपने देश की सरकार के ऊपर नियन्त्रण रखने तथा अपने भविष्य का निर्धारण करने का अवसर प्रदान करना चाहिए। माण्टेग्यू की इस तीव्र आलोचना का परिणाम यह हुआ कि मिस्टर चेम्बरलेन ने भारत मन्त्री पद से त्याग पत्र दे दिया और माण्टेग्यू को भारत मन्त्री बनाया गया। माण्टेग्यू भी 1912 में भारत में आ चुके थे। उन्हें भारत की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की मांगों के प्रति सहानुभूति थी अतः उनके भारत मन्त्री पद प्राप्त करने से भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं के हृदय में आशा की लहर फैली।

1916 में लार्ड चेम्सफोर्ड को भारत का वाइसराय नियुक्त किया गया। उन्होंने भी भारत में आते ही यह घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार की नीति शीघ्रातिशीघ्र भारत को स्वशासन प्रदान करने की है। इस अवधि में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के विविध वर्गों तथा गुटों के नेताओं में एकता हो जाने का फल यह हुआ कि केन्द्रीय विधान परिषद् के 19 गैर सरकारी निर्वाचित सदस्यों[1] ने एक आवेदन पत्र तैयार किया। यह 19 का स्मरण-पत्र भी सांविधानिक विकास के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण प्रलेख है। इसके प्रमुख नेता दीनशा वाचा, मदनमोहन मालवीय, तेजबहादुर सप्रू, मुहम्मदअली जिन्ना, इब्राहीम रहीमतुल्ला आदि थे। इस आवेदन की मांगें लगभग उसी प्रकृति की थीं जो कांग्रेस लीग समझौते के अन्तर्गत रखी गयी थीं (इनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है)। इन मांगों के अन्तर्गत इण्डिया कौंसिल की समाप्ति, प्रान्तीय स्वशासन, विधान परिषदों तथा कार्यकारी परिषदों में निर्वाचित सदस्यों के बहुमत, केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों में उत्तरदायी शासन, स्थानीय स्वायत्त शासन के विकास एवं सेना में भारतीय सैनिकों को अंग्रेज सैनिकों के तुल्य सुविधा देने की शर्तें रखी गयी थीं।

घोषणा—20 अगस्त 1917 को भारत मन्त्री मिस्टर माण्टेग्यू ने भारत में ब्रिटिश सरकार की उत्तरदायी शासन स्थापित करने की नीति को संसद में घोषित किया। घोषणा इस प्रकार थी

[1] इस श्रेणी के सदस्यों की कुल संख्या 27 थी, जिसमें से तीन सदस्य अनुपस्थित थे, तीन सदस्यों ने इस योजना पर हस्ताक्षर नहीं किये और दो आंग्ल भारतीय सदस्यों से स्पष्टतः (उनके विरोध का आभास करते हुए) कोई परामर्श नहीं लिया गया।

'सम्राट की सरकार की नीति जिससे भारत सरकार पूर्णतया सहमत है, प्रशासन के प्रत्येक क्षेत्र मे भारतीयो के अधिकाधिक सहचार को बनाये रखने, तथा भारत को ब्रिटिश साम्राज्य का एक अभिन्न अग मानते हुए वहाँ उत्तरदायी शासन की प्रगति के निमित्त स्वायत्तशासी सस्थाओ के क्रमिक विकास को सुनिश्चित करने की है। अत सरकार ने यह निश्चय किया है कि इस दिशा मे जितनी जल्दी सम्भव हो वास्तविक कदम उठाये जाने चाहिए।'

इस घोषणा के साथ-साथ भारत मन्त्री ने यह मत भी व्यक्त किया कि इस नीति का कार्यान्वियन सीढी-दर-सीढी सम्पन्न होगा और ब्रिटिश सरकार तथा भारत सरकार इन विकासक्रमो का जायजा लेते हुए निश्चित करेगी कि कब कौनसा कदम उठाना चाहिए, क्योकि उसी के ऊपर भारत की जनता के कल्याण का दायित्व है।

आलोचना—राष्ट्रीय आन्दोलन के उपर्युक्त घटनाचक्र तथा ब्रिटेन के महायुद्ध मे ग्रस्त होने की अवधि मे ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीय शासन की नीति के सम्बन्ध मे ऐसी घोषणा करना जहाँ एक महत्त्वपूर्ण विकास था, वहाँ उसकी ईमानदारी पर सन्देह करना भी निर्मूल नही था। ब्रिटिश सरकार 1833 से निरन्तर ऐसे आश्वासन देती आयी थी, परन्तु उन पर अमल करना तो दूर रहा, उनकी वस्तुत पूर्ण उपेक्षा की गयी थी। निस्सन्देह राष्ट्रीय माँगो के सन्दर्भ मे भारत मे 'उत्तरदायी शासन स्थापित करने के' ब्रिटिश सरकार के वायदे मे एक नवीनता थी, जिसके बारे मे घोषणा मे ही यह कहा गया था कि यथाशीघ्र वास्तविक कदम उठाये जायेगे।' परन्तु इस घोषणा मे भी कई बाते ब्रिटिश साम्राज्यशाही की पुरानी नीतियो से भरी पडी थी। घोषणा मे कहा गया था कि भारतवासियो के कल्याण का दायित्व ब्रिटिश सरकार पर है, यह नही कि भारतवासी स्वय अपने भाग्य-निर्माता है। साथ ही उत्तरदायी शासन की दिशा मे कब कौनसे कदम उठाये जायेगे उनका निर्धारण ब्रिटिश सरकार करेगी, अर्थात् भारतीयो के लिए कब कौनसी चीज वाछनीय है उसका निर्धारण इग्लैण्ड की ससद करेगी। यह धारणा राष्ट्रीय आन्दोलन की उन समस्त घोषणाओ के प्रतिकूल थी, जो स्वराज्य को भारतवासियो का जन्मसिद्ध अधिकार कहती थी। फिर भी यदि ब्रिटिश सरकार ईमानदारी की नीयत से इस घोषणा पर अमल करती तो इसे पुरानी नीतियो के ऊपर एक सुधार माना जा सकता था। इसी आशा पर इस घोषणा का भारत मे स्वागत किया गया था।

माटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट—20 अगस्त 1917 को घोषणा के उपरान्त मिस्टर माटेग्यू भारत आये और भारतीय राष्ट्रीय नेताओ के साथ भविष्य मे भारतीय सावैधानिक सुधारो के सम्बन्ध मे विचार-विनिमय किया। भले ही माटेग्यू के हृदय मे भारत के प्रति सहानुभूति तथा उत्साह रहा हो, परन्तु शासन नीति के निर्धारण मे एकमात्र उन्ही का हाथ नही था। अत जिन आशाओ तथा उत्साह को लेकर वे भारत मे पधारे थे, वे कालान्तर मे क्षीण भी होती गयी, क्योकि उन्हे भारत के भविष्य की सावैधानिक योजना को तैयार करने मे ब्रिटिश नौकरशाही पर भी निर्भर रहना पडा। फिर भी उनकी भारत-यात्रा का प्रभाव यह हुआ कि भारत मे ऐनी बेसेंट की नजरबन्दी से जो असन्तोष उत्पन्न हुआ था, वह कम हो गया। उनकी नजरबन्दी समाप्त कर दी गयी। साथ ही स्वय उनके विचारो मे भी परिवर्तन आ गया उन्होने आन्दोलन की उग्रता को कम कर दिया और सत्याग्रह का विचार छोड दिया। इस प्रकार महायुद्ध के काल मे माटेग्यू को भारत मे व्याप्त असन्तोष को कम करने मे कुछ सफलता प्राप्त हुई।

1919 के शासन सुधार अधिनियम की पृष्ठभूमि

20 अगस्त की घोषणा को कार्यरूप मे परिणत करने के उद्देश्य से भारत की शासन-व्यवस्था मे भविष्य मे सुधार करने के निमित्त मिस्टर माटेग्यू ने भारत के वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड के सहचार से एक योजना निर्मित की जिसे माटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट कहा जाता है। 1919 के

भारतीय शासन सुधार अधिनियम का आधार यही रिपोर्ट थी। परन्तु 1919 के शासन सुधारों की योजना का एकमात्र आधार यही रिपोर्ट नहीं है प्रत्युत् इस योजना की रूपरेखा पहले ही निर्मित हो चुकी थी जिसमें से एक गाशन की राजनीतिक टेस्टामेंट कहलाती है। 1915 में बम्बई के गवर्नर लार्ड विलिंग्डन ने गाखले से भारत के भावी सांविधानिक सुधारों के सम्बन्ध में एक योजना तैयार करने की मांग की थी। यद्यपि गाखले अस्वस्थ थे तथापि उन्होंने एक योजना की रूपरेखा तैयार की थी और जकारिया के शब्दों में यही योजना माँटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों का सारांश थी। दूसरे कांग्रेस लीग योजना को जब सरकार ने स्वीकार नहीं किया तो केन्द्रीय व्यवस्थापिका के 19 सदस्यों द्वारा निर्मित स्मरण पत्र के प्रस्ताव भी उक्त सुधार योजना के निर्देशक तत्त्व सिद्ध हुए यद्यपि उसमें की गयी मांगें बहुत सावधानी के साथ ही अपनायी गयी। तीसरे 1919 के सुधार कानून की जो मुख्य विशेषता प्रांतों में द्वैध शासन प्रणाली को अपनाने की थी उसका स्रोत ड्यूक आवेदन-पत्र था। सर चार्ल्स ड्यूक बंगाल के भूतपूर्व गवर्नर थे और 1915 में वे इण्डिया कौंसिल के सदस्य बने। इंग्लैण्ड में एक गोल मेज गुट था जो भारतीय मामलों में बहुत अभिरुचि रखता था। उसके एक सदस्य मिस्टर कर्टिस ने चार्ल्स ड्यूक से भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना के सम्बन्ध में एक योजना तैयार करने की मांग की थी। ड्यूक की योजना में स्पष्टतया यह बताया गया था कि अब भारत में उत्तरदायी शासन की योजना को कार्यान्वित करने का समय आ गया है परन्तु इसका कार्यान्वयन शनैः शनैः होना चाहिए। सर्वप्रथम प्रान्तीय शासन में कुछ प्रशासनिक विषयों (यथा शिक्षा स्वास्थ्य स्थानीय स्वशासन आदि) पर जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों का पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए परन्तु पुलिस सामान्य प्रशासन सदृश महत्त्वपूर्ण विषयों को संगठित रखा जाना आवश्यक है। उन्हें जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के नियन्त्रण में रखने का समय अभी नहीं आया है। उनका प्रशासन गवर्नर अपनी कार्यपालिका के सदस्यों के परामर्श से करे। हस्तान्तरित विषयों का शासन जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों में से नियुक्त मन्त्रियों के हाथ में रहे और वे मन्त्री प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी हों। जब लार्ड चेम्सफोर्ड भारत के गवर्नर जनरल बनकर आये तो उन्होंने मिस्टर कर्टिस से ड्यूक योजना की मांग की। वास्तव में 1919 के शासन सुधारों के अन्तर्गत प्रान्तीय द्वैध शासन प्रणाली का आधार यही योजना थी।

माँटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट की सिफारिशें—भारत में शासन सुधारों की भावी योजना के सम्बन्ध में माँटेग्यू तथा चेम्सफोर्ड ने जो रिपोर्ट तैयार की थी उसका आधार उपर्युक्त सामग्री थी। इस रिपोर्ट के अन्तर्गत मुख्यतया निम्नांकित सिफारिशें की गयी थीं जिनके आधार पर संसद ने 1919 का भारतीय शासन सुधार कानून पास किया

(1) यथासम्भव स्थानीय स्वशासन संस्थाओं में पूर्णतया जन नियन्त्रण होना चाहिए और उन्हें बाहरी नियन्त्रण से अधिकाधिक सम्भव स्वतन्त्रता प्रदान की जानी चाहिए।

(2) उत्तरदायी शासन के क्रमिक विकास की प्रथम मंजिल प्रान्तीय सरकार होनी चाहिए। उसमें सर्वप्रथम थोड़ा बहुत उत्तरदायित्वपूर्ण शासन का श्रीगणेश तुरन्त कर दिया जाना चाहिए और ज्यों-ज्यों परिस्थितियाँ अनुकूल होती जायें त्यों त्यों पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना करने का उद्देश्य रहना चाहिए ताकि प्रान्तों में विधायी प्रशासनिक तथा वित्तीय सभी क्षेत्रों में उत्तरदायी शासन लागू करने की दिशा में कदम उठाये जा सकें।

(3) जहाँ तक केन्द्रीय शासन का सम्बन्ध है माँटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में केवल यही सिफारिश की गयी थी कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा को और अधिक प्रतिनिध्यात्मक तथा विस्तृत बनाया जाय और उसके अधिकारों में ऐसा विस्तार किया जाय जिससे वह शासन को और अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रभावित कर सके। इस उद्देश्य से केन्द्रीय विधानसभा के लिए दो सदनों की स्थापना की सिफारिश की गयी। परन्तु केन्द्रीय सरकार की कार्यकारी परिषद् के अधिकारों में किसी प्रकार के परिवर्तनों की सिफारिश नहीं की गई। संक्षेप में केन्द्रीय सरकार को पूर्णतया

ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी रखा गया।

(4) यह भी सिफारिश की गयी कि उपर्युक्त शासन-सुधारों के सन्दर्भ में भारत सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों के ऊपर संसद तथा भारत मन्त्री के नियन्त्रण को उसी अनुपात में शिथिल किया जाये, जिस अनुपात में उन्हें उत्तरदायी शासन प्रदान किया जायेगा।

आलोचना—मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के प्रकाशन से भारतीय राष्ट्रीय नेताओं को घोर असन्तोष हुआ। प्रान्तीय द्वैध-शासन की योजना ने भारतीय नेताओं की उत्तरदायी शासन की माँगों पर पानी फेर दिया। केन्द्रीय शासन को अनुत्तरदायी रखने की सिफारिश ने उनकी निराशा को और अधिक बढ़ा दिया। यद्यपि साम्प्रदायिक निर्वाचनों की प्रणाली को बनाये रखने की सिफारिश की गयी थी तथापि मुस्लिम लीग भी सन्तुष्ट नहीं हुई। राष्ट्रीय तत्त्वों के विकास को अवरुद्ध करने के हेतु नरेन्द्र-मण्डल सदृश प्रतिगामी शक्ति का सृजन करने की सिफारिश भी इस रिपोर्ट में की गयी थी। इस प्रकार इस रिपोर्ट ने भारतीय जनमत को बड़ा धक्का पहुँचाया। भारतवासियों ने जिस उत्साह तथा सद्भावना से युद्ध काल में अंग्रेजों की सहायता की थी, उसके बदले में राष्ट्रीय माँगों को नितान्त उपेक्षित रखने की ब्रिटिश साम्राज्यशाही नीति भारत के लिए न केवल असन्तोषजनक ही थी, अपितु अपमानजनक भी थी। चूँकि यही रिपोर्ट 1919 के शासन सुधार कानून का आधार बनी, अतः 1919 के वैधानिक सुधारों से भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में नया मोड़ आना स्वाभाविक था।

प्रश्न

1. प्रथम महायुद्ध का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर प्रभाव आँकिये।
2. होम-रूल आन्दोलन पर टिप्पणी लिखिये।
3. लखनऊ पैक्ट (1961) की विवेचना कीजिए।

असहयोग आन्दोलन
(NON COOPERATION MOVEMENT)

असहयोग आन्दोलन का अभिप्राय

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में 1920 का वर्ष एक नये चरण का निर्णायक बनता है। 1905 में कांग्रेस के अन्दर उदार तथा उग्र दो दलों के सृजन तथा बीसवीं सदी के प्रथम दो दशकों के अन्तर्गत राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास एवं ब्रिटिश शासन की दमनकारी और उपेक्षापूर्ण नीतियों ने यह सिद्ध कर दिया था कि उदारवादी गुट ब्रिटिश सरकार से सहयोग करते हुए ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ही स्वायत्त शासन के अधिकाधिक अधिकार प्राप्त करने की नितान्त असफल चेष्टा करता रहा था। इसीलिए उग्रवादियों का रुख असहयोग की नीति पर तुला था। साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलन का एक वर्ग क्रान्तिकारी तथा आतंकवादी कार्यक्रम द्वारा देश को ब्रिटिश शासन से मुक्त कराना चाहता था। महायुद्ध (1914–1919) की अवधि में राष्ट्रीय आन्दोलन कुछ धीमा पड़ गया था। उसके नेतृत्व में भी अन्तर आ गया था। पुराने उदारवादियों में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ही प्रमुख नेता शेष रह गये थे। कांग्रेस का नेतृत्व तिलक के हाथ आ चुका था अतः उग्रवादियों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। बाल-लाल-पाल की जोड़ी जीवित थी। युद्ध की अवधि में महात्मा गांधी भी कांग्रेस के प्रमुख नेताओं की श्रेणी में आ चुके थे। युद्ध काल में उन्होंने भारत की ओर से अंग्रेजों की हर तरह से सहायता की थी। अतः उन्हें कैसरे हिन्द की उपाधि दी गई थी। गांधी जी पर गोखले का प्रभाव बहुत अधिक था। अतः वे भी उदारवादियों की भांति ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करने की नीति के समर्थक थे। युद्ध-काल में भारत ने जिस भावना तथा लगन से अंग्रेजों की सहायता की थी तथा अंग्रेजों ने जो आश्वासन भारतवासियों को दिये थे उनके प्रतिफल तथा पूर्ति की भारतवासी बड़ी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा कर रहे थे।

परन्तु 1919 में जो घटनाएं घटीं उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि अंग्रेज लोगों में न ईमानदारी है न सहृदयता। प्रत्युत् वे राष्ट्रवादी शक्तियों को अमानवीय ढंग से कुचलने पर तुले हैं। अतः महात्मा गांधी ने तुरन्त अपना रुख बदल लिया और उनके नेतृत्व में कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग करने के हेतु अहिंसात्मक सत्याग्रह तथा प्रत्यक्ष कार्यवाही का कार्यक्रम अपनाया। इस प्रकार कांग्रेस जो गत 35 वर्ष तक राजनीतिक भिक्षावृत्ति तथा ब्रिटिश सरकार से सहयोग करने की नीति अपनाती रही थी सदैव के लिए इन नीतियों का त्याग कर अहिंसात्मक राजनीतिक संघर्ष तथा असहयोगपूर्ण अवज्ञा की नीति पर आ गयी। 1920 में तिलक की मृत्यु हो चुकी थी। अतः इसके पश्चात् भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का यथार्थ नेतृत्व पूर्णतया गांधी जी के हाथ में आ गया। राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व सम्भालने पर गांधी जी का प्रथम कार्यक्रम असहयोग आन्दोलन था। इसके पश्चात् स्वतन्त्रता प्राप्ति तक अर्थात् पूरे 28 वर्ष तक गांधी जी कांग्रेस के सर्वोच्च नेता बने रहे। अतः असहयोग आन्दोलन से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक का पूरा काल राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में गांधी युग के नाम से जाना जाता है।

असहयोग आन्दोलन छेड़ने के कारण

जिन परिस्थितियों तथा कारणों से 1920 में महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग

आन्दोलन प्रारम्भ किया गया वह सक्षेप मे निम्नलिखित थे—

(1) **काग्रेस मे पुन. विभाजन**—1919 के सुधार कानून की भारत मे विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हुई। नेताओं का एक वर्ग, जिसका नेतृत्व सुरेन्द्रनाथ बनर्जी करते थे, सुधार योजना से सन्तुष्ट था और तत्कालीन परिस्थितियो मे जो स्वायत्तता के अधिकार दिये गये थे उन्हे भारतीयो के राजनीतिक प्रशिक्षण के लिये पर्याप्त समझता था। यह वर्ग ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करके इन सुधारो के कार्यान्वयन मे भाग लेने का इच्छुक था। स्वय गाधी जी भी गोखले के शिष्य होने के नाते सुधारो के कार्यान्वयन मे सरकार के साथ सहयोग करने की नीति के समर्थक थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व मे राष्ट्रीय उदार सघ (National Liberal Federation) की स्थापना की गयी और यह दल सुधारो के अन्तर्गत सरकार से सहयोग की नीति पर चला। परन्तु 1919 के प्रारम्भ मे ब्रिटिश शासको ने जिन दमनकारी अमानुषिक व्यवहारो का प्रदर्शन किया (विशेष रूप से जलियावाला बाग हत्याकाण्ड तथा रौलेट एक्ट का पारित किया जाना) उन्होने गाधी जी के विचारो मे परिवर्तन कर दिया और वे एकाएक सहयोग की अपेक्षा असहयोग की नीति पर तुल गये और चूँकि 1920 मे तिलक की मृत्यु हो जाने पर काग्रेस का नेतृत्व पूर्णतया गाधी जी पर आ गया था, अत गाधी जी के नेतृत्व मे काग्रेस ने असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इस प्रकार रहे-सहे उदारवादी पुन काग्रेस से पृथक् हो गये।

(2) **रौलेट एक्ट के विरुद्ध प्रतिक्रिया**—यद्यपि भारत मे ब्रिटिश शासको ने अतीत मे राष्ट्रवादी तथा क्रान्तिकारी तत्त्वो को दबाने के लिए समय-समय पर अनेक दमनकारी कानून पास किये थे, तथापि 1919 के रौलेट एक्ट तथा इस वर्ष के दमनकृत्य नितान्त अवाछनीय एव अमानुषिक थे। युद्ध काल मे सरकार ने विरोधी तत्त्वो को दबाने के लिए भारत रक्षा कानून पास किया था। युद्ध की समाप्ति पर इसे समाप्त हो जाना था। परन्तु देश मे विकसित हो रही राष्ट्रीयता की भावना तथा क्रान्तिकारिता को पुन दबाने की नीति सरकार ने अपनायी। अत न्यायाधीश रौलेट की अध्यक्षता मे ऐसा कानून बनाने के लिए एक कमेटी नियुक्त की गई। उसकी सिफारिशो के आधार पर रौलेट के नाम से दो विधेयको का प्रस्ताव रखा गया था। इनमे से एक को केन्द्रीय विधान-सभा ने पास कर दिया था, जिसके अनुसार सरकार को यह शक्ति प्रदान की गयी कि वह राजनीतिक विद्रोह को दबाने के लिए विद्रोहियो को बिना न्यायिक सुनवाई किये अनिश्चित् काल तक कारावास मे रख सकती थी। विधानसभा के भारतीय सदस्यो ने इसका तीव्र विरोध किया परन्तु फिर भी 17 मार्च 1919 को यह कानून पास हो गया। इसके विरोध मे गाधी जी ने 6 अप्रैल को देशव्यापी अहिंसात्मक हडताल का आह्वान किया। अतएव दूसरा विधेयक पास होने से रोक लिया गया। दिल्ली मे यह हडताल 13 अप्रैल को मनायी गयी। गाधी जी के दिल्ली प्रवेश पर रोक लगा दी गयी। हडताल शान्तिपूर्ण रही, परन्तु दो एक स्थानो पर साधारण सघर्ष हुए। जब गाधी जी को दिल्ली व पजाब मे प्रवेश करने से रोककर बन्दी बनाया गया तो इससे देशव्यापी रोष फैला और कई स्थानो पर आन्दोलन की तीव्रता को सरकार ने कठोरता से दबाया।

(3) **जलियावाला बाग का हत्याकाण्ड**—इस अवधि मे क्रान्तिकारी आन्दोलन का स्थल पजाब बन रहा था। सरकार को पजाब की अधिक चिन्ता थी, क्योकि वह अफगानिस्तान तथा रूस से निकट था, जिनका खतरा अग्रेजो को सदा रहा था। रौलेट एक्ट के विरोध मे आन्दोलन करने वाले दो पजाबी जनप्रिय नेताओ डा० किचलू तथा डा० सत्यपाल को जब सरकार ने बन्दी कर लिया तो जनता मे रोष की आग भडक उठी। आन्दोलन का प्रमुख केन्द्र अमृतसर था। पजाब के उप-राज्यपाल माइकल ओ० डायर के आदेश पर ये बन्दियाँ 10 अप्रैल को गयी थी। इन बन्दियो के विरुद्ध प्रदर्शनकारी तत्त्वो को बल-प्रयोग द्वारा दबाया गया। गोलियाँ भी चली, जिनमे कई व्यक्ति मरे। जनता का रोष अधिक बढा। मृत व्यक्तियो की अन्त्येष्टि के पश्चात् अमृतसर की जनता की एक भीड ने कुछ यूरोपियो पर गोली चलायी। उप-गवर्नर ने जालन्धर

सनिक नियोजन के कमाण्डर जनरल डायर से विद्रोह को दबाने में मदद मांगी वह तुरन्त सनिक टुकडी सहित अमृतसर पहुँचा। 13 अप्रल को अमृतसर की जनता सरकार के गोली-काण्ड के विरुद्ध सभा करने के लिए जलियावाला बाग नामक स्थान पर एकत्र हो रही थी। जनरल डायर ने इस सभा की मनाही की। परन्तु जनता को इसकी सूचना नही मिल पायी। जिन्हे मिली भी उन्होने परवाह नही की। जब जनरल डायर को सूचना मिली कि जनता सभा में इकट्ठी हो गई है तो वह 150 सशस्त्र ब्रिटिश तथा भारतीय सनिको सहित सभा-स्थल पर पहुँचा। यह स्थान नगर के बीच में चारो ओर इमारतो से घिरा है। केवल एक माग जाने का था। शेष तीन माग बन्द थे। यह सभा पूणतया शान्तिपूर्वक होने वाली थी। जनता नि शस्त्र थी। हजारो की सख्या में लोग स्त्रियो बच्चो सहित वहा एकत्र थे। क्रूर तथा दानव डायर ने सनिको को सभा में एकत्र व्यक्तियो पर गोली चलाने की आज्ञा दे दिया। कहा जाता है कि 1650 तक बन्दूक के फायर किये गये और तब तक गोलियाँ चलती रही जब तक कि गोलिया समाप्त नही हो गई। नृशसतापूवक निरीह जनता पर गोली चलाने की निदयता का ऐसा दृष्टान्त विश्व के इतिहास में सम्भवत कही नही मिलेगा। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार 379 व्यक्ति मारे गये थे तथा 1137 घायल हुए थे। परन्तु वास्तव में यह सख्या कही अधिक आकी गई है। हत्याकाण्ड के अन्य विवरणो का वणन करते हुए किसी की भी लेखनी रुक जाती है। हत्याकाण्ड के उपरान्त डायर मृतको की लाशो को छोड़ कर चला गया। अमृतसर में मार्शल कानून लागू किया गया। यहा के वास्तविक समाचार देश के अन्य भागो में पहुँचने से रोके गये। किसी भी प्रकार के रोष को उसी नृशसता के साथ दबाया गया।

परन्तु जब यह खबर देश में फैली तो जनता का रोष तथा दुख बढ़ना स्वाभाविक था देश की महान् विभूतियो की ओर से सबसे महत्वपूर्ण प्रतिक्रिया कविवर रवीन्द्रनाथ टगोर की हुई जिन्होने ब्रिटिश शासको के इस क्रूर कृत्य को देखकर गवनर जनरल को लिखे गये एक पत्र के साथ अपनी नाइटहुड (Knighthood) की पदवी वापिस कर दी। सर शकरन नायर ने गवनर जनरल की कायकारी परिषद् से त्यागपत्र दे दिया।

सरकार ने इस क्रूर हत्याकाण्ड को बिल्कुल भी गम्भीरता से नही लिया। देशव्यापी असन्तोष को देखते हुए 6 मास पश्चात् अक्टूबर में हटर कमीशन का निर्माण किया गया। माच 1920 में इसकी रिपोर्ट निकली जिसमे जनरल डायर को बचाने का प्रयास किया गया और उसके कुकृत्य को निणय लेने की भूल कहा गया। उसे सेवा से निवृत्त तो कर दिया गया परन्तु साथ ही ब्रिटिश ससद में कुछ सदस्यो ने उसकी प्रशसा सम्बन्धी भाषण तक दिये। उसे सम्मान की तलवार तथा 2000 पौण्ड की धनराशि भेंट की गइ। इग्लण्ड स्थित शासको ने उसके कृत्य को ईमानदारी से पूण परन्तु भ्रामक निणय कहा। स्वय जनरल डायर ने स्वीकार किया कि उसका उद्देश्य भविष्य में ऐसे विद्रोहो को रोकने के हेतु आतक उत्पन्न करना था।

परन्तु भारतीय राष्ट्रीय नेताओ ने इस हत्याकाण्ड को बहुत गम्भीरता के साथ लिया। राष्ट्रीय काग्रेस ने भी इस घटना की जाच के लिए एक समिति नियुक्त की। इस समिति की रिपोर्ट में जनरल डायर के कृत्य की घोर भत्सना की गई। समिति के विचार से मृतको की सख्या सरकारी रिपोर्ट की अपेक्षा कही अधिक थी। काग्रेस ने माँग की कि मृत व्यक्तियो के सम्बन्धियो को पर्याप्त अधिक सहायता दी जाय और इस हत्याकाण्ड के दोषी अधिकारियो को कठोर दण्ड दिया जाय। परन्तु इसकी कोई सुनवाई नही की गई। अग्रेजो के इस रवये से गाधी जी बहुत असन्तुष्ट हो गये। दिसम्बर 1919 तक उनका दृष्टिकोण ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करने का बना रहा था। परन्तु अब वे असहयोगी होने गये और सितम्बर 1920 में वे पक्के असहयोगी बन गये।

✓ (4) खिलाफत आन्दोलन—लार्ड मिण्टो ने भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता का विष फलाकर भारतीय मुसलमानो को काग्रेस का विरोधी बना लिया था। परन्तु घटनाचक्र ने 1916 में काग्रेस तथा मुस्लिम लीग को बहुत कुछ समीप ला दिया था। यद्यपि मुसलमानो को राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक रखने के निमित्त साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति बनी रही स्वय काग्रेस-लीग

समझौते ने भी इसे स्वीकार कर लिया था, और 1911 के सुधार कानून मे भी इसे मान्य किया गया था, तथापि युद्ध की अवधि मे भारत के मुसलमान अग्रेजो से असन्तुष्ट रहे। राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रभावशाली बनाने के निमित्त भावी कार्यक्रम मे काग्रेस को मुसलमानो का सहयोग प्राप्त होने का यह सर्वोत्तम अवसर था। अत मुसलमानो के असन्तोष मे खिलाफत आन्दोलन के साथ काग्रेस ने भी मुसलमानो का साथ दिया।

खिलाफत आन्दोलन

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की अवधि मे 19वी शताब्दी के अन्तिम चरणो मे सर सैय्यद अहमद खाँ के विचारो तथा प्रचारो ने भारतीय मुसलमानो के मानस मे पृथकतावादी भावना भर दी थी। इसका लाभ अग्रेजो ने उठाया और स्वतन्त्रता आन्दोलन मे काग्रेस के बढते हुए प्रभाव को अवरुद्ध करने के उद्देश्य से एक प्रतिगामी सगठन मुस्लिम लीग को खडा कर दिया। 1909 के शासन सुधार कानून ने साम्प्रदायिक निर्वाचन रूपी विष फैलाकर भारत की राष्ट्रीय शक्तियो को भारी धक्का पहुँचाया। परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध की अवधि मे मुस्लिम साम्प्रदायिकता ने एक नया मोड लिया, जो कम से कम थोडे से समय तक ही सही, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को प्रभावशाली बनाने के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता के मार्ग मे बहुत सहायक सिद्ध हुआ। 1916 मे जहाँ एक ओर काग्रेस के उग्र तथा उदार गुटो मे एकता आ गयी, वहाँ काग्रेस तथा लीग के मध्य भी लखनऊ के समझौते ने एकता का सचार किया। इस समय ब्रिटिश साम्राज्यवादी प्रथम विश्व युद्ध मे उलझे हुए थे, और वे इस साम्प्रदायिक एकता को देखकर बहुत क्षुब्ध होते हुए भी इसे तोडने की दिशा मे कुछ न कर सके। उन्हे युद्ध-प्रयासो के लिए भारतवासियो के सहयोग की अधिक चिन्ता थी जो उन्हे प्राप्त होता आ रहा था।

परन्तु युद्ध मे टर्की का प्रवेश भारतीय मुसलमानो के एक वर्ग के लिए चिन्ता का विषय बन गया था। वे टर्की के सुलतान को अपना खलीफा मानते थे और समस्त अरब क्षेत्र मे मुस्लिम तीर्थ स्थानो मे टर्की के ओटोमन साम्राज्य की सम्प्रभुता बनाये रखना और उन तीर्थ स्थानो की सुरक्षा की गारन्टी चाहते थे। जब यह निश्चित हो गया कि युद्ध मे टर्की जर्मनी के साथ अग्रेजो के विरुद्ध लडेगा तो यह भय था कि भारत के मुसलमान अग्रेज सरकार का साथ दे या टर्की के प्रति निष्ठावान बने रहे। भारत का 'मुस्लिम जनमत इस विषय पर विभाजित था कि कुछ लोग सरकार के प्रति निष्ठावान रहकर उसे युद्ध मे मदद देना चाहते थे। कुछ ओटोमन खलीफा के भविष्य के बारे मे चिन्तित थे।'[1] प्रथम वर्ग मे जिन्ना प्रमुख थे और द्वितीय मे अब्दुलबारी, डा० अन्सारी, अजमल खा, अबुल कलाम आजाद आदि थे। ये उलेमा वर्ग के थे। इन्होने अफगानिस्तान, सीमा प्रान्त तथा अरब देशो मे अपने अभिकर्ता इस उद्देश्य से भेजे कि वे टर्की को जर्मनी की सहायता से भारत की ओर बढने के लिए प्रोत्साहित करे ताकि भारत से अग्रेजो की सत्ता को उखाडा जा सके।[2] काग्रेस लीग एकता भी अग्रेजो के लिए चिन्ता का विषय बन गयी थी। अत अग्रेजो ने मुस्लिम उलेमा को विश्वास दिया कि युद्ध मे अरब के मुस्लिम तीर्थो तथा मेसोपोटामिया को पूर्णत सुरक्षित रखा जायेगा।

अक्टूबर-नवम्बर 1918 मे मित्र-राष्ट्रो के समक्ष जर्मनी तथा टर्की की पराजय हो गयी। सेवर्स मे टर्की के साथ अग्रेजो ने सन्धि की। इसके अनुसार टर्की के साथ अग्रेजो का व्यवहार अत्याचारपूर्ण सिद्ध हुआ। मुस्तफा कमाल पाशा टर्की शासक बना, उसने किसी तरह टर्की को और अधिक बरबाद होने से तो बचा लिया, परन्तु अरब क्षेत्रो मे स्थित मुस्लिम तीर्थ स्थानो पर टर्की की सम्प्रभुता नही रही। इस प्रकार मुस्लिम जगत मे टर्की के सुलतान की खिलाफत समाप्त हो गयी। खलीफा पद की ऐसी प्रतिष्ठा-भग्नता से उसके प्रति निष्ठावान भारतीय मुस्लिम वर्ग को भारी आघात पहुँचा। 1918 के मुस्लिम लीग के वार्षिक अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए

[1] Tara Chand *History of the Freedom Movement in India*, Vol III, 415
[2] *Ibid*

फजलुल हक ने घोषणा की कि इस घटना से भारत में इस्लाम का भविष्य अंधकारमय लगता है। विश्व में जहा कहा भी मुस्लिम शक्ति का ह्रास होगा उसका कुप्रभाव भारत के मुस्लिम सम्प्रदाय के राजनीतिक जीवन पर अवश्य पड़ेगा। उलमा के अन्य प्रमुख नेताओं की भी ऐसी ही भावनायें थी। इस प्रकार भारत के मुस्लिम सम्प्रदाय के धर्म प्रेरित वर्ग के मन में टर्की के खलीफा के प्रति ब्रिटेन के व्यवहार के कारण भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति भी रोष उत्पन्न हो गया। कांग्रेस लीग समझौते के फलस्वरूप होम रूल कार्यक्रम में लीग शामिल हो चुकी थी। इधर खिलाफत आन्दोलन का वातावरण तैयार हो चुका था।

सितम्बर 1919 में लखनऊ में एक सम्मेलन आयोजित किया गया और उसमें एक अखिल भारतीय खिलाफत समिति का निर्माण किया गया जिसके अध्यक्ष सेठ छोटानी और मंत्री मौलाना शौकतअली नियुक्त किये गये। नवम्बर 1919 में दिल्ली में दूसरा सम्मेलन हुआ जिसमें फजलुल हक ने सभापतित्व किया। इस सम्मेलन में गांधी जी, मोतीलाल नेहरू तथा मदनमोहन मालवीय जी भी उपस्थित थे। अगले दिन स्वयं गांधी जी को सम्मेलन का सभापति चुना गया। खिलाफत आन्दोलन के मुस्लिम वर्ग के साथ गांधी जी तथा कांग्रेस के सभी उच्चतम नेताओं की पूर्ण सहानुभूति बनी रही। यहां तक कि तिलक, मालवीय जी तथा लाला लाजपतराय सदृश कट्टरपंथी हिन्दू नेता भी खिलाफत आन्दोलन के समर्थक बन गये। इस प्रकार कांग्रेस के नेतृत्व ने मुस्लिम धर्म प्रेरित खिलाफत आन्दोलन को हिन्दू मुस्लिम एकता का एक राजनीतिक अस्त्र बनाया। इससे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को पर्याप्त शक्ति प्राप्त होने की आशा की गयी थी। कांग्रेस तथा खिलाफत समिति पर्याप्त भ्रातृत्व के वातावरण में कार्य करने लगी। खिलाफत समिति ने ब्रिटिश प्रधानमन्त्री तथा वाइसराय के पास प्रतिनिधि मण्डल भेजे और भारतीय मुसलमानों की भावनाओं को टर्की के खलीफा के साथ किये गये अन्यायों के विरुद्ध पहुंचाकर उन्हें ठीक करने की मांग की परन्तु उन्हें निराश होना पड़ा।

इधर महात्मा गांधी ने ब्रिटिश सरकार के भारत स्वायत्त शासन की मांगों के प्रति उपेक्षापूर्ण रवैया अपनाने तथा शान्तिपूर्ण एवं सरकार के साथ निरन्तर सहयोग करने वाली जनता को रौलट एक्ट, जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड आदि दमनकारी तरीकों से व्यवहार करने की नीतियों के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन का कार्यक्रम बना लिया था। जब खिलाफत समिति को भी ब्रिटिश शासन ने उपेक्षित किया तो खिलाफत आन्दोलन के नेता भी गांधी जी के असहयोग आन्दोलन के समर्थक बन गये। दोनों संगठनों ने असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया।

कार्यक्रम—कांग्रेस तथा खिलाफत समिति के सह नेतृत्व में गांधीजी के असहयोग आन्दोलन का कार्यक्रम साथ साथ चला। गांधी जी का कहना था कि यदि हिन्दू जनता मुसलमानों के साथ शाश्वत मित्रता चाहती है तो उसे भी इस्लाम के सम्मान की रक्षा के लिए मर मिटना चाहिए। इस प्रकार दोनों संगठनों ने जो कार्यक्रम अपनाया उसे खिलाफत कान्फ्रेंस ने अपने कराची अधिवेशन में जुलाई 1921 में निम्नांकित रूप दिया

(1) खिलाफत मांगों की पूर्ति की उपलब्धि करना

(2) टर्की की सम्प्रभुता पर किसी भी मर्यादा की अस्वीकृति

(3) अरब क्षेत्रों में स्थित मुस्लिम तीर्थ स्थानों के ऊपर किसी भी गैर मुस्लिम नियन्त्रण की अस्वीकारोक्ति

(4) ब्रिटिश सेना में किसी भी मुसलमान द्वारा भर्ती को इस्लाम धर्म के विरुद्ध मानना और

(5) भारत में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध सविनय अवज्ञा कार्यक्रम में कांग्रेस के साथ सहचार करना तथा यदि ब्रिटिश सरकार टर्की में कोई सैनिक कार्यवाही करे तो भारत में गणतन्त्र की स्थापना के निमित्त पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा करना।

खिलाफत आन्दोलन के नेताओं ने असहयोग आन्दोलन में निष्ठापूर्वक भाग लिया। ब्रिटिश सरकार का दमन चक्र भी तीव्र हुआ। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के प्रयासधारियों से सरकार से

कोई अनुदान न प्राप्त करने का अनुरोध किया गया। जब उन्होने इस माग को न माना तो आन्दोलनकारियो ने दिल्ली मे जामिया मिलिया इस्लामिया की स्थापना की। उलेमा के नेताओ को बन्दी किया गया। इस प्रकार खिलाफत आन्दोलन ने असहयोग आन्दोलन को तीव्र बनाने मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

आन्दोलन की दुर्बलतायें तथा प्रभाव—यह एक आश्चर्य की बात थी कि भारत के एक धर्म-प्रेरित मुस्लिम वर्ग की अभिरुचि टर्की के सुलतान की मुस्लिम जगत मे खलीफा के रूप मे सम्प्रभुसत्ता बनाये रखने के प्रति इतनी अधिक थी। डा० ताराचन्द के अनुसार 'अफ्रीका, यूरोप तथा एशिया के मुस्लिम देशो के साथ भारतीय मुसलमानो की सहानुभूति पूर्णत आदर्शवादी अथच पूर्णतया अव्यावहारिक थी।'[1] अन्य मुस्लिम देशो के मध्य इस्लामी एकता का आधार अनेक प्रकार के राजनीतिक सम्बन्धो का होना था। जहाँ भारतीय मुसलमान अन्य सम्पूर्ण इस्लामी देशो के मध्य एकता की कामना करते थे, और टर्की के सुलतान को सम्पूर्ण मुस्लिम जगत की धार्मिक सम्प्रभुता (खलीफा) देना चाहते थे, वहाँ यह भी सन्देह है कि विश्व के अन्य मुस्लिम देश भारत के अपने मुस्लिम भाइयो को ऐसी ही दृष्टि से देखते हो। दूसरी ओर स्वय पश्चिम एशिया तथा अरब के अनेक मुस्लिम देश अपने ऊपर ओटोमन सुलतान के राजनीतिक या धार्मिक प्रभुत्व को मानने के लिए तैयार नही थे। स्वय भारत मे सर सैयद सदृश मुस्लिम नेता टर्की के सुलतान को खलीफा मानने के लिए तैयार नही थे। इस प्रकार भारतीय मुसलमानो का खिलाफत आन्दोलन कोरा धार्मिक आदर्शवाद था। आन्दोलन को राजनीतिक स्वतन्त्रता आन्दोलन का रूप देना और स्वय काग्रेस के राष्ट्रीय नेताओ द्वारा इसके माध्यम से हिन्दू-मुस्लिम एकता का स्वप्न देखना भ्रामक था। फिर भी गाधी जी का मत था कि राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्यक्रम मे खिलाफत आन्दोलन का सहयोग प्राप्त करना मानवीय तथा नैतिक दृष्टि से उचित था। यह सकीर्ण अर्थ मे राजनीतिक नही था, भले ही राष्ट्रीय हितो के स्थायी सरक्षण के निमित्त इसका उपयोग किया गया था।[2]

भारतीय मुसलमानो का यह आन्दोलन विजयी मित्र-राष्ट्रो, जिनमे इग्लैण्ड प्रमुख था, को खलीफा की सम्प्रभुता तथा मुस्लिम तीर्थ स्थानो मे उसके नियन्त्रण को बनाये रखने को विवश नही कर सकता था। परिणाम यह हुआ कि जिन मुसलमानो ने युद्ध मे अग्रेजो के साथ लडकर टर्की मे अग्रेजो को विजयी बनाया उनके नेताओ को अग्रेजो ने खलीफा के बारे मे जो आश्वासन दिये थे, वे पूर्ण नही हो पाये। अरब देशो के ऊपर इग्लैण्ड, फ्रास आदि मित्र-राष्ट्रो का प्रभुत्व कायम हो गया। खिलाफत आन्दोलनकारी अग्रेजो को अपनी नीति बदलने को बाध्य नही कर सके।

केरल मे जब मोपला विद्रोह खडा हुआ तो धर्मान्ध मोपला विद्रोहियो को सरकार द्वारा दमनात्मक तरीको से कुचलने के प्रयास मे उल्टे मोपलो ने वहाँ के हिन्दुओ के ऊपर ही अत्याचार कर दिया। इसके कारण लाला लाजपतराय तथा मालवीय जी को तथाकथित हिन्दू-मुस्लिम एकता मे सदेह हो गया। जब चौराचौरी काड के फलस्वरूप गाधी जी ने अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन स्थगित कर दिया तो खिलाफत आन्दोलन के अनेक नेताओ को गाधी जी के ऐसे रवैये पर ही असन्तोष होने लगा। स्वय काग्रेस का नेतृत्व गाधी जी से रुष्ट हो गया। पडित मोतीलाल नेहरू, मालवीय जी तथा सी० आर० दास ने उदारवादी स्वराजिस्ट दल का निर्माण किया और उन्होने 1919 के सुधार कानून मे सरकार को सहयोग देकर उक्त कानून की खामियो को प्रकट मे लाने का कार्यक्रम बनाया। अक्टूबर 1922 मे कमाल पाशा के नेतृत्व मे टर्की मे गणतन्त्र की स्थापना कर दी गयी। सुलतान को नामधारी खलीफा बनाया गया जिसके हाथ से लौकिक सत्ता छिन गयी। कालान्तर मे खलीफा का पद ही समाप्त कर दिया गया और इस प्रकार भारतीय मुसलमान खिलाफत नेताओ को घोर असन्तोष तथा निराशा का सामना करना पडा।

इस प्रकार खिलाफत आन्दोलनकारियो को एक ओर तो ब्रिटिश सरकार के दमनचक्रो

[1] *Ibid*, 419 [2] *Ibid* 491

का सामना करना पडा तो दूसरी आर असहयाग आदोलन की वापसी न उनके उत्साह को ठण्डा कर दिया और तीसरी आर स्वय टर्की म हुए विकास क्रम न उनकी आशाआ पर पानी फेर दिया। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन क इतिहास म खिलाफत आदोलन की घटना आन्दोलन की सफलता क माग म एक कडुवा घट सिद्ध हुई। प्रारम्भ म जो हिन्दू मुस्लिम एकता का वातावरण इसके कारण बना था वह इस आन्दोलन की असफलता क कारण सदा क लिए समाप्त हा गया। डा ताराचन्द क शब्दा म यह स्वाभाविक था कि अत्यधिक भावुक तथा धमान्ध खिलाफतिया न अपने उद्देश्य की असफलता क लिए गाधी जी का दाष दिया और अब व एस सम्प्रदाय स जो उनकी राय म उनकी असफलता का कारण था अपन का पृथक रखन का विचार करने लग।[1] भारतीय मुसलमाना क लिए तत्कालीन सदभ म खिलाफत की समस्या मुख्य थी स्वायत्त शासन की माँग गौण। वास्तव म धार्मिक उद्देश्य स प्ररित आदोलन राजनीतिक उद्देश्या का सफल नही बना सकता था। गाधी जी की राजनीति धम नतिकता तथा मानवतावादी सभा कुछ हो सकती ह परन्तु यह उनकी भूल थी कि उन्हान एक धर्मान्ध आन्दोलन को राजनीति का अस्त्र बनाया जो भावी कायक्रम के निमित्त पूणतया विराधी सिद्ध हुआ। खिलाफत आन्दोलन की असफलता न *भारतीय मुसलमाना क एक वग को पृथक राष्ट्रीयता की भावना स भर दिया और बाद की अवधि* म एक बार पुन ब्रिटिश शासका का साम्प्रदायिक पाथक्य का उकसाने तथा उसका लाभ प्राप्त करन का अवसर प्रदान किया।

काग्रेस द्वारा असहयाग आदालन की स्वीकृति

स्पष्ट ह कि 1919 क सुधार कानून से उत्पन्न असन्तोष रौलट एक्ट जलियावाला बाग हत्याकाण्ड तथा खिलाफत आदोलन न काग्रस क उग्रवादी तथा प्रगतिवादी वग को ब्रिटिश सरकार स असहयाग करन की नीति अपनान क लिए विवश कर दिया था। उस समय काग्रस का नतत्व उग्रवादी नताआ क हाथ म था। अगस्त 1920 म तिलक की मृत्यु हा जान पर काग्रस का पूण नतत्व गाधी जी क हाथ म आ गया। सितम्बर 1920 म कलकत्ता म काग्रस का विशष अधिवेशन हुआ। यद्यपि इस अधिवेशन म गाधी जी द्वारा प्रस्तुत असहयाग आदोलन क प्रस्ताव को काग्रस के विशाल बहुमत का समथन प्राप्त नही हुआ क्याकि सी आर दास लाजपत राय मालवीय जी विपिन चन्द्र पाल जिन्ना तथा एनी बसन्ट इसक समथन म नही थ। तथापि थाड़ स बहुमत स यह पास हो गया। बाद म दिसम्बर 1920 के काग्रस क नियमित नागपुर अधिवेशन म काग्रस न एक विशाल बहुमत स इसकी पुष्टि कर दी।

इस दृष्टि से भारतीय राष्ट्रीय काग्रस का 1920 का नागपुर अधिवेशन काग्रस क इतिहास म अत्यन्त महत्त्वपूण स्थान रखता है। इसके पश्चात् काग्रस की राजनीतिक भिक्षावृत्ति की नीति सदा क लिए समाप्त हा गई और उसका स्थान अहिंसात्मक सघष न लिया। इसस पूव काग्रस का उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य क अतगत स्वायत्त शासन प्राप्त करना था। अब उसका उद्देश्य एस स्वराज्य की प्राप्ति करना हा गया जा यदि सम्भव हा ता ब्रिटिश साम्राज्य क अदर लिया जा सकता है और यदि आवश्यक हा तो उसस बाहर रहकर। अब काग्रस अपन उद्देश्य की पूर्ति के लिए कवल वधानिक साधना क अवलम्बन करन तक सीमित नही रही। महात्मा गाधी सत्याग्रह का सफल प्रयोग दक्षिण अफ्रीका म कर चुक थ अत सत्य तथा अहिंसा पर उनका अटूट विश्वास हो चुका था। उनके नतृत्व म काग्रस की कायविधि अहिंसात्मक सत्याग्रह की घाषित की गया। इस हतु काग्रस न अपन उद्देश्या की प्राप्ति क लिए समस्त शान्तिपूण तथा औचित्यपूण साधना को

[1] It was natural that the more sent me t l and fanat cal amo g them sho ld blam Gandh ji f the r untowa d pred came t d beg to e tert in ideas of e l ess d isol tion from the commun ty wh ch their p nion had failed th m —T r Chand p cit Vol III 505

प्रयुक्त करने का सकल्प किया। कांग्रेस ने यह अनुभव किया कि उसे अपने उद्देश्य पूर्ण करने के लिए मात्र वैधानिक साधनो से सफलता नही मिल सकती, क्योंकि अतीत मे ऐसे साधनो से उसे कोई लाभ नही हुआ था।

असहयोग आन्दोलन का कार्यक्रम

काग्रेस ने असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव पास करने के साथ-साथ अपने कार्यकर्ताओ तथा जनता से निम्नाकित कार्यवाही करने का आह्वान किया, जो असहयोग आन्दोलन के कार्यक्रम की सूचक है—

(1) समस्त पदवियो तथा अवैतनिक पदो का परित्याग करना,
(2) स्थानीय स्वशासन सस्थाओ के नामाकित पदो से त्याग-पत्र देना,
(3) सरकारी पदाधिकारियो के द्वारा आयोजित तथा उनके सम्मान मे किये गये उत्सवो का वहिष्कार,
(4) सरकारी एव सरकारी सहायता प्राप्त विद्यालयो मे वच्चो के प्रवेश को रोकना,
(5) वकीलो तथा वादी-प्रतिवादियो द्वारा न्यायालयो का वहिष्कार,
(6) मेसोपोटामिया मे भारतीय सैनिक सेवाओ की प्रविष्टि का विरोध,
(7) 1919 के कानून द्वारा सगठित की जाने वाली परिपदो के लिए उम्मीदवारी तथा मतदान करने का वहिष्कार।
(8) विदेशी माल का वहिष्कार,
(9) राष्ट्रीय शिक्षा सस्थाओ की स्थापना तथा उनका अधिकाधिक उपयोग,
(10) लोक न्यायालयो की स्थापना से उनमे पचायती निर्णयो से विवादो को हल कराना,
(11) हथ-करघा तथा कुटीर उद्योगो के विकास द्वारा स्वदेशी माल का उपयोग,
(12) साम्प्रदायिक एकता का विकास,
(13) छुआछूत के भेदभाव का अन्त करना, तथा
(14) सर्वत्र अहिसात्मक ढग से आचरण करते हुए उक्त कार्यक्रम को सम्पन्न करना।

गाधी जी का विश्वास था कि यदि यह कार्यक्रम ईमानदारी तथा सच्ची भावना से कार्यान्वित किया जाय तो भारत एक वर्ष की अवधि मे स्वराज्य प्राप्त कर सकता है। असहयोग आन्दोलन का यह कार्यक्रम पहले के स्वदेशी तथा वहिष्कार आन्दोलन का ही विकसित रूप था। इसके दो पक्ष थे। एक ओर यह ब्रिटिश सरकार से असहयोग करने के तरीको को बताता है, और दूसरी ओर यह उन रचनात्मक कार्यो पर जोर देता है जो वहिष्कार तथा असहयोग के फल-स्वरूप होने वाली रिक्तता को भरने मे सहायक सिद्ध हो।

आन्दोलन

असहयोग आन्दोलन कैसे प्रारम्भ किया जाय, यह वात नयी नही थी। 1919 मे रौलेट एक्ट तथा जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड के विरुद्ध जनता विरोध कर चुकी थी। काग्रेस द्वारा असहयोग आन्दोलन की घोषणा करते ही 1919 के सुधार कानून के अनुसार होने वाले चुनावो मे काग्रेसी उम्मीदवार अलग-हो गये। 1921 के प्रारम्भ से ही आन्दोलन के कार्यक्रम पर अमल होने लगा। मतदाताओ तक ने बहुत बडी सख्या मे मतदान का वहिष्कार किया। गाधी जी तथा अन्य नेताओ ने अपनी कैसरे-हिन्द की पदवियाँ वापिस कर दी थी। बच्चो ने सरकारी स्कूलो मे जाना बन्द कर दिया। अनेक महान् नेताओ, यथा सी० आर० दास, मोतीलाल नेहरु, डा० राजेन्द्र प्रसाद, जवाहरलाल नेहरु, विट्ठलभाई पटेल, वल्लभभाई पटेल आदि ने वकालत करना छोड दिया। विदेशी माल का वहिष्कार बडी द्रुत गति से होने लगा। न्यायालयो का भी वहिष्कार किया जाने लगा। यह सब शान्तिपूर्ण तथा अहिसात्मक ढग से हुआ। दूसरी ओर देश के अनेक

धनी व्यक्तियों ने (सेठ जमनालाल बजाज प्रभृति) बहिष्कार के फलस्वरूप हानि भोगने वालों को सहायता दी। देश में चरखा उद्योग द्रुतगति से फैला। अनेक राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं (काशी विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, राष्ट्रीय कॉलेज लाहौर, जामिया मिलिया दिल्ली, अलीगढ़ राष्ट्रीय मुस्लिम विश्वविद्यालय आदि) की स्थापना की गयी। हिन्दू मुस्लिम एकता जिस रूप में इस बीच विकसित हुई वैसी कभी नहीं हो पायी। छुआछूत की बुराई का ज्ञान भी जनता को होने लगा।

इस आन्दोलन की एक सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि यह आन्दोलन प्रारम्भ के राष्ट्रीय आन्दोलनों की भाँति थोड़े-से शिक्षित वर्ग तक सीमित नहीं रहा अपितु यह आम जनता का आन्दोलन बन गया। हिन्दू मुस्लिम एकता ने इसे और अधिक प्रभावशाली बना दिया। थोड़े से ब्रिटिश राजभक्त, उदारवादी तथा निहित स्वार्थ वाले वर्ग इसके विरुद्ध रहे। परन्तु जहाँ तक इसके असहयोगात्मक भाग का सम्बन्ध था, उसके प्रचार तथा संचालन में पूर्ण शान्ति तथा अहिंसा सम्भव नहीं थी। सरकार इसे दबाने पर तुली थी। अतः छुट-पुट हिंसात्मक घटनाओं का हो जाना भी अस्वाभाविक नहीं था। दूसरी ओर कांग्रेस द्वारा असहयोग का परिणाम यह हुआ कि उदार वादियों की चल पड़ी। विधानसभाओं में उन्हें पर्याप्त स्थान प्राप्त हो गये। सरकारी-यन्त्र के विफल या डाँवाडोल होने की स्थिति नहीं आ पाई। परन्तु सरकार की व्यग्रता बहुत बढ़ गयी।

सरकार द्वारा दमन—यद्यपि आन्दोलन शान्तिपूर्ण ढंग से विशाल पैमाने में चल रहा था तथापि सरकार इसकी लोकप्रियता तथा सफलता से चिन्तित होने लगी। निस्सन्देह आन्दोलन का प्रचार करने से नेताओं को सरकार विरोधी धारणाएं व्यक्त करनी पड़ीं, अतः सरकार ने यह तय किया कि आन्दोलन को कुचला जाय। क्रान्तिकारी सभाओं के ऊपर कानून द्वारा रोक लगा दी गयी। सरकार ने बल प्रयोग द्वारा आन्दोलन को दबाना प्रारम्भ किया। इसके लिए उसका प्रथम चरण अली बन्धुओं को बन्दी करने से आरम्भ हुआ। उनके ऊपर यह आरोप था कि उन्होंने सरकार विरोधी प्रचार करके जनता को हिंसात्मक कार्यवाही करने के लिए प्रोत्साहित किया है।

नवम्बर 1921 में प्रिंस ऑफ वेल्स की भारत यात्रा होने वाली थी। सरकार चाहती थी कि राजकुमार के प्रति भारतवासी पूर्ण राजभक्ति व्यक्त करें। परन्तु कांग्रेस ने राजकुमार के स्वागत का भी बहिष्कार किया क्योंकि सरकार की दमन नीति तथा अली बन्धुओं को मुक्त न करने की हठधर्मिता कांग्रेस को मान्य नहीं थी। इससे सरकार का रोष और अधिक बढ़ा। इसी बीच मलाबार में मोपला विद्रोह ने सरकार को खिलाफत आन्दोलन के प्रति भी रुष्ट कर दिया था। मोपला विद्रोह में अनेक यूरोपीय तथा हिन्दू भी मारे गये थे। सरकार ने इसका आरोप अली-बन्धुओं पर लगाया और उन्हें बन्दी बनाये रही। सरकार के दमनचक्र के कारण कांग्रेस कार्य समिति ने यह तय किया कि जिस दिन राजकुमार बम्बई पहुँचें उस दिन नगर में पूर्ण हड़ताल रखी जाय। सरकार ने बहिष्कार करने वालों तथा हड़तालियों को दबाने की कोशिश की। परन्तु स्वयंसेवक संघों के विकास को वह नहीं रोक सकी। कई स्थानों पर हिंसात्मक दमन भी किया। जनता की ओर से हिंसात्मक कार्यों के करने की गाँधी जी ने निन्दा की। सरकार ने कांग्रेस तथा खिलाफत समिति सहित अनेक स्वयंसेवी संगठनों को अवैध घोषित कर दिया। पुलिस ने भी आन्दोलनकारियों को दबाने में हिंसा का प्रयोग किया। आन्दोलन तीव्र होता गया और दिसम्बर 1921 तक सरकार ने सी० आर० दास, मोतीलाल नेहरू, लाजपतराय, मौलाना आजाद आदि प्रमुख नेताओं को बन्दी कर लिया। हजारों की संख्या में अन्य सत्याग्रही भी बन्दी कर लिये गये।

दिसम्बर 1921 में प्रिंस ऑफ वेल्स कलकत्ता पधारने वाले थे। सरकार ने पुनः कांग्रेस से सहयोग चाहा। परन्तु कांग्रेस राजी नहीं हुई। उसने अली बन्धुओं को मुक्त करने की शर्त रखी जो सरकार को अमान्य थी। अधिकांश उच्च नेता जेलों में थे। गाँधी जी को ही सरकार ने इसलिए खुला रखा कि उन्हें बन्दी करने पर आन्दोलन और अधिक तीव्र हो जायगा। कांग्रेस ने भी उन्हीं के ऊपर आन्दोलन के संचालन का पूरा भार डाल दिया था।

आन्दोलन का स्थगित किया जाना--असहयोग आन्दोलन अपने कार्यक्रम के अनुसार अधिकाशत सफलतापूर्वक तथा पर्याप्त प्रभावशाली ढग से चल रहा था। इससे ब्रिटिश शासको की चिन्ता बढती गयी। अत उन्होने इसे अधिक लोकप्रिय बनने से रोकने मे कोई कमी नही रखी। आन्दोलन का एक भाग क्रान्तिकारी अवश्य था, परन्तु कार्यक्रम का उद्देश्य अहिसात्मक था। परन्तु ऐसी सम्भावनाओ से इनकार नही किया जा सकता था कि एक जन-आन्दोलन जिसे सरकार बल-प्रयोग द्वारा दबाने पर तुली हुई थी, पूर्णत अहिसात्मक ही चल पायेगा। सरकार ने इसे दबाने मे जिस उग्र दमन की नीति को अपनाया था, उससे आन्दोलनकारियो के उग्र वर्ग मे थोडी-बहुत हिसा की प्रवृत्ति उत्पन्न होना स्वाभाविक था। गाधी जी को छोडकर शेप सभी बडे-बडे नेता जेलो मे थे। अत दिसम्बर 1921 के काग्रेस अधिवेशन मे आन्दोलन को और अधिक तीव्र करने का प्रस्ताव स्वीकार किया गया। इसके साथ सविनय अवज्ञा को भी जोडा गया। गाधी जी ने फरवरी 1922 मे गवर्नर-जनरल को एक पत्र लिखकर उसमे सरकार को 7 दिन का समय यह विचार करने के लिए दिया कि वह दमन की नीति को छोडे, अन्यथा सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया जायेगा। परन्तु इसी बीच गोरखपुर जिले के चौरीचौरा नामक स्थान पर एक हिसात्मक काण्ड हो गया। एक क्रुद्ध आन्दोलनकारी भीड ने एक थानेदार तथा 21 पुलिस के सिपाहियो को बलात् थाने मे बन्द करके उन्हे जीवित जला दिया। इस घटना मे महात्मा गाधी को बडा दु ख हुआ। उनके अहिसा के सिद्धान्त से आन्दोलन सर्वथा प्रतिकूल था। अत तुरन्त उन्होने असहयोग आन्दोलन समाप्त करने की घोषणा कर दी।

स्थगन की प्रक्रिया—असहयोग आन्दोलन को स्थगित करने के गाधी जी के आदेश का काग्रेस तथा मुसलमानो दोनो ने विरोध किया। काग्रेस के शीर्षस्थ नेताओ के मत से जब आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था, तो उस समय एकाएक उसे वापिस ले लेना बुद्धिमानी नही थी। यद्यपि आन्दोलन की अवधि मे खिलाफत प्रश्न को लेकर हिन्दू-मुस्लिम एकता सुदृढ हो चुकी थी और मुसलमान भी आन्दोलन मे शामिल थे, तथापि वे राजनीति मे गाधी जी के अहिसा के सिद्धान्त से सहमत नही थे। अत आन्दोलन के स्थगन से वे रुष्ट हो गये। यद्यपि उस समय आन्दोलन के स्थगन का विरोध किया गया था तथापि गाधी जी का निर्णय सर्वथा अयुक्तिपूर्ण नही माना जा सकता। चौरीचौरा काण्ड की सी घटनाएँ अन्यत्र भी घट सकती थी। जो सरकार अहिसात्मक आन्दोलन को बल-प्रयोग से दबाने पर तुली थी, वह हिसात्मक घटनाओ को और अधिक रफ्तार से कुचलती। इसका परिणाम यह होता कि क्रान्ति भी हिसात्मक होती जाती। उच्च नेताओ के कारावास मे होने के कारण आन्दोलन का सही नेतृत्व नही हो पाता। अत इस सबका परिणाम भयावह होता। परन्तु तत्काल गाधी जी के ऐसे निर्णय का बहुत विरोध हुआ। जेलो मे बन्दी नेताओ ने भी इसे अनुचित माना। साथ ही काग्रेस के उग्र तथा प्रगतिशील तत्त्व तो स्थगन से बहुत रुष्ट हुए।

दूसरी ओर सरकार इससे बहुत लाभान्वित हुई। सरकार का प्रथम कदम यह रहा कि उसने गाधी जी के विरुद्ध उत्पन्न राष्ट्रवादी रोष का लाभ उठाकर मार्च 1922 मे उन्हे बन्दी करके उनके ऊपर अभियोग चलाने की स्वीकृति दे दी। अभी तक सरकार ऐसा साहस नही कर सकी थी। अभियोग मे गाधी जी ने यह स्वीकार किया कि उन्होने शासन विरोधी अभियान शुरू किया था। साथ ही उन्होने यह भी घोषणा की कि एक स्वतन्त्र नागरिक के रूप मे जेल से छूटने पर वह अपने तथा भारत की जनता के न्यायोचित अधिकारो की माँग के समर्थन मे पुन यही कार्य करेगे। उनकी यह घोपणा बहुत महत्त्वपूर्ण एव प्रभावोत्पादक थी। गाधी जी को न्यायालय ने छ वर्ष के कारावास का दण्ड दिया। परन्तु दो वर्ष पश्चात् 1924 मे स्वास्थ्य की खराबी के कारण उन्हे मुक्त कर दिया गया। सम्भवत अब सरकार के समक्ष बहुत गम्भीर समस्या नही थी। आन्दोलन शान्त हो चुका था गाधी जी का विरोध भी बहुत हो रहा था। उनके कारावास

काल की अवधि म परिस्थितिया भी बदल चुकी थी। खिलाफत आन्दोलन समाप्ति पर था काग्रेस न कौंसिल प्रवेश की नीति अपनायी थी। इसलिए भी सरकार को उन्हें जेल से मुक्त कर देने में कोई हानि प्रतीत नहा हुई।

असहयोग आन्दोलन का प्रभाव

कई परिस्थितियों के कारण असहयोग आन्दोलन वाछित सफलता प्राप्त नहा कर सका। गाधी जी का आशावाद समयोचित नहा था। जसा नताजी सुभाषचन्द्र का मत है गाधी जी द्वारा एक वष म स्वराज्य प्राप्त कर लन की घोषणा करना न कवल अविवेकपूर्ण था अपितु बच्चा का सा आशावाद था।[1] आन्दोलन का सघर्षात्मक पक्ष अहिसापूर्ण ढग म सचालित हो सकना सम्भव नही था। जो सरकार जलियावाला बाग जसी अमानवीय घटनाओ क लिए उत्तरदायी अधिकारी जनरल डायर क कृत्य को एक मामूली भूल बताकर उस सम्मान प्रदान कर सकती थी उसस यह आशा करना कि वह अहिसात्मक आन्दोलन क समक्ष झुक जायगी या सामान्य रूप से विद्रोह तक का कुचलन म हिंसा का अवलम्बन नही करेगी एक भूल थी। हिंसा प्रतिहिंसा को उत्पन्न करती है। जब सरकार न आन्दोलनकारियो क विरुद्ध दमन की नीति अपनायी वहा आन्दोलन कारियो का हिंसा की ओर झुकाव हो जाना अस्वाभाविक नहीं हो सकता था। ऐसी स्थिति मे आन्दोलन का स्वरूप ही बदल जाता और वह अहिसात्मक नहा रह जाता। इस आन्दोलन की एक बहुत बड़ी दुबलता यह थी कि इसके साथ खिलाफत आन्दोलन का सयुक्त किया गया था। असहयोग आन्दोलन पूर्णतया राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन था जबकि खिलाफत आन्दोलन भारतीय मुसलमाना का टर्की क सुल्तान क समथन म एक विशुद्ध रूप स धार्मिक आन्दोलन था जिसका भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता स कोई सम्बन्ध नही था। टर्की की खलीफा सम्बन्धी समस्या दूसर ढग स हल हुई। वहा कमाल पाशा के नतृत्व म धर्मनिरपेक्ष गणतन्त्र राज्य कायम हुआ। परिणामस्वरूप भारतीय धम प्रेरित मुसलमाना का खिलाफत आन्दोलन स्वय ठण्डा पड़ गया। यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात थी कि स्वय टर्की की जनता भारतीय मुसलमाना क खिलाफत आन्दोलन को एक मजाक समझती रही थी। अत ज्योही खिलाफत आन्दोलन समाप्ति की ओर आया त्योहा मुसलमान असहयोग आन्दोलन अथवा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन स ही असहयोग करने लग गय। उनकी साम्प्रदायिकता की भावना पुन बढ़ गयी। स्वय अनेक मुसलमान भी राजनीति तथा अहिसा के मध्य कोई साम्य नही देखत थ। परिणाम यह हुआ कि गत पाँच या छ वर्षों की अवधि म काग्रेस तथा लीग म जो ऐक्य का वातावरण बनने लगा था वह पुन सदा के लिए समाप्त हो गया। 1921 म मलाबार के मोपला विद्रोह न हिन्दू मुस्लिम भेद भाव का और अधिक बढ़ा दिया और असहयोग आन्दोलन की समाप्ति पर पुन कई स्थाना म हिन्दू मुस्लिम दगे प्रारम्भ होन लग गय। इस दृष्टि म भी असहयोग आन्दोलन की सफलता सिद्ध नहा हो पायी।

परन्तु इन कमिया क होन हुए भी इस आन्दोलन का पूर्णतया असफल नही कहा जा सकता। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सग्राम क इतिहास म इस आन्दोलन के प्रभाव का अमान्य नहीं कहा जा सकता। यद्यपि गाधी जी स पूव तिलक न राष्ट्रीय आन्दोलन को जनता का आन्दोलन बनाने का प्रयास किया था तथापि गाधी जी के इस आन्दोलन न जिस विद्युत् प्रवाह स इस तुरन्त देश की आम जनता का आन्दोलन बनान म सफलता प्राप्त की वह श्रेय तो तिलक तक को कभी प्राप्त नहा हो सका था। तिलक की स्वराज्य की धारणा को देश क कोन कोन म फलान का काय इस आन्दोलन न किया। बहिष्कार तथा स्वदेशी आन्दोलन को इसन व्यापक रूप म रचनात्मक बनाया। विशाल सख्या म चरखा तथा हथ-करघा का निर्माण हुआ। देश भक्त नताओ तथा जनता ने खादी का उपयोग करन का सकल्प ल लिया। इस प्रकार इस आन्दोलन न जनता

को आत्मनिर्भर तथा स्वदेशी का पाठ पढाया। इसने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नयी दिशा प्रदान की। अब मे राष्ट्रीय नेताओ को यह विश्वास हो गया कि केवल वैधानिकतावाद का अवलम्बन करके स्वतन्त्रता तथा शासन सुधारो की माँग पूर्ण नही हो सकती। इसके लिए सघर्ष करना पडेगा। अब जनता मे यह विश्वास बढने लगा कि शासन की बुराइयो के विरुद्ध आवाज उठाना तथा अन्यायपूर्ण शासकीय कानूनो एव आदेशो का विरोध करना अनुचित नही है।

असहयोग आन्दोलन ने राष्ट्रीय आन्दोलन को इतना जनप्रिय बना दिया कि अब राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तथा शासन सुधारो की माँग करना केवल थोडे से शिक्षित वर्गो का विशेष हित नही रह गया। अर्थात् अब जनसाधारण भी निर्भयता के साथ सरकार के दमनकारी कार्य-कलापो का सामना करने के लिए तत्पर हो गये। सरकार की बुराइयो को खुले रूप से व्यक्त करने का साहस जनता मे बढने लगा। राजनीतिक कारणो पर जेल जाना जनता के लिए एक प्रकार की तीर्थ यात्रा सी हो गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय नेताओ का उत्साह भी बढने लगा। अब उन्हे आन्दोलन के लिए जन-सहयोग प्राप्त होने का पूरा आश्वासन मिलने लगा। देश के स्वतन्त्रता सग्राम की सफलता के लिए यह चीज सबसे अधिक वाछनीय थी। राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास मे यह सबसे पहला अवसर था जबकि आन्दोलन राजनीतिक भिक्षावृत्ति तथा वैधानिकतावादी तरीको को छोडकर एक क्रान्तिकारी आन्दोलन के रूप मे परिवर्तित हो गया। ऐसा अनुभव काग्रेस के नेता तभी करने लग गये थे, इसलिए उन्होने गाधी जी के आन्दोलन को स्थगित करने के निर्णय को दुर्भाग्यपूर्ण माना था। परन्तु सम्भवत गाधी जी अधिक दूरदर्शी सिद्ध हुए। भले ही आन्दोलन छोडने के सम्बन्ध मे उनके कुछ साधन समयोचित अथवा पूर्णतया सही न रहे हो, तथापि आन्दोलन मे हिसा का तत्त्व आ जाने पर उसे स्थगित करना उनका युक्तिपूर्ण निर्णय ही कहा जा सकता है। यदि सरकार भी हिसापूर्ण दमन की नीति अपनाती और हिसा-प्रतिहिसा का वातावरण फैल जाता, तो भारत की जनता उस समय उन समस्त साधनो तथा क्षमताओ से युक्त नही थी कि वह ब्रिटिश शासन को उखाड फेंकने मे समर्थ हो जाती। 1942 के पश्चात् की घटनाएँ तक इस तथ्य की साक्षी है कि उस समय जब ब्रिटेन बहुत अधिक निर्बल हो चुका था, तब उसने 'भारत छोडो' आन्दोलन को दबा लेने मे पूरी सफलता प्राप्त कर ली थी, 1921–22 मे तो वह और अधिक सुदृढ थी, इसलिए इस आन्दोलन को दबाना उसके लिए बहुत कठिन बात नही होती।

आन्दोलन स्थगन के उपरान्त गाधी जी ने रचनात्मक कार्यक्रम का उद्देश्य रखा। वह सफल होता या न होता, परन्तु इसी बीच उन्हे बन्दी कर लिया गया। उधर उदारवादियो ने पुन कौन्सिल प्रवेश की नीति अपनाकर असहयोग आन्दोलन को दुर्बल बना दिया। 1921–24 की अवधि मे उनके सहयोग से 1919 के अधिनियम को कार्यान्वित करने मे सरकार सफल हो गयी। इस अवधि मे उदारवादियो ने कई नये कानूनो को पारित कराने मे सफलता प्राप्त कर ली। साथ ही सरकार भी उनकी माँगो के फलस्वरूप 1919 के शासन-सुधार कानून की कमियो को दूर करने की दिशा मे प्रवृत्त हो चुकी थी। अत इन परिस्थितियो के सन्दर्भ मे अब काग्रेस को राष्ट्रीय आन्दोलन के भावी कार्यक्रम को नये ढग से निर्मित करने की आवश्यकता थी।

प्रश्न

1. उन परिस्थितियो पर प्रकाश डालिए जिन्होंने 1920 मे गाधी जी के नेतृत्व मे असहयोग आन्दोलन को जन्म दिया।
2. खिलाफत आन्दोलन से आप क्या समझते है ? क्या आपकी राय मे खिलाफत के साम्प्रदायिक प्रश्न को राष्ट्रीय आन्दोलन की मागो मे स्थान देना उचित था ?
3. असहयोग आन्दोलन का भारतीय राजनीति पर क्या प्रभाव पडा ?

9
स्वराज्य दल
(SWARAJ PARTY)

स्वराज्य दल की स्थापना

किसी भी जन-संगठन का उद्देश्य एक होते हुए भी उसके सदस्यों के मध्य साधनों तथा कार्य-पद्धति के सम्बन्ध में मतभेद होना ही है। एक विशाल देशव्यापी राजनीतिक दल के सम्बन्ध में यह बात और अधिक तथ्यपूर्ण है। प्रारम्भ से ही कांग्रेस के अन्तर्गत नेताओं के मध्य ऐसे मतभेद बने रहे थे। 1905 में इन मतभेदों के कारण कांग्रेस के दो दल बन गये थे। दोनों में 1916 में समझौता हो जाने पर भी 1919 में पुनः कई नेता कांग्रेस से अलग हो गए थे और उन्होंने उदारवादी संगठन का निर्माण करके 1919 के सुधार कानून के अन्तर्गत कौंसिल प्रवेश का कार्यक्रम अपनाया था। जो नेता कांग्रेस में बने रहे उनके मध्य भी मतभेदों की प्रक्रिया एक अनोखे ढंग की सिद्ध हुई। प्रारम्भ में गांधी जी सरकार के साथ सहयोग की नीति चाहते थे और चितरंजन दास इसके विरोधी थे। शीघ्र ही धारणा बिल्कुल उल्टी हो गयी। गांधी जी के असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव सितम्बर 1920 के विशेष अधिवेशन में थोड़े से बहुमत से ही पास हो सका था। 1922 में असहयोग आन्दोलन के स्थगन के परिणामस्वरूप कांग्रेस कार्यक्रम में पुनः रिक्तता आ गयी। गांधी जी के कारावास के कारण वह रिक्तता और अधिक बढ़ गया। *अब जो नेता छूट गये थे उन्हें भावी कार्यक्रम तयार करना था। इनके अन्तर्गत प्रमुख चितरंजन* दास, मोतीलाल नेहरू, राजगोपालाचारी, अबुलकलाम आजाद, जवाहरलाल नेहरू आदि थे। खिलाफत आन्दोलन की समाप्ति हो जाने पर अनेक मुस्लिम नेताओं ने कांग्रेस कार्यक्रम से हाथ खींच लिया और वे पुनः साम्प्रदायिकता की नीति का अनुसरण करने लगे थे।

1922 में गया के कांग्रेस अधिवेशन में सी० आर० दास, मोतीलाल नेहरू आदि ने कांग्रेस कार्यक्रम का विरोध किया। परन्तु राजगोपालाचारी सदृश नेता गांधीवादी कार्यक्रम में परिवर्तन के विरोधी बने रहे। अतः चितरंजन दास ने कांग्रेस से त्यागपत्र देकर एक नये स्वराज्य-दल का निर्माण किया। 1923 के अन्त में 1919 के शासन सुधार अधिनियम के अन्तर्गत द्वितीय आम चुनाव होने वाले थे। अतः स्वराज्य दल के नेताओं ने इन निर्वाचनों में भाग लेकर कौंसिल प्रवेश द्वारा अन्दर से 1919 के शासन सुधार कानून के कार्यान्वयन को अवरुद्ध करना अपना उद्देश्य बनाया। 1923 के सितम्बर मास में मौलाना अबुलकलाम आजाद की अध्यक्षता में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन दिल्ली में हुआ जिसमें कौंसिल प्रवेश के प्रस्ताव को कांग्रेस ने अधिकृत रूप से स्वीकार कर लिया। फरवरी 1924 में जब महात्मा गांधी जेल से छूटे तो उन्हें स्वराज्य दल की कौंसिल प्रवेश की नीति से सन्तोष नहीं हुआ। साथ ही उन्हें यह भी समाधान हो गया था कि पुनः असहयोग आन्दोलन की दिशा में अपरिवर्तन भी सफल कार्यक्रम सिद्ध नहीं हो सकेगा।

इस स्थिति में ऐसे लक्षण स्पष्टतया दृष्टिगोचर होने लग गये थे कि एक बार पुनः कांग्रेस में विभाजन हो जाने वाला है। परिवर्तनवादी तथा अपरिवर्तनवादी एक-दूसरे के साथ किसी प्रकार समझौता करें अन्यथा कांग्रेस विभाजित जायेगी यह समस्या गांधी जी के सामने थी। स्वराज्य दल ने कौंसिल प्रवेश में पर्याप्त सफलता प्राप्त कर ली थी। अतः 1925 में गांधी जी

ने काग्रेस के सदस्यो को यह छूट दे दी कि वे 'कौन्सिल-प्रवेश' अथवा 'रचनात्मक कार्यक्रम' मे से जिसे ठीक समझे उसे अपनाये। इस प्रकार काग्रेस विभाजित होने से बच गयी। कौन्सिल प्रवेश के कार्यक्रम के समर्थक 'स्वराज्यवादी' कहलाये।

स्वराज्यवादियो के उद्देश्य तथा साधन

स्वराज्यवादी दल का प्रमुख उद्देश्य गाधीवादियो की भाँति ही देश के लिए स्वराज्य (स्वशासन) की प्राप्ति करना था चूँकि 1919 के सुधार कानून मे स्वराज्य की उपेक्षा की गयी थी, अत यह दल कम से कम ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति को अपना प्रमुख उद्देश्य मानता था। परन्तु इनमे तथा गाधीवादियो मे साधनो की भिन्नता थी। स्वराज्य दल सविनय अवज्ञा तथा असहयोग आन्दोलन की नीति न अपनाकर कौन्सिल प्रवेश द्वारा वहाँ से सावैधानिक सुधारो की उपलब्धि करना चाहता था। कौन्सिल प्रवेश के कार्यक्रम का दूसरा उद्देश्य यह भी था कि निर्वाचनो मे भाग लेकर आम जनता मे राष्ट्रीयता के विचार भरे जाये।

स्वराज्यवादियो की कौन्सिल प्रवेश की नीति का दूसरा लक्ष्य यह था कि कौन्सिलो मे जाकर वे अपनी राष्ट्रीय स्वायत्तता की माँगो के प्रति जनमत का निर्माण करे। साथ ही कौन्सिलो मे वे ऐसे प्रतिनिधियो के बहुमत का निर्माण करे जो वास्तव मे जनता के प्रतिनिधि अथच जनमत की अभिव्यक्ति करने वाले सिद्ध हो।

कौन्सिल प्रवेश का एक लक्ष्य यह भी था कि उनमे जाकर वे सरकार की हाँ मे हाँ मिलाने की नीति न अपनाकर सरकार तथा नौकरशाही के अवाछनीय कार्यकलापो का विरोध करे। इस प्रकार वे शासन के अन्तर्गत रहकर प्रतिरोध की नीति द्वारा 1919 के शासन सुधार कानून की कार्यान्विति के मार्ग मे बाधा डाले, जिससे कि सरकार को इस सुधार कानून को सशोधित करने के लिए विवश होना पडे।

सरकार के कार्यों मे रोडा अटकाना, बजट का विरोध, सरकार द्वारा प्रस्तावित अवाछनीय विधेयको का विरोध, प्रशासन की बुराइयो की निन्दा आदि स्वराज्य दल के विध्वसात्मक कार्यक्रम के अग थे। यह एक प्रकार से असहयोग तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलन के ही रूप थे। अन्तर यही था कि इनकी कार्यान्विति सरकार के अन्तर्गत रहकर 'अन्दर से' होनी थी। दूसरी ओर स्वराज्य-वादियो के कार्यक्रम का रचनात्मक उद्देश्य भी था। वे कौन्सिलो मे रहकर ऐसे प्रस्ताव पास कराना चाहते थे, या ऐसे कानूनो का निर्माण कराना चाहते थे जिनके द्वारा सरकार को वैधानिक सुधार लाने तथा लोक-कल्याणकारी कार्यों को करने के लिए बाध्य किया जा सके।

अन्तत, स्वराज्यवादी गाधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम तथा सत्याग्रह कार्यक्रम के विरुद्ध भी नही थे। 1923 के चुनाव घोषणा-पत्र मे उन्होने स्पष्टतया इस नीति की घोषणा कर दी थी कि दल का प्रमुख उद्देश्य भारतवासियो को अपनी सरकार स्वय चलाने तथा नियन्त्रित करने के अधिकार को उपलब्ध कराना होगा। यदि सरकार जनता की इस माँग को ठुकराने पर तुलेगी, तो दल भी यथाशक्ति सरकार के सचालन को असम्भव बनाने की कोशिश करेगा। यह कार्य प्रथमत व्यवस्थापिकाओ के भीतर रहकर किया जायेगा, परन्तु यदि आवश्यकता पडी तो दल गाधी जी के सत्याग्रह कार्यक्रम को पूर्ण सहयोग देकर कार्यान्वित करने मे भी सकोच नही करेगा।

इस दृष्टि से स्वराज्य दल का उद्देश्य वही था, जो समूचे रूप मे काग्रेस का था। अन्तर केवल कार्यविधि तथा साधनो का था।

स्वराज्य दल की उपलब्धियाँ

स्वराज्य दल की कौन्सिल-प्रवेश नीति को पर्याप्त लोक-समर्थन प्राप्त हुआ। असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के पश्चात् भारत के मतदाताओ के समक्ष स्वराज्य दल के कार्यक्रम को

स्वीकृति देने के सिवाय और कोई विकल्प भी नहीं रह गया था। 1923 के निर्वाचनों में उदारवादियों का कौंसिलों से लगभग सफाया हो गया। स्पष्ट था कि अब देश प्रेमी जनता उदारवादियों की ब्रिटिश राज परस्त नीति से ऊब गयी थी। इस निर्वाचन में स्वराज्यवादियों को केन्द्रीय व्यवस्थापिका में 145 में से 47 स्थान प्राप्त हुए और यही दल सबसे बड़ा दल बना। केन्द्रीय व्यवस्थापिका के निम्न सदन में 145 कुल स्थान थे जिनमें से 105 निर्वाचित सदस्यों के लिए थे। इनमें से 47 स्थान स्वराज्य दल को प्राप्त हो जाना दल की एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी। मध्य प्रदेश की विधान परिषद् में इस दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो गया। बंगाल में भी इसे पर्याप्त अधिक बहुमत प्राप्त रहा। अन्य प्रान्तों की विधान-परिषदों में भी इनकी संख्या पर्याप्त अधिक थी।

केन्द्रीय विधानसभा में पं. मोतीलाल नेहरू स्वराज्य दल के नेता थे। उन्हें विधानसभा के अन्य राष्ट्रवादी तथा स्वतन्त्र सदस्यों का समर्थन प्राप्त करने में सफलता मिल गयी। मोतीलाल जी के अन्य कर्मठ साथियों में विट्ठलभाई पटेल, रामास्वामी आयंगर, मदनमोहन मालवीय, विपिन चन्द्र पाल आदि थे। परिणामस्वरूप उनके प्रयासों से फरवरी 1924 में विधानसभा ने यह प्रस्ताव पास कर लिया कि शासन सुधार कानून 1919 में ऐसा संशोधन किया जाए कि जिससे भारत में पूर्ण स्वायत्त शासन से युक्त उत्तरदायी सरकार की स्थापना की जा सके और अल्पसंख्यकों के संरक्षण हेतु एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जाए जिसकी संस्तुतियों के आधार पर भारत के लिए एक संविधान का निर्माण किया जाए। केन्द्रीय विधानसभा को भंग करके नव निर्वाचित विधानसभा के समक्ष उस संविधान को पारित करने तथा ब्रिटिश संसद द्वारा उसे कानूनी रूप प्रदान करने के हेतु भेजने की व्यवस्था की जाए। यह प्रस्ताव सांविधानिक विकास के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। साथ ही स्वराज्य दल के कौंसिल प्रवेश के उपरान्त काल में उसका पारित होना दल की एक महान् उपलब्धि थी।

1924 में अखिल भारतीय सिविल सेवा के सम्बन्ध में जब ली कमीशन की रिपोर्ट व्यवस्थापिका के सामने रखी गयी तो मोतीलाल जी के नेतृत्व में सभा ने उसे अस्वीकार कर दिया। इस रिपोर्ट में यद्यपि भारतीय सिविल सेवा में भारतीयों के प्रवेश का अनुपात 50% संस्तुत किया गया था तथापि सिविल सेवा के अधिकारियों के लिए इतने अधिक संरक्षणों, यूरोपीय अधिकारियों के लिए इतने भत्तों तथा सुविधाओं की तथा सिविल सेवा को लोकप्रिय सरकार के नियन्त्रण से मुक्त रखने की संस्तुतियाँ थीं कि उनका पूरा लाभ यूरोपीय सिविल सेवा के अधिकारियों को प्राप्त होता।[1] बाद में उच्च सदन (कौंसिल आफ स्टेट) ने इसे बिना संशोधनों के पास कर दिया। वित्त विधेयकों तथा वित्तीय माँगों सम्बन्धी प्रस्तावों को अस्वीकार करने में सभा ने यह सिद्धान्त अपनाया कि *No supplies till the grievances are removed* अर्थात् जब तक कमियों को दूर नहीं किया जाता तब तक कोई वित्तीय माँग स्वीकार नहीं की जायगी।

यद्यपि इस बीच इंग्लैण्ड में मजदूर दल की सरकार बन गयी थी जिससे भारतवासियों को अनेक आशाएँ थीं तथापि ब्रिटिश सरकार ने उक्त प्रस्ताव को ठुकरा दिया। परिणामस्वरूप स्वराज्य दल ने अन्य राष्ट्रवादी सदस्यों के सहयोग से विधानसभा में अपनी प्रतिरोध की कार्यवाहियाँ तीव्र कर दीं। आगामी तीन वर्षों तक वे लगातार बजट को अस्वीकार करते रहे और गवर्नर जनरल को अपने प्रमाणीकरण के अधिकारों का सहारा लेकर विभिन्न बजट प्रस्तावों तथा अनुदानों को स्वीकृति देनी पड़ी। समय-समय पर विधानसभा सरकार की कार्यवाहियों के विरुद्ध प्रस्ताव पास करने लगी। कई अवसरों पर स्वराज्य दल ने सरकार के हठीले व्यवहार के विरुद्ध प्रदर्शन करते हुए सदन से बहिर्गमन भी किया। सरकार द्वारा आयोजित उत्सवों में निमन्त्रणों की उपेक्षा की गयी। प्रस्तावों द्वारा राजनीतिक बन्दियों की रिहाई की माँग की गयी। संक्षेप में स्वराज्य दल ने

[1] Tara Chand, op. cit., Vol. IV, 3. Ibid., 33.

अपने प्रतिरोधात्मक कार्यक्रम को प्रभावशाली ढग से अपनाया।

प्रान्तीय विधान परिषदो मे भी उनका कार्य भाग पर्याप्त प्रभावशाली सिद्ध हुआ। मध्य प्रदेश, मे जहाँ वे पूर्ण बहुमत मे थे, उन्होने मन्त्रिपद ग्रहण न करके द्वैध-शासन'का सचालन अवरुद्ध कर दिया और गवर्नर को स्वय हस्तान्तरित विभागो के शासन का कार्य सचालित करना पडा। बगाल मे सी० आर० दास के नेतृत्व मे भी स्वराज्य दल ने यही कार्य भाग सम्पन्न किया। अन्य प्रान्तो मे स्वराज्य दल की ओर से साविधानिक सुधारो की निरन्तर माँगे रखी गयी और शासन-नीतियो की घोर आलोचनाएँ की जाती रही।

स्वराज्य दल के फरवरी 1924 के प्रस्ताव का परिणाम यह हुआ कि सरकार ने सर एलेक्जेण्डर मूडीमैन की अध्यक्षता मे द्वैध-शासन की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध मे जाँच करने और रिपोर्ट देने के लिए एक समिति नियुक्त की। मोतीलाल नेहरू ने तो उसकी सदस्यता तक स्वीकार नही की। समिति के बहुसख्यक सदस्य सरकार समर्थक थे। अत बहुसख्यक सदस्यो की राय थी कि द्वैध-शासन प्रणाली सिद्धान्तत उपयुक्त सिद्ध हुई है। इसमे कुछ थोडे से सामान्य परिवर्तनो का ही उन्होने सुझाव दिया। परन्तु अल्पसख्यक सदस्यो ने, जिनमे सर तेजबहादुर सप्रू भी शामिल थे, इसके मूलभूत सिद्धान्त को ही गलत बनाकर उसमे विशाल परिवर्तन करने का सुझाव दिया। सितम्बर 1925 मे जब यह रिपोर्ट केन्द्रीय विधानसभा के समक्ष रखी गयी तो प० मोतीलाल नेहरू ने द्वैध-शासन-प्रणाली की कठोरतम आलोचना की, और फरवरी 1924 के प्रस्ताव की भाँति ही मूडीमैन समिति की रिपोर्ट पर सरकार के द्वारा रखे गये प्रस्ताव का विशाल बहुमत से विरोध किया गया और सरकारी प्रस्ताव पर 14 के विरुद्ध 45 मतो से सशोधन पारित किया गया। सशोधन जो मोतीलाल जी के द्वारा रखा था, उसमे यह माँग की गयी थी कि ब्रिटिश ससद भारत की उत्तरदायी शासन की माँग को मान्य करे और तुरन्त भारत के विभिन्न दलो का गोल मेज सम्मेलन आहूत करे जो सविधान को तैयार करेगा और उसे ससद अधिनियमित करे।

नीति परिवर्तन

स्वराज्य दल के कार्य-कलापो तथा उद्देश्यो मे कालान्तर की परिस्थितियो ने परिवर्तन कर दिया। दल का व्यवस्थापिकाओ मे जाकर सरकार की गलत नीति का विरोध करने का कार्यक्रम बहुत प्रभावशाली सिद्ध नही हो पाया। बगाल तथा मध्य प्रदेश मे द्वैध-शासन की स्थापना के अभाव मे गवर्नर हस्तान्तरित विषयो का शासन स्वय चलाने लगे थे। अन्य प्रान्तो मे स्वराज्य दल के अल्पसख्यक होने के कारण उनके विरोध निष्प्रभावी सिद्ध हुए। स्वय केन्द्र तक मे प० मदनमोहन मालवीय तथा लाला लाजपतराय यह अनुभव करने लगे कि सरकार-विरोधी नीति हिन्दू जनता के हित मे वाछनीय नही है। स्वराज्य दल की अडगा लगाने की नीति इस अर्थ मे सफल नही हो पायी उनके कार्य-कलापो से शासन को कोई क्षति नही हो सकती थी। गवर्नर जनरल के पास इतनी अधिक शक्तिया थी और उच्च सदन मे सरकार का इतना अधिक समर्थन था कि सरकार मनचाहे कानून बना लेती थी। 1925 मे चित्तरजन दास की मृत्यु के कारण स्वराज्य दल मे भारी रिक्तता आ गयी। अब शासन मे रहकर निरन्तर विरोध तथा असहयोग सम्भव नही था। अत दल के अनेक प्रमुख नेताओ ने अपनी नीतियो मे परिवर्तन करना प्रारम्भ कर दिया। राष्ट्रवादियो तथा उदारवादियो ने स्वराज्यवादियो की बजट सम्बन्धी माँगो को अस्वीकार कर देने की नीति से सहमति व्यक्त करना उचित नही समझा। इस प्रकार सरकार का विरोधी पक्ष समान नीतियो तथा विचारधाराओ से आबद्ध नही रह पाया। स्वय स्वराज्य दल के अन्तर्गत भी एकता नही रह सकी। केन्द्र मे 1925 मे प्रमुख नेता वी० जे० पटेल को केन्द्रीय विधानसभा का अध्यक्ष निर्वाचित कर लिया गया। मध्य प्रदेश मे एम० वी० टैम्बुन गवर्नर के कार्यकारी पार्षद बन गये। मोतीलाल नेहरू ने उन सदस्यो पर अनुशासन भग करने का आरोप लगाया जो दल की घोषित नीतियो के विरुद्ध आचरण कर रहे थे। परन्तु इसका परिणाम यही हुआ कि दल मे और

अधिक विघटन होने लगा। अतः स्वराज्य दल के कुछ सदस्यों जयकर केलकर आदि ने अपनी शासन विरोधी नीतियों को शिथिल कर दिया। अब इनका सिद्धान्त उत्तरदायी सहयोग का हो गया। अनेक सदस्यों ने कई शासकीय समितियों की सदस्यता ग्रहण कर ली। स्वयं पण्डित नेहरू भी स्कीन समिति के सदस्य बन गये थे। दल का जनता के मध्य संगठनात्मक कार्यक्रम भी सन्तोषजनक नहीं था। कौंसिलों के कार्य-कलापों मात्र से दल जनता को प्रभावित नहीं कर सकता था। उत्तरदायित्व पक्षियों (responsivists) तथा कट्टर स्वराज्यवादियों के मध्य एकता लाने के प्रयास भी निष्फल सिद्ध हो गये।

स्वराज्य दल का मूल्यांकन

जिस प्रकार असहयोग आन्दोलन के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तिपूर्ण धारणाओं ने आन्दोलन की सफलता को संदिग्ध बना दिया था और फलतः उसे स्थगित करना पड़ा था उसी प्रकार स्वराज्य दल का प्रतिरोध का कार्यक्रम भी युक्तिपूर्ण सिद्ध नहीं हुआ। यह धारणा कि कौंसिलों में जाकर विरोध के द्वारा शासन सुधार अधिनियम की योजना के संचालन को अवरुद्ध कर दिया जायगा एक मिथ्या धारणा थी क्योंकि इस अधिनियम के अन्तर्गत गवर्नर जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नरों को जिन शक्तियों से विभूषित किया गया था उनके अन्तर्गत वे विधानसभाओं की निरन्तर उपेक्षा करके शासन को संचालित कर सकते थे। केवल विरोध के लिए विरोध कोई वास्तविक *नीति नहीं है। इसमें विरोधी पक्ष की प्रतिष्ठा भी कम हो जाती है। स्वराज्य दल का संगठन पक्ष* निर्बल था। इसके सदस्य जनता में अपनी लोकप्रियता बनाने में सफल नहीं हो पाये। दूसरी ओर *कांग्रेस के गांधीवादी नेता जो रचनात्मक कार्यक्रम में लगे थे स्वराज्य दल की नीतियों से विशेष सहानुभूति नहीं रखते। अतः अपने तीन चार साल के कार्यकाल में इस दल की वांछित सफलता के आसार निर्बल हो गये।*

परन्तु इन असफलताओं के बावजूद स्वराज्य दल के कार्यकलापों तथा उपलब्धियों ने उनके उद्देश्य को बहुत कुछ अंश में सफल बनाया। मुडीमन समिति की नियुक्ति साइमन कमीशन की निश्चित तिथि से दो वर्ष पूर्व नियुक्ति तथा गोल मेज परिषद् की व्यवस्था स्वराज्य दल के कार्य कलापों के ही परिणाम थे। असहयोग आन्दोलन के स्थगन के पश्चात् राष्ट्रीय आन्दोलन में जो रिक्तता आ जाती उसे स्वराज्य दल ने पूर्ण किया और राष्ट्रवादी धारणाओं को जनता के मध्य जीवित रखा।

इस दल के *कार्य-कलापों ने न केवल देशवासियों को ही अपितु शासकों को भी यह* समाधान कराया कि *1919 की सुधार योजना* दोषपूर्ण है। कौंसिलों में जाकर सरकार के स्वेच्छाचारी कार्य-कलापों का विरोध करके दल ने जनता को स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध सचेत बनाये रखा। साथ ही इस दल ने जनता की इस धारणा को भी बल प्रदान किया कि विदेशी शासन के अत्याचारों का विरोध किया जाना चाहिए। इस दल ने उदारवादी दल का अन्त करा दिया और सरकार को भी यह आभास हो गया कि जनता के प्रतिनिधि सदस्य शासन के साथ सहयोग की नीति का अन्धानुसरण नहीं करेंगे।

परन्तु *1926–27 का काल राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में अन्धकार का काल सिद्ध* हुआ। उस अवधि में *देश में अनेक स्थानों पर साम्प्रदायिक दंगे छिड़े। यों तो इन दंगों का* सिलसिला पहले ही प्रारम्भ हो गया था। परन्तु 1926–27 के दंगों ने राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत प्रभावित किया। अब यह स्पष्ट हो गया कि हिन्दू मुस्लिम एकता को पुनर्जीवित किया जाना सम्भव नहीं है। स्वराज्य दल की शक्ति भी क्षीण होती जा रही थी। राष्ट्रीय आन्दोलन भी गतिशून्य हो गया था। अतः इसे सजीव करने के लिए नई परिस्थितियों तथा योजनाओं की आवश्यकता थी।

स्वराज्य दल की नीतियों तथा कार्यक्रमों के अन्तर्गत वास्तविक उद्देश्यों की पूर्ति के कारण

मे जो भी कमियाँ रही हो, यह श्रेय तो स्वराज्य दल को मिलता ही है कि उसने भारत सरकार को यह ममाधान कर दिया कि 'औपनिवेशिक नमूने की सत्ता का हस्तान्तरण एक ऐमा मामला था जिमे किमी निश्चित अवधि के भीतर अव्यावहारिक तथा अप्राप्त समझकर एक किनारे पर रख दिया जाये।' स्वय वाइसराय के गृह सदस्य मेलकम हैली ने इसे एक जीवित मामला कहा था। स्वराज्य दल ने यह मिद्ध कर दिया कि भारत के राष्ट्रीय नेताओ मे कितनी उच्च कोटि की सासदीय क्षमता थी और ससद मे एक प्रभावशाली विरोध प्रस्तुत करने की तथा निर्वाचनो के निमित्त सगठनात्मक क्षमता भारत के राष्ट्रीय नेताओ मे कितनी श्रेष्ठ थी। इस दल को सवसे वडा श्रेय इम वात का प्राप्त होता है कि इसने 1919 के शासन सुधार कानून की निरर्थकता को स्पष्ट कर दिया जो न तो ब्रिटिश नमूने की ससदीय शासन प्रणाली का द्योतक था और न ही अमरीकी अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का। अतएव उसका कार्यान्वियन अव्यावहारिक सिद्ध हुआ। स्वय लार्ड रीडिंग की धारणा थी कि यदि स्वराज्य दल, राष्ट्रवादी तथा स्वतन्त्र सदस्य एक जुट होकर सरकार का विरोध करते रहते, तो सरकार के लिए शाही आयोग को और अधिक जल्दी नियुक्त करने की माँग को ठुकराना कठिन हो जाता। इस दृष्टि से स्वराज्य दल ने वैधानिक एव सहयोगपूर्ण ढग से सरकार की अवाछनीय नीतियो का प्रतिरोध करने का एक नया तरीका निकाल सरकार को यह स्पष्ट कर दिया कि भारतवासी अपनी स्वायत्त शासन की माँग को पूर्णतया सही परिपेक्ष मे रख रहे थे। शासको को इस भ्रम मे नही रहना चाहिए कि भारतवासी स्वशासन की क्षमता नही रखते।

प्रश्न

1. स्वराज्य दल का क्या उद्देश्य थे ? अपने उद्देश्यो की प्राप्ति मे उमे कहा तक सफलता मिली ?
2. स्वराज्य दल की असफलता के कारणो पर प्रकाश डालिए।

10

पूर्ण स्वराज्य का लक्ष्य पृष्ठभूमि
(AIM OF POORNA SWARAJ BACKGROUND)

साइमन कमीशन

भारतीय शासन सुधार अधिनियम 1919 के अनुच्छेद 84 मे यह प्रावधान किया गया था कि इस अधिनियम के पारित होने के दस वर्ष पश्चात् इस कानून के अन्तर्गत स्थापित शासन व्यवस्था प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं आदि के सम्बन्ध म जाच करने तथा उनम सुधार परिवर्तन आदि के सम्बन्ध म रिपोर्ट देने के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की जायगी। इसके अनुसार ऐसा कमीशन 1929 म नियुक्त किया जाना था। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने इसकी नियुक्ति करने का निर्णय निर्धारित समय स दो वर्ष पूर्व ही (अर्थात् 1927 म) कर लिया और नवम्बर 1927 म इसकी नियुक्ति की घोषणा कर दी। ऐसा क्यो किया गया इसके अनेक कारणो का अनुमान लगाया जाता है। एक धारणा यह है कि इस सुधार कानून का भारतवासियो ने प्रारम्भ म ही तीव्र विरोध किया था और निरन्तर इसकी समाप्ति तथा इसके स्थान पर नये कानून के निर्माण की माग प्रबल होती जा रही थी। स्वराज्य दल ने विधान सभाओ म जो प्रतिरोध का रवया अपनाया था उसके अनुसार भी भारत की सावधानिक सुधारो की माग को लम्बे समय तक रोके रखना ब्रिटिश सरकार के हित म न होता। यद्यपि इग्लण्ड के विभिन्न राजनीतिक दलो के प्रमुख नेता विशेष रूप म टोरी तथा उदार दलो के राजनयिक काग्रेस तथा उसके अन्य नेताओ और स्वराज्य दल की गतिविधियो को अवाछनीय क्रान्तिकारी तथा अनुत्तरदायित्व पूर्ण मानते रहे और भारत की स्वायत्त शासन की माग को ठुकराते रहे थे तथापि वा सराय लार्ड रीडिंग को बडी बचनी का अनुभव हो रहा था। व्यवस्थापिका म प्राय दिन सरकारी प्रस्तावो का विरोध उसके लिए असह्य हो रहा था। अत इस कमीशन की नियुक्ति करने म शीघ्रता की गयी। दूसरी धारणा यह है कि 1926 म भारत म साम्प्रदायिक तनाव बढ गया था अत ब्रिटिश सरकार इस घटना चक्र का लाभ उठाना चाहती थी। ऐसे समय पर कमीशन को यह सिफारिश देने का अवसर मिल जाता कि भारत म साम्प्रदायिक मतभेद इतने कटु हैं कि पूर्ण उत्तरदायी शासन सचालित करने की क्षमता भारतवासियो म नही है। एक तीसरा दृष्टिकोण इग्लण्ड म दलीय स्थिति का भी बताया जाता है। तत्कालीन अनुदार दलीय सरकार को यह आभास हुआ कि 1929 म इग्लण्ड के आम चुनावो म मजदूर दल के जीतने के आसार थे। अत यदि 1929 म कमीशन नियुक्त किया जायगा तो उसकी रिपोर्ट आदि के सम्बन्ध म मजदूर दल की सरकार ब्रिटिश साम्राज्य के हितो को उचित रूप स सम्पन्न न ा करगी। टोरी नेताओ को यह भय था कि श्रमिक दल की भारतीय स्वायत्त शासन की माग के साथ सहानुभूति है। अत यदि 1929 म ऐसा आयोग नियुक्त किया जायगा तो श्रमिक दल एस सदस्यो को उसम स्थान देगा जो भारतीय स्वायत्त शासन की माग को पूरा करने की सिफारिश करग और ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीतियो का इससे अहित होगा। टोरी नेता यह सहन करने को भी तैयार न थे कि आयोग की नियुक्ति की घोषणा स पूर्व भारत की केन्द्रीय व्यवस्थापिका म राष्ट्रवादी तत्वो के बहुमत म फिर ऐसी माग का प्रस्ताव पास हो जाय क्योकि यदि ऐसा हुआ तो इन तत्वो को ऐसा प्रचार करने का लाभ मिलेगा कि उन्होने ब्रिटिश सरकार को इस आयोग की नियुक्ति के लिए विवश कर दिया था। इसस व्यवस्थापिका के

अगले चुनावो मे उनकी लोकप्रियता बढ जायेगी ।[1] अत शीघ्र ही कमीशन की नियुक्ति कर दी गयी । भारत मे इस अवधि मे युवक सगठन तथा वामपथी सगठन जोर पकड रहे थे । इनके ऊपर रूसी क्रान्ति तथा समाजवादी विचारधाराओ का प्रभाव था ।[2] इसलिए भी ब्रिटिश सरकार शीघ्र ही भारत के लिए नये वैधानिक सुधारो को लाने की चिन्ता मे थी, ताकि युवक सगठनो की गति-विधियो को दूसरी ओर मोडा जा सके । इस प्रकार अनेक परिस्थितियो तथा कारणो से ब्रिटिश सरकार को ऐसा कमीशन तुरन्त नियुक्त करने के लिए विवश होना पडा ।

साइमन कमीशन की नियुक्ति

1919 के सुधार अधिनियम के प्राविधानो के अन्तर्गत नियुक्त किये गये इस ससदीय आयोग को साइमन कमीशन इसलिए कहा जाता है कि इसके अध्यक्ष का नाम सर जॉन साइमन था । इस कमीशन मे अध्यक्ष सहित कुल सात सदस्य थे । ये सभी अग्रेज थे । इस कमीशन की सबसे बडी कमी यही थी । इसी के कारण भारतीय जनता के प्रत्येक वर्ग ने इसकी नियुक्ति को देश का सबसे महान् अपमान समझा और विविध स्थानो द्वारा इसके प्रति विरोध प्रकट किया जाने लगा । जब इसके निर्माण पर भारत मे आपत्ति तथा विरोध प्रारम्भ हुआ, तो ब्रिटिश सरकार की ओर से ऐसे तकनीकी तर्क दिये गये कि कमीशन मे केवल ब्रिटिश ससद के सदस्य ही इसलिए नियुक्त किये गये थे कि उन्ही को ससद के समक्ष प्रतिवेदन करने का अधिकार प्राप्त है । इसके विरुद्ध जब यह तर्क रखा गया कि लार्ड सिन्हा जो एक भारतीय थे और ब्रिटिश ससद के सदस्य भी थे, उन्हे क्यो नही लिया गया, तो प्रति-तर्क यह था कि यदि उन्हे लिया जाता तो भारतीय जनता के विविध स्वार्थो से युक्त अन्य वर्गो को उनकी नियुक्ति पर आपत्ति होती । साथ ही यदि विविध वर्गो के भारतीय प्रतिनिधि कमीशन मे नियुक्त किये भी जाते तो उसमे कमीशन का आकार बहुत बडा हो जाता और उसकी उपयोगिता ही नष्ट हो जाती । इस प्रकार जो भी तर्क इस सम्बन्ध मे दिये गये, वे सब अपूर्ण एव सारहीन थे । इससे यह स्पष्ट हो गया कि भविष्य मे किसी भी सावैधानिक सुधार योजना के लिए ब्रिटिश सरकार भारतवासियो का सहयोग नही लेना चाहती थी, अपितु उसके निर्णय का दायित्व केवल ब्रिटिश ससद पर छोडना चाहती थी । कमीशन की नियुक्ति की घोषणा भी ऐसे नाटकीय ढग से की गयी कि जिससे भारतवासियो को अपमानित ही होना पडा । 5 नवम्बर 1927 को गर्वनर-जनरल ने गाधी जी तथा अन्य भारतीय नेताओ को दिल्ली आने का निमन्त्रण दिया, और जब वे वहाँ पहुँचे तो गर्वनर-जनरल ने उन्हे वह कागज थमा दिया, जिसमे साइमन कमीशन की नियुक्ति की सूचना थी । गाधी जी ने व्यग्य करते हुए कहा कि जब गर्वनर-जनरल इस पत्र को एक आने के लिफाफे मे भेज सकते थे, तो उन्हे हजारो मील की यात्रा करते हुए इतने नेताओ को इस छोटी-सी बात के लिए बुलाने की क्या आवश्यकता पडी । परन्तु साइमन कमीशन की नियुक्ति से सम्बन्धित यह घटना राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास मे अत्यन्त महत्त्व की घटना सिद्ध होने को थी ।

कमीशन का बहिष्कार

साइमन कमीशन मे जिन सात सदस्यो को नियुक्त किया गया था उनमे से 3 रूढिवादी दल के, अध्यक्ष सहित 2 उदार दल के तथा 2 श्रमिक दल के सदस्य थे । इनमे से साइमन को छोडकर शेष कोई भी सदस्य उच्च कोटि के राजनेता नही थे, भले ही वे सावैधानिक विधि नेता रहे हो । इसमे किसी भी भारतीय नेता को सदस्य के रूप मे न लेना ब्रिटिश साम्राज्यशाही नीतियो का स्पष्ट प्रमाण था । उन्हे केवल साक्ष्य के रूप मे कमीशन के समक्ष उपस्थित होने का

[1] Tara Chand, *op cit*, 60

[2] इसका उल्लेख क्रातिकारी आन्दोलन के अध्याय मे पहले किया जा चुका है । सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता सरदार भगतसिह ऐसे विचार रखते थे ।

प्राविधान किया गया था। कमीशन की रिपोर्ट तैयार हो जाने पर भारतीय विधानमण्डल की एक प्रवर समिति इस पर अपने विचार रखती और कमीशन तथा प्रवर समिति की रिपोर्ट ब्रिटिश संसद की संयुक्त समिति के समक्ष प्रस्तुत की जाती। इस प्रकार जैसा डा० ताराचन्द ने लिखा है ब्रिटिश संसद के सात सदस्यों की इस पूर्णतः प्रबुद्ध ज्यूरी (exceptionally intelligent jury) से यह *आशा की गयी थी कि वह संसद को एक ऐसी समस्या पर सलाह दे जो अत्यधिक जटिल* तथा ऐतिहासिक दृष्टि से विश्वव्यापी महत्त्व की थी।[1]

स्वयं भारत मन्त्री बर्कनहेड तथा वायसराय लार्ड इरविन को भय था कि भारत के भावी सांविधानिक ढाँचे के सम्बन्ध में सलाह देने के लिए विशुद्धतया अंग्रेज सदस्यों द्वारा निर्मित आयोग को भारत में भेजने की प्रतिक्रिया भारतीय नेताओं द्वारा इसका बहिष्कार करने के रूप में व्यक्त होगी। ये ब्रिटिश नेता भारतीय स्वायत्त शासन की माँग को ठुकराने की धारणा से जितने अधिक प्रेरित थे उतना ही अधिक उन्हें इस वास्तविकता का ज्ञान हो चुका था कि अब भारतीय नेतृत्व काफी प्रबुद्ध तथा जागरूक हो चुका है। अतएव उन्होंने भारतीय नेताओं के विभिन्न वर्गों द्वारा इस आयोग का विरोध किये जाने तथा बहिष्कार किये जाने की भावनाओं पर कूटनीतिक विचार आरम्भ कर दिया। भारतीय विधान सभा के अध्यक्ष विट्ठलभाई पटेल ने जो उस समय लन्दन की यात्रा पर गये हुए थे लार्ड बर्कनहेड को स्पष्टतया बता दिया था कि ऐसे आयोग का भारत में पूर्ण बहिष्कार किया जायगा। लार्ड इरविन ने भारत मन्त्री को सूचित किया था कि वह भारत के मुसलमानों, उदारवादियों तथा राजा-महाराजाओं की सहायता से विरोधी (हिन्दु) कांग्रेस से निबट लेगा। उसने बताया कि मुसलमान अंग्रेजों के मित्र हैं और वे कमीशन का बहिष्कार नहीं करेंगे। राजा व नवाब तो पूर्णतया अंग्रेजों के साथ हैं। इस प्रकार ब्रिटिश शासक आयोग का भारतीयों द्वारा बहिष्कार किये जाने की सम्भावनाओं से पूर्व परिचित थे। साथ ही भारत में कमीशन का बहिष्कार किये जाने की स्थिति में सम्भावित आन्दोलन को बल प्रयोग द्वारा कुचलने के लिए भी सरकार सतर्क थी।

कमीशन के निर्माण में जो दोष थे वे तो भारत के लिए अपमानजनक थे ही साथ ही इसके उद्देश्य भी भारतीय जनमत को मान्य नहीं थे। कमीशन यह जाँच करने के लिए नहीं आ रहा था कि भारत में उत्तरदायी शासन की सचालन करने की स्थापना किस प्रकार की जा सकती है अपितु उसे मूलरूप में यह बताना था कि भारतवासी उत्तरदायी शासन का संचालन करने की क्षमता रखते हैं या नहीं। अतः यह स्वाभाविक था कि ब्रिटिश संसद द्वारा पूर्णतया अंग्रेजों से निर्मित आयोग की सम्मति लेकर भारत के सांविधानिक भविष्य का निर्धारण किया जाना भारतीय जनता के आत्म-सम्मान को भारी चुनौती थी। इसलिए सारे देश में सभी राजनीतिक दलों ने कमीशन का विरोध तथा बहिष्कार करने का संकल्प किया। केवल मुस्लिम लीग का एक वर्ग इसका समर्थक था। जिन्ना के सहयोगी मुस्लिम लीग के नेता भी इस कमीशन के बहिष्कार के समर्थकों में से थे। स्वयं जिन्ना ने सप्रू, शिवस्वामी अय्यर, अली जर्मन, अब्दुर रहीम, अली इमाम, चिमन लाल सीतलवाड आदि के साथ उस वक्तव्य पर हस्ताक्षर किये थे जिसमें यह माँग की गयी थी कि भारतवासी ऐसे आयोग के साथ कार्य करने में भाग न लेंगे और न उसे कोई सहयोग देंगे। भारतीय जनता ने इसकी नियुक्ति को एक राजनीतिक धूर्तता अथवा भारत का घोर अपमान माना।

कांग्रेस पक्ष में इसकी नियुक्ति की प्रतिक्रिया यह हुई कि दिसम्बर 1927 को मद्रास अधिवेशन में कांग्रेस ने इसका पूर्ण बहिष्कार करने का संकल्प किया। उदारवादी संघ, मुहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग के एक वर्ग, हिन्दू महासभा आदि ने भी इसका बहिष्कार करने का निश्चय किया। इस प्रकार कमीशन का सर्वव्यापी बहिष्कार होना था। फरवरी

[1] This exceptionally intelligent jury of seven members of Parliament was expected to advise the Parliament on the problem extremely complicated and historically of world importance.—Tara Chand, *op. cit.* vol IV, 65-66

1928 मे जब प्रथम बार कमीशन बम्बई मे पहुँचा तो देशव्यापी हडताल के द्वारा उसका स्वागत किया गया। 16 फरवरी 1928 को केन्द्रीय विधान सभा मे लाला लाजपतराय ने कमीशन के विरुद्ध यह प्रस्ताव रखा कि 'विधान सभा सपरिषद् गवर्नर-जनरल को सस्तुति देती है कि वे कृपा कर सम्राट की सरकार को ससदीय आयोग के प्रति जिसे कि भारत के सविधान का पुनरवलोकन करने के निमित्त नियुक्त किया गया है, विधान सभा के पूर्ण अविश्वास से अवगत करा दे।' सरकार के गृह सदस्य ने भी इसका विरोध किया। वाद-विवाद के उपरान्त उक्त प्रस्ताव 62 के विरुद्ध 68 मतो से पास हो गया। जहाँ कही भी कमीशन पहुँचा, वहाँ हडताल काले झण्डो, प्रदर्शनो तथा 'साइमन वापिस जाओ' के नारो से उसका विरोध किया गया। सबसे अप्रिय घटना लाहौर मे हुई। लाला लाजपतराय, जो स्वय हृदय-रोग के मरीज थे, साइमन कमीशन विरोधी जलूस का नेतृत्व कर रहे थे। इस समय सरकार ऐसे प्रदर्शनो, विरोधो आदि का हिंसात्मक ढग से दमन कर रही थी। पुलिस ने लाला जी के ऊपर इतनी निर्दयता से प्रहार किया कि दो सप्ताह अस्पताल मे रहने के बाद उनकी मृत्यु हो गयी। उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ मे भी पण्डित जवाहरलाल नेहरू तथा पण्डित गोविन्द बल्लभ पत के ऊपर भी ऐसे ही लाठी प्रहार किये गये। सर्वत्र कमीशन का काम पुलिस की कठोर देख-रेख मे किया जाने लगा। प्रथम बार यह 3 फरवरी 1928 से 31 मार्च 1928 तक और दूसरी बार 11 अक्टूबर 1928 से 13 अप्रैल 1929 तक भारत मे रहा। इसे अधिकाश साक्ष्य केन्द्रीय व्यवस्थापिका की केन्द्रीय समिति तथा प्रान्तीय परिषदो की समितियो से प्राप्त हुआ। कमीशन तथा समितियो के प्रतिवेदन पृथक्-पृथक् दिये गये। मई 1930 मे ये प्रतिवेदन ब्रिटिश ससद मे प्रस्तुत किये गये। उस समय इग्लैण्ड मे रामजे मैकडानेल्ड के नेतृत्व मे श्रमिक दल की सरकार बन चुकी थी और कमीशन की रिपोर्ट मिलने से पूर्व ही प्रधानमन्त्री से परामर्श करके वाइसराय ने कुछ घोषणाएँ कर दी थी जिनमे गोल मेज सम्मेलन की स्थापना तथा भारत को औपनिवेशिक स्थिति प्रदान करने के आश्वासन थे। टोरी तथा उदार दल के नेताओ ने इस घोषणा का तीव्र विरोध किया क्योकि वे श्रमिक दल की सरकार की भारत के प्रति किसी भी सहानुभूतिपूर्ण नीति के विरोधी थे।

कमीशन का प्रतिवेदन

भारत की भावी सावैधानिक व्यवस्था के सम्बन्ध मे साइमन कमीशन ने जो रिपोर्ट पेश की थी उसका क्षेत्र कुछ दृष्टियो से व्यापक था, परन्तु कुछ मौलिक बातो के सम्बन्ध मे उसने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हितो को जान-बूझकर बचाया। इससे पूर्व राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता निरन्तर औपनिवेशिक स्वराज्य सदृश व्यवस्था की माँग करते आये थे। परन्तु दिसम्बर 1927 के काग्रेस अधिवेशन मे औपनिवेशिक के स्थान पर पूर्ण स्वराज्य की माँग का प्रस्ताव पास कर दिया गया था। इसके विपरीत साइमन कमीशन की रिपोर्ट मे भारत की औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थिति तक को पूर्णतया उपेक्षित रखा गया। रिपोर्ट का ऐसा व्यवहार भारत की जनता के लिए सबसे अधिक असन्तोष का कारण सिद्ध हुआ। अन्य सुझाव निम्नाकित थे

(अ) **प्रान्तीय शासन**—कमीशन ने प्रान्तो की द्वैध-शासन-प्रणाली को सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनो दृष्टियो से दोषपूर्ण बताकर वहाँ पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त उत्तरदायी सरकार स्थापित करने की सस्तुति दी। उसके मत से प्रत्येक प्रान्त को इतनी स्वायत्तता प्रदान की जाये कि वह स्वय अपने भाग्य का निर्माता बन सके। प्रान्तो के प्रशासन मे केन्द्रीय सरकार तथा भारत मन्त्री के हस्तक्षेप का अवसर न दिया जाये। परन्तु प्रान्त मे शान्ति तथा व्यवस्था एव अल्पसख्यको के हितो का सरक्षण करने के लिए कुछ रक्षा-कवच (safeguards) होने आवश्यक है। अत गवर्नरो को विशेष शक्तियाँ प्रदान करके इनकी व्यवस्था की जानी चाहिए।

(ब) **केन्द्रीय सरकार**—साइमन कमीशन सिद्धान्तत द्वैध-शासन-प्रणाली का समर्थक नही था। अत उसने केन्द्र के लिए अनुत्तरदायी स्वेच्छाचारी शासन व्यवस्था का समर्थन किया।

कमीशन के मत से एक सुदृढ़ तथा शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की नितान्त आवश्यकता थी। परन्तु केन्द्रीय सरकार का यह रूप अनिश्चित काल तक नहीं बना रहना चाहिए। इसका यह अभिप्राय है कि कमीशन कालान्तर में केन्द्र में भी उत्तरदायी शासन की स्थापना के पक्ष में था परन्तु उसका कोई निश्चित समय निर्धारित नहीं कर सका कि उसकी स्थापना कब से की जाय। चूंकि कमीशन केन्द्र में संघात्मक शासन की सम्भावना का अपरिहार्य मान रहा था जिसके अन्तर्गत ब्रिटिश प्रान्तों के अतिरिक्त देशी रियासतें भी शामिल हो जायेंगी अतः उसकी दृष्टि में तभी केन्द्रीय सरकार के रूप में भी परिवर्तन लाया जा सकेगा जबकि संघ व्यवस्था पूर्ण रूप से कायम हो जाय। सम्पूर्ण भारत संघ का निर्माण करने वाले इकाइयों के दो भागों (प्रान्तों तथा रियासतों) की अलग अलग प्रकार की शासन पद्धतियों के अन्तर्गत रहना अवांछनीय एवं असंगतिपूर्ण लगता है। अतः कमीशन की दृष्टि में इन दोनों भागों को एक ही संघ व्यवस्था के अन्तर्गत समरूप शासन प्रणाली के अनुसार लाने के प्रयास किये जाने चाहिए। इस हेतु कमीशन ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका के ऐसे विस्तार की संस्तुति की जिसमें ब्रिटिश प्रान्तों तथा देशी रियासतों दोनों का प्रतिनिधित्व हो। यह दोनों तत्वों के सामूहिक मामलों पर विचार करेगी। इस हेतु संविधान में ऐसे सामूहिक विषयों की सूची भी निर्मित कर दी जानी चाहिए।

(स) मताधिकार तथा प्रतिनिधित्व—मताधिकार तथा प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में कमीशन ब्रिटिश शासन की नीति से आगे नहीं गया। वयस्क मताधिकार की बात को उसने अव्यावहारिक एवं अवांछनीय बताकर ठुकरा दिया। परन्तु मताधिकार के क्षेत्र को और अधिक बढ़ाने की सिफारिश की गयी। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था को न केवल उसने समर्थन ही दिया अपितु उस ओर अधिक बल देकर जटिल बनाने का प्रयास किया। केन्द्रीय व्यवस्थापिका की दोनों सभाओं के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली की संस्तुति देकर केन्द्रीय शासन के सम्बन्ध में लोकतन्त्र की पूर्ण उपेक्षा की गयी। इन सभाओं के प्रतिनिधियों को प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के सदस्यों द्वारा निर्वाचित करने की व्यवस्था सुझायी गयी।

(द) सांविधानिक परिवर्तन—भविष्य में सांविधानिक परिवर्तनों के बारे में कमीशन को अपने प्रति दर्शाये गये राष्ट्रव्यापी असन्तोष का कटु अनुभव हुआ। अतः उसने यह संस्तुति दी कि भविष्य में सांविधानिक परिवर्तनों के बारे में प्रतिवेदन देने के लिए वैधिक आयोगों द्वारा जांच करने की व्यवस्था न रखी जाय। अपितु संविधान को ही इतना लोचपूर्ण बना दिया जाय कि उसमें सांविधानिक संशोधन करके वांछित परिवर्तन लाये जा सकें।

मूल्यांकन

साइमन कमीशन की रिपोर्ट पर भिन्न भिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएं हुई। जहाँ कूपलण्ड सदृश लेखकों के मत में इस रिपोर्ट ने ब्रिटिश राजनीतिशास्त्र के पुस्तकालय में एक अन्य श्रेष्ठ रचना की वृद्धि की वहीं भारतीय विचारकों व राजनयिकों के मत से यह रिपोर्ट रद्दी की टोकरी में फेंकने लायक कृति थी। इस रिपोर्ट पर ब्रिटिश सरकार ने शीघ्र कोई भी कार्यवाही न करके अगले गोल मेज सम्मेलनों के लिए इसके ऊपर विचार विनिमय करने का दरवाजा खोल दिया। निःसन्देह 1935 के भारतीय शासन अधिनियम की अनेक बातें इस रिपोर्ट पर आधारित थीं परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इस रिपोर्ट में जो थोड़ी-सी अच्छाइयाँ थीं उनकी उपेक्षा करके 1935 के कानून में उन्हें और अधिक बुरे ढंग से रखा गया।[1]

जिस ढंग से इस कमीशन की नियुक्ति की गयी थी और इसके प्रति जो देशव्यापी असन्तोष फैला था उन सन्दर्भों में भारतीय जनमत द्वारा इस रिपोर्ट का स्वागत तो सम्भव नहीं था परन्तु रिपोर्ट ने भारतीय माँग की मूलभूत बातों की उपेक्षा करके भारतीय परिस्थितियों की कमियों को और अधिक जटिल बनाने पर जोर दिया। इसके कारण इस रिपोर्ट की अच्छाइयाँ भी समाप्त हो गयीं। ऐसा भी कहा जाता है कि यदि भारतवासी इस रिपोर्ट का विरोध न करते तो सम्भवतः

प्रान्तीय स्वायत्त शासन की स्थापना 1937 मे होने की अपेक्षा और जल्दी हो जाती। इस रिपोर्ट ने प्रान्तो मे रक्षा कवचो से युक्त पूर्ण उत्तरदायी शासन की जो सिफारिशे की थी वे 1935 के अधिनियम द्वारा प्रावधित प्रान्तीय स्वायत्त शासन की व्यवस्था से अधिक खराब नही थी। साइमन कमीशन से जो कि पूर्णतया अग्रेज सदस्यो से निर्मित था, यह आशा करना भ्रान्तिपूर्ण था कि वह भारत की औपनिवेशिक स्वराज्य, वयस्क मताधिकार तथा पूर्ण उत्तरदायी शासन की माँगो को किचित मात्र भी प्रोत्साहन देता। उससे यह आशा भी नही की जा सकती थी कि वह साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की समस्या को सुलझाने मे कोई ईमानदार प्रयत्न करता क्योकि एक ऐसी यही दवा थी जिसके प्रयोग से ब्रिटिश साम्राज्यवाद का भारत मे अस्तित्व बना हुआ था। इसके समर्थन मे ये तर्क दिये गये थे कि स्वय काग्रेस तथा लीग ने 1916 मे इसे स्वीकार कर लिया था। परन्तु इस तथ्य की उपेक्षा की गयी थी कि उक्त समझौता एक अस्थायी व्यवस्था थी और स्वय जिन्ना के नेतृत्व मे मुस्लिम लीग ने 1927 मे पृथक् निर्वाचन प्रणाली का विरोध किया था। नेहरू रिपोर्ट ने भी इसका विरोध किया था।[1] जहाँ तक केन्द्रीय सरकार के सम्बन्ध मे कमीशन की सिफारिशो का सम्बन्ध है, उसका दृष्टिकोण प्रतिक्रियावादी बना रहा। एक अनुत्तरदायी केन्द्रीय सरकार की स्थापना की सिफारिश करना, वह भी उस समय जबकि राष्ट्रीय आन्दोलन पूरे जोर के साथ पूर्ण स्वराज्य की माँग पर तुला था, सबसे दुर्भाग्यपूर्ण सुझाव था। कमीशन को इस बात का श्रेय दिया जा सकता है कि उसने सर्वप्रथम भारत के लिए एक अखिल भारतीय सघ-व्यवस्था की सिफारिश की थी। भारत की शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध मे सघात्मक शासन-प्रणाली नितान्त आवश्यक थी। परन्तु सघ-व्यवस्था की स्थापना के निमित्त व्यवस्थापिका सभाओ मे अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली का समर्थन करना 'घोडे के आगे बग्घी को खडा करने' के सदृश था। 1919 के सुधार कानून तक ने सीमित मताधिकार के आधार पर ही सही, प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली लागू की थी। परन्तु कमीशन द्वारा 1930 मे यह सिफारिश करना कि केन्द्रीय व्यवस्थापिकाएँ अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित हो, कमीशन के सदस्यो के किस तर्क तथा सविधानवाद के किस अनुभव पर आधारित थी, वही लोग जाने। इस प्रकार समूचे रूप मे तत्कालीन राष्ट्रवादी शक्तियो के विकास की गति के सन्दर्भ मे साइमन रिपोर्ट किसी भी अर्थ मे सन्तोषजनक नही थी और भारतीय जनमत द्वारा ठुकराना पूर्णतया एक सम्मानजनक निर्णय था।

नेहरू रिपोर्ट

ब्रिटिश साम्राज्यवादियो मे जातीय अभिमान अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। भारत मे अपने साम्राज्यवाद को बनाये रखने तथा भारतवासियो की स्वायत्त शासन की माँगो को ठुकराने मे अग्रेज भारतवासियो की अयोग्यता तथा अक्षमता को व्यक्त करने मे जरा भी नही सकुचाते थे। साइमन कमीशन की नियुक्ति करते समय अनुदार दलीय भारत मन्त्री लार्ड बर्कनहेड ने लार्ड सभा मे भारतवासियो को यह चुनौती दी कि भारतीय राजनीति मे साम्प्रदायिकता इस सीमा तक बढी हुई है कि कोई भी भारतवासी समस्त साम्प्रदायिक वर्गो को मान्य सविधान बना सकने मे अक्षम है। ऐसी स्थिति मे भारतवासियो द्वारा साइमन कमीशन का बहिष्कार करने मे कोई बुद्धिमत्ता व्यक्त नही होती। भारत मन्त्री की इस चुनोती को काग्रेस ने स्वीकार किया और 28 फरवरी 1928 को काग्रेस ने दिल्ली मे एक सर्वदलीय सम्मेलन आयोजित किया। इसमे लगभग 29 सगठनो ने भाग लिया। इसके पश्चात् 19 मई 1928 को इस सम्मेलन की बम्बई मे पुन बैठक हुई। इस बैठक मे पण्डित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता मे 9 सदस्यो की एक उप-समिति का गठन किया गया।[2] इसका कार्य भारत के लिए एक उपयुक्त सविधान का प्रारूप तैयार करना था।

[1] *Ibid*, 76

[2] ये सदस्य थे तेजबहादुर सप्रू, अली इमाम, प्रधान, शोयब कुरेशी, सुभाषचन्द्र बोस, अणे, जयकर, एन० एम० जोशी तथा मगलसिंह जो विभिन्न राजनीतिक गुटो से लिए गए थे।

ममिनि क अध्यक्ष पण्डित नहरू क नाम म जा रिपार्ट तयार की गयी उमी का नहरू रिपार्ट क नाम म जाना जाता है। इस ममिति न 25 बठकें करक एक सवमान्य सविधान का प्रारूप तयार किया। यद्यपि यह एक पर्याप्त दुस्तर काय था तथापि ब्रिटिश भारत मन्त्री की चुनौती का यह सर्वोत्तम उत्तर था। नहरू रिपार्ट तयार हा जान पर अगस्त 1928 म सवदलीय सम्मलन की पुन लखनऊ म डा अन्सारी की अध्यक्षता म एक बठक हुई जिसम नेहरू रिपार्ट को सम्मलन न अपना अनुसमथन प्रदान किया। 22 दिसम्बर 1928 स 1 जनवरी 1929 तक कलकत्ता म सवदलीय सम्मलन क समक्ष मोतीलाल जी न समिति की इस रिपार्ट का प्रस्तुत किया। इस सम्मलन म गाधी जी जिन्ना प्रभति देश क विभिन्न वर्गों क प्रमुख नता उपस्थित थ। डा अन्सारी इसक अध्यक्ष थ।

रिपार्ट के प्राविधान

यह बात स्मरणीय है कि सावैधानिक सुधारा क बार म साइमन कमीशन को अपनी रिपार्ट तयार करन म 2 वष का समय लगा जबकि नहरू समिति न चार महीना म सविधान की व्यापक रूपरखा तयार कर दी। कारण स्पष्ट है साइमन कमीशन का ब्रिटिश साम्राज्य के हितो का सरक्षण करना था जिसम तथ्या को ताड मरोड कर रखन म समय लगना स्वाभाविक था। दूसरी बात यह थी कि साइमन कमीशन के सभी सदस्य अग्रज थ जिन्ह भारत की स्थिति का सही ज्ञान नही था। उनकी खाज गौण तथा लगरतपूण साधना पर आधारित थी। इसक विपरीत नहरू ममिति भारतीय सविधान की व्यवस्था क बार म स्वय स्पष्ट थी और जिस सविधान को तयार कर रही थी वह अपन देश तथा दशवासिया के लिए था। यही कारण है कि नहरू समिति की रिपार्ट भविष्य म स्वतन्त्र भारत क सविधान की पूवगामी सिद्ध हुई और साइमन कमीशन की रिपार्ट गाल मज परिषद् क सुझावा की जटिलता क बार म पडकर 1935 क शासन सुधार अधिनियम का माग-दशक बनी जा पूणतया लागू तक नही हो पायी। नेहरू रिपार्ट की प्रमुख सस्तुतियाँ निम्नलिखित थी—

(1) सुदूर भविष्य म भारत राज्य का स्वरूप सघात्मक शासन-व्यवस्था वाला ही हो सकता है जिसम केन्द्र तथा प्रान्त पूण स्वायत्तशासी हा। दाना क मध्य शक्ति विभाजन सघीय आधार पर किया जाना चाहिए और अवशिष्ट विषय केन्द्र क हाथ म रह।

(2) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें ससदीय शासन प्रणाली क आधार पर निर्मित की जानी चाहिए और मन्त्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व सामूहिक हाना चाहिए।

(3) रिपाट म यह माग की गयी थी कि भारत का शीघ्रातिशीघ्र औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थिति प्रदान की जानी चाहिए जसी की कनाडा आदि दशा की थी।

(4) केन्द्रीय व्यवस्थापिका क दो सदन हाग। लोक सदन (निम्न सदन) वयस्क मताधिकार क आधार पर प्रत्यक्ष रूप म चुन गय सदस्या का तथा उच्च सदन प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओ द्वारा निर्वाचित सदस्या का हागा। प्रान्ता म एकसदनात्मक व्यवस्थापिकाए हागी जिनक सदस्य वयस्क मताधिकार द्वारा चुन जायगे। इन सभाओ का कायकाल पाच वष का हाना चाहिए। मन्त्रिमण्डल इनक प्रति सामूहिक रूप म उत्तरदायी हाग। परन्तु सरकारा क स्थायित्व क हित म यह व्यवस्था भी बनाई गयी थी कि प्रथम तीन वष तक केवल भ्रष्टाचार सम्बन्धी आरोपा पर ही मन्त्रिमण्डल अविश्वास द्वारा निकाल जा सकेंग। शष दो वर्षों म इन्हें व्यवस्थापिका क विश्वास रहन तक पद पर बन रहन का हक हागा।

(5) नहरू रिपोर्ट न प्रतिरक्षा क सम्बन्ध म यह सस्तुति दी थी कि प्रधानमन्त्री प्रतिरक्षा मन्त्री विदेश मन्त्री तथा सशस्त्र सेनानायका एव दो विशषज्ञ सदस्या की एक समिति ही जो सनिक मामला म सलाह दिया करगी।

(6) नहरू रिपार्ट की एक विशषता यह भी थी कि उसन सविधान द्वारा नागरिका क

मौलिक अधिकारो की घोषणा करने तथा लोकप्रभुसत्ता के सिद्धान्त को अपनाने का सुझाव दिया था।

(7) अल्पसख्यको के सरक्षण तथा सास्कृतिक क्षेत्र मे उन्हे स्वतन्त्रता देने की व्यवस्था भी बतायी गयी थी। साम्प्रदायिक आधार पर पृथक् निर्वाचन प्रणाली का विरोध किया गया था। केवल मुसलमानो के लिए स्थान सुरक्षित रखने की व्यवस्था सुझाई गयी थी, परन्तु सयुक्त निर्वाचन प्रणाली को अपनाने का सुझाव था।

(8) सिन्ध के पृथक् प्रान्त के निर्माण तथा पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त को पूर्ण प्रान्त की श्रेणी देने की भी सिफारिश की गयी थी।

(9) न्यायपालिका के सम्बन्ध मे यह सुझाव दिया गया था कि भारत के लिए एक सर्वोच्च तथा अन्तिम अपीलीय न्यायालय के रूप मे सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की जानी चाहिए और प्रीवी कौन्सिल मे भारत की कोई अपील ले जाने की आवश्यकता नही रहनी चाहिए।

(10) देशी राज्यो के बारे मे भी कहा गया कि उनसे अपने राज्यो मे उत्तरदायी शासन स्थापित करने का आग्रह किया जाये, ताकि वे सघ मे शामिल होने के लिए तैयार हो सके। परन्तु उनके विशेषाधिकारो का सरक्षण किया जायेगा। अर्थात् सर्वोच्च सत्ता (paramountcy) का अन्त नही होगा। वह ब्रिटिश शासन के हाथ से भारत की नई सरकार के पास आ जायेगी।

रिपोर्ट के ऊपर प्रतिक्रिया

भारतीय सावैधानिक विकास एव राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास मे नेहरू रिपोर्ट एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रलेख है। परन्तु तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो के विकास-क्रम के सन्दर्भ मे इस रिपोर्ट को वाछित समर्थन तथा प्रोत्साहन प्राप्त नही हो पाया। ब्रिटिश शासको के द्वारा इसे स्वीकार किया जाना अप्रत्याशित नही था। वे तो साइमन कमीशन पर आशा लगाये बैठे थे। औपनिवेशिक स्वराज्य, पूर्ण उत्तरदायी शासन, वयस्क मताधिकार, मूल अधिकारो की प्रत्याभूति आदि की ब्रिटिश शासको मे आशा करना कोरा स्वप्न था। साथ ही सावैधानिक सुधारो की जो व्यापक रूपरेखा इस रिपोर्ट मे प्रस्तुत की गयी थी, उसे मानना उसके लिए एक अपमान की बात होती, क्योकि वे भारतवासियो को ऐसा कर सकने मे सर्वथा अक्षम मानते है।

दूसरी ओर भारतीय राजनीति के विविध वर्गो ने भी अनेक आधारो पर इसे स्वीकार नही किया। स्वय काग्रेस का युवा तत्त्व इसका विरोध करने लगा। पण्डित जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाषचन्द्र बोस युवा वर्ग के नेता थे। दोनो ने इस आधार पर रिपोर्ट का विरोध किया कि रिपोर्ट भारत के लिए औपनिवेशिक स्थिति मात्र से सन्तुष्ट है। इस वर्ग ने दिसम्बर 1927 के काग्रेस अधिवेशन मे पारित पूर्ण स्वराज्य की माँग पर जोर दिया। 1928 के कलकत्ता काग्रेस अधिवेशन मे पण्डित मोतीलाल नेहरू काग्रेस अध्यक्ष होने वाले थे। अत उन्हे इस विरोध का सामना करना था। वे इसके लिए गाधी जी की सहायता पर निर्भर थे। अधिवेशन मे विरोध का उत्तर देते हुए उन्होने यहाँ तक कहा कि 'मैं ब्रिटेन के साथ सम्बन्धो को तोड लेने मे राजी हूँ यदि उसका हमारे साथ आज का सा व्यवहार बना रहता है। परन्तु मैं उसके ऐसे आचरण के विरुद्ध नही हूँ जैसा वह उपनिवेशो के साथ करता है।' परन्तु जवाहरलाल तथा नेताजी सुभाष इससे सन्तुष्ट नही थे। ऐसा प्रतीत हुआ कि काग्रेस मे पुन विभाजन की स्थिति आने लगी है। अत गाधी जी ने हस्तक्षेप किया और यह बात स्वीकार कर ली गयी कि यदि ब्रिटिश सरकार नेहरू रिपोर्ट को 31 दिसम्बर 1929 तक स्वीकार कर लेती है तो काग्रेस इस रिपोर्ट को ज्यो का ज्यो स्वीकार कर लेगी। अन्यथा असहयोग तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेडा जायेगा जिसके अन्तर्गत करो को न देना भी शामिल है।

अत काग्रेस ने नेहरू रिपोर्ट को सशर्त स्वीकार किया। परन्तु जब सर्वदलीय सम्मेलन की स्वीकृति के बाद विभिन्न दलो ने पृथक् से इस पर विचार किया तो अनेक वर्ग भी इसे स्वीकार

करन म हिचक । सिक्खो के एक वग न इस इसलिए अमान्य किया कि इसमे केवल मुसलमाना क लिए स्थान सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गया थी । सिक्ख भी अपन लिए वसी हा सुरक्षा चाहन लग । स्वय मुसलमाना क एक वग ने जिसक नेता मुहम्मद अली जिन्ना थे इस स्वीकार नहा किया । जिन्ना अपनी 14 सूत्री माँगा पर डटे रह ।[1] राष्ट्रवादी मुसलमाना न इसका स्वीकार कर लिया । कुछ हरिजन भी इसस सन्तुष्ट नही हुए । मौलाना मुहम्मद अली न भी इसका विरोध किया ।

जब 28 दिसम्बर 1928 का सवदलीय सम्मेलन म नेहरू रिपाट पर विचार किया जा रहा था तो जिन्ना न साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व क सम्बन्ध म कुछ सशाधन रखे । उनका माग थी कि केन्द्रीय विधान सभा म एक तिहाई स्थान मुसलमाना क लिए सुरक्षित रखन की व्यवस्था की जाय और पजाब तथा बगाल की प्रान्तीय सभाआ म जनसख्या क आधार पर उनके लिए स्थान सुरक्षित रख जायें । सिध को तुरन्त अलग प्रान्त कर दिया जाय न कि सविधान लागू हान पर । अवशिष्ट शक्तिया प्रान्ता को दी जायें । सविधान सशोधन का अधिकार प्रत्यक सदन क 4/5 बहुमत द्वारा तथा दोना सदना के सयुक्त रूप स मतदान के आधार पर दिया जाय । सप्र न जिन्ना क सशाधन को व्यावहारिकता की दृष्टि स उचित बताया परन्तु हिन्दू महासभा क प्रतिनिधि जयकर न इसका तीव्र विराध किया । मतदान पर जिन्ना का सशाधन गिर गया । यह एक बडी दुर्भाग्यपूण घटना थी जिसन साम्प्रदायिक समस्या को भविष्य म निरन्तर जटिलतर बना दिया । सप्र क मत स जनसख्या के आधार पर जब 27% स्थान मुसलमाना को स्वयमेव मिलत थे और यदि 6⅓% उन्ह और द दिय जात तो कोई आसमान ता नहा गिर जाता । एक भारी समस्या का समाधान हा जाता । यदि यह माना गया था कि उत्तरदायी शासन स युक्त विशुद्ध लाकतन्त्र म स्थाना का सुरक्षित रखा जाना असगत है तो स्वय नहरू रिपाट सुरक्षित स्थाना की व्यवस्था क सिद्धान्त का मान चुकी थी । वास्तविकता की उपक्षा करक आदशवादिता का अवलम्बन करना उचित नहा था। यह भी आश्चय की बात थी कि स्वय गाधी जी न इस अवसर पर वाद विवाद म भाग नहा लिया और समाधान क लिए कोई हस्तक्षप किय बिना रिपाट को यथावत् स्वीकार कर लन का प्रस्ताव रखा । सम्मलन क इस व्यवहार न जिन्ना सदृश राष्ट्रवादी तथा मुहम्मद अली सदृश गाधीवादी एव दाना प्रभावशाली मुस्लिम नताआ को रुष्ट कर दिया । यद्यपि रिपाट का सरकार न भी कतई स्वीकार नहीं किया तथापि इसन भारतीय मुसलमाना की एकता विरोधी भावनाआ को प्रबल कर दिया । जिन्ना न अपना मत व्यक्त करत हुए कहा कि यह तरीका विलगाव का है (This is the parting of ways) । मौलाना मौहम्मद अली के शब्दा म हमम (मुसलमाना म) तथा उनम (काग्रसिया म) अब एक एसी खाडी आ गयी है जिसक ऊपर पुल का निमाण नहा हा सकता । य मतभेद बढते गय और ब्रिटिश शासका का इस घटना स अतीव हष तथा उत्साह मिला । इसकी सूचना लाड इरविन न बडे उत्साह क साथ भारत मन्त्री को भेजते हुए लिखा कि जब मुसलमान लोग हिन्दुआ क साथ एसी प्रतियागिता करें ता सन्तुलन बनाय रखन क निमित्त हम भरसक साय करेंगे ।[3]

पूण स्वतन्त्रता की माग

बीसवा सदी क प्रारम्भिक वर्षों म हा काग्रस क उग्रवादी दल न काग्रस का राजनीतिक भिक्षावृत्ति की नीति का विराध करना प्रारम्भ कर दिया था और 1906 क कलकत्ता अधिवेशन म लाकमान्य तिलक क प्रभाव स काग्रस न अपना उद्देश्य पूण स्वराज्य का माँग स्वीकार कर

[1] इनका उल्लख 'मुस्लिम साम्प्रदायिकता तथा देश का विभाजन' वाल अध्याय म आ किया जाएगा ।
[2] T Cha d p it vol IV 113-15
[3] Wh n t a case of Moslems competi g w th Hindus we do o r b t to hold the balance even *Ibid* 116

लिया था। परन्तु पूर्ण स्वराज्य का अर्थ पर्याप्त लम्बी अवधि तक ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य ही बना रहा। सूरत अधिवेशन मे उग्रवादियो के काग्रेस से पृथक् हो जाने पर तथा तिलक के दीर्घ अवधि के कारावास के कारण पूर्ण स्वराज्य की माँग दवी पडी रह गयी। अन्य उग्रवादी नेताओ के ऊपर भी भारी प्रतिवन्ध लगा दिये गये थे। बाद मे होम रूल आन्दोलन का लक्ष्य भी औपनिवेशिक ढग से स्वराज्य की प्राप्ति का ही बना रहा। 1920 के लगभग जब काग्रेम का नेतृत्व गाधी जी के हाथ मे आ गया तो उन्होने भी पूर्ण स्वराज्य की माँग जैसी स्पष्ट धारणा व्यक्त नही की। वे भी औपनिवेशिक स्वराज्य सदृश धारणा को ही स्वतन्त्रता आन्दोलन का लक्ष्य मानते रहे। 1927 के मद्रास अधिवेशन मे साइमन कमीशन का बहिष्कार करने का निर्णय करते समय पुन काग्रेस के युवा नेतृत्व के प्रभाव से काग्रेस ने अपना उद्देश्य पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति घोषित किया। महात्मा गाधी ने इस प्रस्ताव का वहुत स्वागत नही किया। इसका अर्थ यह था कि भारतवासी अपने देश मे ऐसी स्वायत्त शासन-प्रणाली अपनाना चाहते है जिसके अन्तर्गत भारत ब्रिटेन से अपना किसी प्रकार का सावैधानिक सम्बन्ध नही रखेगा। परन्तु गाधी जी ब्रिटेन के साथ ऐसे सम्बन्ध-विच्छेद को उचित नही समझते थे।

1928 के कलकत्ता अधिवेशन मे नेहरू रिपोर्ट पर काग्रेस को प्रस्ताव पास करना था। सितम्बर 1928 मे जब काग्रेस कार्य समिति ने इस रिपोर्ट को अपनी स्वीकृति प्रदान की तो पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने रुष्ट होकर काग्रेस सचिव पद से त्यागपत्र दे दिया, क्योकि नेहरू रिपोर्ट मे औपनिवेशिक स्थिति को स्वीकार किया गया था, जबकि जवाहरलाल जी काग्रेस के 1927 के प्रस्ताव 'पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति' के उद्देश्य पर अडे रहे। उनके समर्थक सुभाष बाबू, आदि थे। स्पष्ट था कि इस प्रश्न पर पुन काग्रेस मे विभाजन हो जायेगा। जब गाधी जी ने नेहरू रिपोर्ट को समर्थन देने सम्बन्धी प्रस्ताव रखा तो पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने उस पर सशोधन प्रस्ताव रख दिया और सुभाष बाबू ने उसका समर्थन किया। इस पर गाधी जी ने हस्तक्षेप करते हुए 31 दिसम्बर 1929 तक नेहरू रिपोर्ट को ब्रिटिश सरकार द्वारा मानने की तथा उसकी अनुपस्थिति मे काग्रेस द्वारा पुन असहयोग व सत्याग्रह आन्दोलन छेडने की शर्त रखी। यद्यपि पण्डित जवाहरलाल तथा उनके साथी इससे भी सन्तुष्ट नही थे, तथापि गाधी जी के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए इसे स्वीकार कर लिया गया। इस अवसर पर गाधी जी ने स्पष्ट किया कि 'स्वतन्त्रता शब्द को यदि इस रूप मे व्यक्त किया जाये जिस रूप मे श्रद्धा तथा विश्वास की भावना से मुसलमान अल्लाह शब्द तथा हिन्दू राम या कृष्ण शब्द उच्चारित करता है तो यह एक कोरा ढकोसला होगा। स्वतन्त्रता शब्द कोरा शब्द-जाल मात्र नहीं है, अपितु यह एक बहुत बडी चीज है।'[1] गाधी जी का अभिप्राय यह था कि पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग तथा एक वास्तविक औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग मे कोई वडा अन्तर नही है। पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग केवल भावावेश की द्योतक है।

काग्रेस के इस प्रस्ताव की प्रतिक्रिया ब्रिटिश कैम्प मे एक-दूसरे ही ढग से व्यक्त हुई। 1929 के प्रारम्भ मे इग्लैण्ड के आम चुनावो मे मजदूर दल के नेता रामजे मेकडानेल्ड को मन्त्रि-मण्डल वनाना पडा। इस समय मजदूर दल पूर्ण वहुमत मे नही था। भारत को मजदूर दल की सरकार से बहुत आशाएँ थी। मजदूर दल को अपने देश मे अनुदार तथा उदार दोनो दलो से समर्थन प्राप्त करना था, अत वह भारत की स्वतन्त्रता की माँग को मानने की स्थिति मे नही था।

अक्टूबर 1929 मे वाइसराय ने यह घोषणा की कि 'भारत की सावैधानिक प्रगति का स्वाभाविक मामला जैसा विचार किया जा रहा है यही है कि उसे औपनिवेशिक स्थिति (dominion status) प्राप्त हो। इस घोषणा का भारत मे बहुत स्वागत हुआ। इस दिशा मे ब्रिटिश मित्रो के भारत को सहायता देने सम्बन्धी श्रमिक दल की सरकार के प्रयासो के प्रत्युत्तर मे गाधी जी ने कहा 'मैं तो सहयोग के लिए मर रहा हूँ।' साथ ही उन्होने यह भी घोषणा की कि

[1] Quoted in P Sitaramayya, *op cit*, 331

यदि वास्तव म औपनिवेशिक स्थिति मुझे प्राप्त होती है तो मैं एस सविधान की प्रतीक्षा म रह सकता हूँ। इसका अभिप्राय यह था कि वे काग्रस के कलकत्ता अधिवेशन म पारित 31 दिसम्बर 1929 तक नेहरू रिपोट ब्रिटिश सरकार द्वारा स्वीकार कर लने की शत को ढीला करने को भी तयार थ। परन्तु वायसराय की इस घोषणा की प्रतिक्रिया इग्लण्ड म उल्टी हुई। अनुदारदलीय नता चर्चिल बर्कनहेड (भूतपूव भारत मन्त्री) लाड रीडिंग आदि तो भारत को औपनिवेशिक स्थिति दना पाप समझत थ। उदारदलीय नता लायड जाज न भी इसका विरोध किया। फलस्वरूप तत्कालीन भारत मन्त्री वजवुड बन ने अपनी प्रतिरक्षात्मक धारणा व्यक्त करत हुए इस घोषणा की पुनरुक्ति की कि जिस रूप म उत्तरदायी शासन भारत म चल रहा है वह औपनिवेशिक स्थिति का ही रूप है। उसम वही सिद्धान्त है और यह अब भारत के अधिकारो का अग बन चुका है।[1] बन का यह कथन भारतीय जनमत के लिए एक निराशाजनक बात थी। गाधी जी जो अभी तक औपनिवेशिक स्वराज्य क कट्टर समथक थ अब पूण स्वराज्यवादी होन लग गय। बाद म 1 सितम्बर 1931 क यग इण्डिया म उन्होने लिखा था कि काग्रस की दृष्टि म औपनिवेशिक स्थिति के मान ही पूण स्वराज्य है जिसम जहा तक सम्भव हो इग्लण्ड के साथ ऐच्छिक सहचार भी शामिल था जो दोनो देशो की पारस्परिक भलाइ का द्योतक है।

दिसम्बर 1929 म लाहौर म काग्रस का अधिवेशन होने जा रहा था। इस अधिवेशन म पण्डित जवाहरलाल नेहरू काग्रस की अध्यक्षता करन वाल थ। 31 दिसम्बर 1929 की तिथि काग्रस सदस्यो को भली भाँति याद थी। जब ब्रिटिश सरकार न काग्रस की चेतावनी की उपक्षा की तो लाहौर काग्रस न काग्रस सविधान म सशोधन करके स्वराज्य के स्थान पर पूण स्वराज्य की प्राप्ति को अपना ध्यय घोषित कर दिया। 31 दिसम्बर 1929 की आधी रात को पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने काग्रस का तिरगा झण्डा फहराते हुए पूण स्वतन्त्रता की प्राप्ति क काग्रस के उद्देश्य की घोषणा की और 26 जनवरी 1930 स निरन्तर इसा तिथि को स्वतन्त्रता दिवस मनान का निश्चय किया। भारत क इतिहास म 26 जनवरी की तिथि एक महान् राष्ट्रीय पव बन गया है। जब पूण स्वतन्त्रता प्राप्त कर लन पर नय सविधान को पारित किया गया तो उस लागू करन के लिए भी यही तिथि मान्य की गयी थी। पूण स्वतन्त्रता की घोषणा क ठीक बीस वष पश्चात् स्वतन्त्र भारत ने 26 जनवरी 1950 को प्रभुत्वसम्पन्न गणराज्य का सविधान लागू किया। तब स यह दिन गणतन्त्र दिवस के रूप म राष्ट्रीय पव बन चुका है।

प्रश्न

1 साइमन कमीशन के आगमन की भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर क्या प्रतिक्रिया हुई ?
2 टिप्पणी लिखिए—
(अ) साइमन कमीशन की रिपोर्ट।
(ब) नेहरू रिपोट।

[1] Coupland op cit 86

सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा गोल मेज सम्मेलन

(CIVIL DISOBEDIENCE AND THE R T C)

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन तथा स्वतन्त्रता संग्राम का पूर्ण नेतृत्व अपने हाथ मे लेने के पश्चात् गाधी जी का ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध पहला संघर्ष 1920 का असहयोग आन्दोलन था। इस आन्दोलन मे वांछित सफलता न मिलने के पश्चात् गाधी जी ने रचनात्मक कार्यक्रम पर जोर दिया। यह कार्यक्रम स्वदेशी आन्दोलन का शान्तिपूर्ण विस्तार था। साबरमती तथा वर्धा आश्रम इसके केन्द्र थे। गाधी जी के अनुयायी समूचे देश मे इसका प्रचार-कार्य करते रहे। जब 1920–30 के दशाब्द मे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की बढती हुई माँगो के प्रति ब्रिटिश सरकार का उपेक्षापूर्ण रवैया बना रहा, तो यह निश्चित था कि अब गाधी जी को दूसरा अभियान प्रारम्भ करना पडेगा। यही अभियान 1930 का सविनय अवज्ञा आन्दोलन था जो प्रथम चरण मे मार्च 1930 से मार्च 1931 तक चला। परन्तु इसकी पुनरावृत्ति 1932 से 1934 तक की गयी।

आन्दोलन की पृष्ठभूमि

(1) सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का मुख्य कारण देश की गिरती हुई राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ थी जिसके लिए ब्रिटिश सरकार उत्तरदायी थी। इस बात को गाधी जी ने तत्कालीन वाइसराय लार्ड इरविन को लिखे अपने पत्र मे स्पष्टतया व्यक्त किया था। 26 जनवरी 1930 के काग्रेस कार्यकारिणी के प्रस्ताव मे काग्रेस ने स्पष्ट कर दिया था कि ब्रिटिश सरकार ने देश का राजनीतिक, आर्थिक, सास्कृतिक तथा आध्यात्मिक शोषण करके देश को बरबाद कर दिया है। अत जब तक देश राजनीतिक दृष्टि मे पूर्ण स्वतन्त्र नही हो जाता तब तक जनता के कष्टो का अन्त नही हो सकता। ब्रिटिश शासक अपनी शोषण नीति मे कोई भी परिवर्तन नही कर रहे थे। अत ऐसे शासन को समाप्त करना जनता का प्रमुख कर्त्तव्य है। दमनकारी शासन की समाप्ति के लिए नि शस्त्र जनता सविनय अवज्ञा तथा अहिंसात्मक सत्याग्रह का ही सहारा ले सकती है। गाधी जी को अपने इस कार्यक्रम की सफलता पर पूर्ण विश्वास था, क्योकि वे इसका सफल प्रयोग दक्षिण अफ्रीका मे कर चुके थे।

(2) ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारत का रोष साइमन कमीशन की नियुक्ति के कारण बढ गया था क्योकि भारत के लिए सावैधानिक सुधार-व्यवस्था पर विचार करने तथा प्रतिवेदन देने के लिए भारतवासियो की उपेक्षा करके पूर्णरूपेण अग्रेज सदस्यो से निर्मित आयोग की रचना करना भारत का घोर अपमान था। इसमे यह भी स्पष्ट हो गया था कि ऐसे आयोग द्वारा जिस रूप की शासन-व्यवस्था सुझाई जायेगी वह कभी भी भारत के हित मे नही हो सकती।

(3) जब काग्रेस ने ब्रिटिश शासको की चुनौती स्वीकार करते हुए सर्वदलीय सम्मेलन द्वारा नेहरू रिपोर्ट तैयार कराके उसका सभी दलो के सम्मेलन मे अनुसमर्थन करा लेने मे सफलता प्राप्त कर ली, तो ब्रिटिश सरकार ने इस रिपोर्ट को उपेक्षित तो रखा ही, जैसा कि उससे आशा की जाती थी, साथ ही स्वय काग्रेस के एक वर्ग द्वारा उस रिपोर्ट मे एक कदम आगे बढकर औपनिवेशिक स्वराज्य के स्थान पर पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति को काग्रेस का लक्ष्य घोषित करके ब्रिटिश सरकार को 31 दिसम्बर 1929 तक इसे स्वीकार कर लेने का समय दिया था। इसी शर्त पर काग्रेस ने नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार किया था, अन्यथा उसने यह प्रण कर लिया था कि

ऐसा न होने पर सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया जायगा। अन्ततः यही हुआ। अतः 31 दिसम्बर 1929 को कांग्रेस ने औपनिवेशिक स्वराज्य के स्थान पर पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना अपना ध्येय घोषित कर दिया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अब कांग्रेस के पास सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं रह गया था। अतः कांग्रेस कार्यकारिणी ने 11 फरवरी 1930 को महात्मा गांधी को सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का अधिकार दे दिया।

(4) 1928 तथा 1929 की अवधि में देश में कुछ नये प्रकार के आर्थिक संगठन बनने लगे थे और कुछ ऐसी घटनाएं हुई थीं जिन्होंने सविनय अवज्ञा आन्दोलन के लिए पृष्ठभूमि तैयार करने का कार्य किया। इनमें से प्रथम घटना 1928 का बारदोली सत्याग्रह थी। सूरत जिले के बारदोली नामक ग्राम के किसानों के ऊपर जब भू-राजस्व 25% बढ़ा दिया गया जिसका कि कोई तार्किक या कानूनी आधार नहीं था तो किसानों ने बढ़ा हुआ लगान देने से इनकार कर दिया। सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में यह सत्याग्रह और अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ। यह पूर्णतया शान्तिपूर्ण एवं अहिंसात्मक था। परन्तु दमन की नीति पर चलने वाली ब्रिटिश सरकार ने इसे दबाने के लिए पठानों की सैनिक टुकड़ी वहाँ भेजी। किसान इससे भी टस से मस नहीं हुए। इस पर केन्द्रीय विधान सभा के अध्यक्ष विट्ठलभाई जे. पटेल ने वाइसराय को पत्र लिखकर अपना त्यागपत्र देने की इच्छा व्यक्त की। अन्ततः समझौता हो गया और एक न्यायिक समिति की नियुक्ति की गयी जिसने $6\frac{1}{4}$% वृद्धि का सुझाव दिया। किसान इसके लिए राजी हो गये। वास्तविकता यह थी कि इस आन्दोलन में किसान लगान देना नहीं चाहते थे। उनकी यही माँग थी कि मनमाने ढंग से 25% वृद्धि की न्यायिक जाँच की जानी चाहिए। दूसरी बात यह थी कि कांग्रेस इस आन्दोलन से अलग रही। उसने इसे राजनीतिक आन्दोलन का रूप नहीं दिया। अतः यह स्पष्ट हो गया था कि जब अत्याचारी शासन के विरुद्ध बारदोली का सत्याग्रह सफल हो सकता है तो देशव्यापी संगठित सत्याग्रह क्या नहीं सफल हो सकेगा।

(5) दूसरी ओर देश में कुछ समाजवादी शक्तियाँ भी विकसित हो रही थीं। रूसी साम्यवादी क्रान्ति का प्रभाव भारत में भी आने लगा था क्योंकि भारत का आर्थिक शोषण एक शक्तिशाली पूँजीवादी साम्राज्य द्वारा मनमाने ढंग से किया जा रहा था। भारत के साम्यवादियों को मेरठ जेल में बिना आरोपों की न्यायिक सुनवाई किये बन्द कर दिया गया था। भारत में भी अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की जा चुकी थी। 1929 में जवाहरलाल नेहरू इसके सभापति थे। पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा में भारत को एक समाजवादी गणतन्त्र निर्मित करने की भी घोषणा की गयी थी। अतः आर्थिक शोषण करने पर तुले साम्राज्यशाही के विरुद्ध क्रान्ति की सम्भावना बढ़ती जा रही थी। उसे सबल नेतृत्व की आवश्यकता थी।

(6) ब्रिटिश सरकार भारत की भावी शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में भारतवासियों से किसी प्रकार का सहयोग प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त नहीं थी। उल्टे वह साधारण से प्रतिरोध पर भी दमन की नीति अपना रही थी। गोलमेज सम्मेलन की बात स्वीकार करके ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य जैसा कि वाइसराय ने घोषित किया था यह था कि वह सम्राट की सरकार के मार्गदर्शन के निमित्त जिसके ऊपर संसद के विचारार्थ प्रस्तावों को बाद में प्रस्तुत करने का दायित्व था, राय को व्यक्त करेगी और उसे समरूपता प्रदान करेगा।[1] इस दृष्टि से वाइसराय ने ब्रिटिश शासन नीति को स्पष्ट कर दिया कि वह भारतवासियों के आत्मनिर्णय के अधिकार की उपेक्षा कर रही थी। सीतारामैया के शब्दों में यह पूर्णतया स्पष्ट था कि भारत को न तो आत्मनिर्णय करने का न संयुक्त रूप से निर्णय करने की आशा रखनी चाहिए बल्कि उसे दूसरों के निर्णय पर निर्भर रहना चाहिए।[2] ऐसी स्थिति में सविनय अवज्ञा आन्दोलन और अधिक आवश्यक प्रतीत हो गया।

[1] Quot J n P S ta amayya *op cit* 365 [2] *Ibid*

इस प्रकार सविनय अवज्ञा आन्दोलन की पृष्ठभूमि पर्याप्त सुदृढ थी और उसके कारण भी सुस्पष्ट थे। परन्तु इस बार गाधी जी ने पर्याप्त सयम बरता। आन्दोलन छेडने से पूर्व उन्होने न केवल सरकार को ही स्पष्ट चेतावनी दी, अपितु उसे विचार करने का पूरा अवसर भी दिया। साथ ही आन्दोलनकारियो को पूर्णतया तैयार कर लिया ताकि आन्दोलन किसी भी रूप मे हिंसात्मक न होने पाये और सरकार द्वारा उसका दमन करने मे खून-खराबी से बचा जाये।

आन्दोलन से पूर्व गाधी जी की शर्ते

यद्यपि सविनय अवज्ञा आन्दोलन की स्वीकृति काग्रेस कार्यकारिणी ने फरवरी 1930 मे दे दी थी और उसके पश्चात् भी गाधी जी ने अन्तिम क्षण तक वाइसराय को सोच-विचार करने का अवसर दिया था, जो कि उनके वाइसराय को लिखे गये 2 मार्च 1930 के पत्र के द्वारा स्पष्ट है,[1] तथापि गाधी जी ने जनवरी मास मे ही बोमन जी को अपनी प्रसिद्ध 11 शर्तें बता दी थी और बोमन जी ने ब्रिटिश प्रधानमन्त्री से समझौता वार्ता करने की योजना रखी थी। गाधी जी की 11 शर्तें सक्षेप मे इस प्रकार थी पूर्ण नशाबन्दी, भारतीय रुपये का मूल्य डेढ शिलिंग की अपेक्षा $1\frac{1}{3}$ शि० निर्धारित करना, भू-राजस्व को 50% कम करना, नमक कर की समाप्ति, सैनिक व्यय मे कम से कम 50% की कमी करना, उच्च अधिकारियो के वेतन को आधा करना, विदेशी कपडे पर रक्षात्मक प्रशुल्क लगाना, समुद्र तटीय प्रशुल्क सुरक्षा विधेयक को पारित करना, अहिंसात्मक ढग से कार्य करने वाले समस्त राजनीतिक बन्दियो को मुक्त करना, गुप्तचर पुलिस का अन्त करना या उसे जन-नियन्त्रण के अन्तर्गत रखना, तथा जन-नियन्त्रण के अन्तर्गत आत्मरक्षा हेतु बन्दूको को रखने के लाइसेन्स प्रदान करना।

विधान सभा के सदस्यो द्वारा त्याग-पत्र—सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ होने से पूर्व केन्द्रीय व्यवस्थापिका के बजट अधिवेशन मे सरकार की वित्तीय नीति के विरोध मे पण्डित मदनमोहन मालवीय, दीवान चमनलाल आदि अनेक नेताओ ने त्याग-पत्र दे दिया था। यद्यपि इनका सम्बन्ध सविनय अवज्ञा आन्दोलन के साथ नही था, तथापि काग्रेस के घोषित आदेशो के अन्तर्गत फरवरी 1930 मे केन्द्रीय तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओ के 172 सदस्यो ने त्याग-पत्र दे दिये थे। काग्रेस ने अन्य सदस्यो से भी ऐसा करने का अनुरोध जारी रखा। इस प्रकार अवज्ञा आन्दोलन के पूर्व असहयोग का वातावरण बन चुका था। दूसरी ओर सरकार भी दमन की नीति पर दृढ होती जा रही थी।

गाधी जी का वाइसराय को पत्र—इन सब परिस्थितियो के सन्दर्भ मे गाधी जी ने 2 मार्च 1930 को स्पष्ट शब्दो मे तथा निर्भय होकर जो पत्र वाइसराय लार्ड इरविन को लिखा था वह वास्तव मे राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण प्रलेख है। इस पत्र मे गाधी जी ने ब्रिटिश शासन को भारत के लिए एक अभिशाप बताया, परन्तु अग्रेजो को अपना मित्र कहा। 1930 मे आयोजित गोल मेज सम्मेलन के उद्देश्य की भी उन्होने भर्त्सना की, क्योकि वाइसराय उसके अन्तिम परिणामो के बारे मे कोई भी आश्वासन देने मे असमर्थ रहे थे। भारत मे ब्रिटिश शासन नीति की समस्त बुराइयो का स्पष्टीकरण करते हुए गाधी जी ने तथ्यो द्वारा वाइसराय को बताया कि ब्रिटिश सरकार किस प्रकार भारत का राजनीतिक, आर्थिक, सास्कृतिक तथा आध्यात्मिक शोषण कर रही है। उन्होने सरकार की कर-नीति, उद्योग तथा वाणिज्य की नीति, प्रशासन मे अत्यधिक व्ययशीलता, सेना मे अत्यधिक व्यय, भारत की जनता को राजनीतिक एव नागरिक अधिकारो से वचित रखने तथा हर प्रकार से उन्हे दासता की स्थिति मे बनाये रखने की प्रवृत्ति और न्यायोचित माँगो के लिए किये जाने वाले अहिंसात्मक तथा शान्तिपूर्ण प्रदर्शनो पर दमन की नीति अपनाने की नीतियो का पर्दाफाश किया, उन्होने यहाँ तक लिखा कि वाइसराय को ब्रिटिश

[1] इस पत्र का साराश मात्र आगे दिया जा रहा है।

प्रधानमन्त्री की तुलना म लगभग चौगुना वतन मिलता है जिसका भार निधन भारतीय जनता को उठना पडता है और उस पर कर भार बढ़ाया जाता है। इसी प्रकार सारे प्रशासन का व्यय बढ़ाया गया है। उन्होंने स्पष्ट किया कि एस शासन को भारत म विद्यमान रहने का कोई नैतिक तथा न्यायोचित अधिकार नही है। भारतवासियो के इन कष्टो का निवारण तभी हो सकता है जबकि उन्हें स्वयं अपना शासन करने का अधिकार प्राप्त हो जाये। ब्रिटिश सरकार इस दिशा म कोई ईमानदार कदम उठाने को प्रस्तुत नही है। अत जनता क पास अहिंसात्मक सविनय अवज्ञा करके अपने इन पवित्र अधिकारो को प्राप्त करने के अतिरिक्त और कोई साधन नही है। गाधी जी ने इस हेतु 11 मार्च 1930 तक की तिथि वायसराय को विचार करने क लिए दी और लिखा कि यदि वह अब भी समस्या पर उनस विचार विनिमय करने की इच्छा रखें तो पत्र प्राप्त करत ही तार द्वारा उन्हें सूचित कर। इस स्थिति म वे (गाधी जी) सविनय अवज्ञा के अपने प्रस्तावित आन्दोलन को स्थगित कर सकते है। परन्तु यदि एसा नही हुआ तो 12 मार्च को वे नमक कानून तोड़कर अपने अभियान का प्रारम्भ कर देंगे।

ऐतिहासिक डाडी यात्रा का प्रस्ताव—जैसी कि आशा थी वायसराय ने इस पत्र का तुरन्त उत्तर तो दिया परन्तु गाधी जी की स्पष्ट घोषणा के बावजूद वायसराय ने यह कहा कि जिस मार्ग का अनुसरण गाधी जी कर रहे हैं उसस निश्चय ही शान्ति व्यवस्था तथा कानून का उल्लंघन करने म हिंसा का तत्त्व आ जायगा। इसके उत्तर म गाधी जी ने व्यंग्य करते हुए कहा कि मैं रोटी माग रहा था उत्तर मे मुझे पत्थर मिला है। ऐसी स्थिति म गाधी जी का अहिंसात्मक सत्याग्रह आन्दोलन जो गाधी जी द्वारा नमक कानून भग करने स प्रारम्भ होना था अवश्यम्भावी हो गया। 12 मार्च को गाधी जी ने साबरमती आश्रम स डाडी तक 200 मील की पद यात्रा का कार्यक्रम बनाया था। उनका साथ आश्रम के अहिंसा म प्रशिक्षित शिष्य दल। डाडी जाकर पहले स्वय गाधी जी नमक कानून का उल्लंघन करने के प्रतीक रूप म नमक बनाते और बिना कर दिये उस जनता को प्रयोग के हेतु वितरित करते। उसके पश्चात् तब उनके अनुयायी सविनय अवज्ञा कार्यक्रम के अन्तर्गत अन्य कार्य-कलाप करते। इसकी सूचना वायसराय को पूर्व ही दे दी गई थी। अत 12 मार्च को इस अभियान का आरम्भ निश्चित हो गया। शासकों के पूर्व रवैया को देखते हुए यह भी निश्चित हो था कि वायसराय गाधी जी द्वारा रखी गई सब समस्याओं पर विचार विनिमय करने के प्रस्ताव को स्वीकार नही करेगा और अन्ततोगत्वा सविनय अवज्ञा आन्दोलन अवश्य आरम्भ करना पड़ेगा।

गांधी जी द्वारा सत्याग्रहियों को चेतावनी—जहाँ एक ओर गाधी जी ने वायसराय को ऐसी चेतावनी दी और सोच विचार करने का अन्तिम क्षण म एक और अवसर दिया वहाँ उन्होंने सत्याग्रह करने वाले स्वयंसेवियों को भी अहिंसा के मार्ग का अनुसरण करने तथा पूर्णतया अनुशासित रहने और सयम स कार्य करने का आह्वान किया। प्रत्येक सत्याग्रही को यह शपथ लेनी थी कि वह भारत की स्वतन्त्रता के लिए सविनय अवज्ञा आन्दोलन म भाग लेना चाहता है वह सभी शान्तिपूर्ण तथा औचित्यपूर्ण तरीकों स भारत के लिए कांग्रेस द्वारा निर्धारित पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के सिद्धान्त को अपनाता है इस अभियान म वह जेल या अन्य किसी प्रकार के दण्ड को सहन करने के लिए तैयार है यदि वह जेल गया तो उस अवधि म अपने परिवार के सदस्यों के लिए किसी भी प्रकार की आर्थिक सहायता की कांग्रेस म माँग नही करेगा और वह पूर्णरूपेण उन नेताओं की आज्ञा का पालन करेगा जिनके ऊपर आन्दोलन का भार सौंपा गया है।

आन्दोलन का प्रारम्भ (डाडी यात्रा)

पूर्व नियोजित कार्यक्रम के अनुसार सविनय अवज्ञा का श्रीगणेश स्वयं गाधी जी के द्वारा डाडी नामक स्थान पर समुद्र तट स बिना कर दिये नमक उठाकर किया जाना था। अत साबर मती आश्रम से डाडी तक की लगभग 240 मील की पद-यात्रा म गाधी जी ने 12 मार्च को प्रात

काल को अपने 78 प्रशिक्षित साथियो के साथ प्रस्थान किया। राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास मे यह एक अभूतपूर्व घटना थी। प्रात काल जब गाधी जी के साथ सत्याग्रहियो का दल प्रस्थान करने लगा तो अहमदाबाद की सारी गलियाँ हजारो दर्शको की भीड से भर गई। 'गाधी जी की जय' के शब्द घोष से आकाश गूँज उठा। जनता मे अतीव श्रद्धा, उत्साह तथा ओज था। लेखको ने इस यात्रा को रामचन्द्र जी की लका पर चढाई करने की यात्रा से तुलना की है, जो वास्तविक है। गाधी जी का दल मार्ग मे जिन ग्रामो से होकर गुजरा, सब जगह नर-नारी भारी हर्ष ध्वनि से उनका स्वागत करने लगे। गाधी जी सबको यही उपदेश देते गए कि कही पर भी अनुशासनहीनता तथा हिसा नही होनी चाहिए। सैकडो सरकारी कर्मचारियो ने अपने पदो से त्याग-पत्र दे दिये। जिन्होने त्याग-पत्र नही दिये उनका बहिष्कार किये जाने की योजना रखी गई। परन्तु गाधी जी ने चेतावनी दी कि इस कार्य मे तनिक भी हिसा न आने पाये। सामाजिक बहिष्कार का क्षेत्र केवल उनके पद से सम्बद्ध कार्यो तक सीमित रहे। अन्यत्र ऐसे व्यक्तियो के साथ मित्रवत् व्यवहार बना रहे। मार्ग मे कही पर भी सत्याग्रही दल के व्यक्तियो के लिए इससे अधिक सुख-सुविधा की व्यवस्था न की जाय जितनी कि भारत के एक साधारण व्यक्ति को प्राप्त होती है। 24 दिन की पैदल यात्रा पूरी करके दल अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचा। 6 अप्रैल की प्रात काल की बेला मे गाधी जी ने अपने साथियो सहित अपना सविनय अवज्ञा का ऐतिहासिक प्रदर्शन किया। उन्होने समुद्र तट पर नमक बनाकर बिना कर दिये उसे लोगो मे बाँटा। सत्याग्रह दल के साथ अनेक पत्रकार, चित्र लेने वाले तथा फिल्म-निर्माता भी थे। सारा विश्व भारत के इस महान् दृश्य को बडी उत्सुकता से देख रहा था। कुछ विदेशी पत्रकारो का मत था कि भारत मे स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे महान् क्रान्ति हो चुकी है, ज्यो ही गाधी जी के सफल अभियान की सूचना देश मे फैली, त्यो ही हजारो लोगो ने डाडी को प्रस्थान किया। शेष उनके आदेशो के अनुसार आन्दोलन के अन्य कार्यक्रमो को सम्पन्न करने की बाट देख रहे थे।

गाधी जी के आदेशानुसार देश-भर मे प्रत्येक सत्याग्रही को नमक कानून का उल्लघन करना था। नमक तैयार करना, उसे स्वतन्त्रतापूर्वक बिना कर चुकाये बेचना या लोगो मे वितरित करना इस अभियान के अग थे। गाधी जी को पूरा विश्वास था कि सरकार ऐसे सत्याग्रहियो का दमन करने मे पुलिस का सहारा लेगी। परन्तु सत्याग्रहियो को गाधी जी के कठोर आदेश थे कि कही पर भी हिसा का अवलम्बन न किया जाये। सविनय अवज्ञा आन्दोलन के अन्य कार्यक्रमो के अन्तर्गत विदेशी माल एव विशेषकर कपडे का बहिष्कार तथा खादी का प्रयोग, सरकारी पदो से त्याग-पत्र देना, विद्यार्थियो द्वारा सरकारी स्कूलो का बहिष्कार, शराब की दूकानो पर धरना देना (इस कार्य मे गाधी जी ने महिलाओ के विशेष योगदान पर जोर दिया था), घर पर चरखे का प्रयोग छुआछूत का विरोध, साम्प्रदायिक सद्भावना, आदि रचनात्मक कार्य शामिल थे।

सभी को विश्वास था कि नमक कानून तोडते ही गाधी जी को बन्दी बना लिया जायेगा। परन्तु सरकार को ऐसा खतरा मोल लेने का साहस नही हुआ। जब अवज्ञा आन्दोलन की लहर सारे देश मे फैल गई, तो अन्यत्र सरकार का दमन शुरु हुआ। ऐसा अनुमान है कि लगभग एक लाख की सख्या मे सत्याग्रही बन्दी बना लिये गये थे और सरकारी जेलो मे स्थानाभाव हो जाने के कारण सरकार को बन्दियो के लिए अन्य इमारतो की व्यवस्था करनी पडी। स्थान-स्थान पर शान्तिपूर्ण ढग से सत्याग्रह करने वालो के ऊपर पुलिस ने लाठी प्रहार, गोली चलाने आदि हिसात्मक कार्यो की भी कमी नही की। गाधी जी को सारी सूचनाएँ प्राप्त हो रही थी। उन्होने सरकार की दमनकारी नीति की भर्त्सना करते हुए वाइसराय को पुन पत्र लिखा। परन्तु सरकार ने परवाह नही की, प्रेस पर प्रतिबन्ध और कडा कर दिया गया। सिनेमा गृहो को कडे आदेश दिये गये कि वे गाधी जी की डाडी यात्रा के फिल्मो का प्रदर्शन नही कर सकेगे। सक्षेप

प्रथम गोल मेज सम्मेलन

सम्मेलन की पृष्ठभूमि—जैसा पहले कहा जा चुका है, भारत की सावैधानिक सुधारो की समस्या प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के बाद तीव्र गति से जटिल होती जा रही थी, माटफोर्ड सुधारो ने इसे और अधिक जटिल बना दिया था। 1924 मे स्वराज्य दल ने केन्द्रीय विधानसभा मे सावैधानिक समस्या के हल के लिए गोल मेज सम्मेलन बुलाने की माँग का प्रस्ताव पास किया था। परन्तु 1920 से 1930 की अवधि मे ब्रिटेन के उदार तथा अनुदार दलीय नेता, भारत मन्त्री एव वाइसराय, सभी ने वास्तविकताओ की उपेक्षा की और माटफोर्ड योजना मे प्राविधित 10 वर्ष तक कोई नया कदम न उठाने की नीति पर अडे रहे। उन्होने न तो विश्व मे हो रहे विकासो के भारत पर पडने वाले प्रभावो की ओर ध्यान दिया और न स्वय भारत मे विकसित हो रही राजनीतिक जागृति की परवाह की। वे अपने साम्राज्यवादी स्वप्नो को ही दमनकारी तथा बल प्रवर्ती साधनो द्वारा साकार करने मे व्यस्त रहे। परन्तु समय की माँग ने उन्हे साइमन कमीशन को निर्धारित समय से 2 वर्ष पूर्व नियुक्त करने को विवश किया, तो उसके सम्बन्ध मे जो नीति अपनायी वह भी उनके शरारतपूर्ण रवैये की ही द्योतक सिद्ध हुई जिसके फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने भारतवासियो को रुष्ट करने का ही श्रेय प्राप्त किया। वाइसराय लार्ड इरविन जो भारत की वास्तविक स्थिति के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क मे था, अब वास्तविकता को कुछ समझने लगा था। परन्तु इग्लैण्ड मे सत्ताधारी नेता तथा विरोधी दलो के नेता उससे सहमत नही होते थे। भारत मे स्वायत्त शासन की माँग निरन्तर प्रत्येक वर्ग की ओर से बढती जा रही थी। ऐसी स्थिति मे लार्ड इरविन ने साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित होने से पूर्व ही 31 अक्टूबर 1929 को यह घोषणा कर दी कि ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य भारत मे औपनिवेशिक ढग के स्वशासन की स्थापना करने तथा भावी सविधान के मसविदे पर विचार करने के लिए गोल मेज सम्मेलन बुलाने का है।

इधर साइमन कमीशन की प्रतिद्वन्द्वी नेहरू समिति की रिपोर्ट निकल चुकी थी जिसका भारतीय जनमत ने पर्याप्त स्वागत किया था, भले ही मुस्लिम लीग इससे रुष्ट हो गयी थी। परन्तु साइमन कमीशन की रिपोर्ट की तुलना मे यह मुस्लिम हितो के लिए अधिक उपयुक्त थी। लीग ने कमीशन की रिपोर्ट को भी ठुकरा दिया था, क्योकि उसमे औपनिवेशिक स्थिति का उल्लेख तक नही था। लीग इससे कम किसी शर्त को मानने को राजी न थी। सबसे महत्त्वपूर्ण घटना यह थी कि काग्रेस अब औपनिवेशिक स्वराज्य के स्थान पर पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति को अपना लक्ष्य बना चुकी थी और शासको के राष्ट्रीय माँगो के विरुद्ध हठीले तथा उपेक्षापूर्ण रुख के कारण सविनय अवज्ञा आन्दोलन भीषण रूप धारण कर चुका था। यद्यपि सरकार ने इस शान्ति-पूर्ण आन्दोलन को कुचलने मे दमन का कोई साधन शेष नही छोडा था, तथापि अब वाइसराय भी बहुत परेशानी अनुभव करने लगा था। साइमन कमीशन की रिपोर्ट जहाँ भारतवासियो को सर्वथा अमान्य थी, वहाँ इरविन ने भी अनुभव किया कि यह भारत की वास्तविकताओ से दूर होने के कारण निरर्थक थी। अत इरविन ने गृह सरकार के अधिकारियो के समक्ष गोल मेज सम्मेलन बुलाने का आग्रह किया, ताकि इसके कारण भारत का वातावरण कुछ शान्त किया जा सके। परन्तु उस समय इग्लेण्ड स्थित मजदूर सरकार इतनी निर्बल थी कि प्रधानमन्त्री तथा भारत मन्त्री दोनो बिना विरोधी दलो से परामर्श किये कोई निर्णय लेने की स्थिति मे नही थे। परन्तु उदार तथा अनुदारदलीय नेता ऐसे सम्मेलन के पक्ष मे नही थे। इस पर इरविन ने त्याग-पत्र की धमकी दी। अन्तत ब्रिटेन के नेताओ को इसे स्वीकार करना पडा।

परन्तु इसका यह अर्थ नही था कि गोल मेज सम्मेलन की घोषणा भारतीय समस्या का समाधान सिद्ध होती। वास्तविकता यह थी कि स्वय वाइसराय भारतीय जनमत को अवज्ञा आन्दोलन से विमुख करने का अस्थायी उपचार ढूंढ रहा था। उसे यह स्पष्टत ज्ञात था कि

यह बात अवश्य थी कि ऐसे रक्षा-कवच केवल अन्तरिम काल के लिए होगे ओर कालान्तर मे भारतवासियो को अपने लिए पूर्ण उत्तरदायी शासन-व्यवस्था स्थापित रखने का अवसर 'दिया जायेगा। प्रधानमन्त्री ने यह भी सकेत दिया कि भारत मे काग्रेस के नेतृत्व मे चल रहे सविनय अवज्ञा आन्दोलन के सत्याग्रहियो के साथ वाइसराय की समझौता-वार्ता चल रही है ताकि उनका सहयोग भी प्राप्त किया जा सके।

प्रथम गोल मेज सम्मेलन की आलोचना—जिन उद्देश्यो से निदेशित होकर तथा जिस प्रकार गोल मेज सम्मेलन के प्रतिनिधियो को चुना गया था। उससे स्पष्ट था कि सम्मेलन निरर्थक सिद्ध होगा। दिखाने के लिए सम्मेलन को भारत की भावी साविधानिक सरचना पर विचार विनिमय करना था, परन्तु जिन विविधतापूर्ण निहित स्वार्थो से युक्त व्यक्तियो का चयन इसके लिए किया गया था वे अपने व्यक्तिगत या वर्गगत हितो तथा प्रतिक्रियावादी विचारो को रखने के अतिरिक्त और कुछ नही कर सकते थे। समस्या थी एकता की परन्तु उसके समाधान के निमित्त पृथकतावादी तत्त्वो का साधन अपनाया गया था। कूपलैण्ड ने उचित ही कहा है कि 'अब यह कहना चाहिए कि लन्दन के पट मे उनकी आँखो के समक्ष भारत की समस्या का सम्पूर्ण जाल जीवित किया गया। परन्तु वह वास्तव मे पूर्ण नही था। इस समूह मे एक बडी खाई थी। भारतीय राजनीति के सबसे विशाल तथा शक्तिशाली सगठन का, जो कि भारत के युवा वर्ग को सर्वाधिक लोकप्रिय था। इसमे प्रतिनिधित्व नही था। काग्रेस का व्यवहार अभी भी पूर्णतया शत्रुतापूर्ण था।'[1] काग्रेस ही वास्तव मे ऐसा सगठन था जिसे भारतीय राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधि कहा जा सकता है, उसके अभाव मे शेष वर्गो के प्रतिनिधियो से यह आशा करना भ्रामक था कि वे भारत की स्वायत्त शासन की माँग को महत्त्व देते। उन्हे तो अपने विशेष हितो के सरक्षण की चिन्तामात्र थी। मुसलमानो के प्रतिनिधियो का चयन भी प्रतिक्रियावादी वाइसराय की कार्यकारिणी के सदस्य फजलीहुसैन की सलाह मे किया गया था। अत कोई भी राष्ट्रवादी मुसलमान उसमे नही छाँटा गया था।

जहाँ तक सम्मेलन की कार्यवाहियो तथा निर्णयो का सम्बन्ध है, ऐसे सम्मेलन से कोई सफलता प्राप्त करने की आशा नही थी। मूल प्रश्न थे भारत को औपनिवेशिक स्थिति के स्वायत्त शासन का प्रदान किया जाना, भारत की सघात्मक या एकात्मक सरचना का निर्धारण तथा उत्तरदायी शासन व्यवस्था के अन्तर्गत अल्पसख्यको (विशेष रूप से मुसलमानो) के हितो का सरक्षण। औपनिवेशिक स्थिति की धारणा ब्रिटिश नेताओ ने भ्रामक बनाकर समाप्त कर दी। वे केन्द्र मे पूर्ण उत्तरदायी शासन देने के पक्ष मे नही थे। सघवाद के बारे मे सभी सहमत थे। परन्तु सघ की सरचना के बारे मे अनेक मतभेद बने रहे। देशी नरेश भी सघ के बारे मे सहमत थे, परन्तु इन सब प्रस्तावो के सम्बन्ध मे सबसे बडी समस्या मुस्लिम साम्प्रदायिकता की थी। इसके सम्बन्ध मे यदि सयुक्त निर्वाचन प्रणाली तथा स्थान सुरक्षित रखने की बात मान ली जाती तो समस्या सुलझ सकती थी। परन्तु कट्टरपथी साम्प्रदायिक तत्त्वो ने सयुक्त निर्वाचन प्रणाली का विरोध किया। मुस्लिम साम्प्रदायिकतावादियो को ऐसी सघ व्यवस्था जिसमे देशी नरेश शामिल हो अमान्य थी। उन्हे यह भय था कि देशी रियासते हिन्दुओ के बहुमत वाली होने से सघ सरकार मे मुसलमानो के स्थानो की सख्या कम हो जायेगी। परोक्ष मे वे पृथक् स्वतन्त्र मुस्लिम भारत की कामना करते थे। मु० इकबाल तो पृथक् मुस्लिम राज्य की धारणा व्यक्त करने मे लगे थे और वे मुस्लिम बहुल जनता वाले प्रान्तो के सघ मे शामिल होने के विरोधी थे। इस प्रकार प्रथम गोल मेज सम्मेलन साम्प्रदायिक मतभेदो के जाल मे फसा रहा और कोई ठोस निर्णय लेने मे असफल रहा। काग्रेस के प्रतिनिधित्व के अभाव मे इसकी सफलता की आशा करना मृग मरीचिका के तुल्य थी।

[1] Coupland, *The Indian Problem*, Part I, 113

भारत में प्रतिक्रिया

कांग्रेस कार्य समिति का प्रस्ताव—21 जनवरी 1931 को ... प्रसाद के सभा ... में कांग्रेस कार्य समिति की बैठक इलाहाबाद में हुई। कार्य समिति के प्रमुख नेताओं की अनुपस्थिति में जो कि जेलों में थे कार्य समिति ने ब्रिटिश सरकार के रवैये की भर्त्सना करते हुए कहा कि जब देश में सरकार शान्तिपूर्ण ढंग से सत्याग्रह करने वालों को जेलों में ठूंस रही है उन पर लाठी चार्ज गोली चलाने तथा अन्य प्रकार के अत्याचारपूर्ण कृत्य किये जा रहे हैं तो ऐसे अवसर पर थोड़े से निहित स्वार्थी तत्त्वों को आमन्त्रित करके तथाकथित गोल मेज सम्मेलन के आयोजन से कांग्रेस का कोई सम्बन्ध नहीं है। ब्रिटिश शासन नीति की जो घोषणा प्रधानमन्त्री के द्वारा की गयी है वह इतनी अस्पष्ट है कि उसके द्वारा कांग्रेस अपनी नीति में परिवर्तन करना उचित नहीं समझती। इन परिस्थितियों में कार्य समिति सविनय आन्दोलन को स्थगित करने की बात नहीं सोच सकती प्रत्युत वह देशवासियों से संघर्ष को तीव्रतर बनाने की माग करती है। कांग्रेस उन समस्त सत्याग्रहियों को धन्यवाद तथा बधाई देती है जिन्होंने मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए शान्तिपूर्ण तथा अनुशासित ढंग से सत्याग्रह किया है और ब्रिटिश सरकार के अत्याचारपूर्ण दमन को खुशी से सह रहे हैं या प्राणों का उत्सर्ग कर चुके हैं। कार्य समिति के अनुमान से 75000 व्यक्ति जेलों में थे।[1] अन्त में कार्यकारिणी ने देशवासियों से 26 जनवरी 1931 को पूर्ववत् और अधिक उत्साह के साथ स्वतन्त्रता दिवस मनाने का आह्वान किया।

कार्य समिति का प्रस्ताव समाचार-पत्रों के प्रकाशनार्थ दिया जाय या नहीं इस बात पर वाद विवाद था कि दूसरे ही दिन लन्दन से सप्रू जयकर तथा शास्त्री जी का तार मिला कि कार्य समिति उनके भारत पहुँचने से पूर्व प्रधानमन्त्री की घोषणा पर कोई निर्णय न ले। अतः उक्त निर्णय को प्रकाशित करने से रोक दिया गया।

कार्य समिति के सदस्यों की रिहाई—25 जनवरी को वाइसराय लार्ड इरविन ने एक वक्तव्य दिया जिसमें ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की 19 जनवरी 1931 की घोषणा के सन्दर्भ में यह घोषणा की गई कि भारत सरकार कांग्रेस कार्य समिति के 1 जनवरी 1930 से आज तक के सदस्यों को स्वतन्त्र रूप से देश की राजनीतिक समस्या पर विचार करने का अवसर देना चाहती है। इस उद्देश्य से कार्य समिति के उक्त सदस्यों के ऊपर लगाये गये सभी प्रतिबन्ध जिनमें कारावास दण्ड भी शामिल था हटा दिये जायेंगे। यह मुक्ति शर्तहीन है इसका उद्देश्य प्रधानमन्त्री की घोषणा को साकार करने के लिए वातावरण बनाने का है। वाइसराय की इस घोषणा की कार्यान्विति के रूप में 26 जनवरी 1931 को महात्मा गांधी सहित कांग्रेस कार्य समिति के 19 सदस्य जेलों से रिहा कर दिये गये। 9 अन्य व्यक्ति कालान्तर में रिहा कर दिये गये।

गांधी इरविन समझौता

जेल से मुक्त होते ही कार्यकारिणी समिति के समस्त सदस्य इलाहाबाद पहुँचे जहाँ पण्डित मोतीलाल नेहरू लगभग मृत्यु शय्या पर थे। गांधी जी ने राष्ट्र के नाम एक सन्देश दिया कि जिसमें उन्होंने सविनय अवज्ञा आन्दोलन सरकार के दमन चक्र तथा ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की घोषणा के सन्दर्भ में सार रूप में भावी कार्यक्रम के बारे में बताया कि वह जेल से एक स्वच्छ मस्तिष्क तथा हृदय लेकर बाहर आये हैं और समस्या को इस बीच घटी घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करेंगे तथा अपने साथियों एवं लन्दन से आने वाले साथियों से वार्तालाप करके भावी कार्यक्रम तैयार करेंगे। इलाहाबाद पहुँचने पर कार्य समिति के सभी सदस्य प. मोतीलाल के स्वास्थ्य के बारे में चिन्तित हो गये। 7 फरवरी 1931 को देश के हित में सब कुछ न्यौछावर करके मातृभूमि की निरन्तर सेवा करते रहने के उपरान्त वे इस संसार को कहते हुए कि अब मैं अपना अन्तिम नाट

1 P Sitaramayya p 1 45

लेता हूँ, परन्तु मेरी यही इच्छा है कि मै एक पराधीन देश मे नही, अपितु स्वतन्त्र देश मे इस चिर-निद्रा का काल विताऊँ,' ससार से विदा हो गये। मोतीलाल जी की अन्तिम इच्छा के अनुसार भारत के भविष्य का निर्धारण स्वराज्य भवन इलाहावाद मे किया जाना था। उनकी मृत्यु से सारा राष्ट्र शोकाकुल हो गया। गाधी जी ने तो यहाँ तक कहा कि उस समय वे अपनी स्थिति एक विधवा के तुल्य समझ रहे है। इसी वीच सप्रू, शास्त्री, जयकर आदि नेता भारत पहुँचते ही सीधे इलाहावाद गए और गाधी जी तथा अन्य नेताओ से मिले। यह तय किया गया कि अव सरकार के साथ वार्ता का कार्यक्रम वनाया जाय। 14 फरवरी को गाधी जी ने वाइसराय को पत्र लिखा और 16 फरवरी को तार द्वारा वाइसराय का उत्तर मिला। तुरन्त गाधी जी तथा अन्य नेताओ ने दिल्ली को प्रस्थान किया। गाधी-इरविन वार्ता का प्रथम दौर 17 फरवरी को प्रारम्भ हुआ।

प्रथम तीन दिनो की वार्ता मे गाधी जी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित करने के सम्वन्ध मे सत्याग्रहियो की विना शर्त रिहाई, छीनी गयी सम्पत्ति की वापसी, त्यागपत्र देने वाले सरकारी कर्मचारियो की पुनर्नियुक्ति, पुलिस के अत्याचारो की जाँच, धरना देने के अधिकार, नमक कानून की समाप्ति तथा आन्दोलन दवाने के सम्बन्ध मे जारी किये गये अध्यादेशो की वापसी, आदि पर जोर दिया ताकि इसके परिणामस्वरूप वार्ता का वातावरण तैयार हो सके। इनमे से कई शर्ते ऐसी थी जिनके सम्वन्ध मे निर्णय लेने के लिए सरकार को समय चाहिए था। वाइसराय ने ब्रिटिश प्रधानमन्त्री से कुछ निर्देश चाहे थे। उनके पहुँचने मे समय लगा। अत 27 फरवरी से पुन वार्ता प्रारम्भ हुई और 4 मार्च तक चली। नित्य गाधी जी वार्ता के पश्चात् जव वापिस आते थे तो डा० अन्सारी के मकान मे कार्यकारिणी के सदस्य उनकी प्रतीक्षा मे रहते थे और रात को लम्वे समय तक समिति उन पर विचार करती थी। गाधी जी ने वाइसराय को स्पष्ट कर दिया था कि वह जो भी वाते करते है या निर्णय लेते है उनके सम्बन्ध मे अन्तिम निर्णय काग्रेस कार्यकारी समिति करेगी। स्वभावत विभिन्न समस्याओ पर मतभेद होना अस्वाभाविक नही था। यह भी सम्भव नही था कि जो भी माँग गाधी जी की ओर से रखी जाय उसे वाइसराय मान लेगा या जो भी वह कहे उसे काग्रेस मान लेगी। 5 मार्च 1931 को समझौता वार्ता को अन्तिम रूप दिया गया और 5 मार्च को ही वह प्रकाशित कर दी गयी। यह वह तिथि थी जिस दिन एक वर्ष पूर्व गाधी जी ने वाइसराय को सविनय अवज्ञा आन्दोलन की घोषणा का पत्र दिया था।

गाधी-इरविन समझौते की शर्तें—'सविनय अवज्ञा आन्दोलन समाप्त किया जाय तथा सरकार इस सम्वन्ध मे कुछ कार्यवाही करे सावैधानिक सुधारो के सम्वन्ध मे सघीय सिद्धान्त तथा प्रतिरक्षा, विदेशी मामलो, अल्पसख्यको, भारत की वित्तीय व्यवस्था आदि के बारे मे कुछ रक्षा-कवचो की अपरिहार्यता को जैसा कि गोल मेज परिषद् मे स्वीकार किया गया था अनुसमर्थित किया गया, प्रधानमन्त्री की घोषणा से अनुसार काग्रेस के प्रतिनिधियो को भी सावैधानिक सुधार योजना पर आगे विचार करने के लिए गोल मेज सम्मेलन मे आमन्त्रित किये जाने पर निर्णय हुआ, सविनय अवज्ञा आन्दोलन के सत्याग्रही कानून उल्लघन, कर न देने, आन्दोलन का प्रचार करने तथा नागरिक एव सैनिक सेवा के कर्मचारियो को त्यागपत्र देने के लिए वाध्य करने के कार्यकलाप नही करेगे, भारतीय माल के उपयोग का प्रचार करने मे सरकार को कोई आपत्ति नही होगी, परन्तु ब्रिटिश माल के वहिष्कार करने का प्रचार समझौता वार्ता के हित मे नही है, विदेशी माल तथा शराव विरोधी धरने सामान्य कानून के अन्तर्गत ही किये जा सकेंगे, आन्दोलन की अवधि मे पुलिस की ज्यादतियो के विरुद्ध सार्वजनिक जाँच को शान्ति स्थापना के हित मे उचित न समझते हुए गाधी जी उस पर जोर न देने को राजी हो गये, सविनय अवज्ञा आन्दोलन के विरुद्ध जारी किये गये अध्यादेशो को सरकार वापिस ले लेगी, इस आन्दोलन के मध्य काग्रेस तथा अन्य जिन सगठनो को अवैध घोषित करने के अध्यादेश जारी किये गये थे उन्हे सरकार वापिस ले लेगी, आन्दोलन मे वन्दी किये गए जिन व्यक्तियो के ऊपर अभियोग नही चलाये जा सके है

सघर्ष की स्थिति मे पहुँच गयी थी। 1930 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन मे काग्रेस का रुख पूर्णतया क्रान्तिकारी रहा और बडे-बडे नेता जेलो मे डाल दिये गये थे। गाधी-इरविन समझौते के बाद काग्रेस कार्यकारिणी के सदस्यो की जेल से रिहाई होने के ठीक एक माह बाद इस अधिवेशन का होना आवश्यक समझा गया ताकि सम्पूर्ण काग्रेस उक्त समझौते तथा प्रधानमन्त्री की घोषणा पर विचार करते हुए देश की निवर्तमान राजनीतिक परिस्थिति के परिप्रेक्ष मे अपना भावी कार्यक्रम तथा नीति तय कर ले। अधिवेशन के लिए प्रतिनिधियो को छाँटने की भी समस्या थी। अनेक नेता अभी जेलो मे ही थे। कुछ नया नेतृत्व प्रस्फुटित हो गया था, जिससे 1930 मे आन्दोलन मे महान् त्याग किया था। गाधी जी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित कर दिया था। परन्तु स्वयसेवको के द्वारा अत्यन्त नियन्त्रित, सयमित एव अनुशासित ढङ्ग से शराबबन्दी तथा ब्रिटिश व विदेशी कपडे के बहिष्कार आन्दोलन मे धरना देने के कार्यक्रम को नही छोडा था। विविध प्रकार के प्रदर्शनो को न करने की भी सलाह दी गयी थी। गाधी जी ने पुन अहिसा के सिद्धान्त पर चलने के सिद्धान्त को और अधिक कठोर बना दिया था।

इस अधिवेशन के लिए सरदार पटेल को अध्यक्ष चुना गया और यह निश्चित किया गया कि अधिवेशन खुले स्थल पर होगा। दर्शको मे से प्रत्येक को चार आना प्रवेश शुल्क देना था। लगभग 10000 रुपये इससे एकत्र हुआ। इस अधिवेशन के मध्य देश मे दो घटनाएँ ऐसी घटी जिनके कारण अधिवेशन का वातावरण विषादपूर्ण रहा। प्रथम घटना थी 23 मार्च 1931 को सरदार भगतसिह, राजगुरु तथा सुखदेव को मृत्युदण्ड दिया जाना। इनके ऊपर साण्डर्स हत्याकाण्ड का आरोप था। गाधी जी ने वाइसराय से इन नवयुवको की मृत्युदण्ड की सजा को कम करने की माँग रखी थी, जिसे वाइसराय ने अपनी असमर्थता पर ठुकरा दिया। परन्तु ये वीर युवक स्वतन्त्रता सग्राम के अमर शहीद बन चुके है। दूसरी घटना थी अधिवेशन काल मे कानपुर मे साम्प्रदायिक दगो के छिडने की, जिसमे मुसलमान अल्पसख्यको को बचाने के प्रयास मे गणेशशकर विद्यार्थी की हत्या कर दी गई थी। विद्यार्थी जी प्रदेश काग्रेस के अध्यक्ष थे और हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा सद्भाव के महान् समर्थक थे। इसी कार्य मे इनकी हत्या ने इन्हे भी अमर शहीद बना दिया है। कराची काग्रेस मे इन दो घटनाओ ने शोक का वातावरण बना दिया था।

इस अधिवेशन मे अधिकाश प्रस्ताव आन्दोलन की अवधि मे सक्रिय सहयोग देने वालो को बधाई देने, उसमे शहीद हुए व्यक्तियो के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करने (जिसमे प० मोतीलाल नेहरू प्रमुख थे) तथा कष्ट भोग रहे कार्यकर्त्ताओ के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के सम्बन्ध के थे। अन्य प्रस्तावो मे कुछ गाधी-इरविन समझौते की शर्तो को सरकार द्वारा ईमानदारी के साथ पालन करने के सम्बन्ध मे थे, यथा बन्दियो की रिहाई, करो की माफी आदि। सावैधानिक समस्या पर विचार करने के हेतु प्रस्तावित द्वितीय गोल मेज सम्मेलन मे काग्रेस ने अपना प्रतिनिधित्व करने के लिए महात्मा गाधी का नाम प्रस्तावित किया। साथ ही कार्य समिति को अन्य प्रतिनिधियो को चुनने का अधिकार दे दिया।

इस काग्रेस का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव देश के भावी सविधान मे मूल अधिकारो का समावेश करने के सम्बन्ध मे था। यद्यपि स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक इन्हे उपेक्षित ही रखा गया, तथापि स्वतन्त्र भारत के सविधान मे जिन मूल अधिकारो तथा राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वो का किया गया है वे सभी कराची काग्रेस द्वारा प्रस्तावित किये गए थे। इसके अन्तर्गत धर्म, सस्कृति, भाषा, लिपि, शिक्षा, व्यवसाय आदि की स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत कानूनो तथा राजनीतिक एव अन्य अधिकारो के सरक्षण की गारटी की माँग की गयी थी। साथ ही वयस्क मताधिकार, सयुक्त निर्वाचन प्रणाली एव विभिन्न सघीय इकाइयो तथा केन्द्र मे स्थानो की सुरक्षा के प्राविधानो द्वारा अल्पसख्यको के हितो को सरक्षण देने का प्रस्ताव भी था। इसके अतिरिक्त लोक सेवा आयोग द्वारा सरकारी नौकरियो मे नियुक्ति अवसर की समानता तथा साम्प्रदायिक वर्गो के लिए नौकरियो मे

समुचित स्थान सुरक्षित किये जाने के तथा प्रान्तों के मन्त्रिमण्डलों में उनके हितों के प्रतिनिधित्व तथा भारत में एक संघ के निर्माण की व्यवस्था के प्रस्ताव थे जिसके अन्तर्गत प्रान्तों के हाथ में अवशिष्ट शक्तियां रहें। इस अधिवेशन में कांग्रेस ने पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त तथा सिन्ध को पूर्ण प्रान्त की स्थिति प्रदान किये जाने तथा बर्मा को वहां की जनता की इच्छा के अनुसार भारत से पृथक किये जाने के प्रस्ताव भी पास किये। अन्य विवादास्पद प्रश्नों की जांच के लिए समितियां बना दी गयीं जिनकी रिपोर्ट के आधार पर अखिल भारतीय कांग्रेस समिति तथा कार्यकारी समिति को निर्णय लेने का अधिकार दिया गया। इस प्रकार कांग्रेस का कराची अधिवेशन अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण तथा सफल सिद्ध हुआ। कराची कांग्रेस के प्रस्ताव जिन्ना के 14-सूत्री प्रस्तावों से मेल नहीं रखते थे। 1928 के कलकत्ता सर्वदलीय सम्मेलन में नेहरू रिपोर्ट की स्वीकृति के अवसर पर जिन्ना ने जो संशोधन रखे थे यदि कांग्रेस उन्हें स्वीकार कर लेती तो साम्प्रदायिक समस्या इतनी जटिल नहीं होती जितनी तब से लेकर 1931 तक होती गयी। अब कांग्रेस ने जिन्ना की कुछ मांगें स्वीकार कर दी तो उलझन यह थी कि इस समय तक लीग का रुख बहुत हठीला हो चुका था। साथ ही अब जिन्ना की मांग 14 से भी अधिक हो चुकी थी। कांग्रेस द्वारा पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलन ने अधिकांश मुसलमानों को पूर्णतः पृथकतावादी बना दिया था।

गांधी इर्विन समझौते में दरार

लार्ड इर्विन अपना वाइसराय पद का कार्यकाल समाप्त करके 18 अप्रैल 1931 को इंग्लैण्ड को रवाना हो गये। 17 अप्रैल को लार्ड विलिंग्डन ने उनका उत्तराधिकार प्राप्त किया। देश की स्थिति यह थी कि कांग्रेसी सत्याग्रही जेलों से छूट रहे थे और उनका जलूसों में स्वागत हो रहा था। राष्ट्रीय गीत उत्साह से गाये जाते थे। कांग्रेस कार्यालयों तथा कांग्रेसी नेताओं के निवास स्थानों में तिरंगे झण्डे फहराने लगे थे। उस समय कांग्रेस का तिरंगा झण्डा ही राष्ट्रीय झण्डा माना जाता था। पूर्ण उत्साह के साथ सत्याग्रही शराब तथा विदेशी कपड़े की दुकानों में धरना दे रहे थे और शान्तिपूर्ण ढंग से इन चीजों के बहिष्कार की मांगें कर रहे थे। समझौते के अन्तर्गत राजनीतिक बन्दियों की रिहाई छीनी गई सम्पत्ति की वापसी आदि की मांग की जाने लगी थी।

परन्तु दूसरी ओर गांधी इर्विन समझौते ने मानो नौकरशाही की सारी आशाओं पर तुषारापात कर दिया था। एक छोर से पुलिस के सिपाही से लेकर बड़े से बड़े भारतीय सिविल सेवा के कर्मचारी तक सभी यह सोचते थे कि उनकी वास्तविक शक्ति छीनी जा रही है। वे अपने कृत्यों पर किसी भी प्रकार का बाह्य हस्तक्षेप सहन करने की कामना नहीं करते थे। वास्तव में भारत के शासक तो नौकरशाही ही थे और यही सारे रोग की जड़ थी। प्रान्तीय गवर्नर भी गांधी इर्विन समझौते से सन्तुष्ट नहीं थे। परिणाम यह हुआ कि गांधी इर्विन समझौते की विवरणात्मक बातों के कार्यान्वयन में नौकरशाही अपनी मनमानी करने की हठ से टस से मस नहीं हुई। वह अपने ही ढंग से समझौते का अर्थ लगाने लगी। प्रान्तीय गवर्नर अपनी अधिकार सीमा में की हस्तक्षेप कराने को उत्सुक नहीं थे। इस प्रकार कारण समझौते की विवरणात्मक बातों में नौकरशाही तथा कांग्रेस कार्यकर्ताओं के मध्य विवाद खड़े होने लगे। राजनीतिक बन्दियों की रिहाई कर वसूली पिकेटिंग अध्यादेशों की वापिसी आदि के सम्बन्ध में नौकरशाही का रवैया कठोर होता गया। पुलिस की ज्यादतियां में कोई कमी नहीं आ रही थी। राजस्व तथा प्रशासनिक अधिकारी किसी भी रूप में कांग्रेस कार्यकर्ताओं के विरोध पिकेटिंग सभाओं को आयोजित करने तथा राष्ट्रीयता के प्रचार-कार्यों को सहन नहीं कर पा रहे थे। इन सबके पीछे लन्दन नौकरशाही का मौन समर्थन उन्हें प्रोत्साहित कर रहा था। भारतीयों में पुनः कर-वसूली में

Tara Chand *op cit* V I IV 166

अत्याचार प्रारम्भ हुए। यह सिलसिला लगभग सर्वत्र फैला। कांग्रेसी कार्यकर्त्ता समझौते की बातों पर जोर देकर विरोध करने लगे तो नौकरशाही उसकी उपेक्षा करने लगी।

अत गांधी जी ने वाइसराय के सचिव को इन सब बातों से अवगत कराते हुए यह मॉग की कि समझौते की शर्तों पर सरकार तथा कांग्रेस के मध्य विवाद खडा होने पर उनका निर्वचन निष्पक्ष न्यायाधिकरण या जॉच बोर्ड के द्वारा किया जाना चाहिए। गाधी जी ने सचिव का ध्यान अन्य कई बातों की ओर भी आकृष्ट किया। वाइसराय से भेंट भी की। परन्तु ऐसा आभास हुआ कि मानो वाइसराय को समझौते का कोई ज्ञान ही न था। नये वाइसराय के रवैये मे एकाएक ऐसे परिवर्तन का मुख्य कारण इग्लैण्ड मे सत्ता-परिवर्तन था। श्रमिक दल की सरकार अब त्याग-पत्र दे चुकी थी। नई सरकार मे मेकडानेल्ड प्रधानमन्त्री अवश्य थे। परन्तु वे पूर्णतया रूढिवादी दल के हाथ की कठपुतली थे। वेन भारत मत्री पद से त्याग-पत्र दे चुका था। उसका स्थान कट्टरपथी रूढिवादी सैमुअल होर ने लिया था। अत कांग्रेस के साथ ब्रिटिश सरकार की शत्रुता की नीति अधिक कडी होती जा रही थी। स्वय वाइसराय इसी विचारधारा का समर्थक था। वाइसराय के सचिव ने भी गांधी जी को निराशापूर्ण तथा टालमटोल का उत्तर दिया। बम्बई तथा सयुक्त प्रान्त के गवर्नरो ने गांधी जी के पत्रो का उत्तर इसी प्रकार दिया। अन्तत गाधी जी को यह कहने के लिए विवश होना पडा कि वे प्रस्तावित द्वितीय गोल मेज सम्मेलन मे कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप मे भाग लेने मे असमर्थ ह। निर्धारित तिथि (15 अगस्त) को जब सप्रू, जयकर आदि इग्लैण्ड को रवाना हुए तो गांधी जी ने अपने प्रस्थान का विचार छोड दिया। सरकार की टालमटोल की नीति तथा नौकरशाहो के दमन-चक्र मे पूर्ववत् स्थिति को देखते हुए कई स्थलो मे हिंसात्मक घटनाएँ भी हुई। पूना मे एक ऐसी घटना हुई थी जिसमे एक विद्यार्थी ने बम्बई के गवर्नर पर गोली चलाने तक का प्रयास किया। कांग्रेस तथा गाधी जी ने इस घटना पर बहुत दु ख प्रकट किया।

सरकार ने पुन साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन देने की चाल चलना प्रारम्भ कर दिया। गोल मेज परिषद् के लिए प्रारम्भ मे लार्ड इरविन ने पण्डित मदनमोहन मालवीय, श्रीमती सरोजिनी नायडु तथा डाक्टर अन्सारी को नामाकित करने का वचन दिया था। परन्तु फजली हुसैन के सकेत पर डा० अन्सारी को न भेजने के बाद के सरकारी फैसले से गाधी जी असन्तुष्ट हो गये। सरकार की नीति यह थी कि वह राष्ट्रवादी मुसलमानो को भेजने मे हिचकने लगी, क्योंकि उनकी उपस्थिति से मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बल नही मिल पाता और इसके परिणामस्वरूप सरकार का उद्देश्य पूर्ण न हो पाता। इसलिए भी गांधी जी ने इग्लैण्ड जाने का विचार रोक दिया। इसके पश्चात् वाइसराय तथा गाधी जी के मध्य पत्र-व्यवहार चलता रहा। अन्तत दोनो मे परस्पर वार्ता भी हुई और गांधी जी ने 29 अगस्त को गोल मेज परिषद् मे भाग लेने का निर्णय कर लिया विशेषत वे गांधी-इरविन समझौते मे की गई इस शर्त को मानना अपना नैतिक दायित्व समझते रहे।

द्वितीय गोल मेज सम्मेलन, 1931

गांधी जी अपनी नित्य की वेशभूषा मे इग्लैण्ड पहुँचे और ब्रिटिश सरकार द्वारा व्यवस्थित प्रसादो या होटलो मे रहने की अपेक्षा पूर्वी लन्दन के किंग्सले हॉल मे कुमारी लीस्टर के मेहमान बने। अपनी उसी वेशभूषा मे वे सम्राट सहित सभी अधिकारियो से मिलते थे। इग्लैण्ड के बच्चे-बच्चे गांधी जी की इस विचित्र वेशभूषा मे बडे प्रभावित हुए। अनेक सस्थाओ तथा व्यक्तियो की ओर से उन्हे आमन्त्रण मिले और स्थान-स्थान पर उनका भव्य स्वागत हुआ। इस सबका यह निष्कर्ष ह कि गांधी जी के सत्य, अहिसा, राष्ट्र-प्रेम तथा देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के सम्बन्ध में उनकी सत्यनिष्ठा के प्रति चाहे निहित स्वार्थो से युक्त ब्रिटिश साम्राज्यवादी कितने ही रुष्ट रहे हो, तथापि उक्त गुणो से युक्त इस फकीर राजनेता के प्रति लोगो मे अतीव श्रद्धा उत्पन्न हो गयी।

त्नीय गात मज सम्मतन की बरका म जो लगभग 3 मत्तान की अवधि तक समय समय पर चलती रही गाधी जी ही प्रमुख वक्ता बन रहे। यद्यपि इस समय काग्रेस का विरोध करने के लिए 31 और अतिरिक्त प्रतिनिधि छाटे गये जो विविध विरोधी तथा प्रतिक्रियावादी वर्गों म स लिए गये थ तथापि इस सम्मेलन म उनका अस्तित्व कोई महत्त्व नहीं रखता था। जिस तरह भारत की 85 प्रतिशत स भी अधिक जनता क वास्तविक प्रतिनिधि क रूप म देश की भावी राजनीतिक व्यवस्था क निर्धारण म उनक विचारा क अतिरिक्त बाकी सब विचार कोरे शब्द जाल थ जो केवल निहित स्वार्थों स भरे होन क कारण वास्तव म महत्त्वहीन थ। परन्तु उन्ही विचारा को तोड मरोडकर रखना और गाधी जी क विचारा का मथा उस स्थान स हटाना इस अन्य तत्त्वा का मुख्य उद्देश्य बना रहा।

प्रथम सम्मेलन म व्यक्त तथा निर्धारित नीतियो का गाधी जी न सम्मेलन की बैठका म एक एक करके उत्तर दिया। सघ व्यवस्था तथा उसक अन्तर्गत सरकार की रक्षा-व्यवस्था म युक्ति करन और प्रतिरक्षा व्यक्ति सम्बन्ध तथा वित्तीय नीति का संरक्षित विषयो क अन्तर्गत रखन की नीति का तथ्ययुक्त विरोध करत हुए गाधी जी न भारत की गरिमा प्रतिष्ठा तथा आत्म सम्मान का ऊचा उठाया। उन्हान स्पष्ट कर दिया कि अपन देश की प्रतिरक्षा का दायित्व भारत की सेनाय स्वय भारत की नीतियो क अनुसार पूर्णरूपेण सभाल सकती है न कि विदेशी साम्राज्यवादी सरकार तथा उसकी सेनाय। भारत के लिए पूर्ण स्वराज्य की माग की व्याख्या करत हुए उन्होंने औपनिवेशिक स्वराज्य की अपेक्षा पूर्ण स्वराज्य को भारत तथा इग्लैण्ड के मध्य मैत्री क हित म और अधिक श्रेयस्कर होना सिद्ध किया। गाधी जी न स्पष्ट कर दिया कि भारत इग्लैण्ड क एक अधीन देश क रूप म यह वार्ता नहीं कर रहा है अपितु यह वार्ता दो समान स्थिति क राष्ट्रो क मध्य की है। काग्रेस की स्थिति का स्पष्टीकरण करत हुए गाधी जी न बताया कि यह अन्य दलो की भाँति एक राजनीतिक दल मात्र नहीं है। अपितु वह समूचे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है है जिसम देशी रियासतें भी शामिल है। काग्रेस किसी भी मान म किसी सम्प्रदाय विशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करती। वह धर्म जाति लिंग आदि क आधार पर किसी वर्ग विशेष की संस्था न होकर अखिल भारतीय राष्ट्रीय संस्था है और गाधी जी स्वय अपनी व्यक्तिगत क्षमता म इस सम्मेलन म भाग नहीं ल रह है अपितु वह उसी महान् सगठन क प्रतिनिधि एव सेवक है और उसी सगठन क आदेशानुसार कार्य करगे।

साम्प्रदायिक स्थिति क सम्बन्ध म जो कि भारतीय राष्ट्रीयता की भावना को कुचलन क लिए अग्रेजो का सबसे महान् साधन था गाधी जी न काग्रेस की नीति को स्पष्टतया व्यक्त किया। नई सांविधानिक व्यवस्था म सम्प्रदायगत अल्पसंख्यको क हितो की व्यवस्था क बारे म भी गाधी जी स्पष्ट थ। परन्तु चकि एक सम्प्रदाय इस पर जोर देता था अत गाधी जी न मुस्लिम तथा सिक्ख सम्प्रदाय क लिए तो कुछ सीमा तक इस सहनीय माना। परन्तु जिन लोगो न हरिजनो को भी साम्प्रदायिक अल्पसंख्यक मानन की त्रुटि की उन्ह गाधी जी न मुँहतोड उत्तर दिया। गाधी जी न खेद के साथ कहा कि ऐसा भेदभावपूर्ण स्थिति उत्पन्न करन वाली तथा ऐसी व्यवस्था की मान्यता देन की नीति का व आमरण विरोध करगे। भारत म ब्रिटिश शासन क स्वेच्छाचारितापूर्ण रवैया का भी गाधी जी न इस सम्मेलन म उल्लेख किया और ऐसा करन म उन्होंने अपन सत्याग्रही रूप को ही अपनाया। उन्होंने स्पष्टतया बताया कि प्रधानमन्त्री की विद्वत्ता गोल मेज परिषद् क बारे की गयी घोषणा म भारत की मौलिक समस्याओ की उपेक्षा की गयी थी। गाधी जी द्वारा इस सम्मेलन म रख गये विचार इतर समय समय पर दिय गये महत्त्वपूर्ण व्याख्यानो की राशि स मान जात है। भारतीय स्वतन्त्रता की माग क प्रति पूर्णतया उदासीन ब्रिटिश नेता हर अवसर पर साम्प्रदायिक अलगाव की भावना को ही जोर सरोह कर या बढा चढाकर व्यक्त करत रह और साम्प्रदायिक मुसलमानो की भावनाओ को उकसाना सभी ब्रिटिश अधिकारियो का लक्ष्य बना रहा ताकि कोई समाधान न निकलन पाय। 1 दिसम्बर 1931 को सम्मेलन की समाप्ति क अवसर

पर उन्होने प्रधानमन्त्री को सम्मेलन आयोजित करने तथा उन्हे उसमे अपने विचार व्यक्त करने का अवसर देने के लिए धन्यवाद दिया ।

इस सम्मेलन मे प्रो० लास्की ने अपने पत्र-व्यवहार में अमरीकी न्यायाधीश ह्यूम को जो विचार व्यक्त किये थे वे तथ्यो पर कुछ प्रकाश डालते है । लास्की सैकी को महायता दे रहे थे, सैकी इस सम्मेलन मे भाग ले रहे थे । लास्की के मत से 'ऐसे व्यक्तियो के साथ जो यह विश्वास करे कि वे ही वास्तविक सत्य के धारक है, वात करना असम्भव है मुसलमानो की धार्मिक हठधर्मिता भयानक है । मेरा अनुमान है कि पूरव मे इरलाम भक्ति एक ऐसी शक्ति है और इसके समर्थको की माँगे इतनी अस्पष्ट तथा भयावह है कि उनको पूर्ण किया जा सकना असम्भव हे । टोरी साम्राज्यवाद तथा भारतीय उग्रवाद से युक्त पक्षो के द्वारा साम्प्रदायिक ममस्या के हल की आशा नही की जा सकती । अशत मै मेकडानेल्ड को दोप देता हू, क्योकि यदि वे दुर्वल, निरर्थक तथा निर्णयरहित होने की अपेक्षा दृढ-मन के होते तो मेरा विचार है कि वे किसी न किसी समझौते से सम्वद्ध पक्षो को वाध्य कर लेते ।'[1] लास्की ने सर्वाधिक दोप सैमुअल होर को दिया जो कि अपने टोरी स्वभाव की पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था । अन्यथा लास्की के मत से गाधी तथा सैकी किसी निर्णय पर पहुंच जाते ।

जव गाधी जी भारत लौटे तो वम्वई मे जनता ने उनका जो शानदार स्वागत किया, वह किसी राजा तक को कभी प्राप्त नही हुआ होगा । परन्तु भारत मे ब्रिटिश शासको का दमन-चक्र पूर्ववत् पूर्ण गति से चल रहा था । सयुक्त प्रान्त, वगाल, वारदोली इस दमन के केन्द्र थे । किसानो के ऊपर अप्रत्याशित ज्यादतियाँ की जा रही थी । सयुक्त प्रान्त मे सरकार की इन ज्यादतियो के विरुद्ध लगान विरोधी अभियान चलाने के आरोप मे पडित जवाहरलाल नेहरू, पुरुषोत्तमदास टण्डन तथा निसारअहमद शेरवानी को वन्दी कर लिया गया था । बगाल मे चिटगाँव के छापेखाने मे जो गुण्डागर्दी की गयी थी उसमे कुछ यूरोपियो का हाथ था, परन्तु पुलिस ने उसमे कोई कार्यवाही नही की । पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त मे खान वन्धुओ (सीमान्त गाधी अब्दुलगफ्फार खाँ तथा डाक्टर खान) के नेतृत्व मे स्वातन्त्र्य आन्दोलन चल रहा था और पठानो का सगठन खुदाई खिदमतगारो के नाम से निर्मित हो चुका था । इस सगठन की काग्रेस के प्रति पूर्ण निष्ठा थी ।

सक्षेप मे, जव गाधी जी इग्लैण्ड से वापिस आये तो उन्होने यह अनुभव किया कि सरकार गाधी-इरविन समझौते की शर्तो से हर क्षेत्र मे मुकर रही है । सत्याग्रह आन्दोलन पूर्ववत् हिंसात्मक दमन की नीति से कुचला जा रहा है । नौकरशाही किसी भी रूप मे जनता के प्रति सहानुभूति पूर्ण अथच उत्तरापेक्षी रुख नही अपनाना चाहती । ब्रिटिश सरकार भारत की स्वतन्त्रता की माँग के सम्वन्ध मे जरा-भर भी झुकने की इच्छुक नही है, अपितु इसे ठुकराने के वहाने देश मे साम्प्रदायिक तथा अन्य निहित स्वार्थ वाले तत्त्वो, यथा राजाओ, महाराजाओ, जमीदारो आदि को प्रोत्साहन दे रही है । काग्रेस के उच्चतम नेताओ को किसी न किसी रूप मे वन्दी कर लेने का अवसर ढूंढा जा रहा हे । ऐसी स्थिति मे गाधी-इरविन समझौते अथवा काग्रेस द्वारा गोल मेज सम्मेलन मे भाग लेने के कोई सन्तोपजनक परिणामो की आशा व्यर्थ थी । अत काग्रेस के लिए पुन सविनय अवज्ञा आन्दोलन जारी करना अपरिहार्य हो चुका था ।

आन्दोलन का दूसरा दौर

28 दिसम्वर 1931 को जव गाधी जी इग्लैण्ड से भारत लौटे तो उन्होने काग्रेस के नेताओ तथा कार्यकारी समिति के सदस्यो को गोल मेज परिपद् तथा ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण से अवगत कराया । साथ ही देश मे चल रही ब्रिटिश शासन की करतूतो का ज्ञान भी उन्होने

[1] *Ibid* , 174-75

किया। कांग्रेस तथा गांधी जी ने अनुभव किया कि वाइसराय लार्ड विलिंग्डन तथा नौकरशाही गांधी इरविन समझौते को ईमानदारी से अमल में लाने की परवाह नहीं कर रहे हैं न उनकी ऐसी नीति है। ऐसी स्थिति में कांग्रेस कार्यकारी समिति ने पुनः सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का निर्णय किया। इससे पूर्व गांधी जी ने लार्ड विलिंग्डन को 29 दिसम्बर 1931 के दिन एक तार भेजा जिसमें उन्होंने सरकार की दमनकारी अध्यादेशों को जारी करके शासन करने की नीति का विरोध किया और वाइसराय से बातचीत करने की इच्छा प्रकट की। इस तार का तुरन्त निराशाजनक उत्तर वाइसराय की ओर से प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् 6 दिन तक तेज तीखे तारों का सिलसिला चला जिनमें एक-दूसरे के ऊपर (कांग्रेस तथा सरकार) आरोप प्रत्यारोप लगाये गये। अन्त में कांग्रेस कार्य समिति को संतोष हो गया कि दिल्ली समझौता (गांधी इरविन समझौता) सरकार की ओर से भंग कर दिया गया है। अतः समिति ने राष्ट्र से पुनः सविनय अवज्ञा आन्दोलन को पूर्ण उत्साह, अहिंसा तथा सत्यनिष्ठा से चलाने का आह्वान किया। 3 जनवरी 1932 को गांधी जी ने अन्तिम तार वायसराय को भेजते हुए चेतावनी दी कि उन्हें सरकार के असहयोगपूर्ण तथा स्वेच्छाचारी और अत्याचारी रवैये को देखकर सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेड़ने का आह्वान करना पड़ रहा है।

सरकार आन्दोलन को बल प्रयोग द्वारा कुचलने के लिए पहले से ही तैयार थी। कहा जाता है कि दिल्ली समझौते की अवधि में सरकार आन्दोलन को कुचलने के साधनों को जुटाने में संलग्न रही। चूंकि विलिंग्डन की सरकार तथा नौकरशाही गांधी इरविन समझौते से असन्तुष्ट थी अतः अनेक अध्यादेश तो पहले ही लागू कर दिये गये थे। आन्दोलन पुनः प्रारम्भ होने पर अन्य भी जारी कर दिये गये। कांग्रेस संगठन को अवैध घोषित कर दिया गया। सीतारामैया के शब्दों में 1930 के आन्दोलन में पुलिस लाठी चार्ज का सहारा बहुत बाद में लिया गया था परन्तु 1932 के आन्दोलन को कुचलने के लिए इसी साधन से शुरुआत की गयी। गांधी जी, सरदार पटेल, नेहरू, खान अब्दुलगफ्फार खाँ आदि को तुरन्त बन्दी बना लिया गया। इसके बाद अन्य कांग्रेसी नेताओं तथा कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी इस तेज गति से प्रारम्भ हुई कि जहाँ 1930 के सम्पूर्ण आन्दोलन में लगभग 1 लाख व्यक्ति बन्दी किये गये थे वहाँ 1932 में थोड़े ही समय में एक लाख बीस हजार के लगभग सत्याग्रही बन्दी बना लिये गये। सभाओं में लाठी चार्ज, गोली चलाना, जेलों में बन्दियों के साथ अत्याचार, स्त्री-बच्चों तक को सताना, स्कूलों में विद्यार्थियों के ऊपर जुल्म करना आदि सब बातें दमन चक्र चलाने वालों के लिए साधारण सी बात थी। इसके अतिरिक्त मनमाने अर्थदण्ड देना, लोगों की अचल सम्पत्ति छीनना, मनमाने ढंग से कर तथा अर्थदण्ड वसूल करना आदि का सिलसिला उग्रतर होता गया। आन्दोलन का दमन करने के लिए मनमाने तथा अत्याचारी अध्यादेश जारी करना सरकार के लिए खेल-सा हो गया था। वास्तव में कहा जाता है कि लार्ड विलिंग्डन का दावा था कि वह आन्दोलन को 6 सप्ताह में कुचल देगा। परन्तु यह स्मरणीय है कि हिंसा तथा दमन से ऐसा राष्ट्रीय आन्दोलन इतने कम समय में नहीं कुचला जा सकता था। दमन की तीव्रता के साथ सत्याग्रहियों के मनोबल भी ऊँचे होते गये और आन्दोलन अधिक उग्र होता गया। ऐसा प्रतीत होता था कि मानो भारत में विधि के शासन की हत्या हो गयी थी। इस आतंक तथा अध्यादेशों से पूर्ण ब्रिटिश नौकरशाही को इतना उचित लगा। समाचार पत्रों पर कठोरतम प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। उनसे इतनी बड़ी धनराशि की नकद जमानत माँगी गयी कि कई समाचार-पत्र तो बन्द ही हो गये। अध्यादेशों की इतनी स्वेच्छाचारिता तथा उनकी संख्या इतनी अधिक थी कि भारत मंत्री सर सैमुअल होर जो कि इस आन्दोलन का दमन करने की नीति के कठोर समर्थक थे, को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि वे कुछ कठोर थे परन्तु सरकार उन्हें लागू करने को विवश थी। पण्डित मदनमोहन मालवीय को लन्दन स्थित सरकार के नाम इसके विरुद्ध एक लम्बा तार भेजना पड़ा तो तार विभाग ने उसे भेजने से इनकार किया कि इतना लम्बा तार नहीं भेजा जा सकता। जेलों का जीवन अत्यन्त कष्टमय था। इंग्लैण्ड के

साम्राज्यवादी टोरी दल के नेताओ की नीतियो पर आधारित भारत मे ऐसा अत्याचारी अधिनायक-वादी शासन चलाने वाले अंग्रेज शासको के दमन-चक्र का यह सक्षिप्त विवरण ऐमा निष्कर्ष निकालने के लिए पर्याप्त है कि जो अंग्रेज अपने देश मे स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र के इतने कट्टर हिमायती है वे साम्राज्य-लिप्सा के प्रभाव मे अधीन बना लिए गये देशो की जनता की ऐसी ही अहिसापूर्ण ढग से की जाने वाली माँग को किस निर्दयता से कुचलते थे। यह बात अंग्रेज जाति के सामान्य चरित्र को कितना कलुषित करती है, इसे वे साम्राज्यवाद के नशे मे बिल्कुल ही भूल गये थे। दूसरी ओर ब्रिटिश राज्य के उन राजभक्त भारतवासियो की मनोवृत्ति को देखकर भी दु ख ही होता हे जिन्होने ब्रिटिश शासको के आदेशो का इतनी अन्ध श्रद्धा से पालन किया कि अपने ही देशवासियो तथा बन्धुओ के ऊपर जो कि अपनी ही नही बल्कि उनकी स्वतन्त्रता के लिए भी लड रहे थे, अत्याचारपूर्ण कृत्य करने मे सकुचाहट नही दर्शायी। अन्यथा जिस जोश से सविनय अवज्ञा आन्दोलन चला था, उसके अन्तर्गत ब्रिटिश शासको को 1932 मे ही भारत छोडकर चले जाने को विवश होना पडता। सम्भवत अभी ब्रिटिश राज्य के पापो का घडा पूर्णतया नही भरा था।

कम्यूनल ऐवार्ड तथा पूना पैक्ट

बीसवी सदी के प्रारम्भिक वर्षो मे लार्ड कर्जन तथा लार्ड मिण्टो के वाइसरायत्व काल मे ब्रिटिश साम्राज्यवादियो ने भारत की राष्ट्रीयता के सफल विकास को अवरुद्ध करने के लिए साम्प्रदायिकता का विष फैलाने मे सफलता प्राप्त कर ली थी। तब से लेकर ब्रिटिश शासको का निरन्तर यही प्रयास रहा कि भारत मे साम्प्रदायिकतावादी तत्त्वो को प्रोत्साहित करके राष्ट्रीयता की शक्तियो को नष्ट-भ्रष्ट करे और स्वाधीनता की माँग के समक्ष साम्प्रदायिक भेदभाव की समस्या को रखकर मामले को जटिलतर बनाते जाये। साइमन कमीशन ने इसे और अधिक उभार दिया था, यद्यपि गोल मेज परिषद् के समक्ष गाधी जी द्वारा साम्प्रदायिकता के सम्बन्ध मे स्थिति का पूर्ण स्पष्टीकरण कर दिया गया। नेहरू रिपोर्ट पर जिन्ना ने अपनी चौदह सूत्री माँगे रखकर ब्रिटिश सरकार की टालमटोल की नीति को और अधिक बढावा दे दिया। अंग्रेज लोग केवल मुस्लिम साम्प्रदायिकतावाद से ही सन्तुष्ट नही थे। उन्होने सिक्खो तथा ईसाइयो को तो इसमे शामिल कर ही लिया था। परन्तु अब इस समस्या के विष को और अधिक तीव्र बनाने के लिए उन्होने हिन्दू समाज के दलित (अछूत) वर्ग को भी अलग सम्प्रदाय घोषित करके उसे भी एक अल्पसख्यक सम्प्रदाय मे वर्गीकृत करना चाहा, ताकि काग्रेस की राष्ट्रीय स्थिति और निर्बल पड जाय।

साम्प्रदायिक पचाट (Communal Award)—द्वितीय गोल मेज सम्मेलन के अवसर पर जब भारत की भावी साविधानिक व्यवस्था के सम्बन्ध मे विविध सम्प्रदायो के प्रतिनिधियो के मध्य मतैक्य न हो पाया, तो प्रधानमन्त्री मेकडानेल्ड ने कहा कि ब्रिटिश सरकार स्वय इस समस्या के समाधान पर निर्णय लेगी। 16 अगस्त 1932 को प्रधानमन्त्री ने इस सम्बन्ध मे जो अपनी नीति बताई उसे साम्प्रदायिक पचाट कहा जाता है। इस निर्णय को ऐसा नाम देना उचित नही माना जाता, क्योकि सम्बद्ध पक्षो ने प्रधानमन्त्री को ऐसा निर्णय स्वय लेने की अधिकृत सहमति कभी नही दी थी। फिर भी यह एक ऐसा निर्णय था जिससे ब्रिटिश सरकार की साम्प्रदायिकता को उकसाने की नीनि स्पष्ट हो गयी।

इसके अनुसार नई साविधानिक व्यवस्था मे भारत की प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओ मे विभिन्न सम्प्रदायो के प्रतिनिधियो के लिए स्थान सुरक्षित करने तथा उनके लिए पृथक् निर्वाचन की प्रणालियो को मान्यता दी गयी। इस प्रकार मुसलमानो, सिक्खो, भारतीय ईसाइयो, आग्ल-भारतीयो तथा महिलाओ के लिए पृथक् निर्वाचन क्षेत्र होते। बम्बई मे सात स्थान मराठाओ के लिए सुरक्षित किये गये। जो अर्ह मतदाता उक्त सम्प्रदायो के नही थे वे सामान्य निर्वाचन क्षेत्रो मे ही मतदान करते। अनुसूचित जानि के मतदाताओ को सामान्य निर्वाचन क्षेत्रो मे मतदान का अधिका-

रहता। इसके अतिरिक्त उनके लिए निश्चित संख्या के स्थान सुरक्षित रहते जिनमें इस सम्प्रदाय के उम्मीदवारों को केवल उसी सम्प्रदाय के मतदाता चुनते। इस प्रकार अनुसूचित जाति के मतदाताओं को दो मत देने का अधिकार रहता। इस विशेष निर्वाचन क्षेत्रों को बीस वर्ष तक रखने की योजना थी। भले ही इस प्रथा का उद्देश्य अनुसूचित जाति के वर्ग को उनके पिछड़ेपन के कारण पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने का था तथापि यह एक ऐसा नवीन विधान योजना थी जो हिन्दू समाज को सवर्ण तथा अनुसूचित जाति के दो पृथक सम्प्रदायों में बाँट देता।

इस पंचाट के अनुसार विभिन्न सम्प्रदायों के मध्य विविध प्रान्तों में व्यवस्थापिकाओं[1] के स्थानों का निर्धारण किसी निश्चित सिद्धान्त को लेकर नहीं किया गया। उदाहरणार्थ बंगाल में हिन्दू अल्प-संख्या में थे। सारी जनसंख्या के लगभग 45 प्रतिशत हिन्दू थे परन्तु उन्हें केवल 32 प्रतिशत स्थान मिले। इसी प्रकार मुसलमानों को भी जनसंख्या के अनुपात में कम स्थान मिले। यूरोपियन सम्प्रदाय को विशेष गुरुत्व दिया गया। ऐसा प्रकार पंजाब में सिक्खों को गुरुत्व दिया गया। हिन्दू तथा मुसलमान अल्पसंख्यकों के सम्बन्ध में भी मुसलमानों को अधिक गुरुत्व दिया गया। संक्षेप में सर्वत्र उन अल्पसंख्यक सम्प्रदायों को अधिकाधिक गुरुत्व दिया गया जो समूचे देश में जनसंख्या के अनुपात में न्यूनातिन्यून थे। 1919 के सुधार कानून के अन्तर्गत पृथक निर्वाचन वाले विविध सम्प्रदायों की संख्या दस थी जब नई व्यवस्था में वह सत्रह हो जाती। इस दृष्टि से देश के विभाजन की पूरी योजना ब्रिटिश सरकार ने तैयार करना शुरू कर दी। ऐसी सिद्धान्तहीन तथा अजातन्त्री पद्धति का समावेश किसी भी राष्ट्रवादी को मान्य नहीं हो सकता था। और न ऐसी पद्धति विविध सम्प्रदायों के मध्य जनतन्त्र के विकास में प्रेरणास्पद ही सिद्ध हो सकती थी। परन्तु यह तो ब्रिटिश सरकार ने योजनाबद्ध रूप से निर्मित की थी जिसमें जनतन्त्र तथा स्वस्थ राष्ट्रवाद के विकास को पूर्णतया अवरुद्ध करने की धारणा विद्यमान थी। मुसलमान लोग इससे सामान्यतः सन्तुष्ट हो गये। कांग्रेस कार्यकारिणी ने न तो इसे स्वीकार किया और न अस्वीकार जिसके कारण पण्डित मदनमोहन मालवीय बहुत रुष्ट हुए।

पूना पैक्ट—गांधी जी ने ब्रिटिश सरकार को पहले ही चेतावनी दे रखी थी कि अनुसूचित वर्ग के लिए पृथक निर्वाचन प्रणाली की योजना की वे जी जान से विरोध करेंगे। जब इस पंचाट की घोषणा की गयी तो गांधी जी जेल में थे। उन्होंने सरकार से इस निर्णय को परिवर्तित करने का आग्रह किया। परन्तु जब सरकार ने उनकी बात न सुनी तो गांधी जी ने 20 सितम्बर 1932 को इस पंचाट के विरुद्ध आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया। कुछ नेताओं ने यह अनुभव किया कि सरकार हठधर्मिता से विचलित नहीं होने वाली है और गांधी जी भी अपने प्रण से नहीं हटेंगे तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। पण्डित मालवीय जी ने, राजेन्द्र प्रसाद जी, राजगोपालाचारी, डा. भीमराव अम्बेडकर तथा एम. सी. राजा आदि छः दिन तक पूना में परस्पर विचार विनिमय करते रहे कि इस समस्या का क्या समाधान हो सकता है। सबसे अधिक चिन्ता का विषय गांधी जी का जीवन था।

उक्त नेताओं ने अनुसूचित जातियों के प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में जो योजना तैयार की थी उसके अन्तर्गत पंचाट द्वारा दलित वर्ग के लिए सुरक्षित कुल 71 स्थानों की अपेक्षा उनकी संख्या 148 कर दी। इस प्रकार उनके प्रतिनिधित्व का अनुपात दुगना हो गया। परन्तु निर्वाचन पद्धति संयुक्त रखी गयी। इसके अनुसार यह प्रस्ताव रखा गया कि दलित वर्ग के लिए सुरक्षित स्थान वाले निर्वाचन क्षेत्र में उम्मीदवारों के लिए उस सम्प्रदाय के समस्त मतदाता विभिन्न उम्मीदवारों में से चार उम्मीदवारों का एक मण्डल का निर्वाचन एकल मत प्रथा के द्वारा करेंगे। कुल उम्मीदवारों में से जिन चार उम्मीदवारों को सबसे अधिक मत प्राप्त होंगे वे ही उम्मीदवार बन सकेंगे। बाद में मतदान में सभी मतदाता भाग लेंगे और संयुक्त निर्वाचन पद्धति से अन्तिम चुनाव

[1] प्रस्तावित नये शासन सुधार कानून में [illegible] व्यवस्थापिकाओं के सदस्य प्रान्तीय [illegible] के मतदाताओं द्वारा चुने जाने थे अतः यहाँ यह प्रयोग [illegible] न होगा।

होगा। प्रान्तीय तथा केन्द्रीय दोनो व्यवस्थापिकाओ के लिए यह पद्धति अपनायी जायेगी। केन्द्रीय व्यवस्थापिका मे सारे भारत के लिए निर्धारित स्थानो के 18 प्रतिशत स्थान दलित वर्ग के लिए सुरक्षित रखे जायेगे। उम्मीदवारो के चयन की उपर्युक्त पद्धति केवल दस वर्ष तक चलेगी। यह योजना गाधी जी के सामने रखी गयी और साथ ही सरकार के सामने भी और दोनो ने उसे स्वीकार कर लिया। इस समझौते के उपरान्त गाधी जी ने 26 सितम्बर को अनशन तोड दिया। इस समझौते को 'पूना पैक्ट' कहा जाता है, क्योकि इसकी योजना पूना मे बनी थी, जहाँ गाधी जी अनशन कर रहे। इस समझौते मे हरिजनो के प्रतिनिधियो के रूप मे उनके नेता अम्बेदकर तथा राजा थे। समझौते से गाधी जी को यह सन्तोष था कि दलित वर्ग के लिए पृथक् निर्वाचन की विषैली प्रथा नही रह पायेगी, सरकार को यह सन्तोष था कि आखिर दलित वर्ग को एक विशिष्ट सम्प्रदाय माना ही गया है जिसका लाभ वह कभी न कभी उठा सकेगी, दलित वर्ग को प्रतिनिधियो को यह सन्तोष था कि उन्हे पहले की अपेक्षा और अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हो गया है।

इसके उपरान्त गाधी जी ने छुआछूत के भेदभाव को नष्ट करने के लिए तुरन्त और अधिक प्रभावशाली कदम उठाने की सलाह दी। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत हरिजनो का हिन्दू मन्दिरो मे प्रवेश तथा किसी भी रूप मे छुआछूत का भेदभाव न बरतना शामिल थे। उस समय अधिकाश प्रमुख नेता जेलो मे थे। जो बाहर थे, उन्हे सविनय अवज्ञा आन्दोलन के साथ-साथ अछूतोद्धार का कार्य करना था। गाधी जी जेल मे बहुत नियन्त्रणकारी प्रतिबन्ध मे थे। कोई उनसे नही मिल सकता था। अत गाधी जी ने सरकार से आग्रह किया कि हरिजनोद्धार कार्य मे उन्हे सुविधा न देना पूना पैक्ट के विरुद्ध है। अन्तत उन्हे इस कार्य के लिए कुछ छूट दी गयी। कुछ नेताओ को उनसे मिलने दिया गया। हरिजनोद्धार का कार्य धीमी गति से चलने लगा।

गाधी जी का उपवास तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलन का स्थगन

सरकार की दमन नीति तथा अध्यादेशो के शासन मे कोई कमी नही आयी थी। जिस प्रकार 1932 मे सरकार द्वारा रोक तथा प्रतिबन्ध की स्थिति मे काग्रेस अधिवेशन दिल्ली मे हुआ था, उसी प्रकार मार्च 1933 मे कलकत्ता मे भी इसका आयोजन किया गया। पण्डित मालवीय जी इसके अध्यक्ष होने वाले थे। परन्तु सरकार इसे न होने देने की पूर्ण तैयारी कर चुकी थी। कलकत्ता पहुँचने से पूर्व ही मालवीय जी सहित बडे-बडे नेताओ को बन्दी कर लिया गया। महिला नेताओ तक को नही छोडा गया, यथा श्रीमती मोतीलाल नेहरू, श्रीमती अणे आदि। किसी भी तरह विशाल सख्या मे प्रतिनिधि अधिवेशन स्थल मे पहुँच गये। पुलिस लाठी चार्ज तथा प्रतिरोध के बावजूद एम० एस० अणे की अध्यक्षता मे काग्रेस ने सात प्रस्ताव पास कर लिए। बाद मे अधिवेशन के सिलसिले मे बन्दी किये गये नेताओ को छोड दिया गया। पण्डित मालवीय जी ने सरकार के इस रवैये की घोर निन्दा की, इसके पश्चात् 8 मई 1933 को गाधी जी ने आत्मशुद्धि के हेतु 21 दिन का उपवास रखने का सकल्प किया। इनका मुख्य उद्देश्य हरिजनोद्धार के पवित्र कार्य का सचालन करने हेतु आध्यात्मिक बल तथा शान्ति प्राप्त करना था। गाधी जी के मत से ईश्वर की प्रेरणा से उन्होने यह सकल्प किया था, अत उन्होने अन्य साथियो को अपना अनुसरण न करने की सलाह दी, जब तक कि उन्हे भी ऐसी भगवत्प्रेरणा प्राप्त न हो गयी हो।

जब सरकार ने देखा कि इस उपवास का उद्देश्य राजनीतिक नही, अपितु सामाजिक व धार्मिक है, तो उसने गाधी जी को तुरन्त मुक्त कर दिया। गाधी जी ने भी काग्रेस अध्यक्ष को छ सप्ताह तक सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित कर देने की सलाह दी। 21 दिन का उपवास सफलतापूर्वक सम्पन्न कर लेने पर गाधी जी को अनुभव हुआ कि सामूहिक सविनय अवज्ञा आन्दोलन से कोई वास्तविक सफलता प्राप्त नही हुई है बल्कि सरकार की दमनकारी नीति बढी है, जिसके कारण सत्याग्रहियो तथा जनता को कष्ट ही हुआ है। अत 12 जुलाई को पूना मे काग्रेस का

एक अनौपचारिक सम्मेलन हुआ जिसमें सामूहिक सत्याग्रह को स्थगित कर देने का निश्चय किया गया परन्तु व्यक्तिगत रूप में कांग्रेस अध्यक्ष की आज्ञा लेकर कार्यकर्त्ताओं को सविनय अवज्ञा करने की छूट दे दी गयी। गांधी जी ने इस बीच वायसराय से मिलने की इच्छा व्यक्त की ताकि वार्तालाप द्वारा समस्याओं का समाधान ढूंढा जा सके। परन्तु वाइसराय ने मिलने से इनकार कर दिया। इसलिये व्यक्तिगत सत्याग्रह का कदम उठाना पड़ा। जब इस व्यक्तिगत सत्याग्रह का प्रारम्भ हुआ तो फिर प्रमुख नेतागण जिनमें गांधी जी भी शामिल थे बन्दी कर लिये गये। 16 अगस्त को गांधी जी ने पुनः उपवास शुरु कर दिया। इस बीच गांधी जी का स्वास्थ्य बहुत गिरने लगा तो सरकार ने 23 अगस्त को उन्हें छोड़ दिया। 30 अगस्त को पण्डित नेहरू को भी इस आधार पर छोड़ दिया कि उनकी माता जी का स्वास्थ्य बहुत गिरने लगा था। परन्तु सामूहिक आन्दोलन को समाप्त कर देने की घोषणा के बावजूद सरकार ने अनेक शीर्षस्थ नेताओं तक को मुक्त नहीं किया उदाहरणार्थ सरदार पटेल के कारावास की कोई निश्चित अवधि नहीं रखी गयी थी। उन्हें छोड़ना या न छोड़ना सरकार की स्वेच्छा पर निर्भर था।

कौंसिल प्रवेश का कार्यक्रम

सामूहिक सविनय अवज्ञा आन्दोलन की समाप्ति के बाद गांधी जी का अधिकांश समय तथा ध्यान हरिजनोद्धार के कार्य में लगा रहा। आंदोलन की अवधि में बन्दी किये गये जो कार्यकर्त्ता छूटते गये उनमें उत्साह की कमी आने लगी। सरकार ने दमन की नीति में कोई कमी नहीं की थी। ऐसी स्थिति में कांग्रेसी नेताओं का एक वर्ग यह अनुभव करने लगा कि आगामी व्यवस्थापिकाओं के चुनावों में भाग लेना तथा कौंसिल प्रवेश द्वारा अध्यादेशों से भरे शासन का विरोध करना और वहां से भावी संविधान के बारे में नये सुझाव रखना अधिक श्रेयस्कर होगा बजाय इसके कि व्यक्तिगत सत्याग्रह द्वारा अपनी मांगों को मनवाने का असफल प्रयास किया जाय। इस कार्यक्रम के हेतु डा. अन्सारी तथा मालवीय जी को प्रमुखता देकर एक नये भारतीय स्वराज्य दल को निर्मित करने की योजना बनायी गयी। इसी बीच 16 जनवरी 1934 को बिहार में भयंकर भूकम्प की घटना हो जाने से गांधी नेहरू आदि प्रमुख नेताओं का ध्यान भूकम्प पीड़ित जनता को राहत देने के लिए रचनात्मक कार्य करने की ओर बंट गया। डा. अन्सारी के नेतृत्व में एक शिष्टमण्डल उस समय बिहार में भूकम्प-पीड़ित क्षेत्रों में घूम रहे गांधी जी से मिला। गांधी जी ने कौंसिल प्रवेश के प्रस्ताव का विरोध नहीं किया। मई 1934 में कांग्रेस कार्य समिति तथा अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने भी इसे स्वीकार कर लिया। 20 मई 1934 को कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन को पूर्णतया समाप्त कर दिया। ठीक इसी अवधि में भारतीय राजनीति के अन्दर एक नयी घटना हुई। वह थी पटना में भारतीय समाजवादी दल की स्थापना जो आचार्य नरेन्द्र देव के नेतृत्व में संगठित हुई। जुलाई में कांग्रेस कार्य समिति की बैठक हुई जिसमें निवर्तमान सन्दर्भों में कांग्रेस संगठन की सुव्यवस्था भावी सांविधानिक व्यवस्थाओं आदि पर विचार करना था।

सांविधानिक विकास क्रम तथा तृतीय गोल मेज सम्मेलन—पूना पैक्ट के उपरान्त सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा कांग्रेस की गतिविधियाँ मन्द पड़ने लगी थीं। सरकार के दमन के कारण भी यह शिथिलता स्वाभाविक थी। कांग्रेस संगठन पर प्रतिबन्ध लगा था। ऐसी स्थिति में टोरी दल के प्रभाव में संचालित ब्रिटिश सरकार विशेष रूप से तत्कालीन साम्राज्यवादी भारत मंत्री सर सेमुअल होर यह महसूस करने को तैयार न थे कि ब्रिटिश साम्राज्य के एक अधीन देश भारत के लोगों को गोल मेज परिषद् में समानता की स्थिति में आमंत्रण मिले। अतः नवम्बर दिसम्बर 1932 में तृतीय गोल मेज सम्मेलन बुलाया गया जिसमें केवल 46 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। डा. ताराचंद के शब्दों में यह केवल दिखावा मात्र था (it was just a piece of window dressing)। दोनों दलों की इसमें कोई अभिरुचि नहीं थी। जिन्हें भी इसमें शामिल नहीं किया गया थे। सभी प्रतिनिधि ब्रिटिश सरकार की हाँ में हाँ मिलाने वाले थे या कुछ उदारवादी व्यक्ति

थे । इग्लैण्ड के मजदूर दल ने इसका वहिष्कार कर दिया था । भूतपूर्व भारत मन्त्री वेन के विरोध के कारण प्रथम दो अधिवेशनो मे साइमन को नही बुलाया गया था । परन्तु तृतीय मे उसे आमत्रित किया गया । यह ठीक भी था क्योकि अब नई टोरी सरकार पुन साइमन रिपोर्ट को ही नये सावैधानिक सुधारो का आधार बनाने पर तुली हुई थी । अधिवेशन 17 नवम्बर से 24 दिसम्बर तक चला । अत प्रथम तथा द्वितीय गोल मेज परिषदो के प्रस्तावो तथा उनकी समितियो की रिपोर्टो को इसमे अन्तिम रूप दिया गया । इसमे काग्रेस के प्रतिनिधित्व का प्रश्न ही नही था । अत साम्प्रदायिक तथा प्रतिगामी तत्त्वो से युक्त इस परिषद् ने साम्राज्यवादियो की नीतियो को भावी भारतीय सावैधानिक व्यवस्था के लिए स्वीकृति दे दी । कुछ भारतीय प्रतिनिधियो ने जो भी प्रगतिवादी दृष्टिकोण रखे, उन्हे अमान्य कर दिया गया । अन्त मे तेजबहादुर सप्रू ने अपने भाषण मे कहा कि सरकार जिस सविधान को बनाने जा रही है उसे ऐसा होना चाहिए कि जो भारत की जनता को मान्य हो । उन्होने सम्मेलन को याद दिलाया कि भले ही गाधी जी से उनके कुछ बातो मे मतभेद है तथापि गाधी जी का व्यक्तित्व भारत की जनता मे अतीव सम्मान प्राप्त करता है । साथ ही उनकी देशभक्ति सर्वोत्कृष्ट है । अत जव तक उन्हे (सप्रू को) समाधान न हो जाये कि वे काग्रेस-जनो को सन्तुष्ट कर सकते है तव तक देशवासियो को सन्तोष दिलाने के कोई अवसर नही रहेगे । सैमुअल होर ने सप्रू को आश्वासन दिया कि वे सप्रू की माँगो पर पूर्णत विचार करेगे ।

श्वेत-पत्र तथा सयुक्त ससदीय प्रवर समिति—मार्च 1933 मे ब्रिटिश सरकार ने भारत के भावी सावैधानिक स्वरूप के सम्बन्ध मे श्वेत-पत्र जारी किया । इसमे जो प्रस्ताव रखे गये थे, वह तीन गोल मेज सम्मेलनो मे रखे गये विचारो पर आधारित बताये गये थे । परन्तु यह भी स्मरणीय है कि श्वेत-पत्र मे उन अनेक प्रस्तावो की उपेक्षा की गयी थी जिन्हे गोल मेज सम्मेलन मे समर्थन मिला था क्योकि वे टोरी सरकार को मान्य नही थे । इसी श्वेत-पत्र के आधार पर अप्रैल 1933 मे ब्रिटिश ससद के दोनो सदनो की एक सयुक्त प्रवर समिति नियुक्त की गयी जिसे नयी सावैधानिक व्यवस्था के सम्बन्ध मे श्वेत-पत्र के आधार पर रिपोर्ट देनी थी । सयुक्त प्रवर समिति ने नवम्बर 1934 को अपनी रिपोर्ट ससद को दी ।

जहाँ तक इन विविध सम्मेलनो, प्रलेखो, समितियो तथा स्वय ब्रिटिश ससद के हाथो भारतीय सावैधानिक व्यवस्था मे सुधारो का प्रश्न है, उनके आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि पूर्ण स्वराज्य या स्वायत्तता तथा-उत्तरदायी शासन की माँगो की स्वीकारोक्ति तो दूर रही, इन सबने ब्रिटिश साम्राज्यवादियो के हितो को और अधिक सुदृढ बनाया । गोल मेज परिषदे ढकोसला-मात्र रह गयी, साम्प्रदायिक पचाट यद्यपि विभिन्न सम्प्रदायो को सन्तुष्ट करने मे असफल रहा, तथापि उसने भारतीय राजनीति मे इस जहर को और अधिक तेज बनाया, श्वेत-पत्र ने गोल मेज परिषद् की थोडी सी अच्छाइयो को भी समाप्त कर दिया था, सयुक्त प्रवर समिति एक कदम और आगे बढ गयी । जहाँ पिछली व्यवस्थाओ मे केन्द्रीय व्यवस्थापिका के निम्न सदन के लिए प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली रखी गयी थी, वहाँ इस समिति ने उन्हे अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित करने की सिफारिश की, ताकि उनमे किसी प्रकार के लोकतन्त्री तत्त्व विद्यमान न रह सके । इस समिति के अध्यक्ष लार्ड लिनलिथगो तथा प्रमुख प्रवक्ता सैमुअल होर थे । यही लिनलिथगो बाद मे भारत के गवर्नर-जनरल भी नियुक्त किये गये ये जो एक सच्चे टोरी थे । इनसे यही आशा की जा सकती थी । सयुक्त प्रवर समिति की अन्य प्रतिगामी सस्तुतियो के अन्तर्गत निम्नाकित बाते महत्त्वपूर्ण थी प्रस्तावित सघ-व्यवस्था मे केन्द्रीय व्यवस्थापिका के लिए देशी राज्यो के प्रतिनिधियो को वहाँ के नरेशो के द्वारा नामाकित करके भेजा जाना, न कि जनता द्वारा निर्वाचित किया जाना, पृथक् निर्वाचन के क्षेत्र को बढाना, प्रान्तो मे व्यवस्थापिका के द्वितीय सदनो को समाप्त करने की शक्ति ब्रिटिश ससद को देना (श्वेत-पत्र ने यह शक्ति केन्द्रीय व्यवस्थापिका को दी थी), सघीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार को कम करना, ताकि ब्रिटिश प्रीवी कौसिल अन्तिम अपीलीय न्यायालय बना रहे । सयुक्त प्रवर समिति की सस्तुतियो के आधार पर ब्रिटिश ससद मे पेश किये जाने के निमित्त

1935 के प्रारम्भ में एक विधेयक तैयार किया गया जो अगस्त 1935 में भारतीय शासन अधिनियम (Government of India Act 1935) के रूप में पास किया गया।

गांधी जी का कांग्रेस से अलग होना

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में 1934 में एक और नई समाजवादी दल का अभ्युदय हो चुका था और इसमें आचार्य नरेन्द्र देव जय प्रकाश तथा मीनू मसानी जैसे नेता कांग्रेस संगठन के प्रमुख पदों से पृथक हो गए थे। ब्रिटिश सरकार ने सरदार पटेल नेहरू खान अब्दुल गफ्फार खाँ आदि अनेक बड़े नेताओं को कारावास से मुक्त कर दिया था। इसी बीच सितम्बर 1934 में गांधी जी ने एकाएक एक वक्तव्य देकर अपने को कांग्रेस से अलग होने की घोषणा कर दी। गांधी जी को ऐसा आभास होने लगा था कि कांग्रेस में रहते हुए वे अन्य लोगों को उनकी इच्छा के विरुद्ध अपनी बातों को मानने के लिए विवश करते हैं। दूसरा कांग्रेस के अन्य बड़े नेताओं से उनके विचार नहीं मिलते थे। यद्यपि गांधी जी ने कांग्रेस से अलग होने की घोषणा कर दी और वह चार आने के सदस्य भी नहीं रहे तथापि यह मान लेना सही नहीं है कि गांधी जी का कांग्रेस से सम्बन्ध टूट गया। भले ही वे कांग्रेस संगठन में किसी पद पर नहीं रहे तथापि जब तक वह जीवित रहे कांग्रेस का राष्ट्रीय आन्दोलन उन्हीं के परामर्श तथा इच्छा की सरलता से चलता रहा। नेता लोग निरन्तर उनसे ही सलाह लेते रहे।

प्रश्न

1. सविनय अवज्ञा आन्दोलन की पृष्ठभूमि टिप्पणी लिखिए।
2. सविनय अवज्ञा आन्दोलन के कार्यक्रम पर प्रकाश डालिए।
3. गांधी इरविन समझौते पर टिप्पणी लिखिए। इस समझौते को पूरी तरह क्यों लागू नहीं किया जा सका?
4. द्वितीय गोल मेज सम्मेलन के सामने जो समस्याएँ थीं उनके विषय में कांग्रेस के दृष्टिकोण को बताइए।
5. टिप्पणी लिखिए—
   - (i) साम्प्रदायिक पंचाट
   - (ii) पूना पैक्ट
   - (iii) डांडी यात्रा।

भारतीय शासन अधिनियम 1935 : कार्यान्विति
(GOVERNMENT OF INDIA ACT 1935 . AT WORK)

प्रमुख विशेषताएँ

भारतीय सांविधानिक विकास के इतिहास मे 1935 का भारतीय शासन अधिनियम ब्रिटिश संसद द्वारा पारित सबसे विशाल कानून था। कुछ दृष्टियो से इसका विशेष महत्त्व भी है। मुख्यतया इसलिए कि स्वतन्त्र भारत के संविधान-निर्माताओ ने इस कानून से बहुत बाते ग्रहण की है और कुछ दृष्टियो से भारतीय संविधान इसी कानून की अनुकृति माना जाता है। यद्यपि इस कानून के अनुसार दस वर्ष तक भारत मे ब्रिटिश सरकार शासन करती रही, तथापि वास्तव मे इस कानून को केवल आंशिक रूप से ही लागू करने की स्थिति आई थी और वह भी बहुत थोडे समय के लिए। इस शासन अधिनियम की प्रमुख विशेषताओं को निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है

(1) **भारत की पराधीनता पूर्ववत् बनी रही**—यद्यपि यह अधिनियम एक विस्तृत सांविधानिक प्रलेख के रूप मे है, तथापि इसमे कोई प्रस्तावना नही थी, जो कि भारत-राज्य की स्थिति का स्पष्टीकरण करती। यदि प्रस्तावना दी जाती तो उसमे भारत की औपनिवेशिक स्थिति का उल्लेख किया जाना चाहिए था, जिसके लिए भारतीय नेतृत्व वर्षो से संघर्ष कर रहा था और ब्रिटिश सरकार इसका आश्वासन भी देती आ रही थी। परन्तु तत्कालीन टोरी शासक ऐसी घोषणा संविधान द्वारा करने तक को तैयार नही हुए। इस कानून ने 1919 के शासन सुधार कानून को निरस्त नही किया। अतएव 1919 के कानून मे उल्लिखित प्रस्तावना ही इसके लिए भी लागू होती रही। इस दृष्टि से पूर्ण स्वराज्य तो दूर रहा, औपनिवेशिक स्वराज्य तक भारत के लिए स्वीकार नही किया गया और उत्तरदायी शासन की स्थापना भी पूर्व की भाँति शनैः शनैः लागू करने की नीति बनी रही, जिसका अन्तिम निर्णय ब्रिटिश संसद के हाथ मे रहा। इस प्रकार इस कानून के अन्तर्गत भी ब्रिटिश संसद की सर्वोच्चता बनी रही।

जिस समय ब्रिटिश संसद ने इस विधेयक को पारित किया था, उस समय टोरी नेता बाल्डविन ने घोषणा की थी कि 'यह मेरा विचारपूर्ण निर्णय है कि आज की इस विशाल दुनिया मे समस्त परिवर्तनो तथा अवसरो के अन्तर्गत आपके पास भारत के उस उपमहाद्वीप को हमेशा के लिए साम्राज्य के अन्तर्गत रखने के उत्तम अवसर है।'[1] साथ ही चर्चिल तथा लायड जार्ज ने भी संसद को बताया कि भारत स्वायत्त शासन के लिए अयोग्य है और केवल इसी आधार पर कि वहाँ के शिक्षित वर्ग के एक महत्त्वहीन अंग की आवाज पर इस दिशा मे कोई विकास खतरे से खाली नही होगा। इसके विपरीत श्रमिक नेता ऐटली ने स्पष्ट किया कि 'भारत के उत्तमतर शासन के लिए कोई भी विधायन तब तक सन्तोषजनक नही होगा जब तक कि वह भारतीय जनता की सद्भावना तथा सहयोग को प्राप्त नही करेगा और जिसमे भारत की औपनिवेशिक स्थिति को मान्य नही किया जाता और उसमे इसकी प्राप्ति के प्रावधान नही किये जाते।'[2] ऐटली का तर्क था कि 1935 के शासन सुधार अधिनियम का आधारभूत सिद्धान्त अविश्वास है (The Keynote of the Bill is mistrust)। इसके अनुसार जो रक्षा-कवचो की व्यवस्था कर दी गयी है वह

[1] Quoted by Tara Chand *op cit* 209 [2] *Ibid*

कानून की वैधपूर्णता प्रदान नहीं करती और न ही यह कानून भारत के किसी वर्ग को सन्तोष प्रदान कर सका है। विधेयक का विरोध करते हुए इल्बर्ट ने स्पष्ट कर दिया कि भारतवासियों को भी अपनी भावी सरकार का दायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए। इस विधेयक में न तो ऐसा किया गया है और न यह ऐसा करने का उद्देश्य रख सकता है।[1] प्रो. लास्की के मत में इस कानून में जो प्रतिबन्धात्मक प्राविधान किये गये थे उनके कारण यह संविधान आधुनिक युग के निकृष्टतम संविधानों की निकृष्टतम विशेषताओं से युक्त था।[2] निस्सन्देह कूपलैण्ड ने इसे 20 अगस्त 1917 की घोषणा की दिशा में एक अग्रिम कदम बताकर इसके औचित्य को दर्शाने का प्रयास किया है।[3]

(2) भारत के लिए संघात्मक व्यवस्था की योजना—1935 के अधिनियम के अनुसार सर्वप्रथम भारत के लिए संघात्मक शासन प्रणाली का आयोजन किया गया था। संघात्मक शासन की कुछ मूलभूत आवश्यकताओं यथा लिखित संविधान द्वारा संघ तथा घटकों के मध्य शक्ति वितरण एवं एक संघीय न्यायालय की स्थापना की व्यवस्था की गयी थी। परन्तु संघ निर्माण की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल थी। संघ के घटकों में एक ओर तो उत्तरदायी शासन वाले ब्रिटिश प्रान्त शामिल थे दूसरी ओर देशी रियासतें थीं जिनका शासन राजा या नवाब लोग स्वेच्छाचारिता के साथ करते रहते। इस दृष्टि से संघ के घटकों के मध्य-परस्पर किसी भी भाँति समरूपता नहीं थी। संघ के घटकों की प्रतिनिधि-सभा केन्द्र में राज्य परिषद् कहलायी जाती परन्तु इसमें प्रतिनिधित्व घटकों की समानता का सूचक नहीं था। केन्द्रीय सरकार की व्यवस्थापिका का प्रथम सदन भी प्रत्यक्ष रूप से चुने गये जनता के प्रतिनिधियों से निर्मित न होकर अप्रत्यक्ष रूप से चुने गये सदस्यों का होना (ब्रिटिश प्रान्तों के प्रतिनिधि उनके विधानमण्डलों द्वारा चुने जाने और देशी रियासतों के प्रतिनिधि नरेशों द्वारा नामांकित किये जाने)। इसके अतिरिक्त देशी रियासतों को व्यवस्थापिका में उनकी जनसंख्या के अनुपात में अत्यधिक गुरुत्व प्रदान किया गया था। उन सबकी जनसंख्या सम्पूर्ण देश की जनसंख्या की 1/4 थी परन्तु राज्य-परिषद् में कुल 260 में से 104 तथा लोकसदन में 375 में से 125 स्थान दिये गये थे। राज्य-परिषद् को धनिक तन्त्र का गढ़ बनाने की योजना थी। उसे धन-सम्बन्धी मामलों में भी पूरी शक्ति प्रदान की गयी थी। केन्द्रीय मन्त्री उसके प्रति भी उत्तरदायी थे। संघ सरकार के ऊपर गवर्नर जनरल अनेक प्रकार से स्वेच्छाचारी व्यवहार कर सकता था। वह अपनी स्वविवेकी शक्तियों का प्रयोग कर सकता था साथ ही अनेक मामलों में वह अपने व्यक्तिगत निर्णय का भी प्रयोग कर सकता था। संविधान का निर्वचन करने की शक्ति संघीय न्यायालय को नहीं दी गयी थी ऐसी शक्ति गवर्नर जनरल तथा भारत मन्त्री और अन्ततः ब्रिटिश संसद को प्राप्त थी। सांविधानिक संशोधन का अधिकार भी ब्रिटिश संसद को ही प्राप्त था। इन सब दृष्टियों से 1935 के अधिनियम द्वारा प्रस्तावित संघ-व्यवस्था अपने ढंग के नमूने की एक विशिष्ट व्यवस्था थी। यह लागू नहीं हो पायी क्योंकि इसके लागू करने की शर्त यह थी कि जब तक उतनी देशी राज्य संघ में शामिल होने का आवेदन न कर दें जिनकी जनसंख्या कुल देशी राज्यों की जनसंख्या की आधी से अधिक हो तब तक संघ-व्यवस्था लागू नहीं होगी। परन्तु यह शर्त कभी पूरी नहीं हो पायी। अनेक प्रकार की सुविधाओं तथा संरक्षणों के बावजूद देशी नरेश ऐसी केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत संगठित होने के इच्छुक नहीं थे जिसमें थोड़ी भी लोकतन्त्र की मात्रा हो।

(3) शासन के विषयों की सूचियाँ—अन्य संघों की भाँति 1935 के कानून द्वारा प्रस्तावित भारतीय संघ-व्यवस्था के अन्तर्गत केन्द्र तथा घटकों के मध्य शक्ति-वितरण की योजना भी संविधान (अधिनियम) द्वारा कर दी गयी थी। यहाँ तीन सूचियों की प्रथा अपनायी गयी। केन्द्रीय सूची में समूचे देश से सम्बन्ध रखने वाले विषय थे। इनकी संख्या 59 थी। घटकों के अधिकार क्षेत्र में 54 विषय रखे गये थे और 36 विषय समवर्ती सूची में रखे गये थे। इन सूचियों की व्यापकता के बावजूद अवशिष्ट विषयों का होना अस्वाभाविक नहीं था। साथ ही कुछ विषयों के सम्बन्ध में

Ibid 209 10   Ibid 10   Coupland p II 145-47

विवाद भी उत्पन्न हो सकते थे। अन्य सघो मे इन विवादो का निर्णय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा करने की परम्परा सबसे अधिक लोकतन्त्री मानी गयी है। परन्तु इस कानून के अन्तर्गत भारत के सघीय न्यायालय को यह शक्ति प्राप्त नही थी। ऐसे विवादो तथा अवशिष्ट विषयो के अधिकार-क्षेत्र सम्बन्धी विवादो का निर्णय करने की शक्ति गवर्नर-जनरल को दी गयी थी।

(4) **केन्द्र मे द्वैध-शासन-प्रणाली का आरम्भ**—1935 के अधिनियम ने 1919 के सुधार कानून पर यही विकास किया कि प्रान्तीय द्वैध-शासन की व्यवस्था केन्द्र मे लागू कर दी गयी। प्रतिरक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध, धार्मिक विषय तथा आदिवासी क्षेत्र सरक्षित विषयो के अन्तर्गत रखे गये। शेप विपय हस्तान्तरित माने गये। गवर्नर-जनरल की कार्यपालिका मे पार्षद्गण उक्त सरक्षित विषयो के प्रभारी रहते और शेप विपयो का प्रशासन केन्द्रीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी मन्त्रियो के हाथ मे रहता। परन्तु गवर्नर-जनरल के विशेप उत्तरदायित्व इतने अधिक थे कि उनका अवलम्बन करते हुए वह सरक्षित एव हस्तान्तरित दोनो के शासन मे पूर्णतया हस्तक्षेप कर सकता था।

(5) **प्रान्तीय स्वायत्तता**—जैसा पहले कहा जा चुका है, 1935 का शासन अधिनियम आशिक रूप से ही लागू हुआ था। इसकी सघ-व्यवस्था तथा केन्द्रीय शासन केवल अधिनियम तक ही सीमित रहे। व्यवहार मे उनका प्रयोग कभी नही हो पाया। 1935 के अधिनियम की सबसे बडी विशेपता उसके द्वारा प्रान्तो मे द्वैध-शासन का अन्त करके स्वायत्त शासन की स्थापना करना थी। इस अधिनियम का यह भाग लागू हो गया। केन्द्रीय शासन अगस्त 1946 तक 1919 के कानून के अन्तर्गत ही चलता रहा। प्रान्तीय स्वायत्तता के अन्तर्गत भी गवर्नरो को इतनी विशाल तथा विशिष्ट शक्तियाँ दे दी गयी थी कि प्रान्तो मे उत्तरदायी शासन तथा स्वायत्तता नाममात्र की रह जाती। वास्तव मे इस कानून के निर्माता गवर्नरो को किसी भी रूप मे केवलमात्र वैधानिक प्रधान नही बनाना चाहते थे। अतएव प्रान्तीय शासन व्यवस्था न तो विशुद्ध रूप मे ससदात्मक हो पायी और न ही उसे सही माने मे उत्तरदायी कहा जा सकता है।

(6) **रक्षा-कवचो की व्यवस्था**—1935 के शासन अधिनियम की यह सबसे बडी विशेपता ह। इस अधिनियम को अन्तिम रूप देने से पूर्व ब्रिटिश अधिकारियो ने जिन सावधानियो को बरता उनका उल्लेख गत अध्याय मे किया जा चुका है। साइमन कमीशन, गोल मेज सम्मेलन, श्वेत-पत्र तथा सयुक्त ससदीय प्रवर समिति सभी ने ब्रिटिश साम्राज्यशाही, नौकरशाही, साम्प्रदायिकता (विशेष रूप से मुस्लिम साम्प्रदायिकता) तथा देशी नरेशो की प्रतिक्रियावादिता आदि का पूर्ण लाभ उठाकर भारतीय राष्ट्रीयता तथा स्वाधीनता की माँगो को ठुकराने मे कोई कमी नही रख छोडी थी। इसलिए इस कानून के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार की सरचना इस रूप मे निर्मित करने की योजना रखी गयी थी कि जो कभी व्यवहृत ही न हो सके, और यदि हो भी जाय तो उसके अन्तर्गत गवर्नर-जनरल, भारत मन्त्री तथा ब्रिटिश ससद के अधिकारो को इतना सुदृढ बना दिया गया था कि राष्ट्रीय तत्त्व प्रभावहीन बने रहे। इसी प्रकार प्रान्तीय स्वायत्तता को प्रभावहीन करने के लिए गवर्नर तथा गवर्नर-जनरल दोनो को ऐसे रक्षा-कवचो से युक्त कर दिया था कि प्रान्तीय स्वराज्य केवल नाम-मात्र की चीज रह जाती। इन रक्षा-कवचो के अन्तर्गत केन्द्रीय सरक्षित विपयो पर गवर्नर-जनरल की स्वविवेकी शक्ति, मन्त्रियो के अधीन (केन्द्रीय तथा प्रान्तीय दोनो स्तरो मे) विपयो के सम्बन्ध मे गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरो के विशेप उत्तरदायित्व, अल्पसख्यको, देशी नरेशो, लोक सेवाओ तथा ब्रिटेन के आर्थिक हितो के सम्बन्ध मे गवर्नरो तथा गवर्नर-जनरल को अपने 'व्यक्तिगत निर्णय पर' या अपने 'स्वविवेक पर' कार्य करने और भारत मन्त्री के आदेशो का पालन करने के लिए विवश रहने के प्राविधान इन रक्षा-कवचो के दृष्टान्त है। इनके अतिरिक्त शासन के दैनिक सचालन मे भी गवर्नरो तथा गवर्नर-जनरल को इतनी अधिक अधिशासनिक, वित्तीय, विधायी तथा प्रशासनिक शक्तियाँ प्रदान कर गयी थी कि वे इन्हे मनचाहे ढग से प्रयुक्त करके लोकतन्त्र के सीमित क्षेत्र को भी अवरुद्ध कर सकते थे। इस प्रकार इस अधिनियम के द्वारा

जो थोडी बहुत स्वायत्तता भारतवासियो को एक हाथ मे दे दी गयी थी वह रक्षा-कवच रूपी दूसरे हाथ मे छीन ली गयी।

(7) कुछ विशिष्ट सस्थाओ का सृजन—इस अधिनियम के साथ भारत मे रिजर्व बैंक सघीय न्यायालय तथा रेलवे स्टेच्युटरी आथोरिटी की स्थापना भी की गयी। ये सस्थाए इससे पूर्व विद्यमान नही थी।

निर्वाचन—यद्यपि काग्रेस 1935 के अधिनियम से बिल्कुल भी सतुष्ट नही थी तथापि उसने इस अधिनियम का बहिष्कार तथा सरकार के साथ असहयोग करने की नीति नही अपनायी प्रत्युत् यह निश्चय किया कि इसके अन्तर्गत निर्वाचनो मे भाग लेकर प्रान्तीय स्वायत्त शासन की योजना को विफल सिद्ध किया जाय। अत 1937 मे जब निर्वाचन हुए तो उसमे काग्रेस सहित अन्य दलो तथा वर्गों ने पूर्ण उत्साह के साथ भाग लिया। निर्वाचनो के फलस्वरूप 6 प्रान्तो (बम्बई मद्रास सयुक्त प्रान्त मध्य प्रदेश बिहार तथा उडीसा) मे काग्रेस विशाल बहुमत से विजयी हुई। बगाल असम तथा उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त मे उसे पूर्ण बहुमत तो प्राप्त नही हुआ किन्तु वहाँ सबसे बडा बहुसख्यक दल था। सिन्ध मे काग्रेस की स्थिति अल्पसख्यक थी। पजाब मे हिन्दू सिक्ख तथा मुस्लिम सदस्यो की सयुक्त सरकार बनी।

काग्रेस द्वारा पद ग्रहण—यद्यपि छ प्रान्तो मे काग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त था तथापि काग्रेस ने मत्रिमण्डल बनाना स्वीकार नही किया क्योकि गवर्नरो की विशेष शक्तियो को देखते हुए काग्रेस को यह भय था कि उत्तरदायी शासन तथा स्वायत्तता को गवर्नर अपनी शक्तियो के बल पर अत कर देगे। गाधी जी ने यह प्रस्ताव रखा कि यदि गवर्नर लोग यह आश्वासन दे कि वे अपनी शक्तियो का प्रयोग वैधानिक प्रधानो के रूप मे करेंगे तो काग्रेस मत्रिमण्डल बना सकती है। परन्तु गवर्नर इसके लिए राजी नही थे। अत तीन मास तक गतिरोध बना रहा। इस बीच काग्रेस बहुमत वाले प्रान्तो मे अल्पमत वाले दलो को मत्रिमण्डल बनाने को कहा गया। काग्रेस का मत था कि ऐसी व्यवस्था अवैधानिक है। यो तो अपनी शक्तियो का आश्रय लेते हुए गवर्नर शासन चला सकते थे परन्तु निश्चय ही वह सावैधानिक भावना के विरुद्ध होता है और वह गवर्नरो को दिये गये आदेश पत्रो से भी सगति नही रखता। अन्तत जुलाई 1937 मे गवर्नर जनरल लार्ड लिनलिथगो ने भारत मन्त्री की अनुमति से एक वक्तव्य दिया जिसमे उसने कहा कि गवर्नरो से यह आशा नही की जानी चाहिए कि प्रान्तीय शासन के दैनिक मामलो मे वे अनावश्यक हस्तक्षेप करके प्रान्तीय स्वायत्त शासन को अवरुद्ध करेगे। गवर्नरो के विशेष दायित्व असाधारण परिस्थितियो का सामना करने के लिए ही है।

काग्रेस इस वक्तव्य से सतुष्ट हो गयी। वास्तव मे इस समय काग्रेस असहयोगी रुख नही अपनाना चाहती थी। वह प्रान्तीय स्वायत्त शासन को कार्यान्वित करके जनता को अपने कार्यों से सतुष्ट करना चाहती थी। अत जुलाई 1937 मे काग्रेस ने मत्रिमण्डल बनाना स्वीकार कर लिया। अन्य सब वाले मत्रिमण्डलो ने त्यागपत्र दे दिया। छ प्रान्तो मे काग्रेस सरकारें बन गया। कालान्तर मे असम तथा उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त मे भी काग्रेस के नेतृत्व मे मत्रिमण्डल बने। सिन्ध तथा पजाब मे काग्रेस मत्रिमण्डल बनने का प्रश्न नही था। सिन्ध मे मुस्लिम लीग का बहुमत था। बगाल मे विभिन्न दलो की शक्ति समान सी थी।

मुस्लिम लीग की प्रतिक्रिया—काग्रेस की इस विजय से मुस्लिम लीग को बडा धक्का लगा। लीग के नेता जिन्ना को बडी निराशा हुई। यद्यपि मुसलमानो के लिए सुरक्षित स्थानो की सख्या पर्याप्त अधिक थी और उनका निर्वाचन पृथक निर्वाचन प्रणाली मे हुआ था तथापि मुस्लिम स्थानो मे लीग को बहुत कम स्थान मिले थे। काग्रेस मत्रिमण्डलो ने मुसलमानो को मत्रिमण्डलो मे यथोचित प्रतिनिधित्व दिया था। परन्तु इससे मुस्लिम लीग को सन्तोष नही हुआ। जिन्ना ने उग्र प्रश्न मे काग्रेस लीग की मिली मत्रिमण्डल बनाने की बातें प्रारम्भ की। दोनो दलो की उच्च सत्ता स्तर पर बातें हुई। काग्रेस केवल इस शर्त पर राजी थी कि मुस्लिम लीग विधानसभा

मे पृथक् गुट के रूप मे विद्यमान न रहे और न भविष्य मे उसकी ससदीय बोर्ड किसी उप-चुनाव मे पृथक् रूप से अपने उम्मीदवार खडा करे। लीग इसके लिए राजी न थी, न काग्रेस ही किसी रूप मे लीग के ऐसे रवैये से दबने की स्थिति मे थी, क्योकि उसे स्वय ही पूर्ण बहुमत प्राप्त था। परिणाम यह हुआ कि फिर अन्य प्रान्तो मे भी लीग के ऐसे प्रयास करने का प्रश्न नही उठा, क्योकि काग्रेस की नीति स्पष्ट हो चुकी थी। इसलिए अब जिन्ना ने यह प्रचार आरम्भ किया कि हिन्दुस्तान हिन्दुओ का है, काग्रेस हिन्दुओ का दल है, काग्रेस राज्य मे मुसलमानो के हितो को सरक्षण नही मिल सकता, काग्रेस मन्त्रिमण्डलो वाले प्रान्तो मे मुसलमानो का दमन किया जा रहा है, आदि। काग्रेस ने इन सब आरोपो का न केवल खण्डन ही किया, बल्कि उसने लीग को स्पष्टतया कह दिया कि वह सघीय न्यायालय द्वारा ऐसे आरोपो की जाँच कराये। सयुक्त प्रान्त के गवर्नर तक ने ऐसे आरोपो को निराधार बताया। लीग के पास चिल्लाने तथा झूठा प्रचार करने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नही था। स्पष्टत लीग की इस निराशा के अन्तर्गत पाकिस्तान की माँग के अकुर विकसित हो रहे थे ।

प्रान्तीय स्वायत्त शासन का मूल्याकन

यह तो निश्चित था कि यदि गवर्नर लोग अपने विशेष अधिकारो का अवाँछित प्रयोग करने लगते तो प्रान्तीय स्वायत्त शासन काठ की हाडी मात्र रह जाता। यह भी निश्चित था कि गवर्नर-जनरल के आश्वासन के बावजूद सभी प्रान्तीय गवर्नर तदनुसार कार्य नही करेंगे, क्योकि आश्वासन के पीछे कोई वैधानिक शक्ति नही थी, अपितु उसका उद्देश्य ससदीय अभिसमयो को विकसित होने का अवसर देना मात्र था। इसके विपरीत गवर्नरो की शक्तियो के पीछे सावैधानिक शक्ति थी। यह भी निश्चित था कि काग्रेस मन्त्रिमण्डल जब भी यह अनुभव करेंगे कि गवर्नर गवर्नर-जनरल के आश्वासन को ठुकरा रहे है, तो वे त्यागपत्र देगे। परन्तु जब तक गवर्नर ससदीय शासन की सुमान्य परम्पराओ को अपनाते रहेगे तब तक काग्रेसी मन्त्रिमण्डल भी प्रान्तीय स्वायत्त शासन को सफलतापूर्वक सचालित करेंगे। इन विविध परस्पर विरोधी धारणाओ के परिप्रेक्ष मे छोटे-बडे सकटो का उपस्थित होना स्वाभाविक बात थी। जहाँ कही गवर्नरो ने स्वविवेक शक्तियो का मनमाना प्रयोग किया, वहा काग्रेस क्षेत्रो मे असन्तोष होने लगा। उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त मे गवर्नर ने व्यवस्थापिका के एक विधेयक को अस्वीकार कर दिया था। मध्य प्रान्त के गवर्नर ने एक मन्त्रिमण्डल को भग कर दिया था। परन्तु सबसे बडा असन्तोष तब उत्पन्न हुआ जबकि सयुक्त प्रान्त तथा बिहार के मन्त्रिमण्डलो ने राजनीतिक बन्दियो की रिहाई का प्रश्न उठाया। गवर्नर-जनरल के आदेशानुसार गवर्नरो ने उसे स्वीकार नही किया, कारण यह बताया कि ऐसा करना प्रान्त मे शान्ति तथा व्यवस्था को बनाये रखने के गवर्नर के विशेष दायित्व के मार्ग मे बाधक होगा। गवर्नर-जनरल का तर्क था कि एक प्रान्त का ऐसा निर्णय सभी प्रान्तो को प्रभावित करेगा। अत इन दोनो प्रान्तो के गवर्नरो ने इसी आधार पर मन्त्रिमण्डलो के इस प्रस्ताव का विरोध किया। इस हस्तक्षेप को देखकर इन मन्त्रिमण्डलो ने त्यागपत्र दे दिया। इसकी प्रतिक्रिया सभी काग्रेसी मन्त्रिमण्डलो वाले प्रान्तो मे होती, परिणामस्वरूप प्रान्तीय स्वायत्त शासन ठप्प हो जाता। ब्रिटिश सरकार भी इससे कुछ व्यग्र हुई। अन्त मे दोनो पक्षो के मध्य समझौता वार्ता द्वारा समस्या का हल निकाला गया और यह तय हुआ कि राजनीतिक बन्दियो की रिहाई प्रत्येक वैयक्तिक मामले के गुणावगुणो के आधार पर की जायेगी। इसी प्रकार उडीसा मे एक अधीनस्थ अधिकारी को गवर्नर के पद पर नियुक्त कर दिये जाने से भी समस्या उत्पन्न हुई। परन्तु इसने स्थायी गतिरोध का रूप नही लिया।

सक्षेप मे, काग्रेस मन्त्रिमण्डलो वाले प्रान्तो मे जब भी गवर्नरो ने कही पर अवाछित रूप से हस्तक्षेप करना शुरू किया तो गतिरोध उत्पन्न हुए। परन्तु समग्र रूप मे इन प्रान्तो के गवर्नरो ने

मनमाना हस्तक्षेप करने का साहस नहीं किया। उनकी स्थिति न्यूनाधिक मात्रा में वैधानिक प्रधानों की सी रही। परन्तु गैर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के प्रान्तों में गवर्नरों का हस्तक्षेप अधिक रहा। पंजाब के गवर्नर ने राजनीतिक बन्दियों की रिहाई के प्रश्न पर बिना मुख्यमन्त्री की सलाह लिए अपना दृष्टिकोण गवर्नर जनरल को भेज दिया। 1939 में जब कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने ब्रिटिश सरकार की विश्व-युद्ध की नीति के विरोध में त्यागपत्र दे दिये तो गवर्नरों ने अधिनियम की धारा 93 के अन्तर्गत वैधानिक तन्त्र की विफलता घोषित करते हुए शासन अपने हाथों में ले लिया। अन्य प्रान्तों के गवर्नरों ने मुस्लिम लीग के मन्त्रिमण्डलों को बनाये रखा। यद्यपि वे अल्पमत दल के थे तथापि अधिकांश कांग्रेसी सदस्यों के बन्दी कर लिए जाने पर वे मन्त्रिमण्डल बने रह सके। इस दृष्टि से प्रान्तीय स्वायत्त शासन के कार्यान्वयन में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों के प्रान्तों में गवर्नरों ने अनावश्यक हस्तक्षेप की प्रवृत्ति छोड़कर उसे सफल बनाने में बहुत योग दिया।

जहाँ तक जनप्रिय मन्त्रिमण्डलों द्वारा प्रान्तीय स्वायत्त शासन के कार्यान्वयन का सम्बन्ध था मन्त्रिमण्डलों ने उत्तरदायी संसदीय शासन की सुसाध्य परम्पराओं को कायम रखने में कोई कमी नहीं की। सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को बनाये रखा गया। मन्त्रिमण्डलों के निर्माण में अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने का भी विशेष ध्यान रखा गया। यद्यपि संसदीय शासन की परम्परा के विरुद्ध मन्त्रिमण्डलों की बैठकों में गवर्नर सभापतित्व करते रहे और उनकी उपस्थिति ठोस नीतियों के निर्माण में बाधक सिद्ध होती थी तथापि मुख्यमन्त्रियों की अनौपचारिक बैठकों को बुलाकर ठोस निर्णय लेते थे।

प्रान्तीय स्वायत्त शासन की सफल कार्यान्विति के निमित्त प्रान्तों में सिविल सेवा के उच्च पदाधिकारियों का सहयोग अत्यन्त आवश्यक था। चूँकि गवर्नरों को सिविल सेवा के अधिकारियों के हितों का संरक्षण करने का विशेष दायित्व दिया गया था जिसमें वे मन्त्रिमण्डल की सलाह को ठुकरा सकते थे अतः यदि ऐसा रवैया चलता रहता तो प्रान्तीय स्वायत्त शासन असम्भव हो जाता। उत्तरदायी शासन के अन्तर्गत सिविल सेवा के शासन-सचिवों तथा विभागीय अधिकारियों को मन्त्रियों के अधीन कार्य करना आवश्यक था। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत स्वेच्छाचारिता से कार्य करने वाली नौकरशाही को जनप्रिय मन्त्रिमण्डलों के अधीन कार्य करने में बड़ा संकोच होने लगा था। यद्यपि सांविधानिक अधिनियम में उनके हितों का पर्याप्त संरक्षण प्राप्त था तथापि वे ऐसी शासन-व्यवस्था के प्रचलन को सहन नहीं कर पाये। कुछ अधिकारी ऐसे भी थे जिन्होंने कांग्रेसी नेताओं के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में अनुचित व्यवहार किया था। अब जब उन्हें उन्हीं नेताओं के अधीन कार्य करना था तो उन्हें संकोच तथा भय होता था। ऐसे कुछ अधिकारियों ने तो त्यागपत्र दे दिये थे। कुछ ऐसे भी तत्त्व थे जो प्रान्तीय स्वायत्त शासन की सफलता को अवरुद्ध करने के इरादे से असहयोग तथा संकट की स्थिति उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही शासकीय पदों पर बने रहे। संयुक्त प्रान्त में ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई जबकि शासन के मुख्य सचिव ने अधीनस्थ अधिकारियों के नाम एक प्रपत्र भेजकर यह माँग की कि वे शासन सचिवों के प्रतिहस्ताक्षरों के बिना किसी आदेश का कार्यान्वयन न करें। मुख्यमन्त्री पण्डित गोविन्दवल्लभ पंत को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने मुख्य सचिव से क्षमायाचना माँगी और उसके आदेश की तीव्र भर्त्सना की। परिणामस्वरूप वह आदेश निरस्त कर दिया गया। इस घटना ने संयुक्त प्रान्त में ही नहीं अपितु अन्य सभी प्रान्तों के लिए एक आदर्श प्रस्तुत किया। भविष्य में नौकरशाही ने ऐसा रवैया छोड़कर मन्त्रियों के साथ सहयोग से कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

यद्यपि प्रान्तीय स्वायत्त शासन केवल लगभग ढाई वर्ष की अवधि तक ही चला क्योंकि सितम्बर 1939 में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ने पर ब्रिटिश सरकार द्वारा युद्ध में भारत को भी एक पक्ष घोषित करने की नीति के विरोध में त्यागपत्र दे दिये थे तथापि इस अल्प अवधि में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने प्रशासनिक तथा लोककल्याणकारी कार्यों के क्षेत्र में जो उपलब्धियाँ कीं उनकी सराहना ब्रिटिश अधिकारियों तथा आलोचकों तक ने की है। लगभग सभी

काग्रेस मन्त्रिमण्डलो वाले प्रान्तो मे प्रारम्भिक शिक्षा, ग्राम-विकास, पचायतो के विकास, उद्योग, नशाबन्दी, कृषि, भूमि-सुधार, श्रम, दलित वर्गो के सुधार आदि के सम्बन्ध मे ठोस कार्य किये गये। राजनीतिक बन्दियो की रिहाई पर भी कदम उठाये जाने लगे। बम्बई तथा मद्रास की सरकारो ने भी सविनय अवज्ञा आन्दोलन के मध्य लोगो से छीनी गयी सम्पत्ति की वापसी के सम्बन्ध मे कानून बनाये। सयुक्त प्रान्त तथा बिहार की सरकारो ने ग्राम-सुधार योजना को बहुत व्यापक बनाया और ग्रामोत्थान के कार्यो से जनता के मध्य पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त की। अक्टूबर 1939 मे गवर्नर-जनरल लार्ड लिनलिथगो ने भी इन प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलो के कार्यो की बहुत सराहना की थी। काग्रेसी मन्त्रिमण्डलो ने गैर-काग्रेमी प्रान्तो के लिए अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया। इन मन्त्रिमण्डलो ने यह सिद्ध कर दिया कि भारतीय नेता स्वराज्य के लिए केवल चिल्लाते ही नही है, अपितु भारतवासी ही स्वय अपने देश की समस्याओ को समझते है और उन्हे हल करने की पूर्ण प्रशासनिक क्षमता रखते है, जो कि विदेशी शासको की क्षमता से परे की चीज है। इन मन्त्रि-मण्डलो ने एक और उत्तम उदाहरण यह प्रस्तुत किया कि मन्त्रिगण उतना ही वेतन लेगे जितना कि भारत सदृश गरीब देश के लिए उचित है। सयुक्त प्रान्त मे मन्त्रियो का वेतन केवल 500 रुपए मासिक तय किया गया था। इस अल्प अवधि मे भारतीय नेताओ को प्रशासन का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करने का अवसर भी मिला। इससे काग्रेस की लोकप्रियता और अधिक बढी। अग्रेज भले ही स्पष्टतया कहने मे हिचके, परन्तु उन्हे यह समाधान पूर्णतया हो गया कि भारतवासी स्वशासन की पूरी क्षमता रखते हैं।

प्रान्तीय स्वायत्त शासन तथा मुस्लिम लीग—यद्यपि 1935 के भारतीय शासन अधिनियम के अन्तर्गत अप्रैल 1937 से प्रान्तीय स्वायत्त शासन लागू हो गया था और जुलाई 1937 से छ प्रान्तो मे काग्रेस मन्त्रिमण्डल कार्य करने लग गये थे, तथापि भारतीय राजनीति और स्वतन्त्रता आन्दोलन मे जहाँ एक और काग्रेस मन्त्रिमण्डलो ने सराहनीय ढग से शासन-कार्य सम्भालकर ब्रिटिश शासको की इस धारणा को निर्मूल सिद्ध कर दिया था कि भारतवासी स्वायत्त शासन के अयोग्य है, वहा काग्रेस मन्त्रिमण्डलो की इस प्रतिष्ठा ने साम्प्रदायिक मुसलमानो तथा अग्रेज शासको दोनो को भारी आघात पहुँचाया। इसके अत्यन्त दूरगामी प्रभाव हुए। अब ब्रिटिश शासक काग्रेस की लोकप्रियता को समाप्त करने के लिए पुन साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहित करने लगे। जैसा पहले कहा जा चुका है, मुस्लिम लीग को 1936–37 के चुनावो मे जो निराशा हुई थी, उसके बावजूद उसके नेता जिन्ना ने यह प्रयास किया कि लीग के निर्वाचित सदस्यो को प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलो मे स्थान मिलना चाहिए। विशेष रूप से सयुक्त प्रान्त मे लीग ने इस दिशा मे भरसक प्रयास किया था। निर्वाचन अभियान की अवधि मे काग्रेस तथा लीग के मध्य भावी कार्यक्रम के सम्बन्ध मे राजनीतिक, आर्थिक एव अन्य दिशाओ मे कोई बहुत बडा मतभेद नही था। काग्रेस ने भी लीग के उम्मीदवारो के विरुद्ध अपने उम्मीदवार खडे नही किये थे और लीग के विरोध न करने मे काग्रेस को भी अपने मुस्लिम उम्मीदवारो को विजयी बनाने मे सफलता मिली थी। ऐसा भी कहा जाता है कि काग्रेस ने लीग को यह आश्वासन दिया था कि यदि उसे बहुमत प्राप्त हो गया तो वह लीग के दो सदस्यो को मन्त्रिमण्डल मे लेगी। परन्तु जब काग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त हो गया और जिन्ना ने काग्रेस से सयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने की पेशकश की तो काग्रेस का दृष्टिकोण बदल गया। वह अधिक से अधिक केवल एक सदस्य खालिकुज्जामन को लेने को राजी थी।[1] बाद मे जिन्ना व खालिकुज्जामन के बहुत आग्रह करने पर जो शर्ते लीग को लेने की रखी गयी, उनका स्पष्ट अर्थ यही था कि सयुक्त प्रान्त मे मुस्लिम लीग अपना अस्तित्व ही खो देती। जिन्ना ऐसे जोखिम के लिए तैयार नही थे। पडित जवाहरलाल नेहरू, अबुलकलाम आजाद तथा सयुक्त प्रान्त के मुख्यमन्त्री पडित गोविन्दवल्लभ पत मे जिन्ना तथा खालिकुज्जामन ने अनेक तर्क-वितर्क

[1] Tara Chand, *op cit*, 231

किये। पर नेहरू जी जो तर्क दिए वे परन्तु सांविधानिक तर्कों पर आधारित थे। उनके मन में मन्त्रिमण्डलीय (सामूहिक) उत्तरदायित्व की कार्यान्विति के लिए सम्मिलित मन्त्रिमण्डल बनाना कोई औचित्य नहीं रखता था जबकि स्वयं कांग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त था। दूसरे नेहरू जी का तर्क था कि भारत में उस समय दो ही दल थे—एक कांग्रेस तथा दूसरा ब्रिटिश सरकार। नेहरू जी लीग को एक पृथक हित वाले दल के रूप में मानने को तैयार नहीं थे। उनका मत था कि मुसलमानों के कोई ऐसे अन्य हित नहीं थे जिनका प्रतिनिधित्व कांग्रेस नहीं करती थी। वे लीग को प्रान्त में कुछ जमींदारों तालुकेदारों आदि निहित स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था कहते थे। इसके विपरीत जिन्ना इन तर्कों से सहमत नहीं थे। वे लीग को मुस्लिम जनता के सामान्य हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले एक विशिष्ट राजनीतिक दल के रूप में मानते थे। अतः उनकी दृष्टि में यह एक तीसरा राजनीतिक दल के रूप में था। नेहरू जी के तर्क सैद्धान्तिक परन्तु जिन्ना के तर्क व्यावहारिक थे जैसा कि अहमद हुसैन ने मौलाना आज़ाद को उद्धृत करते हुए लिखा है।[1]

तर्कों की दृष्टि से यह एक अत्यन्त विवादास्पद विषय था। यह तो नहीं कहा जा सकता कि लीग उस समय भारत के समस्त मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था होने का दावा कर सकती थी क्योंकि उस समय भारत के कुछ राष्ट्रवादी मुस्लिम नेता कांग्रेस में थे कुछ अन्य मुस्लिम संगठन यथा जमायत उल उलेमा अहरार पार्टी आदि लीग के विरोधी थे। बंगाल तथा पंजाब जो मुस्लिम बहुसंख्यक जनता वाले प्रान्त थे वहाँ भी मुस्लिम लीग के विरोधी अन्य मुस्लिम दल थे। परन्तु यह भी एक बड़ी भूल ही कही जा सकती है कि कांग्रेस को 1937 में जिन्ना के नेतृत्व वाली मुस्लिम लीग को 1906 या 1919 की लीग के रूप में देखना चाहिए था। साथ ही जिन्ना जैसे राष्ट्रवादी मुसलमान नेता की उपेक्षा करना उचित नहीं था। इससे पूर्व साम्प्रदायिक मुसलमानों के कट्टर नेता यथा फज़ली हुसैन नहीं रह गये थे। जिन्ना इस समय अखिल भारतीय ख्याति के मुस्लिम नेता थे। फजलुल हक सिकन्दर हयात खाँ आदि का प्रभाव अपने प्रान्तों तक सीमित था। जिन्ना की लीग के उद्देश्य राष्ट्रवादी अधिक थे विशुद्ध अर्थ में साम्प्रदायिक कम। कांग्रेस के संविधानवाद पर आधारित तर्क भी व्यावहारिक राजनीति पर अधिक आधारित नहीं थे। इंग्लैण्ड में मिश्रित मन्त्रिमण्डल की सरकार का दृष्टान्त उतना पुराना नहीं पड़ गया था। अन्त में लीग ने भारत की स्वतन्त्रता की माँग के मार्ग में जो रोड़े अटकाये थे उन्हें देखते हुए 1937 में पूर्ण बहुमत प्राप्त कर लेने पर कांग्रेस लीग की उपेक्षा करके अपने स्वतन्त्र मन्त्रिमण्डल बना लेने की स्थिति में हर प्रकार से न्यायसंगत थी। परन्तु कांग्रेस की यह एक बड़ी भूल ही कहा जा सकता है कि उसने यहाँ पर जिन्ना की बातों को न मानकर उन्हें रुष्ट करके इसके दूरगामी प्रभावों की उपेक्षा की।

इसी क्षण से जिन्ना ने कांग्रेस को पूर्णतया हिन्दू संगठन कहकर मुसलमानों को इसके विरुद्ध हो जाने का अभियान प्रारम्भ कर दिया और तो ताराचन्द के शब्दों में जिस जिन्ना ने आजीवन भारत की एकता के लिए कार्य किया था अब इससे मुँह मोड़ लिया और अब उन्होंने स्वतन्त्र मुस्लिम भारत के आदर्श उद्देश्य को अपना जीवन लक्ष्य बना लिया।

इसका परिणाम यह हुआ कि 15 अक्टूबर 1937 में प्रारम्भ होने वाले मुस्लिम लीग के लखनऊ अधिवेशन में जिन्ना ने कांग्रेस के विरुद्ध जहर उगलना शुरू कर दिया और आज तक भारत की एकता वैधानिक तरीकों से स्वराज्य माँगने धर्म निरपेक्षता की नीति पर चलने हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए कार्य करने आदि के सिद्धान्तों को छोड़ दिया। उन्होंने घोषित किया कि कांग्रेस पूर्णतया हिन्दू परस्त आचरण कर रही है और इसके शासन में प्रधान मुसलमानों को किसी प्रकार का संरक्षण नहीं मिल सकता। उन्होंने अन्य प्रान्तों के मुसलमानों से भी कांग्रेस का विरोध करने का आह्वान किया। इसका परिणाम यह हुआ कि बंगाल में फजलुल हक की सरकार को समस्त

1 Q t d / / 38 Ibid 4

मुस्लिम सदस्यो का समर्थन मिलने लगा। यही स्थिति पजाब मे रह गयी जहाँ सरकार का विरोध हिन्दू सदस्यो तक सीमित रह गया। अन्यत्र भी मुसलमान सदस्य कागेस-विरोधी होने लग गये। ब्रिटिश सरकार तो ऐसी प्रतीक्षा कर ही रही थी। आज तक एकमात्र प्रबुद्ध तथा सुयोग्य मुस्लिम नेता जिन्ना ब्रिटिश शासको के अन्ध-समर्थको मे से नही थे। अब वही एकमात्र वास्तविक मुस्लिम नेता थे और वे भी ब्रिटिश शासको के हित मे काग्रेस के कट्टर विरोधी हो चुके थे। इसका लाभ अन्त तक अग्रेजो ने भरपूर उठाया। इस प्रकार 'यह राजनीतिक अदूरदर्शिता तथा ब्रिटिश शासको की काग्रेस के प्रति घृणा जिन्ना के भारत के भविष्य का एकाएक निर्णायक बन जाने के लिए उत्तरदायी सिद्ध हुए।'

काग्रेस दल मे दरार—1937–39 की अवधि मे यद्यपि काग्रेस दल को प्रान्तीय स्वायत्त शासन का सचालन करने के फलस्वरूप पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई थी, तथापि दो घटनाएँ ऐसी हुई जिनके कारण काग्रेस को भारी हानि हुई और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के सचालन मे उनके दूरगामी प्रभाव हुए। इनमे से एक घटना, जिसका सक्षिप्त उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, मुस्लिम लीग का काग्रेस-विरोधी हो जाना थी, और दूसरी घटना स्वय काग्रेस दल के अन्दर नेतृत्व मे फूट का आ जाना थी।

काग्रेस के नेतृत्व के अन्तर्गत युवा-वर्ग कुछ वामपथी विचारो का था। यह वर्ग गाधी जी की अहिसा की राजनीति पर विश्वास नही करता था। साथ ही यह गाधी जी की प्राचीन भारतीय आदर्शवादी परम्पराओ को भी उपयुक्त नही मानता था। इसके ऊपर पाश्चात्य देशो के क्रान्तिकारी नेताओ तथा उनके आदर्शो का प्रभाव अधिक था। ब्रिटिश साम्राज्यशाही की पराधीनता से देश को मुक्त कराने के निमित्त वह कडे सघर्ष पर अधिक विश्वास रखता था। उसमे रूसी क्रान्ति का भी प्रभाव था। पडित नेहरू तथा नेताजी सुभाषचन्द्र बोस इस वर्ग के प्रमुख नेता थे। परन्तु नेहरू जी गाधी जी के प्रभाव मे बहुत अधिक आ चुके थे, जबकि बोस गाधी जी के प्रभाव से लगभग मुक्त थे। नेहरू व बोस दोनो असहयोग आन्दोलन की अवधि मे काग्रेस मे आये थे। बोस ने आई० सी० एस० से त्यागपत्र दे दिया था। वे प्रारम्भ से ही क्रान्तिकारी विचारो के थे। जब गाधी जी ने असहयोग आन्दोलन स्थगित किया तो उन्हे बहुत बुरा लगा। सविनय अवज्ञा आन्दोलन की अवधि मे वे वियना मे अपनी बीमारी का इलाज कराने गए हुए थे। जब उन्होने सुना कि गाधी जी ने आन्दोलन को स्थगित कर दिया है तो वे बहुत क्रुद्ध हुए। उस समय केन्द्रीय विधान सभा के अध्यक्ष विट्ठलभाई पटेल भी वही थे। दोनो ने गाधी जी के इस निर्णय की भर्त्सना की और गाधी जी को असफल राजनीतिज्ञ कहा। सुभाष बोस सघर्ष की राजनीति पर विश्वास करते थे। उनका मत था कि भारत की 35 करोड जनता सघर्ष द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य को भारत मे उखाड फैंकने के लिए पर्याप्त है। 1935 मे अपने प्रवास मे उन्होने The Indian Struggle लिखी जिसे भारत सरकार ने जब्त कर दिया। 1936 मे जब वे भारत लौटे तो उन्हे तुरन्त नजर-कैद करके अपने भाई के घर पर ही रख दिया गया। परन्तु बाद मे उन्हे छोड दिया गया।

सुभाष बोस काग्रेस को पुनर्गठित करके उसमे नवीन नेतृत्व भरना चाहते थे जो सघर्ष की राजनीति अपनाकर अपना उद्देश्य प्राप्त करने मे सफल हो सके। 1937 मे जब काग्रेस ने प्रान्तीय स्वायत्त शासन के अन्तर्गत पद ग्रहण कर लिया तो गाधी जी की इच्छा हुई कि युवा नेता बोस को किसी ऐसे पद पर नियुक्त कर दिया जाय जहाँ पद के दायित्वो से ढक जाने के कारण उनके उग्र विचारो को उदार बनाने का अवसर मिल सके। अत 1938 मे सुभाष बोस को काग्रेस का अध्यक्ष बना दिया गया। पद ग्रहण करते ही सुभाष बोस ने घोषणा की कि वे काग्रेस का निदेशन इस रूप मे करेगे जिससे कि ब्रिटिश सरकार द्वारा लागू की गयी सघ-व्यवस्था को चकनाचूर कर दिया जायेगा। इसमे सभी शान्तिपूर्ण तथा औचित्यपूर्ण साधन अपनाये जायेगे, आवश्यकतानुसार अहिसात्मक असहयोग भी काम मे लाया जा सकता है। उन्होने राष्ट्रीय नियोजन, एकता तथा जनता को सघर्ष के लिए तैयार करने की योजनाओ पर बल दिया। वे भारी औद्योगीकरण की

नीति के समर्थक थे। ब्रिटिश शासक उनकी नीतियों से बहुत क्षुब्ध होने लगे क्योंकि सरकार के प्रति उनका विरोधी रवैया तीव्रतर होने लगा था। बोस यूरोपीय राजनीति को भली भांति समझते थे। उन्हें पूरा आभास हो गया था कि शीघ्र ही यूरोप में भारी युद्ध छिड़ेगा। अतः उस समय भारतवासियों को भी अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने को तैयार रहना पड़ेगा। उनकी इन नीतियों से कांग्रेस का पुराना नेतृत्व जो गांधी जी की शिक्षाओं के प्रति निष्ठावान था परेशानी में पड़ गया। 1939 में जब नये कांग्रेस अध्यक्ष के चुनाव का प्रश्न आया तो गांधी जी ने पट्टाभि सीतारामैया को उम्मीदवार चुना। दूसरी ओर सुभाष बोस को पुनः निर्वाचित करने के समर्थक भी थे। आश्चर्य की बात यह थी कि बोस के मुकाबिले सीतारामैया को पराजय का सामना करना पड़ा। इससे गांधी जी बड़े खिन्न हुए। बोस के नेतृत्व में 10 मार्च 1939 को कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार को अल्टीमेटम भेजने का प्रस्ताव किया कि वह 6 मास के अन्दर भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करे अन्यथा राष्ट्रीय संघर्ष की तैयारी की जाय। इस पर कांग्रेस के प्रतिनिधियों में बड़ी खलबली मच गयी।

बाद में पुनः अधिवेशन में गांधी जी के समर्थक यह प्रस्ताव पास कराने में सफल हो गये कि कांग्रेस अपने जीवन की लम्बी अवधि में अपनाये गये साधनों का ही प्रयोग करेगी। साथ ही यह भी प्रस्ताव किया गया कि कांग्रेस कार्यकारिणी को भविष्य में गांधी जी का निर्णय स्वीकार करना चाहिए और अध्यक्ष को तदनुसार कार्यकारिणी का चयन करना चाहिए। सुभाष बोस के लिए यह एक भारी चुनौती थी। स्पष्टतः कांग्रेस के नेतृत्व में दरार पड़ गया। समझौते के सभी प्रयास निष्फल हुए क्योंकि गांधी जी तथा बोस में से कोई भी अपने निश्चयों से झुकने को तैयार न थे। परिणामस्वरूप बोस ने अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दिया और उनके स्थान पर डा. राजेन्द्र प्रसाद को कांग्रेस का अध्यक्ष चुन लिया गया। सुभाष बोस ने कांग्रेस से त्यागपत्र देकर नया दल फारवर्ड ब्लाक बना लिया। यद्यपि डा. राजेन्द्र प्रसाद ने कांग्रेस के प्रस्ताव के अनुसार कार्यकारिणी का निर्माण किया तथापि ऐसे अवसर पर जबकि विश्व के समक्ष एक महान् विपत्ति आने वाली थी और कांग्रेस के अन्दर एकता एक भारी आवश्यकता थी बोस का कांग्रेस से पृथक् हो जाना भारी दुर्भाग्य की बात थी। 1939 के बाद के घटना चक्र में कांग्रेस से सुभाष बोस की अनुपस्थिति के कारण आन्दोलन में भारी रिक्तता आ गयी जैसा कि राष्ट्रीय आन्दोलन की भावी घटनाओं से स्पष्ट होगा।

प्रश्न

1. 1937 के उपरान्त प्रान्तों में लागू किए गए स्वायत्त शासन का मूल्यांकन कीजिए।
2. प्रान्तीय स्वायत्त शासन प्रणाली के प्रति मुस्लिम लीग का क्या रुख था? आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।
3. दूसरे महायुद्ध के आरम्भ पर कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने क्यों त्यागपत्र दिया? उनके त्यागपत्र की क्या प्रतिक्रिया हुई और उससे उत्पन्न गतिरोध को दूर करने के लिए क्या किया गया?

द्वितीय विश्वयुद्ध तथा राष्ट्रीय आन्दोलन
(NATIONAL MOVEMENT AND WORLD WAR II)

द्वितीय विश्वयुद्ध का आरम्भ—जब भारत मे प्रान्तीय स्वायत्त शासन का प्रयोग चल रहा था तो यूरोप द्वितीय विश्वयुद्ध की तैयारी मे था। जर्मनी मे नाजीवादी तथा इटली मे फासीवादी अधिनायकतन्त्र अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुके थे। 1935 मे इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण करके विश्व को चेतावनी दे दी थी। इससे पूर्व जब 1937 मे जापान ने चीन के ऊपर आक्रमण किया था तो भारत सरकार ने चीन मे भारतीय सेनाएँ भेज दी थी। इस पर कांग्रेस ने यद्यपि जापान के चीन पर आक्रमण की निन्दा की, तथापि भारत सरकार को भी चेतावनी दे दी थी कि बिना भारतवासियो के परामर्श के सरकार यदि भारतीय मानव-शक्ति का इस प्रकार अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यो की पूर्ति के लिए शोषण करेगी तो इसके परिणाम अच्छे नही होगे। 1 सितम्बर 1939 को जर्मनी ने एकाएक पडोसी देशो पर आक्रमण कर दिया। 3 सितम्बर 1939 को इग्लैण्ड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इग्लेण्ड, फ्रास आदि मित्र-राष्ट्रो का दावा था कि वे लोकतन्त्र की फासीवादी अधिनायकवाद से रक्षा के लिए युद्ध मे भाग ले रहे है। शीघ्र ही ब्रिटिश सरकार ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध मे भारत को भी एक पक्ष घोषित करके भारतीय सैनिक टुकडियो को पश्चिमी एशिया के देशो मे भेजना शुरू कर दिया। साथ ही भारतीय शासन अधिनियम मे सशोधन करके भारत-स्थित ब्रिटिश नौकरशाही को युद्ध-प्रयासो के हेतु विशाल आपातकालीन शक्तियाँ प्रदान कर दी। सघ-व्यवस्था को लागू करने का प्राविधान स्थगित कर दिया गया था।

युद्ध के प्रति कांग्रेस का रुख—यद्यपि कांग्रेस फासीवादी साम्राज्य तथा अन्य सभी प्रकार की सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाओ के विरुद्ध थी, तथापि वह लोकतन्त्री साम्राज्यवाद के भी विरुद्ध थी। ब्रिटिश सरकार एक ओर जर्मनी के विरुद्ध युद्ध का उद्देश्य लोकतन्त्र की रक्षा कहती थी, दूसरी ओर भारत की जनता को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हित मे किसी भी प्रकार के लोकतन्त्री अधिकार देने मे निरन्तर उदासीन बनी रही थी। भारत के ब्रिटिश शासक युद्ध छिडने से पूर्व युद्धकाल मे कांग्रेस के सम्भावित रुख के बारे मे विचार करने लग गए थे। युद्ध छिडते ही भारत रक्षा कानूनो के अन्तर्गत कांग्रेस के विरुद्ध रणनीति की भूमिका बना चुके थे। कांग्रेस भी स्पष्टतया घोषित कर चुकी थी कि उसकी राय लिए बिना भारत को युद्ध मे एक पक्ष घोषित करना अनुचित होगा। परन्तु कांग्रेस की शक्ति को कुचल देने पर तुली हुई सरकार ने कांग्रेस के नेताओ की एक न सुनी। 8 अक्टूबर 1939 को वाइसराय ने कुछ सुविधाओ की घोषणा की। सरकार की ओर से यह आश्वासन दिया गया कि वह केन्द्रीय कार्यकारिणी का विस्तार करेगी, सरकार को युद्ध-कार्यो मे सलाह देने के लिए एक युद्ध-परिषद् का निर्माण करेगी, और युद्ध समाप्त होते ही नए सविधान का ढाँचा तैयार करने के लिए एक निकाय की स्थापना करेगी। 17 अक्टूबर 1939 को यह देखते हुए कि कांग्रेस को उपर्युक्त सुविधाएँ अमान्य है यह आश्वासन दिया गया कि सरकार इस बात के लिए उत्सुक है कि वह 1935 के कानून मे भारत के दलो तथा हितो से परामर्श करके युद्ध समाप्त होने पर सशोधन पर विचार करेगी। कांग्रेस या लीग कोई भी ऐसे आश्वासनो से सन्तुष्ट नही थी। अत ब्रिटेन द्वारा युद्ध की घोषणा करते ही कांग्रेस कार्य समिति ने ब्रिटिश सरकार से यह माँग की कि यदि वह फासीवाद के विरुद्ध तथा लोकतन्त्र की रक्षा के निमित्त युद्ध मे भारतवासियो के

सहयोग तथा सहायता का रूप ग्रहण करता है तो इसे स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा करनी चाहिए कि इसका भारत के प्रति जातितन्त्र तथा साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में क्या उद्देश्य है। 15 सितम्बर 1939 को कांग्रेस महासमिति ने समस्या पर विचार करके ब्रिटिश सरकार से यह माँग की कि वह स्पष्टतः यह घोषणा करे कि युद्ध के वास्तविक उद्देश्य क्या हैं और विशेषतः भारत का भविष्य क्या होगा क्योंकि यदि युद्ध का उद्देश्य भारत में यथास्थिति बनाये रखना है तो भारत का युद्ध में कोई प्रयोजन नहीं है। यदि ब्रिटिश सरकार सच्चे भाव से तथा स्पष्ट शब्दों में ऐसा आश्वासन दे देती तो कांग्रेस चाहती कि वह अधिनायकवाद के विरुद्ध मित्र राष्ट्रों की युद्ध में भारत की ओर से हर प्रकार सहायता देने के कार्य में लग जाती जैसा कि उसने प्रथम विश्वयुद्ध की अवधि में किया था। परन्तु ब्रिटिश सरकार ऐसा करने से पहले सकुचाया।

कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों का त्यागपत्र—कांग्रेस की इन माँगों के उत्तर में गवर्नर जनरल ने भारतीय नेतागणों से बातें कीं और यह वक्तव्य दिया कि भारत के विभिन्न वर्गों में देश के भावी सांविधानिक स्वरूप के बारे में मतैक्य नहीं है। ब्रिटिश सरकार भारत को औपनिवेशिक स्वतन्त्रता देना अपना ध्येय मानती है। अतः युद्ध समाप्ति के पश्चात् भारत के विविध वर्गों तथा सम्प्रदायों से परामर्श करने के उपरान्त 1935 के अधिनियम को परिवर्तित करने के निमित्त कदम उठाये जायेंगे। युद्ध संचालन के हेतु गवर्नर जनरल विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों की परामर्शदात्री गुट निर्मित करने को तैयार है। गवर्नर जनरल के इस वक्तव्य से कांग्रेसी क्षेत्रों में पूर्ण निराशा छा गयी। इससे पूर्व गांधी जी, डा. राजेन्द्र प्रसाद तथा पं. नेहरू वायसराय से मिले थे। परन्तु 17 अक्टूबर 1939 को वायसराय की उक्त घोषणा पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए गांधी जी ने कहा कि यह अत्यन्त निराशाजनक था। इसका अर्थ युद्ध के बाद पुनः एक गोल मेज सम्मेलन को बुलाना होगा जो निश्चय ही असफल होगा। डा. प्रसाद ने भी यही निष्कर्ष निकाला कि ब्रिटिश सरकार की नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। ऐसे ही विचार नेहरू जी तथा अन्य जनों के भी थे। ऐसी स्थिति में कांग्रेस को प्रतीत हुआ कि उसकी माँगों के उत्तर में ब्रिटिश सरकार वास्तव में कुछ भी नहीं देना चाहती अपितु भारत में पुनः फूट डालो और शासन करो की नीति अपना रही है। कांग्रेस को ब्रिटिश शासन का प्रथम विश्वयुद्ध के बाद की नीति का कटु अनुभव हो चुका था। इस पर 22 अक्टूबर 1939 को कांग्रेस कार्य समिति ने प्रान्तीय कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों को त्यागपत्र देने का आदेश दिया। नवम्बर तक कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र देने पर गवर्नरों ने 1935 के शासन अधिनियम की धारा 93 के अन्तर्गत सांविधानिक विफलता की घोषणा करके प्रान्तों के शासन को अपने हाथों में ले लिया। इस प्रकार प्रान्तीय स्वायत्त शासन का अन्त होकर पुनः स्वेच्छाचारितावादी शासन शुरू हो गया।

गवर्नर जनरल के उक्त वक्तव्य तथा कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों द्वारा त्यागपत्र देने का लाभ मुस्लिम लीग उठाने लगी। जिन्ना ने घोषणा की कि कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र से मुसलमानों के ऊपर हिन्दुओं के अत्याचारी शासन का अन्त हो गया है। इस पर कांग्रेस अध्यक्ष डा. राजेन्द्र प्रसाद ने जिन्ना को चुनौती दी कि वे भारत के संघीय न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से यह जाँच कराये कि कांग्रेस शासन मुसलमानों के लिए कहाँ तक अत्याचारी था। परन्तु जिन्ना को ऐसा साहस कहाँ था? जब से वे कांग्रेस से पृथक् होकर तथा अपने पहले के विचारों, आदर्शों तथा उद्देश्यों को भूलकर पक्के मुस्लिम सम्प्रदायवादी बन चुके थे तब से वे ब्रिटिश शासकों के इशारों पर कांग्रेस के विरुद्ध नाचने लग गये थे। परन्तु ब्रिटिश सरकार भी अब जिन्ना की माँगों को भारत की सम्पूर्ण मुस्लिम जनता की माँगों को मानकर भारत की किसी भी स्वतन्त्रता या स्वायत्तता की माँग को टालने लगी थी। इस समय समस्या यह थी कि ब्रिटिश सरकार युद्ध प्रयासों में कांग्रेस तथा उसके माध्यम से सम्पूर्ण भारत की जनता का सहयोग चाहने के लिए बजाय मध्यस्थों द्वारा शासन चलाने के कांग्रेस की औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग को स्वीकार कर लेती और भारतीय शासन में कानून में समुचित संशोधन करके भारतीय स्वतन्त्रता के सम्बन्ध

मे एक कदम आगे वढ जाती। ब्रिटिश शासको की यह धारणा निर्मूल थी कि ऐसा करने से मुस्लिम वर्ग को असन्तोप होगा। यह तो केवल टालने का बहाना था। वास्तव मे स्थिति यह थी कि जिन्ना को छोडकर अन्य कोई भी मुस्लिम नेता (फजलुल हक, सिकन्दर हयात खाँ या सिन्ध तथा असम के मुख्यमन्त्री) सरकार के विरुद्ध नही होते। जमायत-उल उलेमा भी जिन्ना के विरुद्ध थी। 1939 मे भारतीय मुसलमान खिलाफत जैसी किसी प्रेरणा मे अग्रेज विरोधी नही थे। मिस्र, ईराक तथा टर्की सदृश मुस्लिम देश अग्रेजो की ओर थे। अत भारत के मुसलमान अग्रेजो का साथ देते।[1] परन्तु ब्रिटिश शासको ने हठधर्मिता से ही काम किया।

यद्यपि काग्रेस मन्त्रिमण्डलो ने त्यागपत्र दे दिया था, तथापि काग्रेस ने युद्धकाल के लिए अपना कार्यक्रम निश्चित नही किया था। वह अब भी सरकार के साथ समझौता-वार्ता करती रही। स्वय भारतीय नेतृत्व युद्ध की अवधि मे ब्रिटिश रवैये तथा युद्ध सम्बन्धी विपयो पर अपनी नीति सुनिश्चित करने मे एकमत नही था। सुभाष वोस का मत था कि भारत का एकमात्र उद्देश्य स्वतन्त्रता प्राप्त करना तथा अग्रेजो की साम्राज्यशाही को समाप्त करना था। अत भारत को इस अवसर पर ब्रिटिश साम्राज्यवादियो की परेशानी का लाभ उठाकर किसी भी साधन से स्वतन्त्रता प्राप्त करनी चाहिए। इसके विपरीत प० नेहरू जहाँ भारत की स्वतन्त्रता के लिए चिंतित थे, वहाँ वे मित्र-राष्ट्रो के युद्ध के आदर्शो स्वतन्त्रता, समानता, लोकतन्त्र तथा मानवतावाद के साथ भी सहानुभूति रखते थे। इसलिए वे चाहते थे कि मित्र-राष्ट्र होने के नाते इग्लैण्ड भारत के सन्दर्भ मे भी युद्ध के उद्देश्यो की स्पष्ट घोपणा करे। गाधी जी किसी प्रकार की सौदेबाजी के पक्ष मे तो नही थे, प्रत्युत् वे फासी तथा नाजी नीतियो से घृणा करते थे और ब्रिटेन के साथ समझौता करके समस्या के समाधान के लिए उत्सुक थे। उधर मुस्लिम लीग के नेता जिन्ना ने अपनी माँगो का जो हठीला रुख अपना लिया था, उसी को ब्रिटिश शासको ने प्रमुखता दी और काग्रेस के साथ भारत की सावैधानिक स्थिति के बारे मे कोई भी निश्चित घोपणा करने के मार्ग मे बाधा डालने के निमित्त लीग की मागो पर अडे रहे। इग्लैण्ड का रवैया यही बना रहा कि मानो भारत की साविधानिक समस्या के हल के ठेकेदार वे अग्रेज ही हे। इसके विपरीत गाधी जी का मत था कि इग्लैण्ड भारत को स्वतन्त्र कर दे और भारतवासी अपनी साविधानिक समस्याओ से स्वय निवट लेगे। परन्तु ब्रिटिश अधिकारी अपने साम्राज्यवादी को भारत मे बनाये रखने के इच्छुक होने के कारण भारत की स्वायत्त शासन की किसी भी माँग के निमित्त मुस्लिम साम्प्रदायिकता, देशी नरेशो के हितो आदि को तूल देकर उसे अस्वीकार करते गये और सारा दोप काग्रेस को देते रहे। अत काग्रेस तथा सरकार के मध्य किसी समझौते के सभी द्वार बन्द थे।

युद्ध का प्रसार तथा भारत की समस्या—ब्रिटिश सरकार को दो युद्धो का सामना करना पड रहा था—भारत मे स्वतन्त्रता आन्दोलन तथा यूरोप मे नाजीवाद के विरुद्ध। प्रथम को वह टालमटोल तथा शक्ति के बल पर दवा लेने की स्थिति मे थी, परन्तु यूरोप मे हिटलर की बढती हुई शक्ति उनके लिए भारी चिन्ता का विपय थी। 1940 मे यूरोपीय युद्ध तीव्रता से बढ रहा था। हिटलर ने यूरोप के एक के बाद दूसरे राष्ट्र को हडपना प्रारम्भ कर दिया था। जब उसने नार्वे, स्वीडन को झपट लिया और फ्रास को भी दवा लिया तो मई 1940 मे ब्रिटिश ससद मे टोरी नेता ऐमरी ने प्रधानमन्त्री चैम्बरलेन से इग्लैण्ड की इन राष्ट्रो को बचा सकने मे असमर्थता के लिए त्यागपत्र की माँग की। परिणामस्वरूप चैम्बरलेन ने त्यागपत्र दे दिया और उसका स्थान कट्टर तथा दृढप्रतिज्ञ टोरी नेता चर्चिल ने लिया। चर्चिल के प्रधानमन्त्री बनने पर जेटलैण्ड के स्थान पर ऐमरी ने भारत मन्त्री का पद सम्भाला। पिछले टोरी नेताओ की तुलना मे ये दोनो नेता भारत की स्वतन्त्रता की माँग के कट्टरतम शत्रु थे और किसी भी कीमत पर भारत की ऐसी

[1] Tara Chand, *op cit* 295-96

माग क निमित्त जरा भर भा मुक्त वा आशा इनम नहा थी।

युद्ध की गति तीव्र होता गया जमनी न इसी बीच रूस क साथ युद्ध-वजन सन्धि कर ली थी। यह ब्रिटेन के लिए और अधिक चिन्ता की बात था। धुरी शक्तियां उत्तर अफ्रीका मध्य एशिया तथा पश्चिम यूरोप क देशों म छा गयी थी स्वय इंगलण्ड म नाजी बमवारी शुरू हो गयी थी। 1941 का वर्ष युद्ध म इंगलण्ड क लिए महायक सिद्ध होन लगा। जमनी न विजय क नश म चूर होकर रूस क ऊपर भी आक्रमण कर दिया। अमरीका इंगलण्ड की सहायता दन क लिए आगे आया। सुदूर पूर्व म जापान भी धुरी राष्ट्रों क पक्ष म युद्ध म कूद पड़ा और शीघ्र ही दक्षिण पूर्व एशिया क देशों को अपना निशाना बनाकर वह भारत की सीमाओं की ओर बढ़ गया था। *अमरीका तथा ब्रिटेन न एटलान्टिक चार्टर पर हस्ताक्षर करके युद्ध म नाजी शक्ति क विरुद्ध मोर्चा बना लिया था।* रूस भी अब मित्र राष्ट्रों म मिल गया था। अमरीका को अब एटलान्टिक व प्रशान्त महासागरों स होकर जमनी तथा जापान दोनों स मुकाबिला करना था। यदि यूरोप म नाजी व फासी शक्तियां नष्ट हो जाती तो जापान अकेला पड़ जाता और उस नष्ट करना मित्र राष्ट्रों क लिए कठिन न होता एसा ब्रिटेन का अनुमान था। परन्तु जब जापान पूर्व स भारत क द्वार खटखटान लगा और भारत म राष्ट्रीय नताओं का ब्रिटिश सरकार क साथ असहयोगपूर्ण रवैया बना हुआ था साथ ही भारत क प्रसिद्ध क्रान्तिकारी नता सुभाष बोस धुरी राष्ट्रों म मिलकर अंग्रजों क विरुद्ध मोर्चा लन की योजना बना चुके थे[1] तो अब ब्रिटिश सरकार का ध्यान भारत की प्रतिरक्षा क निमित्त भारतीय नताओं क साथ सहयोग करन की ओर गया। यद्यपि यह प्रयास दिखाव का ही था और ब्रिटिश शासकों न इसके प्रति कोई ईमानदारी नहीं दिखायी तथापि इसक दूरगामी प्रभाव हुए जिनकी कल्पना ब्रिटिश शासक नहीं करत थ। डा ताराचन्द क शब्दों म युद्ध का यह दूसरा चरण ब्रिटिश सरकार क सिर क ऊपर डमाक्लीज की तलवार की भांति लटक रहा था जो भारत क सम्मुख विभाजन की धमकी क रूप म था।

अगस्त 1940 का प्रस्ताव

कारण—जसा ऊपर कहा जा चुका है जब नाजी विजयों क परिणामस्वरूप इंगलण्ड भारी संकट म पडन लगा तो इंगलण्ड म यह अनुभव किया गया कि युद्ध प्रयासों को सुदृढ करन क लिए सरकार म नतृत्व बदलन की आवश्यकता है। अतः चम्बरलन क स्थान पर चर्चिल को प्रधानमन्त्री बनाया गया और नय मन्त्रिमण्डल म एमरी को भारत मन्त्री का पद मिला। य दोनों व्यक्ति ब्रिटिश साम्राज्यवाद क पक्क समर्थक तथा भारत की स्वतन्त्रता क कट्टर विरोधी थ। एटलान्टिक चार्टर क एक प्रमुख हस्ताक्षरकर्ता क रूप म भी चर्चिल न कहा कि यह चार्टर (जो कि स्पष्टतया विदशी शासन तथा आक्रमण क विरुद्ध राष्ट्रों को स्वायत्त शासन प्रदान करन की घोषणा करता था) भारत या ब्रिटिश साम्राज्य क अधीन दशों पर लागू नहीं होता। एसी स्थिति म ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत को किसी भी प्रकार की अन्तरकालीन औपनिवेशिक या अन्तरिमकालीन स्वायत्त शासन की मांग की पूर्ति की आशा करना निरर्थक था। परन्तु कांग्रस की निरन्तर बढ़ती हुई मांग को भी ब्रिटिश सरकार या हाँ हुकरा दन का साहस भी नहीं कर सकती थी क्योंकि ब्रिटन क ऊपर युद्ध-संकट बढ़ता जा रहा था। अतः अगस्त 1940 म भारतीय सांविधानिक गतिरोध को दूर करन क लिए गवर्नर जनरल न एक प्रस्ताव रखा जिस अगस्त 1940 का प्रस्ताव कहा जाता है।

प्रस्ताव—इस प्रस्ताव क अनुसार गवर्नर जनरल न य घोषणाए की

[1] इन घटनाओं का विवचन आग किया गया है।

Thu the co d stag f w h Jf w th th swo d f D mo l h g g r th he d of t G rnm t I B t J w th th thr t f p t t conf g I d a Ib d 301

(1) युद्ध समाप्त होते ही ब्रिटिश सरकार भारत के भावी सविधान का निर्माण करने के निमित्त एक सविधान सभा का आयोजन करेगी, जिसमे भारत के सभी प्रमुख राष्ट्रीय तत्वो को प्रतिनिधित्व मिलेगा ।

(2) गवर्नर-जनरल की कार्यकारी परिषद् मे कुछ भारतीय प्रतिनिधियो को रखा जायेगा और ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यो के प्रतिनिधियो से युक्त एक युद्ध परामर्शदात्री समिति बनायी जायेगी ।

(3) ब्रिटिश सरकार भारत की शान्ति तथा सुरक्षा के वर्तमान दायित्व को किसी ऐसी सरकार को नही दे सकती जिसका विरोध भारतीय राष्ट्रीय जीवन का एक विशाल वर्ग करता हो।

(4) ब्रिटिश सरकार युद्धोत्तर काल मे भारत की औपनिवेशिक स्थिति की मॉग को मान्यता देगी और यथासम्भव युद्धकाल मे उसके सम्बन्ध मे विचार-विनिमय किया जायेगा ।

काग्रेस की प्रतिक्रिया—यद्यपि अगस्त 1940 के प्रस्ताव मे स्पष्टतया औपनिवेशिक स्वराज्य, सविधान सभा की स्थापना तथा अन्तरिम काल मे भारत के शासन मे भारतीयो को शामिल करने की घोषणा थी, तथापि इसकी शब्दावली इतनी अस्पष्ट थी कि वह केवल 'फूट डालो और शासन करो' की नीति पर आधारित थी । इसमे तुरन्त उत्तरदायी लोकतन्त्री शासन की स्थापना को पूर्णतया उपेक्षित किया गया था । मुस्लिम लीग को अवश्य इससे सन्तोष हुआ क्योकि इस योजना के माध्यम से वह मुस्लिम अल्पसख्यको के हितो का बहाना लेकर इस योजना को सफल न होने देने मे समर्थ हो जाती । वास्तव मे अब लीग का उद्देश्य भारत की एकता तथा स्वतन्त्रता नही था, प्रत्युत् वह स्वतन्त्र मुस्लिम भारत का ही स्वप्न देखने लगी थी । अत काग्रेस ने इसे अस्वीकार कर दिया ।

व्यक्तिगत सत्याग्रह की योजना—सरकार के ऐसे असहयोगी रुख तथा चालो को देखकर काग्रेस ने महात्मा गाधी को पुन सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का अधिकार दे दिया । गाधी जी के समक्ष कई ऐसी समस्याएँ थी जिन पर बहुत सोच-विचार करके सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेडने का निर्णय करना था । युद्ध की तीव्रता का प्रभाव भारत की आम जनता पर पडना स्वाभाविक था, क्योकि देश का शासन वह राष्ट्र कर रहा था जो युद्ध मे निर्बल पक्ष बनता जा रहा था, शासको का देश की न्यायोचित मॉगो के सम्बन्ध मे हठी रुख तथा टालमटोल से भरा व्यवहार राष्ट्रीय नेताओ के लिए असह्य हो रहा था, सविनय अवज्ञा आन्दोलन को ग्राम जनता का आन्दोलन बनाना ऐसी सकटमय स्थिति मे अनुचित होता। यद्यपि काग्रेस युद्ध मे इग्लैण्ड की हर प्रकार से सहायता करने को तैयार थी, क्योकि वह फासीवादी आक्रमण को कदापि सहन नही करती थी और गाधी जी ने हिटलर तथा मुसोलिनी तक को उनकी समर नीति के विरुद्ध पत्र लिखे थे, तथापि अग्रेजो की भारत मे साम्राज्यवाद कायम किये रखने तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता की न्यायोचित मॉगो के प्रति हठधर्मिता तथा उदासीनता दर्शाने की नीति को देखकर काग्रेस को ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करना भी अनुचित प्रतीत हुआ । इन सब बातो को ध्यान मे रखकर गाधी जी ने 'व्यक्तिगत सत्याग्रह' की योजना बनायी, क्योकि आम सत्याग्रह के हिसा मे परिवर्तित हो जाने का भय था और ब्रिटिश शासक उसे दबाने के लिए हिंसात्मक साधन अपनाते । व्यक्तिगत सत्याग्रह पूर्णतया अहिसात्मक होता। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत अहिसा पर पूर्ण विश्वास रखने वाले व्यक्तियो का चयन किया गया । सत्याग्रही पहले जिला अधिकारियो को अपने इरादे की सूचना देते । उसके बाद वे शान्तिपूर्ण तरीके से जनता से मॉग करते कि वे युद्ध के निमित्त सरकार को किसी प्रकार की सहयता न दे क्योकि युद्ध भारत की जनता की स्वतन्त्रता तथा उसके लोकतन्त्री अधिकारो की सुरक्षा मे लिए नही, बल्कि उसे निरन्तर ब्रिटिश दासता के अन्तर्गत बनाये रखने तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हितो के सरक्षण के लिए लडा जा रहा था ।

सत्याग्रह का आरम्भ—व्यक्तिगत सत्याग्रह का आरम्भ करने के लिए गाधी जी ने सबसे प्रथम आचार्य विनोवा भावे को चुना । अक्टूबर 1940 मे आन्दोलन का श्रीगणेश विनोवा जी ने

किया। उन्होंने जनता के समक्ष एक संक्षिप्त भाषण दिया तभी उन्हें बन्दी कर लिया गया। इसके पश्चात् आन्दोलन तीव्रतापूर्वक फैला। एक मास की अवधि में सहस्रों सत्याग्रही बन्दी कर लिए गये। कुछ को नोटिस प्राप्त होते ही बन्दी बना लिया गया, कुछ को चार बातें जनता से कहने का अवसर मिला। कालान्तर में कांग्रेस के लगभग सभी उच्चस्तरीय नेता बन्दी हो गये। केवल गांधी जी तथा कुछ अन्य नेता जो सत्याग्रह आन्दोलन का निर्देशन कर रहे थे और जिन्होंने व्यक्तिगत सत्याग्रह में भाग नहीं लिया, वही बचे रहे। ऐसा अनुमान है कि अक्टूबर 1940 से अप्रैल 1941 तक की अवधि में लगभग 20000 सत्याग्रही बन्दी कर लिए गए थे। आन्दोलन का निर्देशन पर्याप्त सावधानी तथा अनुशासनपूर्ण ढङ्ग से किया गया। किसी भी सत्याग्रही की ओर से हिंसा की एक भी कार्यवाही नहीं की गयी। बिहार तथा पंजाब में एक दो घटनाएं हुईं जबकि सत्याग्रहियों की गिरफ्तारी के विरुद्ध जनता ने प्रदर्शन किये और पुलिस ने लाठी चार्ज किया। इस आन्दोलन का जनता पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। इसने जनता की राष्ट्रीय चेतना को सुदृढ़ करने में सहायता पहुँचाया। जनता को यह विश्वास होने लगा कि युद्ध भारत के हित में न होकर ब्रिटेन के हित में हो रहा है अतः सरकार की सहायता करना भारत के हित में नहीं है। सरकार को ऐसा आन्दोलन उचित नहीं लगा क्योंकि इससे सरकार की स्थिति निर्बल हो जाती। इस पर भी ब्रिटिश अधिकारी अपना पुराना राग अलापते रहे कि मुसलमान तथा देशी नरेश कांग्रेस की नीतियों को अपने अहित में मानकर किसी भावी सांविधानिक प्रगति में भाग लेने को आतुर नहीं है। गांधी जी ने भारत मन्त्री की ऐसी प्रतिक्रिया को भारत के आन्तरिक मामलों में अवांछनीय हस्तक्षेप कहा और सारे गतिरोध का दोष ब्रिटिश सरकार की 'फूट डालो' की नीति पर मढ़ा।

सरकार की प्रतिक्रिया—यद्यपि व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन जो कि पूर्णरूप से शान्तिपूर्ण तथा अहिंसात्मक ढङ्ग से चल रहा था, उसे दबाने के लिए सरकार को उग्र कदम उठाने की आवश्यकता नहीं पड़ी तथापि जनता पर इससे पड़ने वाले प्रभाव को सरकार सहन नहीं कर सकी। दूसरी ओर जापान भी धुरी राष्ट्रों की ओर से मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने की तैयारी में था। इसका कुप्रभाव सीधे भारत पर पड़ता। भारतवासियों द्वारा ब्रिटेन के युद्ध प्रयासों का विरोध ब्रिटिश शासन के लिए अनिष्टकर था अतः जुलाई 1941 में गवर्नर जनरल ने अपनी कार्यकारी परिषद् के सदस्यों की संख्या और भी बढ़ाकर तेरह कर दी और उसमें पाँच भारतीय सदस्य नियुक्त कर दिये। परन्तु कांग्रेस या मुस्लिम लीग में से किसी भी दल ने अपने प्रतिनिधि नहीं भेजे। स्पष्टतया पाँचों नये सदस्य ऐसे व्यक्ति थे जो ब्रिटिश सरकार की हाँ में हाँ भरने वाले थे। परिषद् के विस्तार के फलस्वरूप भी विदेश, राजनीतिक, प्रतिरक्षा, वित्त, गृह आदि महत्वपूर्ण विभाग यूरोपीय सदस्यों के हाथ में बने रहे। भारतीय मन्त्रियों को गौण महत्त्व के विभाग सौंपे गये। ब्रिटिश सरकार की चालों को पहचानने के कारण ही इस नीति का भारतीय राष्ट्रीय नेताओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

सत्याग्रह आन्दोलन का स्थगन—कार्यपालिका के विस्तार के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण निर्णय जो ब्रिटिश सरकार ने लिया वह था सत्याग्रहियों को मुक्त करने का। सम्भवतः जर्मनी द्वारा रूस पर आक्रमण कर देने की तैयारी तथा जापान द्वारा युद्ध में प्रविष्ट हो जाने के भय से ब्रिटिश सरकार भारत के राष्ट्रीय नेताओं को बन्दी किये रखने का साहस करने में घबरा गया था। यद्यपि प्रमुख नेतागण छोड़ दिये गये थे तथापि इसके कारण कांग्रेस की नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। सरकार की नीति में भी कोई ऐसा परिवर्तन नहीं आया जिसके आधार पर यह माना जाता कि वह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की माँग के सम्बन्ध में कोई ईमानदार प्रयास कर रही है। अगस्त 1940 के प्रस्ताव के अनुसार गवर्नर जनरल ने एक युद्ध परामर्श दात्री परिषद् भी बना ली थी परन्तु ये समस्त कार्य केवल दिखावे के थे। वास्तविक सत्ता गवर्नर जनरल तथा उसकी कार्यकारी परिषद् के यूरोपीय सदस्यों के हाथ में बनी रही। परन्तु जब दिसम्बर 1941 में

जापान युद्ध मे प्रविष्ट हो गया तो उसके कारण भारत के समक्ष आसन्न खतरा उत्पन्न हो गया। अत कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने गांधी जी के पूर्ण अहिंसात्मक सिद्धान्त को एक विदेशी आक्रामक के विरुद्ध भी प्रयुक्त किये जाने की नीति का विरोध किया। इस पर गांधी जी ने कांग्रेस के नेतृत्व से त्यागपत्र दे दिया। कांग्रेस ने सत्याग्रह आन्दोलन को स्थगित करने की घोषणा कर दी और कांग्रेस कार्यकर्ताओ से यह मॉग की कि जनता को युद्ध के खतरे मे चिंतित न होने दे और देशवासियो को अपने आप अपने देश की रक्षा करने को प्रोत्साहित करे।

लीग का रुख—जैसी कि आशा की जाती थी, युद्ध प्रारम्भ होने पर जब कांग्रेस मन्त्रि-मण्डलो ने त्याग-पत्र दिये तो लीग की मन्त्रिमण्डल मनाने की पेशकशे सफल न होने पर जिन्ना ने निरन्तर कांग्रेस तथा ब्रिटिश शासको के मध्य सघर्ष का लाभ उठाने का प्रयास किया और वे मुसलमानो तथा ब्रिटिश सरकार के मध्य अधिक मैत्री स्थापित करने के प्रयासो मे लगे रहे। भारत की वास्तविक स्थितियो के सम्पर्क मे रहने के कारण वाइसराय यहाँ के अन्य मुस्लिम नेताओ के विचारो से परिचित था। जिन्ना की लीग के साथ बगाल, पजाब, सिध तथा प० सीमा प्रान्त के मुख्य मन्त्री सहमत नही थे। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा सरकार के भावी सांविधानिक गतिरोध को दूर करने के प्रयासो मे भी सहमत थे। परन्तु ब्रिटेन स्थित भारत मन्त्री जिन्ना की जिद को ही हिन्दू-मुस्लिम समस्या का बहाना बनाये रखकर भारत की मॉगो को टालना चाहते थे। अगस्त 1940 के प्रस्ताव के अन्तर्गत जब वाइसराय की कार्यकारिणी का विस्तार किया गया तो कांग्रेस ने पद स्वीकार नहीं किये। वह पूर्ण उत्तरदायी शासक की मॉग कर रही थी। मुस्लिम लीग इसलिए शामिल नहीं हुई कि वह कार्यकारिणी मे भारतीय सदस्यो की सख्या मे लीग का गैर-मुस्लिम सदस्यो के साथ समान प्रतिनिधित्व चाहती थी। राष्ट्रीय सुरक्षा-परिषद् मे जब बगाल व पजाब के मुसलमान मुख्य मन्त्री शामिल हुए तो जिन्ना उनके विरुद्ध इसलिए बौखलाये कि वे जिन्ना की अनुमति लिए बिना क्यो शामिल हो गये। सक्षेप मे, भले ही जिन्ना अपने को समस्त भारतीय मुसलमानो के हितो का सरक्षक, प्रवक्ता तथा प्रतिनिधि मानते रहे और ब्रिटिश साम्राज्यवादी उनके इस दावे को न केवल स्वीकार करते रहे, अपितु तदनुसार कांग्रेस की स्वतन्त्रता की मॉग को ठुकराने के निमित्त उसे ताश की तुरुपचाल बनाते रहे, तथापि जिन्ना का यह दावा भ्रामक तथा झूठा था। परन्तु ब्रिटिश अधिकारी तो अपने साम्राज्यवादी हितो को बनाये रखने मे पूर्णत मैकियाविलीवाद का अवलम्बन कर रहे थे। उनकी इस नीति के कारण जहाँ एक ओर 1940 मे युद्ध की प्रगति को देखते हुए कांग्रेसी नेता धुरी राष्ट्रो के विरुद्ध लोकतन्त्री मित्र-राष्ट्रो तथा भारत की रक्षा के लिए आतुर होकर ब्रिटिश सरकार से भारत की स्वायत्त शासन की मॉग मनवाने तथा उसको हर प्रकार से युद्ध मे सहायता देना चाहते थे, वहाँ लीग के नेता जिन्ना के लिए ये सब बाते गौण थी। वे परिस्थितियो का लाभ उठाकर पाकिस्तान की माँग को पुष्ट करने की सौदेबाजी मे लगे थे। 1940 मे तो पाकिस्तान का विचार स्पष्टतया सामने आ गया था।

क्रिप्स प्रस्ताव 1942

परिस्थितियाँ—1941 के अन्त तक महायुद्ध की स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो चुकी थी। जापान ने पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशो मे आतक फैला दिया था। बर्मा मे उसका प्रवेश निश्चित था। भारत की सुरक्षा को गम्भीर खतरा आ चुका था। अत अब इग्लैण्ड को भारत के सहयोग की सबसे बडी आवश्यकता थी। सर स्टैफोर्ड क्रिप्स इग्लैण्ड के एक उच्च कोटि के कूटनीतिज्ञ थे। उनके प्रयासो से रूस जर्मनी के विरुद्ध मित्र-राष्ट्रो की ओर से युद्ध मे शामिल हो गया था। क्रिप्स पहले भी भारत मे रह चुके थे और उनके यहाँ के कुछ प्रमुख राष्ट्रीय नेताओ, नेहरू आदि, के साथ अच्छे सम्बन्ध थे। उस समय वे इग्लैण्ड के युद्ध मन्त्रिमण्डल के सदस्य थे। जापान के युद्ध प्रवेश ने भारत की प्रतिरक्षा को भीषण खतरा उत्पन्न कर दिया था। अत 1942

क प्रारम्भ म ब्रिटन की सरकार न क्रिप्स का भारतीय सांविधानिक गतिरोध को दूर करन क निमित्त कुछ प्रस्ताव लकर समझौता वार्ता क हतु भारत म भेजन की घोषणा की। जिन प्रस्तावो को क्रिप्स न रखा उन्ह राष्ट्रीय आन्दोलन एव सांविधानिक विकास क इतिहास म क्रिप्स योजना क नाम स जाना जाता है।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास इस तथ्य का द्योतक है कि अग्रज किसी कीमत पर भारत को स्वतन्त्रता या स्वायत्त शासन दन क पक्ष म नहा रह। युद्धकालीन सकट तक म व राष्ट्रीय नताओ क एकत्रित सहयोग क समक्ष नहीं झुक थ। जब भी उन्होन कोई नयी योजना बनायी उसक पीछ ऐसी शर्तें जोड दी जो कभी पूर्ण नहीं हो सकती थी। इसम स साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन दन क लिए उन्ह मुस्लिम लीग तथा अन्य प्रतिक्रियावादी तत्वो का सहयोग मिलता रहा। सकट की इस घडी तक म अग्रजो न इन साधनो का यथाशक्ति उपयोग किया और राष्ट्रवादी तत्त्वो की उपेक्षा की।

क्रिप्स मिशन भजन का प्रमुख कारण यही था कि क्रिप्स किसी न किसी रूप म राष्ट्रीय नताओ को अपनी योजना म सम्मत करन म सफल हो जायग। इस प्रकार राष्ट्रीय नेताओ की देश की प्रतिरक्षा व्यवस्था म असहयोगी प्रवृत्ति दब जायगी। परन्तु कुछ अन्य कारण भी थ जिनक कारण ब्रिटिश सरकार को इस योजना क लिए विवश होना पडा। दिसम्बर 1941 म स्वय काग्रस न एक प्रस्ताव पारित करक दश की रक्षा क निमित्त सरकार क साथ सगत सहयोग की इच्छा प्रकट की थी। अब यह सरकार क हित म था कि वह उस शर्त को स्वीकार कर। तजबहादुर सप्रू न चर्चिल को तार भजकर कुछ मांग तुरत स्वीकार करन की माग की थी। फरवरी 1942 म राष्ट्रवादी चीन क राष्ट्रपति च्याग काई शक भारत पधार थ। उन्होन ब्रिटिश सरकार को सलाह दी थी कि दक्षिण पूर्वी एशिया म जापान क बढत हुए आक्रमण को भारत म न बढन दन क लिए यह आवश्यक है कि ब्रिटिश सरकार भारतीय स्वाधीनता की मांग को स्वीकार कर। भारतवासी ही भारत की रक्षा उचित प्रकार स कर सकेंग। अमरीका क तत्कालीन राष्ट्रपति रूजवल्ट भी ब्रिटन पर भारत को स्वतन्त्रता दन क बार म दबाव डाल रह थ। उन्होन ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चर्चिल क इस वक्तव्य क विरुद्ध कि एटलाण्टिक चार्टर भारत क लिए लागू नहीं होगा वक्तव्य दिया कि यह चार्टर समूच दुनिया क लिए लागू होगा जिसम भारत तथा बर्मा भी शामिल है। आश्चर्य की बात यह है कि चर्चिल न अमरीकावासियो तक को गलत सूचना दकर गुमराह किया। उन्होन बताया कि भारतीय सना म 75 मुसलमान है जो अग्रजो का सहयोग द रह हैं। शष म स कवल 12 काग्रस क प्रभाव म लाग। वास्तविकता यह थी कि कवल 35 सना मुसलमानो की थी। सना पर काग्रस या लीग क प्रभाव की बात करना असगतिपूर्ण था। परन्तु चर्चिल उसी पुरान राग (हिन्दू मुस्लिम अलगाव) को अलाप रह थ ताकि स्वतन्त्रता दन की बात को टाला जा सक। ऐसा भी अनुमान लगाया जाता है कि मित्र राष्ट्रो की ओर स युद्ध म प्रविष्ट होन पर रूस न भी भारत की स्वतन्त्रता क बार म इग्लण्ड पर दबाव डाला होगा। आस्ट्रेलिया भी ऐसा दबाव डाल रहा था। इस प्रकार ब्रिटन क ऊपर भारतीय स्वतन्त्रता की मांग की सहानुभूति म बढत हुए अन्तर्राष्ट्रीय दबाव पड रहा था जिसकी अवहेलना करन का साहस इग्लण्ड का नहीं था क्योकि द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि म इग्लण्ड अपनी पूर्व की स्थिति स पर्याप्त निर्बल हो चुका था। स्वय प्रधानमन्त्री चर्चिल न स्वीकार किया था कि भारत की प्रतिरक्षा क लिए इग्लण्ड क स्वय क साधन अपर्याप्त है। दूसरी ओर भारतीय सनिक जो दक्षिण पूर्व एशिया म जापानी सनाओ क अधीन हो चुक थ आजाद हिन्द फौज म सगठित किय जा चुक थ। इनका उद्देश्य जापान की सहायता स भारत को ब्रिटिश साम्राज्य स मुक्त कराना था। ऐसी स्थिति म इग्लण्ड को विवश होकर क्रिप्स मिशन को विचार विनिमय क हतु भारत भजन का प्रस्ताव करना पडा ताकि वह भारत म सहानुभूति रखन वाल मित्र राष्ट्रो को शान्त कर सक और भारत क नताओ का ध्यान बटा दन म समर्थ हो सक।

क्या क्रिप्स मिशन की योजना एक ईमानदार कदम थी ?—इग्लैण्ड के टोरी नेता किसी भी रूप मे युद्ध की तीव्रता की अवधि मे भारत की स्वतन्त्रता या भारत के नेताओ द्वारा ब्रिटिश सरकार से भारत के सदर्भ मे युद्ध के उद्देश्यो को घोषित करने के प्रश्न को नही उभारना चाहते थे। परन्तु मित्र-राष्ट्रो तथा स्वय इग्लैण्ड के तत्कालीन सम्मिलित मन्त्रिमण्डल मे उप-प्रधानमन्त्री ऐटली एव भारत तथा इग्लैण्ड मे जनमत के ऐसे दबाव को टालना भी टोरी नेताओ के लिए सम्भव नही रह गया था। अत प्रधानमन्त्री चर्चिल ने भारत मन्त्री ऐमरी तथा भारत के वाइसराय लार्ड लिनलिथगो से परामर्श करके युद्धोत्तर काल मे तथा तत्काल भारतीय समस्या के सम्बन्ध मे एक घोषणा का मसविदा बनाया। परन्तु इसे घोषित करने से पूर्व यह निश्चय किया गया कि पहले केबिनेट के एक मन्त्री को इसके सम्बन्ध मे भारतीय नेताओ के साथ विचार-विनिमय के लिए भारत भेजा जाय। वस्तुत घोषणा की रूपरेखा 8 अगस्त 1940 के प्रस्ताव से अधिक कुछ नही थी जिसे काग्रेस अस्वीकार कर चुकी थी। वाइसराय ने पुन मुस्लिम अल्पसख्यको की समस्या को तूल देकर घोषणा के सम्बन्ध मे चेतावनी देते हुए अपने त्याग-पत्र की धमकी तक दे दी थी। क्रिप्स को भारत भेजने के निर्णय की पूर्व सूचना भी उसे नही दी गयी थी। इसलिए भी वह असन्तुष्ट था। भारत मे घोषणा के सम्बन्ध मे क्रिप्स के अधिकार-क्षेत्र को भी अस्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया था। क्रिप्स के एक जीवनी लेखक के अनुसार 'वह किसी समझौते की शर्तो के बारे मे समझौता वार्ता करने के लिए एक शक्ति-सम्पन्न प्रतिनिधि के रूप मे नही गया था, वरन् वह एक ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के मन्त्री के रूप मे नीति-सम्बन्धी एक ऐसे वक्तव्य की शर्तो को समझाने तथा स्पष्ट करने के लिए गया था जिनमे कोई परिवर्तन नही हो सकता था।'[1] क्रिप्स का निष्कर्ष था कि वह आवश्यकतानुसार घोषणा की शर्तो पर समझौता वार्ता के मध्य आवश्यक परिवर्तन कर सकता था। मिशन के वाइसराय के साथ सम्बन्ध भी स्पष्ट नही थे। साधारणतया उसे वाइसराय के साथ सहयोग करके अपना कार्य करने के निर्देश दिये गये थे। परन्तु वाइसराय तथा मिशन के सदस्य के मध्य पर्याप्त मतभेद थे। वस्तु-स्थिति यह थी कि प्रधानमन्त्री तथा भारत मन्त्री वाइसराय पर अधिक विश्वास रखते थे। दूसरी ओर मिशन का सदस्य इन तीनो से पृथक् दृष्टिकोण रखता था। वह सचमुच भारतीय समस्या का एक विवेकपूर्ण तथा व्यावहारिक समाधान ढूँढना चाहता था, जबकि प्रधानमन्त्री तथा कम्पनी इसे टालना चाहते थे। अतएव स्पष्टत क्रिप्स मिशन से कोई सफल आशा नही की जा सकती थी। यह तो केवल मित्र-राष्ट्रो के दबाव तथा भारतीय जनमत को भूल-भुलैया मे डालने का एक गैर-ईमानदार षड्यन्त्र मात्र था।

क्रिप्स प्रस्ताव—23 मार्च 1942 को क्रिप्स भारत पहुँचे। भारतीय नेता उनसे बहुत आशाएँ लगाये बैठे थे, क्योंकि एक तो उन्हे भारत के साथ सहानुभूति रखने वाला व्यक्ति समझा जाता था और दूसरे वे समाजवादी विचारो वाले व्यक्ति थे। भारत पहुँचते ही उन्होने गवर्नर-जनरल की कार्यकारी परिषद् के सदस्यो से वार्ता प्रारम्भ की। उसके बाद वे भारतीय नेताओ से मिले। वार्ता के पश्चात् जो प्रस्ताव उन्हे ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल द्वारा दिए गये थे उन्हे उन्होने भारत के नेताओ के समक्ष रखा इन्हे दो भागो मे रखा जा सकता है।

(क) दीर्घकालीन—(1) ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य भारत को यथाशीघ्र स्वायत्त शासन प्रदान करना है।

(2) इस उद्देश्य की उपलब्धि के निमित्त ब्रिटिश सरकार भारत को राष्ट्रमण्डल के अन्तर्गत एक प्रभुत्व सम्पन्न सघ-राज्य के रूप मे सगठित करना चाहती है।

(3) युद्ध समाप्ति के तुरन्त पश्चात् एक सविधान सभा का निर्माण किया जायेगा जो भारत के लिए नया सविधान तैयार करेगी। इस सभा का निर्माण करने से पूर्व प्रान्तीय

[1] Colincooke, *The Life of Richard Stafford Cripps*, quoted in Tara Chand, *op cit*,

भारतीय मन्त्रियो के हाथ मे दिया जाय और उनके सम्बन्ध मे गवर्नर-जनरल की स्थिति वैधानिक प्रधान की सी रहे, परन्तु बाद मे तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चर्चिल के निदेशन पर क्रिप्स इसके लिए भी राजी नही हुए।

अन्तरिमकालीन योजना के सम्बन्ध में जो बाते भ्रामक थीं उनमे से एक तो यह थी कि वाइसराय की कार्यकारिणी परिषद् का भारतीयकरण किये जाने पर वाइसराय की स्थिति क्या होगी। काग्रेस अध्यक्ष के साथ बाते करते हुए क्रिप्स ने बताया कि वाइसराय इग्लैण्ड के राजा की भाँति वैधानिक प्रधान रहेगा। यद्यपि यह धारणा अभिसमय पर ही आधारित होती क्योकि 1935 के कानून मे सशोधन किये बिना इसके व्यवहार मे आ सकने की कोई आशा नही थी, तथापि स्वय वाइसराय क्रिप्स की ऐसी धारणा से रुष्ट हो गया। दूसरी समस्या वाइसराय की कार्यकारी परिषद् को 'राष्ट्रीय सरकार' का नाम देने की थी। प्रस्ताव मे ऐसी किसी पदावली का प्रयोग नही था। क्रिप्स द्वारा इस पदावली का प्रयोग किया जाना भी टोरी नेताओ को अच्छा नही लगा। परन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न प्रतिरक्षा-मन्त्री के सम्बन्ध मे था। मूल प्रस्ताव मे यही बात थी कि युद्ध काल मे प्रतिरक्षा-मन्त्री प्रधान सेनापति ही रहेगा। काग्रेस की धारणा यह थी कि जब सम्पूर्ण शासन पर राष्ट्रीय नियन्त्रण की बात मानी जाती है, तो प्रतिरक्षा का दायित्व प्रधान सेनापति के माध्यम से ब्रिटिश सरकार के हाथो मे रखना एक असगति ही होगा। काग्रेस इसके लिए तो राजी थी कि सरकार मे प्रधान सेनापति एक सदस्य के रूप मे रहे क्योकि युद्ध-काल मे वह एक अपरिहार्य आवश्यकता थी। परन्तु उसका दायित्व युद्ध के कार्य-कलापो के सचालन तक ही सीमित रहना चाहिए। जब देश को युद्ध अपनी रक्षा के लिए लडना है तो युद्ध से सम्बद्ध अन्य कई बाते ऐसी होती है जिनके सम्बन्ध मे प्रतिरक्षा-मन्त्री अधिक प्रभावशाली ढग से निर्णय ले सकता है। जनता मे मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालना, युद्ध के बारे मे राजनीतिक निर्णय आदि के लिए प्रतिरक्षा-मन्त्री भी भारतीय को होना चाहिए। परन्तु वाइसराय इसके लिए सहमत नही था। इग्लैण्ड स्थित मन्त्रिमण्डल से इस सम्बन्ध मे क्रिप्स ने परामर्श किया तो वहाँ से स्पष्टतया ऐसी माँग का विरोध किया गया। वाइसराय की कार्यकारिणी के अन्य अग्रेज सदस्य भी कार्यकारिणी के भारतीयकरण से रुष्ट थे। वाइसराय यह कभी नही चाहता था कि 1935 के द्वारा दी गयी उसकी शक्तियो को कम करके उसे केवल वैधानिक प्रधान बनाया जाय।

अत जैसा पहले कहा जा चुका है, क्रिप्स मिशन केवल एक भ्रम जाल था। ब्रिटिश शासक भारत सरकार के सचालन का दायित्व जरा भर भी भारतीयो को देना नही चाहते थे। अत क्रिप्स के ईमानदार प्रयासो के बावजूद पग-पग पर उसकी समझौता-वार्ताओ मे वाइसराय उसके अग्रेज पार्षद, लीग, नरेश और सबसे ऊपर चर्चिल तथा ऐमरी रोडे अटकाते रहे। यहाँ तक की उस समय अमरीकी प्रतिनिधि लुई जानसन भारत मे आया था। क्रिप्स ने अपनी व्यक्तिगत क्षमता मे समस्या के समाधान के लिए उससे परामर्श किया। जो सूत्र दोनो ने निकाला वह भी ब्रिटिश प्रधानमन्त्री को अमान्य ही सिद्ध हुआ। इसके अनुसार प्रतिरक्षा-मन्त्री एक भारतीय को बनाने की बात थी जो प्रधान सेनापति को युद्ध-सचालन की शक्तियाँ प्रत्यायोजित करता। क्रिप्स इन सबसे इतना परेशान हो गये कि एक बार तो उन्होने मिशन से त्याग-पत्र देने का ही निर्णय कर लिया था। परन्तु चूँकि वे भी ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सदस्य थे, अत उन्होने ऐसा करने का साहस नही किया। अन्तत उन्हे निराशा का ही सामना करना पडा। ब्रिटिश सरकार न तो 1935 के कानून को इस दिशा मे सशोधित करना चाहती थी और न इस कानून मे दिये गये अपने दायित्वो को छोडकर भारतीयो को सौपना चाहती थी। अत युद्ध-काल मे भारत मे राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की यह वार्ता असफल ही सिद्ध हो सकती थी।[1]

[1] Tara Chand, *op cit* 394

योजना की विफलता—क्रिप्स योजना का उद्देश्य भारतीय राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक वर्ग को संतुष्ट करना था और प्रस्तावों में ऐसी बात स्पष्ट थी। कांग्रेस को यह सन्तोष दिया गया कि भारत का भावी संविधान स्वयं भारत की प्रतिनिध्यात्मक संविधान सभा बनायेगी और भारत राज्य का भावी स्वरूप संघात्मक होगा। मुस्लिम लीग को यह सन्तोष दिया गया कि मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्त संविधान निर्माण के पश्चात् भी भारतीय संघ में पृथक् स्वतन्त्र राज्य बना सकेंगे अर्थात् परोक्ष रूप से पाकिस्तान की माँग स्वीकार कर ली गयी थी। अन्य अल्पसंख्यकों को यह सन्तोष दिया गया था कि उनके हितों का संरक्षण करने के लिए ब्रिटिश सरकार संविधान सभा के साथ एक सन्धि करेगी। देशी नरेशों को यह सन्तोष था कि वे संविधान निर्माण में अपने नामांकित प्रतिनिधियों को भेज सकें और संविधान बन जाने पर उन्हें उसे स्वीकार या अस्वीकार करने तथा संघ में शामिल होने या न होने का भी अधिकार प्राप्त रहेगा। परन्तु किसी भी दल ने इन्हें स्वीकार नहीं किया। कांग्रेस दीर्घकालीन व्यवस्था से तो असन्तुष्ट थी ही क्योंकि उसमें देश विभाजन की स्पष्ट उक्ति थी परन्तु कांग्रेस को अंतरिम-कालीन व्यवस्था को उपेक्षित रखने से भी असन्तोष था। मुस्लिम लीग की यह माँग थी कि संघ में शामिल होने या न होने के सम्बन्ध में जो जनमत संग्रह किया जाय उसमें केवल मुसलमानों को ही मतदान करने का अधिकार होना चाहिए। सिक्ख इसलिए राजी नहीं थे कि इस योजना के आधार पर पंजाब या तो मुसलमानों के राज्य में मिलेगा या उसका विभाजन हो जायगा। सिक्ख इससे बचने के लिए प्राण पण से तैयार थे। हिन्दू महासभा ने इसलिए इसे अस्वीकार किया कि यह पाकिस्तान की माँग को स्वीकार करने की योजना थी।[1] इस प्रकार यद्यपि क्रिप्स योजना सबको सन्तुष्ट करने का उद्देश्य रखती थी तथापि वह किसी को भी सन्तुष्ट नहीं कर सकी। लीग अवश्य इससे काफी सन्तुष्ट थी। परन्तु लाभ का अधिक भाग तो केवल अंग्रेजों का ही था।

अन्ततः 11 अप्रैल 1942 को इन प्रस्तावों को वापस ले लिया गया। ब्रिटिश सरकार भारतीय राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की माँग को किसी भी कीमत पर स्वीकार करने को राजी नहीं थी। उसका उद्देश्य भारतीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दबावों को सन्तोष दे देना मात्र था ताकि वह युद्ध प्रयासों में उनके विरोध से बची रह सके। क्रिप्स योजना की विफलता का दोष कांग्रेस के ऊपर मढ़कर ब्रिटिश शासकों ने उनके समक्ष यही प्रचार कर दिया।

भारत छोड़ो आन्दोलन

क्रिप्स मिशन की विफलता का प्रभाव—जब अप्रैल 1942 में क्रिप्स प्रस्ताव वापिस ले लिए गये तो भारतीय नेताओं में घोर निराशा फैल गयी। देश को विदेशी आक्रमण से बचाना था। इस कार्य के लिए न तो ब्रिटिश सरकार स्वयं में सक्षम थी और न वह भारतवासियों से सहयोग कर रही थी। उसकी हठधर्मिता चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। भारतीय स्वतन्त्रता की माँगों के प्रति उसकी टालमटोल की नीति स्पष्ट हो चुकी थी। क्रिप्स प्रस्तावों में यह स्पष्ट हो गया था कि अंग्रेज लोग भारत को कई राष्ट्रीय इकाइयों में बाँट देना चाहते हैं और उनके मध्य पारस्परिक मतभेदों को उभारकर अनिश्चित काल तक देश में अपनी साम्राज्यशाही कायम रखना चाहते हैं। वायसराय इरविन ने स्पष्ट कह दिया था कि भारत में स्वायत्त शासन तथा भारतीय एकता में कोई संगति नहीं है। इंग्लैण्ड में इरविन ने भारत में जाते समय कहा था कि भारत को अगले 50 वर्ष तक स्वतन्त्र होने की आशा नहीं करनी चाहिए।

गांधी जी तथा कांग्रेस के नेताओं के इन विचारों को इसलिए भी अधिक बल मिला कि भारत से इंग्लैण्ड चले जाने के पश्चात् क्रिप्स ने इंग्लैण्ड में विशेष रूप से संसद में भारत की समस्या के बारे में अपने मिशन की असफलता के बारे में तथ्यों को तोड़ मरोड़ कर जो झूठे बयान

[1] P S t m yya op cit 33

दिये और सारा दोष गाधी जी तथा काग्रेस के ऊपर मढ दिया, ये बाते किसी भी देशभक्त तथा आत्म-सम्मान रखने वाले व्यक्ति को सहन नही हो सकती थीं। आश्चर्य की बात तो यह थी कि जो क्रिप्स भारत रहते हुए वाइसराय तथा ब्रिटेन स्थित युद्ध-मन्त्रिमण्डल की इच्छाओ के विरुद्ध भारतीय नेताओ से समझौता वार्ताओ मे बहुत अधिक मात्रा मे भारत की माँगो को मानने लगे थे और टोरी नेताओ के व्यवहार से झल्ला तक उठे। वही क्रिप्स इग्लैण्ड जाकर फिर उन्ही टोरी नेताओ के शब्दो मे गाधी जी तथा काग्रेस की तीव्र भर्त्सना करने लगे थे। वास्तविकता यह थी कि काग्रेस क्रिप्स योजना के सदर्भ मे न तो मुस्लिम जनता के ऊपर अपनी सत्ता थोपना चाहती थी और न ही वह प्रस्तावित योजना मे किसी जनसमूह को उसकी इच्छा के विरुद्ध भारतीय सघ मे बलपूर्वक मिलाना चाहती थी जैसा कि 10 अप्रैल के उसके प्रस्ताव से स्पष्ट था। डा० सीतारामैया ने गाधी जी के विचारो को उद्धृत करते हुए लिखा है कि गाधी जी ने यहाँ तक घोषित किया था कि यदि अग्रेज भारत की शासन-सत्ता सम्पूर्ण भारत की सत्ता के नाम पर मुस्लिम लीग को सौप दे जिसमे कि तथाकथित भारतीय भारत शामिल है तो उन्हे कोई आपत्ति नही होगी। ऐसा हो जाने पर भारत की स्वतन्त्र सरकार के रूप मे लीग के साथ काग्रेस हर प्रकार से सहयोग करेगी। गाधी जी को क्रिप्स प्रस्तावो से जरा भर भी सन्तोष नही था। वे वास्तव मे क्रिप्स के साथ वार्ता करने को राजी ही नही थे। परन्तु भारतीय नेताओ के आग्रह पर जब वे प्रथम बार क्रिप्स से मिले और क्रिप्स ने उन्हे अपने प्रस्तावो का प्रारूप दिखाया तो उन्होने तुरन्त उन्हे अस्वीकार कर दिया। उसके बाद वे फिर क्रिप्स मिशन से कभी नही मिले। अन्य नेता ही उससे बाते करते रहे। गाधी जी ने स्पष्ट कर दिया था कि जो अग्रेज हिटलर, मुसोलिनी या तोजो को साम्राज्यवादी कहकर दोष देते है वे स्वय उनसे भी निकृष्ट रूप के साम्राज्यवादी है। क्रिप्स तथा ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासक गाधी जी के इन विचारो से रुष्ट हो गये थे और झूठ-मूठ ढग से तोड-मरोड कर उन्होने मित्र-राष्ट्रो विशेषत अमरीका को सन्तोष दिलाने के लिए उल्टा प्रचार प्रारम्भ किया। गाधी जी ने कहा कि 'आज जिस बनावटी आलोचना को मै देख रहा हूँ वह पूर्णत मूर्खता से भरा है, इसका उद्देश्य मुझे डराना तथा काग्रेस की निन्दा करना मात्र है। यह एक ऐसा झूठा खेल है कि वे यह भूल जाते है कि इसके कारण मेरे हृदय मे कैसी आग लग रही है।

क्रिप्स के चले जाने पर उसके मिशन की असफलता तथा युद्ध की प्रगति एव मिशन की प्रतिक्रिया आदि ने भारतीय राजनीति के वातावरण को अत्यन्त अन्धकारमय तथा अनिश्चित बना दिया था। गाधी जी ने इस सारी स्थिति पर गम्भीरतम विचार करना प्रारम्भ किया। साथ ही काग्रेस का सम्पूर्ण नेतृत्व भी भावी कार्यक्रम के बारे मे अनिश्चितता की स्थिति मे था। काग्रेस क्रिप्स प्रस्तावो को तो अमान्य कर ही चुकी थी। 29 अप्रैल से 1 मई 1942 तक अखिल भारतीय काग्रेस समिति की बैठक इलाहाबाद मे हुई। उसने कार्य समिति के उक्त निर्णय को स्वीकार किया और यह प्रस्ताव किया कि भारत के ऊपर धुरी शक्तियो (जापान) के आक्रमण की स्थिति मे काग्रेस आक्रमणकारी के साथ अहिंसात्मक असहयोग करेगी। गाधी जी इस बैठक मे नही गये थे, परन्तु उन्होने अपने कुछ विचार इसके समक्ष भेजे थे। उनके मत से स्वय ब्रिटेन साम्राज्यवाद का मित्र है जिसने भारत को बलपूर्वक दबा रखा है, अत ब्रिटेन तथा उसके मित्रो का युद्ध मे कोई नैतिक आधार नही है। अत ब्रिटेन को भारत मे अपनी सत्ता छोड देनी चाहिए। राजगोपालाचारी ने यह मत व्यक्त किया था कि तत्कालीन परिस्थितियो के सदर्भ मे मुस्लिम लीग की मागो को स्वीकार कर लेना व्यावहारिक होगा। काग्रेस ने अपने पूर्व सिद्धान्तो के अन्तर्गत इसे नही माना। अत राजगोपालाचारी ने कार्य समिति से त्याग-पत्र दे दिया। उन्होने अखिल भारतीय काग्रेस समिति मे बताया कि जब काग्रेस विभिन्न प्रान्तो के सघ मे प्रवेश के निमित्त आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को मान चुकी है तो लीग की पाकिस्तान की माग को ठुकराना अव्यावहारिक होगा। वस्तुत तार्किक दृष्टि से राजा जी सही कहते थे, परन्तु भावात्मक दृष्टि से काग्रेस भारत की एकता के हित मे इसे अनुचित समझती थी। दुर्भाग्य से काग्रेस के तत्कालीन परिस्थितियो के सदर्भ

म देश के किसी भाग की जनता को इस स्वतन्त्रता का उपभोग कर लिया कि वह भारत में अलग रह सकेगी ।

अब समस्या यह थी कि इन प्रस्तावों के सम्बन्ध में क्या कार्यक्रम अपनाया जाय । काग्रेस ने इसका समाधान गांधी जी पर छोड़ दिया । गांधी जी ने यह निष्कर्ष निकाला कि भारत की प्रतिरक्षा तथा ब्रिटेन की सुरक्षा इसी बात पर निर्भर करती है कि अंग्रेज लोग तुरन्त भारत से अपनी सत्ता हटा लें । उनका मत था कि आक्रमणकारी जापान का उद्देश्य भारत पर आक्रमण करना है बल्कि ब्रिटिश साम्राज्य के ऊपर आक्रमण करना है । गांधी जी यह भी नहीं चाहते थे कि जापान की मदद से अंग्रेजों को भारत से निकाला जाय क्योंकि जापान के इरादों के बारे में भी गांधी जी शंकालु थे । उन्हें यह भी चिन्ता नहीं थी कि अंग्रेज सत्ता किसे सौंपें । अतः उन्होंने कह दिया कि वे भगवान के हाथ में सत्ता सौंप भारत से चले जायें । गांधी जी को अराजकता की स्थिति हो जाने की भी चिन्ता नहीं थी । उनका मत था कि दासता की स्थिति से तो अराजकता की स्थिति श्रेयस्कर है । युद्ध के परिणामों के बारे उनका कहना था कि ब्रिटेन जीते या न जीते साम्राज्यवाद का नष्ट हो जाना निश्चित है । अंग्रेजों ने शक्ति के बल पर भारत में साम्राज्य कायम किया है अतः भारत में उनकी सत्ता बने रहना या भारत की रक्षा के दायित्व को अंग्रेजों के लोग अपने हाथ में लेने का उनका कोई न्यायपूर्ण या नैतिक दावा नहीं हो सकता । गांधी जी ने समस्त पहलुओं पर विचार करके भारत छोड़ो आन्दोलन के कार्यक्रम का निर्णय लिया । उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि भारत छोड़ो का अभिप्राय यह नहीं है कि व्यक्तिगत रूप से अंग्रेज लोग भारतभूमि से चले जायें । इसका अर्थ यही था कि अंग्रेज भारत के ऊपर अपनी शासन सत्ता को छोड़ दें । उन्होंने चीन के राष्ट्रपति च्यांग काई शेक तथा अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट को भी अपना उद्देश्य स्पष्ट कर दिया था । वे यह भी नहीं चाहते थे कि भारत से जापानी आक्रमणकारियों को रोकने वाली मित्र राष्ट्रों की सेनायें चली जायें । उनकी धारणा यह थी कि जब भारत में अंग्रेज सत्ता हट जायगी और भारत स्वतन्त्र हो जायगा तो भारतवासी मित्र राष्ट्रों की सेना को और अधिक सशक्त बनाने में योगदान करेंगे ।

14 जुलाई 1942 को कांग्रेस कार्य समिति ने इस प्रस्ताव पर विचार किया और इसे स्वीकृति दे दी । 7 अगस्त 1942 को अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बम्बई में इस पर विचार करने को बुलाई गयी ।

भारत छोड़ो प्रस्ताव—कांग्रेस महासमिति के उक्त प्रस्ताव के अनुसार यह घोषणा की गयी थी कि भारत एवं संयुक्त राष्ट्रों के हित में अंग्रेजों का भारत में राजनीतिक सत्ता का परित्याग सबसे प्रथम आवश्यकता है । वर्तमान राजनीतिक गतिरोध को दूर करने तथा महायुद्ध में विदेशी आक्रमण से भारत की रक्षा करने का एकमात्र उपाय यही है कि भारत से ब्रिटिश सत्ता हट जाय । तभी भारतवासी आत्म विश्वास तथा आत्म-सम्मान की भावना से प्रेरित होकर अपनी समस्याओं का स्वयं हल करेंगे । भविष्य के सम्बन्ध में कुछ प्रतिज्ञायें कर लेने मात्र से समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता । ब्रिटिश साम्राज्यवाद भारत के लिए एक भार एवं अभिशाप है ।

इसी प्रस्ताव में आगे कहा गया था कि अंग्रेजों के भारत छोड़ देने के पश्चात् तुरन्त एक अन्तरिम सरकार की स्थापना कर ली जायगी जिसमें भारतीय राष्ट्रीयता के सब प्रमुख तत्वों का प्रतिनिधित्व होगा और वह सरकार समस्त राष्ट्रों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करेगी । कालान्तर में वह सरकार संविधान सभा की स्थापना करके भारत के भावी संविधान का निर्माण करा देगी । इसके अनुसार भारत एक ऐसा संघ होगा जिसमें घटकों को अधिकाधिक स्वायत्तता प्राप्त होगी और अवशिष्ट शक्तियाँ उन्हीं को प्राप्त रहेंगी ।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पुनः जनता का आह्वान किया गया कि वह अपने स्वतन्त्रता तथा स्वायत्तता के अधिकार की प्राप्ति के लिए अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ करे । कांग्रेस ने पुनः गांधी जी को नए आन्दोलन का निर्देशन करने तथा राष्ट्र का मार्गदर्शन करने को

अधिकार दे दिया। यद्यपि गाधी जी ने 'भारत छोडो' आन्दोलन को प्रारम्भ करने मे जनता से 'करो या मरो' की भावना से कार्य करने की प्रेरणा दी थी, तथापि गाधी जी तथा काग्रेस दोनो ने यह चेतावनी दी कि आन्दोलन मे हिसा की भावना कदापि नही आनी चाहिए। 'भारत छोडो' आन्दोलन का उद्देश्य अग्रेजो को भारत से निकाल बाहर करना नही था, बल्कि अग्रेजो को भारतीय स्वतन्त्रता की तुरन्त घोषणा कर देने के लिए विवश करना था।

आन्दोलन का आरम्भ तथा सरकार द्वारा दमन—वास्तव मे 'भारत छोडो' आन्दोलन काग्रेस महासमिति के प्रस्ताव तक ही सीमित रहा। चूँकि यह आन्दोलन आम जनता के आन्दोलन के रूप मे सविनय अवज्ञा आन्दोलन के रूप का होता और यदि यह अपने मूल प्रवर्तक गाधी जी के निदेशन मे सचालित होता तो इसका रूप कुछ और होता। परन्तु जिस रूप मे यह आन्दोलन एक क्रान्तिकारी सघर्ष के रूप मे परिणत हो गया उसका दायित्व पूर्णतया तत्कालीन ब्रिटिश सरकार पर था। निम्सन्देह यह आन्दोलन जितना उग्र तथा हिसात्मक हुआ उसके लिए सरकार उत्तरदायी थी अथवा यह कहना असगत न होगा कि स्वय सरकार ने उसे हिसात्मक बना दिया।

महासमिति की 7 अगस्त 1942 की बैठक से पूर्व ही सरकार सजग हो चुकी थी। 17 जुलाई 1942 को भारत सरकार के सूचना महानिदेशक ने सभी प्रान्तीय सरकारो को एक गश्ती पत्र भेजकर काग्रेस के विरुद्ध प्रचार करने का आदेश दे दिया था और भारत सरकार ने 8 अगस्त तक विविध आदेशो के द्वारा प्रान्तीय सरकारो को सम्भावित आन्दोलन को कुचल देने की सभी तैयारियाँ करने के लिए सजग कर दिया था। 7 अगस्त के महासमिति के प्रस्ताव मे आन्दोलन के कार्यक्रम पर गाधी जी ने ये विचार व्यक्त किये थे—'इस आन्दोलन मे जनता हिन्दू-मुस्लिम के भेदभाव को भुलाकर अपने को भारतीय समझे, हमारा झगडा अग्रेज लोगो के साथ नही है न उनमे हमे घृणा है, प्रत्युत् हम साम्राज्यवाद के विरुद्ध सघर्ष कर रहे हैं, सत्याग्रह मे किसी प्रकार की झूठ या बेईमानी को स्थान नही होता, करो या मरो, या तो भारत स्वतन्त्र होगा या इस प्रयास मे मर मिटो।' इसी के साथ गाधी जी ने पत्रकारो, देशी नरेशो, सरकारी कर्मचारियो, विद्यार्थियो, सैनिको आदि सभी के निमित्त उनके आन्दोलन के सम्बन्ध मे कर्त्तव्यो का उल्लेख किया। प्रस्ताव का उद्देश्य यह नही था कि आन्दोलन प्रारम्भ हो चुका था। गाधी जी वाइसराय से मिलकर उसे समूची स्थिति से अवगत करा देना चाहते थे, और यदि सरकार न मानती तो तभी आन्दोलन का श्रीगणेश होता। गाधी जी ने राष्ट्र के विविध वर्गों के निमित्त कार्यवाही करने का व्यापक कार्यक्रम बना लिया था, उसमे सविनय अवज्ञा सम्बन्धी व्यापक निर्देश थे। आन्दोलन 24 घटे की एक शान्तिपूर्ण हडताल से प्रारम्भ होता। 8 अगस्त 1942 को इस कार्यक्रम पर महासमिति ने विचार किया और 9 अगस्त को इस पर अन्तिम निर्णय लिया जाना था। परन्तु सरकार इसे कुचलने के लिए इतनी तत्पर थी कि उसके प्रयासो के अन्तर्गत 9 अगस्त 1942 को गाधी जी सहित काग्रेस कार्य समिति के सदस्यो को बन्दी बना दिया गया। गाधी जी को पूना मे तथा कार्यकारी समिति के सदस्यो को अहमदनगर किले की जेलो मे रख दिया गया। काग्रेस को गैर-कानूनी सस्था घोषित किया गया और उसके कार्यालयो को तहस-नहस कर दिया गया। राष्ट्र के महानतम नेताओ की गिरफ्तारी की सूचना दावानल की लपटो की भाँति देश के कोने-कोने मे फैल गयी। एक सप्ताह मे भी कम की अवधि मे देश के सभी प्रमुख काग्रेसी नेता, प्रान्तीय, जिला तथा मण्डल समितियो के सभी सदस्य जेलो मे बन्द कर दिये गये। सूचना महानिदेशक पकल (Puckle) के गश्तीपत्र के अनुसार नैतिक सिद्धान्तो का कोई प्रश्न नही था, प्रत्युत् व्यावहारिकता नेतृत्वविहीन जनता ने हडताल, जलूस, सार्वजनिक बैठको आदि का सहारा लिया। सरकार ने इन्हे दबाने मे लाठी चार्ज, गोली चलाना, बलात् लोगो को रोकना आदि हिसात्मक साधन अपनाये। जेलो तक मे सत्याग्रहियो के साथ अमानुषिक, निर्दयतापूर्ण तथा असम्मानजनक व्यवहार किया गया। स्थान-स्थान पर आन्दोलन को दबाने के लिए पुलिस को सेना की मदद पहुँचायी गयी। महिलाओ के साथ भी बुरा व्यवहार किया गया। लगभग सारे देश मे सर्वत्र धारा 144 लगा दी गयी। इसने

आन्दोलन न केवल बल्कि आन्दोलनकारी भी अनेक स्थानों पर हिंसात्मक कार्य करने को विवश हो गये। कई स्थानों पर भूमिगत षड्यन्त्र भी हुए। सरकारी सम्पत्ति को नष्ट करना, इमारतों को जलाना, खजानों को लूटना, रेल तार को काटना, पुलिस थानों पर आक्रमण आदि ऐसी अनेक घटनाएं हुई। सरकार ने सार्वजनिक सम्पत्ति के नष्ट होने पर समीपवर्ती जनता से सामूहिक क्षति पूर्ति करवाना शुरू किया। समाचार-पत्रों पर भारी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इस प्रकार देश में एक गृह युद्ध का सा वातावरण बन गया जिसमें सरकार तथा जनता दोनों को जन तथा धन की हानि उठानी पड़ी।[1] बिहार तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश में आन्दोलन अधिक उग्र रहा। उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में तो कुछ दिनों तक प्रशासन ठप्प हो गया और आन्दोलनकारियों ने अपनी सरकार स्थापित कर ली। तीन या चार महीनों तक आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया परन्तु अन्त में सरकार इसे नियन्त्रित कर लेने में सफल हो गयी। देश की अधिकांश जनता तो इस भ्रम में पड़ गयी थी कि ब्रिटिश सरकार ने गांधी जी तथा अन्य उच्च नेताओं को देश से बाहर अज्ञात स्थानों पर पहुंचा दिया है। कुछ लोग तो सरकार के दमनकारी रवैये से इतने भयभीत हो गये थे कि उन्हें यह सन्देह होने लगा था कि अंग्रेज शासकों ने गांधी जी आदि प्रमुख नेताओं को मार डाला है। समाचार-पत्रों पर प्रतिबन्ध था, देश में पूर्णतया आतंक का राज्य था। ऐसी स्थिति में कांग्रेसी नेताओं को बन्दी बना लेने तथा आन्दोलन में भाग लेने वालों का निर्ममतापूर्वक दमन करने की ब्रिटिश शासकों की नीति के कारण जनता आतंकपूर्ण शासन का शिकार बनी हुई थी। कई स्थानों पर हिंसा, लूट मार तथा सरकारी सम्पत्ति को नष्ट करने में गुण्डों तथा बदमाशों का भी हाथ रहा परन्तु उसके दुष्परिणाम आस पास की निर्दोष जनता को भोगने पड़े।

यद्यपि सक्रिय आन्दोलन को दबाने में सरकार सफल हो गयी थी तथापि अनेक कार्यकर्ता विशेष रूप से समाजवादी दल के अनेक प्रमुख नेता (जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया, अरुणा आसफ अली आदि) ब्रिटिश सरकार की पकड़ में नहीं आये। बाद में जयप्रकाश जी को पुनः पकड़ लिया गया। ये लोग भूमिगत प्रयास करते रहे और ब्रिटिश शासन विरोधी कार्य करते रहे। इस प्रकार कांग्रेस तथा समाजवादी दल ने भारत छोड़ो आन्दोलन को पर्याप्त तीव्र कर दिया। भले ही सरकार ने हिंसा द्वारा इसका दमन किया तथापि इस आन्दोलन ने भारत की जनता की राजनीतिक चेतना को पर्याप्त मात्रा में जागृत कर दिया। इससे पूर्व के आन्दोलनों में जनसाधारण का जो वर्ग स्वतन्त्रता आन्दोलनों के प्रति उदासीन रहता था वह भी अब इतना जागरूक हो गया कि वह उस दिन की प्रतीक्षा करने लगा जब देश अंग्रेजी शासन से मुक्त हो जाय। आन्दोलन की अवधि में स्वतन्त्रता के बारे में जनसाधारण में आशा तथा निराशा होना था परन्तु ऐसा विश्वास लोग करने लगे थे कि अनिश्चित काल तक अंग्रेज भारत को दासता की स्थिति में बनाये रखने का साहस नहीं करेंगे।

परन्तु भारत के साम्यवादियों ने इस आन्दोलन में कोई औचित्यपूर्ण रुख नहीं रखा। जब तक रूस युद्ध में अंग्रेजों की ओर से प्रविष्ट नहीं हुआ था तब तक वे युद्ध को साम्राज्यवादी कहते थे। परन्तु ज्यों ही रूस युद्ध में कूदा वे इसे जन-युद्ध कहने लगे। चूंकि उस समय रूस तथा इंग्लैण्ड मित्र राष्ट्र थे अतः भारत के साम्यवादी लोग स्वतन्त्रता आन्दोलन से बाहर रहे। सम्भवतः उन्हें अंग्रेजों की दासता की अपेक्षा रूस के दामन ग्रहण करने की अभिलाषा देश की स्वतन्त्रता से अधिक प्रिय था। मुस्लिम लीग ने आन्दोलन के विरुद्ध प्रचार करने का अच्छा अवसर प्राप्त किया। उसने यह प्रचार किया कि भारत छोड़ो आन्दोलन का उद्देश्य कांग्रेस द्वारा ब्रिटिश सरकार से अपनी मांगें मनवाना तथा उसके बाद मुसलमानों के ऊपर हिन्दुओं का निरंकुश शासन स्थापित करना था।

गांधी जी का उपवास—आन्दोलन पर नियन्त्रण पा लेने के पश्चात् ब्रिटिश शासकों ने

[1] For d t l ee T a Ch d p t 3 0 83

महात्मा गाधी तथा कांग्रेस पर यह आरोप लगाना शुरू किया कि उन्ही की प्रेरणा से यह हिंसात्मक आन्दोलन छिडा है। गाधी जी इस आरोप को सहन नही कर सके। वास्तव मे स्वय गाधी जी अनेक स्थानो पर जनता द्वारा हिंसात्मक कार्य-कलापो को अपनाने के समाचारो से अत्यन्त खिन्न थे। शासन द्वारा उनके ऊपर हिंसा को प्रोत्साहन देने के आरोप लगाये जाने पर उन्होने यह माँग की कि या तो उन्हे सार्वजनिक रूप से अपनी स्थिति स्पष्ट करने का अवसर दिया जाय या उनके ऊपर न्यायालय मे मुकदमा चलाया जाय। परन्तु सरकार किसी भी विकल्प के लिए राजी नही थी। उसकी एकमात्र शर्त यह थी गाधी जी आन्दोलन को वापिस ले। परन्तु बिना कार्य-समिति के सदस्यो से परामर्श किये यह सम्भव नही था। अन्तत, अपने स्वभावानुकूल उन्होंने 10 फरवरी 1943 से 21 दिन का उपवास करनी की घोषणा की। इस उपवास की अवधि मे वे जेल मे थे जहाँ 13 दिन के बाद उनकी स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गई। डाक्टरो ने भी यह घोषित कर दिया कि यदि उन्हे मुक्त नही किया गया तो उनका जीवन खतरे मे है। गवर्नर-जनरल ने अपनी कार्यकारी परिषद् की आपात् बैठक बुलाई जिसके अधिकाश सदस्यो ने यह मत व्यक्त किया कि गाधी जी की रिहाई से शान्ति-व्यवस्था खतरे मे पड जायेगी। अत गाधी जी को मुक्त नही किया गया।

गवर्नर-जनरल की परिषद् के बहुसख्यक सदस्यो की ऐसी राय के विरोध मे तीन भारतीय सदस्यो (सर्वश्री एच० पी० मोदी, एम० एस० अणे तथा एन० आर० सरकार) ने परिषद् से त्याग-पत्र दे दिया। इससे यह स्पष्ट हो गया कि यद्यपि गवर्नर-जनरल ने भारतीय सदस्यो के बहुमत वाली परिषद् बना ली थी, तथापि अधिकाश भारतीय सदस्य ब्रिटिश सरकार के भक्त थे। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश शासको को गाधी जी के प्राणो की चिन्ता नही थी। वे गाधी जी की मृत्यु हो जाने की आकाक्षा रखते थे। सम्भवत ऐसी स्थिति आ जाने पर उसका सामना करने के लिए भी सरकार ने तैयारी कर ली थी। परन्तु गाधी जी का उपवास सफलता-पूर्वक पूरा हो गया।

सरकार का मिथ्या प्रचार—1942–43 की अवधि मे यूरोप मे महायुद्ध की गति मित्र-राष्ट्रो के पक्ष मे बढने लगी थी। हिटलर तथा मुसोलिनी की शक्ति क्षीण होती जा रही थी। इसका कारण यह था कि यूरोपीय मित्र-राष्ट्रो को रूस तथा अमरीका की सक्रिय सहायता मिलने लगी थी। परन्तु सुदूर पूर्व मे जापान की गतिविधियो का विस्तार होने लगा था, और जिन भारतीय फौजो ने जापान के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया था उन्हे नेताजी सुभाषचन्द्र बोस तथा उनके क्रान्तिकारी साथियो ने आजाद हिंद फौज के रूप मे सगठित करके भारतीय स्वतन्त्रता के निमित्त जापान के सहयोग से भारत की ओर यान करने की योजना बना ली थी। अत बडे-बडे मित्र-राष्ट्रो की अभिरुचि भारत की समस्या की ओर होने लगी थी। अमरीका का जनमत भारत मे ब्रिटिश नीति के बारे मे निश्चित नही था भारत-स्थित अमरीकी पर्यवेक्षक तथा पत्र भारत की स्वाधीनता की माँग के प्रति सहानुभूति रख रहे थे। ऐसी स्थिति मे अमरीकी जनता का ध्यान वास्तविकता से हटाने के लिए और ब्रिटिश नीतियो के पक्ष मे जाने के लिए ब्रिटिश शासको ने ब्रिटिश ससद तथा भारत मे भ्रामक प्रचार अभियान प्रारम्भ कर दिया। उन्होने युद्ध की समाप्ति पर भारत की स्वतन्त्रता की माँग जैसी क्रिप्स प्रस्तावो मे थी, को मृत नही माना। परन्तु तुरत सत्ता त्यागने के बारे मे अपनी पुरानी नीतियो को ही दुहराने लगे कि भारत मे सत्ता किसे सौंपी जा सकती थी। साम्प्रदायिक वर्गो तथा गुटो के हितो की बात को ही वे सर्वाधिक महत्त्व देने लगे। यहाँ तक कि ऐटली तक ने जो भारत की स्वायत्त शासन की माँग के समर्थक थे ऐसे ही वक्तव्य दिए। भारत मे वाइसराय की कार्यकारिणी मे सदस्यो की सख्या बढा दी गयी थी। परन्तु उसमे न कांग्रेस शामिल थी न लीग। भारत सरकार ने क्रान्ति को शान्ति-व्यवस्था तथा देश की सुरक्षा के अहित मे हिंसात्मक बनाने का दोष कांग्रेस तथा गाधी जी पर लगाने का पुरजोर अभियान चलाया और जनता की सुरक्षा के हित मे अपने दमनात्मक रवैये का औचित्य प्रदर्शित करने की

कारिग का। इस प्रचार म उस लाग का सक्रिय सहयोग मिला। सरकार ने लीग की निष्ठा प्राप्त करने के उद्देश्य से उस उसके उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पूरा आश्वासन दिया और सहायता भी पहुंचाई। सरकार ने वास्तविकता को छपाने करने में अपने प्रचार कार्यों के अन्तर्गत कोई कसर नहीं छोड़ी।

कांग्रेस विरोधी दलों के प्रोत्साहन—इस महान् स्वतन्त्रता क्रांति में एक ओर कांग्रेस तथा जनता सरकार के भारी अत्याचार तथा दमन का सामना कर रही थी तो दूसरी ओर ब्रिटिश शासकों की प्रेरणा तथा असहयोग से मुस्लिम लीग अपनी साम्प्रदायिक कुचालों को सुदृढ़ करने में लगी थी। जिन्ना के प्रयासों से बंगाल में यद्यपि लीग की सरकार नहीं बन पायी तथापि फजलुल हक ने लीग के सिद्धान्तों के प्रति पूर्ण आस्था व्यक्त कर दी। परन्तु उसके सम्मिलित मन्त्रिमण्डल में जिसमें सुभाष बोस का फारवर्ड ब्लाक भी शामिल था गवर्नर असन्तुष्ट था। उसने हक को त्यागपत्र देने को विवश किया और लीग के नेता नाजिमुद्दीन को मुख्य मन्त्री बनाया। पंजाब में दिसम्बर 1942 में सिकन्दर हयातखां की मृत्यु हो जाने पर खिज्र हयात खां का मन्त्रिमण्डल बना। परन्तु अधिकारियों ने उसे भी लीग के प्रभाव में आ जाने को बाध्य किया। सिंध में अल्लाबख्श अंग्रेजों की दमन नीति से असन्तुष्ट हो गया था अतः गवर्नर ने उसे पदच्युत करके लीगी नेता गुलाम हुसैन को मुख्य मन्त्री बना दिया। पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में डा॰ खान साहब त्यागपत्र दे चुके थे। अतः वहां भी लीगी नेता औरंगजेब खां को मुख्य मन्त्री बना दिया गया। असम में लीगी नेता सादुल्ला ने सरकार बना ली। इस प्रकार देश के पांच मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों की सरकारों में लीग का पूर्ण प्रभाव हो गया और जिन्ना के निर्देशन में इन प्रान्तों का भारत से पृथक होने का अभियान सुनिश्चित हो गया। यह भी अंग्रेजों की कांग्रेस विरोधी नीति की एक भारी उपलब्धि थी।

लार्ड वेवेल का गवर्नर जनरल बनना तथा ब्रिटिश नीति में परिवर्तन— अक्टूबर 1943 में लार्ड लिनलिथगो का गवर्नर जनरल का कार्यकाल समाप्त होने पर कमाण्डर इन चीफ लार्ड वेवेल को भारत का गवर्नर जनरल बनाया गया। सम्भवतः यह व्यवस्था इसलिए की गई कि वेवेल को भारत की प्रतिरक्षात्मक व्यवस्था की पूर्ण जानकारी पूर्व में ही होने के कारण वह गवर्नर जनरल के पद पर उचित सिद्ध होगा। इस बीच जापान की युद्ध सम्बन्धी गतिविधियां तीव्रता से बढ़ रही थीं। दक्षिण पूर्वी एशिया में आजाद हिन्द फौज का संचालन नेताजी सुभाषचन्द्र बोस कर रहे थे। यह सेना भारत की आन्तरिक सीमा में पूर्व की ओर से प्रविष्ट हो चुकी थी। उसको जापान का सहयोग प्राप्त था। अतः ब्रिटिश सरकार भारत की ऐसी स्थिति में बहुत चिंतित थी। मई 1944 में लार्ड वेवेल ने गांधी जी को जेल से रिहा कर दिया। परन्तु गांधी जी के आग्रह के बावजूद कांग्रेस के अन्य प्रमुख नेताओं को रिहा नहीं किया गया। गांधी जी के लिए स्वयं कोई निर्णय लेना सम्भव नहीं था। अतः भारत छोड़ो आन्दोलन समाप्त नहीं हुआ। राजनीतिक गतिरोध बना रहा स्वयं सरकार भी उसे दूर करने के लिए चिंतित थी।

सी० आर० सूत्र (राजाजी फार्मूला)

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी 1942 तक कांग्रेस के प्रमुख नेताओं में से थे। वे गांधी जी के अनन्य समर्थकों में से थे। 1942 में जब क्रिप्स वार्ता चल रही थी तो उन्होंने यह अनुभव किया था कि मुस्लिम लीग पाकिस्तान की मांग से किसी भी रूप में डिगने वाली नहीं है। स्वयं ब्रिटिश सरकार निरन्तर लीग को ऐसी मांग के लिए प्रोत्साहित करती जा रही है। ऐसी स्थिति में देश की स्वतन्त्रता तथा भावी सांविधानिक व्यवस्था के समाधान के लिए पाकिस्तान के सृजन की मांग को न मानना उचित नहीं है। कांग्रेस ऐसी मांग का पूर्ण विरोध कर रही थी। ऐसी स्थिति में क्रिप्स वार्ता की विफलता के पश्चात् ही राजगोपालाचारी कांग्रेस से अलग हो गये और पाकिस्तान के सृजन के सम्बन्ध में विचार करने लगे। चूंकि भारत छोड़ो आन्दोलन की

अवधि मे वे काग्रेस से पृथक् थे, अत उन्हे बन्दी नही बनाया गया था। मई 1944 मे जब गाधी जी जेल से छूटे तो राजाजी गाधी जी से मिले और उनसे अपने प्रस्ताव के बारे मे वार्ता की। बाद मे उन्होने यह घोषणा की कि उनके प्रस्ताव को गाधी जी का अनुसमर्थन प्राप्त है। इसी प्रस्ताव को सी० आर० सूत्र कहा जाता है।

सूत्र—यह प्रस्ताव गाधी जी तथा जिन्ना दोनो के द्वारा एक सन्धि के रूप मे अनुसमर्थित किया जाता था। इसकी शर्ते अग्राकित थी—

(1) भारतीय स्वतन्त्रता की माँग से सहमत होते हुए मुस्लिम लीग सक्रमण काल मे काग्रेस के सहयोग से एक अन्तरिम सरकार की स्थापना से सहमत है।

(2) युद्ध की समाप्ति पर एक आयोग की नियुक्ति की जायेगी तो भारत के उत्तर-पश्चिम तथा पूर्वी क्षेत्रो के मुस्लिम बहुसख्यक जनता वाले क्षेत्रो का निर्धारण करेगा और उन क्षेत्रो की समस्त जनता निर्धारित मतदान प्रणाली से हिन्दुस्तान मे रहने या पृथक् रहने के बारे मे अपना निर्णय करेगी। यदि बहुसख्यक मतदाता भारत से पृथक् होने की माग करेगे तो उसे स्वीकार कर लिया जायेगा।

(3) ऐसा विभाजन हो जाने पर दोनो देशो की पारस्परिक सहमति द्वारा प्रतिरक्षा, यातायात, व्यापार, आदि की व्यवस्था की जायेगी।

(4) दो प्रभुत्वसम्पन्न राष्ट्रो के बन जाने पर उनकी जनता के पारस्परिक स्थानान्तरण को पूर्णतया ऐच्छिक आधार पर स्वीकृति दी जायेगी।

(5) यह शर्ते तभी लागू होगी जबकि इग्लैण्ड भारत को पूर्णतया राजसत्ता का हस्तान्तरण कर देगा।

(6) गाधी जी तथा जिन्ना इन शर्तो से सहमत है और वे क्रमश काग्रेस तथा लीग मे इन्हे मनवाने के लिए प्रयास करेगे।

आलोचना तथा प्रभाव—यद्यपि तत्काल राजाजी के इस प्रस्ताव के सम्बन्ध मे काग्रेसी क्षेत्रो एव देश मे बडी निराशा तथा आश्चर्य की स्थिति आ गई और बहुत कम लोग राजाजी की पाकिस्तान निर्माण की स्वीकारोक्ति से सहमत हुए, तथापि यह मानना पडेगा कि राजाजी का निष्कर्ष उनकी राजनीतिक दूरदर्शिता का प्रमाण था, क्योकि अन्तत पाकिस्तान बनकर रहा और देश की स्वाधीनता-प्राप्ति के हेतु इसे स्वीकार करना पडा। परन्तु तत्काल स्वय जिन्ना ने इस प्रस्ताव को इस आधार पर ठुकरा दिया कि जैसा पाकिस्तान राजाजी के सूत्र द्वारा प्रस्तावित किया गया था वह 'लुज-पुज तथा दीमको द्वारा खाया गया' (maimed, mutilated and moth-eaten) पाकिस्तान है। वास्तव मे जिन्ना तो सम्भवत समूचे देश को पाकिस्तान बना देना चाहते थे जिसमे मुस्लिम लीग ही एकमात्र शासक रहे। कम से कम उनकी व्यक्त धारणा का पाकिस्तान सिन्ध, पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त, बिलोचिस्तान, समूचे बगाल, असम एव पश्चिमी तथा पूर्वी पाकिस्तान के मध्य एक लम्बी गैलरी वाला पाकिस्तान था। यदि पाकिस्तान का निर्माण होना ही था और राजाजी के सूत्र को जिन्ना स्वीकार कर लेते तो सम्भवत देश विभाजन के समय बाद मे जो कटुता का वातावरण फैला और जिसके कारण इतनी खून-खराबी हुई वह न होती। कुछ विद्वानो का मत है राजाजी के सूत्र के अनुसार जिस रूप मे पाकिस्तान की योजना थी, वह 1947 मे निर्मित पाकिस्तान की तुलना मे कही अधिक अच्छी थी।[1]

आजाद हिन्द फौज (I N A)

सुभाषचन्द्र बोस द्वारा फॉरवर्ड ब्लॉक का निर्माण—जब 1939 मे सुभाषचन्द्र बोस

[1] See R N Aggarwal, *op cit*, 239

काग्रस छोड चुके तो उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के निमित्त गाधी जी की अहिंसात्मक सत्याग्रह की नीतियो पर विश्वास करना छोड दिया और चूकि काग्रेस के दक्षिणपथी नेता गाधीवादी हो थे अत बोस ने वामपथी फारवर्ड ब्लाक दल की रचना की। इस दल में भारत के क्रातिकारी नेता तथा युवा पीढी के वामपथी कार्यकर्ता शामिल हो गये। उन्होंने भारत मे ब्रिटिश राज को उखाड फेकने के निमित्त तोड फोड तथा विध्वस की कार्यवाहियो को ठीक समझा। प्रारम्भ मे जयप्रकाश जी भी ऐसी कार्यवाही को उचित समझते थे। प्रथम विश्वयुद्ध की अवधि से भारत मे ऐसे तत्त्व सक्रिय रहे थे और वे सगठित दलो के द्वारा क्रान्ति करने के षडयन्त्र रचते रहे थे। द्वितीय विश्वयुद्ध मे पूर्व सुभाषचन्द्र बोस भी क्रान्तिकारी होते जा रहे थे। उन्होंने 1935 मे The Indian Struggle नामक रचना प्रकाशित की थी जिसे भारत सरकार ने प्रतिबन्धित कर दिया था। युद्ध से पूर्व जब वे काग्रस से अलग हो गये तो उन्होंने युद्ध का लाभ उठाकर अग्रेजो की सत्ता को भारत से उखाड फेकने के उद्देश्य से नये दल की रचना की। उन्होंने अपनी उक्त रचना मे लिखा है कि भारतवासियो को अहिंसा के गाधीवादी दार्शनिक विचारो या नेहरू जी की धुरी राष्ट्रो की विरोधी वैदेशिक नीति की भावनामूलकता के द्वारा अवरुद्ध नही किया जाना चाहिए।[1] काग्रस की अध्यक्षता छोडते ही उन्होंने सम्पूर्ण भारत का तूफानी दौरा किया और सैकडो जन-सभाओ मे भाषण देकर ब्रिटिश साम्राज्यवादी का विरोध करते हुए भारत की जनता का आह्वान किया कि वह युद्ध मे ब्रिटेन की जरा भी सहायता न करें।

वे अप्रैल 1940 मे ही सविनय अवज्ञा आन्दोलन चला चुके थे। उन्होने काग्रस के सदृश अग्रेज सरकार के साथ वार्ता करने की कोई योजना नही रखी। उनका निष्कर्ष था कि युद्ध मे ब्रिटेन की पराजय से ब्रिटिश साम्राज्य नष्ट हो जाएगा अत वे भारत से सत्ता नही हटायेंगे तो जनता को बलात् उन्हें निकालना पडेगा। इसलिए भारतवासियो को ब्रिटेन के साथ युद्ध छेड देना चाहिए और उसके शत्रुओ के साथ सहयोग करना चाहिए। जुलाई 1940 को उन्हे सरकार ने जेल भेज दिया। उनके दल के अन्य कार्यकर्ता भी बन्दी कर लिए गये थे। जेल मे बोस ने अनिश्चित काल का भूख हडताल प्रारम्भ कर दी तो सरकार ने उन्हे छोडकर नजरबन्द मे रखा। जनवरी 1941 मे बोस रहस्यमय ढग से निकल भागे और वेश बदलकर काबुल मास्को होते हुए जर्मनी पहुँच गये। वहाँ से उन्होंने अपने देशवासियो को रेडियो द्वारा सन्देश भेजना आरम्भ किया। वहा के फासी तथा नाजी नेताओ से मिले और उनसे आग्रह करते रहे कि वे भारत की स्वतन्त्रता को मान्य करे। मास्को मे भी उन्होंने ऐसा प्रयास किया किन्तु जब वहा उनके इस आग्रह को उपेक्षित रखा गया तो वहा से उन्होंने जापान जाने की योजना बनाई।

इस समय युद्ध मे जापान की मित्र राष्ट्रो के ऊपर भारी विजय होती जा रही थी। अत सुभाषचन्द्र बोस के दल की नीतियो पर विश्वास रखने वाला भारतीय जनमत एशियाई देशो की ऐसी विजयो मे बहुत प्रभावित हुआ था और जापान के सहयोग से भारत की स्वतन्त्रता की आशा प्रबल लगी थी। जापान मे रासबिहारी बोस ने भारतीय स्वाधीनता लीग की स्थापना कर ली थी। इस लीग का उद्देश्य एक भारतीय मुक्ति सेना का सगठन करना था। 22 जून 1942 को इसका सम्मेलन बैकाक मे हुआ जहा सुभाषचन्द्र बोस को इसकी अध्यक्षता करने का आमन्त्रण दिया गया।

आजाद हिन्द फौज का सृजन—भारतीय स्वाधीनता लीग ने भारतीय मुक्ति सेना तथा जापानी सेना के सहचार के सम्बन्ध मे एक कार्यवाही परिषद् (Council of Action) के निर्माण का प्रस्ताव भी किया। परन्तु जापानी सैनिक अधिकारी इन विवरणो से सहमत नही थे। जब जापान ने मलाया मे ब्रिटिश सेनाओ को पराजित कर दिया तो ब्रिटिश सेना के भारतीय सैनिको ने जापान के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया था। इस सेना के कप्तान मोहनसिंह को सेना सन्नि

[1] S C. Bose The I d n St ggl 337

भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन मे शामिल होने का प्रस्ताव किया गया। इस प्रकार कैप्टेन मोहनसिंह के नेतृत्व मे आजाद हिन्द फौज का सृजन हुआ। वे इस सेना के प्रधान सेनापति बने। अगस्त के मध्य तक लगभग 16000 जवान इस सेना मे हो गये थे। वे समस्त भारतीय युद्धबन्दियो को इसमे लेकर 40000 तक की सेना बनाना चाहते थे। परन्तु जापानी सैनिक अधिकारी इसके लिए तैयार नही थे। कालान्तर मे आजाद हिन्द फौज तथा स्वाधीनता लीग मे कुछ आन्तरिक कलह भी उत्पन्न हो गये और मोहनसिह ने त्यागपत्र दे दिया। इससे फौज मे रिक्तता आ गयी। रासबिहारी बोस भी इस सगठन से अलग हो गये। परन्तु सुभाषचन्द्र बोस ने नेतृत्व करने का आश्वासन दे दिया था। प्रश्न यह था कि वे जर्मनी से जापान कैसे पहुँचे। किसी तरह 1943 के आरम्भ मे वे एक जर्मन पनडुब्बी से होकर जापान पहुँच गये।

टोकियो पहुँचते ही सुभाषचन्द्र बोस ने पहला अभियान यह चलाया कि उन्होने प्रधानमन्त्री तोजो को भारतीय स्वाधीनता को मान्यता देने के लिए राजी कर लिया। तत्पश्चात् सिगापुर पहुँचकर उन्होने भारतीय स्वाधीनता लीग तथा आजाद हिन्द फौज मे आ गयी दरार को पाटा और दोनो का नेतृत्व स्वीकार किया। इसके बाद उन्होने 21 अक्टूबर 1943 को स्वतन्त्र भारत की अस्थायी सरकार की घोषणा की जिसके वे प्रधान, प्रधानमन्त्री तथा प्रधान सेनापति बने। उन्होने एक मन्त्रिमण्डल भी बनाया। पदाधिकारियो ने विधिवत् पद-ग्रहण की शपथ ली। बाद मे जापान, जर्मनी, इटली तथा छ अन्य देशो ने इस सरकार को मान्यता प्रदान कर दी। अब सुभाषचन्द्र बोस ने आजाद हिन्द फौज के समक्ष अपना ओजस्वी भाषण देकर 'दिल्ली चलो' अभियान आरम्भ किया। एक आई० सी० एस० पद को लात मारने वाला देश-भक्त, क्रान्तिकारी नेता, काग्रेस का चोटी का नेता, फॉरवर्ड ब्लॉक का सृष्टा जब भारत की आजादी के निमित्त भारी से भारी जोखिम सहकर जापान पहुँचा तो आजाद हिन्द फौज तथा स्वतन्त्र भारत की अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार का प्रधान बन गया। उन्होने सैनिक पोषाक पहन ली। आजाद हिन्द फौज ने उन्हे 'नेताजी' का प्रिय नाम दिया। आज वे इसी प्रिय नाम से भारत की स्वतन्त्रता के शहीदो के शिरोमणि के रूप मे भारतवासियो के प्रिय हो चुके है।

स्वतन्त्र भारत की क्रान्तिकारी अस्थायी सरकार के प्रधान के रूप मे उन्होने इग्लैण्ड तथा अमरीका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। जापान ने अण्डमान निकोबार के भारतीय द्वीप जिन्हे उसने जीत लिया था, इस सरकार के हवाले कर दिये। इसके पश्चात् नेताजी ने आजाद हिन्द फौज को बर्मा होते हुए भारत की ओर कूच का आदेश दिया।

आजाद हिन्द फौज की समस्याएँ तथा असफलता—नेताजी ने फौज की कमान सम्भाल ली थी और सैनिको के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था भी कर ली गयी थी। फौज के जवानो का मनोबल उच्च था। परन्तु उसके समक्ष सबसे बडी समस्या अस्त्रो-शस्त्रो तथा युद्ध की साज-सज्जा की थी। बर्मा तथा आसाम की जगली से भरी पहाडियो से फौज को भारत की ओर कूच करना था। उसके पास रसद, शस्त्रास्त्र आदि नही रह गये थे। उधर युद्ध की प्रगति भी मित्र-राष्ट्रो के पक्ष मे बढ रही थी। अमरीका ने जापान की सेनाओ को दबाना आरम्भ कर दिया था। अत जापानी सेनाये बर्मा से प्रशान्त महासागर के दक्षिणी भागो को बढने लगी थी अत आजाद हिन्द फौज को भी वापिस लौटने के लिए विवश होना पडा। जापानी सेना उसे शस्त्रास्त्रों तथा रसद से विहीन छोडती गयी। ऐसी स्थिति मे आजाद हिन्द फौज को भारी परेशानियो मे रहना पडा। जब नेताजी ने सेना की ऐसी स्थिति देखी तो वे भी बहुत परेशान हो गये। वे टोकियो मे जापानी प्रधानमन्त्री से सहायता के लिए पहुँचे, तो स्वय जापान उस समय अमरीका के आक्रमणो से परेशान था। स्वय फौज मे एकता, मनोबल तथा अनुशासन भग होने लगा था। थोडे से निष्ठावान सैनिको मे काम नही चल सकता था। नतीजा यह हुआ कि 1945 के मध्य तक आजाद हिन्द फौज की दशा बहुत ध्वस्त त्रस्त हो गयी। नेताजी रगून, बैंकाक, सिंगापुर टोकियो के चक्कर काटने मे व्यस्त रहते थे। परन्तु जब अगस्त 1945 मे जापान ने अमरीका

के अणुबम प्रयोग करने के फलस्वरूप आत्मसमर्पण कर लिया तो आजाद हिन्द फौज के रह सह भाग का भविष्य भी अन्धकार म पड गया। नेताजी सिंगापुर बैंकाक तथा सगौन म ही अपना गतिविधियाँ जारी रख रहे थ।

18 अगस्त 1945 को जब वे हबीबुरहमान के साथ सगोन से टोकियो का एक हवाई जहाज म जा रहे थ तो फारमूसा के हवाई अडडे पर जहाज म आग लग गयी। नेताजी इसम बहुत जल गये। उन्ह वहाँ से अस्पताल ले जाया गया। इसके पश्चात् क्या हुआ यह कहानी आज तक भी रहस्यपूर्ण बनी हुई है। जो भी हो तब से नेताजी प्रकट नही हो पाये हैं। डा ताराचन्द के शब्दों म भारत के इस बहादुर सपूत की कहानी जिसने निरन्तर भारत की स्वतन्त्रता के स्वप्न देखे जिसने अपना सारा जीवन मातृभूमि की सेवा म अर्पित कर दिया और जिसने अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक नई दिशा प्रदान की समाप्त हो गयी।[1] इसी के साथ आजाद हिन्द फौज की कहानी भी समाप्त हो गयी।

योगदान—भले ही फौज का अभियान सफल नही हुआ और युद्ध की समाप्ति पर इसके अधिकारियों तथा सनिकों को पकड लिया गया और बाद म इसके प्रमुख नेताओं के ऊपर ब्रिटिश शासकों ने मुकदमा चलाया जिसम देश के उच्चतम कोटि के भारतीय वकीलों ने उनके पक्ष म दलील दी। बाद म उन्ह मृत्यु-दण्ड भी सुनाया गया और फिर उन्ह मुक्त भी कर दिया गया तथापि भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम म आजाद हिन्द फौज की निष्ठा को भुलाया नहीं जा सकता। नेताजी तथा उनके साथियों ने इस फौज तथा भारतीय स्वाधीनता लीग के माध्यम से जो कार्य कलाप किये उनका पर्याप्त अन्तराष्ट्रीय महत्त्व है। इन सगठनों ने भारतीय आन्तरिक परिस्थितियों (साम्प्रदायिकता तथा वधानिकतावाद) की उपेक्षा करके सघर्षमय क्रान्ति की योजना बनाकर भारत को ब्रिटिश साम्राज्यशाही से मुक्त करने का प्रयास किया। युद्धकाल म महाशक्तियों के साथ युद्ध की घोषणा करना और भी युद्ध के साधनों के अभाव म यह दर्शाता है कि युद्ध के पश्चात् महाशक्तियाँ (अमरीका तथा रूस) भारत की स्वतन्त्रता के महत्त्व को नहीं भुला सकी। आजाद हिन्द फौज ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारतीय सेना भाडे के सनिकों की सेना नहीं है अपितु वह अपनी मातृभूमि के सच्चे देश भक्तों की सेना है। इन वीरों ने अपने अदम्य उत्साह का परिचय देकर घोर से घोर सकट म भी आत्मविश्वास तथा उत्साह से कष्ट सहन कर लेने का दृष्टान्त प्रस्तुत किया। यह कहना असगतिपूर्ण नही होगा कि इस फौज की बहादुरी ने साम्राज्यवादियों की जडें हिला दी। अब वे यह आशा नही रख सकते थे कि किराये के सनिकों की सेना द्वारा विश्व को साम्राज्यवाद की दासता के अन्तर्गत रखा जा सकता है। आजाद हिन्द फौज की भारत को सबसे बडी देन उनका जयहिन्द का नारा है जो आज स्वतन्त्र भारत का प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय नारा हो चुका है।

वेवल योजना तथा शिमला सम्मेलन

राजनीतिक वातावरण—भारतीय राजनीति के अन्तर्गत 1944 म गांधी जी की रिहाई तथा राजगोपालाचारी जी के प्रस्ताव की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई महत्त्वपूर्ण बातें नहीं हुई। कांग्रेसी नेता जेलों म थ। परन्तु 1945 के प्रारम्भ के कई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने भारतीय राजनीति को पुन सक्रिय होने का अवसर दिया। यूरोप म मित्र राष्ट्रों को जर्मनी तथा इटली के विरुद्ध युद्ध में विजय प्राप्त हो गई थी। अब जापान ही मित्र राष्ट्रों का एकमात्र शत्रु रह गया था। जापानी सेनाओं के सहयोग से शस्त्र-सज्जा विहीन परन्तु देश भक्ति के मनोबल से प्रेरित आजाद हिन्द फौज की शक्ति भी क्षीण होती जा रही थी। यूरोप को युद्ध से राहत मिलने पर मित्र राष्ट्रों का ध्यान जापान को परास्त करने पर केन्द्रित हो गया था। आजाद हिन्द फौज

[1] Tara Chand *op cit* 42

के अनेक प्रमुख नेता तथा सैनिक मित्र-राष्ट्रों की सेना द्वारा बन्दी बना लिए गये थे। जापान का पतन भी शीघ्र हो जाना लगभग निश्चित था।

भारत मे सांविधानिक गतिरोध बना हुआ था। मित्र-राष्ट्रों का इंग्लैण्ड के ऊपर इसे दूर करने के सम्बन्ध मे दबाव जारी था। युद्ध ने इंग्लैण्ड को हर दृष्टि से निर्बल बना दिया था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे अब वह अपनी पुरानी सर्वोच्चता की स्थिति खो चुका था। उसके साम्राज्यवाद को बनाये रखने के स्वप्न धूमिल पड चुके थे। अत अब वह इस स्थिति मे नही रह गया था कि भारत की स्वतन्त्रता की माँग को ठुकरा सके। इंग्लैण्ड मे नये आम निर्वाचनो की तैयारी होने लगी थी। चर्चिल के नेतृत्व की रूढ़िवादी दल की सरकार भारतीय स्वतन्त्रता की माँग को टालती जा रही थी। मजदूर दल ने चुनाव अभियान मे इसका लाभ उठाया और चर्चिल सरकार की इस बात के लिए निन्दा की कि वह भारतीय सांविधानिक गतिरोध को दूर करने मे पूर्णतया असफल रही है। इसी कारण भारत की प्रतिरक्षात्मक गतिविधियाँ निर्बल पडी है। चर्चिल की सरकार मजदूर दल के इस आरोप को निर्मूल करने के लिए चिन्तित थी, अन्यथा उसे निर्वाचनो मे हानि उठानी पडती। अत वह भी भारतीय समस्या के समाधान के लिए कुछ कदम उठाने के लिए प्रयत्न करने लगी।

भारत मे लार्ड वैवेल को प्रधान सेनापति रह चुकने तथा लगभग डेढ वर्ष से गवर्नर-जनरल रह चुकने के कारण यहाँ की राजनीतिक गतिविधियो की पर्याप्त जानकारी हो चुकी थी। वह क्रिप्स मिशन के साथ भी महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत कर चुके थे। अत वह चर्चिल सरकार से सलाह मशविरा करने मार्च 1945 मे इंग्लैण्ड गये। जून में वहाँ से वापिस आते ही वह भारत के सांविधानिक गतिरोध को दूर करने के लिए एक योजना लाये जो वैवेल योजना के नाम से प्रसिद्ध है।

वैवेल योजना—चूँकि क्रिप्स प्रस्ताव की विफलता का एक मुख्य कारण अन्तरिम काल की योजना का कोई सन्तोषजनक समाधान प्रस्तुत न कर सकना था, अत वैवेल योजना ने इसी बात को लिया। अन्तरिम योजना का अभिप्राय तुरन्त केन्द्र मे राष्ट्रीय तथा उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना था। अतएव वैवेल योजना के अन्तगत यह प्रस्ताव रखा गया कि भारतीय सांविधानिक गतिरोध को समाप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार तुरन्त गवर्नर-जनरल की कार्यकारी परिषद् का पुन सगठन करना चाहती है। इसके अनुसार गवनर-जनरल तथा प्रधान सेनापति के अतिरिक्त अन्य सभी पार्षद भारतीय होंगे और गर्वनर-जनरल तथा प्रधान सेनापति के ऊपर देश की प्रतिरक्षा का दायित्व रहेगा। शासन के अन्य सभी विषय जिनमे वैदेशिक सम्बन्ध भी शामिल है, भारतीय पार्षदो के हाथ मे रहेगे। ब्रिटेन के वाणिज्य सम्बन्धी हितो की देख-रेख के लिए भारत मे एक ब्रिटिश उच्चायुक्त की नियुक्ति की जायेगी। गवर्नर-जनरल की परिषद् मे हिन्दुओं तथा मुसलमानो को बराबर सख्या मे स्थान प्राप्त होंगे। गवर्नर-जनरल को कार्यकारी परिषद् के बहुमत के निर्णयो पर निषेधाधिकार प्रयुक्त करने की शक्ति प्राप्त रहेगी। भारत के शासन मे भारत मन्त्री के नियन्त्रण को अधिकाधिक मात्रा मे कम कर दिया जायेगा। यह योजना किसी भी भाँति भारतवासियो के भविष्य मे अपने सविधान को निर्मित करने के अधिकार के विरुद्ध नही है। भविष्य मे ऐसी वार्ता चलती रहेगी।

शिमला सम्मेलन—इस प्रस्ताव को व्यावहारिक रूप देने के लिए यह आवश्यक था कि समुचित वातावरण बनाया जाय। अत कांग्रेस के प्रमुख नेताओ को रिहा कर दिया गया। 9 जुलाई 1945 से गवर्नर-जनरल ने शिमला मे देश के प्रमुख राजनीतिक दलो के नेताओं गाधी जी एव जिन्ना को एक सम्मेलन मे आमन्त्रित किया। सम्मेलन का कार्य लगभग 2 सप्ताह तक चला। परन्तु अन्त मे 14 जुलाई 1945 को सम्मेलन की विफलता घोषित कर दी गई।

सम्मेलन के विफल होने के कारण स्पष्ट थे। यद्यपि प्रस्तावित कार्यकारी परिषद् मे हिन्दुओं तथा मुसलमानो को बराबर स्थान देना किसी भी रूप मे औचित्यपूर्ण नही था, क्योंकि

भारत की जनसंख्या में हिंदू मुस्लिम अनुपात 7 : 3 का था तथापि कांग्रेस ने इसका विरोध नहीं किया। वह भारत की स्वाधीनता सम्बन्धी वार्ता में ऐसा अवरोध उत्पन्न करना नहीं चाहती थी। परन्तु कांग्रेस इस बात पर राजी नहीं था कि मुसलमान पार्षदों का नामांकन करने का एकमात्र अधिकार मुस्लिम लीग को दिया जाय। जिन्ना इसी बात पर अड़े रहे कि मुसलमान पार्षद लीग के द्वारा ही नामांकित किये जायेंगे। सचमुच कांग्रेस के लिए समझौते के निमित्त इतनी बड़ी कीमत देना कदापि उचित नहीं था। कांग्रेस केवल मात्र हिन्दू जनता की संस्था नहीं थी बल्कि उसमें बहुत बड़ी संख्या में राष्ट्रवादी मुसलमान भी प्रारम्भ में ही रहते आये थे। 1945 में स्वयं मौलाना अबुलकलाम आजाद कांग्रेस अध्यक्ष थे। सम्मेलन वार्ता के मध्य गवर्नर जनरल ने उन्हें आश्वासन दिया था कि वे वार्ता में किसी एक दल द्वारा अनावश्यक बाधा उत्पन्न नहीं करने देंगे। पंजाब के संयुक्तवादी दल (unionists) ने मुसलमानों के नामांकन में अपने अधिकार का भी दावा किया। जिन्ना ने योजना को मानने से इनकार कर दिया। उनका तर्क था कि यदि इसे स्वीकार कर लिया जायगा तो सरकार में लीग का प्रतिनिधित्व एक तिहाई रह जायगा और इसका अर्थ होगा पाकिस्तान की माँग की अस्वीकृति। इस प्रकार केवल जिन्ना की हठधर्मिता से शिमला सम्मेलन विफल हो गया और राजनीतिक गतिरोध बना रहा।

मूल्यांकन—यद्यपि वेवेल योजना भी क्रिप्स प्रस्तावों की भाँति विफल हो गई तथापि यह प्रभावहीन सिद्ध नहीं हुई। इसके कारण कांग्रेस के नेतागण जेलों से छूट गये और जो नहीं छूटे थे उनकी रिहाई का द्वार भी खुल गया। जिन्ना की हठधर्मिता ने जो शिमला सम्मेलन की विफलता का एकमात्र कारण थी यह सिद्ध कर दिया कि मुस्लिम लीग पाकिस्तान की माँग पूर्ण होने से कम किसी भी प्रस्ताव को नहीं मानेगी। उसकी इस माँग के पीछे ब्रिटिश सरकार का पूरा सहयोग था। राष्ट्रीय नेताओं की रिहाई ने जनता में एक नये जीवन का संचार करने में मदद दी। जेलों से निकलने के बाद नेहरू पटेल आदि नेताओं ने जनता के भ्रमों का निवारण किया कि 'भारत छोड़ो' आन्दोलन निरर्थक नहीं था। जनता को पुनः स्वतन्त्रता प्राप्ति के निमित्त पूर्ण आशावान रहना चाहिए। वास्तव में वेवेल योजना किसी सच्चे भाव से नहीं रखी गई थी। वह तो केवल अनुदारवादी दल के निर्वाचन अभियान का प्रचार करने की चाल थी क्योंकि मजदूर दल ने उसके ऊपर यह आरोप लगाया था कि वह भारत की समस्या हल करने में असफल रहा है। चर्चिल की सरकार से मई में श्रमिक नेता अलग हो चुके थे। जुलाई में ब्रिटेन में नये आम चुनाव होने वाले थे। चर्चिल तथा एमरी ने स्पष्ट घोषणा की थी कि वेवेल योजना को भारत के नेताओं के समक्ष रखने तथा उन्हें इस पर विचार करने का मौका देने में हम किसी भी चीज को नहीं दे रहे हैं (we aren t giving away anything)। यह बात बिल्कुल सच्ची थी। भारतवासी स्वतन्त्रता चाहते थे और कांग्रेस जो स्वराज्य प्राप्त करने वाली प्रमुख दल था भारत की एकता पर दृढ़ था। यह योजना भारत को न स्वाधीनता देने का लक्ष्य रखती थी और न भारत की एकता बनाये रखने का इसमें प्रस्ताव था। ब्रिटिश सरकार इसकी असफलता के बारे में पहले से ही आश्वस्त थी।

यदि वेवेल योजना की शर्तों पर विचार किया जाय तो वह क्रिप्स द्वारा रखे गये 1942 के प्रस्तावों से भी निकृष्टतर थी। इसमें न तो औपनिवेशिक स्थिति की चर्चा थी न स्वाधीनता की और न ही भविष्य में स्वतन्त्र भारत के संविधान निर्माण करने वाली संविधान सभा के निर्माण की योजना थी। अतएव यह आश्चर्य की बात है कि कांग्रेस इसे स्वीकार करने को क्यों राजी हो गया। 1945 में इस योजना को स्वीकार करने की कांग्रेस की धारणा उतनी ही गलत थी जितनी 1942 में क्रिप्स योजना को अमान्य करने की। नाना अवसरों पर कांग्रेस ने राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मूल्यांकन सही नहीं किया। लगभग इन तीन वर्षों की अवधि में जिन्ना ने मुस्लिम लीग की स्थिति को अधिक सुदृढ़ कर लिया था। वे नये निर्वाचनों के लिए अधिक उत्सुक थे ताकि वे उसमें लीग की सफलता के द्वारा अपने इस भाव को पुष्ट कर सकें कि

लीग ही भारत के समस्त मुसलमानो का प्रतिनिधित्व करती है। इसके द्वारा वे मुस्लिम बहुल जनता वाले प्रान्तो मे लीग का बहुमत हो जाने पर यह दर्शाना चाहते थे कि वहाँ की जनता आत्म निर्णय के द्वारा पाकिस्तान की माँग को सही करती है। अतएव उन्हे केन्द्र मे राष्ट्रीय सरकार बनाने की चिन्ता नही थी। काग्रेस यह सोचती थी कि वह स्वतन्त्रता सघर्ष से ऊब चुकी है अतएव वह सरकार के साथ इस दिशा मे कोई समझौता कर लेने के बाद अग्रिम कार्यवाही के लिए उत्सुक थी। जो भी हो, शिमला सम्मेलन की विफलता के लिए जिन्ना की हठधर्मिता जिसे प्रोत्साहित करने मे ब्रिटिश नेताओ का पूरा हाथ था, जिम्मेदार थी। परन्तु इसने युद्धोत्तर काल मे सावैधानिक गतिरोध दूर करने के प्रयासो का मार्ग अवश्य खोल दिया।

प्रश्न

1 युद्ध के प्रति काग्रेस का क्या रुख था ?

2 टिप्पणी लिखिए—

(अ) अगस्त प्रस्ताव 1940, (द) आजाद हिन्द फौज (I N A),

(ब) व्यक्तिगत सत्याग्रह, (य) देसाई-अली पैक्ट,

(स) सी० आर० फार्मूला, (र) वैवेल योजना।

3 क्रिप्स प्रस्तावो मे भारतीय लोकमत को सतुष्ट करने के लिए क्या उपाय सुझाए गए थे ? इन प्रस्तावो को भारतीय लोकमत ने क्यो अस्वीकार किया ?

4 1942 के भारत छोडो आन्दोलन पर टिप्पणी लिखिए।

14

ब्रिटिश शासन का अवसान काल

(LAST DAYS OF BRITISH RAJ)

गजनीतिक घग्ना चत्र

विश्वयुद्ध का अन्त—1945 के प्रारम्भ म मित्र राष्ट्रा न यूराप की फासीवादी शक्तिया पर पूण विजय प्राप्त कर ली थी। अब युद्ध म केवल जापान उनका शत्रु रह गया था। अगस्त 1945 म जब अमरीका न जापान म दो अणु बम छोडे तो जापान ने भी आत्मसमपण कर दिया। इस प्रकार पूरे छ वष स चल हुए विश्वयुद्ध का अन्त हो गया और मित्र राष्ट्रो के हाथ विजय श्री लगी। अब विजता राष्ट्रा क समक्ष पुन विश्व का युद्धाग्नि स बचाने के लिए ठास कदम उठान की समस्या थी। इस दिशा म कदम भी उठाय जा रहे थे। उनके फलस्वरूप अक्टूबर 1945 म सयुक्त राष्ट्र सघ की स्थापना हुई। वास्तव म विश्वयुद्ध का एक कारण साम्राज्यवाद था। इस यद्यपि विश्वयुद्ध म इग्लण्ड की ओर था तथापि वह ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति का समथक नही था। युद्ध म इग्लण्ड की स्थिति बहुत निबल हो चुकी थी। अत अब वह अपन पुराने साम्राज्यवादी स्वप्ना को साकार किय रखने की शक्ति नही रख सकता था। उसके ऊपर रूस तथा अमरीका यह दबाव द रहे थ कि वह भारत की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की माग का पूरा कर। अप्रल 1945 म जब सान फ्रासिस्का म सयुक्त राष्ट्र सघ क निमाण पर विचार विनिमय हो रहा था तो रूस क विदेश मन्त्री मोलोटोव न टिप्पणी करत हुए कहा था इस सम्मलन म हमार सम्मुख एक भारतीय प्रतिनिधिमण्डल है परन्तु भारत एक स्वाधीन राज्य नही है। हम सब जानत ह कि वह समय आयगा जबकि एक स्वाधीन भारत की आवाज भी सुनाई दगी।[1] ऐसा अवसर पर उन्होन य आशा व्यक्त की थी कि सयुक्त राष्ट्र का प्रयास होगा कि व विश्व क पराधीन राष्ट्रा को स्वाधीनता दिलान की दिशा म प्रयास करेंग।

इग्लण्ड के आम चुनाव—यद्यपि चर्चिल क नतृत्व की रूढिवादी दल की सरकार न विश्व युद्ध का सचालन करके इग्लण्ड को विजयी बनान का श्रेय प्राप्त किया था तथापि इग्लण्ड की जनता रूढिवादी दल म उकता गयी था। युद्ध समाप्त होत ही जुलाई 1945 म इग्लण्ड के निर्वाचन परिणामा न मजदूर दल के नता एटली को ब्रिटिश सरकार क सचालन का भार सौंप दिया। इग्लण्ड म जब कभी मजदूर दल की सरकारें बनी भारत हमेशा उनस कुछ न कुछ आशा लगाय रखता था। इस समय मजदूर दल न अपन चुनाव अभियान म ही भारत क सावैधानिक गतिरोध का दूर करन की घोषणा की थी। साथ ही परिस्थितिया ऐसी थी कि मजदूर दल का इस सम्बन्ध म ठास कदम उठाना अवश्यक भी हो गया था।

भारत की स्थिति—काग्रेसी नताओ की जेलो से रिहाई स जनता का उत्साह बढ गया था। इन नताओ न पिछल तीन वर्षो म राष्ट्रीय आन्दोलन की पड गयी मन्द गतिया के कारण जनता म छायी हुई निराशा का दूर किया। यद्यपि अगस्त 1945 म भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन क प्रमुख नता सुभाषचन्द्र बोस की एक हवाई दुघटना म कथित मृत्यु क समाचारों स भारतवासी बहुत दुखी थ क्योंकि आजाद हिन्द फौज की जिस उत्साह क साथ उन्होंन सचालन किया था उसक फलस्वरूप भारतवासियो म उनक प्रति महान् निष्ठा उत्पन्न हो गयी थी। आजाद हिन्द

[1] Q ted in P S ta yy p it Vol II 656

फौज के सचालन के कारण उन्हे भारतवासी 'नेताजी' के नाम से पुकारते है। इस फौज का अग्रेजो ने दमन कर दिया और इसके तीन प्रमुख नेताओ शाहनवाज, ढिल्लन तथा सहगल के विरुद्ध फौजी न्यायालय मे मुकदमा चलाया गया। दिल्ली के लालकिले मे यह ऐतिहासिक मुकदमा चला जिसमे स्वय नेहरु सहित अनेक काग्रेसी नेता उन नेताओ के बचाव पक्ष मे वकील के रूप मे खडे हुए। न्यायालय ने उन्हे फासी की सजा सुना दी। उनके विरुद्ध आरोप था कि वे ब्रिटिश सरकार की फौज मे भागकर उसी के विरुद्ध सग्राम करने लगे थे। सारा भारत इस मुकदमे के निर्णय की बडी उत्सुकता मे प्रतीक्षा कर रहा था। गवर्नर-जनरल लार्ड वैवेल ने परिस्थिति का बडे विवेक से अध्ययन किया और अपने विशेष अधिकारो का प्रयोग करके इन नेताओ के मृत्यु-दण्ड को समाप्त कर दिया। आजाद हिन्द फौज का नारा 'जयहिन्द' आज भी भारत का राष्ट्रीय नारा हो चुका है। उक्त निर्णय से तथा आजाद हिन्द फौज के कार्यभाग से जनता मे एक नये उत्साह का सचार होने लगा था।

भारत के निर्वाचन—इग्लैण्ड मे मजदूर दल ने सत्ता प्राप्त करते ही सितम्बर 1945 मे गवर्नर-जनरल लार्ड वैवेल को परामर्श के लिए इग्लेण्ड बुलाया। वहाँ से आते ही गवर्नर-जनरल ने भारतीय राजनीतिक तथा साविधानिक गतिरोध को दूर करने के लिए 1935 के शासन अधिनियम के अन्तर्गत नये निर्वाचनो की घोषणा की। समय के राजनीतिक विकास-क्रम के सन्दर्भ मे काग्रेस ने पुन चुनाव लडने का सकल्प किया। उसने 'भारत छोडो' आन्दोलन के औचित्य को पुन दोहराकर अपने चुनाव घोषणा-पत्र मे उसे शामिल किया। निर्वाचनो मे पुन काग्रेस को भारी विजय प्राप्त हुई। सामान्य स्थानो मे से लगभग सभी स्थान काग्रेस ने प्राप्त कर लिए। मुस्लिम स्थानो मे से भी अनेक स्थान काग्रेस के हाथ लगे। परन्तु अधिकाश स्थान मुस्लिम लीग ने जीत लिए। पजाब मे सयुक्तवादियो को लीग के साथ पराजय का सामना करना पडा। पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त मे खुदाई खिदमतगारो का सामना लीग नही कर पायी, क्योकि वहाँ सीमान्त गाधी का प्रभाव बहुत ऊँचा था। परन्तु निर्वाचन-परिणाम इस बात के द्योतक सिद्ध हुए कि भारत के अधिकाश मुसलमान लीग के समर्थक है, अत लीग की पाकिस्तान की माँग को ठुकराना सम्भव नही रह गया। इन निर्वाचनो के परिणामस्वरूप सात प्रान्तो मे काग्रेस मन्त्रिमण्डल बने, पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त मे काग्रेस समर्थक खुदाई खिदमतगारो की सरकार बनी। सिन्ध तथा बगाल मे मुस्लिम लीग की सरकारे स्थापित हुई। पजाब मे सयुक्तवादियो ने अन्य दलो के सहयोग से सरकार बनाई परन्तु लीग ने इस पर बहुत रोष व्यक्त किया।

ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की घोषणा—भारत के उक्त आधार आम निर्वाचनो के परिणामो के आधार पर जनता के रुख को देखकर तथा भारत की सम्पूर्ण परिस्थितियो का अध्ययन करने के उपरान्त 15 मार्च 1946 को ब्रिटिश प्रधानमन्त्री क्लीमेंट एटली ने ब्रिटिश ससद मे घोषणा की कि 'भारतवासियो के आत्मनिर्णय तथा स्वतन्त्र भारत का सविधान स्वय निर्मित करने के अधिकार को हमे मान्यता देनी चाहिए। यदि स्वतन्त्र भारत ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से पृथक् रहना चाहे तो हमे भारत को इसके विरुद्ध बाध्य करने का भी कोई अधिकार नही है। नि सन्देह हमे अल्पसख्यको के हितो का ध्यान रखना चाहिए ताकि वे बहुसख्यको के भय से मुक्त रह सके। परन्तु इसका यह अर्थ भी नही है कि अल्पसख्यको को बहुसख्यको के निर्णय पर निषेधाधिकार प्रयुक्त करके साविधानिक प्रगति मे बाधा डालने की छूट मिल जाये।' स्पष्टत काग्रेस के लिए यह घोषणा बहुत आशाप्रद सिद्ध हुई। परन्तु मुस्लिम लीग ने अन्त तक अपने निषेधाधिकार की शक्ति का पुरजोर प्रयोग किया और पाकिस्तान लेकर ही उसे चैन पडा। इस सम्बन्ध मे रूढिवादी तथा श्रमिक दल की नीतियो मे जहाँ एक अन्तर था, वहाँ समानता भी थी। रूढिवादी सिद्धान्त था 'फूट डालो और शासन करो', श्रमिक दल की नीति थी 'फूट डालो और छोडो'।[1] दोनो दल

[1] Tara Chand, *op cit*, 455

मुस्लिम लीग की पृथक स्वतन्त्र राष्ट्र की माँग में सहानुभूति रखते थे। उक्त घोषणा के साथ ही प्रधानमन्त्री ने मन्त्रिमण्डल के एक शिष्टमण्डल को भारत की स्थिति का अध्ययन करने तथा सुझाव देने के निमित्त भारत में भेजने की घोषणा भी की। इसका उद्देश्य बताते हुए भारत मन्त्री ने कहा था कि वह भारत के नये संविधान निर्माण की व्यवस्था पर भारत की व्यवस्थापिकाओं में चुने गये प्रतिनिधियों तथा देशी नरेशों के साथ विचार करेगा, संविधान निर्मात्री संस्था की स्थापना तथा पूर्ण स्वायत्त शासन की स्थापना की व्यवस्था करायेगा। कांग्रेस के नेताओं ने इन घोषणाओं का स्वागत किया परन्तु मुस्लिम लीग इनके विरुद्ध थी क्योंकि इनके अन्तर्गत पाकिस्तान की स्थापना का कोई संकेत नहीं था।

केबिनेट मिशन योजना

उक्त घोषणा के अनुसार ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के तीन सदस्य लार्ड पैथिक लारेंस (भारत मन्त्री) सर स्टैफर्ड क्रिप्स तथा ए. वी. एलेक्जेण्डर केबिनेट शिष्टमण्डल के रूप में 23 मार्च 1946 को भारत पहुँचे। भारत पहुँचते ही मिशन के सदस्यों ने भारत सरकार के अधिकारियों, देश के विभिन्न वर्गों के नेताओं विशेष रूप से कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के नेताओं तथा देशी नरेशों से सांविधानिक प्रगति के सम्बन्ध में वार्ता प्रारम्भ की। इस दीर्घ वार्ता में उन्होंने सकड़ों व्यक्तियों से साक्षात्कार किया और एक सर्वसम्मत हल की खोज की। परन्तु मुस्लिम लीग की हठधर्मिता केबिनेट मिशन के कार्य में भी बाधक सिद्ध हुई। अन्ततः जब वार्ता से कोई सर्वमान्य हल नहीं निकला तो मिशन ने ब्रिटिश सरकार के परामर्श से स्वयं एक योजना प्रस्तुत की जिसे केबिनेट मिशन योजना (Cabinet Mission Plan) कहा जाता है। इसकी घोषणा 16 मई 1946 को की गयी थी।

योजना—केबिनेट मिशन ने भारतीय स्वतन्त्रता तथा सांविधानिक समस्या के हल के लिए निम्नांकित प्रस्ताव रखे—

(1) **सम्पूर्ण भारत का एक संघ**—मिशन की दृष्टि में भारत की साम्प्रदायिक समस्या का हल पाकिस्तान का निर्माण नहीं हो सकता था क्योंकि वह व्यवहार में सम्भव नहीं हो सकेगा। अतः समूचे भारत को जिसमें देशी रियासतें भी शामिल हों, एक संघात्मक राज्य के रूप में संगठित किया जाना चाहिए। प्रस्तावित संघ में देशी रियासतों के शामिल होने पर उनकी सांविधानिक स्थिति को विस्तार से नहीं समझाया गया था। परन्तु ब्रिटिश प्रान्तों के बारे में उनके समूह बनाकर उन्हें संघ व इकाई (प्रान्तों) तथा संघ की मध्यवर्ती इकाइयों के रूप में रखने का प्रस्ताव था। ये मध्यवर्ती प्रान्तीय समूह तीन भागों में बाँटे गये—(क) बम्बई, मद्रास, मध्यप्रदेश, बिहार, उड़ीसा तथा संयुक्त प्रान्त, (ख) असम तथा बंगाल और (ग) पंजाब, सिन्ध तथा पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त।

(2) **संविधान निर्माण**—प्रस्तावित संघ व्यवस्था के अन्तर्गत संविधान निर्माण के हेतु मिशन ने भारतीय प्रतिनिधियों की संविधान सभा निर्मित करने का प्रस्ताव रखा था। संविधान सभा के प्रतिनिधि प्रान्तों की व्यवस्थापिकाओं के सदस्यों के द्वारा समानुपाती प्रतिनिधित्व व एकल संक्रमणीय मतदान की पद्धति से चुने जाने थे। प्रत्येक प्रान्त से चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या प्रति दस लाख की जनसंख्या पर एक सदस्य के हिसाब से निर्धारित की गयी थी। निर्वाचन क्षेत्रों के सम्बन्ध में तीन प्रकार के निर्वाचन मण्डल मान्य किये गये थे (सामान्य, मुस्लिम तथा पंजाब के लिए सिक्ख भी)। इस प्रकार संविधान सभा में कुल 389 सदस्य होने जिसमें से 292 ब्रिटिश प्रान्तों से, 93 देशी रियासतों से तथा 4 चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों से लिए जाते। देशी रियासतों के प्रतिनिधियों को चुनने के बारे में उनसे परामर्श करके विधि का निर्धारण करने का प्रस्ताव था। प्रान्तीय 292 प्रतिनिधियों में से 210 स्थान सामान्य, 78 मुसलमानों के तथा 4 सिक्खों के लिए तय किये गये थे।

(3) **सघ सरकार**—प्रस्तावित सघ मे केन्द्रीय सरकार को प्रतिरक्षा, वैदेशिक मामलो तथा सचार यातायात के विषय दिये जाने थे। अवशिष्ट विषय प्रान्तो को दिये जाने का सुझाव रखा गया था। केन्द्रीय (सघीय) सरकार मे एक कार्यपालिका तथा एक व्यवस्थापिका होती जिसमे ब्रिटिश भारत तथा रियासतो के प्रतिनिधि होते। व्यवस्थापिका मे किसी भी साम्प्रदायिक मामले का निर्णय व्यवस्थापिका मे उपस्थित सदस्यो के एव दोनो प्रमुख सम्प्रदायो (हिन्दू तथा मुस्लिम) के उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यो के बहुमत से किया जाता।

(4) **सविधान निर्माण प्रक्रिया तथा विषयो के वितरण मे प्रान्तो की स्थिति**—कैबिनेट मिशन योजना ने सविधान निर्माण प्रक्रिया के सम्बन्ध मे भी कुछ सुझाव दिये थे। सविधान सभा की प्राथमिक बैठक के उपरान्त विविध वर्गो मे बॉटे गये प्रान्तो के प्रतिनिधि पृथक्-पृथक् बैठकर अपने वर्गो के प्रान्तो के लिये सविधान बनाते। वह अपने प्रान्त-मण्डल तथा उसमे शामिल प्रान्तो के मध्य भी विषयो का विभाजन करते। अन्त मे समूची सविधान सभा केन्द्रीय तथा प्रान्तो के वितरण पर पुन विचार करके सविधान का अन्तिम रूप देती। ब्रिटेन के द्वारा भारत को सत्ता हस्तान्तरण के सम्बन्ध मे सविधान सभा तथा ब्रिटिश सरकार के मध्य तक सन्धि किये जाने का प्रस्ताव था। यह बात भारतीय सविधान सभा की इच्छा पर छोड दी गयी थी कि वह ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल मे रहे या न रहे। नये सविधान के लागू हो जाने पर किसी प्रान्त की व्यवस्थापिका निर्धारित प्रान्त-मण्डल मे रहने या न रहने का निर्णय भी कर सकती थी। उसे बहुमत द्वारा प्रति दस वर्ष पश्चात् सविधान मे पुन सशोधन सम्बन्धी विचार करने की मॉग रखने का भी अधिकार दिया गया था।

(5) **सविधान सभा की सर्वोच्चता**—इस प्रकार निर्मित भारत की सविधान सभा जिस सविधान को तैयार करती उसे लागू करने के लिए ब्रिटिश सरकार बाध्य रहती।

(6) **अन्तरिम सरकार का गठन**—कैबिनेट मिशन योजना मे उपर्युक्त बाते दीर्घकालीन योजना के रूप मे थी। परन्तु ब्रिटिश सरकार यथाशीघ्र भारत को स्वतन्त्र कर देना चाहती थी। अत इस योजना मे यह भी प्रस्तावित था कि यथाशीघ्र भारत मे एक अन्तरिम सरकार की स्थापना की जायेगी जिसमे शासन के सम्पूर्ण विषय भारतीय मन्त्रियो को दे दिये जायेगे। यह सरकार भारत के प्रमुख राजनीतिक दलो का प्रतिनिधित्व करेगी। ब्रिटिश सरकार इस अन्तरिम सरकार को शासन-सचालन के सम्बन्ध मे पूरा सहयोग प्रदान करेगी, ताकि सत्ता का हस्तान्तरण द्रुत गति से तथा शान्तिपूर्ण ढग से सम्पन्न हो सके।

मूल्याकन—इसमे कोई सन्देह नही कि कैबिनेट मिशन योजना पिछली अन्य योजनाओ तथा आश्वासनो से कही अधिक स्पष्ट थी। साथ ही इसमे ब्रिटेन की भारत को शीघ्रातिशीघ्र स्वाधीन कर देने की आतुरता भी प्रकट होती थी। पाकिस्तान के निर्माण की मुस्लिम लीग की मॉग को इस योजना के निर्माताओ ने व्यावहारिक, राजनीतिक, प्रशासकीय, भौगोलिक, आर्थिक आदि सभी दृष्टिकोणो से अवाछनीय मानकर अस्वीकार किया था। अत यह स्पष्ट था कि पाकिस्तान का ही एकमात्र स्वप्न देखने वाली मुस्लिम लीग कदापि इन प्रस्तावो को स्वीकार नही करती। इस योजना ने अन्तरिम सरकार की स्थापना के सम्बन्ध मे जिन प्रस्तावो को रखा था वे भी उत्तरदायी शासन के सिद्धान्त से मेल नही खाते थे।

इतना होने के बावजूद इस योजना मे कई बाते अस्पष्ट तथा भ्रामक थी। विशेष रूप से प्रान्तो को तीन मण्डलो मे बॉटने की योजना ने काग्रेस तथा मुस्लिम लीग को अलग-अलग अर्थ निकालने का अवसर दिया। काग्रेस ने यह अर्थ लगाया कि कोई भी प्रान्त निर्धारित मण्डल मे शामिल होने या न होने तथा मण्डल का सविधान बन जाने पर उसे स्वीकार करने या न करने के लिए स्वतन्त्र है। इसके विपरीत लीग की धारणा यह थी कि निर्धारित मण्डल मे रखे गये प्रान्त के लिए उसी मे बने रहना अनिवार्य है तथा किसी वर्ग-विशेष द्वारा लिये जाने वाले निर्णय उस वर्ग के प्रतिनिधियो के साधारण बहुमत से किये जायेगे। 25 मई 1946 को मिशन ने इस विवादास्पद मामले की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया कि प्रान्त-मण्डलो का निर्माण सुविदित है

और उसमें रहना या न रहना प्रांत की इच्छा पर नहीं है। मण्डल के संविधान को स्वीकार करने या न करने के अधिकार का प्रयोग नये संविधान के आधार पर निर्मित व्यवस्थापिका ही कर सकती है। इस प्रकार मिशन ने लीग की धारणा का समर्थन किया। यद्यपि मिशन ने लीग की *पाकिस्तान की माँग को ठुकरा दिया था तथापि जिस प्रकार से प्रान्तों के मण्डल बनाये गये थे* उससे यह स्पष्ट था कि उनका आधार साम्प्रदायिक था और वे पाकिस्तान निर्माण में सहायक सिद्ध होते। कांग्रेस ने आंशिक रूप में ही योजना का स्वागत किया। वह अन्तरिम सरकार की स्थिति तथा शक्तियाँ, भारत में ब्रिटिश सेनाओं के *अस्तित्व तथा उप संघ की स्थापना और संविधान* सभा में देशी रियासतों के प्रतिनिधित्व की योजनाओं से सन्तुष्ट नहीं थी। परन्तु लीग इस योजना से बिल्कुल असन्तुष्ट रही क्योंकि इस योजना ने पाकिस्तान निर्माण की धारणा को अमान्य किया था न पृथक संविधान सभाओं की स्थापना का उल्लेख इसमें था। केन्द्रीय कार्यपालिका में भी मुसलमानों तथा गैर मुसलमानों को समान प्रतिनिधित्व देने की बात इसमें नहीं थी।

योजना पर अमल

(1) **संविधान सभा**—योजना पर अमल करने के लिए ब्रिटिश प्रान्तों में अगस्त जुलाई 1946 में संविधान सभा के निर्वाचन कराये गये जिसमें कांग्रेस को 205 तथा लीग को 73 स्थान प्राप्त हुए। इससे लीग को बड़ी निराशा हुई। यद्यपि मुस्लिम लीग 6 जून 1946 को इस योजना को स्वीकार कर चुकी थी तथापि निर्वाचन के पश्चात् लीग ने इसे अस्वीकार कर दिया। इसी बीच अंतरिम सरकार निर्मित की जा रही थी। लीग की निराशा बढ़ने से उसने भाषण देना तथा रक्तपात को प्रोत्साहन दे दिया था। अन्तरिम सरकार भी बन चुकी थी। 6 दिसम्बर 1946 को ब्रिटिश अधिकारियों ने पुनः प्रान्त मण्डलों सम्बन्धी विवाद की व्याख्या की जिसमें मुस्लिम लीग के निर्वचन को मान्य किया गया था। *9 दिसम्बर 1946 को संविधान सभा की प्रथम बैठक* हुई। परन्तु लीग ने इसका बहिष्कार किया। संविधान सभा का कार्य चलता गया। यद्यपि कांग्रेस ने योजना को 25 जून 1946 को स्वीकार कर लिया था तथापि वह प्रान्त मण्डलों के सम्बन्ध में *अपने ही निर्वचन पर निश्चल रही। जब 6 दिसम्बर को ब्रिटिश सरकार ने पुनः इसकी व्याख्या* की और कांग्रेस के दृष्टिकोण का समर्थन नहीं मिला तो तब भी कांग्रेस ने असहयोगी रुख नहीं अपनाया और 7 जनवरी 1947 को कांग्रेस ने 6 दिसम्बर 1946 के वक्तव्य को भी इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि प्रान्त मण्डलों सम्बन्धी *व्यवस्था* किसी प्रान्त पर अनुचित दबाव न डाले और पंजाब में सिक्खों के हितों का संरक्षण किया जाय। लीग ने यह बहाना बनाकर कि कांग्रेस ने 16 मई 1946 के प्रस्ताव को पूर्णतया स्वीकार नहीं किया है संविधान सभा का बहिष्कार जारी रखा। वह कभी भी संविधान सभा में शामिल नहीं हुई।

(2) **अंतरिम सरकार की स्थापना**—कैबिनेट मिशन ने लार्ड वेवल (गवर्नर जनरल) को अन्तरिम सरकार की स्थापना के आदेश दे दिये थे। परंतु जब लार्ड वेवल ने राष्ट्रीय नेताओं के समक्ष यह प्रस्ताव रखा तो अंतरिम सरकार का निर्माण करने के सम्बन्ध में यह कठिनाई उत्पन्न हुई कि किन किन लोगों को मन्त्रिमण्डल में लिया जाय। कांग्रेस इस बात को मानने के लिए राजी नहीं थी कि मन्त्रिमण्डल में कांग्रेस को सवर्ण अनुसूचित जाति के प्रतिनिधियों के मुस्लिम लीग के भी बराबर स्थान मिलें। मुस्लिम लीग यह अवसर देख रही थी कि कांग्रेस इससे पृथक रहे तो वह अन्य कुछ दलों तथा वर्गों से मिलकर मन्त्रिमण्डल बना लेगी। परन्तु गवर्नर जनरल ने ऐसी व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया। अतः 29 जून को एक 7 सदस्यीय संरक्षक (care taker) सरकार बना दी गयी। परन्तु यह योजना का समाधान नहीं था। अतः 22 जुलाई को गवर्नर जनरल ने एक 14 सदस्यीय मन्त्रिमण्डल का प्रस्ताव रखा जिसमें 6 कांग्रेस के 5 लीग के तथा 3 अन्य सदस्य होने। कांग्रेस को अपने कोटे में एक अनुसूचित जाति के सदस्य तथा एक राष्ट्रवादी मुसलमान को भी नामांकित करने का अधिकार दिया गया। लीग इससे भी सन्तुष्ट नहीं

हुई। कांग्रेस ने इसे स्वीकार कर लिया। 24 अगस्त 1946 को गवर्नर-जनरल ने प० जवाहरलाल नेहरू को सरकार का निर्माण करने का आमन्त्रण दिया। इस पर मुस्लिम लीग ने कैबिनेट मिशन योजना के दोनो पक्षो (दीर्घकालीन तथा अन्तरिमकालीन) को अस्वीकार कर दिया। अत 2 सितम्बर 1946 को प० नेहरू की उपाध्यक्षता मे अन्तरिम सरकार की स्थापना हो गयी। 12 सदस्यीय मन्त्रिमण्डल मे कांग्रेसी हिन्दू, राष्ट्रवादी मुसलमान, सिक्ख, ईसाई तथा अनुसूचित जातियो के प्रतिनिधि नियुक्त किये गये।[1] दो मुस्लिम स्थान रिक्त छोडे गये। मुस्लिम लीग को इससे और अधिक धक्का लगा।

लीग द्वारा प्रत्यक्ष कार्यवाही तथा सरकार मे प्रवेश—लीग की हठधर्मिता के कारण गवर्नर-जनरल को अन्तरिम सरकार की स्थापना के कार्य मे बडी अडचनो का सामना करना पड रहा था। लीग द्वारा कैबिनेट योजना को अस्वीकृत कर देने पर जब 6 अगस्त 1946 को गवर्नर-जनरल ने कांग्रेस को अन्तरिम सरकार के निर्माण हेतु सहयोग देने को कहा तो लीग ने अवाछनीय रवैया अपनाया। उसके आह्वान पर 16 अगस्त 1946 का दिन प्रत्यक्ष कार्यवाही के लिए तय किया गया। उस दिन कलकत्ता, ढाका तथा सिलहट मे भीषण उत्पात हुए। नोआखाली के अत्याचारो की कहानी वर्णनातीत है। साम्प्रदायिक दगो मे नर-सहार, बलात्कार, बलात् धर्म परिवर्तन-बलात् विवाह आदि की घटनाएँ मानवता की सीमा का उल्लघन करके दानवता मे परिणत हो गई। अनुमान है कि इन उत्पातो मे हजारो नर-नारियो की बलि दी गई। बगाल को ऐसी क्षोभपूर्ण स्थिति 1943 के भीषण अकाल मे भी नही देखनी पडी थी। प० नेहरू ने भारत की व्यवस्थापिका सभा मे इन उत्पातो के सम्बन्ध मे वक्तव्य देते हुए इनके लिए लीग को दोषी ठहराया। इतना सब कर चुकने पर भी लीग को चैन नही था, क्योकि अन्तरिम सरकार मे अपनी अनुपस्थिति से वह बेचैन हो उठी थी। गवर्नर-जनरल भी लीग को सरकार मे लेने के लिए बहुत उत्सुक थे। पण्डित नेहरू के नेतृत्व मे अन्तरिम सरकार ने अनेक सुन्दर परम्पराएँ स्थापित कर ली थी। समूचा मन्त्रिमण्डल नेहरू के नेतृत्व पर विश्वास करता था और सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर कार्य करने के लिए वचनबद्ध हो चुका था।

अक्टूबर 1946 मे गवर्नर-जनरल से वार्ता करने के बाद मुस्लिम लीग ने अन्तरिम सरकार मे प्रविष्ट होने की कामना व्यक्त की। लार्ड वेवेल ने मुस्लिम लीग को उसके लिए निर्धारित पाँचो स्थानो मे अपने प्रतिनिधि भेजकर सरकार के प्रविष्ट होने की स्वीकृति दे दी, परन्तु लीग से यह आश्वासन नही लिया कि वह सविधान सभा मे भाग लेगी। सरकार मे शामिल राष्ट्रवादी मुसलमानो ने त्याग-पत्र देकर लीग के लिए स्थान रिक्त कर दिये।[2] सरकार मे शामिल होने पर लीग ने पुन असहयोगपूर्ण रवैया अपनाया। वह सरकार मे एक पृथक् गुट के रूप मे कार्य करने लगी। उसने नेहरू जी के नेतृत्व को स्वीकार नही किया और बहुधा मन्त्रिमण्डल की नीतियो का विरोध करना शुरू किया। इस प्रकार 14 अगस्त 1947 तक मुस्लिम लीग भारत की अन्तरिम सरकार मे बनी रही, और असहयोगपूर्ण रवैये से कार्य करती रही।

पूर्ण स्वतन्त्रता की ओर—भारत की राजनीतिक स्थिति बिगडती जा रही थी। मुस्लिम लीग के कार्य-कलापो, विशेषतया प्रत्यक्ष कार्यवाही, से जो स्थिति उत्पन्न हो गई थी, उसके बडे भयकर परिणाम होने नजर आ रहे थे। दगो के कारण देश मे गृह-युद्ध का सा वातावरण बन गया था। द्वि-दलीय सरकार होने के कारण स्वय उसके लिए भी दगो का सामना करना कठिन था। ब्रिटिश सरकार भी आशकित थी कि वह इस स्थिति का सामना करने मे असमर्थ है। अत

[1] मन्त्रिमण्डल के सदस्य—प० जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, डा० राजेन्द्र प्रसाद, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, श्री आसफअली, सरदार बलदेवसिंह, श्री जगजीवन राम, सैयदअली जहीर, श्री शरत् चन्द्र बोस, जोन मथाई, सी० एच० भाभा तथा शफात अहमद खाँ थे।

[2] लीग के पाँच सदस्य लियाकत अली खाँ, चुन्द्रीगर, अब्दुर्रब निश्तर, गजनफर अली खाँ तथा जोगेन्द्रनाथ मण्डल थे।

ब्रिटिश सरकार यथाशीघ्र भारत को सत्ता सौंप देने के लिए व्यग्र थी।

20 फरवरी 1947 की घोषणा—ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ऐटली ने 20 फरवरी 1947 को यह घोषणा की कि सम्राट की सरकार निश्चित रूप से जून 1948 तक भारतवासियों को भारत की शासन सत्ता सौंप देने का लक्ष्य रखती है। इसी के साथ साथ ब्रिटिश सरकार ने यह आशा व्यक्त की कि भारतवासी विवेक तथा बुद्धि का मार्ग अपनाकर ऐसा वातावरण बनायें जिससे कि वे ब्रिटेन से अपने देश की सत्ता प्राप्त करने तथा उसका समुचित संचालन करने में समर्थ हो सकें। यदि जून 1948 तक संविधान सभा संविधान तैयार न कर सकी तो ब्रिटिश सरकार उस समय तक निर्मित केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकारों को सत्ता हस्तान्तरित कर देने के प्रश्न पर विचार करेगी।

लार्ड माउण्टबेटन का गवर्नर-जनरल बनना—उपर्युक्त घोषणा से सम्बद्ध ब्रिटिश सरकार का एक निर्णय यह भी था कि लार्ड वेवल के स्थान पर लार्ड माउण्टबेटन को गवर्नर जनरल के पद पर नियुक्त कर दिया गया।

माउण्टबेटन योजना—गवर्नर जनरल का पद सम्भालते ही लार्ड माउण्टबेटन ने भारत की स्थिति का अध्ययन किया। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि देश की राजनीतिक स्थिति बिगड़ती जा रही है। मुस्लिम लीग किसी भी भांति अखण्ड भारत की व्यवस्था को स्वीकार नहीं करेगी। ऐसी स्थिति में जून 1948 तक ब्रिटिश सरकार का भारत में बने रहना वांछनीय नहीं होगा। उनका निष्कर्ष यही था कि देश का विभाजन ही समस्या का एकमात्र समाधान हो सकता है। अतः उन्होंने भारत विभाजन की एक योजना बनाई। उसके सम्बन्ध में कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के नेताओं के विचार ज्ञात करने तथा उस पर उनकी सहमति के बारे में भी आश्वस्त होने का प्रयास किया। पाकिस्तान निर्माण के सम्बन्ध में उन्होंने यह अनुभव किया कि कुछ बातों पर दोनों दलों के नेता सहमत हैं। यद्यपि कांग्रेस ने भारत विभाजन के प्रस्ताव का सदैव विरोध किया था तथापि जब उसे ऐसा आभास हो गया था कि पाकिस्तान का निर्माण अपरिहार्य हो चुका है अन्यथा मुस्लिम लीग स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधक बनी रहेगी।

माउण्टबेटन योजना बनाम मेनन योजना—लार्ड माउण्टबेटन ने जिस योजना को 2 जून 1947 को ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति के लिए अपने प्रमुख अंग्रेज सलाहकारों के हाथ लन्दन भेजा था उसके निर्माण में उसके सांविधानिक सलाहकार के० पी० मेनन की उपेक्षा की गई थी क्योंकि वे एक भारतीय अधिकारी साथ ही गैर मुस्लिम थे। मेनन की सरदार पटेल के साथ अच्छी मैत्री थी। वे स्वयं एक चतुर कुशल तथा प्रतिभाशाली राजनयिक अधिकारी थे। 1946–47 में भारत की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में जो वातावरण बन चुका था उसके विभिन्न पहलुओं के गुणावगुणों का उन्होंने बहुत अच्छा अध्ययन कर लिया था। वे भी पाकिस्तान के निर्माण की अपरिहार्यता पर आश्वस्त हो चुके थे। अतः उनकी अपनी ही एक योजना थी जिसके बारे में वे सरदार पटेल से विचार विमर्श कर चुके थे और सम्भवतः पटेल उसे स्वीकार कर चुके थे। परन्तु मेनन को इसे न वाइसराय को बताने का अवसर मिला था और न नेहरू जी को। माउण्टबेटन ने अपनी योजना के बारे में मेनन को भी अंधकार में रखा था। माउण्टबेटन की योजना कैबिनेट मिशन योजना का ही एक रूप थी जिसमें पार्टी के नेताओं की सहमति के बिना ही एकतरफा तौर पर प्रदेशों को सत्ता हस्तान्तरित कर देना चाहिए और केन्द्र में मजबूत केन्द्रीय सरकार के बदले एक फेडरेशन होनी चाहिए।[1] माउण्टबेटन ने कांग्रेस तथा लीग दोनों दलों द्वारा योजना में बाधा डालने की सम्भावित बातों को भी सोच लिया था और उनके समाधान के तरीकों का भी हल निकाल लिया था। भारत के विभाजन की समस्याओं पर उसने गांधी जिन्ना वार्ता का आयोजन कर लिया था। परन्तु वास्तविक योजना किसी पक्ष को नहीं बताया गई थी।

[1] लिओनार्ड मोसले भारत में ब्रिटिश राज्य के अन्तिम दिन 88।

इसके तुरन्त बाद वाइसराय शिमला पहुँचे। मेनन भी साथ मे गये थे। वहाँ वाइसराय ने मेनन से भारत की भावी स्थिति (राष्ट्रमण्डल का सदस्य बनकर या अलग रहकर) के सवाल को छेडा तो मेनन ने कहा 'मैने तो इस समस्या को सुलझाने के लिए एक योजना बना रखी है क्या आपको किसी ने नही बताया। मैंने लार्ड वैवेल को इसके बारे मे बताया था और इण्डिया आफिस को भी इसकी सूचना दी थी।' इसके बाद मेनन ने इसके सम्बन्ध मे पटेल से हुई अपनी वार्ता का भी उल्लेख किया। मेनन ने उपनिवेश के आधार पर सत्ता हस्तान्तरित करने तथा पटेल के माध्यम से काग्रेस द्वारा उसकी स्वीकृति कराये जाने की बात भी बताई। जिन्ना तथा लीग तो उपनिवेश के आधार पर राष्ट्र-मण्डल मे रहते हुए सत्ता प्राप्त करने को इच्छुक थे ही। मेनन की योजना से वाइसराय अत्यन्त प्रभावित हुआ। वाइसराय द्वारा अपनी योजना के बारे मे मेनन से पूछने पर मेनन ने कहा कि 'आपने मुझ से पूछा ही कब था'।

17 मई को वाइसराय ने सभी भारतीय प्रमुख नेताओ की बैठक शिमला मे बुलाई थी। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने माउण्टबेटन योजना को कुछ चन्द सशोधनो सहित स्वीकृति दे दी थी और वह पहुँच चुकी थी। 10 मई की शाम वाइसराय ने मूड मे आकर नेहरू जी को यह दिखाई तो नेहरु झल्ला उठे और इसे मानने को कतई इनकार कर दिया और उसी नाराजगी की मुद्रा मे चले गये। दूसरे दिन उन्होने इस योजना के खतरो से आगाह करते हुए वाइसराय को एक स्मरण-पत्र भेजा। वाइसराय परेशान थे। तुरन्त मेनन को बुलाया गया और अपनी योजना शाम तक दे देने को कहा, क्योकि शाम तक नेहरू जी चले जाने वाले थे फिर उन्हे पकड सकना कठिन होता। इतनी महान् योजना जिसे अग्रेज सरकार इतने वर्षो तक न तैयार कर सकी, मेनन को तीन चार घण्टे मे तैयार करनी थी। मेनन इससे भी परेशान थे कि वे नेहरू जी से वाइसराय के सकेत पर कुछ बाते पहले भी कर चुके थे और नेहरु को ऐसा आभास हो गया था कि मेनन पटेल से इसके बारे मे पहले ही विचार कर चुके है। अन्ततोगत्वा मेनन ने किसी तरह इसे तैयार किया। मोसले ने लिखा है कि 'जिस योजना से हिन्दुस्तान और दुनिया की शक्ल बदलने वाली थी उसे तैयार करने मे एक आदमी को सिर्फ चार घण्टे लगे थे।'[1] इन परिस्थितियो मे वाइसराय ने 17 मई वाली बैठक को स्थगित करवा दिया और इग्लैण्ड को तार भेजा कि पहली योजना मे कुछ कमियाँ रह गयी है, दूसरी तुरन्त भेजी जा रही है। इग्लैण्ड से तार आया कि वाइसराय स्वय आवे और विचार-विनिमय करे। 18 मई को लार्ड माउण्टबेटन मेनन वाली योजना लेकर इग्लैण्ड को रवाना हुए। मेनन भी साथ मे थे। वाइसराय के अग्रेज सलाहकार झल्लाये हुए थे कि उनकी योजना को स्वीकार नही किया गया। इग्लैण्ड मे प्रधानमन्त्री के भवन मे इस योजना को स्वीकृति देने मे केवल 5 मिनट लगे।[2] वाइसराय ने मेनन की इस असाधारण प्रतिभा के लिए उन्हे अनेक धन्यवाद दिये, उनकी प्रशसा की और आभार प्रकट किया।

3 जून 1947 को गाधी जी तथा जिन्ना से सलाह कर लेने के उपरान्त माउण्टबेटन ने मेनन द्वारा तैयार की गई तथा ब्रिटिश केबिनेट द्वारा स्वीकृत कर दी गई इस योजना की घोषणा कर दी। इसके अनुसार अग्रेजो ने 15 अगस्त 1947 को भारत की सत्ता को छोड देने का विचार व्यक्त किया। दूसरे, भारत तथा पाकिस्तान के दो पृथक् उपनिवेश बनेगे जिन्हे ब्रिटिश सरकार सत्ता का हस्तान्तरण करेगी। देश विभाजन के निमित्त योजना मे कहा गया था कि बगाल तथा पजाब विधानसभाओ के मुस्लिम तथा गैर-मुस्लिम बहुसख्यक जिलो के प्रतिनिधि पृथक् मतदान द्वारा भारत या पाकिस्तान मे रहने का निर्णय करेगे। सिन्ध की विधान सभा समूचे रूप मे भारत या पाकिस्तान के विकल्प पर मतदान करेगी। बिलोचिस्तान मे स्वायत्त-शासी सस्थाओ के प्रतिनिधि सयुक्त रूप मे ऐसा विकल्प देगे। पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त तथा असम के मुस्लिम बहुसख्यक जनता वाले सिलहट जिले के क्षेत्र लोकनिर्णय द्वारा भारत या

[1] वही, 100।

[2] वही, 101।

पाकिस्तान म रहन का विक ल्प । तीसरे यदि पजाब तथा बगाल म एस निणयो क परिणाम स्वरूप प्रान्तो का विभाजन करना आवश्यक होगा तो उसके निमित्त सीमा आयोग की नियुक्ति की जायगी जो प्रान्तो की विभाजन रेखाओ का निधारण करेंग। चौथ दोनो देशो क मध्य विभाजन क परिणामस्वरूप लन देन क मामलो की भी व्यवस्था की जायगी।

चूकि ब्रिटिश सरकार न दोनो उपनिवेशो को 15 अगस्त 1947 को सत्ता हस्तान्तरित करने का निश्चय कर लिया था और काग्रस तथा मुस्लिम लीग दोनो न विभाजन को स्वीकार कर लिया था अत अब आवश्यकता इस बात की थी कि माउण्टबटन योजना को कार्यान्वित किया जाय। योजना क अतगत जिन क्षत्रो क प्रतिनिधियो या जनता को भारत या पाकिस्तान क सम्बन्ध म विकल्प दना था उसके परिणाम पूव निश्चित थ। अत माउण्टबटन योजना क पाकिस्तान म सिध बिलोचिस्तान पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त पश्चिमी पजाब पूर्वी बगाल तथा सिलहट जिले क मुस्लिम बहुसख्यक जनता वाले क्षेत्र शामिल हुए। पूर्वी पजाब तथा पश्चिम बगाल क जिलो न भारत सघ म शामिल होन का निश्चय किया। जिन्ना को एस ही भग्न पाकिस्तान को ग्रहण करना पडा। यह उनक स्वप्न क उस पाकिस्तान स कहीं अधिक बुरा था जिसको लाहौर सूत्र म प्रस्तावित किया गया था और जिस जिन्ना न लज पज तथा दीमको द्वारा नष्ट किया गया पाकिस्तान कहकर ठुकरा दिया था। पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान के मध्य को गलरी की माग तो कोरा स्वप्न ही सिद्ध हुई।

दूसरा काय इस योजना को कार्यान्वित करन क सम्बन्ध म विधि निर्माण का था। अत जुलाई 1947 म ब्रिटिश ससद क द्वारा मजदूर दल की सरकार न भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम को पारित कराया। साथ ही भारत म दोनो उपनिवेशो क निमाण क निमित्त सीमा आयोगो तथा लन देन की व्यवस्था सम्बन्धी कायवाहियाँ प्रारम्भ हुई।

सेना की समस्या—3 जुलाई 1947 की घोषणा क सम्बन्ध म काग्रस लीग तथा सिक्ख तीनो पक्षो स थोडी बहुत शकाय या विरोध व्यक्त किय गय परन्तु तीनो पक्ष किसी न किसी आधार पर इसे मानने को विवश हो गय थ या उन्हें मनवाया गया। लीग को पाकिस्तान का पृथक उपनिवेश मिल गया। काग्रस का भी स्वतन्त्रता प्राप्ति का लक्ष्य पूरा हो गया भारत ही उपनिवेश क रूप म जिस कभी आसानी स आग समाप्त कर सकती थी। सिक्खो क नेता बलदेवसिंह राजनीति म इतन पटु नहीं थ कि व पजाब क विभाजन को अस्वीकार करान म सफल होते।

परन्तु अब दो समस्याय थी प्रथम यह कि दोनो उपनिवेशो क गवनर जनरल कौन हो? दोनो नय उपनिवेशो क मध्य बटवारा तथा सद्भावना क वातावरण को बनाय रखन क लिए मध्यस्थ क रूप म माउण्टबटन को ही कुछ समय तक दोनो का गवनर जनरल बनाय रखना उचित समझा जा रहा था। यह बात भारतीय सेना म काम कर रहे ब्रिटिश नागरिक एव सनिक अधिकारियो क हित म भी थी। जिन्ना इस टालते रहे और अन्त म स्वय ही पाकिस्तान के गवनर जनरल बनन के इच्छुक हो गय। काग्रस न माउण्टबटन को स्वीकार कर लिया। युद्ध समाप्त हुए अभी अधिक समय नहीं बीता था। उस समय भारत का प्रधान सनापति अचिनलक था वह कुशल शासक अवश्य था परतु कुशल राजनीतिज्ञ नहीं था। आजाद हिन्द फौज के अफसरो पर मुकदमा चलाय जाने की उसकी जिद न उस भारतीयो क मध्य अलोकप्रिय बना दिया था। वह नहीं चाहता था कि इतनी शीघ्र सेना को भी दो नय देशो क मध्य विभाजन कर दिया जाय। वह कम स कम अप्रल 1948 तक सयुक्त सेना को ब्रिटिश कमान क आधीन ही रखना चाहता था। परन्तु बिना सेना क राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को दोनो दलो क नेता अपूर्ण तथा अव्यावहारिक मानते थे। अचिनलक ब्रिटिश अधिकारियो की रक्षा क लिए भी ब्रिटिश कमान को बनाय रखना ठीक समझता था साथ ही विभाजन क परिणामस्वरूप होने वाले दंगो को रोकने के लिए भी। उसकी धारणा माउण्टबटन को स्वीकार नहीं हुई। अत 15 अगस्त 1947 स पूव सेना क बटवारे की भी व्यवस्था करनी थी।

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947

भारतीय शासन के सम्बन्ध मे ब्रिटिश ससद का यह अधिनियम सबसे अन्तिम कानूनी प्रलेख है । इसके प्राविधान निम्नाकित थे—

(1) 15 अगस्त 1947 को ब्रिटिश सरकार भारत के शासन की सम्पूर्ण सत्ता भारत तथा पाकिस्तान के दो उपनिवेशो को हस्तान्तरित कर देगी ।

(2) भारतीय सघ मे बम्बई, मद्रास, मध्य प्रान्त, बिहार, उडीसा, सयुक्त प्रान्त, पश्चिमी बगाल, पूर्वी पजाब, मुस्लिम बहुल जनता वाले सिलहट जिले के क्षेत्रो को छोडकर शेष असम, दिल्ली, अजमेर तथा कुर्ग के प्रान्त सम्मिलित होगे ।

(3) पाकिस्तान के उपनिवेश मे सिन्ध, पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त, बिलोचिस्तान, पश्चिमी पजाब, पूर्वी बगाल तथा सिलहट के मुस्लिम बहुल जनता वाले क्षेत्र शामिल होगे ।

(4) बगाल तथा पजाब प्रान्तो के विभाजन के लिए एक सीमा आयोग नियुक्त किया जायेगा जिसमे प्रत्येक उपनिवेश से एक न्यायाधीश रहेगा और सर सिरिल रैडक्लिफ को इसका अध्यक्ष नियुक्त किया गया ।

(5) ब्रिटेन भारत की शासन-सत्ता प्रत्येक उपनिवेश की प्रभुत्व-सम्पन्न सविधान सभा को हस्तान्तरित करेगा । यह सभाएँ अपना सविधान निर्मित करने मे पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न होगी और ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल के साथ रहने या न रहने का निर्णय करने का इन्हे पूरा अधिकार प्राप्त रहेगा ।

(6) 15 अगस्त 1947 से प्रत्येक उपनिवेश के लिए गवर्नर-जनरल की नियुक्ति वहाँ के मन्त्रिमण्डलो की सलाह से की जायेगी । इसके परिणामस्वरूप भारत ने लार्ड माउण्टबेटन को तथा पाकिस्तान ने मिस्टर जिन्ना को अपना गवर्नर-जनरल नियुक्त किया जाना स्वीकार किया, जिनकी शक्ति वैधानिक प्रधानो की सी रह गई ।

(7) सविधान निर्माण की अवधि तक दोनो उपनिवेशो का शासन 1935 के अधिनियम के अनुसार चलता रहेगा, परन्तु उसमे आवश्यक परिवर्तन हो जायेगे, यथा प्रान्तीय गवर्नरो की नियुक्ति उपनिवेशो के मन्त्रिमण्डलो की सलाह पर की जायेगी और गवर्नर भी अपने प्रान्तो के वैधानिक प्रधान रहेगे ।

(8) 15 अगस्त 1947 मे भारत मन्त्री का पद समाप्त हो जायेगा और वेस्ट मिनिस्टर सविधि 1931 के अनुसार ब्रिटिश सरकार इन नये उपनिवेशो के साथ अपने सम्बन्धो का नियमन करेगी । इसका यह अर्थ था कि भारत तथा पाकिस्तान के साथ सम्बन्धो का निर्धारण राष्ट्र-मण्डलीय सचिव करेगा ।

(9) सविधान निर्माण हो जाने तथा उसे लागू होने की तिथि तक प्रत्येक उपनिवेश की सविधान सभाएँ वहाँ की केन्द्रीय व्यवस्थापिका के रूप मे भी कार्य करेगी । इन सभाओ द्वारा पारित कानूनो पर ब्रिटिश सरकार की कोई निषेधाधिकारी या स्वीकृति प्रदान करने की शक्ति नही रहेगी, न ब्रिटिश ससद इन उपनिवेशो के लिए कोई कानून बना सकेगी ।

(10) 15 अगस्त 1947 मे भारतीय देशी रियासतो के नरेशो के ऊपर ब्रिटेन की सार्वभौमिक सत्ता समाप्त हो जायेगी । इसका यह अर्थ था कि भारत की देशी रियासतो को भी पूर्णतया स्वतन्त्र कर दिया गया था । परन्तु इस अधिनियम ने यह प्राविधित किया था कि देशी नरेश स्वेच्छा से भारत या पाकिस्तान मे से किसी भी उपनिवेश मे शामिल हो जाने अथवा पूर्णतया स्वाधीन बने रहने के लिए स्वतन्त्र है ।

अधिनियम का कार्यान्वियन

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम 1947 के पारित होने तथा उसे लागू करने के बीच की

अवधि बहुत ही सूक्ष्म थी। अंग्रेज शासकों को भारत की बिगड़ती हुई परिस्थिति से बहुत चिन्ता हो रही थी। उन्हें विश्वास हो चुका था कि इस स्थिति का सामना करने का साहस तथा क्षमता उनमें नहीं रह गई है। वे शीघ्रातिशीघ्र इस दायित्व से मुक्त होना चाहते थे। मुस्लिम लीग ने 16 अगस्त 1946 से ही प्रत्यक्ष कार्यवाही का मार्ग अपनाकर देश में साम्प्रदायिक दंगों की आग सुलगा दी थी। यह कटुता दिनों दिन बढ़ाई जा रही थी। जब देश विभाजन का समय आया तो साम्प्रदायिक दंगों ने भीषणतम रूप धारण कर लिया। जो क्षेत्र पाकिस्तान को मिलने थे उनमें निवास करने वाले गैर मुस्लिम सम्प्रदायों को अपनी जान माल का भारी खतरा था। पाकिस्तान मांगने वाले मुसलमान यह नहीं चाहते कि प्रस्तावित पाकिस्तान की सीमा के अन्दर कोई भी गैर मुस्लिम रहे। अतः पाकिस्तान की गैर मुस्लिम जनता के साथ वहां के मुसलमानों ने दानवीय लीला प्रारम्भ कर दी। उनकी सम्पत्ति को लूटना, उनका नरसंहार, महिलाओं के साथ अत्याचार आदि सभी अमानुषिक कृत्य प्रारम्भ हुए। उन लोगों को अपनी सारी सम्पत्ति का मोह छोड़कर भारत में शरण लेने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं था। परन्तु पाकिस्तान के मुसलमान उन्हें जीवित भारत में आने देना तक नहीं चाहते थे। पंजाब तथा बंगाल इस भीषण रक्तपात के स्थल बन गये थे। इसकी प्रतिक्रिया भारत में होना भी अस्वाभाविक बात नहीं थी। यद्यपि भारत ने धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त अपनाया तथापि यहां भी कई स्थानों पर दंगे हुए। परन्तु भारत सरकार ने उन्हें दबाने की पूर्ण चेष्टा ही नहीं की अपितु भारत में बसे रहने के इच्छुक मुसलमानों को यथाशक्ति पूरा संरक्षण प्रदान किया और पाकिस्तान जाने के इच्छुक मुसलमानों को सुरक्षा के साथ वहां जाने की व्यवस्था की। साथ ही पाकिस्तान प्रदेश से भारत में आये शरणार्थियों को बसाने, उनकी सुख सुविधा आदि का भार अपने कंधों पर लिया।

इन हृदय विदारक घटनाओं का अधिक उल्लेख करना यहां पर प्रासंगिक नहीं है। दुनिया के समक्ष स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् के 26 वर्षों का इतिहास अभी ताजा है। यह तथ्य भी सूर्य के प्रकाश की भांति स्पष्ट है कि 1947 से लेकर आज तक पाकिस्तान में गैर मुस्लिम जनता दिनों दिन घटती जा रही है और वहां से हिन्दुओं का शरणार्थियों के रूप में भारत को निष्क्रमण जारी है। पाकिस्तानी सरकार तथा जनता दोनों इसे बढ़ावा दे रहे हैं जबकि भारत में लगभग 6 करोड़ मुसलमान पूर्ण अमन चैन से स्वतन्त्र नागरिकों की भांति रह रहे हैं। उन्हें सरकार के उच्चतम पदों को प्राप्त करने की सुविधा प्राप्त होती रही है। गत 26 वर्षों की अवधि में भारत में भी कुछ अवसरों पर साम्प्रदायिक दंगे अवश्य हुए हैं परन्तु इन दंगों का मुख्य कारण पाकिस्तानी प्रचार ही है। पाकिस्तान के एजेन्ट भारत में ऐसी कटुता उत्पन्न करते रहते हैं और अपने देश में हिन्दुओं के ऊपर किये जाने वाले अत्याचारों को छिपाने के लिए भारत में ऐसी गड़बड़ी उत्पन्न करने में लगे रहते हैं।

जब 15 अगस्त 1947 को ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने सत्ता से त्याग किया और अपने द्वि राष्ट्र सिद्धान्त तथा फूट डालो और शासन करो की नीति में सफल हो गये तो भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति ऐसी खून खराबी के वातावरण में प्राप्त हुई। संसार में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए रक्तमय क्रांतियों के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। उनमें सत्ताधारी शासकों तथा स्वतन्त्रता की इच्छुक जनता के मध्य युद्धों तथा क्रान्तियों के उदाहरण मिलते हैं जबकि भारत में सत्ताधारी अंग्रेज भले मनुष्यों की तरह सम्मानपूर्वक भारत की जनता को सत्ता हस्तान्तरित करके गये परन्तु देश का विभाजन करके दोनों राष्ट्रों को लड़ाकर तथा जनता के मध्य रक्तपात कराकर सत्ता छोड़ गये। 15 अगस्त 1947 के पूर्व भी जब दंगे होते रहे तो ब्रिटिश शासकों ने उन्हें उपेक्षित रखा। पण्डित नेहरू ने केन्द्रीय विधान सभा में एक बार कहा था कि जिस ब्रिटिश सरकार ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन को हिंसात्मक ढंग से कुचलने में कोई कमी रखी क्या वह इन दंगों को नहीं दबा सकती थी? वास्तव में अनेक ब्रिटिश अधिकारियों ने यहाँ तक प्रयास किया कि भारत में इन दंगों को अधिकाधिक प्रोत्साहित किया जाय और सत्ता छोड़ते समय ऐसी

अराजकता का वातावरण बना दिया जाये कि जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि भारतवासी अपने देश का शासन स्वयं चला सकने की क्षमता नही रखते। इसमे कोई सन्देह नही कि भारत मे मुस्लिम साम्प्रदायिकतावाद का सृजन साम्राज्यवादी ब्रिटिश शासको ने किया था और उसे इस प्रकार बढावा देते रहे कि जब तक उनके लिए सम्भव था तब तक उन्होने भारत मे अपना साम्राज्यवाद बनाये रखने के लिए साम्प्रदायिकतावाद का पूरा लाभ उठाया। अन्त मे देश का विभाजन करके सत्ता का त्याग किया और आज देश की स्वतन्त्रता के 26 वर्ष पश्चात् तक भी यह विष भारतीय राजनीति की नसो से नही उतरा हैं क्योकि अग्रेजो द्वारा सृजित साम्प्रदायिक विष का प्रतीक सर्प पाकिस्तान भारत की पश्चिमी तथा पूर्वी दोनो सीमाओ मे निरन्तर डक मारता रहा है। पाकिस्तान बनते ही पहले उसने काश्मीर पर आक्रमण किया था और आज तक वह काश्मीर का एक-तिहाई भाग जबरदस्ती हथियाए हुए है। उसके पश्चात् 1965 तथा 1971 मे उसने पुन भारत पर आक्रमण किया। यद्यपि दोनो बार उसे बुरी परास्त होना पडा था, तथापि वह अब भी अपने ऐसे नापाक इरादो को नही भूला है। 1971 के युद्ध मे उसे पूर्वी पाकिस्तान से हाथ धोना पडा था जो अब पाकिस्तानी अत्याचारो से मुक्त होकर स्वतन्त्र व प्रभुत्व-सम्पन्न बगला देश बन चुका हे। यह सब पाकिस्तान की साम्प्रदायिक धर्मान्धता तथा आत्माभिमान की घृणा भरी राजनीति का फल है।

15 अगस्त 1947 को भारत ने राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली, अग्रेज चले गये। यहाँ तक कि सभी उच्चतम सेवाओ मे नियुक्त अग्रेज पदाधिकारियो ने त्यागपत्र दे दिये। लार्ड माउण्टबेटन स्वतन्त्रता के पश्चात् कुछ समय तक भारत के गर्वनर-जनरल बने रहे। उनके चले जाने पर भारत के वरिष्ठतम राजनेता चक्रवर्ती राजगोपालाचारी भारत के प्रथम तथा अन्तिम भारतीय गवर्नर-जनरल बने। 26 जनवरी 1950 को जब भारत का नया सविधान लागू हुआ तो यह पद समाप्त हो गया और नये प्रभुत्व-सम्पन्न गणतन्त्र के प्रथम राष्ट्रपति पद पर डा० राजेन्द्र प्रसाद आसीन हुए। इस प्रकार भारत को स्वतन्त्र कराने का श्रेय भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस को जाता हे जिसने 62 वर्ष के अथक् परिश्रम मे यह सफलता प्राप्त की। यो तो स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय विगत 27 वर्षो से राष्ट्रपिता महात्मा गाधी ही स्वतन्त्रता आन्दोलन का सचालन करते आ रहे थे और उनके सफल तथा लोकप्रिय नेतृत्व मे स्वतन्त्रता आन्दोलन सफल हुआ, तथापि हमे राष्ट्रीय आन्दोलन के उन सेनानियो को नही भूलना चाहिए जिन्होने समय-समय पर काग्रेस तथा स्वतन्त्रता आन्दोलन का नेतृत्व किया।

प्रश्न

1 टिप्पणिया लिखिए—
   (क) केबिनेट मिशन योजना,
   (ख) माउन्टबेटन योजना।
2 भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम 1947 के प्रमुख प्रावधानो का वर्णन कीजिए। अधिनियम के कार्यान्वयन मे क्या परिवतन हुए ?

मुस्लिम साम्प्रदायिकता तथा देश का विभाजन
(MUSLIM COMMUNALISM AND PARTITION OF INDIA)

हिन्दू मुस्लिम एकता के मार्ग में दरार—बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशाब्दों में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के मार्ग में मुस्लिम साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति उसके विकास आदि पर इस पुस्तक के गत अध्यायों में प्रकाश डाला जा चुका है। 1916 के कांग्रेस लीग समझौते के बाद जब कांग्रेस ने भारतीय मुसलमानों द्वारा संचालित खिलाफत आन्दोलन का समर्थन किया था यह आशा बनने लगी थी कि राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ हो जायगी और अंग्रेजों की फूट डालो और शासन करो की नीति नष्ट भ्रष्ट हो जायगी। 1919 के शासन सुधारों के अंतर्गत मुसलमानों को व्यवस्थापिकाओं में पर्याप्त अधिक प्रतिनिधित्व मिल गया था। परन्तु खिलाफत आन्दोलन की असफलताओं ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता समर्थक तत्वों को पुनः कांग्रेस से पृथक् हो जाने में सहायता दी। अंग्रेज भी इस बात के लिए व्यग्र थे कि भारत में हिन्दू मुस्लिम एकता को बढ़ावा मिलना उनकी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं में तुषारापात करना होगा। जब 1920 में गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया तो मुस्लिम लीग ने इस आन्दोलन से मतभेद करना शुरू कर दिया था। उसी बीच कुछ घटनाएं और घटीं जिनके कारण हिन्दू मुस्लिम पृथकतावाद की धारणा और अधिक बलवती होती गयी और तब से मुस्लिम साम्प्रदायिकता निरन्तर बढ़ती गयी।

अफगान आक्रमण तथा मोपला विद्रोह में मुस्लिम साम्प्रदायिकता—1919 में जब अफगानिस्तान ने भारत पर चढ़ाई की तो भारत के मुसलमानों ने धर्म के नाम पर अफगानिस्तान के मुजाहिदों की सहायता देने की नीति अपनायी यद्यपि बहाना भारत की ब्रिटिश सरकार की जिसने भारत में रौलट एक्ट सदृश दमनात्मक कानून लागू कर दिये थे सहयोग न देना था। इसके विपरीत गांधी जी का मत था कि ऐसी सरकार के साथ सहयोग करना उचित नहीं है जो राष्ट्र का विश्वास खो चुकी है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि हिन्दुओं में मुसलमानों की धर्मपरस्ती नीति से यह भय उत्पन्न होने लगा था कि वे भारत में पुनः मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना चाहते हैं। अफगान आक्रमणकारी भगा दिये गये थे। परन्तु इससे मुस्लिम साम्प्रदायिकता पुनः प्रस्फुटित हो गयी। इसी बीच मलाबार में खिलाफत आन्दोलन को लेकर जो मोपला विद्रोह हुआ था उसमें मुसलमानों के द्वारा हिन्दुओं सहित अन्य धर्मावलम्बियों का नृशंस वध किया जाना भी मुस्लिम साम्प्रदायिकता का स्पष्ट प्रमाण था। राष्ट्रवादी मुसलमानों तक ने मोपलों के इस कृत्य की स्पष्ट निन्दा नहीं की प्रत्युत् यह धारणा व्यक्त की कि जब हिन्दुओं ने मोपलों को दबाने में ब्रिटिश सरकार की मदद की है तो मोपलों द्वारा हिन्दुओं को भी अपना लक्ष्य बनाना अस्वाभाविक नहीं था। सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता स्वामी श्रद्धानन्द ने राष्ट्रीय मुसलमानों के इस दृष्टिकोण का उल्लेख 1926 में अपने एक लेख में किया था।[1] हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिकता भेद इस प्रकार बढ़ने लगे थे कि 1921 से 1924 तक की अवधि में देश के विभिन्न भागों में अनेक बार दंगे हुए। ब्रिटिश सरकार की नीति सदा ही इन दंगों को प्रोत्साहित करने की रही। पुलिस इन्हें उकसाने में विशेष योगदान करती थी। इस बात को लीग के नेता जिन्ना तक ने स्वीकार किया था।

आर्य समाज की प्रतिक्रिया—फरवरी 1924 में जब गांधी जी जेल से छूटे तो उन्होंने

[1] भारतीय मुसलमानों का राजनीतिक इतिहास में उद्धृत 148।

हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थन मे 21 दिन का उपवास किया। परन्तु मुस्लिम साम्प्रदायिकता के पीछे जो धर्मान्धता थी, उसका उपचार उपवास या सम्मेलन नही हो सकते थे। भारत मे मुसलमान तथा ईसाई दलित एव पिछड़े वर्ग के हिन्दुओ का धर्म-परिवर्तन करने के कार्य मे लगे थे। अतएव इस प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया यह हुई कि आर्यसमाजी नेताओ ने भी शुद्धि आन्दोलन चलाया और छुआछूत के भेदभाव को नष्ट करने, हरिजनो के उद्धार एव शुद्धि द्वारा अन्य धर्मावलम्बियो को, विशेष रूप से उन्हे,जो धर्म-परिवर्तन द्वारा मुसलमान बना दिये गये थे, पुन हिन्दू धर्म मे लाने का कार्यक्रम अपनाया। परन्तु अनेक मुसलमानो ने इस नीति की आलोचना की। इसमे कोई सन्देह नही कि इस प्रकार के साम्प्रदायिक भावना से भरे कार्य-कलाप तथा क्रिया-प्रतिक्रिया स्वस्थ राष्ट्रीयता के मार्ग मे बाधक थी। परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि ऐसा करने की छूट किसी एक ही सम्प्रदाय विशेष का हित नही हो सकती थी।

लीग की साम्प्रदायिक गतिविधियो का विकास—1924 तक मुस्लिम लीग की गतिविधियाँ निर्बल पडी रही परन्तु 1924 के लीग अधिवेशन मे पुन लीग मे जान आने लगी। यद्यपि इस अधिवेशन मे भाषण करते हुए जिन्ना ने साम्प्रदायिकतावाद तथा हिन्दू-मुस्लिम दगो की तीव्र भर्त्सना की और हिन्दू-मुस्लिम एकता पर जोर देते हुए अपने को पूर्णतया एक राष्ट्रवादी मुसलमान घोषित किया, तथापि उस समय के प्रमुख मुस्लिम नेताओ, डा० किचलू, रजा अली, जिन्ना एव मौलाना मुहम्मद अली सभी ने यह धारणा व्यक्त की कि मुसलमान अल्पसख्यको को विधानसभाओ तथा सरकारी नौकरियो मे समुचित प्रतिनिधित्व नही मिल रहा है, उनकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय है, आदि, जबकि बात इसके विपरीत थी। विधानसभाओ मे उन्हे पर्याप्त अधिक स्थान प्राप्त हुए थे। साम्प्रदायिक निर्वाचन तथा पृथक् निर्वाचन प्रणाली ने उन्हे आवश्यकता से अधिक सरक्षण प्रदान किया था। लाला लाजपतराय, जो हृदय से हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक थे, मुस्लिम साम्प्रदायिकतावाद के खतरो मे भली-भाति परिचित थे। उन्होने अपनी चिन्ता काग्रेसी नेता चितरजनदास को लिखे गये एक पत्र मे व्यक्त करते हुए कहा था कि भारतीय मुसलमान भले ही राष्ट्रवादी होने का दावा करे, परन्तु यह कुरानवादी पहले है और राष्ट्रवादी बाद मे। इसका यह अभिप्राय है कि मुसलमान धर्म के नाम पर राष्ट्र-प्रेम, देश-प्रेम आदि सबको ताक पर रख देता है। गाधी जी तक इस तथ्य को जानते थे। भले ही उन्होने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए आजन्म प्रयास किया और उसी खातिर अपने प्राण दिये, तथापि मुस्लिम साम्प्रदायिकतावाद को निर्मूल करना उनके लिए सम्भव नही हो पाया।

लीग का काग्रेस-विरोधी रवैया—1923–24 मे जब टर्की का प्रश्न हल होकर वहाँ धर्म-निरपेक्ष राज्य स्थापित हो गया, तो भारत मे खिलाफत आन्दोलन चलाने वाले मुसलमानो तथा सगठनो को बडा धक्का लगा। भारत मे साम्प्रदायिकता की भावना बढने लगी थी। लीग के सदस्य अब काग्रेस को एक हिन्दू सस्था के रूप मे देखने लगे थे, दूसरी ओर हिन्दू महासभा के नेतागण भी मुसलमानो को शका की दृष्टि से देखने लगे थे। परिणामस्वरूप मुस्लिम लीग की राजनीतिक गतिविधियो मे साम्प्रदायिकता की भावना आ जाने के कारण उसने काग्रेस मे सहयोग करना छोड दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि फिर वही पुराने झगडे शुरू हो गये, जो बीसवी सदी के प्रारम्भ मे उत्पन्न हुए थे। लीगी नेताओ को 1919 के सुधारो से बहुत अधिक असन्तोष हो गया था। यद्यपि हिन्दूबहुल प्रान्तो मे मुसलमानो को मुस्लिम जनसख्या के अनुपात से कही अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त था, तथापि मुस्लिम-बहुल प्रान्तो पजाब तथा बगाल मे उन्हे इस अनुपात बहुत कम प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ। पजाब मे तो हस्तान्तरित विषयो के शासन मे कोई भी मुसलमान मन्त्री नही बन पाया था। सीमित मताधिकार के कारण बगाल मे मुस्लिम मतदाताओ की सख्या बहुत कम थी। यद्यपि इन सब परिस्थितियो का कारण उक्त अधिनियम को लागू करने सम्बन्धी नियम थे, तथापि असन्तुष्ट मुसलमानो ने इसका रोष काग्रेस पर निकालना शुरू किया और दुश्मनी प्रकट करने का साधन साम्प्रदायिक कलहो को बनाया। धीरे-धीरे यह गतिविधियाँ

इतनी अधिक बढ़ने लगी कि अनेक राष्ट्रवादी मुसलमानों ने भी कांग्रेस के राष्ट्रीय उद्देश्यों पर साम्प्रदायिकता का रंग देकर उनका विरोध करना प्रारम्भ कर दिया।

साइमन कमीशन—1926–27 में यह भावना इतनी उग्र हो गयी कि भारत के विभिन्न भागों में अनेक साम्प्रदायिक दंगे हुए। ब्रिटिश सरकार को यह स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ। कांग्रेस लीग समझौता समाप्त हो गया था। हिन्दू मुस्लिम एकता के मार्ग में ऐसी दरार पड़ गयी थी जिसे भर सकना असम्भव हो गया था। 1919 के एक्ट में इस पारित होने के दस वर्ष बाद एक आयोग की रचना करने तथा उसकी संस्तुतियों के आधार पर भावी सुधार करने का प्राविधान था। जब 1926–27 में भारतीय राष्ट्रीय जीवन के अन्दर इतना भीषण साम्प्रदायिक भेदभाव उत्पन्न हो गया तो ब्रिटिश सरकार ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये निर्धारित समय से दो वर्ष पूर्व ही साइमन कमीशन की घोषणा कर दी ताकि कमीशन साम्प्रदायिक तनाव की स्थितियों में सांविधानिक सुधारों की भावी योजनाओं के सम्बन्ध में साम्प्रदायिक भेदभाव का सहारा लेकर राष्ट्रीय मांगों को ठुकराने का बहाना आसानी से प्राप्त कर ले। यद्यपि साइमन कमीशन का बहिष्कार करने में मुसलमान भी शामिल थे तथापि मुस्लिम सम्प्रदायवादियों की साम्प्रदायिकता की भावना साइमन कमीशन को लाभकर सिद्ध हुई। 1927–28 की अवधि में लीग ने साम्प्रदायिकता के आधार पर पृथक सिंध प्रान्त की मांग की। इसी प्रकार पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त को एक पूर्ण प्रान्त की श्रेणी प्रदान करने की मांग जोर पकड़ रही थी। इन गतिविधियों के कारण हिन्दू महासभा की गतिविधियां भी बढ़ने लगीं। जहां हिन्दू महासभा राष्ट्रीय आधार पर हिन्दू मुस्लिम एकता लाने तथा अल्पसंख्यकों के हितों का आरक्षण द्वारा प्रतिनिधित्व प्रदान करने की बात कहती थी वहां साम्प्रदायिक मुस्लिम नेता पृथकतावादी प्रवृत्तियां अपनाने लगे। इन पृथकतावादियों की गतिविधियों को ब्रिटिश साम्राज्यवादियों से बहुत प्रेरणा मिल रही थी। लीग के अन्दर जो राष्ट्रवादी तत्व विद्यमान थे उन्होंने भी कांग्रेस के साथ सहयोग नहीं किया। परिणामस्वरूप साइमन कमीशन ने भी पृथक निर्वाचन प्रणाली का समर्थन किया। 1928 की नेहरू रिपोर्ट को साम्प्रदायिकतावादी मुसलमानों ने अस्वीकार कर दिया। यद्यपि सर्वदलीय सम्मेलन ने उसे अपना समर्थन दिया था तथापि लीग ने उसे ठुकरा दिया क्योंकि नेहरू रिपोर्ट में पृथक निर्वाचन प्रणाली को स्वीकार नहीं किया गया था।

मुसलमानों की अछूत वर्ग में अभिरुचि—इसके पश्चात् मुस्लिम साम्प्रदायिकतावादी तत्वों ने हरिजनों में दिलचस्पी लेना प्रारम्भ किया। यह एक ऐसा वर्ग था जिसे हिन्दू अछूत मानते थे। विधर्मियों (मुसलमान तथा ईसाइयों) ने इन्हें अपने धर्म में लेने का आह्वान किया और यह प्रचार किया कि हिन्दू धर्म तथा समाज के अन्तर्गत वे दलित बने रहेंगे अतः उनका भविष्य हिन्दुओं पर छोड़ना उचित नहीं है। इनका दृष्टिकोण यह था कि हरिजनों को हिन्दुओं में न मिलाने के परिणाम यह होगा कि विधानसभाओं में हिन्दुओं का बहुमत कम हो जायगा। अतः हरिजनों के लिए भी पृथक निर्वाचन के आधार पर प्रतिनिधित्व सुरक्षित रखने की नीति का प्रचार किया जाने लगा। परन्तु मुस्लिम साम्प्रदायिकतावादियों की इस चाल का परिणाम यह हुआ कि उन्हें तो अपना उद्देश्य पूर्ण करने में सफलता नहीं मिली प्रत्युत् हिन्दू समाज तथा संगठनों में अछूतोद्धार की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। हिन्दू महासभा तथा आर्य समाज की दिलचस्पी अछूतोद्धार कार्य में बढ़ी और गांधी ने इस कार्य का बीड़ा उठाया। उन्होंने आजन्म जिस प्रकार हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए कार्य किया उसी प्रकार हरिजनोद्धार के लिये भी अपनी सारी शक्ति लगा दी। 1920 के पश्चात् मुस्लिम साम्प्रदायिकता के विकास के साथ-साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में जो विकास हुए उनके फलस्वरूप 1928 में नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकार करने पर जिन्ना ने अपनी चौदह शर्तें रखीं जो अन्त तक लीग की नीति के निर्देशक तत्व बनी रहीं। यह शर्तें संक्षेप में निम्नांकित थीं—

संघात्मक संविधान के अन्तर्गत अवशिष्ट विषय प्रान्तों के अधीन हों। प्रांतीय स्वायत्तता अल्पसंख्यकों को प्रभावपूर्ण प्रतिनिधित्व दिया जाना तथा प्रान्तों के बहुसंख्यक वर्ग का बहुमत

सुरक्षित रखा जाना, केन्द्र मे मुस्लिम सीटो की सख्या कम मे कम एक-तिहाई हो, पृथक् निर्वाचन पद्धति, पजाव, वगाल तथा पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त मे मुसलमानो के वहुमत को विधानसभा मे सुरक्षित रखना, साम्प्रदायिक आधार पर धार्मिक स्वतन्त्रता की गारण्टी, किसी भी विधानसभा द्वारा किसी सम्प्रदाय विशेप के सम्वन्ध मे ऐसे विधायन को पारित करने की शक्ति को उस सम्प्रदाय के सदस्यो के तीन-चौथाई वहुमत द्वारा मर्यादित रखना, सिन्ध को वम्बई प्रान्त से पृथक् करना, पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त तथा विलोचिस्तान को अन्य प्रान्तो के साथ समान स्थिति मे रखना, अखिल भारतीय सेवाओ तथा स्वायत्त शासन निकायो मे मुसलमानो को उचित अश प्रदान करना, मुसलमानो को अपने धार्मिक, सास्कृतिक तथा अन्यान्य कायकलापो के हेतु शासन-सस्थाओ द्वारा समुचित अनुदान दिया जाना, केन्द्रीय तथा प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलो मे मुस्लिम प्रतिनिधित्व को कम से कम एक-तिहाई सुनिश्चित करना, तथा साविधानिक सशोधन का अधिकार केवल केन्द्रीय व्यवस्थापिका को ही न प्राप्त हो, अपितु उसे प्रान्तीय विधानमण्डलो का भी अनुसमर्थन प्राप्त होना चाहिए।

इस प्रकार बीसवी शताब्दी के तीसरे दशक मे मुस्लिम साम्प्रदायिकता इस प्रकार भडकने लगी थी कि अव उसके राष्ट्रवादी तत्त्वो के साथ ऐक्य स्थापित करने के अवसर समाप्त हो गये। थोडे से राष्ट्रवादी मुस्लिम नेता अवश्य काग्रेस के साथ रहे और धर्मनिरपेक्ष नीति को मानते रहे, परन्तु अधिकाश मुस्लिम नेता यद्यपि विभिन्न सगठनो मे[1] विभक्त थे, तथापि उनका दृष्टिकोण साम्प्रदायिकतावादी वना रहा। इन सगठनो मे से सीमा-प्रान्त के खुदाई खिदमतगारो के अतिरिक्त शेप सव काग्रेस-विरोधी रहे और काग्रेस को हिन्दू सस्था मानते रहे। इसलिए उन्होने काग्रेस के कार्यक्रम के प्रति उदासीनता तथा प्रतिक्रियावादिता दर्शाना आरम्भ कर दिया। 1929 के काग्रेस अधिवेशन मे नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकार कर दिया गया था क्योकि उसका उद्देश्य औपनिवेशिक स्वराज्य था, जवकि काग्रेस का युवा वर्ग पण्डित नेहरू के नेतृत्व मे पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग पर आ गया। इसके वाद जव गाधी जी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ किया तो मुस्लिम सगठन इसे हिसात्मक कहने लगे और उन्होने इसका वहिष्कार किया। ये सभी साम्प्रदायिक आधार पर साविधानिक माँगे करने लगे। इन्होने सर सैयद अहमद खाँ की ब्रिटिश राजभक्ति की नीति का भी वहिष्कार कर दिया और अव वे ब्रिटिश साम्राज्यवादियो की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति के शिकार वनकर भारतीय स्वतन्त्रता की तुरन्त प्राप्ति के मार्ग मे सवसे भयानक कटक सिद्ध होने लगे।

गोल मेज सम्मेलनो मे मुस्लिम साम्प्रदायिकतावाद का कार्य-भाग—गोल मेज सम्मेलनो मे भारतीय मुसलमान सगठनो का कार्यभाग पूर्णतया पृथक्वादी वना रहा, जिसमे साम्प्रदायिक आधार पर पृथक् निर्वाचन प्रणाली तथा मुस्लिम अल्पसख्यको के प्रतिनिधित्व को महत्त्व प्रदान करने की माँगो ने सम्मेलन के आयोजको को भावी शासन सुधारो मे अपने मन की करने मे अच्छी सफलता प्राप्त कर ली। परिणामस्वरूप प्रधानमन्त्री ने 'कम्यूनल एवार्ड' की घोपणा की जिसने साम्प्रदायिकता के विप को भारतीय राजनीति के अन्दर और अधिक तीव्र वनाया। जव 1935 के भारतीय शासन अधिनियम को ब्रिटिश ससद ने पास कर दिया, तो भारत की जनता की सवसे वडी प्रतिनिधि सस्था काग्रेस के तीव्र विरोध के वावजूद साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली का और अधिक प्रसार किया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत जव निर्वाचन हुए तो काग्रेस व लीग दोनो ने पूरे जोर से निर्वाचनो मे सघर्प किया। परन्तु लीग को अपनी आशा के अनुकूल सफलता नही मिली। केवल सिन्ध प्रान्त मे उसे सर्वाधिक वहुमत मिला। वगाल मे भी वह फॉरवर्ड व्लाक के सहचार से मन्त्रिमण्डल वना सकने की स्थिति मे आ गई। पजाव मे उसे विभिन्न दलो के सयुक्त मोर्चे के

[1] लीग के दो वर्ग (जिन्ना लीग तथा शफी लीग) वन गये थे। अन्य सगठन थे अहरार, खिलाफत कान्फ्रेंस, जमायत उल-उलेमा, पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त के खुदाई खिदमतगार, आदि।

मम र विरोधियों के रूप में रहना पड़ा। इसमें भी लीग को अधिक सफलता नहीं मिली। जब 6 प्रान्तों में जहां कांग्रेस पूर्ण बहुमत में था कांग्रेस ने पद ग्रहण नहीं किया तो इनमें से कुछ प्रान्तों (यथा संयुक्त प्रान्त आदि) में लीग ने अपनी सरकार बनाने की चेष्टा की। परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। कांग्रेस द्वारा पद ग्रहण स्वीकार कर लेने पर लीग ने सरकार की शक्ति प्राप्त करने का धोखा नहीं छोड़ा। संयुक्त प्रान्त में लीग के आवेदन पर कांग्रेस मुस्लिम लीग को इस शर्त पर मन्त्रिमण्डल में कुछ स्थान देने को राजी हो गई कि लीग विधानसभा में पृथक दल के रूप में नहीं बैठेगी और उप निर्वाचनों में पृथक से अपने उम्मीदवार खड़े नहीं करेगी। कांग्रेस के लिए जो पूर्ण बहुमत में थी लीग के हित में इतना त्याग करना बहुत अधिक था परन्तु लीग का रवैया इतना हठी था कि मानो वह सब कुछ प्राप्त कर लेना चाहती थी चाहे उसका कोई औचित्य हो या नहीं। ऐसी स्थिति में लीग की यह मनोकामना सफल नहीं हुई। यद्यपि 1935 के एक्ट के अनुसार कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों वाले प्रान्तों में सरकारों ने अत्यन्त सराहनीय कार्य करके महान् लोकप्रियता प्राप्त की तथापि मुस्लिम सम्प्रदायवादियों को कांग्रेस की इस लोकप्रियता से बड़ी ईर्ष्या होने लगी। अतः मुस्लिम लीग ने अब इन सरकारों को हिन्दू अधिनायकवादी कहकर बदनाम करने का प्रचार आरम्भ किया। यह स्थिति अधिक दिन नहीं रह सकी क्योंकि सितम्बर 1939 में द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने के फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार की युद्ध नीति से कांग्रेस रुष्ट हो गई और अक्टूबर 1939 में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये। मुस्लिम लीग अब भी यह प्रयास करने लगी कि उसे इन प्रान्तों में सरकार बनाने में सफलता मिल जाय। परन्तु यह सम्भव नहीं था। इसके पश्चात् कांग्रेस के सत्याग्रह आन्दोलन की अवधि में लीग ने कांग्रेस की नीति का विरोध जारी रखा

पाकिस्तान का विचार

लीग का राष्ट्रीयता विरोधी रुख—भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तर्गत बीसवीं सदी के आरम्भ से लेकर पूरे चार दशकों तक मुस्लिम साम्प्रदायिकता ने जिस कट्टरधर्मिता का रूप अपनाकर आन्दोलन के मार्ग में रोड़े अटकाने का सतत प्रयास किया उसके पीछे स्पष्टतः ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का हाथ था। उन्होंने हिन्दू मुस्लिम पृथकतावाद को यथासम्भव बढ़ावा दिया था। मुस्लिम साम्प्रदायिक संगठनों के इन कार्यकलापों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हिन्दू महासभा के लोग भी इनका विरोध करना कोई अस्वाभाविक बात नहीं थी। परन्तु साम्प्रदायिकतावादी मुसलमान चाहते थे कि वे तो सब कुछ कर लेते हैं पर सकते हैं क्योंकि वे अल्पसंख्यक हैं साथ ही उनकी गतिविधियों को तत्कालीन सरकार का समर्थन भी प्राप्त रहता था। परन्तु वे यह सहन नहीं कर सकते थे कि हिन्दू महासभा सदृश कोई अन्य संगठन बने जो कि मुस्लिम साम्प्रदायिकतावाद का विरोध करे। कांग्रेस आरम्भ से अन्त तक धर्मनिरपेक्षता की नीति पर चलती रही। यहां तक कि अनेक बड़े-बड़े राष्ट्रवादी मुस्लिम नेता इसके सदस्य बने रहे। कुछ राष्ट्रवादी मुसलमान नेता भी जो कभी कांग्रेस के समर्थक थे धीरे धीरे साम्प्रदायिकतावाद के चक्कर में फंसते गये थे। यहां तक कि लीग के प्रमुख नेता जिन्ना भी काफी लम्बी अवधि तक राष्ट्रवादी रहे थे।

मुस्लिम नेताओं द्वारा भारत को एक राष्ट्र न मानना—जब मुस्लिम साम्प्रदायिकतावादी प्रवृत्तियों के विकास ने 1916 के कांग्रेस-लीग समझौते को अन्त कर दिया तो यह निश्चित हो गया था कि अब हिन्दू मुसलमान एकता के द्वारा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयास असम्भव हैं। बीसवीं सदी के तीसरे दशक की अन्तिम अवधि तक अनेक मुस्लिम नेता सार्वजनिक रूप से यह कहने लग गये थे कि भारत एक राष्ट्र नहीं है। अतः विभिन्न राष्ट्रीयताओं को एक स्वतन्त्र राज्य के अन्तर्गत बनाए रखना उचित नहीं है। यद्यपि इस धारणा के पीछे वास्तविक तथ्यों का अभाव था क्योंकि भारत में मुस्लिम समुदाय के व्यक्ति समूचे देश में फैले हुए थे और धार्मिक

विश्वास के अतिरिक्त जीवन के विविध क्षेत्रो मे उनकी समस्याएँ अन्य भारतीयो से घुल-मिल गई थी। यह मानना भी युक्तिसगत नही है कि धर्म ही एकमात्र राष्ट्रीयता का निर्धारक तत्त्व होता है। इस दृष्टि से मुसलमानो की पृथक् राष्ट्रीयता की कल्पना केवल साम्प्रदायिकता की द्योतक थी। इसके आधार पर पृथक् राष्ट्रीय राज्य की धारणा भारत सदृश देश मे कोरी भ्रान्ति थी। फिर भी मुस्लिम साम्प्रदायिकतावादी नेता मुस्लिम राष्ट्रीयता के आधार पर पृथक् स्वतन्त्र राज्य का स्वप्न देखने लग गये थे। उनका यही स्वप्न पाकिस्तान के रूप मे साकार हुआ।

पाकिस्तान के विचार का आविर्भाव—पाकिस्तान का विचार सर्वप्रथम सर मुहम्मद इकबाल के मस्तिष्क मे उत्पन्न हुआ था। 1930 के लीग के अधिवेशन मे भाषण करते हुए उन्होने कहा था कि 'यदि भारत के मुसलमान मुस्लिम-भारत के निर्माण की माँग करते है तो ऐसी माँग पूर्णतया न्यायसगत है। पजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त, सिन्ध तथा बिलोचिस्तान को मिलाकर एक राज्य के रूप मे देखना मेरी कामना है।' दस वर्ष पश्चात् 1940 के लीग के अधिवेशन मे जो प्रस्ताव पास किया गया, वह 'पाकिस्तान प्रस्ताव' ही कहलाया। इसमे कहा गया था कि देश की किसी भी सावैधानिक योजना के सफल कार्यान्वयन के लिए यह आवश्यक है कि भारत के उत्तर-पश्चिमी तथा पूर्वी भाग का एक प्रभुत्वसम्पन्न स्वतन्त्र राज्य बनाया जाये। इस प्रकार स्पष्ट हो गया था कि लीग का उद्देश्य भारत के मुस्लिम बहुसख्यक प्रान्तो का एक स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य बनाना था।

पाकिस्तान के विचार का जन्मदाता—परन्तु पाकिस्तान का विचार सर्वप्रथम 1940 मे केम्ब्रिज के चार मुस्लिम विद्यार्थियो के द्वारा प्रकाशित किया गया। इनका नेता चौ० रहमत अली था। चार पृष्ठ की एक पुस्तिका मे चौ० रहमत अली की अध्यक्षता मे यह विचार व्यक्त किया था कि भारत मे रहने वाले मुसलमानो के हित मे पजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त, काश्मीर, सिन्ध और बिलोचिस्तान मे रहने वाले तीन करोड मुसलमानो की इच्छा एक पृथक् सघ मे सगठित स्वतन्त्र 'पाकिस्तान' (पवित्र स्थान) के निर्माण की है। बाद मे रहमत अली ने पाकिस्तान का जो नक्शा खीचा उसको तीन नाम दिये—(1) पाकिस्तान जो पूर्वोक्त उत्तर-पश्चिमी भारत के प्रदेशो का बनता, (2) बग-ए-इस्लाम, अर्थात् बगाल तथा असम के मुस्लिम बहुल क्षेत्र, और (3) उस्मानिस्तान अर्थात् हैदराबाद के निजाम की रियासत। उसका यह स्वप्न भारत मे इस्लामिस्तान स्थापित करने का था। यद्यपि मुस्लिम साम्प्रदायिकता ने राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्दर पृथक् मुस्लिम राष्ट्र के सिद्धान्त को पर्याप्त उग्र बना दिया था, तथापि अब भी मुस्लिम रवैये मे एकता तथा स्पष्टता का अभाव था। युद्धकाल मे सावैधानिक गतिरोध को दूर करने के लिए विविध प्रस्ताव रखे जाने लगे। लीग का असहयोगपूर्ण रुख बना रहा। ऐसा लगता था कि लीग सब कुछ चाहती है या कुछ नही चाहती है। स्वय भारतीय मुस्लिम नेतृत्व समूचे रूप मे किसी एक माँग का समर्थक नही था। लीग किसी भी ऐसे प्रस्ताव को मानने को तैयार नही थी जिसमे उसे अपनी मागो के रत्ती भर अश का उत्सर्ग करना पडे। ऐसी स्थिति मे ब्रिटिश सरकार जो भी प्रस्ताव रखती उसमे लीग के विरोध के कारण, किसी भी पक्ष का राजी होना असम्भव था।

राजगोपालाचारी प्रस्ताव मे पाकिस्तान—इन सब परिस्थितियो के आधार पर अप्रैल 1942 मे चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने यह राय व्यक्त की कि भारत की राजनीतिक समस्या का समाधान बिना पाकिस्तान की माँग को पूरा किये सम्भव नही है, क्योकि मुस्लिम साम्प्रदायिकता की हठधर्मिता बिना पाकिस्तान का पृथक् राज्य स्वीकार किये किसी भी सावैधानिक योजना को सफल नही होने देगी। उनकी इस धारणा का काग्रेस महासभा ने विरोध किया, अत राजाजी ने काग्रेस से त्यागपत्र दे दिया और अपने प्रस्ताव के सम्बन्ध मे जनमत ज्ञात करने का विचार करने लगे। 1942 के क्रिप्स प्रस्ताव की असफलता पर गाधी जी ने काग्रेस का नेतृत्व करते हुए

जब भारत छोडो आन्दोलन प्रारम्भ किया तो मुस्लिम लीग ने इस आन्दोलन की भर्त्सना की। 1944 में राजाजी जब में गांधी जी से मिले और उनके समक्ष अपना प्रस्ताव तथा देश विभाजन की रूपरेखा प्रस्तुत की। गांधी जी ने राजाजी के प्रस्ताव को युक्तिसंगत मान लिया। युद्ध की समाप्ति पर जब पुनः भारत के सांविधानिक गतिरोध को समाप्त करने के प्रयास ब्रिटिश सरकार ने प्रारम्भ किये तो मुस्लिम लीग का रवैया पूर्ववत् बना रहा। इस अवधि में लीग को अपनी पाकिस्तान की माँग तीव्र करने में अधिक प्रोत्साहन मिलने लग गया था विशेष रूप से जब लीग ने देखा कि कांग्रेस के वयोवृद्ध नेता राजाजी तक इसका समर्थन करने लगे थे।

युद्ध के पश्चात् लीग का कार्यमार्ग—1945 के शिमला सम्मेलन तथा केबिनेट मिशन योजना को पुनः लीग ने नाटकीय ढंग से असफल कर देने में पूर्ण ताकत लगायी। 1946 का वर्ष मुस्लिम साम्प्रदायिकता का चरमोत्कर्ष था। ब्रिटिश सरकार ने अन्तिम रूप से भारतवासियों को देश की राजनीतिक सत्ता हस्तान्तरित करने का संकल्प करके केबिनेट मिशन भारत भेजा था। इस मिशन की राय में पाकिस्तान का निर्माण अव्यवहार्य था। परन्तु लीग ने प्रत्यक्ष कार्यवाही तथा साम्प्रदायिक दंगे छेड़ने का मार्ग अपनाकर देश का वातावरण गन्दा कर दिया। केबिनेट मिशन योजना ने संविधान निर्मात्री सभा तथा अन्तरिम राष्ट्रीय सरकार की स्थापना का संकल्प कर लिया था। जब अन्तरिम सरकार की स्थापना पण्डित नेहरू के नेतृत्व में की गई तो लीग प्रारम्भ में इसमें शामिल नहीं हुई। बाद में जब वह शामिल हुई तो उसने अन्तरिम सरकार की सफल कार्यविधि के मार्ग में बाधक बनने का कार्य भाग सम्पन्न करना प्रारम्भ किया। दिसम्बर 1946 में जब संविधान सभा का उद्घाटन हुआ तो लीग ने इसका बहिष्कार किया और कभी भी इसमें शामिल नहीं हुई।

स्वतन्त्रता की ओर—भारत की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त नाजुक हो रही थी। साम्प्रदायिक तनाव का जैसा वातावरण यहां बन चुका था उससे निपटना ब्रिटिश सरकार के लिए कठिन था। ऐसी स्थिति में फरवरी 1947 में ब्रिटिश सरकार ने भारत से सत्ता छोड़ने की तिथि 15 अगस्त 1947 घोषित कर दी। लार्ड माउण्टबेटन को गवर्नर-जनरल बनाकर भारत भेजा गया और उन्हें यह कार्य सौंपा गया कि वे ब्रिटिश सरकार के इरादे को अन्तिम रूप दें।

माउण्टबेटन योजना में पाकिस्तान की स्वीकारोक्ति—लार्ड माउण्टबेटन ने भारत में आते ही अपनी योजना बनाई और उसमें अन्तिम रूप से भारत विभाजन को स्वीकार कर लिया गया। अब कांग्रेस के समक्ष भारत विभाजन स्वीकार करके देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं रह गया था। ब्रिटिश संसद ने भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम पारित करने में कोई देरी नहीं लगायी। परन्तु मुस्लिम साम्प्रदायिकतावाद का यहीं पर अन्त नहीं हुआ। लीग द्वारा 1946 में प्रारम्भ की गई प्रत्यक्ष कार्यवाही ने साम्प्रदायिक दंगों को भड़काया था। जब माउण्टबेटन योजना तथा स्वतन्त्रता अधिनियम के अनुसार पंजाब तथा बंगाल में सीमा आयोग ने कार्य प्रारम्भ किया और जनसंख्या का भारत-पाकिस्तान में आवागमन शुरू होने लगा तो पाकिस्तान वाले क्षेत्रों से गैर मुस्लिम जनता को निकालने में जो अन्याय-अत्याचार किये गये उन्होंने मानो मानवता को दानवता में परिणत कर दिया था। इसकी प्रतिक्रिया दूसरे क्षेत्र में होना भी कोई अस्वाभाविक बात नहीं थी। इस प्रकार 14 अगस्त 1947 को मुस्लिम साम्प्रदायिकता वाद ने एक स्वतन्त्र राष्ट्र पाकिस्तान को जन्म दिया।

क्या विभाजन अनिवार्य था ?

स्पष्ट है विभाजन के लिए अंग्रेजों की फूट डालो और शासन करो की नीति उत्तरदायी थी। यह भी स्पष्ट है कि विभाजन के लिए मुस्लिम लीग तथा उसके कायदे आजम को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। परन्तु प्रश्न है कि क्या विभाजन के लिए कांग्रेस और उसके नेताओं को भी उत्तरदायी बताया जा सकता है ? पिछले दिनों में इस विषय पर अनेक विद्वानों ने नूतन प्रकाश

डाला है। मौलाना आजाद ने इसके लिए मुख्य रूप से नेहरू जी को उत्तरदायी घोषित किया है। प्रत्येक लेखक इस दृष्टिकोण से सहमत होने मे असमर्थ है। यदि इस प्रकार किसी को उत्तरदायी ठहराना है तो काग्रेस के एक या दो नेताओ को उत्तरदायी ठहराने के स्थान पर समूची काग्रेस को उत्तरदायी ठहराना अधिक उचित होगा। वस्तुत साम्प्रदायिक समस्या के समाधान की दिशा मे काग्रेस ने जो कदम उठाये, वे प्रभावहीन और गलत थे। उदाहरण के लिए, 1916 मे जब लखनऊ समझौते के द्वारा काग्रेस ने पृथक् निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार किया, तो उसने एक भयकर भूल की थी। वस्तुत लखनऊ समझौते मे ही विभाजन के बीज अवलोकित किये जा सकते थे। काग्रेस ने मुस्लिम सम्प्रदायवाद को सन्तुष्ट करने के लिए खिलाफत के साम्प्रदायिक प्रश्न को राष्ट्रीय आन्दोलन मे स्थान देकर एक दूसरी भूल की। इस विषय मे श्रीप्रकाश जी का निम्न कथन बहुत सारयुक्त है

'हमारे नेताओ ने विभाजन क्यो स्वीकार किया ? यह तो स्पष्ट ही है कि महात्मा गाधी इसके घोर विरोधी थे। उनका स्पष्ट कहना था कि हम देश को एक बनाये रखना चाहते है। हमे शासनाधिकार से कोई प्रयोजन नही। परन्तु गाधी जी को अपने निकटतम सहयोगियो को अपना विरोध करते देख अपनी हार माननी पडी—काग्रेस के नेता एक बार शासन के अधिकार प्राप्त करके उसे छोडने के लिए तैयार नही थे और वे उसकी कुछ भी कीमत देने को तैयार थे। मेरा विचार है कि अधिकार के मोह और देश की दुर्व्यवस्था के भय ने हमारे नेताओ के मन मे ऐसा प्रभाव किया कि उन्होने विभाजन स्वीकार कर लिया। कौन भाव अधिक तीव्र था यह मैं नही कह सकता। यदि काग्रेस के नेता शासनाधिकार छोडकर विभाजन को अस्वीकार कर देते तो हो सकता है अग्रेज कुछ दिन और बने रहते। अधिक से अधिक वे मुस्लिम लीग को पूरे देश का राज्य सुपुर्द कर जाते। मुस्लिम लीग अकेले राज नही कर सकती थी। तब कोई ऐसा समझौता हो सकता था जिसमे देश का विभाजन भी न होता और शासन भी सुव्यवस्थित हो जाता। पर अब यह सब कल्पनामात्र है।'

बहुत से लेखको का विश्वास है कि पाकिस्तान की रचना के लिए केवल मि० जिन्ना को उत्तरदायी समझा जाना चाहिए। यह सही है कि देश के विभाजन मे जिन्ना का बहुत बडा हाथ था, परन्तु इसके लिए उन्हे एकमात्र उत्तरदायी ठहराना अनुचित होगा। यथार्थ मे यदि देश की मुस्लिम जनता मे साम्प्रदायिकता की भावना न होती और उसमे इस्लामी राज्य की स्थापना के लिए उत्साह न पाया जाता तो मि० जिन्ना को अपने इस उद्‌देश्य मे कभी सफलता नही मिल सकती थी।

प्रश्न

1 उन परिस्थितियो का वर्णन कीजिए जिनके अन्तर्गत भारत का विभाजन हुआ। क्या विभाजन अनिवार्य था ?

सविधान सभा ' सरचना तथा उपागम
(CONSTITUENT ASSEMBLY STRUCTURE AND APPROACH)

सविधान सभा की रचना

भारत की आधुनिक शासन सस्थाओ के विकास का क्रम ब्रिटिश शासन-काल म शुरू हुआ। 1858 स 1935 तक ब्रिटिश शासको की देख रख म हमारे देश म ससदीय नमूने की सस्थाओ का क्रमिक विकास हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलन की आँधी भी साथ-साथ चलती रही और ज्यो ज्यो देश स्वराज्य की डयोढी के नजदीक पहुचता गया स्वभावत देश म अपनी सविधान सभा की माग जोर पकडती गई। 1936 म काग्रेस न घोषणा की भारतीय केवल एस साविधानिक ढाचे को मान्यता दे सकते है जिसका निर्माण वे स्वय कर। पुन 1939 म काग्रस न कहा सविधान सभा ही एकमात्र लोकतान्त्रिक उपाय है जिसके द्वारा एक देश के सविधान का निश्चय हो सकता है। अन्ततोगत्वा कबिनट मिशन योजना के अनुसार जुलाइ 1946 म सविधान सभा के लिए चुनाव कराय गय।

385 की कुल सदस्यता म स ब्रिटिश भारत के 292 सदस्या के लिए तो चुनाव हुये पर भारतीय रियासतो के लिए 93 सीटो के लिए चुनाव नही हुए। सविधान सभा की 212 सीट काग्रस प्रत्याशियो न जीती मुस्लिम लीग को 73 सीटो पर सफलता मिली शष सीटें अन्य दलो के पास रही। सविधान सभा मे काग्रस की सबल स्थिति देखकर मुस्लिम लीग के नताओ म निराशा की लहर दौड गई। फलत उन्होने सविधान सभा के बहिष्कार का निश्चय किया तथा साथ ही म उन्होने यह भी माग की कि पाकिस्तान का सविधान बनाने के लिए एक पृथक सविधान सभा की रचना की जाय।

सविधान सभा के चुनाव म काग्रस का प्रबल बहुमत प्राप्त हुआ था तथापि इस सत्य की उपक्षा नही की जा सकती थी कि उस एक शक्तिशाली अल्पसख्यक वग का समथन प्राप्त नही था। स्पष्टत मुस्लिम लीग के सहयोग की अनुपस्थिति म सविधान रचना का काम सुचारू रूप म नही चल सकता था। *मुस्लिम लीग इस तथ्य स भली भाँति अवगत थी। ब्रिटिश सरकार के* रवये से मुस्लिम लीग को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था। काग्रस न लीग को विधान सभा म लान का प्रयास भी किया था परन्तु इसम उसे सफलता नही मिली। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सविधान सभा की बठकें मुस्लिम लीग की अनुपस्थिति के बावजूद भी 9 दिसम्बर 1946 म आरम्भ हो गई थी और स्वतन्त्रता क पूव उसने अपना अध्यक्ष व विभिन्न समितियाँ चुन ली थी तथा उद्देश्य प्रस्ताव पारित कर दिया था। यह अवश्य है कि 15 अगस्त 1947 के पूव तक सविधान सभा का काम अत्यधिक मन्द गति स चला था। परन्तु स्वतन्त्रता के साथ सविधान सभा क माग स समस्त कठिनाइयो का निराकरण हो गया और वह एक प्रतिनिधि सस्था के रूप म काय कर सकती थी।

सविधान सभा के काय म 15 अगस्त क पूव 211 सदस्यो न भाग लिया इनम 155 हिन्दू थ 30 अनुसूचित जातियो क प्रतिनिधि थ 5 सिख थ 6 भारतीय ईसाई थ 5 प्रतिनिधि पिछडी जातियो के थ 3 एग्लो इण्डियन थ 3 पारसी थ तथा चार मुसलमान। यह सही है कि कुल मुस्लिम सीटें 80 थी और उनम स केवल 4 सविधान सभा म उपस्थित हुय थ परन्तु इस

आधार पर यह नही कहा जा सकता कि उसमे भाग लेने वाले केवल हिन्दू थे।

स्वतन्त्रता के पश्चात् सविधान सभा का नवगठन किया गया, ऐसा करना इसलिये ग्रावश्यक था क्योकि देश का विभाजन हो चुका था और उसके साथ मे पजाव, वगाल ग्रौर आसाम के प्रान्तो के भी हिस्से किये जा चुके थे। नवगठित सविधान सभा मे 298 सदस्य थे। वाद मे जव जम्मू-कश्मीर का राज्य भारतीय सघ मे सम्मिलित हुआ तो उसके भी 4 सदस्यो को सविधान सभा मे शामिल कर लिया गया। हेदरावाद ने भारतीय सघ की सदस्यता वहुत वाद मे स्वीकार की थी, अत सविधान सभा मे उसका कोई भी सदस्य नही था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जहाँ ब्रिटिश भारत के प्रान्तो मे सविधान सभा के लिए अप्रत्यक्ष रूप से विधान-मण्डलो के के द्वारा निर्वाचन हुआ था, वहाँ देशी राज्यो के 40 प्रतिशत प्रतिनिधियो को वहाँ के नरेशो ने मनोनीत किया था।

यहाँ सविधान सभा के सदस्यो का राजनीतिक एव व्यावसायिक आधार पर विश्लेषण करना भी अप्रासगिक न होगा। जैसा कहा जा चुका है कि सभा के अधिकाश सदस्य काग्रेस टिकट पर निर्वाचित हुये थे। परन्तु काग्रेम को यथार्थ मे कोई राजनीतिक दल नही कहा जा सकता था। फलत उसमे सैद्धान्तिक एकता का अभाव था। काग्रेस मे जहा घोर रूढिवादी थे, वहाँ दूसरी तरफ उसमे ऐसे भी व्यक्ति ये जो सामाजिक परिवर्तन के लिए उतावले थे। इस प्रकार उसमे एक छोर पर सरदार पटेल और के० एम० मुन्शी थे जिनके अनुसार यथास्थिति मे किसी भी प्रकार के मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता नही थी, वहा दूसरे छोर पर उसमे प्रोफेसर के० टी० शाह और दामोदर स्वरूप सेठ भी थे जिन्हे समाजवादी व्यवस्था मे अपनी आस्था को छिपाने मे अरुचि थी। यह सही है कि दोनो छोरो के बीच मे ऐसे वहुत से सदस्य थे जिन्होने सैद्धान्तिक विवाद मे कभी कोई निश्चित स्थिति ग्रहण नही की। वस्तुत काग्रेस मे ऐसे ही सदस्यो का वहुमत था। काग्रेस टिकट पर जो लोग चुने गये थे उनमे देश के लब्ध-प्रतिष्ठित विधिशास्त्री तथा बुद्धि-जीवी भी थे। प्रतिष्ठत वकीलो एव विधिशास्त्रियो मे उल्लेखनीय नाम सर अल्लादी कृष्णस्वामी ऐयर का है, जिन्हे विश्व के सभी सविधानो का पूर्ण ज्ञान था और जो सदस्यो के लिए वहुत लाभप्रद सिद्ध हुआ ग्रौर जिन्होने एक अध्यापकीय दृष्टिकोण अपनाते हुए यह सिखाया कि क्या अच्छा है और क्या बुरा। सदस्यो मे वक्शी टेकचन्द और पी० के० सेन जैसे अवकाश-प्राप्त न्यायाधीश भी थे और सर एन० गोपालस्वामी आयगर तथा एच० वी० कामथ जैसे अवकाश-प्राप्त सिविल सर्विस के सदस्य भी। सविधान सभा अध्यापन के व्यवसाय के प्रतिनिधित्व से भी अछूती नही वची थी, उसे डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, डा० एच० सी० मुखर्जी तथा प्रोफेसर के० टी० शाह जैसे ख्याति-प्राप्त अध्यापको का अपने कार्य मे सक्रिय सहयोग प्राप्त था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सभा मे देश के वुद्धिजीवी वर्ग की विविधता को भली प्रकार प्रतिध्वनित थी।

सविधान सभा की रचना के सम्वन्ध मे ध्यान मे रखने योग्य दूसरी वात यह है कि उसका गठन प्रान्तीय विधानमण्डलो के उन सदस्यो द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियो ने किया था जो 1935 के सविधान के अनुसार पृथक् निर्वाचन प्रणाली के अन्तर्गत चुने गये थे। ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक ही था कि सभा मे साम्प्रदायिक तत्त्वो का भी प्रतिनिधित्व होता। यह सही है कि पाकिस्तान की रचना के उपरान्त, इन तत्त्वो का प्रभाव सविधान सभा मे कम हुआ था, तथापि यह दावा नही किया जा सकता कि सभा उनके प्रभाव से पूर्ण रूप से मुक्त हो गई थी। वस्तुत उसमे सभी प्रकार के सम्प्रदायवादी उपस्थित थे, यद्यपि उनकी सख्या वहुत अधिक नही थी। इस प्रकार उसके सदस्यो मे मौहम्मद इस्माइल जैसे मुस्लिम सम्प्रदायवादी भी थे। सविधान सभा के अधिकाश सदस्यो का सम्वन्ध व्यावसायिक मध्यम वर्ग के साथ था और उसमे सवसे अधिक सख्या वकीलो की थी। इसके अतिरिक्त सदस्यो की सूची मे वडे जमीदारो तथा उद्योगपतियो के नाम भी देखे जा सकते थे।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सभा मे किसानो और श्रमिक वर्ग के प्रतिनिधियो को

छोड़कर अन्य सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया था। कुछ समय के लिए उसमे अविभाजित बंगाल से सोमनाथ लाहिड़ी के रूप में कम्युनिस्ट पार्टी को भी एक प्रतिनिधि प्राप्त था परन्तु विभाजन के उपरान्त जब पश्चिमी बंगाल में दोबारा चुनाव हुए तो लाहिड़ी अपने को दोबारा चुनवाने में असफल रहे। संविधान सभा में कांग्रेस का बोलबाला था और इस बात की अभिव्यक्ति सभा के विवादों में अनेक बार अवलोकित की जा सकती थी। कांग्रेस का दावा था कि वह समूचे देश का प्रतिनिधित्व करती है।

संविधान के निर्माण को प्रभावित करने वाले दृष्टिकोण

संविधान की रचना देश के विभाजन तथा साम्प्रदायिक दंगों की पृष्ठभूमि में हुई थी। संविधान सभा की पहली बैठक 9 दिसम्बर 1946 को बुलायी गयी। साम्प्रदायिक आधार पर देश का विभाजन सन्निकट था। कांग्रेस के नेता विभाजन को रोकने में लगे थे। अतः वे कोई ऐसा काम नहीं करना चाहते थे जिससे मुस्लिम लीग के साथ समझौते की सम्भावनायें विनष्ट हो जायें। इसलिए 15 अगस्त 1947 के पूर्व संविधान सभा में जो मसौदे प्रस्तुत किये गये उनमें वैयक्तिक स्वतन्त्रता के ऊपर बल दिया गया था। किन्तु जब पाकिस्तान की रचना हो गई तो भारत के लिए एक नया राज्य और एक नया खतरा उत्पन्न हो गया। संविधानकारों के दृष्टिकोण को इस वस्तु स्थिति ने एक बड़ी सीमा तक प्रभावित किया था। आदर्शवाद ने यथार्थवाद को जन्म दे दिया इसलिए सरकार की निरंकुशता से व्यक्ति की रक्षा करने के स्थान पर उनकी चिन्ता अब यह होने लगी कि खतरनाक व्यक्तियों तथा समाज विरोधी तत्वों से राज्य की रक्षा किस प्रकार की जाय। वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा प्रान्तीय स्वायत्तता के आदर्श पीछे धकेल दिये गये तथा पीछे के दरवाजे से एकता को स्थापित करने के प्रयत्नों का स्थान केन्द्र को शक्तिशाली बनाने के प्रयासों ने ले लिया। व्यक्तियों के अधिकार से राज्य के अधिकार अधिक महत्वपूर्ण माने जाने चाहिए। वास्तव में संविधान सभा के विवादों में उपर्युक्त दृष्टिकोण सभी स्थलों पर देखा जा सकता है।

संविधानकारों के दृष्टिकोण को प्रभावित करने वाला दूसरा कारक वह अनुभव था जिसे उन्होंने ब्रिटिश काल में औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संघर्ष के दौरान प्राप्त किया था। औपनिवेशिक सत्ता ने भारतीयों के ऊपर अनेक अयोग्यतायें लादी थीं। अतः यह स्वाभाविक ही था कि नये संविधान की रचना करते समय इस बात को ध्यान में रखा जाता कि भविष्य में इन अयोग्यताओं का निराकरण हो सके।

भारत के सामाजिक जीवन में व्याप्त कुरीतियों ने भी संविधान निर्माताओं के दृष्टिकोण को प्रभावित किया था। इन कुरीतियों के परिणामस्वरूप देश की जनता का एक प्रधान अंग अछूत माना जाता था। स्वाधीन भारत के लिए यह स्थिति अवांछनीय थी। इसलिए यह अनिवार्य था कि संविधान में देश के सामाजिक जीवन के इस कलंक को धो डालने का प्रयास किया जाता।

भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन धर्म निरपेक्ष आन्दोलन था। कांग्रेस में हिन्दू और मुसलमान सभी थे। इसलिए कांग्रेस के नेतृत्व में निर्मित होने वाले संविधान से धर्मनिरपेक्षता की अपेक्षा की जा सकती थी। संविधान के इस पहलू का सम्बन्ध संविधान निर्माताओं के केवल धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण के साथ ही नहीं था उसका सम्बन्ध वस्तु स्थिति के साथ भी था। देश में अनेक धार्मिक भाषायी तथा जातीय अल्पसंख्यक पाये जाते थे और उनके सांस्कृतिक अधिकारों के संरक्षण की आवश्यकता थी। वस्तुतः कैबिनेट मिशन योजना को स्वीकार करके राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने ब्रिटिश सरकार को ऐसा करने का आश्वासन भी दिया था।

जैसा कहा जा चुका है कि संविधान सभा के अधिकांश सदस्यों का सम्बन्ध व्यावसायिक मध्यम वर्ग के साथ था। इन लोगों का मानसिक विकास ब्रिटेन की उदारवादी परम्पराओं से अनुप्राणित था। फलतः भारतीय संविधान की मुख्य दार्शनिक धारा उदारवादी ही थी।

सविधान के प्राविधानो मे सन्निहित दृष्टिकोण

उपर्युक्त पृष्ठभूमि मे सविधान के मुख्य प्राविधानो मे सन्निहित दृष्टिकोणो की विवेचना की जा सकती है ।

1 प्रस्तावना

सविधान सभा ने सविधान मे अग्रलिखित प्रस्तावना निहित की—

'हम भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न-लोकतान्त्रिक गणराज्य बनाने के लिए तथा उनके समस्त नागरिको को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए तथा उन सब मे व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता मे वृद्धि करने के लिए दृढ सकल्प होकर अपनी इस सविधान सभा मे आज दिनाक 26 नवम्बर 1949 ईसवी (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, सम्वत् दो हजार छ विक्रमी) को एतद् द्वारा इस सविधान को अगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते है ।'

प्रस्तावना मे अभिव्यक्त विचारो को सविधान सभा ने अपने पहले अधिवेशन मे ही नेहरू जी द्वारा प्रस्तुत उद्देश्य प्रस्ताव को पारित करके स्वीकार कर लिया था । प्रस्तावना के आरम्भिक शब्दो मे यह भाव निहित है कि अन्तिम सत्ता जनता मे निवास करती है और जनता की इच्छा से ही सविधान का उद्भव हुआ है । इस सम्बन्ध मे सविधान सभा मे यह मत व्यक्त किया गया कि सभा की रचना सीमित मताधिकार पर आधारित प्रान्तीय विधानमण्डलो के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से हुई है, अत. उसे भारतीय जनता की इच्छा का प्रतिबिम्ब नही कहा जा सकता । इस तर्क के आधार पर यह विचार भी व्यक्त किया गया कि वयस्क मताधिकार के आधार पर नवीन सविधान सभा का निर्माण किया जाना चाहिए । परन्तु जैसा स्वाभाविक था इस विचार को सविधान सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त नही हो सका ।

प्रस्तावना मे एक सशोधन के द्वारा यह सुझाव रखा गया था कि उसमे भारत को 'प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतान्त्रिक समाजवादी गणराज्य' बनाने की व्यवस्था होनी चाहिए । परन्तु इस सशोधन को सविधान सभा ने स्वीकार नही किया । इसके विरोध मे डा० अम्बेदकर का यह तर्क था कि हमे आने वाली पीढियो को किसी एक प्रकार की अर्थव्यवस्था के साथ नही बाँध देना चाहिए । हमे यह काम बाद मे चुनकर आने वाली ससदो के लिए छोड देना चाहिए ।

प्रस्तावना मे 'ईश्वर' शब्द की अनुपस्थिति भी चर्चा का विषय बनी । एच० वी० कामथ ने यह सशोधन प्रस्तुत किया कि प्रस्तावना के आरम्भ मे 'ईश्वर के नाम पर' शब्द जोडें जाये । परन्तु सभा ने इस सुझाव से असहमति प्रकट की, उसने हृदय नाथ कुंजरू के इस मत को स्वीकार किया कि यह सशोधन प्रस्तावना की मूल भावना के प्रतिकूल है क्योकि वह प्रत्येक व्यक्ति की विचार-अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और पूजा की स्वतन्त्रता स्वीकार करती है ।

2 मूल अधिकार

परतन्त्रता की स्थिति मे मध्यम वर्ग ने निरकुश शासको के हाथो जो अन्याय सहे थे उनमे मुख्य थे निरकुश कर-प्रणाली, निरकुश गिरफ्तारी, भाषण और विचार-अभिव्यक्ति के ऊपर निरकुश नियन्त्रण तथा धार्मिक स्वतन्त्रता का हनन । यही नही, उस काल मे समाज का सगठन पद-सोपान पर आधारित था, जिसमे सबसे ऊँचा स्थान सामन्तो को प्राप्त था, फलत इस सामाजिक सगठन मे उदीयमान मध्यम वर्ग समानता के अधिकार से वचित था । सक्षेप मे ये अन्याय थे जिनका उपचार होना था । इनमे से प्रत्येक उपचार को मूल अधिकार की सज्ञा प्रदान की गई । राजाओ द्वारा थोपे गये निरकुश करो का उपचार करने के लिए सम्पत्ति

के अधिकार का प्रतिपादन किया गया निरकुश गिरफ्तारी की सम्भावनाओं का निराकरण करने के लिए स्वतन्त्रता के अधिकार की माँग की गई तथा सामन्ती व्यवस्था में सन्निहित असमानता से उत्पन्न अन्यायों का उपचार समानता के अधिकार में खोजा गया।

भारत में भी पश्चिम की भाँति अधिकारों को अन्याय के उपचार के रूप में स्वीकार किया गया। इन अन्यायों को मुख्यत दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहले प्रकार के अन्याय वे थे जिन्हें भारतवासियों के ऊपर ब्रिटिश शासन ने थोपा था और जिनका थोडा या बहुत अनुभव विधान सभा के अधिकांश सदस्यों को था। दूसरे प्रकार के अन्याय वे थे जिनकी जडें स्वय भारत के सामाजिक जीवन में सन्निहित थीं। स्पष्टत स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए यह परमावश्यक था कि इन अन्यायों का निराकरण होता।

मूल अधिकारों के सम्बन्ध में सविधान निर्माताओं को जिस समस्या का सबसे पहले सामना करना पडा वह समस्या यह थी कि किन अधिकारों को मूल अधिकार माना जाय। आधुनिक लोक-कल्याणकारी राज्य की पृष्ठभूमि में काम और शिक्षा के अधिकार जीवन स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारों की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। यथार्थ में आज इन अधिकारों का महत्त्व उदारवादी दर्शन में प्रतिपादित अधिकारों की अपेक्षा कहीं अधिक है क्योंकि इनकी अनुपस्थिति में अच्छे जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। परन्तु सविधान निर्माताओं ने इन अधिकारों को वाद-योग्य (justiciable) मूल अधिकारों की सूची में नहीं रखा। उन्होंने उन्हें अवाद-योग्य (non justiciable) नीति निर्देशक तत्त्वों में स्थान दिया। इस प्रकार के अधिकार जिन्हें मान्यता प्रदान करके श्रमिक वर्ग तथा समाज के अन्य दुर्बल वर्गों के जीवन में मौलिक परिवर्तन लाये जा सकते थे उन्हें अवाद-योग्य बना दिया गया। किन्तु मध्यम वर्ग के हितों पर आधारित अधिकारों को मूल अधिकारों की सम्मानित श्रेणी में प्रतिष्ठित कर दिया गया जिनके उल्लघन की स्थिति में न्यायालयों द्वारा दण्ड की व्यवस्था थी।

उल्लेखनीय है कि इस दृष्टिकोण को सविधान सभा में चुनौती दी गयी। यथार्थ में इस दृष्टिकोण की आलोचना सदन में पाये जाने वाले सभी राजनीतिक मतों को मानने वालों ने की थी जिनके एक छोर पर उदारवादी सदस्य हृदय नाथ कुजरू थे और दूसरे छोर पर सदन के एकमात्र कम्युनिस्ट सदस्य सोमनाथ लाहिडी थे। कुजरू का कहना था कि वाद-योग्य तथा अवाद-योग्य अधिकारों के बीच में विभाजन रेखा खींचना मुश्किल है। प्रमाथ रजन ठाकुर का कहना था कि मूल अधिकारों की सूचि में आर्थिक अधिकारों को स्थान अवश्य दिया जाना चाहिए। लाहिडी ने कुजरू के दृष्टिकोण से सहमति व्यक्त की। अपने तर्क की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा उदाहरण के लिये जब हम यह व्यवस्था करते हैं कि लोगों के पास काम का अधिकार होना चाहिए यानी देश से बेरोजगारी का उन्मूलन होना चाहिए तो वह एक सामाजिक अधिकार है। यदि आप उसे मूल अधिकारों के अन्तर्गत शामिल कर देते हैं तो वह स्वाभाविक रूप में वाद-योग्य बन जाता है। इसी प्रकार भूमि का प्रश्न लिया जा सकता है। यदि हम यह कहना चाहते हैं कि भूमि पर जनता का स्वामित्व है और किसी का नहीं तो वह निस्सन्देह एक सामाजिक और मूल अधिकार होगा परन्तु यदि इस अधिकार की कार्यान्विति अपेक्षित है तो यह एक वाद-योग्य अधिकार भी होगा। अत वाद-योग्य तथा सामाजिक एव आर्थिक अधिकारों के बीच विभेद निरकुशतापूर्ण है। आर के सिधवा ने यह मत व्यक्त किया कि मूल अधिकारों की सूची उद्देश्य प्रस्ताव के साथ तथा उस पर किये गये नेहरू जी के भाषण के साथ मेल नहीं खाती। इस प्रस्ताव में यह कहा गया था कि भारत के प्रत्येक नागरिक को सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय उपलब्ध होगा। प्रस्ताव को प्रस्तुत करते समय नेहरू जी ने कहा था कि वे समाजवाद में विश्वास करते हैं और उन्हें विश्वास है कि भारत समाजवादी राज्य के सविधान को निर्मित करने की दिशा में आगे बढ़ेगा। सिधवा ने इस बात के लिए दुख व्यक्त किया कि इन आदर्शों को मूल अधिकारों की सूची में स्थान नहीं दिया गया है। उन्होंने कहा कि अवाद-योग्य

अधिकार केवल सविधान के पृष्ठो को सजाने तथा केवल थोडा सा सन्तोष प्रदान करने के लिए है, परन्तु मै चाहता हूँ कि उन्हे सविधान का अभिन्न अग बनाया जाय ताकि प्रत्येक नागरिक गर्व पूर्वक यह कह सके कि 'अब समानता एव सम्पत्ति के उपभोग करने का मेरा समय आ गया है ताकि मैं हमेशा के लिए दरिद्र न रह सकूँ।' मूल अधिकारो के मसौदे मे आर्थिक अधिकारो की अनुपस्थिति पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए विशम्भर दयाल त्रिपाठी ने कहा था कि 'मताधिकार को छोडकर सविधान के अन्तर्गत गरीब आदमी को कोई दूसरा अधिकार उपलब्ध नही हुआ है।'

सामान्य विवेचन के समय मूल अधिकारो के मसौदे मे कुछ कमियो की ओर भी इशारा किया गया। इस सम्बन्ध मे जो पहली बात कही गयी वह यह थी कि अस्पृश्यता के निवारण के लिए जो प्राविधान किये गये है, उनमे सबसे बडी कमी यह है कि उसमे जातिव्यवस्था के सम्बन्ध मे कुछ भी नही कहा गया है। समस्या के इस पहलू को प्रस्तुत करते हुए प्रमोथ रजन ठाकुर ने कहा कि 'मेरी समझ मे नही आता कि आप जाति-व्यवस्था का उन्मूलन किये बिना अस्पृश्यता का उन्मूलन कैसे कर सकते है ? छुआछूत जाति-व्यवस्था की बीमारी का केवल लक्षण है।' इस दृष्टिकोण का समर्थन डा० एस० सी० बनर्जी तथा धीरेन्द्रनाथ दत्त ने भी किया था।

आलोचको ने अधिकारो के मसौदे मे उल्लिखित सीमाओ के औचित्य को भी चुनौती दी। हृदय नाथ कुजरू ने कहा कि इन सीमाओ के कारण 'अधिकार व्यवहार मे वाद-योग्य भी नही रहेगे।' मसौदे के इन प्राविधानो की शिकायत करते हुए सोमनाथ लाहिडी ने कहा—'प्रत्येक अधिकार के साथ कुछ प्रतिबन्ध जुडे हुए है, जिससे अधिकार का पूर्ण रूप से हनन हो जाता है, क्योकि सभी जगह यह कहा गया है कि गम्भीर सकट के समय इन अधिकारो को ले लिया जायेगा।' मूल अधिकारो के अन्तर्गत निवारक नजरबन्दी की व्यवस्थाये भी आलोचको की दृष्टि से अछूती नही बची। वास्तव मे यह आश्चर्य की बात थी कि जिन लोगो ने औपनिवेशिक शासन मे निवारक नजरबन्दी के कटु अनुभव प्राप्त किये थे, उन्ही लोगो ने सविधान मे उन प्राविधानो को स्थान दिया जिनसे वैयक्तिक स्वाधीनता का सरक्षण नही हो सकता था। यह बात निस्सन्देह सही है कि सविधान की रचना के समय देश ऐसी असाधारण परिस्थितियो के बीच मे से होकर गुजर रहा था जिनसे राज्य के अस्तित्व के लिए ही खतरा पैदा हो गया था। इन परिस्थितियो का प्रभावपूर्ण तरीके से मुकाबला करने के लिए यह आवश्यक था कि राज्य के पास असाधारण शक्ति हो। परन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति तो साधारण कानून के द्वारा भी हो सकती थी, इसलिए इस सम्बन्ध मे बहुत से सदस्यो का यह मत था कि सविधान मे इस प्रकार के प्राविधान नितान्त अनावश्यक है। इन सदस्यो मे सबसे अधिक मुखर सोमनाथ लाहिडी थे, जिन्होने यह घोषणा की कि 'इन मूल अधिकारो की रचना पुलिस कास्टबिल के दृष्टिकोण से की गई है, स्वतन्त्र एव सघर्षरत राष्ट्र के दृष्टिकोण से नही।'

सविधान सभा मे जिस धारा ने बहुत लम्बे विवाद को जन्म दिया, उसका सम्बन्ध वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अधिकार के साथ है। सदन के विधिवेत्ता सदस्यो ने इस सन्दर्भ मे राज्य के मुख्य अभिकरणो—कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका—की भूमिका की विवेचना की। यथार्थ मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए खतरा कार्यपालिका की ओर से उत्पन्न होता है, ऐसा उस समय विशेष रूप से होता है जबकि उसके पास सार्वजनिक व्यवस्था की सुरक्षा के लिए केवल सन्देह के आधार पर किसी व्यक्ति को नजरबन्द करने का अधिकार हो। सकटकाल मे इस प्रकार की शक्ति का औचित्य समझा जा सकता है, परन्तु इस सत्य से इनकार नही किया जा सकता कि यदि कार्यपालिका इस शक्ति का प्रयोग साधारण स्थिति मे भी करे तो यह उसके हाथ मे एक खतरनाक हथियार है। इस पृष्ठभूमि मे यह प्रश्न प्रस्तुत हुआ कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा का उत्तरदायित्व किसे सौपा जाना चाहिये—विधानमण्डल को या न्यायपालिका को। इस प्रकार, अन्तिम विश्लेषण मे, विवाद ने व्यवस्थापिका बनाम न्यायपालिका का रूप धारण कर लिया।

यहाँ यह बात ध्यान मे रखना आवश्यक है कि सविधान के तीसरे अध्याय की रचना एक

निश्चित ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हुई थी। स्वतन्त्रता के पूर्व सभा ने 15वीं धारा में जिसे बाद में 21वीं धारा के रूप में स्थान दिया गया अमरीकी संविधान की 'कानून की प्रक्रिया' शब्दावली का प्रयोग किया गया था। उस समय यह विश्वास किया जाता था कि इस सम्बन्ध में भारतीय कानून अमरीकी ढाँचे के अनुरूप होगा। परन्तु पाकिस्तान की रचना के उपरान्त जब देश में विशाल पैमाने पर साम्प्रदायिक दंगे आरम्भ हो गये तो समस्या के ऊपर पुनर्विचार आवश्यक हो गया। उस समय यह महसूस किया गया कि अधिकारों का उनकी प्रारम्भिक पवित्रता के वातावरण में अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता। फलतः वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अधिकार को उस रूप में स्वीकार नहीं किया गया जिस रूप में उसे अमरीकी संविधान में मान्यता प्रदान की गई थी। इस पृष्ठभूमि में जो समस्या प्रस्तुत हुई वह यह थी कि सामाजिक नियन्त्रण तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के बीच किसको अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाय। वस्तुतः लोकतन्त्र की सार्थकता इन दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित करने में है। परन्तु विभाजन से उत्पन्न दुःखद घटनाओं के वातावरण में वैयक्तिक स्वतन्त्रता के आदर्श को वांछित महत्त्व प्रदान नहीं किया गया। ऐसा इस लिए हुआ क्योंकि सभा के अधिकांश सदस्य व्यक्तिगत स्वाधीनता की अपेक्षा सामाजिक नियन्त्रण को स्थापित करने के लिए अधिक चिन्तित थे। इस प्रकार कानून की प्रक्रिया (Due Process of Law) शब्दावली के स्थान पर जापानी संविधान की 21वीं धारा में प्रयुक्त कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर (except in accordance with the procedure established by law) शब्दावली का प्रयोग किया गया। इस प्रकार न्यायालयों को एक अन्यायपूर्ण कानून के मामले में हस्तक्षेप करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया। इस प्राविधान के समर्थन में तर्क प्रस्तुत करते हुए 13वीं धारा (19वीं धारा) पर हुए विवाद के समय के. हनुमन्तैया ने कहा था—न्यायालयों की प्रकृति ऐसी नहीं है कि वे विधायी कार्यों का निर्धारण कर सकें वे केवल उनकी व्याख्या कर सकते हैं। अतः आज बार-बार समय में जिस प्रकार की परिस्थितियाँ कायम हो जायें उसी के अनुसार कानून भी अपने आप बदल जायें इसे सम्भव बनाने के लिए यह आवश्यक है कि मूल अधिकारों को मर्यादित करने की शक्ति व्यवस्थापिका को सौंपी जाय। परन्तु इस दृष्टिकोण का विरोध लगभग आठ वक्ताओं ने किया जिनमें ड्राफ्टिंग कमेटी के सदस्य के. एम. मुन्शी भी शामिल थे। मुन्शी ने कहा कि सम्भवतः आजकल चल रही संक्रमणकालीन अवस्था के कारण हम यह भूल गये हैं कि यदि हम व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को दृढ़ नहीं देते तथा उसे न्यायालयों की सुरक्षा प्रदान नहीं करते तो हम उस परम्परा को जन्म देंगे जो देश में रही-बची वैयक्तिक स्वतन्त्रता को नष्ट कर देगी। इस दृष्टिकोण का समर्थन जेड. एच. लारी ने भी किया। उनका कहना था— हम यह अनुभव करें कि हम अपने यहाँ संसदीय सरकार की व्यवस्था करने जा रहे हैं यानी ऐसी सरकार की जहाँ विधानमण्डल को कार्यपालिका नियन्त्रित करती है। हमारे यहाँ अध्यादेशों की भी व्यवस्था है जिसका अर्थ है कि आठ या दस व्यक्तियों की एक समिति किसी बात को तय करेगी उसे अध्यादेश के रूप में लागू कर देगी और व्यवस्थापिका उसे अपनी स्वीकृति प्रदान कर देगी अन्यथा उसका अर्थ होगा कार्यपालिका में अविश्वास का प्रस्ताव। इसलिए अन्तिम विश्लेषण में व्यवस्थापिका का अर्थ है केवल या कार्यपालिका। इसलिए प्रश्न है कि क्या आप कार्यपालिका को इस प्रकार की शक्तियाँ प्रदान करने को तैयार हैं जो व्यक्ति व व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के बुनियादी अधिकारों का हनन कर सकती हैं या आप कार्यपालिका पर कुछ नियन्त्रण लगाना चाहते हैं।

परन्तु इन तर्कों को संविधान सभा ने स्वीकार नहीं किया। यदि इस प्राविधान पर हुई बहस का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय तो हम यह अनुभव करेंगे कि संविधान निर्माताओं ने इस निर्णय को दो कारणों से स्वीकार किया था। प्रथम वे कानून की प्रक्रिया शब्दावली के साथ जुड़ी हुई अस्पष्टता को भारतीय संविधान में स्थान नहीं देना चाहते थे। दूसरे वे नहीं चाहते थे कि न्यायपालिका विधानमण्डल का तीसरा सदन बन जाय।

सविधान सभा मे 22वी धारा ने भी अत्यधिक गरम वहस को जन्म दिया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सविधान के मसौदे मे इस प्रकार की कोई धारा नही थी। वस्तुत उसे सभा के अन्तिम दिनो मे प्रस्तुत किया गया था। डा० अम्वेदकर ने उसका औचित्य प्रमाणित करते हुए यह कहा था कि इस व्यवस्था के माध्यम से 'कानून की पद्धति' शब्दावली के समस्त लाभ जन-साधारण को उपलब्ध हो सकेगे।

इस प्राविधान मे निम्न व्यवस्थाये की गई थी—

(1) गिरफ्तार किये हुए व्यक्ति को उसकी गिरफ्तारी के कारण वताये जायेगे।

(2) उन्हे न्यायालय मे अपने बचाव के लिए अपनी इच्छा का वकील रखने का अधिकार होगा।

(3) गिरफ्तार किये गये अथवा नजरवन्द किये जाने वाले व्यक्ति को 24 घण्टे के भीतर किसी मजिस्ट्रेट के सन्मुख प्रस्तुत किया जायेगा और यदि उसकी हिरासत की अवधि को वढाया जायेगा तो ऐसा मजिस्ट्रेट की अनुमति से ही किया जायेगा।

परन्तु इन अधिकारो के दो अपवाद थे। प्रथम, ये अधिकार उन व्यक्तियो को उपलब्ध नही हो सकेगे जिनका सम्वन्ध किसी शत्रु राष्ट्र के साथ है। दूसरे, ये अधिकार उन व्यक्तियो को भी नही दिये जायेगे जिन्हे निवारक नजरबन्दी कानून के अन्तर्गत गिरफ्तार किया गया है।

जहाँ तक पहले अपवाद का प्रश्न था, उसका सविधान सभा मे कोई विरोध नही हुआ, क्योकि वह एक उचित सिद्धान्त पर आधारित था। परन्तु दूसरे अपवाद के विरोध मे पर्याप्त मात्रा मे गरमा-गरमी हुई। उदाहरण के लिए महावीर त्यागी ने इस अवसर पर भाषण करते हुए यह कहा था कि यह धारा 'मूल अधिकारो का निषेध' है और उन्होने यह इच्छा व्यक्त की थी 'काश कि डा० अम्वेदकर तथा ड्राफ्टिग कमेटी के सदस्यो को जेल मे नजरवन्दी का अनुभव होता।' अवकाश-प्राप्त न्यायाधीश वरशी टेकचन्द ने अपने शक्तिशाली भाषण मे इस प्राविधान की कटु आलोचना की। उन्होने पूछा कि क्या ससार मे कोई ऐसा लिखित सविधान है जिसमे साधारण स्थिति मे विना मुकदमा चलाये लोगो की नजरवन्दी की व्यवस्था की गई हो।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सविधान मे इस व्यवस्था को इस समझ के आधार पर उचित ठहराया गया था कि देश मे सकटकालीन अवस्था हमेशा कायम रहेगी तथा सविधान विवेकपूर्ण एव कानून मानने वाले लोगो के लिए नही है, अपितु उन असामान्य विगडे हुए लोगो के लिए है जो समाज मे अव्यवस्था फैलाने के लिए हमेशा तत्पर रहते है।

यद्यपि सविधान सभा मे समानता के अधिकार से सम्बद्ध प्राविधानो का कोई विरोध नही हुआ, तथापि लोक सेवाओ मे पिछडे हुए वर्गो को दी जाने वाली रियायतो ने कुछ विवाद को अवश्य जन्म दिया। इस सम्बन्ध मे यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि नियुक्तियो मे स्थान सुरक्षित रखने का अर्थ है पिछडेपन तथा अयोग्यता को प्रोत्साहन देना। इसके समर्थन मे केवल एक ही वात कही जा सकती है और वह यह है कि यह व्यवस्था उदार है, 'परन्तु इस उदारता के फलस्वरूप उन लोगो का पतन होगा जिनके प्रति इसे व्यवहार मे लाया जाएगा।' परन्तु सदन ने इस दृष्टिकोण को स्वीकार नही किया, क्योकि अधिकाश सदस्यो की यह मान्यता थी कि पिछडे हुए वर्गो को इस योग्य वनाने के लिए कि वे अपने पिछडेपन को दूर कर सके, यह आवश्यक है कि उनके साथ विशेष प्रकार का व्यवहार किया जाए।

धार्मिक अधिकारो से सम्बद्ध प्राविधानो के कारण भी सविधान सभा मे थोडा सा विवाद उत्पन्न हुआ। वहस उन धाराओ को लेकर हुई जिनके अनुसार धार्मिक स्वतन्त्रता के नाम पर धर्मस्व अथवा न्यास के अधीन धार्मिक नामो पर शिक्षा सस्थाओ को स्थापित करने तथा उनके धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था करने की वात कही गई थी। आलोचको का कहना था कि धर्म-निरपेक्ष राज्य मे धर्म के आधार पर अल्पसख्यको को मान्यता नही दी जानी चाहिए, यदि ऐसा

किया गया तो उसके परिणामस्वरूप धम निरपेक्षता का आधार ही नष्ट हो जाएगा। यही नही धम के आधार पर शिक्षा संस्थाओं की स्थापना से राष्ट्रीय एकता का माग ही अवरुद्ध नहीं होगा जो भारत जसे विभिन्न मतावलम्बी देश में परमावश्यक है अपितु उससे साम्प्रदायिकता तथा संकीर्ण राष्ट्रविरोधी दृष्टिकोण को बढ़ावा मिलेगा जसा कि अब तक होता आया है और जिसके घातक परिणामों से हम अवगत हैं। वस्तुत इस आशय का एक संशोधन प्रोफेसर के टी शाह ने 6 दिसम्बर 1948 को प्रस्तुत भी किया था। परन्तु डा अम्बेदकर ने इस संशोधन को अस्वीकार कर दिया।

जिस अधिकार को निर्मित करने में संविधान सभा को सबसे अधिक कठिनाई हुई उसका सम्बन्ध 31वीं धारा में निहित सम्पत्ति के अधिकार से था। इस धारा का प्रस्तुतीकरण स्वयं नेहरू जी ने किया था। अपने भाषण में नेहरू जी ने कहा कि इस प्रश्न के प्रति दो दृष्टिकोण है। एक दृष्टिकोण का सम्बन्ध व्यक्ति के अधिकार के साथ है जबकि दूसरा दृष्टिकोण उस सम्पत्ति में समाज की रुचि का ध्यान में रखकर चलता है। नेहरू जी ने दावा किया कि उनका प्रस्ताव इन दोनों में सामंजस्य स्थापित करता है। उन्होंने कहा कि जहा तक संविधान का प्रश्न है सम्पत्ति पर बल पूर्वक अधिकार करने का कोई प्रश्न नहीं है। परन्तु जब जनता के चुने हुए प्रतिनिधि राज्य की प्रगति व सुरक्षा के लिए किसी वस्तु को आवश्यक समझते हैं तो व्यक्ति उनके रास्ते में कोई बाधा नहीं डाल सकता। परन्तु सम्पत्ति पर अधिकार करते समय विधान मण्डल के लिए यह आवश्यक है कि व उचित एवं न्यायपूर्ण मुआवजे की व्यवस्था करें। परन्तु ध्यान में रखने की बात यह है कि न्याय का सिद्धान्त केवल व्यक्ति पर लागू नहीं होता समाज पर भी लागू होता है। निस्सन्देह समाज अन्ततोगत्वा व्यक्ति के अधिकारों का उल्लंघन कर सकता है परन्तु कोई भी राज्य व्यक्ति के अधिकारों को उस समय तक चोट नहीं पहुँचायगा जब तक ऐसा करना बहुत अधिक आवश्यक न हो। तब प्रश्न है कि उनके बीच सन्तुलन कसे स्थापित किया जाय। उन्होंने कहा कि सन्तुलन कानूनी तरीके से स्थापित किया जा सकता है परन्तु अन्तिम विश्लेषण में सन्तुलन स्थापित करने वाली सत्ता का निवास प्रभुत्वपूर्ण विधान मण्डल में ही होना चाहिए।

नेहरू जी ने कहा कि संसद को यह अधिकार होगा कि वह मुआवजे का अथवा उसके सिद्धान्त को निर्धारित करे और इसको केवल एक स्थिति में चुनौती दी जा सकती है और वह यह है कि संसद संविधान के साथ कोई धोखा न करे। साधारणत समूचे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने वाली संसद संविधान को धोखा नहीं देगी। अन्य उपधाराओं की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति को केवल इतनी शक्ति प्राप्त है कि वह यह देखे कि उतावलेपन में विधानमण्डल कोई गलती न कर बैठे। कोई न्यायधीश कोई सर्वोच्च न्यायालय सम्प्रभुता-सम्पन्न विधानमण्डल के निर्णयों के ऊपर निर्णय नहीं दे सकता। नेहरू जी की राय थी कि इस सम्बन्ध में न्यायपालिका का काम केवल संसद के कामों की त्रुटियों को दूर करना था।

इस विषय पर जो बहस हुई उसमें एक जाने पहचाने समाजवादी विचारों वाले सदस्य ने यह शिकायत की इस धारा को संविधान में स्थान देने से समाजवाद की उपलब्धि असम्भव हो जायगी। दूसरे उग्रवादी सदस्य ने मुआवजा देने के प्रश्न पर प्रधानमन्त्री से असहमति व्यक्त की। तीसरे ने इस सम्बन्ध में न्यायपालिका को किसी भी प्रकार की शक्ति प्रदान करने को अवांछनीय बताया। सदन में कुछ एसे भी सदस्य थे जिनका मत उपर्युक्त मतों से सर्वथा भिन्न था। उनका कहना था कि मुआवजा उचित और पर्याप्त होना चाहिए तथा अन्तिम रूप से उसका निर्धारण न्यायपालिका के द्वारा होना चाहिए।

यहाँ अन्त में सांविधानिक उपचारों के अधिकार को स्थगित करने के प्रावधान पर हुई बहस का उल्लेख आवश्यक है। इस व्यवस्था की आलोचना करते हुए तजम्मुल हुसैन ने कहा था कि राष्ट्रपति को इस अधिकार के स्थगन की शक्ति प्रदान करना खतरनाक होगा। उन्होंने संविधान सभा द्वारा इस प्रकार के प्रावधान को निर्मित करने की शक्ति को भी चुनौती दी। उन्होंने

कहा, 'हमारा स्वतन्त्र देश है। यदि लोग क्रान्ति चाहते हैं, तो उन्हे क्रान्ति करने की छूट होनी चाहिए। हमे उसे रोकने का क्या अधिकार है ? इसलिए मैं कहता हूँ इस सविधान के अन्तर्गत जिन अधिकारो का आश्वासन दिया गया है, उनके स्थगन का अधिकार किसी भी व्यक्ति को नही होना चाहिए, चाहे वह कितना ही बडा क्यो न हो।' इसी प्रकार के तर्क सदस्यो ने सकटकालीन प्राविधानो पर बहस के समय व्यक्त किये थे। परन्तु डा० अम्बेदकर ने इस अलोकतान्त्रिक व्यवस्था का समर्थन किया था और कहा था कि 'इसमे कोई सन्देह नही है कि कुछ मूल अधिकार ऐसे है जिनके सम्बन्ध मे राज्य को व्यक्ति को आश्वासन देना चाहिए ताकि उसके पास अपने व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए सुरक्षा एव स्वतन्त्रता हो, परन्तु यह भी स्पष्ट है कि कुछ अवसरों पर, जैसे जब राज्य का अस्तित्व सकट मे हो, उस समय इन अधिकारो पर कुछ प्रतिबन्ध होने चाहिए। सकट के समय स्वय व्यक्ति को यह लगेगा कि उसका अस्तित्व ही मिट रहा है।'

3 नीति निर्देशक सिद्धान्त

सविधान सभा मे चौथे अध्याय मे सन्निहित धाराओ पर बहस शीर्षक को लेकर शुरू हुई। करीमुद्दीन ने इस आशय का एक सशोधन प्रस्तुत किया कि शीर्षक मे से 'निर्देशक' शब्द हटाकर 'मौलिक' (Fundamental) शब्द का प्रयोग किया जाये। इसी आशय का एक सशोधन एच० वी० कामथ ने प्रस्तुत किया। इन लोगो का कहना था कि इन सिद्धान्तो का कार्यान्वियन राज्य के लिए अनिवार्य होना चाहिए। अन्यथा इनको सविधान मे स्थान देने का कोई प्रयोजन नही हो सकता। डा० अम्बेदकर ने इन सशोधनो का विरोध करते हुए दो तर्क प्रस्तुत किये प्रथम, इन सिद्धान्तो को मौलिक सिद्धान्तो के रूप मे 29वी धारा के द्वारा मान्यता प्रदान की गई है। इसलिए शीर्षक मे 'मौलिक' शब्द का प्रयोग अनावश्यक है। दूसरे, इन सिद्धान्तो का प्रयोजन यथार्थ मे आने वाली व्यवस्थापिकाओ एव कार्यपालिकाओ को इस सम्बन्ध मे निर्देशन देना है कि उन्हे अपनी शक्तियो का प्रयोग किस प्रकार करना चाहिए। यदि 'निर्देशक' शब्द को हटा दिया गया तो इस अध्याय की रचना का उद्देश्य ही विफल हो जायेगा। डा० अम्बेदकर के भाषण के उपरान्त सभा ने समस्त सशोधनो को अस्वीकार कर दिया।

परन्तु कुछ सदस्य ऐसे थे जो डा० अम्बेदकर के तर्को से सन्तुष्ट नही थे। वे इन सिद्धान्तो को प्रभावशाली बनाना चाहते थे। उन्हे अपने मत को व्यक्त करने का अवसर उस समय प्राप्त हो गया जबकि सदन के सम्मुख 29वी धारा विचारार्थ प्रस्तुत की गई। इस अवसर पर प्रोफेसर के० टी० शाह ने एक सशोधन प्रस्तुत किया जिसमे यह कहा गया कि 29वी धारा के स्थान पर निम्न धारा को सविधान मे स्थान दिया जाये:—

'राज्य का अपने नागरिको के प्रति यह कर्त्तव्य होगा कि वह इस अध्याय मे निहित प्राविधानो की कार्यान्विति को अपना कर्त्तव्य माने। इन अधिकारो का कार्यान्वियन उस अधिकारी के द्वारा होगा और उस प्रकार होगा जो कानून के अनुसार उस समय इस काम को सचालित करने का अधिकारी होगा। राज्य का यह कर्त्तव्य होगा कि वह इन सिद्धान्तो को लागू करने के लिए आवश्यक कानून बनाये।'

उन्होने कहा कि 29वी धारा जिस रूप मे प्रस्तावित की गई है उसके कारण इस अध्याय की समस्त धाराएँ अप्रभावशाली हो गई है। उन्होने आगे कहा कि इस अध्याय के प्राविधानो की तुलना अग्रिम तारीख के उस चैक के साथ की जा सकती है जिसका भुगतान केवल उस समय हो जबकि बैंक ऐसा करने मे समर्थ हो। प्रोफेसर शाह का मत था कि 'प्रत्येक व्यक्ति को इन उत्तरदायित्वो को कार्यान्वित करने के लिए राज्य को विवश करने का अधिकार होना चाहिए।' परन्तु सदन को उक्त सशोधन मान्य नही था और उसने 29वी धारा को उसी रूप मे पारित कर दिया जिसमे उसे प्रस्तावित किया गया था।

चौथे अध्याय की अन्य धाराओ के प्रस्तुतीकरण के समय समाजवादी, गांधीवादी, सम्प्रदाय-

वाले और उदारवादी लगभग सभी प्रकार के दृष्टिकोणों को व्यक्त किया गया। उदाहरण के लिए 30वीं धारा पर जब संविधान सभा विचार विमर्श कर रही थी तो उस समय दामोदर स्वरूप सेठ ने एक संशोधन प्रस्तावित किया था जिसके अनुसार देश में समाजवादी अर्थव्यवस्था को निर्मित करने की बात कही गई थी। सेठ जी का कहना था कि धारा जिस रूप में प्रस्तावित की गई है वह अत्यंत अस्पष्ट है। परन्तु के० हनुमंतैया ने धारा की इस अस्पष्टता की प्रशंसा की और कहा इसकी शब्द रचना अत्यंत बुद्धिमत्तापूर्ण है। यदि कम्युनिस्ट पार्टी भी सत्तारूढ़ हो जाय तो वह 30वीं और 31वीं धारा के अंतर्गत अपने कार्यक्रम को लागू कर सकेगी। उन्होंने कहा कि इन धाराओं के अन्तर्गत किसी भी दल पर अपने कार्यक्रम को लागू करने में प्रतिबन्ध नहीं होगा। इसीप्रकार 31वीं धारा पर विचार करते समय प्रोफेसर के० टी० शाह ने यह माँग की कि प्रत्येक नागरिक को एक पर्याप्त जीवन-स्तर को प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए। देश के प्राकृतिक प्रसाधनों पर समाज का स्वामित्व होना चाहिए तथा देश में एकाधिकारी पूँजी के विकास को रोकने के प्रयत्न किये जाने चाहिए।

चौवालीसवीं धारा पर विचार करते समय महावीर त्यागी ने यह माँग की थी कि राज्य को स्वदेशी वस्तुओं को प्रोत्साहन देना चाहिए तथा कुटीर उद्योग धन्धों को विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस सुझाव को ड्राफ्टिंग कमेटी के अध्यक्ष ने स्वीकार कर लिया तथा उसे चौंतीसवीं धारा के एक भाग के रूप में मान्यता दे दी गई।

पैंतीसवीं धारा में समूचे देश के लिए एक से सिविल कोड की स्थापना की बात कही गई। परन्तु संविधान के इस प्रावधान की भी सदन के कुछ मुस्लिम सदस्यों ने इस आधार पर आलोचना की कि उससे मुसलमानों के धार्मिक अधिकारों पर चोट पहुँचती है। मुस्लिम सदस्यों की आलोचनाओं का उत्तर देते हुए के० एम० मुंशी ने कहा संविधान सभा ने धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त को पहले से ही मान्यता दे रखी है। अतः धर्म के आधार पर किसी के ऊपर अत्याचार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। उन्होंने कहा कि जब आप किसी समाज को सुदृढ़ बनाना चाहते हैं तो आपको उस बात को ध्यान में रखना चाहिए जिससे समूचे समाज को लाभ पहुँचे उसके किसी एक भाग को नहीं। प्रश्न यह है कि क्या हम अपने निजी कानून को इस प्रकार सुदृढ़ और एक बनाना चाहते हैं जिससे समूचे देश में कालान्तर में एकता स्थापित हो सके तथा उसे धर्मनिरपेक्ष बनाया जा सके। हम धर्म को निजी कानून से जिसे सामाजिक सम्बन्ध कहा जा सकता है अथवा जिसे विभिन्न पक्षों के उत्तराधिकार के अधिकारों के नाम से भी पुकारा जा सकता है अलग रखना चाहते हैं। मेरी समझ में नहीं आता कि इन बातों का धर्म से क्या सम्बन्ध है।

सदन में कार्यपालिका और न्यायपालिका को एक-दूसरे से अलग रखने का प्रस्ताव भी विवाद का विषय रहा। डा० अम्बेदकर ने यह प्रस्तावित किया था कि संविधान की कार्यान्विति के तीन वर्ष के भीतर कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच पृथक्करण कर दिया जायगा। सदस्यों को तीन वर्ष की यह समय-सीमा पसन्द नहीं थी। इस सम्बन्ध में टी० टी० कृष्णामाचारी ने यह मत व्यक्त किया कि पृथक्करण के विचार की अभिव्यक्ति मात्र ही पर्याप्त है। विश्वनाथ दास का कहना था कि राज्य पृथक्करण के व्यय का वहन करने में असमर्थ है और तीन वर्ष की अवधि में वह इतना समर्थ हो सकेगा यह बात सन्देहास्पद है। जवाहर लाल नेहरू का मत था कि तीन वर्ष की अवधि में पृथक्करण की व्यवस्था करने से संविधान में कठोरता आ जायगी। वस्तुतः इस काम को हम विधानमण्डलों के सुपुर्द कर देना चाहिए। उन्होंने कहा कि कोई भी सरकार इस निर्देश की अवहेलना तक उपेक्षा नहीं कर सकेगी।

चौथे अध्याय के प्रावधानों के प्रारूप में संविधानकारों ने जो परिवर्तन किये उनमें दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रारूप में कहा गया था कि प्रत्येक भारतीय नागरिक का अधिकार है कि उसे प्राथमिक शिक्षा मुफ्त प्राप्त हो। संविधाननिर्माताओं ने इस व्यवस्था को बदल दिया और उनके स्थान पर यह लिखा कि राज्य इस शिक्षा में प्रदान करेगा। दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय शांति

एव सुरक्षा की अभिवृद्धि से सम्बद्ध प्रावधानो मे एक नवीन उपधारा जोडी गई जिसमे इस बात पर बल दिया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादो का निराकरण करने के लिए 'पच-फैसले' का सहारा लिया जाये। वस्तुत इसमे नवीन गणराज्य की शान्तिपूर्ण विदेश नीति की अभिव्यक्ति होती थी।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि नीति निर्देशक सिद्धान्तो को सविधान मे स्थान देकर सविधानकारो ने जनता के सामाजिक एव आर्थिक अधिकारो को मान्यता प्रदान की और इस प्रकार उन्होने समाजवादी आदर्शो मे अपनी आस्था व्यक्त की। सविधान के प्रारूप मे गाँधीवादी आदर्शो को कोई स्थान नही दिया गया था। सविधान के निर्माताओ ने ग्राम पचायतो, कुटीर उद्योग-धन्धो, नशाबन्दी, तथा कृषि एव पशु-पालन को प्रोत्साहन की व्यवस्था करके इस कमी को पूरा किया। सभा के समाजवादी सदस्य चाहते थे कि इन प्रावधानो को वाद-योग्य बनाया जाय अथवा इन आदर्शो को कार्यान्वित करने मे राज्य की भूमिका को अधिक स्वीकारात्मक बनाया जाय। परन्तु इस दृष्टिकोण को स्वीकार नही किया गया।

4 सघीय कार्यपालिका राष्ट्रपति एव मन्त्रि-परिषद्

सविधान सभा के समक्ष एक बडी समस्या यह थी कि देश मे जिस कार्यपालिका की स्थापना की जाय उसका स्वरूप और प्रकार क्या हो। कुछ सदस्य ऐसे थे जिन्हे अमरीकी प्रकार की कार्यपालिका पसन्द थी। इन सदस्यो का कहना था कि भारत को एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता है और यह केवल अध्यक्षात्मक कार्यपालिका के अन्तर्गत ही सम्भव है। दूसरे, स्वतन्त्र भारत को एक नवीन प्रकार की कार्यपालिका से अपनी जीवन-यात्रा आरम्भ करनी चाहिये और उसे दासता की समूची परम्पराओ से अपने सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने चाहिये। किन्तु सविधान सभा के अधिकाश सदस्य ससदीय कार्यपालिका के पक्ष मे थे। इस निर्णय तक पहुँचने मे जिस कारण ने सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की उसका सम्बन्ध उस अनुभव से था जिसे देश ने ब्रिटिश काल के सावैधानिक विकास के दौरान प्राप्त किया था। इस सन्दर्भ मे नेहरू जी का यह कथन उल्लेखनीय है—'हम उसकी प्रतिकूल दिशा मे नही जा सकते।' किसी को स्थायी सरकार की वाछनीयता मे सन्देह नही था। इस स्थायित्व के लिये वे कार्यपालिका एव विधान मण्डल के बीच अच्छे सम्बन्धो को आवश्यक समझते थे। डा० अम्बेदकर का कहना था कि हमे एक निश्चित अवधि के बाद सरकार के उत्तरदायित्व का मूल्याँकन करने की पद्धति की तुलना मे वह पद्धति अधिक पसन्द है जिसमे 'उत्तरदायित्व का दैनिक मूल्याकन' होता है। इसके अलावा यह भी अनुभव किया गया कि यदि केन्द्र मे अध्यक्षात्मक कार्यपालिका की स्थापना की गई तो उसके फलस्वरूप यह भी आवश्यक होगा कि राज्यो मे भी उसी प्रकार की कार्यपालिकाये स्थापित की जायें। इसके परिणामस्वरूप देशी राज्यो मे राजतान्त्रिक भावनाओ मे अभिवृद्धि हो सकती है।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि मे यह निश्चय हुआ कि सघीय कार्यपालिका के दो अग होगे, प्रथम, राष्ट्रपति जो ब्रिटिश राजा की भाँति राज्य का सावैधानिक अध्यक्ष होगा, और दूसरे, मन्त्रि-परिषद् जो देश के शासन के सम्बन्ध मे राष्ट्रपति को परामर्श और सहायता देगी तथा जो अपने कार्यो के लिए सामूहिक रूप मे ससद के प्रति उत्तरदायी होगी।

राष्ट्रपति का निर्वाचन—राष्ट्रपति का निर्वाचन किस प्रकार हो, यह विषय सविधान सभा का अत्यधिक विवादग्रस्त विषय था। इस विषय पर सविधान के निर्माताओ मे दो दृष्टिकोण पाये जाते थे। कुछ सदस्यो का मत था कि राष्ट्रपति का निर्वाचन व्यापक मताधिकार के आधार पर होना चाहिये। जबकि कुछ अन्य सदस्य उसका निर्वाचन ससद के दोनो सदनो द्वारा निर्मित निर्वाचक-मण्डल के द्वारा चाहते थे। अन्त मे इन दोनो दृष्टिकोणो के बीच एक समझौता हो गया जिसके अनुसार निर्वाचन मण्डल मे केन्द्रीय ससद के दोनो सदनो के अतिरिक्त राज्यो की विधान-सभाओ के सदस्यो को भी शामिल कर दिया गया।

जिन सदस्यो का यह कहना था कि राष्ट्रपति का निर्वाचन वयस्क मताधिकार पर होना

चाहिये उनका तर्क था कि राज्य के अध्यक्ष को जनता की सामूहिक क्षमता एवं प्रभुसत्ता का वास्तविक प्रतिनिधि होना चाहिये। उसी स्थिति में वह ब्रिटिश राजा की भांति राष्ट्र की एकता का प्रतीक बन सकेगा। विधानमण्डलों के द्वारा निर्वाचित राष्ट्रपति केवल एक दल का प्रतिनिधि होगा और वह बहुमत वाले दल के हाथ में कठपुतली होगा। यही नहीं भारतवासी नेताओं की पूजा करने वाले होते हैं अतः उन्हें संतुष्ट करने के लिये यह आवश्यक है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर हो। परन्तु राष्ट्रपति के निर्वाचन की इस पद्धति को संविधान सभा के बहुमत ने अस्वीकार कर दिया। बहुमत ने इस सम्बन्ध में तीन तर्क प्रस्तुत किये प्रथम भारत में निर्वाचकों का आकार इतना बड़ा है कि यह व्यावहारिक नहीं है। दूसरे इतने बड़े चुनाव को सम्पन्न कराने के लिए बहुत अधिक अधिकारियों की आवश्यकता होगी। तीसरे इस प्रकार का निर्वाचन संविधान में निहित राष्ट्रपति की स्थिति से मेल नहीं खाता। नेहरू जी ने कहा कि हम सरकार के मन्त्रिपरिषदीय स्वरूप पर बल देना चाहते हैं सत्ता यथार्थ में मन्त्रिमण्डल और विधानमण्डल में निवास करती है राष्ट्रपति में नहीं। यह बात कुछ अटपटी सी होगी कि राष्ट्रपति को व्यापक मताधिकार के आधार पर निर्वाचित किया जाय और फिर उसे कोई वास्तविक शक्ति न दी जाय।

सानुपातिक प्रतिनिधित्व की उपयोगिता में भी सन्देह व्यक्त किया गया। यह कहा गया कि सानुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली का प्रयोग केवल उस समय होता है जब एक से अधिक स्थानों के लिये निर्वाचन होता है इस एक पद के निर्वाचन में उसको काम में लाने से बहुत सी कठिनाइयाँ और उलझनें पैदा होंगी। उसमें एक ऐसा व्यक्ति भी निर्वाचित होकर आ सकता है जो वास्तव में केवल अल्पमत का प्रतिनिधि हो। परन्तु प्रारूप तैयार करने वाली समिति ने इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया। डा. अम्बेदकर का कहना था कि चूंकि संविधान में पृथक् निर्वाचन पद्धति को स्थान नहीं दिया गया है इसलिये सभी मत मतान्तरों को प्रतिनिधित्व देने के लिए केवल एक ही प्रभावशाली तरीका है और वह है सानुपातिक प्रतिनिधित्व।

राष्ट्रपति की शक्तियाँ—राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियाँ संविधान सभा में एक उग्र विवाद का आधार बनीं। एच. वी. कामथ ने कहा कि संसार के अन्य लोकतान्त्रिक संविधानों में इन प्राविधानों का समानान्तर मिलना कठिन है इनसे मिलती जुलती व्यवस्था जर्मनी के वायमर संविधान में की गई थी और उन्हीं का लाभ उठाकर हिटलर ने जर्मनी में लोकतन्त्र की हत्या कर दी। इन प्राविधानों के विरुद्ध सदस्यों की दो आपत्तियाँ थीं—प्रथम वे अलोकतान्त्रिक हैं और दूसरे वे संघवाद के सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं। परन्तु ए. के. अय्यर ने इन व्यवस्थाओं का इस आधार पर समर्थन किया कि संघ सरकार का यह उत्तरदायित्व है कि वह देश में संविधान को कायम रखे। उन्होंने कहा कि इस प्रकार की व्यवस्थायें अमरीकी और आस्ट्रेलियन संविधानों में भी की गई हैं तथा यह सोचना गलत है कि हम ये शक्तियाँ राष्ट्रपति को दे रहे हैं। वस्तुतः ये शक्तियाँ संसद के प्रति उत्तरदायी केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल को दी जा रही हैं। इस अवसर पर डा. अम्बेदकर ने यह स्वीकार किया कि इन व्यवस्थाओं के दुरुपयोग की सम्भावनाओं से इनकार नहीं किया जा सकता। परन्तु दुरुपयोग की सम्भावनायें तो संविधान के अन्य प्राविधानों के बारे में भी लागू होती हैं। उन्होंने आशा व्यक्त की कि इन व्यवस्थाओं को कभी भी कार्य रूप में परिणित नहीं किया जायगा।

संविधान सभा ने संसदीय कार्यपालिका के सिद्धान्त को पहले से ही मान्यता प्रदान कर दी थी। इसलिए मन्त्रियों की योग्यता-सम्बन्धी प्राविधान भी पर्याप्त विवाद का आधार बने। कुछ सदस्यों का मत था कि अपनी नियुक्ति के समय मन्त्री को संसद का सदस्य होना चाहिए कुछ दूसरे सदस्यों का कहना था कि उसे उस दल का सदस्य होना चाहिए जिसे लोक सभा में बहुमत प्राप्त है। परन्तु इन सुझावों को अस्वीकार कर दिया गया। महावीर त्यागी का मत था कि मन्त्री के लिए कुछ शैक्षिक योग्यतायें निर्धारित कर देनी चाहियें परन्तु सदस्यों ने

यह सुझाव भी मान्य नही था। प्रशासन मे शुद्धता कायम रखने के लिए प्रोफेसर के० टी० शाह और एच० वी० कामथ चाहते थे कि अपनी नियुक्ति के समय मन्त्री अपनी आर्थिक स्थिति का व्यौरा प्रस्तुत करे। परन्तु डा० अम्बेदकर को 'इस सुझाव की उपादेयता मे सन्देह था।'

5 सघीय ससद

सविधान सभा ने देश के लिए ससदीय कार्यपालिका की व्यवस्था की थी, अत एक प्रकार से देश के प्रशासन मे ससद का स्थान निश्चित हो चुका था। परन्तु ससद के सम्बन्ध मे कुछ प्रश्न और थे जिनका समाधान आवश्यक था। पहला प्रश्न था कि ससद एकसदनात्मक हो अथवा द्विसदनात्मक। साविधानिक परामर्शदाता ने अपने स्मरण-पत्र मे द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की सिफारिश की थी। परन्तु सविधान सभा मे कुछ सदस्यो ने द्विसदनात्मक विधानमण्डल के सिद्धान्त की आलोचना की और कहा कि 'द्वितीय सदन प्रगति के पहिये मे अवरोधक' है। फलत उन्होने एकसदनात्मक विधानमण्डल के लिए सशोधन प्रस्तुत किये। एन० गोपालस्वामी आयगर ने इस दृष्टिकोण का विरोध किया तथा द्विसदनात्मक विधान मण्डल के औचित्य का प्रतिपादन किया। उनका कहना था कि 'ससार मे जहाँ कभी भी कुछ महत्त्व के सघीय राज्य पाये जाते है, वहाँ सभी जगह द्वितीय सदन की आवश्यकता का अनुभव किया गया है। हम द्वितीय सदन से यह अपेक्षा करते है कि वह महत्त्वपूर्ण विषयो पर सम्मानपूर्ण तरीके से विवाद करे तथा ऐसे कानूनो के पारित होने मे उस समय तक देरी लगाये जिन्हे परिस्थितियो से उत्पन्न भावावेशो मे सोचा गया हो तथा उन्हे उस समय तक पारित न होने दे जब तक कि भावावेशो मे शीतलता न आ जाये तथा उन पर शान्त वातावरण मे पुनर्विचार न हो सके, और हम इस बात का ध्यान रखेगे कि सविधान मे इस बात की व्यवस्था की जाये कि जब भी किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर, विशेषत वित्तीय विषयो पर लोकसभा तथा राज्यसभा के बीच विवाद उत्पन्न हो, तो लोकसभा का दृष्टिकोण हावी हो।'

सविधान सभा ने बहुमत से इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया। एन० गोपालस्वामी आयगर के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि सविधानकारो की दृष्टि मे द्वितीय सदन की केवल एक सीमित भूमिका हो सकती थी, वह सम्मानित तरीके से महत्त्वपूर्ण विषयो पर वाद-विवाद कर सकता था ताकि कोई विधेयक जल्दी मे कानून न बन सके तथा उसका प्रयोजन ऐसे योग्य व्यक्तियो को विधायी कार्य मे भाग दिलाना था जो किसी अन्य प्रकार से सम्भव नही था।

जहाँ तक दोनो सदनो की रचना का प्रश्न है, सविधानकारो ने 1935 के सविधान मे निहित प्राविधानो से बहुत सहायता ली थी। परन्तु उन्होने इस सम्बन्ध मे जो व्यवस्था की वह दो अर्थों मे 1935 की व्यवस्था से भिन्न थी। 1935 मे सीटो का बटवारा इस प्रकार किया गया था जिसमे देशी राज्यो को ब्रिटिश भारत के प्रान्तो की अपेक्षा अधिक सीटे प्राप्त हुई थी। सविधानकारो ने इस अन्यायपूर्ण स्थिति का अन्त कर दिया। दूसरे, 1935 के सविधान मे सघीय विधानमण्डल के सदस्यो का निर्वाचन अत्यधिक समिति मताधिकार के आधार पर होता था। सविधान सभा ने इस असगति को भी दूर कर दिया।

आरम्भ से ही यह बात स्वीकार कर ली गई थी कि राज्यसभा मे कुछ व्यावसायिक हितो को प्रतिनिधित्व दिया जाय। परन्तु सविधान मे इस प्रश्न पर मतैक्य का अभाव था कि इस प्रकार के प्रतिनिधियो की सख्या कितनी हो तथा उनके चुनाव की पद्धति क्या हो। सघ सविधान समिति ने सिफारिश की थी कि इन सदस्यो की सख्या अधिक से अधिक दस हो जिन्हे राष्ट्रपति विश्व-विद्यालयो तथा वैज्ञानिक सस्थाओ के परामर्श मे मनोनीत करे। गोपालस्वामी आयगर ने प्रस्तावित किया कि यह सख्या 25 होनी चाहिए तथा उनका निर्वाचन व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के आधार पर होना चाहिए।

प्रारूप समिति ने 15 सदस्यो का प्रस्ताव किया जिसकी सदन मे काफी आलोचना

गई। एक सदस्य ने कहा है कि राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जाने की व्यवस्था हमारे विधानमण्डलों की रचना की एकरूपता के प्रतिकूल है। यही नहीं इस प्रकार की व्यवस्था में यह खतरा निहित है कि राष्ट्रपति अनुचित ढंग से की जाने वाली आलोचना का शिकार बनें। लक्ष्मीनारायण साहू ने कहा कि यदि हम राष्ट्रपति को 12 सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार प्रदान करेंगे तो उसके ऊपर पक्षपात करने के कटु आरोप लगाये जायेंगे और यह बात अवांछनीय होगी। परन्तु इस विरोध के बावजूद संविधान सभा ने यह व्यवस्था की कि राज्यसभा में बारह सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत होंगे।

जहाँ तक राज्यसभा के निर्वाचित सदस्यों का प्रश्न है संविधानकारों के सम्मुख एक बड़ी समस्या यह थी कि क्या उन्हें संयुक्त राज्य अमरीका की भाँति इकाइयों को दूसरे सदन में समान प्रतिनिधित्व प्रदान करना चाहिए। वस्तुतः इस प्रकार की समानता का खतरा के बावजूद कृत्रिम समझी जाना चाहिए। अतः संविधानकार जनसंख्या के आधार पर इकाइयों को प्रतिनिधित्व प्रदान करना चाहते थे यद्यपि प्रत्यक्ष स्थिति में इस नियम का पालन सम्भव नहीं था। संघ संविधान समिति ने इस समस्या के समाधान के लिए एक समझौता प्रस्तावित किया जिसके अनुसार प्रत्येक राज्य को प्रति दस लाख की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होगा यह क्रम 50 लाख की जनसंख्या तक चलेगा और उसके बाद प्रत्येक 20 लाख की जनसंख्या पर उन्हें एक प्रतिनिधि को भेजने का अधिकार होगा इसमें यह भी व्यवस्था की गई कि किसी भी राज्य को 20 प्रतिनिधि से अधिक निर्वाचित करने का अधिकार नहीं होगा। इस प्रकार जहाँ जनसंख्या को प्रतिनिधित्व का आधार माना गया वहाँ इस बात की सावधानी बरती गई कि बड़ी जनसंख्या वाले राज्य छोटे छोटे राज्यों पर हावी न होने पायें।

लोकसभा की रचना के सम्बन्ध में सांविधानिक परामर्शदाता ने अपने ज्ञापन में यह सुझाव दिया था कि उसमें प्रान्तों तथा देशी राज्यों के प्रतिनिधियों को इस प्रकार स्थान दिया जाय जिसमें प्रत्येक दस लाख की जनसंख्या पर कम से कम एक प्रतिनिधि निर्वाचित हो तथा प्रत्येक साढ़े सात लाख की जनसंख्या पर अधिक से अधिक एक प्रतिनिधि चुना जाय। इस प्रकार के प्रतिनिधित्व को सम्भव बनाने के लिए यह सुझाव दिया गया कि समूचे देश को निर्वाचन क्षेत्रों में बाँटा जाय और प्रत्येक दस वर्षीय जनगणना के उपरान्त इन निर्वाचन-क्षेत्रों की जनसंख्या के आधार पर पुनर्रचना की जाय।

संविधान के प्रारूप को तैयार करने वाली समिति ने इस सुझाव को कुछ संशोधनों के साथ स्वीकार कर लिया। पहले संशोधन के अनुसार यह व्यवस्था की गई कि लोकसभा की अधिकतम संख्या 500 होगी इसके अतिरिक्त यह व्यवस्था भी की गई कि साढ़े सात लाख की जनसंख्या पर कम से कम एक प्रतिनिधि निर्वाचित होगा तथा पाँच लाख की जनसंख्या पर अधिक से अधिक एक प्रतिनिधि चुना जाएगा। संविधान सभा ने अधिकतम संख्या 520 निर्धारित की तथा संविधान के प्रारूप की अन्य व्यवस्थाएँ स्वीकार कर लीं।

प्रारूप समिति ने लोकसभा के निर्वाचन के लिए वयस्क मताधिकार की सिफारिश की। इस प्रावधान का सदन में सामान्यतः स्वागत किया गया। प्रोफेसर निब्बन लाल सक्सेना ने उसे संविधान का सबसे बड़ा गुण बताया। परन्तु इस प्रावधान के औचित्य में डा. राजेन्द्र प्रसाद और हृदयनाथ कुंजरू जैसे व्यक्तियों ने सन्देह व्यक्त किया। उन्हें वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त से विरोध नहीं था अपितु उन्हें उस तरीके से विरोध था जिसमें इस पद्धति को स्थान दिया जा रहा था। कुंजरू का कहना था कि हम इस दिशा में धीरे धीरे कदम बढ़ाना चाहिए। डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने कहा कि यह व्यवस्था नवीन एवं प्रयोगात्मक है जिसका प्रयोग यदि उचित ढंग से नहीं किया गया तो उसके परिणाम भयंकर होंगे।

संविधान सभा में अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर भी काफी वाद विवाद हुआ। प्रारूप समिति ने अल्पसंख्यकों के लिए स्थानों को सुरक्षित रखने की सिफारिश की थी। परन्तु

इस व्यवस्था के विरुद्ध दो प्रकार की आपत्तियाँ प्रस्तुत की गयी। सरदार हुकुम सिह ने कहा कि 'यदि पृथक् निर्वाचन प्रणाली ने सम्प्रदायवाद को वल पहुँचाया है, तो सीटो को सुरक्षित रखने की पद्धति से उसे कुछ कम वल नही मिलेगा।' करीमुद्दीन की आपत्ति इससे बिलकुल भिन्न थी। उन्होने कहा कि यदि निर्वाचन साधारण बहुमत के आधार पर होते है तो सीटो को सुरक्षित रखने से अल्पसख्यको का सही प्रतिनिधित्व नही हो सकता। अत कुछ सदस्यो ने सानुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली को अपनाने का सुझाव दिया। परन्तु प्रारूप समिति को यह प्रस्ताव मान्य नही था। सविधान सभा ने इस मामले मे प्रारूप समिति के दृष्टिकोण को ही स्वीकार किया।

डा० राजेन्द्र प्रसाद ने सदस्यो की शैक्षिक योग्यता के सम्बन्ध मे व्यवस्था करने के ऊपर भी वल दिया। परन्तु सविधान सभा ने डा० राजेन्द्र प्रसाद के इस दृष्टिकोण को मानने से इनकार कर दिया।

6 सघीय न्यायापालिका

1935 के सविधान मे प्रस्तावित भारतीय सघ के लिए समन्वित (Integrated) न्यायपालिका की व्यवस्था की गई थी, उसमे सघ मे शामिल होने वाली समस्त इकाइयो के उच्च न्यायालयो के ऊपर एक सघीय न्यायालय का प्राविधान था। परन्तु उस सविधान मे भी सघीय न्यायालय अपील का अन्तिम न्यायालय नही था। परन्तु स्वतन्त्र भारत के सविधान मे उसे सिविल तथा फौजदारी मुकदमो की अपीलो का अन्तिम न्यायालय बनाकर न्यायपालिका के समन्वयन की प्रक्रिया को पूरा कर दिया गया।

सविधानकारो का मत था कि न्यायपालिका को सरकार की विधायी नीति पर निर्णय देने का अधिकार न दिया जाये। परन्तु साथ ही न्यायपालिका को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्रदान की जाये ताकि वह कार्यपालिका के भय अथवा पक्षपात के बिना काम कर सके। एक सदस्य ने कहा न्यायपालिका की भूमिका 'लोकतन्त्र की रखवाली करने वाले' की होनी चाहिए। इसलिए यह आवश्यक माना गया कि उसे राजनीतिक प्रभावो से स्वतन्त्र होना चाहिए। न्यायाधीशो को भ्रष्ट करने वाले प्रभावो से मुक्त रखने के लिए सविधानकारो को अत्यधिक चिन्ता थी। इसी चिन्ता से प्रेरित होकर पी० के० सेन ने यह सुझाव पेश किया कि 'वह व्यक्ति जो सर्वोच्च न्यायालय के पद पर हे, अथवा जो उस पद पर रह चुका है, भारत सरकार अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन किसी अन्य पद पर नियुक्त होने का अधिकारी नही होगा', यद्यपि मुख्य न्यायाधीश की अनुमति से उसे अल्पकाल के लिए कुछ और दायित्व सौपे जा सकते थे अथवा राष्ट्रीय हित मे सकटकालीन अवस्था मे उसे अन्यत्र काम पर लाया जा सकता था। प्रो० के० टी० शाह का सुझाव था कि हाई कोर्ट अथवा सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश को किसी भी स्थिति मे किसी कार्यपालिका पद पर नियुक्त न किया जाये।

डा० अम्वेदकर ने अपने उत्तर मे सेवारत न्यायाधीश और सेवा-निवृत्त न्यायाधीश के बीच विभेद किया। उन्होने इस मत से सहमति व्यक्त की कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को गैर-न्यायिक उत्तरदायित्व उस स्थिति मे नही सौपने चाहिये, यदि उसे सर्वोच्च न्यायालय मे दोवारा काम करने जाना है। परन्तु उनका कहना था कि सेवा-निवृत न्यायाधीशो के सम्बन्ध मे उस प्रकार की आपत्ति नही होनी चाहिए। वहुत से ऐसे मामले होते है जिनमे विशिष्ट प्रकार की न्यायिक क्षमता से सम्पन्न व्यक्ति की नियुक्ति वहुत आवश्यक होती है। उनके परामर्श पर सविधान सभा ने समस्त सशोधनो को अस्वीकार कर दिया।

प्रश्न

1 भारतीय सविधान सभा को सरचना की महत्त्वपूण वाता पर प्रकाश डालिए।
2 सविधान सभा मे मौलिक अधिकारो पर हुई वहस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कीजिए।

2
सविधान के स्रोत
(SOURCES OF CONSTITUTION)

माविधानिक मिद्धात क मुप्रसिद्ध ब्रिटिश विद्वान् ायसी न एक स्थान पर लिखा है मविधान की तुलना उस देशी पौधे क साथ की जा मकती है जो विदेशी भूमि पर नही उगता। परन्तु डायसी का यह मत भारतीय मविधान क ऊपर भी लागू होता है ऐमा दावा नही किया जा सकता। मच बात यह है कि उमके निमाण म देशी और विदेशी अनक प्रकार क प्रभावा का योगदान रहा है। नवीन भारत को अग्रजो म विरासत क रूप म सघात्मक शासन-व्यवस्था प्राप्त हुई थी उसकी उपादेयता औपनिवेशिक दासता क विरुद्ध सघष म प्रमाणित हो चुकी थी। स्वतन्त्र भारत का यथाथ म एक एम माविधानिक ढाचे की आवश्यकता थी जो अनकता क सन्दभ म भी विघटनकारी तत्वो का नियन्त्रित करन म उमकी सहायता कर सके। सविधानकार साम्प्रदायिक समस्या म भली भाति अवगत थ। राष्ट्रीय मुक्ति सघष क काल म प्राप्त अनुभव स व इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थ कि इस समस्या को जटिल रूप प्रदान करन म पृथक निर्वाचन प्रणाली की एक विशिष्ट भूमिका रही था। स्वाभाविक ऐसी स्थिति म नवान सविधान म उस पुन स्थान दिया जायगा इसकी उपक्षा नही की जा सकती थी। मविधान की रचना म विदेशी सविधानो का प्रभाव भी पडा था। वस्तुत ऐसा होना स्वाभाविक था क्योकि मविधानकारो का उद्देश्य किसी मौलिक ममविद की रचना करना नही था बल्कि एक आदर्श शासन व्यवस्था का स्थापित करना था। अत उन्हे जिस किसी भी दश की शासन प्रणाली म उत्कृष्ट तत्व दिखाई पडे उनका उन्होन सविधान म स्थान देन का प्रयास किया। यहाँ मविधान क इन स्रोतो की विवचना आवश्यक है।

1 1935 क अधिनियम का प्रभाव

1935 का मविधान भारतीय सविधान का एक प्रमुख स्रोत रहा है। वस्तुत सविधान का आकार उसकी विषय-सूची भाषा आदि सभी पर इस अधिनियम का प्रभाव अवलोकित किया जा सकता है। अधिनियम की लगभग 200 धाराए एमी है जिन्हे अक्षरश या वाक्य रचना म माधारण परिवतन करक मविधान म स्थान दिया गया है। हमारा मविधान रूपरखा और भाषा म 1935 क अधिनियम का कितना आभारी है इसका स्पष्टीकरण निम्न उदाहरणो म देखा जा सकता है—

(1) भारतीय मविधान की 256वी धारा म यह कहा गया है कि प्रत्यक राज्य की कार्यकारी शक्ति इस प्रकार प्रयुक्त होगी जिमस मविधान द्वारा बनाय गय कानूनो का निश्चित रूप स पालन हो और सघ की कार्यकारी शक्ति को इस सम्बन्ध म राज्यो का उचित निर्देश देन का अधिकार हो। मविधान की इस भाषा तथा 1935 क अधिनियम की 126वी धारा म प्रयुक्त भाषा एक-दूसर स बहुत मिलती जुलती है।

(2) सविधान की 367वी धारा म राष्ट्रपति की सकटकालीन शक्तियो का उल्लख है 1935 क अधिनियम म इस आशय की धारा 102 म व्यक्त किया गया था इन दोनो धाराओ म बहुत साम्य है।

(3) मविधान की 251वी धारा म उस स्थिति का उल्लख है जिसम सघ एव राज्य सरकारो क कानून परस्पर विरोधी हो इस धारा को 1935 क अधिनियम की 107वी धारा म वर्णन मिलता है।

(4) सविधान की 356वी धारा म राज्यो म साविधानिक यन्त्र क विफल हो जान पर उल्लख

सकट का उल्लेख किया गया है। यह धारा अधिनियम की 92वी धारा से मिलती-जुलती है।

(5) सविधान मे सन्निहित सिद्धान्त भी अधिनियम के मूलभूत सिद्धान्तो के अनुरूप है। निम्न उदाहरणो से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

(अ) अधिनियम मे भारत के लिए जिस प्रकार की सघीय व्यवस्था की कल्पना की गई थी, वह ससार के अन्य सघो से बहुत अर्थो मे भिन्न थी। भारतीय सविधान ने भी जिस सघ को देश मे स्थापित किया हे, वह विश्व के अन्य सघ-राज्यो से मेल नही खाता। यदि उसकी अनुरूपता किसी से हे तो उस सघ से हे जिसे 1935 के अधिनियम मे प्रस्तावित किया गया था।

(ब) अधिनियम मे शक्ति-विभाजन का काम तीन सूचियो—सघ सूची, समवर्ती सूची ओर प्रान्तीय सूची—के द्वारा सम्पन्न किया गया था। वर्तमान सविधान मे भी इसी विभाजन को स्वीकार किया गया है।

(स) अधिनियम मे गवर्नर-जनरल को प्रान्तीय प्रशासन मे हस्तक्षेप करने का अधिकार दिया गया था और वह आपात् काल मे सघ शासन को एकात्मक शासन का रूप दे सकता था। आधुनिक सविधान मे राष्ट्रपति को भी इसी प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त है।

(द) अधिनियम की भाँति आधुनिक सविधान मे भी सरक्षणो (safeguards) की व्यवस्था हे। उदाहरण के लिए अल्पसख्यक वर्गो के धार्मिक, सास्कृतिक तथा भाषा-सम्बन्धी अधिकारो के सरक्षण की व्यवस्था सविधान मे हे। इसी प्रकार सर्वोच्च न्यायालय को निम्न स्तर के न्यायालयो को अपने नियन्त्रण मे रखने का अधिकार हे और केन्द्रीय सरकार का किन्ही निश्चित परिस्थितियो मे राज्य के शासन को अपने नियन्त्रण मे लेने का अधिकार सुरक्षित रखा गया हे।

इस प्रकार यह स्पष्ट हे कि 1935 के अधिनियम को भारतीय सविधान का एक प्रमुख स्रोत घोषित किया जा सकता है। वस्तुत सविधान-निर्माता देश मे उसी प्रकार की शासन-व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे जिसकी कार्यान्विति से देशवासी परिचित थे। ऐसी स्थिति मे यह होना अत्यन्त स्वाभाविक था। इस सम्बन्ध मे प्रारूप समिति के अध्यक्ष डा० अम्बेदकर का यह कथन उल्लेखनीय है—'मै इस बात मे किसी प्रकार की लज्जा अनुभव नही करता कि हमने नवीन सविधान का निर्माण करते समय अधिनियम की बहुत सी बातो को अपनाया हे। किसी भी अच्छी बात को अपनाने मे सकोच नही होना चाहिए, दूसरे साविधानिक सिद्धान्त किसी व्यक्ति अथवा देश-विशेष का एकमात्र अधिकार नही होते। मुझे तो खेद इस बात का हे कि 1935 के अधिनियम की जिन धाराओ को अपनाया गया है उनमे से अधिक का सम्बन्ध शासन की बारीकियो से हे।'

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि भारत का आधुनिक सविधान 1935 के अधिनियम की केवल नकल मात्र हे। वस्तुत इन दोनो मे बहुत अधिक भिन्नता भी हे।

2 विश्व के विभिन्न सविधानो का प्रभाव

भारतीय सविधान की रचना को ससार के विभिन्न देशो की शासन-प्रणालियो का एक निश्चित योगदान रहा हे। इस योगदान को निम्नलिखित तरीके मे व्यक्त किया जा सकता हे—

सविधान अपने ससदीय स्वरूप के लिए ब्रिटिश सविधान का ऋणी है। यथार्थ मे औपनिवेशिक शासन के काल मे ही भारत को ससदीय प्रणाली से जानकारी प्राप्त हो गई थी, अत यह स्वाभाविक ही था कि जब भारत ने अपने सविधान की रचना की तो वह ससदीय शासन पद्धति को उसमे स्थान देता। ससदीय शासन प्रणाली के अनुरूप सविधान मे राष्ट्रपति की स्थिति सामान्यत ब्रिटिश राजा जैसी रखी गयी हे तथा प्रथम सदन को द्वितीय सदन की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। ब्रिटिश सविधान मे सविधानकारो ने 'कानून के शासन' का विचार ग्रहण किया था, यद्यपि लिखित सविधान की पृष्ठभूमि मे उसका महत्त्व वह नही हो सकता था जो उसे अलिखित सविधान के अन्तर्गत प्राप्त है।

सविधान पर अमरीकी प्रभाव को मूल अधिकारों के प्राविधानों में सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्थाओं में उप राष्ट्रपति के पद तथा उसे सौंपे गये कार्यों की सूची में संविधान की संशोधन प्रक्रिया आदि में देखा जा सकता है। यद्यपि अमरीका की भाँति भारत में दुहरी नागरिकता की व्यवस्था नहीं है फिर भी वह अमरीकी संविधान की तरह न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है तथा न्यायाधीशों को पदच्युत करने के लिए भी वह उसी प्रक्रिया की व्यवस्था करता है जो संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में उल्लिखित है।

भारतीय संविधान के कुछ प्राविधान आयरलैण्ड के संविधान की व्यवस्थाओं पर आधारित है। उदाहरण के लिए संविधान में सन्निहित नीति निर्देशक सिद्धान्त राष्ट्रपति के निर्वाचन में निर्वाचक मण्डल की व्यवस्था तथा राज्य सभा में कला साहित्य विज्ञान आदि से सम्बद्ध विशिष्ट व्यक्तियों के मनोनयन की प्रणाली आयरलैण्ड के संविधान से मिलती जुलती है।

भारतीय संविधान के संघात्मक स्वरूप में कनाडा के संघवाद के साथ बहुत अधिक साम्य है। कनाडा में संघ के लिए यूनियन शब्द प्रयुक्त हुआ है भारत में भी हम संघ को यूनियन के नाम से ही पुकारते हैं। कनाडा के संघ में अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र को सौंपी गयी हैं शक्तियों के विभाजन के सम्बन्ध में भारत ने भी इस नियम का अनुसरण किया है।

भारतीय संविधान की कुछ व्यवस्थाएँ आस्ट्रेलियन संविधान से मिलती हैं। संविधान की प्रस्तावना में निहित भावनाएँ समवर्ती सूची तथा इस सूची में उल्लिखित विषयों पर संघ और इकाइयों के बीच संघर्षों को निदान के लिए बनाये गये उपाय आस्ट्रेलिया के संविधान के अनुरूप हैं।

भारत के संविधान में राष्ट्रपति को संकट काल में संविधान को स्थगित करने की शक्ति प्रदान की गयी है यह व्यवस्था जर्मनी के भी रूप में वायमर संविधान में पायी जाती थी। संविधान की 21वीं धारा में कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर शब्दावली का प्रयोग किया गया है वस्तुतः यही शब्दावली जापान के संविधान की 31वीं धारा में प्रयुक्त है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि नवीन संविधान की रचना में विभिन्न देशों के संविधान की भूमिका रही है। इस आधार पर कुछ लोगों ने उसे भानुमती का पिटारा बताया है। कुछ दूसरे लोगों ने उसे उधार की थैली के नाम से पुकारा है। परन्तु इस प्रकार की आलोचनाएँ भारतीय संविधान के साथ न्याय नहीं करतीं। यह सही है कि संविधान के स्रोत विश्व के प्रमुख संविधान रहे हैं। परन्तु संविधानकारों ने अन्य देशों से केवल उन बातों का ग्रहण किया है जिनकी उपयोगिता इस देश में या तो पहले से ही प्रमाणित हो चुकी थी या विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न परिस्थिति में उनकी उपयोगिता की कल्पना की जा सकती थी। सच बात यह है कि संविधानकारों ने अन्धे होकर नकल नहीं की थी। संविधान के इस पहलू के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि विभिन्न संविधानों के सम्मिश्रण से भारत के संविधान में एक ऐसी मौलिकता आ गयी है जो स्वयं भारत की है।

संविधानकारों ने एक देश के लिए संविधान की रचना की थी जिसमें न तो लोकतान्त्रिक विकास ही उचित ढंग से हुआ था और न जिसके आर्थिक विकास की ही समीचीन घोषित किया सकता था। फलतः उन्होंने संविधान में प्रत्येक बात को लिखने का प्रयास किया। इस प्रकार संविधान को उदारतापूर्वक विस्तृत होने दिया गया और उसमें अभिसमयों के विकास के लिए यथासम्भव कम से कम गुंजाइश छोड़ी गई है। फलस्वरूप भारत की प्रशासकीय समस्याओं और यहाँ के राजनीतिक अनुभवों को भी संविधान का एक अंग बनाया जा सकता है क्योंकि संविधान की बहुत सी व्यवस्थाओं को इन्हीं समस्याओं के समाधान के लिए संविधान में स्थान दिया गया है।

3 अभिसमय

जैसा कहा जा चुका है कि भारतीय संविधान संसार के समस्त संविधानों में सबसे अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट संविधान है फलतः उसमें अभिसमयों के विकास की सम्भावना बहुत कम है

परन्तु इसके बावजूद भी अभिसमयो के लिए कुछ क्षेत्र सविधान मे ही रह गया तथा कालान्तर मे कुछ अभिसमय विकसित हो गये। वस्तुत ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योकि कोई भी सविधान चाहे वह कितना ही विस्तृत क्यो न हो, उसमे कुछ न कुछ बात ऐसी रह जाती है जो स्पष्ट नही हो पाती। इस प्रकार की स्थिति अभिसमय के विकास के लिए एक समुचित पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है। भारत के सम्बन्ध मे भी यही बात कही जा सकती है।

नये सविधान के कार्यान्वित होने के उपरान्त हमारे देश मे जो अभिसमय विकसित हुए है उन्हे सविधान का स्रोत बताया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप कुछ अभिसमय निम्नलिखित हैं—

(i) सर्वप्रथम अभिसमय मन्त्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व के सम्बन्ध मे है। यद्यपि हमारे देश मे ससदीय कार्यपालिका स्थापित है, तथापि सविधान का यह भाग मुख्यत अलिखित अथवा अस्पष्ट है। सविधान मे जहाँ कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति मे निहित की गयी है, वही उसमे मन्त्रि-परिषद् की भी व्यवस्था है और इस मन्त्रि-परिषद् का अध्यक्ष प्रधानमन्त्री को बनाया गया है तथा उसे ससद के प्रति उत्तरदायी भी बनाया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस सम्बन्ध मे सविधान की व्यवस्थाओ मे अस्पष्टता पायी जाती है। परन्तु इस अस्पष्टता के होते हुए भी यह स्वीकार करना पडेगा कि भारत की कार्यपालिका ससदात्मक है, अध्यक्षात्मक नही। सविधान की यह विशेषता एक बडी सीमा तक उस अभिसमय पर आधारित है जिसका आरम्भ नेहरू जी के प्रधानमन्त्रित्व के समय मे हुआ था। चूँकि नेहरू जी के स्तर का नेता प्रधानमन्त्री था इसलिए यह स्वाभाविक था कि प्रधानमन्त्री का पद अधिक गौरवपूर्ण एव महत्त्वपूर्ण माना जाता। यह परम्परा कालान्तर मे सविधान का एक अग बन गयी।

(ii) राज्यो के गवर्नरो की नियुक्ति करते समय केन्द्रीय सरकार सामान्यत सम्बद्ध राज्य की सरकार से परामर्श करती है, यद्यपि इस प्रकार की कोई व्यवस्था सविधान मे नही है।

(iii) लोकसभा तथा राज्यो की विधानसभाओ के अध्यक्ष निर्दलीय अथवा निष्पक्ष होने चाहिए, यह बात भी अभिसमय पर आधारित है।

(iv) राज्यो के मुख्यमन्त्रियो तथा प्रधानमन्त्री को विधानमण्डल मे बहुमत वाले दल मे से लिया जाता है। सविधान की यह विशेषता भी अभिसमय पर ही आधारित है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सविधान का अलिखित भाग जिसमे सविधान के अभिसमयो की रचना होती है, उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि लिखित भाग। दोनो भागो का सह-अस्तित्व कभी-कभी गम्भीर सघर्ष को जन्म दे सकता है। चौथे आम चुनावो के पश्चात् राज्यो मे इस सकट के स्पष्ट सकेत दृष्टिगोचर होने लगे थे। वस्तुत यह एक ऐसा विषय है जिसकी विवेचना अलग से होनी चाहिए।

सम्पूर्ण विवेचन से यह प्रमाणित है कि भारतीय सविधान के अनेक स्रोत है। यद्यपि यह एक विस्तृत आलेख है जिसमे प्रत्येक बात का समावेश करने का प्रयास किया गया है तथापि उसमे अभिसमयो का विकास हुआ है और उन्हे सविधान मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

प्रश्न

1 1935 के सविधान का नवीन सविधान के ऊपर क्या प्रभाव पडा है? क्या आप इस मत से सहमत है कि स्वतन्त्र भारत का सविधान 1935 के अधिनियम की नकल मात्र है?

2 इस कथन का परीक्षण कीजिए कि भारत का सविधान एक 'उधार की थैली' है। उदाहरणो से अपने उत्तर की पुष्टि कीजिए।

भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएँ
(SALIENT FEATURES OF THE INDIAN CONSTITUTION)

भारत के संविधान ने देश में सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न लोकतांत्रिक गणतन्त्र की स्थापना की है। अतः यह उचित ही है कि हम संविधान की विभिन्न व्यवस्थाओं के अध्ययन का आरम्भ उसकी विशिष्टताओं के साथ करें।

1 लिखित एवं सबसे अधिक व्याख्यात्मक संविधान

भारतीय गणतन्त्र का संविधान एक लिखित (written) संविधान है। आइवर जेनिंग्स के शब्दों में वह विश्व में सबसे अधिक लम्बा एवं सबसे अधिक ब्यौरेवार (detailed) संविधान है। उसमें 397 धाराएँ हैं जो 22 अध्यायों में विभक्त हैं तथा इनके अतिरिक्त उसमें 9 सूचियाँ हैं। भारतीय संविधान का आकार कितना विशाल है इसका अनुमान हम इस बात से लगा सकते हैं कि वह संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान से पाँच गुना और फ्रांस के चतुर्थ गणतन्त्र के संविधान से सात गुना अधिक बड़ा है यहाँ तक कि वह आयरलैंड के संविधान से भी (जो फ्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत है) अधिक बड़ा है।

प्रश्न है कि भारतीय संविधान को इतना अधिक विस्तृत क्यों बनाया गया है? सम्भवतः इसका एक मुख्य कारण यह है कि भारतीय संविधान संघात्मक है तथा उसे संयुक्त राज्य अमरीका के संघात्मक ढाँचे के आधार पर निर्मित न करके कनाडा के संघात्मक ढाँचे के आधार पर निर्मित किया गया है। अमरीकी संविधान में केवल राष्ट्रीय सरकार के संगठन का वर्णन किया गया है। यही बात स्विट्जरलैण्ड, आस्ट्रेलिया तथा सोवियत संघ के संविधानों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। परन्तु कनाडा के संविधान की भाँति ही भारतीय संविधान में जहाँ राष्ट्रीय सरकार के संगठन का उल्लेख है वहाँ उसमें संघ में सम्मिलित इकाइयों के संगठन का भी वर्णन पाया जाता है। यहाँ इस सम्बन्ध में ध्यान में रखने योग्य बात यह भी है कि आरम्भ में भारतीय संघ की इकाइयों को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया था। अतः यह आवश्यक था कि इन चारों प्रकार के राज्यों के संगठन का संविधान में अलग-अलग उल्लेख किया जाता।

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के संघीय स्वरूप ने संविधान के विस्तृत होने में एक अन्य प्रकार से भी अपना योगदान दिया है। संविधान में संघ और राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का भी वर्णन है। संविधान के ग्यारहवें अध्याय में केन्द्र और राज्यों के बीच पाये जाने वाले विधायी सम्बन्धों का उल्लेख है। इस अध्याय में 19 अनुच्छेद हैं तथा इसके अतिरिक्त संविधान की सातवीं सूची में भी इन्हीं सम्बन्धों का वर्णन किया गया है। संघ और राज्यों के बीच पाये जाने वाले वित्तीय सम्बन्धों का उल्लेख संविधान के बारहवें अध्याय में किया गया है और इसमें 99 धाराएँ हैं। इसके अतिरिक्त 263वीं धारा में अन्तर्राज्यीय निगमों का प्रावधान किया गया है तथा 262वीं धारा में नदियों के जल तथा नदी घाटियों से सम्बद्ध विवादों के समाधान की व्यवस्था की गयी है।

संविधान के आकार के बड़े होने का एक दूसरा कारण यह है कि उसमें न केवल केन्द्र एवं राज्यों की सरकारों के संगठन का वर्णन किया गया है, अपितु उसमें प्रशासकीय ब्यौरे की भी भरमार है। विश्व के अन्य संविधानों में इस ब्यौरे को सामान्यतः देश के साधारण कानून के द्वारा

निर्धारित होने के लिए छोड दिया जाता है। इस प्रकार सविधान की 24 धाराओ मे सघीय न्यायपालिका के गठन का वणन किया गया है तथा 4 धाराओ मे राज्यो की न्यायपालिका के गठन का उल्लेख है।

सविधान के विस्तृत होने का एक तीसरा कारण यह है कि उसमे जहाँ मूल अधिकारो का विशद वर्णन ह, वहाँ उसमे उन अधिकारो के ऊपर लगाये गये प्रतिबन्धो का भी ब्यौरेवार उल्लेख है। इसके अतिरिक्त उसके चौथे अध्याय मे ऐसे निर्देशक सिद्धान्तो का उल्लेख किया गया है जिन्हे यद्यपि न्यायालयो के द्वारा लागू नही किया जा सकता परन्तु जिन्हे देश के शासन-तन्त्र की आधारभूत अवधारणा घोषित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सविधान का कलेवर इसलिए और अधिक बढ गया है क्योकि उसमे कुछ समस्याओ के समाधान का भी प्रयास किया गया है जो भारत की अपनी विशिष्ट समस्याएँ है तथा जिनके निराकरण की अनुपस्थिति मे राष्ट्रीय प्रगति की कल्पना भी नही की जा सकती थी। इस प्रकार की समस्याओ मे अल्पसख्यको की समस्या, पिछडी हुई तथा अनुसूचित जातियो की समस्या, राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय भाषाओ की समस्याएँ प्रमुख है। इनका उल्लेख सविधान के सत्रहवे अध्याय (9 अनुच्छेदो) मे तथा पाँचवी और छठी सूची मे हुआ ह। सविधान मे सन्निहित सकटकालीन प्राविधानो के कारण भी उसके आकार मे वृद्धि हुई है।

कभी-कभी यह प्रश्न पूछा जाता है कि सविधानकारो को इतने लम्बे सविधान को निर्मित करने की क्या आवश्यकता थी ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आइवर जेनिंग्स ने कहा है कि भारतीय सविधान की यह विशेषता मुख्यत भूतकाल की देन है। ब्रिटिश सरकार ने 1919 और 1935 मे भारत के लिए अत्यधिक विशद सविधानो की रचना की थी। इस सम्बन्ध मे एन० श्रीनिवासन् का यह कथन उल्लेखनीय है कि 1935 के ही अधिनियम की ही भाँति भारत का नवीन सविधान 'केवल सविधान ही नही है अपितु एक विस्तृत कानूनी सहिता भी है जिसमे देश की समूची साविधानिक एव प्रशासकीय पद्धति से सम्बद्ध समस्त महत्त्वपूर्ण पहलुओ का उल्लेख ह।' इसका एक दूसरा उत्तर भी हो सकता है। जिस समय सविधान की रचना हो रही थी, उस समय देश मे राजनीतिक परिपक्वता इतनी अधिक नही थी कि किसी भी बात को अभिसमयो के विकसित होने के लिए छोडा जाता। अत सविधानकार यह जोखिम उठाने के लिए तैयार नही थे कि सविधान से सम्बद्ध किसी भी पहलू को अपरिभाषित छोडा जाये।

भारतीय सविधान के इस लम्बे आकार ने दो दुष्परिणामो को जन्म दिया है। सर्वप्रथम इसके फलस्वरूप सविधान की दु सशोध्यता मे वृद्धि हुई है। यहाँ ध्यान मे रखने योग्य बात यह ह कि सविधान के सन्दर्भ मे 'दु सशोध्यता' शब्द का अर्थ सदैव सापेक्ष होता है और उसका सम्बन्ध केवल इस बात से होता है कि सविधान को सशोधित करने की प्रक्रिया कितनी जटिल ह, उसका सम्बन्ध इस बात के साथ भी होता ह कि सविधान के प्राविधान क्या ह। यदि सविधान का आकार अत्यधिक विशाल है तो उस स्थिति मे उसमे सशोधन की सम्भावना कम रहेगी। इसके अतिरिक्त सविधान की बृहत्तता ने उसे इतना अधिक जटिल बना दिया है कि वह जनसाधारण की समझ से परे हो गया है। सयुक्त राज्य अमरीका मे सविधान को माध्यमिक स्कूलो के पाठ्यक्रम मे स्थान दिया गया ह, किन्तु भारत मे इसकी कल्पना भी नही की जा सकती। यथार्थ मे भारतीय सविधान के अध्ययन के उपरान्त इस निष्कर्ष से बचना कठिन है कि 'वह एक ऐसा प्रलेख ह जिसे वकीलो ने वकीलो के लिए निर्मित किया है।' सविधान के कार्यान्वित होने के बाद जितने साविधानिक मुकदमे सर्वोच्च न्यायालय तथा राज्यो के उच्च न्यायालयो के सन्मुख प्रस्तुत हुए ह, उनसे इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है।

2 विश्व की अनेक साविधानिक प्रणालियो के आधार पर निर्मित सविधान

भारतीय सविधान के ऊपर सामान्यत यह आरोप लगाया जाता है कि उसमे मौलिकता का नितान्त अभाव है तथा उसकी रचना विभिन्न स्रोतो से प्राप्त असगत तत्त्वो के द्वारा हुई ह।

म प्रकार के आलोचक सविधानों के सम्बन्ध में नायसी के इस मत को उद्धरण देते हैं कि सविधान उस ऐसी पौधे के समान है जो विदेशी भूमि पर नहीं उगता तथा वे कहते हैं कि भारतीय सविधान में भारतीय परम्पराओं को ध्यान में नहीं रखा गया है तथा उसका निर्माण ससार के विभिन्न सविधानों से उधार लिये गये तत्वों के द्वारा किया गया है। उदाहरण के लिये 1953 में सागर में इण्डियन पोलिटिकल साइन्स एसोसियेशन के हुए वार्षिक सम्मेलन में अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए प्रोफेसर बोधराज शर्मा ने सविधान की इस कारण विहान धर्मनिरपेक्षता तथा ससदीय लोकतन्त्र की यह कहकर आलोचना की थी कि उन्हें पश्चिम से उधार लिया गया है तथा उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया था कि नये भारत के शासनतन्त्र में प्रशासन एवं सरकार से सम्बद्ध हमारे देशी सिद्धान्तों को स्थान देने का कोई प्रयास नहीं किया गया। कुछ आलोचकों ने सविधान की यह कहकर भी आलोचना की है कि उसमें गांधी जी के सिद्धान्तों को भी स्थान देने का प्रयत्न नहीं किया गया है। यहाँ इन आरोपों पर विचार करने की आवश्यकता है।

यह सच है कि भारतीय सविधान की रचना में विदेशी सविधानों का प्रभाव अत्यधिक स्पष्ट है। वस्तुत ऐसा होना स्वाभाविक भी था। ब्रिटेन के साथ भारत का दीर्घकाल से सम्बन्ध रहा था। अत यदि भारतीय सविधानकारों ने ब्रिटेन की सावैधानिक परम्पराओं का अनुकरण किया तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं थी। इसी प्रकार सविधानकारों ने सयुक्त राज्य अमरीका कनाडा आस्ट्रेलिया दक्षिण अफ्रीका तथा आयरलैण्ड आदि देशों के सविधानों से भी बहुत कुछ सामग्री ग्रहण की है। परन्तु इसका आशय यह कदापि नहीं है कि सविधान में कोई मौलिकता नहीं है। किसी भी सविधान की रिक्तता में रचना नहीं होती। सविधानों की रचना किसी निश्चित सामाजिक आर्थिक एव राजनीतिक पृष्ठभूमि में होती है अत कोई भी सविधान उस पृष्ठभूमि की उपेक्षा नहीं कर सकता। भारतीय सविधान की रचना बीसवीं शताब्दी के मध्य में हुई थी अत सविधानकारों के समक्ष जो समस्याएं प्रस्तुत थीं वे आधुनिक युग की समस्याएं थीं और उनका समाधान आधुनिक तरीकों से ही हो सकता था। उनका समाधान में भारत के परम्परावादी सिद्धान्त प्रभावशाली नहीं हो सकते थे। इसके अतिरिक्त यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि सविधानकारों ने देशी परम्पराओं की अवहेलना करके गलती की है तो यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि उन्हें भारत की कौनसी परम्परा का अनुगमन करना चाहिए था। भारत में कोई एक राजनीतिक परम्परा ऐसी नहीं रही है जिसका प्रत्येक युग में तथा देश के प्रत्येक भाग में पालन हुआ हो। ऐसी स्थिति में यदि किसी एक परम्परा का अनुसरण किया भी जाता तो उसके बाद भी यह विवाद के लिए सदा ही रहता कि क्या उस परम्परा का पालन किया जाना उचित था। वस्तुत इस प्रकार की आलोचना करने वाले यह भूल जाते हैं कि सावैधानिक सिद्धान्त एव स्वरूप कोई कापीराइट सामग्री नहीं है जिनको अन्य राज्यों के द्वारा प्रयोग कानून के द्वारा वर्जित कर दिया गया हो। इस सम्बन्ध में डा एम पी शर्मा का यह कथन उद्धरणीय है—हमारे सविधान निर्माताओं का उद्देश्य एक मौलिक अथवा अनोखा सविधान बनाना न था। वे चाहते थे कि व्यावहारिक दृष्टि से एक अच्छा व सफल सविधान बनाया जाय। तदनुसार उन्होंने विदेशी सविधानों से स्वतन्त्रतापूर्वक ऐसे प्राविधान लिये हैं जो वहाँ सफल सिद्ध हुए और जो अपने देश की दशाओं के लिए उपयुक्त समझे गये।

3 लोकतान्त्रिक सविधान

के सी ह्वीयर ने भारतीय सविधान को उदार सविधान बताया है। वस्तुत सविधान सभा ने लोकतान्त्रिक प्रणाली को स्थापित करने के अपने निश्चय की अभिव्यक्ति 22 जनवरी 1947 को पारित उद्देश्य प्रस्ताव (Objectives Resolution) के द्वारा ही कर दी थी। सब ही प्रकार सविधान की प्रस्तावना में भी उन्होंने अपने इस सकल्प को दोहराया था कि वे देश में लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहते हैं। यदि प्रस्तावना के शब्दों को ध्यानपूर्वक पढ़ा

जाये तो उससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि भारत मे लोकतन्त्र केवल राजनीतिक क्षेत्र तक ही मर्यादित नही है, अपितु उसका सामाजिक एव आर्थिक क्षेत्र मे भी विस्तार करने की प्रतिज्ञा की गई है। सक्षेप मे भारतीय सविधान उदारवाद एव समाजवाद के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए कृतसकल्प है।

सविधान मे सन्निहित लोकतान्त्रिक तत्त्वो को यथार्थ मे सविधान के सभी अध्यायो मे अवलोकित किया जा सकता है, परन्तु मूल अधिकारो के अध्याय मे इन तत्त्वो को विशेष रूप से स्थान दिया गया है। सविधान ने केन्द्र और राज्यो मे विधायी एव कार्यपालिका शक्तियो को जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियो के हाथो मे सौपा है। सविधान मे यह व्यवस्था भी की गई है कि इन प्रतिनिधियो को निश्चित अवधि के उपरान्त वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित किया जायेगा। वस्तुत 21 वर्ष की आयु के सभी स्त्री-पुरुषो को मताधिकार प्रदान करने के परिणामस्वरूप आज भारत ससार का सबसे बडा लोकतान्त्रिक देश बन गया है, जितने मतदाता आज भारत मे पाये जाते है, उतने विश्व के किसी अन्य देश मे नही पाये जाते। इस बात का महत्त्व उस समय और भी अधिक बढ जाता है जबकि हम इस बात को भी ध्यान मे रखे कि स्वाधीनता से पूर्व भारत मे अत्यधिक सीमित मताधिकार था तथा निर्वाचन-क्षेत्र साम्प्रदायिक आधार पर विभाजित थे। नवीन सविधान ने जहाँ मताधिकार को व्यापक बनाया है, वहाँ उसने साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रो का भी अन्त किया है। मूल अधिकारो के माध्यम से उसने भारत के समस्त नागरिको को बिना किसी भेदभाव के समानता का भी आश्वासन दिया है। सविधान की यह व्यवस्था देश मे सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना करती है। भारतीय लोकतन्त्र के सम्बन्ध मे ध्यान मे रखने योग्य बात यह है कि वह केवल बहुसख्यको का अल्पसख्यको पर शासन मात्र नही है, अपितु वह अल्पसख्यको के न्यायोचित अधिकारो की सुरक्षा की भी व्यवस्था करता है। इसके अतिरिक्त उसमे समाज के पिछडे हुए वर्गो के हितो की अभिवृद्धि के लिए विशेष प्राविधानो को स्थान दिया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सविधानकारो ने लोकतन्त्र की स्थापना करते समय इस बात को ध्यान मे रखा है कि देश को इन बुराइयो से दूर रखा जा सके जो अविकसित देशो मे लोकतन्त्र के साथ सामान्य रूप मे उत्पन्न होती है।

4 ससदीय कार्यपालिका

भारतीय सविधान ने केन्द्र और राज्यो मे ससदीय कार्यपालिका की व्यवस्था की है। सविधान सभा मे वस्तुत इस प्रश्न के ऊपर पर्याप्त मात्रा मे विचार-विमर्श हुआ था कि नवीन भारत की कार्यपालिका की स्थापना ब्रिटेन की ससदीय कार्यपालिका के अनुरूप की जाय अथवा सयुक्त राज्य अमरीका की कार्यपालिका के अनुरूप अध्यक्षात्मक कार्यपालिका का निर्माण किया जाये। लम्बे विवाद के उपरान्त सविधान सभा ने ससदीय कार्यपालिका को स्थापित करने का निर्णय लिया। यथार्थ मे इस प्रकार का निर्णय स्वाभाविक भी था क्योकि 1919 और 1935 के अधिनियमो के अन्तगत भारतीय जनता को एक सीमा तक ससदीय कार्यपालिका के परिचालन का अनुभव प्राप्त हो चुका था, बाद मे 1947 मे देश स्वाधीन होने के बाद उत्तरदायी शासन के ऊपर ब्रिटेन द्वारा आरोपित प्रतिबन्ध उठ जाने के पश्चात् देश की जनता ने ससदीय लोकतन्त्र का पूर्ण अनुभव भी प्राप्त कर लिया था। यही नही, सविधानकारो का यह विश्वास था कि अध्यक्षात्मक कार्यपालिका की अपेक्षा ससदीय कार्यपालिका इसलिये अधिक अच्छी होती है क्योकि उसमे कार्यपालिका के लिये विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायित्व को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस सम्बन्ध मे सविधान सभा मे डा० अम्बेदकर ने कहा था कि इस पद्धति मे कार्यपालिका के उत्तरदायित्व का दैनिक एव एक निश्चित अवधि के उपरान्त मूल्याकन होता रहता है।' कार्यपालिका का निश्चित अवधि के उपरान्त मूल्याकन आम चुनाव के समय निर्वाचको के द्वारा होना

है अन्ततोगत्वा निर्वाचक ही कार्यपालिका द्वारा निष्पादित कार्यों के औचित्य अथवा अनौचित्य पर अपना अन्तिम निर्णय देते हैं। कार्यपालिका के कार्यों तथा नीतियों का दैनिक मूल्यांकन निर्वाचकों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा विधानमण्डल में होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि संविधान सभा ने संसदीय कार्यपालिका का निर्णय जान-बूझकर लिया था। इस प्रकार की कार्यपालिका में शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त का कोई स्थान नहीं दिया जाता। अतः भारतीय संविधान में राष्ट्रपति की स्थिति ब्रिटिश राजा की स्थिति जैसी होती है अमरीकी राष्ट्रपति जैसी नहीं। डा. अम्बेदकर के शब्दों में वह राष्ट्र का प्रतीक है उसका शासक नहीं। संघ की कार्यपालिका शक्ति का परिचालन उसके नाम में होता है परन्तु उसका वास्तविक प्रयोग मन्त्रिमण्डल द्वारा होता है जिससे संविधान के द्वारा यह अपेक्षा की जाती है कि वह लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होगा। यहाँ उल्लेखनीय है कि संविधान की व्यवस्थाओं से यह बात स्पष्ट नहीं है कि भारत की कार्यपालिका संसदीय ही है अध्यक्षात्मक नहीं है। वस्तुतः संविधान में जहाँ यह लिखा है कि कार्यपालिका लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होगी वहाँ उसमें यह भी लिखा है कि मन्त्री राष्ट्रपति के प्रसाद काल में ही अपने पद पर कार्य कर सकेंगे। संविधान में एक स्थान पर लिखा है कि राष्ट्रपति को उसके कार्यों में सहायता एवं परामर्श देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी जिसका अध्यक्ष प्रधानमन्त्री होगा। परन्तु संविधान में कहीं भी यह नहीं लिखा कि राष्ट्रपति को मन्त्रिमण्डल द्वारा दिया गया परामर्श प्रत्येक स्थिति में स्वीकार करना पड़ेगा। अतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान में कार्यपालिका का वास्तविक स्वरूप अभिसमयों के द्वारा निर्धारित हुआ है।

5 धर्मनिरपेक्ष राज्य

यद्यपि संविधान में स्पष्ट शब्दों में यह कहीं नहीं लिखा है कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य (Secular State) है तथापि इस तथ्य की अवहेलना नहीं की जा सकती कि संविधानकार देश में एक धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे। वस्तुतः संविधान सभा में हुए विवादों से इस सत्य की अभिव्यक्ति भली प्रकार हो जाती है। धर्मनिरपेक्ष राज्य में स्वीकारात्मक एवं निषेधात्मक दोनों प्रकार के पहलू पाये जाते हैं। निषेधात्मक रूप में वह साम्प्रदायिक अथवा धर्मसापेक्ष (Theocratic) राज्य के सर्वथा विपरीत है क्योंकि उसमें राज्य किसी भी धर्म विशेष के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं करता तथा किसी भी धर्म के सिद्धान्तों को अपना पथप्रदर्शक नहीं मानता। वेंकटारमन ने लिखा है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य न तो धार्मिक होता है न अधार्मिक और न धर्म विरोधी परन्तु वह धार्मिक क्रियाओं एवं अन्धविश्वासों से अपने आपको पूर्णतः पृथक रखता है और इस प्रकार उसे धार्मिक मामलों में तटस्थ कहा जा सकता है। अतः इस मान्यता के अनुकूल ऐसे राज्य में नागरिकों पर ऐसे कर आरोपित नहीं किये जाते जिनसे प्राप्त आय को किसी धर्म विशेष के प्रचार में व्यय किया जाय।

स्वीकारात्मक रूप में धर्मनिरपेक्ष राज्य अपने समस्त नागरिकों को समान दृष्टि से देखता है तथा धर्म के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव को स्वीकार नहीं करता। फलतः ऐसे राज्य में सभी नागरिकों को चाहे उनका धर्म कुछ भी क्यों न हो उन्नति करने के समान अवसर प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त दोनों कसौटियों के आधार पर भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया जा सकता है। भारत में सभी नागरिकों को समान अधिकार प्रदान किये गये हैं तथा किसी भी नागरिक को उसके धर्म के आधार पर उसके अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता। भारत की धर्मनिरपेक्षता की अभिव्यक्ति इस तथ्य के द्वारा भी होती है कि हमारे यहाँ साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों का अन्त कर दिया गया है तथा उनके स्थान पर संयुक्त निर्वाचन क्षेत्र स्थापित किये गये हैं। भारतीय संविधान ने प्रत्येक भारतीय नागरिक को किसी भी धर्म को मानने, उसके अनुसार आचरण करने तथा उसका प्रचारित करने का अधिकार प्रदान किया है तथा साथ ही में

उन्हे किमी भी धर्म को न मानने की भी छूट हे। सविधान के द्वारा भारतीय नागरिको को यह आश्वामन भी प्राप्त हे कि लोक-सेवाओ मे नियुक्ति के समय किसी के भी साथ धर्म के आधार पर भेदभाव नही किया जायगा ।

कुछ लोगो ने धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त की यह कहकर आलोचना की है कि वह अनैतिक एव अभारतीय है। वस्तुत यह आलोचना धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त के साथ न्याय नही करती। नैतिकता का सम्बन्ध आवश्यक रूप से धर्म के साथ नही है। विश्व का इतिहास ऐसे अनेक उदाहरणो से भरा पडा हे जहॉ धर्म के नाम पर भयकर अनैतिक काम किये जा चुके है। इसी प्रकार उसे अभारतीय बताना भी केवल सकीर्ण दृष्टिकोण का परिचायक हे। सच बात यह है कि दर्शन अथवा सिद्धान्त किमी भी प्रकार के भौगोलिक अथवा राजनीतिक सीमान्तो को स्वीकार नही करता तथा किसी भी सिद्धान्त पर किसी राज्य विशेष का पेटेन्ट अधिकार भी नही होता। कोई भी राज्य अपनी परिस्थितियो के अनुसार अपने व्यापक हितो को ध्यान मे रखते हुए किसी भी सिद्धान्त को अपनी सावैधानिक प्रणाली मे स्थान दे सकता है।

6 प्रभुसत्ता-सम्पन्न लोकतान्त्रिक गणराज्य

सविधान की प्रस्तावना मे भारत को प्रभुसत्ता-सम्पन्न लोकतान्त्रिक गणराज्य (Sovereign Democratic Republic) घोषित किया गया हे। यहॉ इस सदर्भ मे यह उल्लेखनीय है कि 16 मई 1949 को सविधान सभा ने एक प्रस्ताव के द्वारा राष्ट्र-मण्डल मे शामिल होने का निर्णय किया था। यद्यपि इस अवसर पर भाषण करते हुए नेहरू जी ने सविधान सभा मे यह कहा था कि 'यह एक ऐसा समझौता हे जिसे स्वतन्त्र इच्छा के द्वारा किया गया हे तथा जिसे स्वतन्त्र इच्छा के द्वारा तोडा भी जा सकता हे।' बहुधा यह प्रश्न पूछा जाता हे कि क्या राष्ट्र-मण्डल की सदस्यता भारत के गणतान्त्रिक स्वरूप के साथ मेल खाती है ? आखिर राष्ट्र-मण्डल ब्रिटिश क्राउन के प्रति भक्ति पर आधारित हे, स्पष्टत इस बात का किसी भी गणतन्त्र के साथ मेल नही हो सकता। निस्सन्देह इस तर्क मे निहित शक्ति को अस्वीकार नही किया जा सकता। परन्तु इसके साथ मे ध्यान मे रखने की बात यह भी हे कि अप्रैल 1949 मे राष्ट्र-मण्डल के प्रधानमन्त्रियो का एक सम्मेलन लन्दन मे हुआ था जिसमे इस दुविधा का निवारण करने के लिए एक फार्मूला निकाला गया। इस फार्मूले के अनुसार एक गणतान्त्रिक राज्य को भी राष्ट्रमण्डल की सदस्यता प्राप्त करने की व्यवस्था की गई थी। यद्यपि देश के बहुत से राजनीतिक दलो ने भारत की राष्ट्र-मण्डल की सदस्यता को देश की स्वतन्त्रता के लिए असगत बताया ह तथापि इस सत्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि उससे भारत के स्वतन्त्र आचरण पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही पडा ह।

7 सुसशोध्यता एव दुस्सशोध्ता का समन्वय

बहुधा सविधानो को सुसशोध्य (flexible) तथा दुस्सशोध्य (rigid) सविधानो के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता ह। परन्तु यथार्थ मे इस प्रकार की वर्गीकरण बहुत अधिक उपयुक्त नही ह क्योकि कोई भी सविधान न तो पूर्ण रूप से सुसशोध्य होता ह तथा न पूर्ण रूप से दुस्सशोध्य। इस दृष्टि से सविधानो मे जो भी अन्तर पाया जाता हे, वह केवल मात्रा का होता ह गुण का नही। भारतीय सविधानकार देश के लिए एक ऐसा सविधान निर्मित करना चाहते थे जिसमे उपर्युक्त दोनो प्रकार के सविधानो का समन्वय पाया जाता। वस्तुत उनके लिए ऐसा करना आवश्यक भी था क्योकि जहॉ सविधान को राजनीतिक दलो के हाथ मे खिलौना बनने से रोकना था वहॉ यह भी आवश्यक था कि उसके विकास के मार्ग को अवरुद्ध न किया जाये। इस सम्बन्ध मे सविधान सभा मे नेहरू जी के भाषण का यह अश उद्धरणीय ह—'जहॉ हम चाहते ह कि यह सविधान इतना ठोस और स्थायी होना चाहिए, जितना वह हो सकता ह, वहॉ हमे यह भी समझना चाहिए कि सविधानो मे कोई स्थायित्व नही होता। उसमे एक मात्रा मे लचकीलापन भी होना चाहिए। यदि आप सभी बातो

को कठोर और स्थायी बना देंगे तो आप राष्ट्र की जीवित क्रियाशील एवं अवयवी जनता का विकास रोक देंगे। हम किसी भी स्थिति में इस संविधान को इतना कठोर नहीं बनाना चाहिए कि वह बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको न ढाल सके। फलत यह स्वाभाविक ही था कि संविधानकार जिस संविधान की रचना करते उसमें सुनम्यता एवं दुष्परिवर्तनशीलता का एक अपूर्व मिश्रण पाया जाता।

संघीय संविधान होने के कारण यह आवश्यक था कि उसमें एक सीमा के अन्तर्गत दुष्परिवर्तनशीलता के तत्त्व पाये जाते। आइवर जेनिंग्स ने भारतीय संविधान में सुनम्यता के तत्त्वों को ही अवतारित किया है। अपने इस मत के समर्थन में जेनिंग्स ने दो तर्क प्रस्तुत किये हैं प्रथम संविधान के संशोधन की विधि साधारण कानून बनाने की विधि की अपेक्षा कुछ अधिक कठिन है तथा द्वितीय संविधान का आकार बहुत बड़ा है। परन्तु कुछ अन्य लेखकों ने इस मत के साथ अपनी असहमति व्यक्त की है। एलेक्जेन्ड्रोविक्ज (Alexendrowics) ने लिखा है कि इस बात के बावजूद भी कि भारतीय संविधान का आकार बहुत बड़ा है तथा उसमें संशोधन केवल एक विशिष्ट प्रक्रिया के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है उस पर दुष्परिवर्तनशीलता का आरोप नहीं लगाया जा सकता। सच बात यह है कि भारतीय संविधान में दुष्परिवर्तनशीलता के दोषों को कम करने की कोशिश की गई है। फलस्वरूप संविधान में यह व्यवस्था है कि आपातकाल में बिना किसी संशोधन के संघात्मक राज्य में एकात्मक राज्य की व्यवस्था स्थापित हो सके। इस प्रकार की व्यवस्था किसी अन्य संघीय राज्य में नहीं पाई जाती।

संविधान की 368वीं धारा में संशोधन की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। संसद विधेयक के रूप में संविधान में संशोधन को प्रस्तावित कर सकती है और यह विधेयक उसके किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार के विधेयक के पारित होने के सम्बन्ध में संविधान में विशेष व्यवस्था है। सर्वप्रथम उसके पारित होने के लिए यह आवश्यक माना गया है कि संसद के दोनों सदन उसे अलग अलग एक ही रूप में अपने उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से स्वीकार करें तथा इस विधेयक पर मतदान करने वालों की संख्या प्रत्येक सदन में उसकी कानूनी सदस्य संख्या का बहुमत होना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि संशोधन के पारित होने के लिए लोकसभा के कम से कम 263 सदस्यों तथा राज्य सभा के 119 सदस्यों का समर्थन अत्यन्त आवश्यक है। द्वितीय संसद द्वारा उपर्युक्त विधि से पारित होने के उपरान्त विधेयक को राष्ट्रपति के सम्मुख उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जायगा तथा उसकी कार्यान्विति केवल उसी समय हो सकेगी जबकि उसे राष्ट्रपति भी स्वीकार कर लें। सामान्यत संशोधन के सम्बन्ध में इसी प्रक्रिया का व्यवहार में लाया जाता है परन्तु संविधान में कुछ भागों को संशोधित करने के लिए यह आवश्यक माना गया है कि उसे कम से कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों का समर्थन प्राप्त होना चाहिए। इस प्रकार जिन संशोधनों के लिए राज्यों की स्वीकृति आवश्यक है उन्हें राष्ट्रपति के सम्मुख उस समय तक प्रस्तुत नहीं किया जा सकता जब तक कि उन राज्यों के विधानमण्डल स्वीकार नहीं कर लेते।

संविधान की कुछ व्यवस्थाएँ ऐसी भी हैं जिन्हें संशोधित करने के लिए केवल संसद द्वारा पारित साधारण कानून की आवश्यकता मानी गई है। इस प्रकार के प्रावधानों में नये राज्यों की रचना प्रचलित राज्यों का पुनर्गठन तथा राज्यों के द्वितीय सदनों का उन्मूलन (अनुच्छेद 4 169 और 240) आदि शामिल हैं।

संविधान में संशोधन की उपर्युक्त प्रक्रियाओं की इस के विभिन्न क्षेत्रों में आलोचना की गई है। आलोचकों की पहली आपत्ति यह है कि हमारे देश में संशोधन के मामले में जनता की इच्छा जानने का प्रयास नहीं किया गया है तथा उस पर केवल संसद का एकाधिकार स्थापित किया गया है। यही यह उल्लेखनीय है कि संयुक्त राज्य अमरीका स्विट्जरलैण्ड तथा आस्ट्रेलिया आदि देशों में संशोधन को पारित करने में जनमत-संग्रह की व्यवस्था पाई जाती है। भारत में इस

व्यवस्था का न होना दुर्भाग्यपूर्ण है। इस आलोचना का औचित्य इसलिए और भी है क्योकि हमारे देश मे सत्ता मुख्यत एक ही दल के हाथो मे रही है, इसी दल ने देश के सविधान की रचना भी की थी। अत आलोचको के इस कथन मे एक बडी मात्रा मे सत्य पाया जाता है कि आधुनिक सविधान कांग्रेस दल का सविधान है।

8 सविधान की अन्य विशेषताएँ (Other Features)

मूल अधिकार तथा राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्त—उपर्युक्त विशेषताओ के अतिरिक्त सविधान की कुछ अन्य विशेषताये भी है जिनमे मूल अधिकार तथा नीति-निर्देशक सिद्धान्तो की व्यवस्था को प्रमुख समझा जाना चाहिए। ब्रिटिश शासनकाल मे भारतवासियो के लिए मूल अधिकारो जैसी कोई व्यवस्था नही थी। परन्तु हमारे आधुनिक सविधान मे इस कमी को दूर किया गया है तथा उसमे प्रत्येक भारतीय नागरिक के लिए बिना किसी भेदभाव के मूल अधिकारो की व्यवस्था की गई है। सविधान मे जिन अधिकारो को मान्यता दी गयी है, उन्हे सात शीर्षको मे वर्गीकृत किया गया है जो निम्नलिखित है—

(1) समानता का अधिकार,
(2) स्वतन्त्रता का अधिकार,
(3) शोषण के विरुद्ध अधिकार,
(4) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार,
(5) सस्कृति और शिक्षा का अधिकार,
(6) सम्पत्ति का अधिकार, तथा
(7) सावैधानिक उपचारो का अधिकार।

सविधान के एक प्राविधान के अनुसार राज्य को किसी ऐसे कानून को बनाने के अधिकार मे वचित रखा गया है जिससे नागरिको के उपर्युक्त मूल अधिकारो पर आघात पहुँचता हो। इन अधिकारो के सम्बन्ध मे एक उल्लेखनीय बात यह है कि उनका सम्बन्ध सामान्यत पश्चिम के उदारवादी लोकतान्त्रिक दर्शन के साथ है, फलत वे उन चुनौतियो का सामना करने मे असमर्थ है जो आज के युग मे केवल हमारे देश के सन्मुख ही नही अपितु प्राचीन व्यवस्था मे रहने वाले सभी देशो के समक्ष गम्भीर रूप से प्रस्तुत है। सविधानकार इस तथ्य से अवगत थे, अत उन्होने कुछ अन्य अधिकारो की भी व्यवस्था की, परन्तु उनके सम्बन्ध मे यह कहा गया कि उनकी कार्यान्विति के न होने पर किसी न्यायालय मे शिकायत नही की जा सकेगी। इस प्रकार के अधिकारो को राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तो के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। वस्तुत नीति-निर्देशक सिद्धान्तो को हमे भारतीय सविधान की एक प्रमुख विशेषता समझनी चाहिए। इन सिद्धान्तो के माध्यम मे सविधान-निर्माताओ ने भारतीय गणराज्य के लक्ष्यो एव आदर्शो की घोषणा की है।

प्रश्न

1 भारतीय सविधान की मुख्य विशेषताओ की विवेचना कीजिये।

संविधान की प्रस्तावना, मूल अधिकार एवं नीति निर्देशक सिद्धान्त
(PREAMBLE FUNDAMENTAL RIGHTS AND THE DIRECTIVE PRINCIPLES)

संविधान की प्रस्तावना

प्रत्येक संविधान का समारम्भ एक प्रस्तावना के साथ होता है जिसमें उसके मूल उद्देश्य सन्निहित होते हैं। इस व्यापक नियम का अभी तक केवल एक ही अपवाद रहा है और वह था ब्रिटिश संसद द्वारा पारित 1935 का अधिनियम। अंग्रेजों ने इस अधिनियम की रचना करते समय इस पीढ़ियों पुरानी परम्परा का पालन क्यों नहीं किया इसके कारण की खोज करना कोई *कठिन कार्य नहीं है। स्पष्टतः अंग्रेजों ने इस देश के संदर्भ में जो उद्देश्य निश्चित किये थे वे ऐसे* नहीं थे जिनकी खुलकर घोषणा की जा सकती। यदि वे भारतीय जनता की आकांक्षाओं के अनुरूप अपने उद्देश्य घोषित करते तो इससे इंग्लैण्ड की जनता के असन्तुष्ट होने की आशंका थी और यदि इंग्लैण्ड के लोगों की इच्छा को ही ध्यान में रखकर कोई घोषणा की जाती तो उससे भारतीय जनता के अप्रसन्न होने का भय था। परन्तु नवीन भारत के निर्माताओं के समक्ष इस प्रकार का कोई भ्रम संकट नहीं था। वस्तुतः प्रस्तावना की रचना के रूप में उन्हें एक ऐसा अवसर प्राप्त हुआ था जिसके माध्यम से वे इस देश में स्थापित होने वाली नई व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने स्वप्नों को अभिव्यक्त कर सकते थे जिन्हें यह देश शताब्दियों से सजाये चला आ रहा था।

फलतः भारतीय संविधान का आरम्भ उस प्रस्तावना के साथ होता है जिसके द्वारा उसने देश में एक ऐसे युग का समारम्भ करने का संकल्प किया है जिसमें देश की जनता के सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन को उच्चतम मानव गरिमा एव प्रतिष्ठा के अनुरूप निर्मित किया जायगा। अपनी अंतिम पुस्तक Principles of Social and Political Theory में अर्नेस्ट बार्कर ने हमारे संविधान की प्रस्तावना को विषय-सूची के बाद के पृष्ठ पर उद्धृत किया है तथा उसके सम्बन्ध में लिखा है कि जब मैं उसे पढ़ता हूँ तो मुझे यह लगता है कि उसमें इस पुस्तक का अधिकांश तर्क संक्षेप में वर्णित है अतः उसे इसकी कुंजी माना जा सकता है। मैं उसे उद्धृत करने के लिए इसलिए और लालायित हूँ क्योंकि मुझे इस बात पर गर्व है कि भारत के लोग अपने स्वतन्त्र जीवन का आरम्भ राजनीतिक परम्परा के उन सिद्धान्तों के साथ कर रहे हैं जिन्हें हम पश्चिम के लोग पाश्चात्य कहकर पुकारते हैं परन्तु जो अब पाश्चात्य से कहीं अधिक है।

संविधान की प्रस्तावना से सम्बद्ध कोई भी विवेचना उस समय तक पूर्ण नहीं मानी जा *सकती जब तक कि उसमें नेहरू जी द्वारा संविधान सभा में 13 दिसम्बर 1946 को प्रस्तुत लक्ष्य* प्रस्ताव का उल्लेख न किया जाय। इस प्रस्ताव में भारतीय जनता के उच्च आदर्शों की अत्यधिक सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। इस प्रस्ताव में अन्य बातों के साथ यह भी कहा गया है कि जिसमें भारत *के समस्त लोगों के लिए अधिकार प्राप्त किये जायेंगे और प्रत्याभूत होंगे—न्याय सामाजिक* आर्थिक और राजनीतिक पद अवसर तथा कानून के समक्ष समानता विचार अभिव्यक्ति विश्वास पूजा व्यवसाय संघ और कार्य की स्वतन्त्रता कानून एवं नैतिकता के अधीन तथा जिसमें अल्पसंख्यकों पिछड़े हुए तथा जनजातीय क्षेत्रों और दलित तथा पिछड़े हुए वर्गों के लिए पर्याप्त संरक्षण।

की व्यवस्था की जायेगी ।'

प्रस्तावना का कानूनी महत्त्व—मेक्सवेल ने लिखा है कि किसी भी 'सविधान की प्रस्तावना उसके अर्थ को समझने का अच्छा साधन है, वह उसके समझने की कुजी है ।' अमरीकी सुप्रीम कोर्ट के एक भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश स्टोरी ने इसके सम्बन्ध मे लिखा है कि 'सविधान की प्रस्तावना निर्माताओ के मस्तिष्क को खोलने की कुजी है, कि वे उसके द्वारा किन बुराइयो को दूर करना चाहते थे तथा सविधान की व्यवस्थाओ के द्वारा वे किन उद्देश्यो की प्राप्ति चाहते थे।' भारतीय सविधान की प्रस्तावना के महत्त्व को सविधान सभा के एक सदस्य पण्डित ठाकुर दास भार्गव ने इन शब्दो मे व्यक्त किया है—'प्रस्तावना सविधान का सबसे अधिक मूल्यवान भाग हे। वह सविधान की आत्मा हे । वह सविधान की कुजी है । वह वस्तुत मापक है जिसकी सहायता से सविधान के मूल्य को आँका जा सकता है ।' सक्षेप मे, प्रस्तावना मे सविधान के उद्देश्य तथा उसकी नीतियो का उल्लेख ह । सविधान के वास्तविक भाग मे उन नीतियो को ब्यौरे सहित स्पष्ट भाषा मे लिखा होता ह । अत जहाँ सविधान की भाषा स्पष्ट है, वहाँ प्रस्तावना मे उल्लिखित आदर्शों के आधार पर सविधान की व्याख्या का कोई प्रश्न नही उठता । परन्तु जैसा डा० डी० डी० वसु ने लिखा है कि 'जहाँ सविधान का कानूनी भाग अस्पष्ट है, वहाँ उसकी व्याख्या करने के लिए तथा उसे स्पष्ट करने के लिए प्रस्तावना का सहारा लिया जा सकता है ।' इसी प्रकार का मत सर्वोच्च न्यायालय ने 'ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य' नामक मुकदमे मे व्यक्त किया था। इस मुकदमे मे जस्टिस पतजलि शास्त्री ने अपना निर्णय देते हुए कहा था कि यद्यपि सविधान ने नागरिको को कुछ मूल अधिकार दिये है, 'परन्तु इसका आशय यह कदापि नही है कि उसके प्राविधानो की भाषा की इस प्रकार खीच-तान की जाए कि कानून की व्याख्या के सभी नियमो का उल्लघन करके उसका ताल-मेल किसी न किसी सावैधानिक सिद्धान्त के साथ बैठा दिया जाय ।' किन्तु जब भी व्यवस्थापिका ने किसी सावैधानिक नीति की स्थापना की है, तो उस समय सर्वोच्च न्यायालय ने यह देखने का प्रयत्न किया है कि उस नीति को प्रस्तावना के आधार पर उचित ठहराया जा सकता है अथवा नही ।

प्रस्तावना की व्याख्या

प्रस्तावना की व्याख्या के पूर्व उसको जान लेना आवश्यक हे । प्रस्तावना निम्नलिखित ह—

हम भारत के लोग, भारत को एक 'सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न लोकतान्त्रिक गणराज्य' बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिको को सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म तथा उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा एव अवसर की समानता' को उपलब्ध कराने लिए, तथा उन सबमे 'व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाले बन्धुत्व' की अभिवृद्धि करने के लिए, दृढसकल्प होकर अपनी इस सविधान सभा मे आज दिनाक 26 जनवरी 1949 को एतद् द्वारा इस सविधान को अगीकृत, अधिनियमित तथा आत्मसमर्पित करते ह ।'

उपर्युक्त पस्तावना से निष्कर्ष रूप मे जो पहली बात निकलती हे कि वह यह ह कि भारत मे प्रभुसत्ता जनता मे निवास करती ह । यद्यपि सविधान मे इस आशय की कोई धारा नही है, तथापि प्रस्तावना मे कहा गया ह कि देश के लोगो ने इस सर्वोच्च कानून को अगीकृत अधिनियमित, तथा आत्मसमर्पित किया है । यहाँ यह कहा जा सकता ह कि सविधान सभा को भारतीय जनता का वास्तविक प्रतिनिधि नही कहा जा सकता क्योकि उसकी रचना केबिनेट मिशन योजना के अन्तर्गत सीमित एव पृथक् निर्वाचन की प्रणाली पर आधारित प्रान्तीय विधानमण्डलो के द्वारा हुई थी । इसके अतिरिक्त वह प्रभुसत्तासम्पन्न सस्था भी नही थी, क्योकि उसकी शक्तियाँ केबिनेट मिशन योजना के प्रावधानो के द्वारा मर्यादित थी । यही नही, उसमे देशी राज्यो के 93 प्रतिनिधि भी मौजूद थे और वे वहाँ की जनता अथवा वहा के विधानमण्डलो द्वारा निर्वाचित न होकर वहा

के नरेशा द्वारा मनोनीत किये गये थे। अतः संविधान सभा का यह दावा करना कोई अधिकार नहीं था कि उसने भारत के लोगों की ओर से संविधान की रचना की है। उपर्युक्त तर्कों में निहित सत्य से इनकार न करते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि 1946 में जब संविधान सभा के लिए निर्वाचन हुए थे उस समय चाहे जिस प्रकार के मताधिकार के आधार पर चुनाव कराये जाते संविधान सभा के स्वरूप में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ सकता था। 1952 में हुए प्रथम आम चुनावों के परिणामों से यह बात भली भाँति प्रमाणित है। जहाँ तक संविधान सभा की प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में उठाई गई आपत्ति का प्रश्न है यह कहना गलत होगा कि संविधान सभा किन्हीं सीमाओं के अन्तर्गत काम कर रही थी।

प्रस्तावना में प्रयुक्त लोगों शब्द से स्पष्ट है कि भारत की जनता ने स्वयं अपने आपको संविधान दिया है। इसका अर्थ यह भी हुआ कि किसी राज्य को अथवा राज्यों के किसी समूह को संविधान का अन्त करने का अथवा उसके द्वारा निर्मित संघ से पृथक् होने का अधिकार नहीं है। संविधान के मुख्य भाग में भी देश की एकता पर बल दिया गया है। यद्यपि प्रशासकीय सुविधा की दृष्टि से देश को विभिन्न राज्यों में बाँटा गया है तथापि देश की एकता अखण्ड मानी गई है उसकी जनता एक है और उसी में प्रभुसत्ता निवास करती है।

यहाँ भारतीय संविधान में निहित प्रभुसत्ता के स्वरूप की विवेचना अप्रासंगिक न होगा। जैसा कहा जा चुका है कि भारत में प्रभुसत्ता जनता की एकता में निवास करती है। यद्यपि संविधान में विषयों को तीन सूचियों में विभाजित किया गया है तथापि इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि भारत में प्रभुसत्ता विभाजित है क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर सभी शक्तियों को संघ की केन्द्रीय सत्ता में केन्द्रित किया जा सकता है। यह सही है कि विधायी दृष्टि से संघीय प्रणाली में प्रभुसत्ता के निवास-स्थान का पता लगाना असम्भव होता है परन्तु भारतीय संविधान में इस खाई को पाट दिया गया है।

प्रस्तावना में प्रयुक्त लोकतान्त्रिक गणतन्त्र शब्दावली कुछ भ्रमोत्पादक है। इस सम्बन्ध में डी० एन० बनर्जी ने लिखा है कि लोकतान्त्रिक गणराज्य शब्दावली में एक पुनरुक्ति (tautology) है जिसे हटाया जा सकता था और राजनीतिक दृष्टि से गणतन्त्र शब्द के पूर्व लोकतान्त्रिक विशेषण का प्रयोग करके किसी विशेष लाभ की प्राप्ति भी नहीं हो सकती थी।

परन्तु सम्भवतः संविधाननिर्माताओं ने लोकतान्त्रिक शब्द का प्रयोग जानबूझ कर इसलिए किया था क्योंकि वे उसके द्वारा लोकतन्त्र के विचार में सन्निहित सामाजिक, आर्थिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को अभिव्यक्त करना चाहते थे। संविधानकारों की यह आकांक्षा उन उच्च आदर्शों में स्पष्ट हो जाती है जिनका उल्लेख प्रस्ताव में हुआ है। वस्तुतः इस बात को डॉ० अम्बेडकर ने भी संविधान सभा में दिये गये एक भाषण में व्यक्त किया था। उन्होंने कहा था कि इस संविधान की रचना करते समय वास्तव में हमारे दो उद्देश्य थे—(1) राजनीतिक लोकतन्त्र के स्वरूप को निश्चित करना तथा (2) यह प्रतिपादित करना कि हमारा आदर्श आर्थिक लोकतन्त्र है। यहाँ प्रोफेसर लास्की का यह कथन उद्धरणीय है कि राजनीतिक समानता तब तक वास्तविक नहीं हो सकती जब तक कि उसके साथ वास्तविक आर्थिक समानता भी न हो। इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि प्रस्तावना ने बड़े सुन्दर ढंग से इन दोनों आदर्शों को संविधान में सन्निहित किया है।

प्रस्तावना के माध्यम से भारतीय गणराज्य भारतीय जनता को चार आदर्शों की उपलब्धि का वचन या संकल्प करता है। इनमें से पहला आदर्श है सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय। न्याय शब्द की परिभाषा के सम्बन्ध में विचारकों में मतभेद हो सकता है परन्तु इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि न्याय से हमारा अभिप्राय वैयक्तिक हितों एवं सामाजिक हितों के बीच समन्वय स्थापित करने से है। संविधान ने इस हेतु प्रतिनिधि सरकार की स्थापना की है। इस प्रकार की शासन प्रणाली में यह कहना सम्भव है कि जो सरकार निर्मित हो वह बहुमत का अधिनायकतन्त्र कायम कर दे। परन्तु प्रस्तावना इस प्रकार के अधिनायकतन्त्र को अनुचित

ठहराता है क्योकि वह भारत के सभी नागरिको को सामाजिक न्याय की उपलब्धि कराने का वचन देती है। वस्तुत सच्चे लोकतन्त्र की यही आधार-शिला है। यदि स्वतन्त्रता के पूर्व के भारतीय सामाजिक जीवन की मुख्य विशेषता सघर्ष और तनाव थे तो नवीन सविधान के अन्तर्गत स्वतन्त्र भारत का सामाजिक जीवन एकता और भाईचारे पर आधारित होगा। सामाजिक न्याय के विचार मे यह भावना भी निहित है कि समाज मे सभी प्रकार की असमानताओ का अन्त होना चाहिए। आर्थिक न्याय के विचार मे आर्थिक समानता का विचार शामिल है, यथार्थ मे अत्यधिक गरीबी और अत्यधिक अमीरी के वातावरण मे आर्थिक न्याय की कल्पना भी नही की जा सकती। इस प्रकार प्रस्तावना देश मे समाजवाद की स्थापना का आश्वासन देती है। राजनीतिक न्याय इस बात का आश्वासन देता है कि देश की जनता के साथ राज्य लोकतान्त्रिक व्यवहार करेगा।

20वी शताब्दी मे स्वतन्त्रता के निषेधात्मक अर्थ को स्वीकार नही किया जाता, भारतीय सविधानकारो ने 'स्वतन्त्रता' शब्द का प्रयोग स्वीकारात्मक अर्थ मे किया है। उन्होने स्वतन्त्रता को इसलिए स्वीकार किया है क्योकि उसके माध्यम से व्यक्ति एव राष्ट्र दोनो के व्यक्तित्व का विकास होता है। स्वतन्त्रता उच्छृङ्खलता का नाम नही है, वस्तुत वह उन अनुकूल परिस्थितियो का नाम है, जिनके अन्तर्गत व्यक्ति सामाजिक हितो को क्षति पहुँचाये विना अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकते हैं। हमारा सविधान इसी प्रकार की स्वतन्त्रता का आश्वासन देता है।

सविधान की प्रस्तावना भारतीय नागरिको को पद तथा अवसर की समानता को उपलब्ध कराने का वचन देती है। वस्तुत हमारे सविधान मे समानता का वही अर्थ है जिसमे कि उसे फ्रास के क्रान्तिकारियो द्वारा घोषित मानवीय अधिकारो के घोषणापत्र मे प्रयुक्त किया गया था—'मनुष्य अधिकारो मे स्वतन्त्र एव समान पैदा हुए हैं।' सामाजिक विभेदो का औचित्य केवल सार्वजनिक उपयोगिता के आधार पर ही किया जा सकता है।

प्रस्तावना मे 'बन्धुत्व' शब्द का प्रयोग दो उद्देश्यो की पूर्ति के लिए हुआ है। सर्वप्रथम सविधानकार उसके द्वारा मानव की गरिमा को स्थापित करना चाहते थे, दूसरे, वे उसके द्वारा राष्ट्र की एकता को कायम करना चाहते थे। भारत को एक लम्बे समय तक साम्प्रदायिक घृणा के वातावरण मे होकर गुजरना पडा था। यदि उसे एक राष्ट्र की भाँति जीवित रहना था तो यह परमावश्यक था, कि सभी प्रकार के साम्प्रदायिक एव समाज-विरोधी भावनाओ का उन्मूलन किया जाय। प्रस्तावना मे बन्धुत्व का सिद्धान्त इसी पवित्र लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया गया है।

मूल अधिकार

व्यक्ति एव राज्य के बीच का सघर्ष कोई नूतन असामान्य घटना नही है, वस्तुत यह सघर्ष उतना ही पुराना है जितना कि मानव इतिहास। फलत राजनीतिक विचारको एव सविधानकारो के समक्ष जो एक समस्या हर युग मे प्रस्तुत रही है, वह यह है कि इस सघर्ष का निराकरण कैसे किया जाय। इसके लिए सामान्यत दो उपाय सुझाये गये है प्रथम, राज्य की शक्तियो को विभाजित करके उन्हे तीन विभिन्न अभिकरणो मे इस प्रकार बाँट दिया जाये, जिससे कोई भी अभिकरण इतना अधिक शक्तिशाली न होने पाये जिससे वह दूसरो के लिये खतरा बन जाये। द्वितीय, राज्य के नागरिको को कुछ ऐसे मूल अधिकारो का आश्वासन दिया जाये, जिनका उल्लघन स्वय राज्य भी न कर सके। यहाँ मूल अधिकारो मे तथा साधारण कानूनी अधिकारो के बीच भेद करने की आवश्यकता है। साधारण कानूनी अधिकारो से भिन्न मूल अधिकारो की सुरक्षा का आश्वासन देश के सविधान के द्वारा दिया जाता है। इन अधिकारो को 'मूल' इसलिये कहा गया है कि क्योकि साधारण अधिकारो की भाँति उन्हे व्यवस्थापिका साधारण कानून बनाने की प्रक्रिया के द्वारा नही बदल सकती, उन्हे बदलने के लिए स्वय सविधान मे सशोधन की आवश्यकता होती है, इसलिये उनको केवल सावैधानिक सशोधन के द्वारा ही बदला जा सकता

है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि किसी भी देश के संविधान में केवल उन अधिकारों को मूल अधिकार कहा जा सकता है जिन्हें उस देश के सर्वोच्च कानून में निहित किया गया हो तथा जिनकी पवित्रता एवं अनुल्लंघनीयता को कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका दोनों स्वीकार करते हों।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मूल अधिकारों के विचार के मूल में सीमित सरकार को स्थापित करने की भावना सन्निहित है। सीमित सरकार से हमारा अभिप्राय उस सरकार से है जिसमें राज्य के किसी भी अंग को सत्ता पर एकाधिकार नहीं होने दिया जाता। वस्तुतः इस प्रकार की सरकार का परिचालन कानून के द्वारा होता है व्यक्तियों की सनक के द्वारा नहीं। सरकार के इस स्वरूप को संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में मान्यता प्रदान की गई है परन्तु ब्रिटिश संविधान में इस प्रकार के विचार के लिए कोई स्थान नहीं है। यहां प्रश्न यह उठता है कि भारतीय संविधानकारों ने संविधान में मूल अधिकारों को स्थान देकर अमरीकी सांविधानिक परम्परा को क्यों स्वीकार किया ब्रिटेन की परम्पराओं को क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए इन दोनों परम्पराओं की संक्षिप्त विवेचना आवश्यक है।

ब्रिटेन में आधुनिक लोकतन्त्र का जन्म निरंकुश कार्यपालिका के विरुद्ध जनता के लम्बे संघर्ष के परिणामस्वरूप हुआ है और इस संघर्ष का वहां की संसद ने नेतृत्व प्रदान किया था। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि ब्रिटेन के लोग निरंकुश राजतन्त्र द्वारा प्रस्तुत समस्याओं का समाधान संसदीय प्रभुसत्ता में पाते। फलतः ब्रिटेन की राजनीतिक प्रणाली जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों में विश्वास के ऊपर आधारित है। ब्रिटेन के जनमानस ने यह बात कभी स्वीकार नहीं की कि विधानमण्डल भी कभी आततायी बन सकता है तथा जनसाधारण की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए उसकी शक्तियों को भी मर्यादित करने की आवश्यकता है। यही कारण है कि ब्रिटेन में जिन दस्तावेजों को अधिकारों का घोषणा-पत्र कहा जाता है वे केवल कार्यपालिका की शक्तियों पर सीमाएं आरोपित करते हैं व्यवस्थापिका की शक्तियों पर नहीं।

अमरीकी स्थिति इससे सर्वथा भिन्न थी। अमरीका की जनता को न केवल निरंकुश कार्यपालिका का अनुभव था अपितु उसने निरंकुश व्यवस्थापिका का भी अनुभव किया था। उसने देखा था कि ब्रिटिश संसद जैसी प्रतिनिधि संस्था भी उपनिवेशों के साथ क्रूरतापूर्वक पेश आती थी। यह निस्सन्देह एक कटु उपहास था कि ब्रिटेन की संसद ने निरंकुश राजतन्त्र के विरुद्ध संघर्षों की अपनी गौरवपूर्ण परम्पराओं का परित्याग करके उपनिवेशों की जनता पर निरंकुश शासन को लादने का प्रयास किया था। इस पृष्ठभूमि में यह स्वाभाविक ही था कि अमरीकी संविधानकारों को जहां कार्यपालिका के प्रति अविश्वास था वहां उन्हें अविश्वास व्यवस्थापिका के प्रति भी था। इसलिए वे कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका दोनों के विरुद्ध वैयक्तिक अधिकारों की रक्षा को आवश्यक मानते थे।

भारतीय स्थिति संयुक्त राज्य अमरीका की स्थिति से मिलती जुलती थी। हमारे देश के राष्ट्रीय आन्दोलन को भी ब्रिटेन की कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका दोनों के अत्याचारों का अनुभव था। फलतः 1927 के मद्रास में हुए कांग्रेस अधिवेशन ने मांग की कि भारत के लिए जो भी संविधान बनाया जाए उसे मूल अधिकारों पर आधारित होना चाहिए। इसी पृष्ठभूमि में नेहरू रिपोर्ट में मूल अधिकारों का उल्लेख किया गया। संविधान में इनके उल्लेख का औचित्य प्रतिपादित करते हुए उसमें यह कहा गया था कि हमारा पहला काम अपने मूल अधिकारों की व्यवस्था करना होना चाहिए जिनका आश्वासन इस प्रकार दिया जाए जिससे कि उन्हें किसी भी स्थिति में वापिस न लिया जा सके। इस प्रकार की व्यवस्था को नेहरू रिपोर्ट के लेखकों ने इसलिए आवश्यक माना क्योंकि देश में विभिन्न सम्प्रदायों के बीच मतभेद पाये जाते थे। अतः उन लोगों में जो एक दूसरे को सन्देह एवं अविश्वास की दृष्टि से देखते थे विश्वास एवं सुरक्षा की भावना को पैदा करने के लिए यह आवश्यक था कि उन्हें संविधान के द्वारा यह आश्वासन दिया जाए कि उन्हें अपने धार्मिक एवं साम्प्रदायिक अधिकारों के उपभोग करने का पूर्ण अधिकार होगा।

मूल अधिकारो के विचार की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे ध्यान मे रखने योग्य एक बात यह है कि उसका जन्म उन अयोग्यताओ के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे हुआ था जिन्हे सरकार ने जनता के ऊपर लादा था। यह बात सयुक्त राज्य अमरीका तथा भारत दोनो पर समान रूप से लागू होती है। अत अमरीका की ही भाँति भारत मे भी यह कहा गया कि अधिकार अपने अन्तिम विश्लेषण मे उन अन्यायो का उपचार है जिन्हे निरकुश शासको ने जनता के ऊपर बरता है। अत अधिकार भी सख्या मे उतने ही होने चाहिए जितने अन्याय ह और जिनका उपचार होना है। यहाँ उल्लेखनीय बात यह भी है कि फ्रास के क्रान्तिकारियो का भी इस सम्बन्ध मे यही निष्कर्ष था। अमरीका और फ्रास मे निरकुश शासको के अत्याचारो के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा मध्यम वर्ग के लोगो ने बुलन्द किया था, फलत उन्होने जिन अधिकारो को अपने अपने देशो के सविधानो मे स्थान दिया, वे मुख्यत मध्यम वर्ग के हितो पर ही आधारित थे। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को भी मध्यम वर्ग का ही नेतृत्व प्राप्त था और सविधान सभा मे भी मध्यम वर्ग के सदस्यो की ही भरमार थी। अत उन्होने सविधान मे जिन अधिकारो को स्थान दिया है, उनका सम्बन्ध भी प्रधानत मध्यम वर्ग के हितो के साथ है। भारतीय सविधानकार इस तथ्य से अवगत थे कि अब इस व्यक्तिवादी पृष्ठभूमि का सदैव के लिए अन्त हो चुका था जिसने अमरीकी फ्रेंच अधिकारो के विचार को जन्म दिया था और उसका स्थान कल्याणकारी राज्य के विचार ने ले लिया था। भारतीय सविधानकार इस तथ्य की भी अवहेलना नही कर सकते थे कि उन्हे उस देश के लिए अधिकारो की रचना करनी है जिसकी अपनी दार्शनिक एव सामाजिक परम्पराएँ है। अत यह स्वाभाविक ही है कि भारतीय सविधान मे सन्निहित मूल अधिकारो मे उपर्युक्त सभी प्रकार के प्रभाव उपस्थित है।

मूल अधिकारो की प्रकृति

ससार के किसी भी देश के सविधान मे मूल अधिकारो का इतना विशद उल्लेख नही हुआ है जितना भारतीय सविधान मे किया गया है। सविधान का एक समूचा अध्याय (तीसरा अध्याय) जिसमे कुल 24 धाराये है (12 से 35 तक)—मूल अधिकारो के वर्णन के साथ सम्बद्ध है। इन अधिकारो को सात शीर्षको मे बाँटा गया है—(1) समानता का अधिकार, (2) स्वतन्त्रता का अधिकार, (3) शोषण के विरुद्ध अधिकार, (4) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार, (5) सास्कृतिक एव शिक्षा सम्बन्धी अधिकार, (6) सम्पत्ति का अधिकार, तथा (7) सावैधानिक उपचारो का अधिकार। मोटे तौर पर अधिकारो को दो श्रेणियो मे बाँटा जा सकता है। प्रथम प्रकार के अधिकार वे है जिन्हे कार्यान्वित करना राज्य के लिए बाध्यकारी है और यदि राज्य का कोई कानून उनका उल्लघन करता है तो उस स्थिति मे न्यायपालिका उसे अवैध घोषित कर सकती है। दूसरी श्रेणी मे वे अधिकार आते है जिनके ऊपर राज्य कुछ सीमाये आरोपित कर सकता है। इस प्रकार के अधिकारो पर निर्धारित सीमाओ का अतिक्रमण करके प्रतिबन्ध नही लगाये जा सकते। अत यदि कोई कानून इन सीमाओ का उल्लघन करता है तो उसे अवैध घोषित किया जा सकता है।

भारतीय सविधान मे निहित मूल अधिकारो की प्रकृति के सम्बन्ध मे दूसरी उल्लेखनीय बात यह ह कि वे प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धान्त पर आधारित नही है। फलत कोई भारतीय नागरिक किसी ऐसे अधिकार का दावा नही कर सकता जिसे सविधान मे मान्यता नही दी गई है। इसका अर्थ यह भी हुआ कि भारतीय सविधान मे यह बात स्वीकार नही की गई कि अधिकारो की कोई सीमा नही होती, वस्तुत भारतीय सविधान अधिकारो को सीमित मानता ह। कुछ मामलो मे तो अधिकारो पर सीमाये स्वय सविधान ने आरोपित की ह, कुछ मामलो मे सीमाओ को आरोपित करने का दायित्व ससद को सौपा गया है। परन्तु इस प्रकार के अधिकारो के सम्बन्ध मे भी ध्यान मे रखने योग्य बात यह है कि उनमे भी अधिकारो को मूल माना गया है, प्रतिबन्धो को नही।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारतीय सविधान के तीसरे अध्याय मे निहित अधिकारो

को इसलिए मूल अधिकार नहीं बनाया गया क्योंकि वे असीमित हैं तथा वे प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त पर आधारित हैं इनसे सर्वथा भिन्न उन्हें मौलिक अधिकारों की संज्ञा इसलिए प्रदान की गई है क्योंकि उन्हें देश के मूल कानून में स्थान दिया गया है तथा उन्हें कार्यान्वित करने के लिए ग्राम पंचायत से लेकर केन्द्रीय सरकार तक सभी प्रशासकीय अभिकरण बाध्य हैं। उन्हें मौलिक इसलिए भी कहा जा सकता है क्योंकि उनके द्वारा भारत की मूल एकता की अभिव्यक्ति होती है। भारत के सभी नागरिकों को चाहे वे देश के किसी भी भाग में क्यों न रहते हों एक से अधिकारों का आश्वासन दिया गया है। मूल अधिकार इस अर्थ में मौलिक नहीं कि उन्हें संशोधित नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में जस्टिस पतंजलि शास्त्री का यह निर्णय उल्लेखनीय है कि 368वीं धारा के प्रावधान सामान्य हैं तथा वे संसद को बिना किसी अपवाद के संविधान को संशोधित करने की शक्ति प्रदान करते हैं। बाद में 1964 में सर्वोच्च न्यायालय ने गोलकनाथ बनाम पंजाब नामक मुकदमे में अपने इस निर्णय को बदल दिया और कहा कि संसद को तीसरे अध्याय में निहित अधिकारों को संशोधित करने का कोई अधिकार नहीं है। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि देश के जनमत ने इस स्थिति को कभी स्वीकार नहीं किया। 1971 के मध्यावधि चुनावों के परिणाम इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। फलतः देश में संसद को 1964 से पूर्व की शक्तियाँ को वापिस दिलाने के लिए माँग पाई जाती है। 24वाँ और 25वाँ संशोधन संसद की इस शक्ति को वापिस दिलाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम है। इन संशोधनों को केशवानन्द भारती के मुकदमे में चुनौती दी गई थी परन्तु इस मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने जो निर्णय दिया उसके द्वारा इनकी वैधता स्वीकार कर ली गई।

मूल अधिकार सर्वोच्च न्यायालय बनाम संसद

उपर्युक्त विवेचना में स्पष्ट है कि अधिकारों को परिवर्तित किया जा सकता है। संसद उन्हें संविधान में निहित अपवादों को ध्यान में रखकर निस्सन्देह बदल सकती है। वस्तुतः अधिकारों की व्यवस्था करते समय दो बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है—प्रथम जनता का हित और द्वितीय राज्य की सुरक्षा। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि इस बात का निर्णय कौन करेगा कि किसी नागरिक ने अपने अधिकारों का दावा करते समय उक्त सीमाओं का अतिक्रमण किया है अथवा नहीं। इस प्रश्न के दो उत्तर हो सकते हैं—प्रथम न्यायपालिका और द्वितीय संसद।

यहाँ यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि व्यवस्थापिका का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है और वह देश की समूची जनता का प्रतिनिधित्व करती है अतः उस देश के नागरिकों के मूल अधिकारों के संरक्षण का दायित्व सौंपा जा सकता है। इसलिए किसी भी न्यायाधीश को अथवा किसी भी न्यायालय को तीसरा सदन बनने की अनुमति नहीं दी जा सकती। इस मामले में भारतीय संविधान में मध्यम मार्ग का अनुसरण किया गया है। संविधान सभा में इस सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण प्रस्तुत किये गये। एक दृष्टिकोण यह था कि मूल अधिकारों पर कोई प्रतिबन्ध न लगाये जायें तथा विधानमण्डल को उन्हें मर्यादित करने की कोई शक्ति प्रदान न की जाय। समय आने पर न्यायपालिका इस सम्बन्ध में आवश्यक कदम उठा लेगी। दूसरा दृष्टिकोण यह था कि चूँकि देश की अर्थव्यवस्था पिछड़ी हुई है सामाजिक ढाँचा सामन्ती युग का अवशेष है राज्य नवजात शिशु के समान है तथा वयस्क मताधिकार पर आधारित संसदीय शासनतन्त्र अभी एक नया अनुभव है अतः राज्य को निर्बाध रूप में चलाने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य के हित में मूल अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार व्यवस्थापिका को दिया जाए। भारतीय संविधान में इन दोनों दृष्टिकोणों के बीच समन्वय स्थापित करते हुए मूल अधिकारों को गिनाया गया है इस सूची में उन अधिकारों को सम्मिलित किया गया है जिन्हें संविधाननिर्माता व्यक्ति के लिए बहुत आवश्यक मानते थे। परन्तु इसके साथ ही उसमें उनके ऊपर कुछ ऐसे प्रतिबन्ध लगाये गये हैं जिससे राज्य तथा संविधान की परिचालन बिना किसी बाधा के होता रहे। वस्तुतः इस किसी भी

अधिकार को मूल अधिकार नही माना जा सकता जिससे सामाजिक हित पर आँच आती हो ।

व्यवहार मे अधिकारो की व्याख्या के क्षेत्र मे हमारे देश मे न्यायपालिका की शक्तियो का विकास हुआ हे । न्यायपालिका के निर्णयो के द्वारा, जहाँ निवारक नजरबन्दी कानूनो के बहुत से भाग अवैध घोषित किये जा चुके है वहाँ ऐसे अनेक प्रगतिशील कानूनो को भी गैर-कानूनी बताया जा चुका हे जिनकी रचना सामाजिक तथा आर्थिक विकास को ध्यान मे रखकर की गई थी । कुछ मामलो मे ससद को अपनी आर्थिक नीतियो को कार्यान्वित करने के लिये सविधान को सशोधित करने के लिये वाध्य होना पडा है । उदाहरण के लिये 1951 और 1955 के सशोधनो को लिया जा सकता है । वस्तुत भारतीय सविधान मे न्यायपालिका को अत्यधिक सीमित भूमिका सौपी गई है । इस बात को समझने के लिये 21वी धारा का उदाहरण लिया जा सकता है । इस धारा मे कहा गया हे कि किसी भी व्यक्ति को कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोडकर किसी अन्य तरीके से उसके जीवन तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता से वचित नही किया जा सकता । इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीय सविधान ने प्राकृतिक कानून के विचार को स्वीकार नही किया । भारत के सविधान के अनुसार कानून वह है जिसकी रचना ससद के द्वारा होती है । स्पष्टत ऐसी स्थिति मे न्यायपालिका केवल यह देख सकती है कि व्यक्ति को उसके अधिकारो से वचित करते समय कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया का पालन हुआ है अथवा नही । भारतीय सविधान मे न्याय-पालिका को न्यायिक समीक्षा का अधिकार दिया गया है, यथार्थ से अमरीकी सविधान से भिन्न जहाँ न्यायिक समीक्षा केवल एक न्यायिक निर्णय पर आधारित है भारत मे इसकी व्यवस्था स्पष्ट शब्दो मे स्वय सविधान मे की गई है । सविधान की 13वी धारा मे सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह प्रत्येक कानून की वैधता की इस आधार पर जाँच करे कि उसमे तीसरे अध्याय मे उल्लिखित प्रावधानो का उल्लघन तो नहा होता । यहाँ न्यायपालिका किसी कानून को केवल इस आधार पर गैर-कानूनी घोषित कर सकती है कि उसकी रचना से राज्य ने सविधान द्वारा आरोपित सीमाओ का उल्लघन किया है । इसी सीमित क्षेत्र के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय से यह अपेक्षा की जाती है कि वह मूल अधिकारो के सरक्षक की भूमिका अदा करेगा । सर्वोच्च न्यायालय की इस भूमिका पर प्रकाश डालते हुए 'रामसिह बनाम दिल्ली राज्य' नामक मुकदमे मे अपना निर्णय देते हुए न्यायमूर्ति बोस ने यह कहा था—

'यह देखना हमारा कर्त्तव्य और अधिकार है कि वे अधिकार जिन्हे मौलिक वनाया गया था, वे मौलिक ही रहे और हम यह भी देखे कि वह ससद और कार्यपालिका इन स्वतन्त्रताओ पर प्रतिवन्ध लगाते समय उन सीमाओ का उल्लघन न करे जिन्हे सविधान ने उन पर आरोपित किया हे तथा कार्यपालिका के सम्बन्ध मे हम यह देखे कि वह ससद द्वारा प्रदत्त शक्तियो से वाहर विचरने न पाये । हम यहाँ इसलिए हे ताकि भारतीय जनता को वे सव स्वतन्त्रताएँ उपलब्ध होती रहे जिनका उन्हे आश्वासन दिया गया हे तथा ससद द्वारा पारित कानूनो अथवा कार्यपालिका के कार्यकलापो के द्वारा उनका महत्त्व कम न होने पाये ।'

भारतीय सविधान मे निहित विशिष्ट अधिकार

जैसा कहा जा चुका हे कि भारतीय सविधान मे मूल अधिकारो को निम्न सात शीर्षको मे बाँटा गया हे—(1) समानता का अधिकार, (2) स्वतन्त्रता का अधिकार, (3) शोपण के विरुद्ध अधिकार, (4) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार, (5) सास्कृतिक एव शिक्षा सम्बन्धी अधिकार, (6) सम्पत्ति का अधिकार, तथा (7) सावैधानिक उपचारो का अधिकार । यहाँ उपर्युक्त सातो प्रकार के अधिकारो की विवेचना आवश्यक ह

(1) समानता का अधिकार (Right to Equality)—समानता का अधिकार सविधान की 14वी, 15वी, 16वी, 17वी, 18वी धाराओ मे निहित ह । 14वी धारा नागरिको तथा गैर-नागरिको दोनो को 'कानून के समक्ष समानता' (Equality before laws) तथा 'कानूनो का

समान सरक्षण (Equal protection of laws) का आश्वासन देती है। कानून के समक्ष समानता का अर्थ मूलरूप से प्रशासकीय न्यायालयों का अभाव है तथा प्रत्येक नागरिक को चाहे उसकी स्थिति कुछ भी क्यों न हो एक ही कानून के द्वारा शासित मानना है। कानूनों का समान सरक्षण शब्दावली से तात्पर्य सब लोगों को अपने सुख को प्राप्त करने का तथा सम्पत्ति को प्राप्त करने और उसका उपभोग करने का समान अधिकार होना चाहिए तथा उन्हें अपने व्यक्तित्व तथा सम्पत्ति के सरक्षण के लिए अन्यायों का प्रतिकार करने के लिए तथा करारों के कार्यान्वयन के लिए न्यायालयों के पास जाने का समान अधिकार है किसी के कार्यकलापों पर ऐसे प्रतिबन्ध नहीं लगाये जाने चाहिए जो समान परिस्थितियों में अन्य लोगों पर न लगाये जायें एक से व्यवसाय तथा परिस्थिति में किसी के ऊपर अन्य लोगों पर आरोपित बोझ से अधिक बोझ आरोपित नहीं किया जाना चाहिए फौजदारी न्याय के प्रशासन में किसी व्यक्ति पर समान अपराधों के लिए दूसरों से भिन्न अथवा दूसरों से अधिक दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय सविधान के निर्माताओं ने निषेधात्मक एव स्वीकारात्मक दोनों अर्थों में समानता का आश्वासन दिया है।

यहा यह उल्लेखनीय है कि 14वी धारा की व्याख्या करते समय हमारे देश की न्यायपालिका ने कानून के समक्ष समानता शब्दावली की लगभग उपेक्षा की है और उसके स्थान पर उसने कानूनों के समान सरक्षण शब्दावली को ही मुख्यत ध्यान में रखा है। 14वी धारा की न्यायिक व्याख्या से यह स्पष्ट है कि उसमें निहित समानता का अधिकार असीमित नहीं है। वह केवल एक सी स्थिति में रहने वाले एक से लोगों के बीच में समानता का आश्वासन देती है उससे उस समानता का आश्वासन प्राप्त नहीं होता जो सब लोगों को चाहे उनकी सामाजिक स्थिति कभी भी क्यों न हो एक से बर्ताव की गारण्टी दे सके।

इस शीर्षक के अन्तर्गत आने वाली अन्य धारायें भी इन्हीं मान्यताओं पर आधारित है। 15वी धारा में कहा गया है कि राज्य केवल धर्म रग जाति लिंग जन्म-स्थान अथवा उनमें से किसी एक के आधार पर किसी भी नागरिक के विरुद्ध भेदभाव नहीं करेगा। इसके अतिरिक्त इनमें से किसी एक के आधार पर किसी भी नागरिक को किसी दुकान अथवा सार्वजनिक जलपान गृह में जाने से अथवा कुआ जलाशयों नदी के घाटों सडकों तथा ऐसे सार्वजनिक प्रयोग के स्थानों में नहीं रोका जा सकता जिनको कायम रखने का व्यय या तो पूर्णत अथवा आंशिक रूप से राज्य के द्वारा होता है अथवा जिन्हें सार्वजनिक प्रयोग के लिए समर्पित कर दिया गया है। परन्तु इस धारा में इस अधिकार के दो अपवाद भी गिनाये गये हैं प्रथम वह राज्य को स्त्रियों तथा बच्चों के लिए विशेष व्यवस्था करने की अनुमति देती है और द्वितीय वह राज्य को इस बात की भी छूट देती है कि वह सामाजिक तथा शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों अथवा परिगणित जातियों तथा परिगणित कबीलों के विकास के लिए विशेष प्रावधानों की रचना कर सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस धारा में वे आधार परिगणित है जिनके ऊपर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जा सकता। स्वीकारात्मक दृष्टि से राज्य इन आधारों को छोड़कर अन्य आधारों पर भेदभाव कर सकता है। उदाहरणार्थ वह भेदभाव को भाषा राष्ट्रीयता परिवार व्यवसाय आदि पर अथवा उनमें से किसी एक पर आधारित कर सकता है। इसके होते हुए भी इस धारा को इसलिए महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है क्योंकि वह धर्म रग जाति अथवा लिंग के आधार पर भेदभाव को वर्जित करती है। जन्म-स्थान के आधार पर भेदभाव का निषेध करके वह राष्ट्रीय एकता के लिए मार्ग प्रशस्त करती है।

16वी धारा के द्वारा प्रत्येक नागरिक को नौकरी पाने अथवा राज्य के अधीन किसी पद पर नियुक्ति होने के मामले में समान अवसर का आश्वासन दिया गया है तथा उसमें यह भी कहा गया है कि इस मामले में केवल धर्म रग जाति लिंग वश परम्परा जन्म-स्थान निवास स्थान अथवा उनमें से किसी एक के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जायगा। इस धारा में

आगे इसके तीन अपवाद बताये गये हे—पहले अपवाद के अनुसार राज्य को कुछ विशिष्ट पदो के लिए निवास योग्यताएँ निर्धारित करने का अधिकार दिया गया है। द्वितीय अपवाद के अनुसार राज्य को पिछडे हुए वर्गो के लिए सरकारी नौकरियो मे स्थान सुरक्षित रखने की अनुमति दी गई हे और अन्तिम अपवाद के अनुसार किसी भी धार्मिक सस्था के प्रवन्ध को इस धारा की परिधि से वाहर रखा गया हे।

17वी धारा के अनुमार छुआछूत का अन्त करने की घोपणा की गई है तथा कहा गया है कि वह कानून द्वारा दण्डनीय अपराध ह। सविधान की यह व्यवस्था निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण है क्योकि उसके द्वारा युगो से चली आ रही एक सामाजिक बुराई को दूर करने का प्रयास किया गया हे। जैनिग्स ने लिखा है कि छुआछूत का खात्मा कोई अधिकार नही है, उससे तो केवल एक सामाजिक अयोग्यता दूर होती है। परन्तु इसके होते हुए भी यह एक मूल अधिकार है, क्योकि जैसा कहा जा चुका हे कि अधिकार उन अन्यायो के उपचार है जिनका व्यक्तियो पर आरोपण या तो राज्य के द्वारा हुआ है और या समाज के द्वारा।

18वी धारा के द्वारा राज्य के ऊपर यह प्रतिबन्ध लगाया गया है कि वह सैनिक अथवा शैक्षिक खितावो के अतिरिक्त किसी अन्य खिताब से अपने नागरिको को अलकृत नही करेगा। कुछ लोगो का विश्वास है कि भारतरत्न, पद्मविभूपण आदि खिताबो की परम्परा को चालू करके सरकार ने 18वी धारा की व्यवस्था का उल्लघन किया है। वस्तुत 1 मई 1969 को आचाय जे० बी० कृपलानी ने लोकसभा मे इस आशय का एक विधेयक प्रस्तुत किया था जिसमे यह कहा गया कि राज्य द्वारा व्यक्तियो को इस प्रकार अलकृत करने की परम्परा का अन्त किया जाये। इस विधेयक पर भाषण करते हुए उन्होने कहा था कि स्वतन्त्रता के पूर्व जो काम अंग्रेज करते थे उस काम को उसने 'पिछले दरवाजे' से फिर अपने शासन-तन्त्र मे स्थान दे दिया है।

(2) **स्वतन्त्रता का अधिकार** (Right to Freedom)—स्वतन्त्रता का अधिकार सविधान की चार धाराओ—19, 20, 21 और 22—मे निहित है।

19वी धारा उदार लोकतन्त्र मे सन्निहित परम्परागत वैयक्तिक स्वतन्त्रताओ का आश्वासन देती हैं ये स्वतन्त्रताएँ अग्रलिखित हे—भापण और विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, शान्तिपूर्ण ढग मे तथा बिना हथियारो के एक स्थान पर एकत्रित होने की स्वतन्त्रता, समुदाय अथवा सघ वनाने की स्वतन्त्रता, समस्त भारत मे स्वतन्त्रतापूर्वक विचरने की स्वतन्त्रता, भारत के किसी भाग मे निवास करने अथवा बस जाने की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति प्राप्त करने, रखने तथा वेचने की स्वतन्त्रता तथा कोई भी व्यवसाय करने अथवा कोई भी व्यापार या कारोबार करने की स्वतन्त्रता। इन स्वतन्त्रताओ का महत्त्व स्वयसिद्ध है। वस्तुत उनकी अनुपस्थिति मे किसी भी लोकतात्रिक समाज की कल्पना नही की जा सकती। सविधान-निर्माता इस तथ्य मे अवगत थे, परन्तु वे इस वात से भी अपरिचित नही थे कि व्यक्ति को दी जाने वाली अनियन्त्रित स्वतन्त्रता समाज के लिए घातक सिद्ध हो सकती थी। इसलिए 19वी धारा मे न केवल भारतीय नागरिको को प्रदत्त स्वतन्त्रताओ का उल्लेख ह, अपितु उसमे इन स्वतन्त्रताओ के अपवादो का भी उल्लेख किया गया हे।

भापण और विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की सात सीमाये इस धारा मे वताई गई ह। मूल सविधान मे सीमाये केवल चार थी। परन्तु 1951 मे 'रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य' नामक मुकदमे मे सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के उपरान्त उसमे सशोधन करना आवश्यक हो गया। अत पहले सशोधन (1951) के अनुसार उसमे तीन सीमाये और जोडी गई। इस प्रकार 19वी धारा मे जैसी वह आज ह, भापण और विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर सात प्रतिवन्ध, आरोपित करती ह। ये प्रतिवन्ध ह—राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यो के साथ मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध, सार्वजनिक व्यवस्था शिष्टता अथवा नैतिकता के प्रतिकूल कोई आचरण, न्यायालय का अपमान, किसी को बदनाम करने की चेष्टा, अथवा हिंसात्मक कार्यवाहियो के लिए उकसाना। यहा यह वात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि विचार-अभिव्यक्ति मे प्रेस की स्वतन्त्रता भी

सम्मिलित है। शान्तिपूर्ण तरीके से तथा बिना हथियारों के एक स्थान पर एकत्रित होने की स्वतन्त्रता वास्तव में विचार अभिव्यक्ति तथा भाषण की स्वतन्त्रता का पूरक है। इस स्वतन्त्रता पर सार्वजनिक व्यवस्था तथा नैतिकता के हित में न्याय-संगत प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं।

समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता की न्यायालयों ने दो प्रकार से व्याख्या की है। इसका *पहला अर्थ स्वीकारात्मक है जिसका अभिप्राय है कि कोई भी नागरिक स्वेच्छा से चाहे जिस* समुदाय अथवा संगठन का सदस्य बन सकता है। इसका दूसरा अर्थ निषेधात्मक है जिसका आशय *यह है कि किसी भी नागरिक को उसकी इच्छा के प्रतिकूल किसी समुदाय अथवा संगठन का* सदस्य बनने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। इस स्वतन्त्रता को भी सार्वजनिक व्यवस्था तथा नैतिकता के हित में मर्यादित किया जा सकता है। अपने एक महत्वपूर्ण निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है कि इस अधिकार पर कोई भी प्रतिबन्ध तब तक नहीं लगाया जा सकता जब तक कि उस प्रतिबन्ध के आधारों की किसी न्यायिक अधिकारी के द्वारा समुचित जाँच न की जाय।[1]

19वीं धारा के द्वारा प्रत्येक भारतीय नागरिक को समूचे देश में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरने, देश के किसी भाग में निवास करने तथा वहाँ स्थायी रूप से बस जाने तथा सम्पत्ति प्राप्त करने, उसे रखने तथा उसे बेचने के अधिकार को मान्यता दी है। इन स्वतन्त्रताओं को सामान्य जनता के हित में अथवा किसी अनुसूचित कबीले के हितों की रक्षा के लिए मर्यादित किया जा सकता है। इसी प्रकार किसी भी व्यवसाय को करने की स्वतन्त्रता पर राज्य सार्वजनिक हित में कुछ प्रतिबन्ध लगा सकता है तथा कुछ व्यवसायों को करने के लिए कुछ शैक्षिक योग्यताएँ भी निर्धारित कर सकता है।

संविधान की 20 से लेकर 22वीं धारा तक व्यक्ति के जीवन तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा की व्यवस्था की गई है। 20वीं धारा में उस व्यक्ति के अधिकारों का उल्लेख है जिस पर किसी अपराध को करने का आरोप लगाया गया है। इस धारा में यह व्यवस्था की गई है कि कोई भी व्यक्ति उस समय तक दण्डित नहीं किया जा सकता जब तक कि अपराध करने के समय उसने किसी कानून का उल्लंघन न किया हो और न वह उससे अधिक दण्ड का पात्र होगा जो उस अपराध को करने के समय उस प्रचलित कानून के अधीन दिया जा सकता था। इसके अतिरिक्त (1) कोई व्यक्ति एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक अभियोजित और दण्डित नहीं किया जा सकता तथा (2) किसी अपराध में अभियुक्त को स्वयं अपने विरुद्ध गवाही देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त धारा के प्रथम भाग का प्रभाव यह होगा कि राज्य कोई ऐसा कानून नहीं बना सकता जो किसी बीती हुई घटना पर लागू हो सके।

21वें अनुच्छेद में कहा गया है कि किसी भी व्यक्ति को अपने जीवन अथवा दैहिक स्वतन्त्रता से कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया (Procedure established by law) को छोड़कर किसी अन्य प्रकार से वंचित नहीं किया जायगा। इस अनुच्छेद में मुख्य शब्द कानून (law) है। यहाँ कानून से अभिप्राय संसद अथवा राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा निर्मित कानून से है। ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य नामक मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने कानून शब्द की यही *व्याख्या की है। इस प्रकार भारतीय संविधान में न्यायिक समीक्षा का क्षेत्र पर्याप्त रूप से सीमित* कर दिया गया है। साथ यह भी स्पष्ट है कि जीवन तथा दैहिक स्वतन्त्रता के अधिकारों को भारतीय संविधान असीमित नहीं मानता। इसके विपरीत उसने इस अधिकार के क्षेत्र को सीमित कर दिया है।

22वीं धारा में गिरफ्तार व्यक्तियों को तीन अधिकारों का आश्वासन दिया गया है। प्रथम, उन्हें इस बात का आश्वासन दिलाया गया कि उन्हें उनकी गिरफ्तारी के कारणों से सूचित

[1] Stat f M d s G R o S p Court R po t 195 597

[2] जम्मू काश्मीर राज्य में इस अधिकार को कार्यान्वित करने सम्मिलित अर्थ में हो सकता है ... स्थायी निवासियों को वहाँ भूमि लेने का अधिकार नहीं है।

किया जायगा, द्वितीय, उन्हे इस बात का अधिकार प्राप्त है कि वे अपनी इच्छा के वकील से परामर्श करे तथा उससे अपना बचाव कराये तथा अन्तिम उन्हे इस बात का भी आश्वासन दिया गया है कि उनकी गिरफ्तारी के 24 घण्टे के भीतर उन्हे किसी मजिस्ट्रेट के सन्मुख प्रस्तुत किया जायगा तथा उन्हे हिरासत मे केवल उसके आदेश के आधार पर ही आगे रखा जा सकेगा। यह अधिकार उन व्यक्तियो को उपलब्ध नही हो सकता जिनका विदेशी शत्रु-राष्ट्र के साथ सम्बन्ध है तथा द्वितीय, इस अधिकार का दावा वे लोग नही कर सकते जिन्हे किसी निवारक नजरबन्दी कानून के अन्तर्गत नजरबन्द किया गया है। अनुच्छेद की अन्य उपधाराओ (4 से 7 तक) मे यह व्यवस्था की गई है कि साधारणत किसी व्यक्ति को तीन महीने की अवधि से अधिक बिना मुकदमा चलाये जेल मे नही रखा जायगा, परन्तु यदि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की योग्यता रखने वाले व्यक्तियो से निर्मित परामर्शदात्री मण्डल अपने प्रतिवेदन मे उनकी नजरबन्दी की अवधि को बढाने की सिफारिश करे, तो ऐसा किया जा सकता है। अनुच्छेद ससद को भी परामर्शदात्री मण्डल की सलाह के बिना किसी व्यक्ति को निवारक नजरबन्दी मे रखने के लिए कानून बनाने की अनुमति प्रदान करता है। यही नही, यह अनुच्छेद नजरबन्द करने वाले अधिकारी को सार्वजनिक हित मे उन आधारो को न बताने की अनुमति देता है जिनके कारण उसने किसी व्यक्ति को निवारक नजरबन्दी मे रखा है।

उपर्युक्त विश्लेपण से यह स्पष्ट है कि भारतीय सविधान मे जिस अधिकार के साथ सबसे अधिक अन्याय किया गया है, वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अधिकार है। यह सही है कि राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध मे व्यक्तिवादी अहस्तक्षेप के सिद्धान्त के लुप्त हो जाने तथा लोक-कल्याणकारी राज्य के उदय के परिणामस्वरूप व्यक्ति को असीमित स्वतन्त्रता का आश्वासन नही दिया जा सकता। 21वी धारा ने व्यक्ति की गिरफ्तारी के बाद न्यायिक सरक्षण से लगभग वचित कर दिया है। स्पष्टत सविधान की इस व्यवस्था को भारतीय गणराज्य के लोकतान्त्रिक आधारो के लिए शुभ नही कहा जा सकता। इस स्थिति मे नजरबन्द करने वाला अधिकारी सार्वजनिक हित मे यह बताने से भी इनकार कर सकता है कि उसे क्यो गिरफ्तार किया जा रहा है। इस स्थिति मे नजरबन्द व्यक्ति बन्दी-प्रत्यक्षीकरण की याचिका भी प्रस्तुत नही कर सकता तथा न्यायालय उसकी सहायता करने से विवश है। स्पष्टत इन अन्यायपूर्ण प्रावधानो को किसी भी दृष्टि से उचित नहीं ठहराया जा सकता। सम्भवत भारत मे निहित स्वार्थो ने जिन्हे प्रोफेसर के० टी० शाह के शब्दो मे सविधान सभा मे 'पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त था' ऐसा इसलिए किया ताकि वे अपने हितो की रक्षा कर सके।

(3) **शोषण के विरुद्ध अधिकार** (Rights against Exploitation)—यह अधिकार सविधान के 23वे और 24वे अनुच्छेदो मे सन्निहित है। 23वाँ अनुच्छेद मानव के क्रय-विक्रय, और बेगार और जबरदस्ती काम करने के अन्य स्वरूपो का निषेध करता है तथा यह घोषणा करता है कि इस प्रावधान का उल्लघन कानून द्वारा दण्डनीय अपराध है। परन्तु इसी अनुच्छेद की दूसरी उपधारा मे इस अधिकार का एक अपवाद बताया गया है और वह यह है कि राज्य सार्वजनिक प्रयोजन के लिए अनिवार्य सेवा लागू कर सकेगा। यद्यपि 'सार्वजनिक प्रयोजन' शब्दावली की कही व्याख्या नही की गई, तथापि उसका उद्देश्य स्पष्ट है। उसके अन्तर्गत समूची जाति का हित आता है उसमे किसी व्यक्ति अथवा किन्ही व्यक्तियो के समुदाय के हित को शामिल नही किया जा सकता। अनुच्छेद 24 मे यह व्यवस्था की गई है कि 14 वर्ष से कम की आयु के किसी बालक को किसी कारखाने अथवा खान अथवा किसी अन्य सकट-युक्त नौकरी मे काम पर नही लगाया जा सकता।

उपर्युक्त दोनो अनुच्छेद लोक-कल्याणकारी राज्य की आवश्यक शर्तो को पूरा करते है। 24वी धारा तो एक प्रकार से सविधान के चौथे अध्याय के 39(e) तथा 45 अनुच्छेदो के

कार्यान्वयन के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार करती है। 45वें अनुच्छेद में कहा गया है कि राज्य युवकों के हितों पर विशेष ध्यान देगा तथा उनकी शिक्षा को प्रोत्साहित करेगा। 39(e) धारा में लिखा है कि राज्य बच्चों की दुर्बल आयु का दुरुपयोग नहीं होने देगा तथा उन्हें आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर ऐसे व्यवसायों में नहीं लगने देगा जो उनके लिए आयु तथा शक्ति के लिए अनुपयुक्त हों। इन अनुच्छेदों के बीच पाये जाने वाले साम्य को अवलोकित किया जा सकता है।

(4) **धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार (Religious Rights)**—धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार का संविधान की चार धाराओं में—25, 26, 27 और 28 में उल्लेख हुआ है। पहले बताया जा चुका है कि कांग्रेस कैबिनेट मिशन के सामने इस बात के लिए वचनबद्ध थी कि भविष्य में भारत के लिए जो भी संविधान निर्मित होगा उसमें धार्मिक अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा की जायगी। यथार्थ में 14वीं धारा के द्वारा संविधान ने कानून के समक्ष समानता तथा कानूनों के समान संरक्षण का आश्वासन दिया जा चुका था तथा इसी अनुच्छेद में यह बात स्पष्ट शब्दों में कही गई थी कि राज्य धर्म के आधार पर नागरिकों के बीच भेदभाव नहीं करेगा। परन्तु वस्तुतः में अल्पसंख्यक इस आश्वासन को अपर्याप्त मानते थे व इसके अतिरिक्त कुछ और संरक्षण चाहते थे। अतः उन्हें संविधान में जो अन्य व्यवस्थायें दी गई वे निम्न प्रकार हैं—

अनुच्छेद 25—सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार एवं स्वास्थ्य तथा इस अध्याय के अन्य प्रावधानों के रहते हुए प्रत्येक व्यक्ति को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता का तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने तथा प्रचार करने का समान अधिकार है। परन्तु इस अधिकार से किसी ऐसे वर्तमान कानून के प्रवर्तन पर प्रभाव न पड़ेगा अथवा राज्य द्वारा ऐसे कानून में बाधा न होगी—(अ) जो धार्मिक आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओं का विनियमन अथवा निर्बन्धन करती हो अथवा हिन्दुओं की सार्वजनिक धर्म संस्थाओं को हिन्दुओं के सभी वर्गों और विभागों के लिए खोलता हो।

व्याख्या—(1) कृपाण धारण करना व लेकर चलना सिक्ख धर्म का अंग समझा जायगा। (2) उपर्युक्त सन्दर्भ में हिन्दुओं में सिक्ख धर्म, जैन अथवा बौद्ध धर्म के अनुयायियों को भी सम्मिलित समझा जायगा।

अनुच्छेद 26—सभी व्यक्तियों को सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए अपने धार्मिक सम्प्रदाय या किसी विभाग को (अ) धार्मिक संस्थाओं की स्थापना, (आ) धार्मिक कार्यों सम्बन्धी विषयों के प्रबन्ध, (इ) जंगम तथा स्थावर सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्व तथा (ई) ऐसी सम्पत्ति के कानून द्वारा प्रशासन करने का अधिकार है।

अनुच्छेद 27—*किसी भी व्यक्ति को ऐसे कर देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता* जिसकी आय किसी धर्म विशेष अथवा धार्मिक सम्प्रदाय की उन्नति अथवा पोषण में व्यय करने के लिए विशिष्ट रूप से विनियुक्त कर दी गई हो।

अनुच्छेद 28—राज्य निधि से पूर्णरूपेण पोषित किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायगी। परन्तु यह व्यवस्था किसी ऐसी शिक्षा संस्था पर लागू न होगी जिसका *प्रशासन तो राज्य करता हो परन्तु जिसकी स्थापना किसी ऐसे धर्मस्व अथवा न्यास के अधीन* हुई हो जिसके अनुसार उस संस्था में धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक हो। इसके अतिरिक्त राज्य से अभिज्ञात अथवा राज्य से आर्थिक सहायता पाने वाली शिक्षा संस्था में पढ़ने वाले किसी व्यक्ति को ऐसी संस्था में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा में भाग लेने के लिए अथवा उसमें या उससे लगे स्थान में की जाने वाली धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के लिए बाध्य नहीं किया जायगा।

उपर्युक्त प्रावधानों के अवलोकन से यह बात स्पष्ट है कि उनके द्वारा भारतीय संविधान ने राजनीति को धर्म से अलग रखने का प्रयास किया है। वस्तुतः संविधान की इन व्यवस्थाओं को संविधाननिर्माताओं की धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापित करने की इच्छा का आवश्यक परिणाम बताया जा सकता है।

(5) **सास्कृतिक एव शिक्षा सम्बन्धी अधिकार** (Cultural and Educational Rights)—सास्कृतिक एव शिक्षा सम्वन्धी अधिकार सविधान की 29वी और 30वी धाराओ मे उल्लिखित है। यथार्थ मे इन प्राविधानो का उद्देश्य धर्म पर आधारित अल्पसख्यको के सास्कृतिक एव शिक्षा सम्बन्धी अधिकारो के सरक्षण की व्यवस्था करना है। 29वॉ अनुच्छेद प्रत्येक अल्पसख्यक को अपनी विशिष्ट भाषा, लिपि अथवा उसकी अपनी सस्कृति को कायम रखने तथा उसका सवर्धन करने के आधार का आश्वासन देता है तथा साथ मे ही वह यह व्यवस्था भी करता है कि किसी भी नागरिक को किसी शिक्षा सस्था मे केवल धर्म, मूलवश, जाति तथा उनमे से से किसी एक के आधार पर प्रवेश पाने से नही रोका जा सकता। 30वॉ अनुच्छेद समस्त अल्पसख्यको को चाहे उनकी रचना धर्म के आधार पर हुई हो या भाषा के आधार पर, यह अधिकार उपलब्ध कराता है कि वे अपनी शिक्षा सस्थाये स्थापित करे तथा उन्हे यह आश्वासन दिलाता है कि अनुदान देते समय राज्य किसी सस्था के विरुद्ध धर्म अथवा भाषा के आधार पर भेदभाव नही करेगा।

सविधान की उपर्युक्त व्यवस्थाओ के विश्लेषण से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि ये निर्दोष नही है। वस्तुत वे सस्कृति एव शिक्षा के क्षेत्र मे नागरिको को उन अधिकारो के उपभोग की भी अनुमति नही देती जिनका आश्वासन उन्हे सविधान की 15वी धारा के द्वारा दिया गया था। 15वी धारा मे कहा गया था कि किसी भी नागरिक के साथ केवल धर्म, मूल, वश, जाति जन्म-स्थान अथवा उनमे से किसी एक के आधार पर भेदभाव नही किया जायेगा, परन्तु 29वी धारा मे 'जन्म-स्थान शब्द छोड दिया गया है। इस सम्बन्ध मे के० वी० राव का यह कथन उल्लेखनीय है—'29वी धारा शिक्षा के अधिकारो पर घातक प्रहार करती है—उसको छोड देने से हमे 14वी, 15वी और 19वी धाराओ के अन्तर्गत अधिक अच्छे अधिकार उपलब्ध हो सकते थे।'[1] 29वी धारा के सम्बन्ध मे एक और कठिनाई है और वह कठिनाई यह है कि 'सस्कृति' शब्द से क्या अभिप्राय है। यह बताने की आवश्यकता नही कि हमारे देश मे सस्कृति शब्द का प्रयोग सामान्यत उन मूल्यो के लिये होता है जो हमारे जीवन के सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक पहलुओ के साथ सम्बद्ध है। और यदि 29वी धारा हमारी उस सस्कृति को स्थायित्व प्रदान करने का प्रयास करती है जिनसे हमारे देश की सामाजिक रूढियो का प्रतिनिधित्व होता है, तो निस्सन्देह वह प्रतिगामी है। सम्भवत सविधानकारो का यह उद्देश्य कदापि नही था, और उनसे यह भूल अनजाने मे हो गई हो। परन्तु इतना होते हुए भी इस भूल की गम्भीरता से इनकार नही किया जा सकता।

यहाँ 30वी धारा के सम्बन्ध मे भी यह कहने की आवश्यकता है कि उसकी व्यवस्थाये भी पूर्णत सन्तोषप्रद नही है। उसने सभी अल्पसख्यको को, चाहे उनकी रचना भाषा के आधार पर हुई हो अथवा धर्म के आधार पर अपनी शिक्षा सस्थाओ को स्थापित करने तथा उन्हे चलाने का अधिकार दिया है। भाषावार अल्पसख्यको की बात समझ मे आ सकती है, परन्तु धार्मिक अल्पसख्यको को यह अधिकार देना निश्चय ही गलत है। अनुभव साक्षी है कि इस प्रकार की शिक्षा सस्थाऐं हर सम्भव प्रकार के सम्प्रदायवाद और जातिवाद को जन्म देती है। वस्तुत राज्य की धर्मनिरपेक्षता के लिये इस प्रकार की सस्थाएं सबसे बडी चुनौती है।

(6) **सम्पत्ति का अधिकार** (Right to Property)—सविधान मे सम्पत्ति के अधिकार का उल्लेख दो स्थानो पर हुआ है—धारा 19(f) मे तथा धारा 31 मे। इस सम्बन्ध मे सबसे पहला प्रश्न जो हमारे सन्मुख प्रस्तुत होता है वह यह है कि सविधान मे सम्पत्ति के अधिकार की व्यवस्था दो स्थानो पर क्यो हुई, अन्य अधिकारो की भाँति एक ही स्थान पर क्यो नही, इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमे दोनो धाराओ की पृष्ठभूमि ध्यान मे रखनी चाहिये। 19वी धारा एक प्रकार की स्वतन्त्रता की व्यवस्था करती है जिसका उपभोग भारतीय नागरिक कर सकते है, जबकि

[1] K V Rao *Parliamentary Democracy of India*, Calcutta (1961), 191

31वा धारा उम स्वतन्त्रता म व्यक्ति को वंचित करने का अधिकार राज्य को सौंपती है तथा वह यह भी बताता है कि राज्य अपने अधिकार का प्रयोग किस प्रकार करेगा। यहा यह उल्लेखनीय है कि 31वा धारा म अब तक चार संशोधन हो चुके हैं और प्रत्येक संशोधन की रचना सर्वोच्च न्यायालय की इस मामले म शक्ति को कम करने के उद्देश्य से हुई है। वस्तुत इस अनुच्छेद के ऊपर जितना विवाद इस म पाया जाता है उतना संविधान के किसी अन्य प्राविधान पर नहा पाया जाता। इस अनुच्छेद म सम्बद्ध मुकदमे भी सबसे अधिक सर्वोच्च न्यायालय म पहुँचे है। साथ ही इस अनुच्छेद की जो व्याख्या सर्वोच्च न्यायालय ने की है वह हमेशा एकसी नहीं रही है। अतः एसी स्थिति म यह स्वाभाविक ही है कि इस अनुच्छेद के सम्बन्ध म व्यापक रूप भ्रम पाये जायें। यहा इसकी विस्तृत विवेचन आवश्यक है।

भारत म सम्पत्ति से सम्बन्ध सांविधानिक प्राविधानों की रचना एक निश्चित एतिहासिक पृष्ठभूमि म हुई है। संविधान सभा म कांग्रेस का बहुमत था तथा कांग्रेस बहुत दिनों से आर्थिक और सामाजिक सुधारों के लिए वचनबद्ध थी। इन सुधारों म जमींदारी प्रथा का उन्मूलन भी शामिल था। अपने 1945 के चुनाव घोषणा पत्र के द्वारा उसने देश की जनता के समक्ष अपने इस संकल्प को दुहराया था कि वह जमींदारी का उन्मूलन करेगा परन्तु उसके लिए वह जमींदारों को उचित मुआवजा देगी। जब संविधान की रचना हुई तो उसम मुआवजे का तो उल्लेख किया गया परन्तु मुआवजा शब्द के पहले उचित अथवा न्यायपूर्ण शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया तथा यह कहा गया कि मुआवजे की राशि अथवा उस राशि को निर्धारित करने वाले सिद्धान्तों का निर्धारण व्यवस्थापिका के द्वारा होगा। इसम यह भी कहा गया कि यदि इस प्रकार का कानून किसी राज्य विधानमण्डल के द्वारा निर्मित हुआ है तो उसका कार्यान्विति उस समय तक नहा हो सकेगी जब तक कि उस राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त न हो जायगी। अनुच्छेद म उचित अथवा न्यायपूर्ण शब्दों का प्रयोग जान-बूझकर नहा किया गया था क्योंकि इनके प्रयोग म मुकदमेबाजी को बढ़ावा मिल सकता था। कोई भी व्यक्ति उस कानून को न्यायालय म इस आधार पर चुनौती दे सकता था कि उसम जो मुआवजे की राशि निश्चित की गयी है वह पर्याप्त नहा है। इस सम्बन्ध म शासक दल के दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए गोविन्द वल्लभ पंत ने यह कहा था—हम हरेक को उचित मुआवजा देना चाहते हैं परन्तु हम किसी मामले म मुकदमेबाजी म नहा उलझना चाहते। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संविधानकारों का यह दृष्टिकोण था कि मुआवजे की राशि के निर्धारण म अन्तिम शब्द व्यवस्थापिका का होना चाहिए न्यायपालिका का नहा।

परन्तु यह दृष्टिकोण न्यायपालिका का नहा था। कामेश्वर सिंह बनाम बिहार राज्य मुकदमे म पटना उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि न्यायालय मुआवजे के प्रश्न की जाँच इसलिए कर सकते है कि ताकि वे यह देख सकें कि उस कानून म अन्य मूल अधिकारों से सम्बद्ध प्राविधानों—उदाहरण के लिए 14वा धारा—का उल्लंघन तो नहा होता। इस दृष्टिकोण को अपनाकर पटना उच्च न्यायालय ने बिहार भूमि सुधार कानून 1950 को अवैध घोषित कर दिया। बाद म पटना उच्च न्यायालय के इस निर्णय का सर्वोच्च न्यायालय ने भी समर्थन कर दिया तथा उसने उन आधारों को भी स्वीकार कर लिया जिनके ऊपर पटना उच्च न्यायालय ने इस कानून को अवैध ठहराया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संविधान की व्यवस्थाओं को भूमि सुधार कानूनों को न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखने म सफलता नहा मिल सकी। इस स्थिति का निराकरण करने के लिए 31वा धारा म संशोधन करने की आवश्यकता का अनुभव किया गया। फलत संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम 1951 पारित किया गया जिसके अनुसार 31वा धारा म दो अन्य धाराएँ—31 A तथा 31 B—जोड़ी गयी तथा इसके साथ ही संविधान म एक नई सूची (9वा) जोड़ी गया। अनुच्छेद 31 A म यह कहा गया कि कोई कानून जिसके द्वारा राज्य किसी सम्पत्ति की प्राप्ति समाप्ति अथवा उस अधिकार का संशोधन अथवा सार्वजनिक हित म उसके

प्रबन्ध को अपने हाथ मे ले लेने को इस आधार पर अवैध नही ठहराया जा सकता कि उसके द्वारा अनुच्छेद 14, 19, अथवा 31 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारो का हनन होता है। अनुच्छेद 31B के द्वारा 9वी सूची को जोडने की व्यवस्था की गयी, जिसमे 13 जमीदारी उन्मूलन कानूनो का उल्लेख था तथा जिनकी वैधता को किसी भी न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकती थी।

थोडे ही दिनो मे यह अनुभव किया गया कि 31वे अनुच्छेद मे जो सशोधन किये गये थे, उनसे जमीदारी उन्मूलन अधिनियमो के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सम्पत्ति पर राज्य द्वारा अधिकार स्थापित करने वाले अधिनियमो को न्यायालयो के अधिकार-क्षेत्र से दूर नही रखा जा सकता था। 1953 मे सर्वोच्च न्यायालय ने 'द्वारिकादास श्रीनिवास बनाम शोलापुर स्पिनिग एण्ड वीविग कम्पनी' नामक मुकदमे मे बम्बई उच्च न्यायालय को उलट कर शोलापुर स्पिनिग एण्ड वीविग कम्पनी (एमरजेन्सी प्रोवीजन्स) ऑडीनेन्स 1950 को इस आधार पर अवैध घोषित कर दिया कि उसमे कम्पनी को समुचित मुआवजा देने की व्यवस्था नही की गयी थी। राज्य की तरफ से इस मुकदमे मे यह तर्क प्रस्तुत किया गया था कि उसने कम्पनी की सम्पत्ति पर अधिकार स्थापित नही किया है, उसने तो केवल उसके प्रबन्ध को अपने हाथ मे इसलिए लिया है क्योकि उसका प्रबन्धक-मण्डल अपनी शक्तियो का दुरुपयोग कर रहा था तथा अगस्त 1949 मे उसने बिना किसी पूर्व सूचना के मिल को यकायक बन्द करके अपने 13000 मजदूरो को बेरोजगार कर दिया था तथा राष्ट्र को 25 लाख गज कपडा और 15 लाख गज सूत की क्षति पहुँचाई थी। सर्वोच्च न्यायालय ने इस मुकदमे मे जो दृष्टिकोण अपनाया, उसने 31वी धारा मे दूसरे सशोधन को आवश्यक बना दिया। फलत सविधान (चतुर्थ सशोधन) अधिनियम 1955 की रचना हुई, जिसने 31वी धारा मे एक नवीन उपधारा (2 A) को जोडा। इसमे यह व्यवस्था की गई कि मुआवजे के किसी प्रश्न को किसी ऐसे कानून को अवैध ठहराने का आधार नही बनाया जा सकता जिसके द्वारा किसी सम्पत्ति के स्वामित्व को राज्य अथवा राज्य के अधीन अथवा राज्य द्वारा नियन्त्रित किसी निगम को हस्तान्तरित किया गया हो।

कुछ क्षेत्रो मे इन सशोधनो की आलोचना की गयी है और कहा गया हे कि इनके कारण सम्पत्ति के अधिकार की वादयोग्यता (justiciability) नष्ट हो गयी है। यह प्रश्न जब 1967 मे 'गोलकनाथ बनाम पजाब राज्य' मुकदमे मे सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत हुआ तो इसने 6–5 के बहुमत से 17वे सशोधन को यह कहकर अवैध घोषित कर दिया कि अनुच्छेद 368 मे निहित प्रकिया के द्वारा ससद को तीसरे अध्याय के प्राविधानो को सशोधित करने का अधिकार नही है। यह स्वाभाविक था कि सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय की देश मे प्रतिकूल प्रतिकिया होती। कुछ विधिवेत्ताओ ने सर्वोच्च न्यायालय द्वारा की गयी सविधान की इस व्याख्या को अनुचित ठहराया हे।

यह स्पष्ट है कि सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय से ससद की शक्ति कम हुई है तथा न्यायपालिका की शक्ति मे वृद्धि हुई है। वस्तुत यह स्थिति सविधानकारो की इच्छा के सर्वथा प्रतिकूल है। जैसा कहा जा चुका है श्री नेहरू ने सविधान सभा मे यह स्पष्ट शब्दो मे कहा था कि कोई भी न्यायालय ससद के कामो पर अपना निर्णय नही दे सकता। अत स्वाभाविक रूप से इस निर्णय ने ससद मे प्रतिकूल प्रतिकिया को जन्म दिया। इस प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति पहले नाथ पाई द्वारा प्रस्तुत विधेयक मे हुई और बाद मे उसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए 25वॉ सशोधन पारित किया गया। इस सशोधन के द्वारा ससद को वह शक्ति वापिस दिलायी गयी जो उसे गोलकनाथ के मुकदमे मे दिये गये निर्णय के पूर्व प्राप्त थी। इस सशोधन मे निम्न व्यवस्थाएँ की गयी हे—

(1) राज्य जिस सम्पत्ति पर अधिकार स्थापित करेगा, उसके लिए ससद अथवा राज्य के विधानमण्डलो को बाजार की दर पर मुआवजा देने की आवश्यकता नही हे। जो मुआवजा वे निश्चित कर दें वही अन्तिम होगा। वह राशि जो व्यक्ति के लिए न्यायपूर्ण है तथा राष्ट्र के लिए अन्यायपूर्ण है, उसे न्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता। यह बात विधायक ही निश्चित कर सकते है कि

गप्ट म उम सम्पत्ति व निए दन की वशा क्षमता है जिम उसने अपन हित म प्राप्त किया है।

(2) 14 19 और 31 अनुच्छेदा म जिन अधिकारा का आश्वासन दिया गया है उन्ह उम सामाजिक तथा आर्थिक कानूना को रद्द करने के लिए माध्यम नहा बनाया जा सकता जिनका उद्देश्य सम्पत्ति की एकाधिकारी प्रवृत्तिया का रोकना है।

(3) इस प्रकार क कानूना को निर्मित करन क बाद ससद अथवा राज्या के विधानमण्डला क लिए यह आवश्यक हागा कि व इस आशय का एक प्रमाण-पत्र दें कि उन्होंने उस कानून की रचना किसी नीति निर्देशक सिद्धान्त का कार्यान्वित करन क लिए की है। यदि उस कानून क साथ म इस प्रकार का प्रमाण-पत्र मलग्न है ता न्यायालय 14 19 और 31 अनुच्छेदा क प्राविधाना का प्रयाग म लाकर इस कानून का अवध घाषित नहा कर सकते।

उपयुक्त विवचना म स्पष्ट है कि सविधान म सन्निहित सम्पत्ति का अधिकार अभी भी विवाद ग्रस्त है। 31वा धारा क प्राविधान सामाजिक प्रगति की ओर देश क अभियान को राकन क लिए ही अभी तक प्रयुक्त हुए हैं। 1969 म बका क राष्ट्रीयकरण क मुकदम म सर्वोच्च न्यायालय न अपन निणय म कहा था कि मुआवज की राशि बाजार की दर पर आधारित हाना चाहिए तथा उसक साथ म सम्पत्ति क स्वामिया को उनकी सद्भावना (Goodwill) क लिए भी मुआवजा दिया जाना चाहिए। यदि इस स्वीकार कर लिया गया तब तो काई भी प्रगतिशील सामाजिक और आर्थिक कानून बन ही नहीं सकता। 25वा सशोधन इसी दुर्बलता का दूर करन का प्रयास करता है।

(7) **सांविधानिक उपचारों का अधिकार** (Right to Constitutional Remedies)—सविधान की 32वा धारा भारत क प्रत्यक नागरिक का यह अधिकार प्रदान करती है कि व अपन अधिकारा क उल्लघन की स्थिति म सीध सर्वोच्च न्यायालय की शरण ल सकत है। इस अधिकार का मौलिक अधिकार घाषित करक सविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारा की यथार्थता स्पष्ट हा जाती है और यह धारणा पुष्ट हो जाती है कि भारतीय सविधान क मूल अधिकार कवल पवित्र इच्छाय नहीं हैं। राज्य इन अधिकारा का कार्यान्वित करन क लिए कृत-सकल्प है। भारतीय सविधान की व्यवस्था क अतगत स्वतन्त्र न्यायपालिका का मौलिक अधिकारा को लागू करन की शक्ति प्रदान करक भारतीय सविधान निर्माताओ न राजनीतिक लाकतन्त्र की धारणा का पुष्ट किया है। इस प्राविधान क अनुसार यदि किसी नागरिक क किसी मूल अधिकार का अतिक्रमण किसी शासकाय आदेश अधिनियम या विनियम क द्वारा हान की आशका हा ता नागरिक सर्वोच्च न्यायालय म आवेदन करक उसका निराकरण करा सकता है। इस हतु न्यायालय बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) परमादेश (Mandamus) प्रतिषध (Prohibition) अधिकार-पृच्छा (Quo Warranto) तथा उत्प्रेषण (Certiorari) द्वारा सम्बद्ध पक्ष का न्यायालय द्वारा अतिम निणय देन तक सरकारी आदेश आदि का प्रभावी हान स राक सकता है। सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालय इस किसी आदेश या अधिनियम का सविधान क प्राविधाना क प्रतिकूल या उनस असगत हान पर अवध घाषित कर सकता है।

राज्य क नीति निर्देशक सिद्धान्त

ऊपर कहा जा चुका है कि सविधानकारा न मूल अधिकारा का दो भागा म विभाजित कर दिया था। व अधिकार जिनकी प्रकृति निषधात्मक था तथा जो 18वी और 19वी शताब्दी का उदारवादी परम्पराओ म मान जात थ उन्ह मूल अधिकारा क नाम म पुकारा गया। परन्तु जिन अधिकारा की प्रकृति स्वीकारात्मक थी तथा जिनकी अनुपस्थिति म लाक-कल्याणकारी राज्य तथा समाजवादी समाज की रचना की कल्पना भी नहा हो सकती थी उन्ह नीति निर्देशक सिद्धान्ता का सज्ञा प्रदान की गई तथा यह कहा गया कि व उन लक्ष्या का प्रतिनिधित्व करत हैं जिनकी प्राप्त करन का प्रयास आरतीय गणतन्त्र करगा।

कहा गया है कि राज्य को वैज्ञानिक आधार पर कृषि एवं पशु पालन को विकसित करने का प्रयास करना चाहिए तथा उसे गौ हत्या को रोकने की भी कोशिश करनी चाहिए। 49वें अनुच्छेद में राज्य को यह उत्तरदायित्व सौंपा गया है कि वह कलात्मक तथा ऐतिहासिक महत्त्व के स्मारकों अथवा स्थानों की रक्षा करे।

(2) आर्थिक सिद्धान्त—इस शीर्षक के अन्तर्गत अनुच्छेद 38 39 41 42 43 45 46 और 47 को रखा जा सकता है। इनका उद्देश्य उन आदर्शों को प्राप्त करना है जिनका उल्लेख संविधान की प्रस्तावना में किया गया था तथा जो लोक-कल्याणकारी राज्य के मुख्य आधार हैं। 38वें अनुच्छेद में लिखा है कि राज्य जनता के कल्याण की अभिवृद्धि के लिए ऐसी सामाजिक व्यवस्था की रचना करने का प्रयास करेगा जिसमें सामाजिक राजनीतिक तथा आर्थिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे। अनुच्छेद 39 में कुछ विशेष निर्देश दिये गये हैं। राज्य अपनी नीति का संचालन इस प्रकार करेगा कि (अ) सभी नागरिकों को समान रूप से विकास के पर्याप्त साधन उपलब्ध हों (आ) देश के भौतिक साधनों का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बंटा होगा कि जिसमें सामूहिक हित प्राप्त हो सके ( ) आर्थिक व्यवस्था का संचालन इस प्रकार हो कि धन और उत्पादन के साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो (ई) पुरुषों और स्त्रियों दोनों को ही समान कार्य के लिए समान वेतन मिले (उ) श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों के स्वास्थ्य तथा शक्ति और बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो (ऊ) शैशव और किशोर अवस्था का शोषण व भौतिक और आर्थिक परित्याग न हो।

अनुच्छेद 41 में राज्य को यह दायित्व सौंपा गया है कि वह अपनी क्षमता के भीतर लोगों को काम शिक्षा बेरोजगारी बुढ़ापे बीमारी तथा शारीरिक और मानसिक अयोग्यता की स्थिति में सामाजिक सहायता प्राप्त करने के अधिकारों की व्यवस्था करे।

अनुच्छेद 42 में कहा गया है कि राज्य काम की न्यायपूर्ण एवं मानवीय परिस्थितियों का निर्माण करने का प्रयत्न करे।

अनुच्छेद 43 में राज्य को यह उत्तरदायित्व सौंपा गया है कि वह कृषि तथा उद्योगों में काम करने वाले प्रत्येक श्रमिक को गुजारे लायक मजदूरी अच्छा जीवन स्तर तथा अवकाश उपलब्ध कराने का प्रयत्न करे।

अनुच्छेद 45 में राज्य का यह कर्त्तव्य बताया गया है कि संविधान के कार्यान्वयन के 10 वर्ष के भीतर उसे 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए।

अनुच्छेद 46 में राज्य की यह जिम्मेदारी बताई गई है कि उसे समाज के कमजोर वर्गों के शिक्षा सम्बन्धी तथा आर्थिक हितों की अभिवृद्धि का प्रयत्न करना चाहिए।

अनुच्छेद 47 में राज्य का यह कर्त्तव्य सौंपा गया है कि वह लोगों के जीवन स्तर तथा पोषण के स्तर को ऊंचा उठाने का प्रयास करना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इन सिद्धान्तों की उपयोगिता के सम्बन्ध में किसी को कोई सन्देह नहीं हो सकता। वस्तुतः इन्हीं के आधार पर देश में एक नये समाज की रचना हो सकती है जिसमें सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय सभी भारतीय नागरिकों को उपलब्ध हो सकेगा।

(3) कानूनी सिद्धान्त—कानूनी सिद्धान्त चौथे अध्याय की 44वीं और 50वीं धाराओं में उल्लिखित हैं। अनुच्छेद 44 में कहा गया है कि राज्य को समस्त नागरिकों के लिए एक सी आचार संहिता (Civil Code) की रचना करनी चाहिए। अनुच्छेद 50 में कार्यपालिका और न्यायपालिका को एक-दूसरे से पृथक करने पर बल दिया गया है।

संविधान की उपर्युक्त दोनों व्यवस्थाओं का महत्त्व स्वयं सिद्ध है। 44वीं धारा का महत्त्व समझने के लिए हमें इस बात को ध्यान में रखना है कि भारत में आचार संहिताओं की [illegible]

धर्म का एक अग माना गया है तो अधिक उपयोगी होगा। चूँकि भारत मे अनेक मतावलम्बी पाये जाते ह, इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि यहाँ वहुत सी आचार सहिताये भी पायी जाती हे। इस प्रकार मुसलमानो की अपनी आचार सहिता है जिसे वे 'व्यक्तिगत कानून' (Personal Law) के नाम से पुकारते है तथा हिन्दुओ मे कम से कम तीन आचार सहिताये पायी जाती है—मयूख, मिताक्षर और दयाभाग। यहाँ यह भी उल्लेखनीय कि धर्मान्ध लोगो ने सदैव से इन सहिताओ को ईश्वर प्रदत्त वताया है तथा उनकी पवित्रता को अनुलघनीय प्रमाणित करने का प्रयास किया है। परन्तु देश की राष्ट्रीय एकता के लिए आचार सहिताओ की इस वहुलता का अन्त किया जाना परमावश्यक था। अत सविधान की इस व्यवस्था को शुभ समझा जाना चाहिए।

निर्देशक सिद्धान्तो का मूल्याकन

आरम्भ से ही इन सिद्धान्तो की विविध प्रकार से आलोचना की गई है। सविधान सभा मे इनके सम्बन्ध मे प्रो० के० टी० शाह ने कहा था कि ये 'उस चैक के समान है जिनका भुगतान वैक की इच्छा पर छोड दिया गया है।' कुछ अन्य आलोचको ने इन सिद्धान्तो को पवित्र आकाक्षाओ का सग्रह-मात्र कहा है। परन्तु इतना होते हुए भी इनके महत्त्व से इनकार नही किया जा सकता।

वस्तुत इन सिद्धान्तो को राज्य की आचार सहिता बताया जा सकता है। राज्य मे चाहे जो दल सत्तारूढ हो, उसके लिए यह वाछनीय है कि वह इन सिद्धान्तो को ध्यान मे रखकर जनता के कल्याण की अभिवृद्धि के लिए कार्य करे। इस सम्बन्ध मे पायली ने यह ठीक ही लिखा हे कि 'निर्देशक सिद्धान्तो का महत्त्व इस वात मे है कि वे नागरिक के प्रति राज्य के दायित्व के द्योतक है। कोई व्यक्ति यह नही कह सकता कि ये दायित्व महत्त्वहीन है और इसकी पूर्ति होने पर भारत की सामाजिक व्यवस्था मे कोई अन्तर नही आयेगा। वस्तुत ये क्रान्तिकारी गुणो से ओतप्रोत हे। यही कारण है कि निर्देशक सिद्धान्तो को सविधान का अभिन्न अग वनाया गया है। राज्य की नीति निर्देशक सिद्धान्तो द्वारा भारतीय सविधान व्यक्ति स्वातन्त्र्य की घातक, मजदूर वर्ग की तानाशाही, तथा जनसाधारण की सुरक्षा मे बाधक होने वाले पूँजीवादी अल्पतन्त्र की दोनो चरम सीमाओ मे सन्तुलन स्थापित करता है।'

प्रश्न

1. भारतीय सविधान मे प्रस्तावना के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
2. सविधान मे सन्निहित समानता के अधिकार पर एक निवन्ध लिखिए।
3. सविधान मे स्वतन्त्रता के अधिकार के सम्बन्ध मे क्या उपबन्ध किये गये हैं? आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
4. भारतीय सविधान मे सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध मे क्या व्यवस्थाये की गई ह? अभी तक इस अधिकार के क्षेत्र मे जितने सशोधन हुए ह, उन्हे ध्यान मे रखकर इस प्रश्न का उत्तर दीजिए।
5. 'राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तो से सम्बद्ध अध्याय मे उच्च कोटि की भ्रान्तियाँ, अनेक पवित्र आकाक्षाये तथा कुछ ऐसे अधिकार वर्णित ह, जिनकी सविधान द्वारा गारण्टी की जा सकती थी।' विवेचना कीजिए।

5
संघीय कार्यपालिका
(THE UNION EXFCUTIVE)

संघ अथवा राज्यों की कार्यपालिका का अध्ययन करते समय यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि उनकी रचना ब्रिटेन की संसदीय पद्धति के अनुरूप की गई है जिसके दो मुख्य लक्षण हैं—पहला इसमें दो कार्यपालिकाएँ होती हैं एक औपचारिक और दूसरी वास्तविक दूसरा इसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में निकट का सम्बन्ध होता है। यद्यपि भारतीय संघ का राष्ट्रपति ब्रिटिश सम्राट की भाँति आनुवंशिक न होकर निर्वाचित अधिकारी है तथापि भारतीय मन्त्रिमण्डल ब्रिटिश कैबिनेट की ही भाँति शक्तिशाली है। वह तब तक अपना काम करती है जब तक कि उसे संसद के प्रथम सदन का विश्वास प्राप्त है। कुछ विद्वान् इस तर्क से सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि संविधान की कुछ व्यवस्थाएँ ऐसी हैं जिनमें अध्यक्षीय प्रणाली के तत्व विद्यमान हैं। उनका कहना है कि संविधान के कुछ प्रावधानों ने राष्ट्रपति को स्वतन्त्र रूप से अधिकार प्रदान किये हैं। आगे वाले पृष्ठों में हम इस मत की विवेचना करेंगे।

1 राष्ट्रपति

भारतीय संघ की कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित हैं और वह उनका प्रयोग या तो स्वयं प्रत्यक्ष रूप से अथवा संविधान के प्रावधानों के अनुरूप अप्रत्यक्ष रूप से अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा कर सकता है।

निर्वाचन

किसी भी लोकतान्त्रिक कार्यपालिका की रचना करते समय जो समस्या सबसे पहले प्रस्तुत होती है वह यह है कि राज्य के अध्यक्ष का निर्वाचन किस प्रकार किया जाय। संविधान की 54वीं और 55वीं धाराओं में इस समस्या को सुलझाने की विधि बताई गई है। इसके अनुसार राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल संक्रमणीय पद्धति के आधार पर एक निर्वाचक मण्डल के द्वारा होता है इस निर्वाचक मण्डल में संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य तथा राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य होते हैं। राष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध में दो बातें मुख्य हैं पहली *उसमें विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व में एकरूपता कायम रखने के सिद्धान्त को मान्यता दी गई है।* दूसरे उसमें इस बात को भी मान्यता दी गई है कि संघ एवं राज्यों के प्रतिनिधियों के बीच समता कायम रखी जाय। फलतः राष्ट्रपति के निर्वाचन में परिणाम मतों की साधारण गणना से निर्धारित नहीं होता वरन् मतों का निम्न फार्मूले से मान निकाला जाता है—

किसी राज्य की विधान सभा के सदस्य के मत का मूल्य

$$= \frac{\text{राज्य की जनसंख्या}}{\text{विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या}} \div 1000$$

इसी प्रकार संसद के सदस्य के मत का मूल्य

$$= \frac{\text{राज्यों की विधानसभाओं के सदस्यों के मतों का कुल योग}}{\text{संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या}}$$

1962 तक काग्रेस द्वारा मनोनीत प्रत्याशी पहली ही गिनती मे बहुत अधिक मत से निर्वाचित हो जाया करता था । परन्तु 1967 के चौथे आम चुनाव मे अनेक राज्यो के विधान-मण्डलो मे काग्रेस बहुमत प्राप्त करने मे असमर्थ रही तथा ससद मे भी उसका पहले की भाँति बहुमत नही रहा । फलत मई 1967 मे जब राष्ट्रपति के पद के लिए निर्वाचन हुआ तो उस समय काग्रेसी उम्मीदवार डा० जाकिर हुसैन को विरोधी दलो द्वारा मनोनीत प्रत्याशी के० सुब्बाराव के साथ कडा मुकाबिला करना पडा । यद्यपि डा० जाकिर हुसैन पहली ही गिनती के उपरान्त निर्वाचित घोषित कर दिये गये थे, तथापि उन्हे वह बहुमत प्राप्त नही हुआ था जो इससे पूर्व तीन चुनावो मे काग्रेस द्वारा मनोनीत प्रत्याशियो को प्राप्त हुआ था । डा० जाकिर हुसैन का देहान्त उनके कार्यकाल मे ही हो गया, अत 1969 मे राष्ट्रपति के पद के लिए पाँचवी बार चुनाव हुआ । इस चुनाव मे परिस्थिति मे इसलिए और जटिलता उत्पन्न हो गई क्योकि प्रधानमन्त्री के नेतृत्व मे अधिकाश काग्रेसी सदस्यो ने काग्रेस के अधिकृत प्रत्याशी नीलम सजीव रेड्डी का विरोध करने का निर्णय किया था । इस चुनाव मे निर्दलीय उम्मीदवार वी० वी० गिरि निर्वाचित घोषित हुए, परन्तु ऐसा तभी हो सका जबकि दूसरी पसन्द के मतो की भी गणना कर ली गई । इस प्रकार पहली बार एक पद के लिए निर्वाचन मे सानुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति का महत्त्व स्पष्ट हुआ । इस पद्धति के अन्तर्गत एक उम्मीदवार प्रथम गणना मे अपने निकटतम प्रतिद्वन्द्वी की अपेक्षा अधिक मत प्राप्त करने के उपरान्त भी चुनाव मे हार सकता है । उसके लिए चुनाव जीतने के लिए केवल यह आवश्यक नही है कि उसे अपने प्रतिद्वन्द्वी की अपेक्षा अधिक मत प्राप्त हो, वरन् यह भी आवश्यक है कि वह विजयी घोषित होने के लिए निर्धारित मतो को भी प्राप्त करने मे सफल हो । दूसरे शब्दो मे इसका अर्थ है कि उसे वैध मतो का पूर्ण बहुमत प्राप्त होना चाहिए । इसीलिए सविधान मे यह व्यवस्था है कि निर्वाचित प्रत्याशी को आधे से अधिक मत प्राप्त होने चाहिए । इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सविधान मे निर्वाचन की जो प्रक्रिया बताई गई है उसमे प्रत्येक मतदाता को अपनी पहली, दूसरी, तीसरी आदि पसन्द बताने का अवसर दिया गया है । इस प्रक्रिया के अन्तर्गत यदि किसी निर्वाचन मे किसी भी प्रत्याशी को प्रथम पसन्द के आधे से अधिक मत प्राप्त न हो तो उस स्थिति मे ऐसे उम्मीदवार को जिसे सबसे कम मत मिले हो विलोपित कर दिया जायेगा तथा उसकी दूसरी पसन्द के मतो को अन्य उम्मीदवारो को हस्तान्तरित कर दिया जायेगा । यह विलोपन की प्रक्रिया उस समय तक चलती रहेगी जब तक कि किसी उम्मीदवार को पूर्ण बहुमत प्राप्त नही हो जाता । उदाहरणार्थ, वैध मतो की कुल सख्या 15000 है और सघर्ष मे 4 प्रत्याशी है, चुने जाने के लिए प्रत्याशी को 7501 मत प्राप्त करने चाहिए । परन्तु 4 उम्मीदवारो को मत इस प्रकार प्राप्त होते है—(अ) 5250, (ब) 4800, (स) 2700, तथा (द) 2250 । चूकि द को सबसे कम मत प्राप्त हुए है इसलिए उसे विलोपित कर दिया जायेगा । उसके 2250 मतपत्रो पर दूसरी पसन्द इस प्रकार है—(अ) के पक्ष मे 300, (ब) के पक्ष मे 1050, और (स) के पक्ष मे 900 । दूसरी पसन्द की गणना के उपरान्त स्थिति यह हो जाती है—(अ) 5250+300=5550, (ब) 4800+1050=5850 और (स) 2700+900=3600 । इस गणना मे ब के मत अ के मतो मे बढ जाते है । परन्तु स विलोपित हो जाता है । उसके 3600 मतपत्रो पर तीसरी पसन्द के मत इस प्रकार है—(अ) 1700 और (ब) 1900 । जब उन्हे हस्तान्तरित किया जाता है तो उम्मीदवार ब के कुल मत 7750 हो जाते है और उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है ।

विगत निर्वाचन मे 17 प्रत्याशियो ने भाग लिया था, किन्तु इनमे से 9 को कोई भी मत प्राप्त नही हुआ । यथार्थ मे वास्तविक सघर्ष वी० वी० गिरि और सजीव रेड्डी के बीच था, इनके अतिरिक्त एक तीसरे उल्लेखनीय प्रत्याशी डा० सी० डी० देशमुख थे जिन्हे जनसघ, स्वतन्त्र पार्टी तथा भारतीय क्रान्ति दल ने सयुक्त रूप से खडा किया था । दोनो प्रमुख उम्मीदवारो को प्राप्त मतो की सख्या इस प्रकार थी—गिरि 420676 और रेड्डी 405427 । डा० देशमुख को केवल

54593 मत प्राप्त ए।

इस प्रकार संविधान सभा ने राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए जनता द्वारा प्रत्यक्ष चुनाव संसद के सदस्यों द्वारा चुनाव तथा एक विशेष निर्वाचक मण्डल की स्थापना के सुझावों को नामंजूर कर दिया। उसने इसके लिए जिस पद्धति को स्वीकार किया उसके पक्ष में अनेक कुछ कहा जा सकता है। पहला उसमें राज्य को कोई विशेष व्यय भार वहन नहीं करना पड़ेगा। दूसरा इस प्रकार के निर्वाचक मण्डल द्वारा किया गया चयन वयस्क मताधिकार पर आधारित चुनाव से कम महत्त्वपूर्ण नहीं होगा और इसलिए राष्ट्रपति का पद वाञ्छित प्रतिष्ठा से परिपूर्ण हो सकेगा। तीसरा इस निर्वाचक मण्डल के सदस्यों से अच्छे व्यक्ति को चुनने की अपेक्षा की जा सकती है। चौथा चूंकि इस पद्धति में राज्य के अध्यक्ष के निर्वाचन में राज्यों को भी भाग लेने का अधिकार दिया गया है इससे यह प्रमाणित होता है कि भारत में राज्यों का संघ (Union of States) है। जैसा कहा जा चुका है कि राष्ट्रपति गिरि का निर्वाचन 1969 में हुआ था उनका कार्यकाल अगस्त 1974 को समाप्त होना है। परन्तु इस बीच गुजरात की विधान सभा भंग हो चुकी थी। अतः यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि क्या किसी एक राज्य की विधानसभा के भंग होने की स्थिति में राष्ट्रपति का चुनाव कराया जा सकता है? राष्ट्रपति ने इस प्रश्न के ऊपर सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श मांगा। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने 5 जून 1974 के निर्णय में यह मत व्यक्त किया है कि राष्ट्रपति का चुनाव वर्तमान राष्ट्रपति की अवधि के पूर्ण होने के पहले ही सम्पन्न हो जाना चाहिए चाहे तब तक किसी एक राज्य की विधानसभा भंग ही क्यों न हो।

अर्हताएं—संविधान के अनुसार राष्ट्रपति के पद के प्रत्याशी के पास निम्नलिखित योग्यताएं होनी चाहिए—

(1) वह भारत का नागरिक हो

(2) उसकी आयु 35 वर्ष से अधिक हो

(3) उसके पास लोकसभा के सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता हो

(4) उसके पास भारत सरकार किसी राज्य सरकार अथवा किसी स्थानीय सरकार के अधीन कोई लाभ का पद नहीं होना चाहिए। दूसरे शब्दों में इस प्रावधान के अनुसार कोई भी सरकारी कर्मचारी राष्ट्रपति के पद के लिए निर्वाचन में खड़ा नहीं हो सकता। परन्तु यह नियम राष्ट्रपति उपराष्ट्रपति तथा राज्यों के गवर्नरों पर लागू नहीं होता तथा

(5) उसे संसद के किसी भी सदन अथवा किसी भी राज्य के विधानमण्डल का सदस्य नहीं होना चाहिए। यदि कोई विधायक अथवा संसद-सदस्य राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित हो जाता है तो व्यवस्थापिका में उसकी सीट उसी दिन से खाली हो जाती है जिस दिन से वह अपने पद का भार सम्भालता है।

कार्यकाल एवं वेतन—राष्ट्रपति पांच वर्ष की अवधि के लिए निर्वाचित होता है। इस बीच में वह त्यागपत्र देकर या तो स्वयं अपने पद को रिक्त कर सकता है अथवा महाभियोग के द्वारा उसे उसके पद से हटाया जा सकता है। संविधान ने राष्ट्रपति के दुबारा निर्वाचन पर कोई रोक नहीं लगाई है। संविधान में राष्ट्रपति के लिए 10000 रुपये मासिक वेतन की व्यवस्था है इसके अतिरिक्त उसके लिए विभिन्न प्रकार के भत्तों की भी उपबन्ध है। उसके लिए मुफ्त सरकारी निवास का भी प्राविधान है। 1951 में पारित एक कानून के अनुसार राष्ट्रपति को सेवा निवृत्त होने के उपरान्त 15000 रुपये वार्षिक पेन्शन की व्यवस्था की गई है। 1962 में इस कानून में एक संशोधन किया गया था जिसके अनुसार उसके लिए पेन्शन के अतिरिक्त अपने सचिव आदि पर व्यय करने के लिए 12000 रुपये वार्षिक का भी प्रबन्ध किया गया है।

राष्ट्रपति की शक्तियाँ

राष्ट्रपति की शक्तियों को मुख्यतः निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता

है—(अ) कार्यपालिका शक्तियाँ, (ब) विधायी शक्तियाँ, (स) वित्तीय शक्तियाँ, तथा (द) सकट-कालीन शक्तियाँ। यहाँ इन शक्तियो की विस्तारपूर्वक विवेचना की आवश्यकता है।

(अ) राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियाँ—सविधान ने भारतीय सघ की कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति मे निहित बतायी है। कार्यपालिका शक्तियो के अन्तर्गत प्रशासकीय, राजनयिक, सैनिक, न्यायिक अथवा अर्द्ध-न्यायिक और यहाँ तक कि एक सीमा तक विधायी सभी प्रकार की शक्तियाँ शामिल है। सविधान मे लिखा है कि भारत सरकार के सभी कार्यपालिका सम्बन्धी काम राष्ट्रपति के नाम से निष्पादित होगे। वही सरकार के कार्यो के सुचारु रूप से सचालन के लिये नियम बनायेगा। वह प्रशासन का औपचारिक अध्यक्ष है तथा सभी सघीय अधिकारी, चाहे उनका सम्बन्ध सैनिक सेवा के साथ हो या असैनिक सेवाओ के साथ, वे सब उसके अधीन है।

राष्ट्रपति को सघीय अधिकारियो को नियुक्त करने की व्यापक शक्ति प्रदान की गई है। जिन अधिकारियो की नियुक्ति उसके द्वारा होती है उनमे से मुख्य निम्नलिखित है—प्रधानमन्त्री तथा अन्य सघीय मन्त्री, महाधिवक्ता, नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक, सर्वोच्च एव उच्च न्यायालयो के न्यायाधीश, राज्यो के गवर्नर, राजदूत तथा अन्य राजनयिक अधिकारी, लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा अन्य सदस्य और अनुसूचित वर्गो के लिये विशेष अधिकारी। इनके अतिरिक्त वह विभिन्न आयोगो को भी नियुक्त करता है, जैसे वित्त आयोग, भाषा आयोग, योजना आयोग, निर्वाचन आयोग आदि। उसे मन्त्रियो, राज्यो के गवर्नरो, महाधिवक्ता, तथा सेना के उच्च अधिकारियो को पदच्युत करने का भी अधिकार है।

राष्ट्रपति देश की प्रतिरक्षा सेनाओ का सर्वोच्च सेनापति है। राज्य के अध्यक्ष होने के नाते वह सभी प्रकार के राजनयिक विशेषाधिकारो का अधिकारी है। वह अपने देश के सभी राजनयिक प्रतिनिधियो की नियुक्ति करता है तथा बाहर से आने वाले सभी विदेशी राजदूत उसी को अपने पद के प्रमाण पत्र प्रस्तुत करते है। यही नही, सभी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ और समझौते उसी के नाम से किये जाते है।

ब्रिटिश राजा की भाँति, भारतीय राष्ट्रपति भी न्याय एव सम्मान का स्रोत है। उसे अपराधियो को क्षमा करने, उनको दिये गये दण्ड को कम करने तथा उसमे छूट देने का अधिकार है। यहाँ ध्यान मे रखने योग्य बात यह है कि उसका यह अधिकार निम्नलिखित तीन स्थितियो मे लागू होता है—(1) जहाँ कोई व्यक्ति किसी सैनिक न्यायालय के द्वारा दण्डित हुआ हो, (2) जहाँ दण्ड किसी सघीय कानून के उल्लघन के लिए दिया गया हो, (3) ऐसे सभी मामलो मे जहाँ अपराधी को मृत्यु-दण्ड दिया गया हो। राष्ट्रपति विशिष्ट नागरिको को सम्मानित भी करता है, भारतरत्न, पद्मभूषण, पद्मविभूषण तथा पद्मश्री आदि उपाधियो के माध्यम से वह उन्हे उनकी सेवाओ के लिए अलकृत करता है।

जैसा कहा जा चुका है, राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री को नियुक्त करता है तथा प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति भी उसी के द्वारा होती है। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नही है कि राष्ट्रपति अपनी इच्छा से चाहे जिसको प्रधानमन्त्री नियुक्त कर सकता है। वस्तुत इस सम्बन्ध मे उसकी शक्तियाँ अत्यधिक सीमित है क्योकि दलगत राजनीति की विवशताओ के कारण वह लोकसभा मे बहुमत के नेता को प्रधानमन्त्री नियुक्त करने के लिए बाध्य है। इस सम्बन्ध मे सविधान की व्यवस्था यह है कि प्रधानमन्त्री तथा उसके मन्त्रिमण्डल को लोकसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त होना चाहिए। प्रधानमन्त्री के लिए यह आवश्यक नही है कि उसे लोकसभा का सदस्य भी होना चाहिए, परन्तु साधारणत यह आशा की जाती है कि वह लोकसभा का सदस्य होगा। 1966 मे लालबहादुर शास्त्री के देहान्त के उपरान्त श्रीमती इन्दिरा गाधी को प्रधान-मन्त्री के पद पर नियुक्त किया गया था, यद्यपि उस समय वे राज्य सभा की सदस्या थी, लोकसभा की नही। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति की प्रधानमन्त्री को नियुक्त करने की शक्ति सावैधानिक औपचारिकता से अधिक कुछ नही है। परन्तु यह औपचारिक शक्ति उस समय

कालान्तर मे ससद की स्वीकृति ली जानी आवश्यक है। राष्ट्रपति को समय-समय पर वित्त आयोग को नियुक्त करने का भी अधिकार प्राप्त है तथा इस आयोग की सिफारिशो के आधार पर वह आयकर से प्राप्त होने वाली आय मे से विभिन्न राज्यो को दी जाने वाली राशि को निर्धारित करता हे। इसी प्रकार वह यह भी निश्चित करता है कि पटसन के निर्यातकर की आय मे से कुछ राज्यो को बदले मे क्या धनराशि मिलनी चाहिए। अन्त मे, राष्ट्रपति भूतपूर्व राजाओ को दी जाने वाली प्रिवीपर्स मे विभिन्न राज्यो को कितना योगदान है, यह निर्धारित करता है।

(द) सकटकालीन शक्तियाँ—भारतीय सविधान मे सकटकालीन प्राविधान उसके 18वे अध्याय मे सन्निहित हे। वस्तुत ससार के अन्य लोकतान्त्रिक सविधानो मे इन प्राविधानो का समानान्तर खोजना कठिन हैं। सविधान सभा मे इन आशकाओ को व्यक्त भी किया गया था। इस मत को व्यक्त करते हुए एच० वी० कामथ ने कहा था कि सविधान के उल्लघन की सम्भावना केवल आन्दोलनकारियो, विद्रोहियो एव क्रान्तिकारियो के द्वारा ही नही है, 'अपितु उन लोगो के द्वारा भी है जो सत्तारूढ है।' डा० पजावराव देशमुख ने इस आशका को व्यक्त किया था कि 'मन्त्री राष्ट्रपति मे निहित शक्तियो को चुनाव के उद्देश्य के लिए काम मे ला सकते है तथा वे चुनाव के विल्कुल पूर्व सकटकाल की घोपणा कर सकते हे और इस प्रकार वे दूसरे दल का दमन कर सकते है और वे राष्ट्रपति को सौपी गई शक्तियो का दलगत हितो के लिए प्रयोग कर सकते है।'

सविधान मे तीन प्रकार की सकटकालीन अवस्थाओ का उल्लेख है जो निम्नलिखित हे—

(अ) भारत की अथवा उसके किसी एक भाग की सुरक्षा के लिए गम्भीर खतरा उत्पन्न होने पर (352वी धारा)।

(ब) राज्यो मे साविधानिक यन्त्र के असफल होने की स्थिति मे (356वी धारा)।

(स) भारत अथवा उसके किसी एक भाग की वित्तीय स्थिरता अथवा साख के लिए खतरा उत्पन्न होने की स्थिति मे (360वी धारा)।

यह बताने की आवश्यकता नही है कि उपर्युक्त तीनो प्रकार की सकटकालीन अवस्थाओ के घोपित होने पर राज्यो की स्वायत्तता का अतिक्रमण हो सकता है। उदाहरण के लिए, यदि सकट की घोपणा 352वी धारा के अन्तर्गत हुई है तो उस स्थिति मे केन्द्र को शक्तियो के सघीय विभाजन की अवहेलना करके राज्यो की सूची मे उल्लिखित विपयो पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता हे। 352वी धारा के सम्बन्ध मे एक उल्लेखनीय बात यह हे कि सविधान मे उसकी अवधि की कोई सीमा नही बताई गई है, उसकी सीमा निर्धारित करने का काम केवल कार्यपालिका को सौपा गया हे। वस्तुत ऐसा होना उचित भी हे क्योकि कार्यपालिका अधिकारी ही इस बात को समझता हे कि सकट की घोपणा को कब वापिस लिया जाये। यथार्थ मे 352वी धारा मे कोई भी बात ऐसी नही है जिसके ऊपर आपत्ति की जा सके। परन्तु यह बात 356वी धारा के सम्बन्ध मे नही कही जा सकती। इस अनुच्छेद मे कहा गया है कि राष्ट्रपति ऐसे राज्यो मे अपना शासन स्थापित कर सकता है, 'जहाँ राज्य का शासन इस सविधान के प्राविधानो के अनुसार निष्पादित नही किया जा सकता।' राष्ट्रपति को इस धारा ने यह शक्ति प्रदान की हे कि वह या तो राज्य के गवर्नर से इस आशय का प्रतिवेदन प्राप्त होने पर अथवा उसके बिना ही इस आशय की घोपणा कर सकता हे। राष्ट्रपति को गवर्नर के प्रतिवेदन की अनुपस्थिति मे इस प्रकार की घोपणा करने के अधिकार का औचित्य बताते हुए डाक्टर अम्बेदकर ने सविधान सभा मे यह तर्क प्रस्तुत किया था कि 355वे अनुच्छेद मे सघ की सरकार को जो दायित्व सौंपे गये है, उनका पालन करने के लिए यह आवश्यक हे कि राष्ट्रपति को यह शक्ति प्रदान की जाये। 355वे अनुच्छेद मे लिखा है—'सघ का यह कर्त्तव्य होगा कि वह बाह्य

आक्रमण एव आतरिक उपद्रवो म प्रत्यक राज्य की रक्षा करे तथा वह अपन आपको इस सम्बन्ध म आश्वस्त करे कि प्रत्यक राज्य म शासन का सचालन सविधान के प्राविधानो क अनुसार हो रहा है। डा अम्बदकर न इस धारा का हवाला दत हुए कहा कि इसस यह स्पष्ट है कि सविधान न सघ की सरकार को यह कत्तव्य सौंपा है अत इस सम्बन्ध म गवनर क प्रतिवदन क द्वारा राष्ट्रपति की शक्ति को मर्यादित करना उचित नहा है। बहुत सम्भव है कि गवनर अपना प्रतिवेदन प्रषित ही न करें। तथापि तथ्य एस हैं कि राष्ट्रपति यह अनुभव करता हो कि उसका हस्तक्षप आवश्यक है। एसी स्थिति म हम राष्ट्रपति को गवनर की रिपोट क न होन पर भी कायवाही करन की स्वतन्त्रता देनी चाहिए।

356वी धारा क अतगत राष्ट्रपति क शासन का अथ व्यवहार म निम्नलिखित होता है—प्रथम राष्ट्रपति क हाथो म राज्य की सरकार अथवा वहाँ क गवनर म निहित शक्तिया आ जाती हैं। द्वितीय राज्य क विधानमण्डल म निहित विधायी शक्तियो का निष्पादन सघ की ससद क द्वारा होन लगता है। तृतीय इस समय राष्ट्रपति को सकटकालीन घोषणा क उद्दश्य को प्राप्त करन क लिए जो भी बातें आवश्यक प्रतीत हो वह उनकी व्यवस्था कर सकता है इस सम्बन्ध म उसकी शक्ति की केवल एक ही सीमा है और वह यह है कि वह राज्य के उच्च न्यायालय की शक्ति को मर्यादित नही कर सकता। एस अवसर पर ससद भी राष्ट्रपति को उक्त राज्य क लिए कानून बनान का अधिकार प्रदान कर सकती है तथा लोकसभा क विराम काल म राष्ट्रपति उस राज्य म किय जान वाल व्यय के लिए स्वीकृति प्रदान कर सकता है।

उपयक्त विवचना म स्पष्ट है कि 356वा धारा को सघवाद (Federalism) के सिद्धान्त क आधार पर उचित नहा ठहराया जा सकता। यही नहा सकटकाल म राष्ट्रपति को अत्यधिक शक्तिया क सौंपे जान की व्यवस्था है जिन्ह लोकतन्त्र क लिए भी शुभ नहा कहा जा सकता। यहाँ ध्यान म रखन की बात यह भी है कि राष्ट्रपति राज्यो क गवनरो क माध्यम स वहाँ के विधानमण्डलो के सदस्यो म दल बदल को सगठित करके ऐसी स्थिति उत्पन्न कर सकत हैं जबकि वहाँ सावैधानिक शासन का परिचालन कठिन हो जाय। इसक अतिरिक्त भारत म सभी राजनीतिक दलो म सामान्यत गुटबन्दी पाई जाती है। कोई भी महत्त्वाकाक्षी राष्ट्रपति इस स्थिति का लाभ उठाकर राज्यो की स्वायत्तता को खतरे म डाल सकता है। वस्तुत राष्ट्रपति की इस शक्ति का कन्द्र म सत्तारूढ दल राज्यो म सत्तारूढ विरोधी दलो की सरकारो को पदच्युत करन क लिए भी प्रयोग म ला सकता है। 356वा धारा का अभी तक जितनी बार कार्यान्वयन हुआ है उसम एस अनक उदाहरण हैं जिनम उक्त कथन की पुष्टि होती है। इसका अभिप्राय यह कदापि नहा है कि इस काल म जितनी बार 356वा धारा को प्रयोग म लाया गया है वह अनुचित हुआ है। यथाथ म कुछ राज्यो म तो इसक अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प ही नहा था। उदाहरण क लिए 1967 म जब हरियाणा म राव वीरन्द्र सिंह क मन्त्रिमण्डल को पदच्युत करक वहाँ राष्ट्रपति शासन लागू किया गया तो उस समय एसा करना नितान्त परमावश्यक था ताकि दल-बदल क घातक रोग म लोकतन्त्र की रक्षा की जा सक।

भारतीय सविधान म राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति

भारतीय सविधान म राष्ट्रपति की स्थिति पर पयाप्त मात्रा म विवाद हो चुका है तथा उसका अभी तक अन्त नहा हुआ है। इस सम्बन्ध म सामान्यत दो प्रकार क दृष्टिकोण प्रस्तुत किय गय हैं। पहला दृष्टिकोण उन लोगो का है जिनका कहना है कि भारत न जानबूझकर *ससदीय पद्धति की सरकार को अपनाया है अत उसम राष्ट्रपति क लिए वास्तविक कायपालिका* का रूप धारण करन की कोई गुजाइश ही नहा है। इस मत को व्यक्त करन वालो म उल्लखनीय नाम सर्वश्री बसर सी एव एलन ग्लडहिल तथा डा सी एच अलक्जन्ड्रोविज, डा पायली, डा बासु, डा जैनिंग्स, ग्रैनविल ऑस्टिन एम सी सीतलवाड तथा मोहन कुमारमगलम् क नाम विशष रूप म उल्लखनीय हैं। दूसरा दृष्टिकोण उन लोगो न व्यक्त किया है जिनका कहना

है कि राष्ट्रपति के पास 'वास्तविक' शक्तियाँ है तथा वह उनका प्रयोग अपने विवेक के आधार पर कर सकता है। उदाहरण के लिए एलन ग्लैडहिल (Alan Gladhill) ने लिखा है कि 'राष्ट्रपति सविधान का उल्लघन किये बिना सत्तावादी सरकार की स्थापना कर सकता है।' इस प्रकार के० एम० मुन्शी ने राष्ट्रपति की शक्तियो का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उसकी कुछ शक्तियाँ मन्त्रिमण्डल के नियन्त्रण से परे (Supra-ministerial) है तथा उनके निष्पादन के लिए वह मन्त्रिमण्डल के परामर्श का सहारा नही ले सकता। मुन्शी ने अपने मत का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि सविधानकार राष्ट्रपति को ब्रिटिश राजा के सदृश नही बनाना चाहते थे। ब्रिटिश परम्परा मे राजा सदैव मन्त्रियो के परामर्श पर काम करता है, परन्तु सविधान मे इस प्रकार की व्यवस्था कही भी नही की गई। मुशी ने आगे कहा है कि राष्ट्रपति अपने पद की शपथ से बँधा हुआ है, शपथ मे कहा गया है कि वह निष्ठापूर्वक सविधान को कायम रखने तथा उसकी रक्षा करने के लिए राष्ट्रपति के पद से सम्बद्ध कार्यो का निष्पादन करेगा तथा वह देश की जनता के हितो की अभिवृद्धि करने के लिए उनकी सेवा मे अपनी शक्तियो का प्रयोग करेगा। इस आधार पर सविधान ने राष्ट्रपति को सविधान एव देश की जनता दोनो के ही सरक्षण का उत्तरदायित्व सौपा है। मुशी का तीसरा तर्क यह है कि राष्ट्रपति ससद का आत्मज नही है और न उसका मनोनयन केन्द्र मे स्थित सत्तारूढ दल के द्वारा होता है। इसके विपरीत वह समूचे राज्य का एक स्वतन्त्र अभिकरण है तथा उसे स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी शक्तियो को सचालित करने का अधिकार प्राप्त है। राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रक्रिया से स्पष्ट है कि राष्ट्रपति केवल नाममात्र का कार्यपालिका अधिकारी नही है, वह सघीय मन्त्रियो से भिन्न जो केवल ससद के बहुमत का प्रतिनिधित्व करते है, समूचे देश की जनता का प्रतिनिधित्व करता है। मुशी का यह भी तर्क है कि यदि राष्ट्रपति की शक्तियो को प्रधानमन्त्री को हस्तान्तरित कर दिया जायगा तो उससे भारतीय सविधान के सघात्मक स्वरूप का पूर्णरूप से हनन हो जायेगा।

यथार्थ मे मुशी के उपर्युक्त दृष्टिकोण से सहमत होना कठिन है। यदि इस सम्बन्ध मे सविधानकारो की इच्छा को जानने का प्रयास किया जाए, तो सविधान सभा मे इस प्रश्न पर हुई बहस के समय अनेक सदस्यो ने यह मत व्यक्त किया था कि भारत मे राष्ट्रपति को केवल औपचारिक शक्तियाँ प्रदान की गई है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सविधान सभा मे किसी भी सदस्य ने यह प्रस्ताव प्रस्तुत नही किया कि राष्ट्रपति को सत्ता का एक स्वतन्त्र अभिकरण होना चाहिए। सच बात तो यह है कि सभा के अधिकाश सदस्यो ने यह चिन्ता व्यक्त की थी सविधान की व्यवस्थाये कही उनकी इच्छाओं की पूर्णरूप से कार्यान्विति मे कही असफल तो नही होगी। अत यह स्पष्ट है कि सविधान सभा की बहस के आधार पर यह प्रमाणित नही होता कि भारत का राष्ट्रपति ब्रिटिश राजा के सदृश वास्तविक शक्ति से वचित नही है।

सविधान मे राष्ट्रपति की स्थिति को समझने के लिए एक ध्यान मे रखने योग्य बात यह है कि उसने मन्त्रिमण्डल को लोकसभा के प्रति उत्तरदायी बताया गया है। यह बताने की आवश्यकता नही कि लोकतान्त्रिक प्रणाली मे वास्तविक शक्ति उस अभिकरण को सोपी जाती है जिसको उत्तर-दायित्व सापा जाता है। अत ऐसी स्थिति मे राष्ट्रपति के लिए अपने स्वतन्त्र विवेक का प्रयोग करने की कोई गुजाइश ही नही है। यदि वह ऐसा करता है तथा मन्त्रिमण्डल के परामर्श की अवहेलना करता है तो मन्त्रिमण्डल त्यागपत्र दे सकता है। चूकि सदन मे वैकल्पिक सरकार की रचना की सम्भावनाये बहुत कम है, अत यह आवश्यक ही है कि लोकसभा भग कर दी जाए तथा दुबारा चुनाव कराये जाये। यदि नये निर्वाचन मे केबिनेट दुबारा पर्याप्त शक्ति से सत्तारूढ हो जाती है तो उस स्थिति मे राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया जाना सुनिश्चित है। यह सोचना गलत है कि राष्ट्रपति पर महाभियोग केवल सविधान के उल्लघन की स्थिति मे ही लगाया जा सकता है, तथा मन्त्रिमण्डल के परामर्श को स्वीकार न करना सविधान का उल्लघन नही है। वस्तुत सविधान का उल्लघन कोई सावैधानिक प्रश्न नही है, वह एक राजनीतिक प्रश्न है और उसका निर्णय किसी

यायालय के द्वारा नहीं होता अपितु संसद के दोनों सदनों द्वारा दो तिहाई बहुमत से होता है। यह निर्णय गलत हो सकता है, वह असंवैधानिक भी हो सकता है किन्तु यह बात निस्सन्देह है कि वह अन्तिम निर्णय है तथा उसे कहीं भी चुनौती नहीं दी जा सकती। अतः राष्ट्रपति को मनमानी करने से रोकने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि इसके लिए उचित सांविधानिक अभिसमय तथा राजनीतिक वातावरण विकसित किया जाए। अभी तक देश में चार राष्ट्रपति और तीन प्रधानमन्त्री रह चुके हैं। सामान्यतः सभी राष्ट्रपतियों ने सांविधानिक अध्यक्ष की हैसियत से काम करने का प्रयास किया है। यह ठीक है कि राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री के बीच बहुधा वैचारिक मतभेद पाये गए हैं किन्तु इन मतभेदों ने राष्ट्रपति को अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने की कभी प्रेरणा नहीं दी। देश में अभी तक जो सांविधानिक अभिसमय विकसित हुए हैं उनके अनुसार भी राष्ट्रपति की शक्तियाँ वास्तविक नहीं हैं। फिर भी उसे औपचारिक कार्यपालिका अथवा गौरवपूर्ण शून्य (magnificent cypher) की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती। उसके पद के साथ महान् प्रतिष्ठा जुड़ी हुई है और उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह देश के प्रशासन के संचालन को अपने प्रभाव से एक निश्चित दिशा प्रदान करेगा। यदि राष्ट्रपति आकर्षक व्यक्तित्व वाला व्यक्ति है तो उसका प्रभाव निश्चय ही प्रभावशाली होगा। यहाँ प्रभाव और शक्ति में अन्तर करने की आवश्यकता है। राष्ट्रपति का प्रभाव उसकी शक्ति का परिचायक नहीं है।

राष्ट्रपति का शासन पर प्रभाव किसी भी समय इस बात पर निर्भर करेगा कि उसके तथा प्रधानमन्त्री के बीच वैयक्तिक समीकरण (personal equation) कैसा है। राष्ट्रपति की शक्ति उसके चरित्र, ज्ञान, अनुभव एवं पद से सम्बद्ध प्रतिष्ठा में निहित है। जैसा उपर्युक्त विवेचना में स्पष्ट है वास्तविक कार्यपालिका शक्तियाँ प्रधानमन्त्री के हाथों में हैं परन्तु उसकी यथार्थ शक्ति भी इस बात पर निर्भर करती है कि वह संसद में अपने अनुयायियों को किस मात्रा में नियन्त्रित कर पाता है। यदि सत्तारूढ़ दल अथवा दलों में प्रधानमन्त्री की स्थिति बहुत मजबूत नहीं है, दल के सदस्यों में गुटबाजी है तथा कुछ लोग प्रधानमन्त्री को अपदस्थ करके स्वयं प्रधानमन्त्री बनने के इच्छुक हैं तो उस समय यह सम्भव है कि राष्ट्रपति के हाथों में वास्तविक सत्ता हस्तान्तरित हो जाए। निश्चय ही यह स्थिति संसदीय लोकतन्त्र के लिए शुभ नहीं है। यद्यपि संविधान में राष्ट्रपति के पद से सम्बद्ध अनुच्छेदों में वांछित स्पष्टता का अभाव है तथापि इस सम्बन्ध में संविधाननिर्माताओं की इच्छा स्पष्ट थी। स्वतन्त्र भारत में अभी तक जितने राष्ट्रपति हुए हैं उन्होंने इस इच्छा के अनुसार ही आचरण किया है। इसी परम्परा को आगे बढ़ाने की ओर उसे विकसित करने की आवश्यकता है।

2 उप राष्ट्रपति

भारत के उपराष्ट्रपति का निर्वाचन संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में होता है। इस निर्वाचन के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल संक्रमणीय मत प्रणाली काम में लाई जाती है। उप राष्ट्रपति का निर्वाचन राष्ट्रपति के निर्वाचन से इस अर्थ में भिन्न है कि उसमें राज्यों की विधानसभाओं के सदस्य भाग नहीं लेते।

योग्यताएँ एवं अवधि—उपराष्ट्रपति के पद के लिए जो व्यक्ति प्रत्याशी है उनके लिए अग्रलिखित योग्यताएँ आवश्यक मानी गई हैं—

(1) वह भारत का नागरिक हो,

(2) उसने 35 वर्ष की आयु पूरी कर ली हो,

(3) वह राज्य सभा का सदस्य बनने की योग्यता रखता हो, तथा

(4) वह भारत सरकार, किसी राज्य सरकार अथवा किसी स्थानीय सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर न हो।

जो व्यक्ति उपराष्ट्रपति के पद के लिए निर्वाचित हो चुका है वह संसद सदन के किसी

भी सदन का अथवा किसी भी राज्य विधानमण्डल का सदम्य नही रह सकता। अत यदि कोई ससद अथवा किसी राज्य विधानमण्डल का सदस्य उपराष्ट्रपति निर्वाचित हो जाता है तो उमके लिए व्यवस्थापिका की सदस्यता से त्यागपत्र देना आवश्यक है।

उपराष्ट्रपति पाँच वर्ष की अवधि के लिए चुना जाता है और इस अवधि मे या तो वह स्वय त्यागपत्र देकर अपने पद से हट सकता है, अथवा उसे राज्य सभा के कुल सदस्यो के पूर्ण बहुमत से पारित प्रस्ताव के द्वारा, जिसे लोकसभा भी स्वीकार कर ले, हटाया जा सकता है। इस प्रकार के प्रस्ताव के लिए यह आवश्यक है कि उसका नोटिस कम से कम 14 दिन पूर्व दिया जाए।

कार्य—सविधान ने उपराष्ट्रपति को कोई विशेष काम नही सौपे है, उसे केवल एक औपचारिक काम सोपा गया है, और वह है राज्य सभा की बैठको की ग्रध्यक्षता करना। राज्य सभा के अध्यक्ष की हैसियत से ही उसको 2250 रुपए प्रतिमाह वेतन मिलता है। इस दृष्टि से भारतीय उपराष्ट्रपति अमरीकी उपराष्ट्रपति के सदृश है। परन्तु दोनो की स्थिति मे एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। यदि सयुक्त राज्य अमरीका मे राष्ट्रपति का पद किसी कारण से रिक्त हो जाता है तो वहाँ उपराष्ट्रपति शेष अवधि के लिए राष्ट्रपति के पद का भार सम्भालता है। किन्तु यह व्यवस्था भारत मे नही पाई जाती। हमारे देश का उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के पद से सम्बद्ध कार्यो का सचालन केवल उस समय तक कर सकता है जब तक कि नये राष्ट्रपति का चुनाव नही हो जाता। कहते है कि सयुक्त राज्य अमरीका के एक भूतपूर्व उपराष्ट्रपति ने यह कहा था—'मै कुछ भी नही हूँ, परन्तु मै सब कुछ बन सकता हूँ।' भारत का उपराष्ट्रपति केवल एक लम्बी साँस लेकर यह कह सकता है—'मै कुछ भी नही हूँ। मै कुछ भी नही हो सकता।'

हरि मोहन जैन ने उपराष्ट्रपति के पद को भारत के लिए अनावश्यक बताया है। उनका कहना है कि सयुक्त राज्य अमरीका जैसी अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली मे इसका औचित्य हो सकता है, किन्तु भारत मे उसका कोई औचित्य नही है। अत उन्होने कहा है कि या तो इस पद का अन्त कर देना चाहिए और या उसका सुधार होना चाहिये। जैन ने यह सुझाव दिया है कि राष्ट्रपति के पद के रिक्त होने की स्थिति मे शेप अवधि के लिए उपराष्ट्रपति को राष्ट्रपति बनाने की व्यवस्था सविधान मे की जानी चाहिए। जैन का यह भी सुझाव है कि उपराष्ट्रपति के लिए भी चुनाव की वही पद्धति अपनायी जानी चाहिए जो राष्ट्रपति के निर्वाचन मे प्रयोग मे लायी जाती है।

3 प्रधानमन्त्री एव मन्त्रि-परिषद्

जैसा कहा जा चुका है राष्ट्रपति कार्यपालिका का साविधानिक अध्यक्ष है, अत वास्तविक कार्यपालिका शक्तियाँ मन्त्रि-परिषद् मे निवास करती है। सत्य यह है कि मन्त्रि-परिषद् ही उन समस्त शक्तियो का निष्पादन करता है जिन्हे सैद्धान्तिक रूप से राष्ट्रपति मे निहित माना गया है। यहाँ 'मन्त्रि-परिषद्' एव 'केबिनेट' के बीच भेद करने की आवश्यकता है। सविधान मे केवल 'मन्त्रि-परिषद्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'केबिनेट' एक अनौपचारिक सस्था है और उसमे सभी मन्त्री शामिल नही माने जाते। वस्तुत वह मन्त्रि-परिषद् का ही एक भाग है, दूसरे शब्दो मे वह चक्र के भीतर एक चक्र है। मन्त्रि-परिषद् मे तीन कनिष्ठ मन्त्री भी सम्मिलित है जिन्हे राज्य-मन्त्री तथा उप-मन्त्री के नामो से पुकारा जाता है। ये मन्त्री केबिनेट स्तर के नही होते, अत मन्त्रि-परिषद् की नीति के निर्माण मे इनका कोई विशेष योगदान नही होता। इनके अतिरिक्त कुछ ससदीय सचिव (Parliamentary Secretaries) भी होते है जिनकी नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा नहीं होती अपितु जिन्हे प्रधानमन्त्री नियुक्त करता है। अत स्पष्ट है कि इन मन्त्रियो मे सबसे ऊँची श्रेणी केबिनेट मन्त्रियो की होती है। केबिनेट मे दल के वरिष्ठ सदस्यो को स्थान दिया जाता है, सरकार की नीतियो का निर्धारण उन्ही के द्वारा होता है। केबिनेट के सदस्यो की सख्या निश्चित नहीं है, परन्तु वह अभी तक 19 से ऊपर नही गयी है।

सविधान की 75 (1)वी धारा म मन्त्रि परिषद् की रचना के लिए निम्न प्रक्रिया का उल्लेख हुआ है— प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा होगी तथा अन्य मन्त्री प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर राष्ट्रपति के द्वारा नियुक्त किये जायगे। प्रधानमन्त्री की नियुक्ति म राष्ट्रपति के लिए अपने विवेक का प्रयोग करने की सामान्यत कोई गुजाइश नही है वह लोकसभा म बहुमत वाले दल के नेता को इस पद के लिए चयन करने को बाध्य है। परन्तु यदि लोकसभा म किसी दल का स्पष्ट बहुमत प्राप्त नही है तो उस समय राष्ट्रपति को चयन करने की कुछ छूट प्राप्त हो जाती है। प्रधानमन्त्री के चुन जाने के उपरान्त राष्ट्रपति मन्त्रियो की उस टीम को स्वीकार कर लेता है जिसकी उसस प्रधानमन्त्री के द्वारा सिफारिश की जाती है। यदि किसी ऐसे व्यक्ति को मन्त्री के पद पर नियुक्त किया गया है जो ससद के किसी भी सदन का सदस्य नही है तो उसके लिए 6 महीने के भीतर ससद म अपने लिए कोई स्थान प्राप्त कर लेना आवश्यक है यदि वह ऐसा नही कर पाता तो उस मन्त्री के पद से त्याग-पत्र देना होता है। यहाँ एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि सामान्यत प्रधानमन्त्री के लिए लोकसभा का सदस्य होना आवश्यक माना गया है। अभी तक जो तीन प्रधानमन्त्री हुए है व अभी तक लोकसभा के सदस्य रहे है केवल श्रीमती गाधी आरम्भ म राज्य सभा की सदस्या थी।

सविधान प्रधानमन्त्री को अपने मन्त्रि परिषद् के सदस्यो को चुनने की पूरी छूट देता है वही यह निश्चित करता है कि मन्त्रियो की सख्या कितनी होगी किसको मन्त्री नियुक्त किया जायगा *तथा किस मन्त्री को कौनसा विभाग सौपा जायगा।* मन्त्रि परिषद् म अपने सहयोगियो को चुनते समय प्रधानमन्त्री को बहुत सी बातें ध्यान म रखनी होती हैं। सर्वप्रथम उसके लिए यह आवश्यक है कि वह मन्त्रियो का चयन ससद के दोनो सदनो म से करे। यद्यपि अधिकाश मन्त्रियो की नियुक्ति लोकसभा म से ही होती है तथापि इस मामले म राज्य सभा की उपेक्षा नही की जा सकती। प्रधानमन्त्री अपने सहयोगियो का चयन करते समय इस बात की भी अवहेलना नही कर सकता कि उसकी मन्त्रि-परिषद् म देश के प्रत्येक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व हो सके। प्रधानमन्त्री को अपनी मन्त्रि परिषद् की रचना करते समय इस बात को भी ध्यान म रखना होता है कि उसम मुसलमान और सिख जैसे धार्मिक अल्पसख्यको को प्रतिनिधित्व मिल सके। साधारणत प्रधानमन्त्री का यह प्रयास होता है कि दल के प्रभावशाली सदस्यो को विरोधी न बनाया जाय। ऐसा उस समय विशेष रूप म आवश्यक है जबकि प्रधानमन्त्री स्वय बहुत अधिक प्रभावशाली नही है। जवाहरलाल नेहरू जैसे शक्तिशाली प्रधानमन्त्री तक को सरदार पटेल को अपने मन्त्रिमण्डल म महत्त्वपूर्ण स्थान देने के लिए बाध्य होना पडा था जबकि यह बात सर्वविदित है कि दोनो के बीच वैचारिक साम्य बहुत कम था। 1969 म इन्दिरा गाधी ने जब मोरारजी देसाई को वित्त मन्त्रालय से मुक्त किया तो काग्रेस म फूट पड गयी। *सामान्यत प्रधानमन्त्री का यह उत्तरदायित्व है कि वह दल म फूट न पडने दे।*

भारत म प्रधानमन्त्री की शक्तियो का विकास

सामान्यत मन्त्रि परिषद् म भारतीय प्रधानमन्त्री की स्थिति वैसी ही है जैसी कि ब्रिटेन म वहाँ के प्रधानमन्त्री की है। यदि ब्रिटिश प्रधानमन्त्री को कैबिनेट रूपी महराब का मुख्य पत्थर कहा गया है तो यह शब्दावली भारतीय प्रधानमन्त्री के लिए भी प्रयुक्त की जा सकती है। वस्तुत ससार म जिन देशो म ससदीय लोकतन्त्र पाया जाता है उनम सब प्रधानमन्त्री की शक्तियो म निरन्तर विकास हुआ है। भारत म भी इस नियम का अपवाद नही है। यहाँ भी ब्रिटेन की भाँति प्रधानमन्त्री की शक्ति का क्रमिक विकास हुआ है।

1950 म सविधान की क्रियान्विति के बाद स मई 1964 म अपनी मृत्यु के समय तक जवाहरलाल नेहरू देश के प्रधानमन्त्री थे। उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण यह स्वाभाविक ही था कि उनके समय म प्रधानमन्त्री के नेतृत्व म कैबिनेट समिति के ऊपर हावी

रहती। नेहरू जी के प्रधानमन्त्रित्व काल के आरम्भिक दिनो मे राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्य नेता भी भारत के राजनीतिक रगमच पर उपस्थित थे। इन नेताओ मे सरदार पटेल, मौलाना आजाद और गोविन्दवल्लभ पन्त के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। स्पष्टत स्वाधीनता सग्राम के इन वरिष्ठ नेताओ की उपेक्षा नही की जा सकती थी। इसलिए सविधान के व्यवहार मे आने के बाद यदि नेहरू जी देश के प्रधानमन्त्री बने तो उन्हे सरदार पटेल को उप-प्रधानमन्त्री बनाने के लिए विवश होना पडा, यद्यपि दोनो के बीच मे वैचारिक साम्य न के बराबर था। पटेल के देहान्त के उपरान्त उप-प्रधानमन्त्री का पद समाप्त कर दिया गया। अत कहा जा सकता है कि सरदार पटेल के निधन के बाद ही भारत मे प्रधानमन्त्री के पद के महत्त्व मे वृद्धि हुई है। इसका अर्थ यह कदापि नही है कि सरदार पटेल के जीवन काल मे प्रधानमन्त्री के पद का महत्त्व ही नही था, महत्त्व तो था, किन्तु यह महत्त्व 'समान व्यक्तियो मे प्रथम' से कुछ ही अधिक था। बाद मे नेहरू जी का अपने मन्त्रिमण्डल पर पूर्ण नियन्त्रण था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे नेहरू जी की अपने मन्त्रिमण्डल मे स्थिति 'छोटे नक्षत्रो के बीच चाँद' की थी।

नेहरू जी के निधन के बाद 1971 के मध्यावधि चुनावो तक प्रधानमन्त्री की स्थिति 'समान लोगो मे प्रथम' (First among the equals) से अधिक की नही थी। परन्तु 1971 के चुनावो के परिणामस्वरूप प्रधानमन्त्री के नेतृत्व मे निखार आया है और अब वह निस्सन्देह अपने मन्त्रिमण्डल पर पूर्ण रूप से हावी है।

साधारणतया भारत जैसी कार्यपालिका को ससदीय कार्यपालिका की सज्ञा प्रदान की जाती है। जैसा कहा जा चुका है ससदीय कार्यपालिका उस कार्यपालिका को कहते है जिसकी रचना और जिसका विघटन ससद भवन मे हो। परन्तु यह केवल सैद्धान्तिक बात है और यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसका राजनीतिक यथार्थ मे कोई सम्बन्ध नही है। आज लोकसभा मे जो बहुमत प्राप्त है उसको देखते हुए इस बात की कल्पना भी नही हो सकती कि वर्तमान केबिनेट को कभी ससद के द्वारा पदच्युत भी किया जा सकता है। अत आज के सन्दर्भ मे यदि यह कहा जाय कि 'ससदीय कार्यपालिका' शब्दावली सार्थक नही है, तो अतिशयोक्ति नही होगी। आधुनिक काल मे प्रधानमन्त्री की शक्तियो का विकास हुआ है तथा जिस अनुपात मे प्रधानमन्त्री की शक्तियो मे वृद्धि हुई है, उसी अनुपात मे ससद एव केबिनेट की शक्तियो का पराभव हुआ है। ऐसी स्थिति मे यदि आधुनिक कार्यपालिका को 'प्रधानमन्त्रीय प्रणाली की सरकार' घोषित किया जाय तो वह अनुपयुक्त नही होगा।

कुछ लोगो ने प्रधानमन्त्री की इस बढती हुई प्रतिष्ठा को देश मे लोकतन्त्र के विकास के लिए अशुभ बताया है। इस प्रकार के दृष्टिकोण को मानने वालो का कहना है कि भारत मे राजनीतिक सत्ता पर केवल एक राजनीतिक दल का एकाधिकार है और उस दल मे समूची शक्तिया एक व्यक्ति यानी प्रधानमन्त्री मे केन्द्रित है। इस प्रकार की परिस्थितियाँ लोकतान्त्रिक प्रवृत्तियो को बढावा देने के स्थान पर अधिनायकवादी प्रवृत्तियो को बढावा देगी। भारतीय प्रधानमन्त्री के विरुद्ध इस प्रकार का कोई आरोप नही लगाया जा सकता। वस्तुत यह स्वाभाविक बात है कि विकासशील देशो मे इस प्रकार के नेतृत्व का उदय हो जो अपने यहाँ की जनता को मन्त्रमुग्ध रख सके। देश तीव्र गति के साथ विकास के पथ पर अग्रसर होना चाहता है, प्रधानमन्त्री ने जनता को यह आश्वासन दिया है कि वह देश को शीघ्रातिशीघ्र विकसित करेगी और वे देश मे एक न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करेगी। यदि सरकार इन आश्वासनो को पूरा करने मे सफल नही होती तो जिस जनता ने उसे अपना समर्थन दिया है, उसे पदच्युत भी कर सकती है। इसलिए प्रधानमन्त्री की आधुनिक स्थिति मे अधिनायकवादी प्रवृत्तियो को खोजना बुद्धिसगत नही है।

भारतीय केबिनेट की कुछ मुख्य विशेषताये

1 यद्यपि भारत मे कार्यपालिका का सगठन ब्रिटेन के ढाचे पर आधारित है तथापि उनकी

कुछ अपनी विशेषताएं रही हैं जिनका यहां उल्लेख करना आवश्यक है

(1) भारतीय केबिनेट की रचना पूर्णत दलगत राजनीति के आधार पर नहीं होती—भारत के स्वाधीन होने के बाद से ही यहां मन्त्रिमण्डल की रचना करते समय इस बात को ध्यान में रखा गया है कि उसमें प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों का स्थान दिया जाय। अत यदि कांग्रेस दल में वांछित व्यक्तियों का अभाव था तो प्रधानमन्त्रियों को दल के बाहर से ऐसे व्यक्तियों को छांटने में कभी संकोच नहीं हुआ। *स्वाधीनता के आरम्भिक दिनों में मन्त्रिमण्डल वास्तव में एक मिला जुला मन्त्रिमण्डल था।* केबिनेट के 14 सदस्यों में से 5 गैर-कांग्रेसी थे। उनके नाम हैं—सरदार बलदेव सिंह (अकाली) डा जान मथाई (भारतीय ईसाई) डा अम्बेडकर (शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन) डा श्यामा प्रसाद मुखर्जी (हिन्दू महासभा) तथा सी एच भाभा (पारसी)। 1963 में डा के एल राव को सिंचाई मन्त्री के पद पर नियुक्त किया गया डा राव कभी भी किसी राजनीतिक दल के सदस्य नहीं रहे थे। इससे पूर्व वे चीफ इंजीनियर के पद पर काम कर रहे थे तथा बांधों (Dams) के निर्माण के सम्बन्ध में उन्होंने समूचे देश में ख्याति अर्जित की थी। 1967 में इसी प्रकार डा त्रिगुण सेन तथा डा करन सिंह को मन्त्रिमण्डल में जगह दी गई थी ये दोनों इससे पूर्व कभी भी कांग्रेस के सदस्य नहीं रहे। वर्तमान मन्त्रिमण्डल में प्रोफेसर नूरुल हसन की नियुक्ति को भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत रखा जा सकता है। यह सही है कि इस प्रकार के मन्त्रियों की संख्या हमेशा कम रही है परन्तु इसके साथ में यह भी सही है कि प्रत्येक मन्त्रिमण्डल में इस प्रकार के कुछ मन्त्री अवश्य रहे हैं।

(2) यद्यपि भारतीय केबिनेट की रचना दलगत आधार पर नहीं होती तथापि उसमें एकरूपता का अभाव नहीं है—यहां यह स्वीकार करने की आवश्यकता है कि मन्त्रिमण्डल में गैर कांग्रेसियों की उपस्थिति के बावजूद भी उसकी एकता तथा सामूहिक उत्तरदायित्व के ऊपर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा है। केबिनेट सरकार का यह एक आवश्यक सिद्धान्त है कि उसके सदस्य सरकार की नीतियों का समर्थन करें चाहे उनके सम्बन्ध में उनका निजी मत कुछ भी क्यों न हो तथा यदि उनके लिए उन नीतियों का समर्थन करना सम्भव नहीं है तो उन्हें मन्त्रिमण्डल से त्याग-पत्र दे देना चाहिए। संघीय मन्त्रिमण्डल के सदस्यों ने सामान्यत इस सिद्धान्त का पालन किया है यद्यपि कभी-कभी इसका उल्लंघन भी हुआ है। परन्तु अधिकांश रूप से केबिनेट ने एक टीम के रूप में काम किया है। मथाई नियोगी श्यामाप्रसाद मुखर्जी षणमुखम गिरि त्यागी छागला और अशोक मेहता के त्याग-पत्रों में इस कथन की पुष्टि होती है।

(3) मन्त्रिमण्डलों में विशेषज्ञों को हमेशा स्थान दिया गया है—तकनीकी क्षेत्रों में सम्बद्ध मन्त्रालयों का कार्यभार आम तौर पर उस क्षेत्र के विशेषज्ञ को सौंपने की प्रथा हमारे देश में रही है। के एल राव (एक इंजीनियर) को सिंचाई मन्त्रालय का उत्तरदायित्व सौंपा गया है। कानून मन्त्रालय का भार हमेशा से किसी विधिवेत्ता को ही दिया गया है। आरम्भ में डा अम्बेडकर कानून मन्त्री थे कालान्तर में अशोक सेन गोपाल स्वरूप पाठक गोविन्द मेनन तथा एच आर गोखले को कानून मन्त्री के पद पर नियुक्त किया गया। बताने की आवश्यकता नहीं कि इन सभी की गणना देश के चोटी के प्रतिष्ठित विधिवेत्ताओं में की जाती है। प्रारम्भ में वित्त मन्त्रालय का सम्बन्ध भी ख्याति प्राप्त अर्थशास्त्रियों के साथ रहा है। उदाहरण के लिए जान मथाई और षणमुखम चेट्टी बैंकिंग और फाइनेन्स के क्षेत्र में ख्याति अर्जित कर चुके थे। इसी प्रकार प्रसिद्धि भी एक रूढ़िवादी अर्थशास्त्री के रूप में रही है। यह कहना अनुचित न होगा कि इन्दिरा गांधी द्वारा वित्त मन्त्रालय को अपने हाथों में लेने से पूर्व जितने भी वित्त मन्त्री हुए थे वे सब अपने मन्त्रालय से सम्बद्ध विषय के विशेषज्ञ थे।

(4) मन्त्रिमण्डल में राज्य सत्ता को समुचित प्रतिनिधित्व दिया गया है—संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि मन्त्रियों की संख्या के सम्बन्ध में बोलना सम्भव न है किसी एक के साथ आर्थ होना चाहिए। किन्तु मन्त्रालयों की नियुक्ति के समय किसी भी तरह का सम्बन्ध नहीं ना

उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने लिए 6 महीने के भीतर ससद के किसी भी सदन मे सीट तलाश कर ले अन्यथा उसे मन्त्री पद से त्याग-पत्र देना होता है। सविधान मे कही दोनो सदनो मे से लिये जाने वाले मन्त्रियो की सख्या निर्धारित नही की गई, यथार्थ मे यह काम प्रधानमन्त्री के लिए छोड दिया गया है, इस सम्बन्ध मे भारत मे कोई निश्चित अभिसमय भी नही है। फलत दोनो सदनो मे से नियुक्त होने वाले मन्त्रियो की सख्या हमेशा वढती-घटती रही है। 1966 मे लालवहादुर शास्त्री के निधन के उपरान्त तो प्रधानमन्त्री की नियुक्ति भी राज्य सभा के सदस्यो मे से हुई।

उपर्युक्त विवरण से यह नही समझा जाना चाहिए कि भारतीय मन्त्री जनता से दूर रह कर सरकारी पदो पर वने रहना चाहते है। वस्तुत राज्य सभा मे से लिये गये मन्त्रियो ने लोकसभा के लिए चुनाव लडा है और यदि चुनाव मे उन्हे सफलता नही मिली तो उन्होने अपने मन्त्री पद से भी त्याग-पत्र दे दिया है। हाफिज मौहम्मद इब्राहीम केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के सदस्य थे तथा उन्हे राज्य सभा मे से नियुक्त किया गया था। परन्तु जव वे अमरोहा मे हुए लोकसभा के उपचुनाव मे पराजित हो गये तो उन्होने केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया। इस प्रकार यह कहा जा सकता हे कि केविनेट की रचना के सम्वन्ध मे भारत ने उच्च लोकतान्त्रिक परम्पराओ का परिचय दिया है।

(5) **आन्तरिक केबिनेट**—ब्रिटेन की ही भाँति भारत मे भी केविनेट के भीतर केविनेट पद्धति का विकास हुआ हे। वस्तुत यह कोई नयी वात नही है। 1947 मे जव स्वाधीन भारत का पहला मन्त्रिमण्डल वना था, उस समय समस्त महत्त्वपूर्ण निर्णय नेहरू और पटेल के द्वारा लिये जाते थे। फलत इन दो व्यक्तियो को कुछ लोगो ने 'सुपर केविनेट' की सज्ञा प्रदान की थी। पटेल की मृत्यु के उपरान्त नेहरू अपनी केविनेट के वरिष्ठ सदस्यो से परामर्श लेते थे, यथार्थ मे उन्ही की सलाह से महत्त्वपूर्ण फैसले लिये जाते थे। आरम्भ मे इन सदस्यो मे आजाद, आयगर, किदवई और देशमुख की गणना होती थी। 1958 मे कृष्णमाचारी ने त्यागपत्र दे दिया और इसी वर्ष मौलाना का देहान्त हो गया। पन्त जी की 1960 मे मृत्यु हो गई। इस बीच में शास्त्री जी का कुशल गृह-मन्त्री तथा प्रधानमन्त्री के सहायक के रूप मे उदय हुआ। कृष्ण मेनन का पर-राष्ट्र विषयक मामलो मे सबसे अधिक प्रभाव था। अत इस काल की आन्तरिक केविनेट मे प्रधानमन्त्री के अतिरिक्त शास्त्री, नन्दा और मेनन शामिल थे।

1964 मे जव शास्त्री जी प्रधानमन्त्री वने तो उन्होने भी नेहरू जी द्वारा स्थापित आन्तरिक केविनेट की प्रणाली को जीवित रखा। वस्तुत उस काल मे प्रधानमन्त्री की स्थिति वरावर वालो मे पहले नम्वर के व्यक्ति की थी। परन्तु इसके वावजूद भी केविनेट के कुछ सदस्य अन्य सदस्यो की अपेक्षा प्रधानमन्त्री के अधिक निकट थे। इनमे स्वर्ण सिह, नन्दा, कृष्णमाचारी, चव्हाण और पाटिल के नाम लिये जा सकते हे। शास्त्री जी के समय मे इन्ही मन्त्रियो के द्वारा आन्तरिक केविनेट की रचना हुई थी।

1966 मे श्रीमती गाधी प्रधानमन्त्री वनी। आरम्भ मे चव्हाण, अशोक मेहता, सुब्रह्मण्यम और दिनेशसिह उनके मुख्य सलाहकार थे। 1969 मे काग्रेस की फूट के समय जगजीवन राम और फखरुद्दीन अली अहमद प्रधानमन्त्री के मुख्य सलाहकार थे।

(6) **प्रधानमन्त्री की सर्वोच्चता**—केविनेट प्रणाली की सरकार प्रधानमन्त्री सर्वोच्चता के सिद्धान्त पर आधारित हे। प्रधानमन्त्री ससदीय दल का निर्वाचित नेता हे। दल की नीतियो तथा कार्यक्रमो को कार्यान्वित करने मे उसकी भूमिका सबसे अधिक प्रमुख है। अत यह स्वाभाविक ही है कि मन्त्रिमण्डल मे अपने सहयोगियो का चयन करने मे उसका हाथ सबसे अधिक हो। यथार्थ मे मन्त्री अपने पदो पर केवल उसी समय तक वने रह सकते ह जब तक कि उन्हे प्रधानमन्त्री का विश्वास प्राप्त है। इसी प्रकार जव नवम्वर 1966 मे गुलजारीलाल नन्दा ने मन्त्रिमण्डल

नीतियो का अनुसरण किया है, वे यथार्थ मे सरकार की नीतियाँ है।' परन्तु एक दूसरे अवसर पर स्वय नेहरू जी इस वात को भूल गये कि सरकार की नीतियो की असफलता के लिए किसी एक मन्त्री को उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता, उसके लिए यदि किसी एक मन्त्री को उत्तरदायी ठहराना है तो वह मन्त्री केवल प्रधानमन्त्री हो सकता है। 1962 मे चीन के विरुद्ध लडे गये युद्ध मे असफलता के लिए विरोधी दलो के सदस्यो ने कृष्णा मेनन को उत्तरदायी घोषित किया। यह सही है कि नेहरू जी ने ससद और जनता को यह समझाने का प्रयत्न किया कि उत्तरी सीमान्तो पर जो कुछ भी हुआ है उसके लिए मेनन को उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता। नेहरू जी जानते थे कि मेनन के विरुद्ध किये जाने वाले प्रचार के मूल मे निहित स्वार्थो का हाथ था, जो प्रतिरक्षा उत्पादन के क्षेत्र मे मेनन की समाजवादी नीतियो से असन्तुष्ट थे। परन्तु इसके बावजूद भी नेहरू जी मेनन की विरोधी दलो की आलोचनाओ से रक्षा करने मे असमर्थ रहे। निस्सन्देह मन्त्रि-परिषद् से मेनन का त्यागपत्र सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का उल्लघन था।

नवम्बर 1966 मे जब नन्दा ने गृह-मन्त्री के पद से त्यागपत्र दिया तो उन्होने भी इसी प्रकार की शिकायत की। इस अवसर पर प्रधानमन्त्री को लिखे गये एक पत्र मे उन्होने लिखा था—'नीति-सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण विषयो पर आप से तथा केविनेट के अन्य सहयोगियो से अच्छी प्रकार परामर्श लिया गया। इन नीतियो की कमियो और दोपो के लिए तथा उनकी कार्यान्विति के तरीको मे हुई गलतियो के लिए मुझे उत्तरदायी ठहराना झूठे अभियोग के अतिरिक्त ओर कुछ नही हे।' उन्होने इस बात से इनकार किया कि जो कुछ हुआ हे उसके लिए वे उत्तरदायी हे। इसी पत्र मे उन्होने प्रधानमन्त्री से पूछा कि 'क्या अवास्तविकता की राजनीति इससे आगे भी कही जा सकती है?'

सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के उल्लघन के ऐसे अनेक उदाहरण है। स्पप्ट है कि सरकार के मन्त्रियो ने भी अनेक अवसरो पर सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का उल्लघन किया हे। निस्सन्देह इस स्थिति को केविनेट प्रणाली के लिए शुभ नही कहा जा सकता।

प्रश्न

1 भारत मे राष्ट्रपति का चुनाव किस प्रकार होता है? इस निर्वाचन मे सानुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का क्या महत्त्व ह?
2 भारत के सविधान मे राष्ट्रपति की स्थिति की विवेचना कीजिये।
3 राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियो पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये।
4 'प्रधानमत्री केविनेट-रूपी मेहराव की आधारशिला है'—भारतीय प्रधानमत्री के सदभ मे इस कथन की समीक्षा कीजिये।
5 भारतीय केविनेट प्रणाली की प्रमुख विशेपतायें वताइये।

लिये छोड दे । भारतीय सविधान मे इस सबकी इस रूप मे व्यवस्था नही की गई है । परन्तु इसमे कोई सन्देह नही है कि सविधान मे इस सम्बन्ध मे जो भी प्राविधान पाये जाते हे उनका अभिप्राय इसी बात के साथ है । 52वे अनुच्छेद मे लिखा है कि कार्यपालिका शक्तिया राष्ट्रपति मे निवास करेगी, 74वी धारा के अन्तर्गत राष्ट्रपति की सहायता एव परामर्श के लिए प्रधानमन्त्री के नेतृत्व मे एक मन्त्रि-परिषद् की व्यवस्था की गई है, 75वे अनुच्छेद मे मन्त्रि-परिषद् को लोकसभा के प्रति उत्तरदायी बताया गया हे । वास्तव मे कार्यपालिका का चयन तथा उसको नियन्त्रित करने का काम ससद को इसी 75वी धारा के अन्तर्गत सौपा गया है ।

ससद का दूसरा काम देश के लिए कानूनो की रचना करना है । ससद का अधिकाश समय इसी काम को सम्पादित करने मे लगता है ।

ससद का तीसरा काम राष्ट्र की थैली को नियन्त्रित करना हे । दूसरे शब्दो मे इसका अर्थ है कि करो का आरोपण एव सग्रह ससद की अनुमति से ही हो सकता है (अनुच्छेद 265) तथा ससद ही सघ सरकार द्वारा व्यय की जाने वाली धनराशि की स्वीकृति दे सकती है (अनुच्छेद 113 और 114) ।

ससद का चौथा काम हे प्रशासन के कार्यो की जाँच करना तथा प्रशासन को नियन्त्रित करना । वह समूचे प्रशासन की देखरेख करती है, वह मन्त्रियो से प्रशासन के सम्बन्ध मे प्रश्न पूछती है तथा प्रशासकीय नीतियो के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श करती है । अत यदि यह कहा जाये कि समूची ससदीय प्रक्रिया एक प्रकार से सरकार एव प्रशासन को नियन्त्रित करने का एक साधन हे तो यह अनुचित न होगा ।

ससद का पाचवाँ काम आवश्यकता पडने पर सविधान सभा की भूमिका अदा करना है । सविधान के 368वे अनुच्छेद मे लिखा है कि एक विशेष प्रक्रिया के द्वारा ससद सविधान मे आवश्यक सशोधन कर सकती है ।

ससद का छठा काम राष्ट्रपति एव उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन मे निर्वाचक-मण्डल की हैसियत से काम करना है [अनुच्छेद 54 और अनुच्छेद 66 (1)] ।

ससद का सातवाँ और अन्तिम काम आवश्यकता पडने पर न्यायालय की भूमिका निष्पादित करना हे । सविधान के अनुसार राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने का अधिकार ससद को ही प्राप्त ह । इसी प्रकार वह एक प्रस्ताव के द्वारा अथवा एक विशेष प्रक्रिया के द्वारा उप-राष्ट्रपति को (धारा 67), लोकसभा स्पीकर तथा डिप्टी स्पीकर को [धारा 94 (6)], सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को [धारा 124 (4)] और महालेखा निदेशक को (धारा 148) पदच्युत कर सकती है । आवश्यकता पडने पर उसे सदन का अपमान करने पर किसी को भी दण्ड देने का अधिकार है ।

उपर्युक्त विवेचना का यह अभिप्राय कदापि नही है कि ससद उक्त सभी कार्यो का सम्पादन स्वय प्रत्यक्ष रूप से करती है । वस्तुत केबिनेट प्रणाली की सरकार मे यह सम्भव भी नही है । इसलिए सामान्य रूप से वे काम जो ससद मे अधिकार-क्षेत्र मे आते ह, उनका निष्पादन यथार्थ मे केबिनेट के द्वारा होता हे । उदाहरण के लिये नीतियो को निर्धारित करने का काम लिया जा सकता हे । सैद्धान्तिक रूप से इसका सम्बन्ध ससद के अधिकार-क्षेत्र से ह । परन्तु आधुनिक युग मे यह काम इतना जटिल हो गया है कि उसको सम्पादित करने के लिये हमे विशेष योग्यता-प्राप्त व्यक्तियो की आवश्यकता होती हे । स्पष्टत ससद की रचना ऐसे व्यक्तियो के द्वारा नही होती । ऐसी स्थिति मे यदि यह काम ससद के हाथो से निकल कर केबिनेट के हाथो मे चला गया तो इसमे आश्चर्य की बात ही क्या ह ? कुछ वर्ष पूर्व ब्रिटेन मे सर एडवर्ड फेलोज (Sir Edward Fellows) की अध्यक्षता मे प्रोफेसरो तथा ससद के दोनो सदनो के अधिकारियो के एक अध्ययन मण्डल ने इस समस्या का अध्ययन किया था और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि ससदीय नियन्त्रण का अर्थ ह 'प्रभाव न कि प्रत्यक्ष रूप से शक्ति, आलोचना न कि अडगा डालना, परामर्श न कि आदेश, जाच न कि पहल, विज्ञापन न कि गोपनीयता ।' केबिनेट प्रणाली

क अन्तगत ममद की स्थिति को इनम अधिक प्रभावशाली शब्दों म व्यक्त नहीं किया जा मकता।

ससद का रचना ✓

सविधान क अतगत सघीय व्यवस्थापिका को ससद की मज्ञा प्रदान की गई है। भारतीय ससद का सगठन द्विसदनवाद क सिद्धात क आधार पर हुआ है। फलत उसम दो सदन है राज्य सभा और लोकसभा। सविधान म यह व्यवस्था की गई है कि ससद क दोनो सदनो की वप म कम स कम दो बार अवश्य बठक होनी चाहिय तथा दो बठको क बीच म 6 महीन म अधिक का समय नहीं बीतना चाहिये। इस प्राविधान की सीमा क अन्तगत राष्ट्रपति को यह अधिकार ह कि वह (1) ससद क किसी भी सदन का अधिवशन बुलाय (2) किसी भी सदन का सत्रावसान कर तथा आवश्यकता पडन पर (3) लोकसभा का विघटन करे। भारतीय ससद क सम्बन्ध म एक उल्लखनीय यह बात ह कि ब्रिटिश ससद की भाँति वह प्रभुसत्ता सम्पन्न निकाय नहीं ह। उस शक्तियाँ तो बहुत मिली है परन्तु व शक्तिया असीमित नहीं ह। वस्तुत भारत जस सघात्मक राज्य म एसा होना स्वाभाविक भी था क्योकि सवप्रथम ससद को कवल सघ सूची और समवर्ती सूची म उल्लिखित विषयो पर ही कानून बनान का अधिकार ह और द्वितीय इन कानूनो को बनान की उसकी शक्ति भी असीमित नहीं है उसक द्वारा पारित कानूनो को राष्टपति पुनर्विचार क लिय वीटो कर सकता है तथा उन कानूनो को सर्वोच्च न्यायालय अवध घोषित कर सकता है।

1 राज्य सभा का सगठन ✓

ससद क उच्च सदन को राज्य सभा का नाम दिया गया है। जसा कि उसक नाम स ही स्पष्ट है राज्य सभा की रचना भारतीय सघ की इकाइयो क प्रतिनिधियो क द्वारा होती है। इस दृष्टि म यह कहा जा सकता है कि राज्य सभा का सगठन सघीय सिद्धान्त क आधार पर हुआ है। परन्तु अन्य सघो की भाँति राज्य सभा की रचना म प्रत्यक इकाई को समान प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है। सविधान की 250वी धारा म लिखा है कि राज्य सभा की अधिकतम सदस्य-सख्या 250 हो सकती है। आजकल इसक 238 सदस्य है जिनम 12 सदस्य राष्ट्रपति क द्वारा मनोनीत किय जात हैं। इन सदस्यो का मनोनयन करत समय यह बात ध्यान म रखना आवश्यक है कि उन्होन साहित्य कला विज्ञान तथा समाज-सवा क क्षत्रो म कोई विशष योगदान दिया हो। शष 226 सदस्य राज्यो तथा सघ शासित प्रदशो क प्रतिनिधि होत है। वतमान समय म इन 226 स्थानो का विभिन्न इकाइयो क बीच अग्रलिखित प्रकार स बटवारा हुआ है

आ प्र प्रदश	18	म राष्ट्र	19	जम्मू और कश्मीर	4
असम	7	मसूर	1	नागालड	1
बिहार	2	उडीसा	10	हरियाणा	3
गुजरात	11	पजाब	11	हिमाचल प्र श	2
करल	9	राजस्थान	10	मणिपुर	1
मध्य प्र श	16	उत्तर प्रदश	34	त्रिपुरा	1
तमिलनाडु	18	पश्चिमी बगाल	16	पाडिचरी	1

राज्य सभा की सदस्यता क प्रत्याशी क लिय यह आवश्यक है कि वह भारत का नागरिक हो उसकी आयु 30 वष स कम न हो। साथ ही साथ म वह उन शर्तों को भी पूरा करता हो जिन्ह ससद न कानून क द्वारा आवश्यक बनाया हो। राज्य सभा क सदस्यो का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप स नहीं होता अपितु अप्रत्यक्ष रूप स होता है। इस प्रकार प्रत्यक राज्य की विधान सभा क सदस्य राज्य सभा क निर्वाचन म भाग लत है। जहाँ तक सघ शासित प्रदशो (Union territories) का सम्बन्ध है उनक सम्बन्ध म यह व्यवस्था ह कि इनक प्रतिनिधियो क निर्वाचन की पद्धति ससद क द्वारा निश्चित की जायगी। राज्य सभा एक स्थायी सदन है। इसका अथ है कि

उसे किसी भी स्थिति मे भग नही किया जा सकता। राज्य सभा के सदस्य 6 वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते है तथा उनमे से एक तिहाई प्रति दो वर्ष के वाद सेवा निवृत्त हो जाते है। भारत का उप-राष्ट्रपति पदेन उसका अध्यक्ष होता है, सदन को अपने मे से किसी एक सदस्य को उपाध्यक्ष चुनने का अधिकार है।

राज्य सभा की शक्तियाँ तथा लोकसभा के साथ उसकी तुलना—सविधान ने विधि-निर्माण के कार्य मे दोनो सदनो के भाग लेने की व्यवस्था की है। वास्तव मे उनके पारस्परिक सहयोग की अनुपस्थिति मे विधायी क्षेत्र मे किसी भी प्रकार की प्रगति सम्भव नही हो सकती। परन्तु इसके होते हुए भी सविधान ने कुछ मामलो मे राज्य सभा की अपेक्षा लोकसभा की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है। सम्भवत इस सम्बन्ध मे सवसे पहली वात ससद और मन्त्रि-परिषद् के वीच पाये जाने वाले सम्वन्धो के साथ सम्वद्ध है। राज्य सभा को मन्त्रि-परिषद् को नियन्त्रित करने की शक्ति प्राप्त नही है, जवकि यह अधिकार लोकसभा को मिला हुआ है। राज्य सभा को मन्त्रि-परिषद् से सरकार की नीतियो और प्रशासन के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करने का अधिकार है, परन्तु वह मन्त्रि-परिषद् के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित नही कर सकती। ससद के विश्वास का अर्थ है लोकसभा का विश्वास तथा कार्यपालिका का ससद के प्रति उत्तरदायित्व का अर्थ है लोकसभा के प्रति उत्तरदायित्व।

द्वितीय, धन विधेयको के सम्वन्ध मे राज्य सभा की शक्तियाँ नही के वरावर है। धन विधेयक का आरम्भ केवल लोकसभा मे ही हो सकता है, परन्तु राज्य सभा को इन विधेयको की जॉच करने का अधिकार अवश्य प्राप्त है। परन्तु इस सम्बन्ध मे सविधान ने उसे केवल परामर्श देने की शक्ति प्रदान की है। सविधान मे यह व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक धन विधेयक लोकसभा से पारित होने के उपरान्त राज्य सभा के पास उसके विचार के लिये भेजा जायेगा, राज्य सभा के लिये यह आवश्यक है कि उसके ऊपर अपना निर्णय उसके प्रस्तुत होने के 14 दिन के भीतर ले ले। यदि वह उस विधेयक को पारित कर देती है तो वह सीधा राष्ट्रपति के पास उसकी स्वीकृति के लिए चला जाता है, यदि वह उसे अस्वीकार करती है अथवा उसे सशोधित करती है तो उस स्थिति मे वह विधेयक लोकसभा के पास पुनर्विचार के लिए आ जाता है। लोकसभा उस विधेयक को साधारण वहुमत से पारित करके राष्ट्रपति के पास भेज देती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धन विधेयको के सम्वन्ध मे राज्य सभा को केवल परामर्श देने का अधिकार दिया गया है।

जहाँ तक अन्य विधायी विषयो का सम्वन्ध है, सविधान ने दोनो सदनो को समान शक्तियाँ प्रदान की है। यह वात केवल साधारण कानूनो पर ही लागू नही होती, सावैधानिक सशोधनो पर भी लागू होती है। सविधान की व्यवस्थाओ के अनुसार कोई भी विधेयक किसी भी सदन मे जन्म ले सकता है। लोकसभा द्वारा पारित विधेयक को अस्वीकृत करने अथवा उसे सशोधित करने का अधिकार राज्य सभा को प्राप्त है। यदि लोकसभा किसी भी विधेयक पर राज्य सभा द्वारा अपनाये गये दृष्टिकोण से असहमत है तो उस स्थिति मे सविधान ने दोनो सदनो की एक सम्मिलित वैठक की व्यवस्था की है। चूकि राज्य सभा की अपेक्षा लोकसभा की सदस्य-सख्या अधिक है, इसलिये दोनो सदनो के वीच सघर्ष की स्थिति मे यह स्वाभाविक ही है कि लोकसभा राज्य सभा के ऊपर हावी हो। सयुक्त वैठक मे पारित विधेयक राष्ट्रपति के पास स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत की राज्य सभा अमरीकी सीनेट की भाँति शक्तिशाली नही है। परन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नही है कि वह ब्रिटिश लार्ड सभा की भाँति शक्तिहीन है। यहा ध्यान मे रखने की वात यह है कि लोकसभा और राज्य सभा के वीच मे तीन शक्तिया ऐसी है जिन पर दोनो का समान अधिकार है। ये शक्तियाँ है—(1) राष्ट्रपति के निर्वाचन और उसके महाभियोग मे भाग लेना, उप-राष्ट्रपति का निर्वाचन तथा उसकी पदच्युति, और

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों तथा महालेखा निरीक्षक की पदच्युति (2) संविधान का संशोधन तथा (3) राष्ट्रपति द्वारा घोषित आपातकाल की स्वीकृति प्रदान करना। इनके अतिरिक्त दो शक्तियाँ ऐसी हैं जो केवल राज्य सभा को ही प्रदान की गई हैं। संविधान की 249वीं धारा के अन्तर्गत राज्य सभा को राज्य सूची में उल्लिखित किसी भी विषय पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है। 312वें अनुच्छेद के अधीन राज्य सभा को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अखिल भारतीय सेवाओं की रचना करने के लिये संसद को सत्ता प्रदान करे। यह स्पष्ट है ये सभी शक्तियाँ राज्यों की स्वायत्तता के ऊपर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं।

राज्य सभा की भूमिका—संविधान सभा में अधिकांश सदस्य इस बात पर एकमत थे कि संघीय व्यवस्थापिका द्विसदनात्मक होनी चाहिए। इसके ऊपर संविधान सभा में भाषण करते हुए श्री अय्यंगर ने कहा था कि दूसरा सदन राज्यों का प्रतिनिधित्व करता है अतः उसके द्वारा पारित प्रस्ताव का अर्थ है राज्यों द्वारा प्रदत्त शक्ति। सम्भवतः इसी आधार पर 249वीं और 312वीं धाराओं के औचित्य को समझा जा सकता है। संविधानकारों की यह भी इच्छा थी कि राज्य सभा में अनुभव एवं ज्ञान का भी प्रतिनिधित्व होना चाहिए ताकि राजनीतिक गरमा-गरमी को जन्म दिये बिना गम्भीरतापूर्वक राजनीतिक समस्याओं पर विचार विमर्श किया जा सके। संविधानकारों का मन्तव्य इस विषय पर बिल्कुल स्पष्ट था कि राजनीतिक गुरुत्वाकर्षण का केन्द्र लोकसभा को ही बनना चाहिए तथा राज्य सभा का काम केवल लोकसभा द्वारा पारित विधेयकों पर पुनर्विचार करना होना चाहिए। इस सम्बन्ध में गोपालस्वामी आयंगर द्वारा संविधान सभा में दिये गये भाषण का यह अंश उद्धरणीय है— राज्य सभा का काम ऐसे विधेयकों को पारित होने में देरी लगाना है जिसकी रचना उत्तेजित भावनाओं के परिणामस्वरूप हुई है और उन कामों के कार्यान्वयन में देरी लगाना है जिन्हें उतावलेपन में विचारा गया है परन्तु उसका काम कानून के निर्माण अथवा प्रशासन में रुकावट डालना नहीं है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि राज्यसभा का संगठन और उसका व्यावहारिक स्वरूप दोनों ही संघीय सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं। यथार्थ में स्वयं संविधान निर्माताओं ने संघवाद का उस समय उल्लंघन किया था जब उन्होंने राज्यों को उसके संगठन में समान प्रतिनिधित्व का अधिकार नहीं दिया था। के॰ वी॰ राव ने लिखा है कि इसके कारण इस सदन का नाम (राज्य सभा) एक प्रकार से असंगत हो गया है। सत्य यह है कि राज्य सभा के सदस्यों का अपने अपने राज्यों के द्वारा मनोनयन होता है परन्तु वे अपने अपने राज्यों के प्रवक्ता नहीं होते। यह सही है कि उनका निर्वाचन राज्यों की विधानसभाओं के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से होता है परन्तु इसके कारण राज्य सभा का भवन केन्द्र और राज्यों के बीच संघर्ष का स्थल नहीं बना है वहाँ राज्यों के हितों की रक्षा के लिए कोई संघर्ष नहीं किया जाता यदि क्षेत्रीय माँगें राज्य सभा में प्रस्तुत की जाती हैं तो ऐसा लोक सभा में भी होता है। परन्तु यह स्थिति केवल भारत में ही नहीं पायी जाती ऐसा अन्य संघीय संविधानों में भी पाया जाता है।

प्रश्न है कि क्या विद्वत वर्गों में राज्य सभा ने अनुभव एवं बौद्धिक परिपक्वता का परिचय दिया है क्या उसके विचारों से इस बात का आभास मिलता है कि उसके सदस्यों ने दलगत भावनाओं को तिलांजलि देकर समस्याओं के ऊपर निरपेक्ष दृष्टि से विचार किया है? स्पष्टतः इन प्रश्नों के उत्तर निषेधात्मक हैं। दलगत भावनाओं की अभिव्यक्ति राज्य सभा में लोकसभा की अपेक्षा कम नहीं होती फलतः राज्य सभा में भी अव्यवस्था एवं अनुशासनहीनता के वही दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं जो हमें लोकसभा में दिखायी पड़ते हैं। यथार्थ में राज्य सभा ने पुनर्विचार करने वाले सदन के रूप में भी समुचित रूप से काम नहीं किया है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह एक निष्क्रिय संस्था रही है। 1952 से लेकर 1956 तक भारत की प्रथम संसद के जीवन काल में राज्य सभा ने 363 विधेयकों पर विचार किया 101 विधेयकों का राज्य सभा में ही जन्म हुआ जिनमें 69 सरकारी विधेयक थे और 32 विधेयकों को संसद के व्यक्तिगत सदस्यों

ने प्रस्तुत किया था । इन 101 विधेयको मे से 4 विधयक वे थे जिनका सम्बन्ध हिन्दुओ के सामाजिक सुधार के साथ था, वे विधेयक थे हिन्दू विवाह कानून (Hindu Marriage Act), हिन्दू अल्प-वयस्क एव अभिभावक कानून (Hindu Minority and Guardianship Act), हिन्दू उत्तरा-धिकार कानून (Hindu Succession Act), तथा हिन्दू गोद तथा पोषण कानून (Hindu Adoptations and Maintenance Act) । इस प्रकार जैसा पी० विजयराघवन ने लिखा है—'राज्य सभा को ऐसे कानूनो को निर्मित करने का श्रेय जाता है जिनके बारे मे यह दावा उचित रूप से किया जा सकता है कि उनके द्वारा भारत के बहुसख्यक लोगो को प्रभावित करने वाले सामाजिक सुधारो का समारम्भ हुआ है ।' इसी काल मे राज्य सभा मे 12733 प्रश्नो की पूछने की अनुमति दी गयी, 65722 प्रश्नो का मौखिक रूप से उत्तर दिया गया, इनसे सम्बद्ध 34839 पूरक प्रश्नो के उत्तर दिये गये । 1967 तक राज्य सभा ने 26 ऐसे विधेयको को सशोधित किया था जिनका आरम्भ लोक सभा मे हुआ था । यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि इन समस्त सशोधनो को लोकसभा ने स्वीकार कर लिया था ।

लोकसभा और राज्य सभा के बीच पारस्परिक सम्बन्ध—मौरिस-जोन्स ने लिखा है कि 'सस्था का स्वभाव अपने सदस्यो मे अपने प्रति भक्ति पैदा करना होता है और जब दो सस्थाओ की रचना एक-दूसरे के साथ-साथ की जाय तो यह स्वाभाविक है कि दोनो के बीच सघर्ष उत्पन्न हो तथा भावनाएँ उत्तेजित हो ।' यह बात राज्य सभा और लोकसभा के पारस्परिक सम्बन्धो के विषय मे भी कही जा सकती है । राज्य सभा की रचना 1952 के आम चुनाव के बाद हुई थी, तब से लेकर अभी तक बराबर केन्द्र मे काग्रेस दल का शासन रहा है और दोनो सदनो मे काग्रेस ही बहुसख्यक दल रहा है परन्तु यह तथ्य दोनो सदनो के बीच प्रतिस्पर्धा के उदय को रोकने मे असमर्थ रहा है ।

राज्य सभा एक अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदन है, परन्तु दोनो सदनो की शक्तियाँ अनेक अर्थो मे एक-दूसरे के समान है, यद्यपि लोकसभा को राज्य सभा की अपेक्षा अधिक शक्तियाँ प्राप्त है । दोनो सदनो की दलगत रचना भी एक-दूसरे से मिलती-जुलती है, यहाँ तक कि दोनो सदनो की वर्ग-रचना भी ऐसी नही है जिसके आधार पर दोनो के बीच कोई स्पष्ट विभेद किया जा सके । यदि दोनो सदनो के सदस्यो की औसत आयु को ध्यान मे रखा जाये तो यह नही कहा जा सकता कि राज्य सभा मे लोकसभा की अपेक्षा अधिक आयु के सदस्य पाये जाते है । इसी प्रकार अनुभव और ज्ञान की दृष्टि से भी दोनो सदनो के बीच कोई अन्तर नही किया जा सकता । दोनो सदनो के बीच पायी जाने वाली इस लगभग समानता ने तथा इसके साथ मिले इस तथ्य ने कि लोकसभा को राज्य सभा की अपेक्षा अधिक शक्ति प्राप्त हे, राज्य सभा के सदस्यो मे हीनता एव निराशा की भावना को जन्म दिया हे । फलत यदि लोकसभा मे राज्य सभा की स्थिति एव शक्तियो के सम्बन्ध मे ऐसा कुछ कहा गया है जिससे यह भासित हो कि राज्य सभा की स्थिति लोकसभा की समकक्ष नही है तो इसकी प्रतिकूल प्रतिक्रिया राज्य सभा मे अवश्य हुई है और यह नेहरू जी के इस आश्वासन के बावजूद है कि 'सविधान दोनो सदनो को समान मानता है' अथवा डा० जाकिर हुसैन के इस बयान के कि 'दोनो सदनो का अस्तित्व एक-दूसरे के साथ-साथ है तथा एक सदन दूसरे की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ नही ह ।' राज्य सभा के इस दृष्टिकोण ने लोकसभा के भीतर भी उत्तेजित भावनाओ को जन्म दिया ह । इस प्रकार दोनो सदनो के पारस्परिक सम्बन्धो मे अपेक्षित सौहार्द की बहुधा कमी पायी गयी ह ।

2 लोकसभा का सगठन ✓

भारतीय ससद के लोकप्रिय सदन को लोकसभा का नाम दिया गया है । उसका गठन एव उसकी शक्तियाँ ब्रिटिश लोकसभा के साथ बहुत कुछ मिलती-जुलती ह । उसकी सदस्य-सख्या 523

देते समय डिप्टी स्पीकर को कोई सन्देह होता है तो वह उसे स्पीकर के निर्णय के लिए छोड सकता है। डिप्टी स्पीकर के पद के साथ भी पिछले वर्षो मे कुछ अभिसमय विकसित हुए है। उदाहरण के लिए उसका निर्वाचन यदि किसी ससदीय समिति मे हो जाता है तो यह आवश्यक है कि उस समिति का अध्यक्ष डिप्टी स्पीकर ही हो। इसके अतिरिक्त वह चाहे जिस समिति की बैठक मे उपस्थित हो सकता है, यदि ऐसा है तो उस समिति मे भी अध्यक्षता डिप्टी स्पीकर को ही दी जायेगी। यदि किसी समय स्पीकर और डिप्टी स्पीकर दोनो ही सदन से अनुपस्थित है तो उस समय सदन मे अध्यक्षता करने के लिये स्पीकर सदन के सदस्यो मे से 6 व्यक्तियो का एक अध्यक्ष-मण्डल मनोनीत कर देता है, इस सम्बन्ध मे एक परम्परा यह है कि इस अध्यक्ष-मण्डल के कुछ सदस्य विरोधी दलो मे भी हो। जिस समय इस अध्यक्ष-मण्डल का कोई सदस्य सदन मे अध्यक्ष पद को ग्रहण करता है, उसे स्पीकर के तुल्य ही शक्तियाँ प्राप्त होती है।

लोकसभा की शक्तियाँ और कार्य—लोकसभा का पहला और मुख्य कार्य देश के लिए कानूनो की रचना करना है। इस कार्य मे उसकी राज्य सभा के साथ साझीदारी है, केवल धन विधेयको के क्षेत्र मे लोकसभा को राज्य सभा की अपेक्षा अधिक शक्तियाँ प्राप्त है। जहाँ तक गैर-धन विधेयको का प्रश्न है दोनो सदनो की शक्तियाँ बराबर है। परन्तु यदि दोनो सदनो के बीच किसी विधेयक के सम्बन्ध मे मतभेद पाया जाता है तथा उस मतभेद का निराकरण करने के लिए सयुक्त बैठक का आयोजन किया गया है तो उस स्थिति मे लोकसभा अपनी अधिक सदस्य-सख्या के कारण राज्य सभा के ऊपर हावी रहेगी। जैसा कहा जा चुका है कि भारतीय ससद की विधायी शक्तियाँ असीमित नही है, वह एक गैर-सम्प्रभु विधायी निकाय है। अत उसे केवल सघ सूची और समवर्ती सूची मे दिये हुए विषयो पर कानून बनाने का अधिकार है, असाधारण स्थिति मे यदि 249वे अनुच्छेद के अन्तर्गत राज्य सभा ने उसे राज्य सूची मे उल्लिखित किसी विषय पर कानून बनाने की शक्ति प्रदान कर दी है तो बात दूसरी है।

लोकसभा का दूसरा कार्य सघ की वित्तीय व्यवस्था को अपने नियन्त्रण मे रखना है। इसलिए ससद की अनुमति के बिना सघ सरकार न तो कोई कर लगा सकती है और न कोई खर्चा ही कर सकती है। यहाँ ससद का वास्तविक अर्थ लोकसभा ही है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सघ सरकार का कुछ खर्चा ऐसा अवश्य है जो लोकसभा के नियन्त्रण से परे है, लोकसभा उस खर्चे के ऊपर बात तो कर सकती है, परन्तु उस पर मतदान नही कर सकती। इस प्रकार के खर्चे मे राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश, महालेखा निदेशक आदि के वेतन एव भत्ते शामिल है।

लोकसभा को राज्य सभा के साथ कुछ अधिकारियो को निर्वाचित करने का भी अधिकार प्राप्त है दोनो सदनो के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन मे भाग लेते है। दोनो सदनो के सदस्य सयुक्त बैठक मे उपराष्ट्रपति का चुनाव करते है। इसके अतिरिक्त उन्हे सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो को पदच्युत करने का भी अधिकार है। इस सम्बन्ध मे सविधान मे यह व्यवस्था की गई है कि दोनो सदन अलग-अलग इस आशय का एक प्रतिवेदन राष्ट्रपति से करे, इसे दोनो सदनो मे बहुमत से पारित होना चाहिए तथा मतदान मे प्रत्येक सदन की कुल सदस्य-सख्या की दो-तिहाई की उपस्थिति होनी चाहिए। लोकसभा को अपने सदस्यो को अथवा बाहर के किसी व्यक्ति को सदन के विशेषाधिकारो का उल्लघन करने के लिए दण्ड देने का अधिकार है।

ससद को सविधान को सशोधित करने की भी शक्ति प्रदान की गई है। सयुक्त राज्य अमरीका की भाँति भारत मे राज्यो के विधानमण्डलो को सशोधन के क्षेत्र मे कोई भी अधिकार प्राप्त नही है। सविधान की कुछ व्यवस्थाए ऐसी है जिन्हे सशोधित करने के लिये किसी विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता नही है और जिन्हे ससद के साधारण बहुमत के द्वारा ही सशोधित किया जा सकता है। परन्तु अधिकाशत सशोधन के लिये दोनो सदनो का अलग-अलग पूर्ण बहुमत तथा

देते समय डिप्टी स्पीकर को कोई सन्देह होता हे तो वह उसे स्पीकर के निर्णय के लिए छोड सकता है। डिप्टी स्पीकर के पद के साथ भी पिछले वर्षो मे कुछ अभिसमय विकसित हुए है। उदाहरण के लिए उसका निर्वाचन यदि किसी ससदीय समिति मे हो जाता है तो यह आवश्यक हे कि उस समिति का अध्यक्ष डिप्टी स्पीकर ही हो। इसके अतिरिक्त वह चाहे जिस समिति की बैठक मे उपस्थित हो सकता हे, यदि ऐसा है तो उस समिति मे भी अध्यक्षता डिप्टी स्पीकर को ही दी जायेगी। यदि किसी समय स्पीकर और डिप्टी स्पीकर दोनो ही सदन से अनुपस्थित है तो उस समय सदन मे अध्यक्षता करने के लिये स्पीकर सदन के सदस्यो मे से 6 व्यक्तियो का एक अध्यक्ष-मण्डल मनोनीत कर देता हे, इस सम्बन्ध मे एक परम्परा यह है कि इस अध्यक्ष-मण्डल के कुछ सदस्य विरोधी दलो मे भी हो। जिस समय इस अध्यक्ष-मण्डल का कोई सदस्य सदन मे अध्यक्ष पद को ग्रहण करता है, उसे स्पीकर के तुल्य ही शक्तियाँ प्राप्त होती है।

✓**लोकसभा की शक्तियाँ और कार्य**—लोकसभा का पहला और मुख्य कार्य देश के लिए कानूनो की रचना करना हे। इस कार्य मे उसकी राज्य सभा के साथ साझीदारी है, केवल धन विधेयको के क्षेत्र मे लोकसभा को राज्य सभा की अपेक्षा अधिक शक्तियाँ प्राप्त है। जहाँ तक गैर-धन विधेयको का प्रश्न है दोनो सदनो की शक्तियाँ बराबर है। परन्तु यदि दोनो सदनो के बीच किसी विधेयक के सम्बन्ध मे मतभेद पाया जाता है तथा उस मतभेद का निराकरण करने के लिए सयुक्त बैठक का आयोजन किया गया हे तो उस स्थिति मे लोकसभा अपनी अधिक सदस्य-सख्या के कारण राज्य सभा के ऊपर हावी रहेगी। जैसा कहा जा चुका हे कि भारतीय ससद की विधायी शक्तियाँ असीमित नही हें, वह एक गैर-सम्प्रभु विधायी निकाय है। अत उसे केवल सघ सूची और समवर्ती सूची मे दिये हुए विषयो पर कानून बनाने का अधिकार है, असाधारण स्थिति मे यदि 249वे अनुच्छेद के अन्तर्गत राज्य सभा ने उसे राज्य सूची मे उल्लिखित किसी विषय पर कानून बनाने की शक्ति प्रदान कर दी है तो बात दूसरी है।

लोकसभा का दूसरा कार्य सघ की वित्तीय व्यवस्था को अपने नियन्त्रण मे रखना है। इसलिए ससद की अनुमति के बिना सघ सरकार न तो कोई कर लगा सकती है और न कोई खर्चा ही कर सकती हे। यहाँ ससद का वास्तविक अर्थ लोकसभा ही है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सघ सरकार का कुछ खर्चा ऐसा अवश्य है जो लोकसभा के नियन्त्रण से परे है, लोकसभा उस खर्चे के ऊपर बात तो कर सकती है, परन्तु उस पर मतदान नही कर सकती। इस प्रकार के खर्चे मे राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश, महालेखा निदेशक आदि के वेतन एव भत्ते शामिल है।

लोकसभा को राज्य सभा के साथ कुछ अधिकारियो को निर्वाचित करने का भी अधिकार प्राप्त हे दोनो सदनो के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन मे भाग लेते है। दोनो सदनो के सदस्य सयुक्त बैठक मे उपराष्ट्रपति का चुनाव करते है। इसके अतिरिक्त उन्हे सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो को पदच्युत करने का भी अधिकार हे। इस सम्बन्ध मे सविधान मे यह व्यवस्था की गई हे कि दोनो सदन अलग-अलग इस आशय का एक प्रतिवेदन राष्ट्रपति से करे, इसे दोनो सदनो मे बहुमत से पारित होना चाहिए तथा मतदान मे प्रत्येक सदन की कुल सदस्य-सख्या की दो-तिहाई की उपस्थिति होनी चाहिए। लोकसभा को अपने सदस्यो को अथवा बाहर के किसी व्यक्ति को सदन के विशेषाधिकारो का उल्लघन करने के लिए दण्ड देने का अधिकार है।

ससद को सविधान को सशोधित करने की भी शक्ति प्रदान की गई हे। सयुक्त राज्य अमरीका की भाँति भारत मे राज्यो के विधानमण्डलो को सशोधन के क्षेत्र मे कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं हे। सविधान की कुछ व्यवस्थाएँ ऐसी हे जिन्हे सशोधित करने के लिये किसी विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता नही हे और जिन्हे ससद के साधारण बहुमत के द्वारा ही सशोधित किया जा सकता है। परन्तु अधिकाश सशोधन के लिये दोनो सदनो का अलग-अलग पूर्ण बहुमत तथा

मतदान के समय दो तिहाई सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक है। संविधान के जिन प्रावधानों का सम्बन्ध संघीय शासन व्यवस्था के साथ है उन्हें परिवर्तित करने के लिए राज्यों के विधान मण्डलों की स्वीकृति आवश्यक है।

लोकसभा का अन्तिम काम संघीय कार्यपालिका को अपने नियन्त्रण में रखना है। संघीय मंत्रिपरिषद् अपने कामों के लिए लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। यदि वह अपने में लोकसभा का विश्वास खो बैठती है उस स्थिति में उसके पास त्यागपत्र देने के अतिरिक्त और कोई दूसरा विकल्प शेष नहीं रहता। लोकसभा को इस शक्ति का प्रयोग करने के लिए कुछ साधन उपलब्ध हैं। सर्वप्रथम वह सरकार से प्रश्न पूछ सकती है इन प्रश्नों के माध्यम से सरकार की गलतियों का भण्डाफोड़ किया जा सकता है। द्वितीय वह काम रोको प्रस्ताव के द्वारा सरकार के नियमित कार्य को रोककर किसी सार्वजनिक महत्व के मामले पर विचार कर सकती है। यही काम ध्यानाकर्षण प्रस्ताव अथवा आधे घण्टे की विवाद के द्वारा भी पूरा किया जा सकता है। लोकसभा के सदस्य सरकार की आलोचना करने के लिए सदन में प्रस्ताव प्रस्तुत कर सकते हैं। सदन के अधिवेशन के कारण कार्यपालिका के सदस्य चौकन्ने रहते हैं तथा इसके परिणामस्वरूप एक सीमा तक शक्तियों का दुरुपयोग नहीं हो पाता।

लोकसभा का स्पीकर—जैसा कहा जा चुका है कि लोकसभा अपनी बैठकों में अध्यक्ष का आसन ग्रहण करने के लिए एक अधिकारी को निर्वाचित करती है जिसे स्पीकर के नाम से जाना जाता है। उसका निर्वाचन लोकसभा के सदस्यों में से होता है। हर बार प्रत्येक आम चुनाव के बाद नव निर्वाचित लोकसभा स्पीकर का चयन करती है तथा पुनर्गठित लोकसभा जब तक नये स्पीकर को चुन नहीं लेती वह अपने पद पर बना रहता है। यदि इस बीच में किसी कारणवश स्पीकर का पद रिक्त हो गया तो उस स्थिति में लोकसभा नये स्पीकर का चुनाव कर लेती है। स्पीकर को अपने पद से त्यागपत्र देने का अधिकार है तथा लोकसभा भी अपने बहुमत द्वारा पारित एक प्रस्ताव के माध्यम से उसे पदच्युत कर सकती है।

ब्रिटिश लोकसभा के स्पीकर की भाँति भारत में भी स्पीकर को एक विशेष अधिकार संविधान के द्वारा प्राप्त हुआ है। आवश्यकता पड़ने पर वह यह निर्णय करता है कि अमुक विधेयक धन विधेयक है अथवा नहीं इस सम्बन्ध में उसका निर्णय अंतिम होता है तथा इसे किसी भी स्थिति में चुनौती नहीं दी जा सकती। स्पीकर के प्रमुख कार्यों एवं शक्तियों को निम्न प्रकार गिनाया जा सकता है

(1) वह सदन के नेता के परामर्श से विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में वाद विवाद का समय निश्चित करता है। (2) सदन के नेता से परामर्श करके वह सदन का कार्यक्रम निश्चित करता है। (3) प्रश्नों को स्वीकार करना अथवा उन्हें नियम विरुद्ध घोषित करना उसी का काम है। (4) यदि सार्वजनिक महत्व के आवश्यक मामले पर विवाद करने के लिए कोई काम रोको प्रस्ताव सदन में प्रस्तुत किया गया है तो उस पर स्पीकर की अनुमति के बिना कोई बहस नहीं हो सकती। (5) यदि उसकी आज्ञा से गजट में किसी विधेयक को प्रकाशित कर दिया जाता है तो उसे प्रस्तुत करने के लिए किसी प्रस्ताव की आवश्यकता नहीं होती। (6) प्रवर समितियों के अध्यक्षों को वही नियुक्त कर सकता है। (7) किसी विचाराधीन विधेयक पर विवाद रोकने का प्रस्ताव उसकी अनुमति पर ही प्रस्तुत किया जा सकता है। (8) किसी प्रस्ताव को ग्राह्य अथवा अग्राह्य होने का निर्णय वही देता है। (9) सदन एवं राष्ट्रपति के बीच होने वाला सारा पत्र-व्यवहार उसी के माध्यम से संचालित होता है। (10) सदस्यों को वह भाषण देने की अनुमति देता है और यह निर्णय करना भी उसी का काम है कि भाषणों का क्रम क्या होगा। (11) प्रक्रिया सम्बन्धी विवादास्पद प्रश्नों (points of order) पर निर्णय देना उसी का काम है। (12) सदन में शान्ति व सुव्यवस्था बनाये रखने का उत्तरदायित्व भी उसी को सौंपा गया है। (13) विभिन्न विधेयकों एवं प्रस्तावों पर मतदान कराना भी उसी का काम है और वही उस मतदान का परिणाम

घोपित करता है। (14) उसे किसी ऐसे सदस्य को सदन से बाहर निकालने का अथवा उसे उसकी सदस्यता से निलम्बित करने का भी अधिकार है जो उसके आदेशो को न माने अथवा जिसके आचरण से सदन मे अव्यवस्था उत्पन्न होती हो। (15) सदन मे गम्भीर अव्यवस्था उत्पन्न होने की स्थिति मे उसे उसका कार्य स्थगित अथवा निलम्बित करने का भी अधिकार प्राप्त है। (16) दर्शको के प्रवेश को भी नियन्त्रित करने की उसे शक्ति प्रदान की गई है, किसी भी समय वह दर्शको को बाहर जाने का आदेश दे सकता है। (17) यदि सदन की कार्यवाही मे ऐसे शब्दो का प्रयोग किया गया है जो उसकी समझ मे अशिष्ट अथवा असंसदीय है तो वह ऐसे शब्दो को कार्यवाही मे से निकाल सकता है। (18) सदन मे उसके खडे होने पर अन्य सदस्यो के लिए यह परमावश्यक है कि वे अपने स्थान पर बैठ जाये, उस समय कोई भी सदस्य सदन छोडकर बाहर नही जा सकता।

लोकसभा के स्पीकर के पद पर विचार करते समय यह उल्लेखनीय है कि भारत मे उसका विकास न तो ब्रिटिश परम्पराओ के अनुसार हुआ है और न स० रा० अमरीका की परम्पराओ के अनुसार। भारत मे ब्रिटेन से भिन्न स्पीकर से यह अपेक्षा नही की जाती कि वह अपने राजनीतिक दल से त्यागपत्र दे देगा, परन्तु इसके साथ ही उससे यह अपेक्षा भी नही की जाती कि वह अमरीकी प्रतिनिधि सभा के स्पीकर की भाति दलगत राजनीति मे सक्रिय रूप से भाग लेगा।

यहाँ यह कहना भी अप्रासगिक न होगा कि भारत मे अभी तक सदन के सभी वर्गो के सदस्यो से वह सम्मान प्राप्त नही हुआ जिसकी अपेक्षा की जानी चाहिये। अपने अस्तित्व के इस अल्पसमय मे ऐसे अवसर भी आये है जबकि सदस्यो ने स्पीकर की निष्पक्षता मे सन्देह व्यक्त किया है तथा उसके आदेशो को मानने से इनकार कर दिया है। एक बार स्पीकर के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव भी प्रस्तुत किया जा चुका है। यह प्रस्ताव 18 दिसम्बर 1954 को पेश किया गया था और उस समय स्पीकर जी० वी० मावलकर थे। इस प्रस्ताव मे यह कहा गया था—'उन्होने उस निष्पक्ष रवैये को अपनाना बन्द कर दिया है जो सदन के सभी वर्गो के विश्वास को प्राप्त करने के लिये आवश्यक है।' एक लम्बी बहस के उपरान्त जिसमे सदन के सभी महत्त्व-पूर्ण सदस्यो ने भाग लिया था और जिसमे स्वय प्रधानमन्त्री नेहरू भी एक थे, सदन ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। परन्तु इस बहस का एक अच्छा परिणाम भी निकला। इस विवाद मे स्पीकर के पद से सम्बद्ध प्रतिष्ठा एव सत्ता का उल्लेख किया गया तथा इस बात के ऊपर बल दिया गया कि स्पीकर को पूर्णरूप से निष्पक्ष होना चाहिये। सदन की इस बैठक की डिप्टी स्पीकर ने अध्यक्षता की थी। अपने भाषण मे उन्होने कहा था—'मैं इस बात से सहमत हूँ कि यदि एक सम्भावित सदस्य के साथ निष्पक्ष व्यवहार नही किया जाता तो उसे शिकायत हो सकती है तथा बहुत से सम्मानित सदस्य उसे अपना समर्थन दे सकते है।' 9 अप्रैल 1960 को एक समाजवादी सदस्य अर्जुन सिह भदौरिया को अध्यक्ष के आदेश की अवहेलना करने के कारण सशरीर उठाकर सदन से बाहर निकाल दिया गया था। इसी प्रकार 30 अगस्त 1962 को समाजवादी पार्टी के के ही राममेवक यादव को सदन से निलम्बित किया गया था। इस प्रकार के उदाहरण और भी दिये जा सकते है जिनसे यह प्रमाणित होता है कि भारत मे स्पीकर का वह सम्मान नही है जो उसे ब्रिटेन मे प्राप्त है। निश्चय ही इस स्थिति को वाछनीय नही कहा जा सकता। देश मे ससदीय लोकतन्त्र को शक्तिशाली बनाने के लिये यह परमावश्यक है कि स्पीकर के पद को राजनीतिक विवादो से ऊपर रखा जाए तथा उसे वह सम्मान प्रदान किया जाय जो उसे ससदीय परम्पराओ मे प्राप्त है।

विधायी प्रक्रिया (अ) गैर-वित्तीय विधेयक ✓

जैसा कहा जा चुका है ससद का सबसे महत्त्वपूर्ण काम देश के लिये कानूनो की रचना करना है। यथार्थ मे ससद का अधिकाश समय इसी काम के निष्पादन मे व्यय होता है। साधारणत विधेयको को दो श्रेणियो मे रखा जाता है—वित्तीय विधेयक व गैर-वित्तीय विधेयक। वित्तीय विधेयक जिन्हे धन विधेयक भी कहते है, केवल लोकसभा मे ही जन्म लेते है। वहाँ से

पारित होने के उपरान्त उसे राज्य सभा में विचारार्थ भेज दिया जाता है। परन्तु राज्य सभा उनको लेकर चुपचाप नहीं बैठ सकती। उसके लिये यह आवश्यक है कि वह चौदह दिन के भीतर उस विधेयक के सम्बन्ध में अपना निर्णय लोकसभा को बता दे। यदि राज्य सभा ने उस विधेयक को उसी रूप में पारित कर लिया है जिसमें उसे लोकसभा ने पारित किया था तब तो कोई कठिनाई नहीं है उसे राष्ट्रपति के पास स्वीकृति के लिये भेज दिया जाता है। परन्तु यदि राज्य सभा ने उसे संशोधित किया है तो लोकसभा उन संशोधनों पर पुनर्विचार करेगी उसे यह पूरा अधिकार है कि वह राज्य सभा द्वारा सुझाये गये संशोधनों को अस्वीकार कर दे। यदि उसने ऐसा किया है तो वह धन विधेयक राज्य सभा की अनुमति के बिना भी राष्ट्रपति के पास उसकी स्वीकृति के लिये भेज दिया जाता है। परन्तु यह बात गैर वित्तीय विधेयकों पर लागू नहीं होती उन्हें संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार के विधेयक केवल उस स्थिति में कानून बन सकते हैं जबकि संसद के दोनों सदन उन्हें पास कर दें। यदि किसी विधेयक पर दोनों सदनों के बीच मतभेद की स्थिति पायी जाती है तो उसका निराकरण करने के लिये दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन का आयोजन किया जा सकता है इस प्रकार की बैठकों में साधारणतः लोकसभा का स्पीकर ही अध्यक्ष का आसन ग्रहण करता है।

अधिकांशतः संसद में विधेयकों का प्रस्तुतीकरण मन्त्रियों के द्वारा होता है। इस प्रकार के विधेयकों को सरकारी विधेयकों के नाम से जाना जाता है। इन विधेयकों का जन्म यथार्थ में सरकार के किसी मन्त्रालय में होता है। मन्त्रालय के सदस्य उस विधेयक को रूप देने के पूर्व इस बात पर अच्छी तरह विचार कर लेते हैं कि उसके कानून बन जाने से राजनीतिक, प्रशासनिक तथा वित्तीय मामलों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। यदि उस कानून का सम्बन्ध सरकार के अन्य मन्त्रालयों के साथ भी है तो उसके मसौदे को तैयार करने के पहले उनसे भी परामर्श ले लिया जाता है। यदि आवश्यकता हुई तो इस काम के लिये कानून मन्त्रालय तथा एटोर्नी जनरल की भी सहायता ली जाती है। जब इस प्रकार प्रस्तावित विधेयक की जाँच कर ली जाती है तो सम्बद्ध मन्त्रालय इस आशय का एक ज्ञापन कैबिनेट को देते हैं। कैबिनेट उस प्रस्ताव को अपनी स्वीकृति दे सकती है परन्तु यदि प्रस्ताव की प्रकृति विवादास्पद है तो वह उसे अपनी किसी स्थायी समिति को जाँच के लिये दे सकती है कभी कभी इस प्रकार के प्रस्तावों पर व्यापक रूप से विचार करने के लिये अस्थायी समितियाँ भी नियुक्त की जा सकती हैं। कभी कभी कैबिनेट विधेयक से सम्बद्ध सामान्य सिद्धान्तों को स्वीकार करने के बाद भी उसके मसौदे को फिर से अपने पास जाँच के लिये मंगा सकती है। कैबिनेट में स्वीकृति प्राप्त होने के उपरान्त सम्बद्ध मन्त्रालय आवश्यक कागजों के साथ उस विधेयक के प्रारूप को सरकारी ड्राफ्ट्समैन के पास भेज देता है। विधेयक के ड्राफ्ट को तैयार करना वास्तव में कोई सुगम कार्य नहीं है कभी-कभी तो उसे अन्तिम रूप देते समय तक अनेक ड्राफ्ट बनते और बिगड़ते हैं।

प्रथम वाचन—इतना होने के बाद विधेयक का प्रस्तुतीकरण तथा प्रथम वाचन की स्थिति में लाया जा सकता है। विधेयक का प्रस्तुतीकरण संसद के दोनों सदनों में से किसी एक में हो सकता है। हम कल्पना करें कि विधेयक को लोकसभा में प्रस्तुत किया जाना है। इस स्थिति में उस विधेयक की एक सत्य प्रतिलिपि लोकसभा के सचिवालय को सौंप दी जाएगी (यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि संविधान के अन्तर्गत किन्हीं विषयों पर विधेयक को प्रस्तुत करने के लिये राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है)। इसके उपरान्त विधेयक के प्रस्तुतकर्ता के परामर्श से स्पीकर एक तिथि निश्चित कर देता है और उस दिन विधेयक को विधिपूर्वक सदन में पेश कर दिया जाता है। उस निश्चित तिथि को प्रश्नोत्तर के घण्टे के बाद प्रस्तुतकर्त्ता अपने स्थान पर खड़ा होकर स्पीकर से विधेयक को पेश करने की अनुमति माँगता है। इसके उपरान्त स्पीकर सदन को सम्बोधित करके कहता है—प्रस्ताव प्रस्तावित हो चुका है उसे प्रस्तुत करने की अनुमति दी जाय और उस समय कोई विवाद नहीं होता। विधेयक के इस चरण को प्रथम वाचन का नाम

दिया गया है। कभी-कभी विधेयक का उसके प्रस्तुतीकरण के समय भी विरोध किया जाता है। उदाहरण के लिए 23 नवम्बर 1954 को जब निवारक नजरबन्दी (सशोधन) कानून को प्रस्तुत किया गया तो उसका इस आधार पर विरोध किया गया कि वह सविधान की व्यवस्थाओ के प्रतिकूल है। जब विधेयक का विरोध उसके प्रस्तुतीकरण के समय किया जाता है तो उस समय स्पीकर प्रस्तुतकर्त्ता और विरोधी सदस्य दोनो को ही थोडा समय अपने-अपने दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण के लिये देता है। यदि विरोध का आधार सावैधानिक है तो उस समय स्पीकर पूरे विवाद की अनुमति दे सकता है, जिसमे आवश्यकता पडने पर एटोर्नी जनरल को भी भाग लेने के लिये बुलाया जा सकता है।

विधेयक के प्रस्तुत होने के उपरान्त उसे भारत सरकार के गजट मे प्रकाशित कर दिया जाता है। यदि स्पीकर से यह अनुरोध किया जाय कि विधेयक को उसके प्रस्तुतीकरण के पूर्व ही गजट मे प्रकाशित कर दिया जाय तो वह ऐसा करने की स्वीकृति दे सकता है। ऐसी स्थिति मे विधेयक को औपचारिक रूप मे प्रस्तुत करने की आवश्यकता नही होती।

द्वितीय वाचन—विधेयक के प्रस्तुत होने के उपरान्त उसकी प्रतियाँ सदस्यो को उपलब्ध करा दी जाती है। इसके उपरान्त विधेयक का द्वितीय वाचन आरम्भ होता है। साधारणत विधेयक के प्रस्तुत होने तथा उसके वाचन मे दो दिन का अन्तर होता है, परन्तु यदि स्पीकर की राय मे विधेयक का शीघ्र पारित होना आवश्यक है तो इस दो दिन के अन्तर को खत्म भी किया जा सकता है। विधेयक का द्वितीय वाचन दो चरणो मे विभाजित किया गया है। प्रथम चरण मे प्रस्तुतकर्त्ता यह प्रस्ताव करता है कि विधेयक पर विचार किया जाय, अथवा उसे किसी प्रवर समिति को सौंप दिया जाय, अथवा किन्ही अपवादपूर्ण स्थिति मे, उसे दोनो सदनो की सयुक्त समिति को सौप दिया जाय, अथवा उस पर जनमत को जानने का प्रयास किया जाय। यदि विधेयक पर जनमत जानने का निश्चय किया गया है तो उस स्थिति मे सदन का सचिवालय राज्य सरकारो के पास एक पत्र भेजता है जिसमें उनसे अनुरोध किया जाता है कि वे विधेयक को अपने-अपने राज्यो के गजटो मे प्रकाशित करे तथा स्थानीय सस्थाओ एव अन्य मान्यता-प्राप्त समुदायो और व्यक्तियो से उसके बारे मे राय प्राप्त करे। यह राय एक निश्चित समय तक ही प्राप्त की जा सकती है और उस अवधि मे उसे सदन के सचिवालय तक पहुँच जाना चाहिए। इन रायो को प्राप्त करने के बाद उनका साराश सदस्यो के बीच वितरित कर दिया जाता है इसके उपरान्त प्रस्तुतकर्त्ता सदन से यह अनुरोध करता है कि विधेयक को किसी प्रवर समिति अथवा दोनो सदनो की सयुक्त समिति को सौप दिया जाय। इस प्रस्ताव के उपरान्त सदन मे विधेयक पर सामान्य विवाद आरम्भ होता है। इसी को विधेयक का द्वितीय वाचन कहते है। विधेयक के इस चरण मे विधेयक के सिद्धान्तो की सामान्य रूप से विवेचना की जाती है। इस चरण मे विधेयक मे सशोधन प्रस्तावित नही किये जा सकते।

जब सदन विधेयक को किसी समिति को सौपने का निर्णय कर लेता है, तो उस समय वह विधेयक पर विचार करने के लिए एक समिति को भी नियुक्त कर देता है। वस्तुत समिति के सदस्यो के नामो को प्रस्तावक अपने प्रस्ताव मे ही प्रस्तुत कर देता है तथा इसी प्रस्ताव मे इस बात का भी उल्लेख कर दिया जाता है कि समिति का प्रतिवेदन कितने दिन मे प्राप्त हो जाना चाहिए। प्रत्येक बार प्रवर समिति का अलग से गठन किया जाता है, समिति के अध्यक्ष का मनोनयन स्पीकर के द्वारा होता है सामान्यत वह बहुमत वाले दल का सदस्य होता है। परन्तु यदि डिप्टी स्पीकर समिति का सदस्य है तो उस स्थिति मे कोई दूसरा अध्यक्ष नही बन सकता। इन समितियो का काम सदन के नियमो के अन्तगत होता है। समिति की बैठको मे एक तिहाई कोरम आवश्यक माना गया है। समिति की सदस्य-सख्या सामान्यत 20 और 30 के बीच मे होती है, कभी-कभी यह सख्या 35 तक पहुँच जाती है। चूंकि विधेयक के सामान्य सिद्धान्तो की विवेचना पहले ही सदन मे हो चुकी होती है अत समिति मे विधेयक के ब्यौरे पर ही विचार

ाता है। समिति इस काम को भन्न प्रकार से सम्पादित करने के लिए एक उप-समिति को भी नियुक्त कर सकती है। समिति का अपना काम करने में सदन के सचिवालय तथा सरकार के ड्राफ्टसमैन की सेवायें उपलब्ध होती हैं।

प्रवर समिति की बैठकें किसी भी स्थान पर हो सकती हैं ये बैठकें उन दिनों भी हो सकती हैं जबकि सत्र या अधिवेशन न हो रहा हो। इस सम्बन्ध में केवल यह व्यवस्था है कि इन बैठकों को उस समय स्थगित कर दिया जायगा जबकि सदन में मत विभाजन हो रहा हो। इन समितियों की बैठकों में विधेयक के प्रस्तुतकर्ता तथा मन्त्रालय के अधिकारियों को आवश्यक सूचनाओं को प्राप्त करने के लिए बुलाया जा सकता है। कभी-कभी सरकार सार्वजनिक हित में कुछ सूचनाओं को देने से इनकार कर सकती है। प्रवर समिति में प्रक्रिया अनौपचारिक होती है तथा उसकी कार्यवाही को गुप्त रखा जाता है। उनमें समाचार पत्रों के प्रतिनिधियों को जाने की अनुमति नहीं होती। विधेयक का यह चरण उसके जीवन काल में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि इस समय उसकी बारीकी के साथ जाँच की जाती है। इस चरण में विधेयक में संशोधन प्रस्तावित किये जा सकते हैं इन संशोधनों के सम्बन्ध में केवल शर्त यह है कि वे विधेयक में निहित सामान्य सिद्धान्तों के प्रतिकूल न हों। यदि समिति ने विधेयक में अपने संशोधनों को जोड़ने का निर्णय किया है तो उस स्थिति में वह विधेयक पर दुबारा लोकमत का पता लगाने की सिफारिश कर सकती है। समिति विधेयक के सम्बन्ध में विशेषज्ञों से परामर्श ले सकती है और बाहर से गवाह बुला सकता है। उसका काम यह भी है कि वह विधेयक की प्रत्येक धारा और उप धारा की जाँच करे। इतना सब काम जब पूरा हो जाता है तो समिति अपनी सिफारिशों को जिनमें संशोधन भी शामिल हो सकते हैं। एक रिपोर्ट के रूप में सदन के समक्ष प्रस्तुत करती है।

रिपोर्ट—रिपोर्ट पर समिति के अध्यक्ष के हस्ताक्षर होते हैं और वही उसे सदन के सामने पेश करता है। यदि वह उपस्थित नहीं है तो इस काम को समिति का दूसरा सदस्य सम्पादित कर सकता है। समिति द्वारा संशोधित विधेयक तथा समिति की रिपोर्ट छाप कर सदस्यों के बीच बाँट दी जाती है। इसके पश्चात् प्रस्तुतकर्त्ता सदन के सम्मुख निम्न तीन प्रकार के प्रस्ताव पेश कर सकता है—(1) प्रवर समिति ने विधेयक को जिस रूप में प्रस्तुत किया है उस पर विचार किया जाय (2) जिस रूप में विधेयक को रिपोर्ट किया गया है उसी रूप में हिदायतों के सहित अथवा हिदायतों के बिना प्रवर समिति को विचार के लिए वापस किया जाय (3) जिस रूप में समिति ने उसको रिपोर्ट किया है उस रूप में उस पर लोकमत जाना जाय।

यदि सदन ने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया है कि उस पर विचार आरम्भ किया जाय तो उस स्थिति में विधेयक की प्रत्येक धारा एवं उप धारा पर विचार विमर्श शुरू हो जाता है। प्रत्येक धारा सदन के सम्मुख प्रस्तुत की जाती है उस समय सदस्य विधेयक में संशोधन प्रस्तावित कर सकते हैं। स्पीकर को अधिकार है कि वह किसी भी संशोधन को अनुचित बताकर प्रस्तावित ही न होने दे। *परन्तु व्यवहार में ऐसा कभी नहीं होता। प्रत्येक धारा पर* विचार वास्तव में एक लम्बी प्रक्रिया है और इसमें बहुत समय लगता है।

तृतीय वाचन—जब प्रत्येक धारा और उप धारा पर विचार का चरण पूरा हो जाता है तब विधेयक का तीसरा वाचन आरम्भ होता है। तीसरा वाचन यथार्थ में इस प्रस्ताव का दूसरा नाम है जिसमें प्रस्तावक यह प्रस्तावित करता है कि विधेयक को पारित कर दिया जाये। इस चरण में विवाद इस बात के इर्द गिर्द चक्कर काटता है कि विधेयक को स्वीकार किया जाय अथवा नहीं। इस स्थिति में समूचे विधेयक पर बात की जाती है विधेयक के ब्यौरे पर नहीं। इस चरण में सामान्यतः संशोधन प्रस्तावित नहीं किये जाते फिर भी भाषा को ठीक करने के लिए यदि किसी संशोधन का सुझाव दिया गया है तो इसकी अनुमति है। चूँकि विधेयक में सन्निहित सिद्धान्तों को पहले से ही स्वीकार कर लिया गया है तथा उसके ब्यौरे की भी परीक्षा कर ली गई है इसलिए तीसरा वाचन सामान्यतः एक औपचारिकता होती है।

एक सदन मे पारित होने के बाद, विधेयक दूसरे सदन मे प्रस्तुत किया जाता है। इस सदन मे भी विधेयक को उन समस्त चरणो मे होकर गुजरना होता है जिनमे वह लोकसभा मे से गुजर चुका है। यदि दूसरे सदन ने विधेयक को उसी रूप मे पारित कर दिया तो उसे दूसरे सदन को भेज दिया जाता है। वहाँ से भी पारित होने के बाद उसे राष्ट्रपति के पास भेज दिया जाता है। यदि दूसरे सदन ने उसे पास नही किया तो उसे उसी सदन को वापिस कर दिया जाता है जहाँ उसका जन्म हुआ था। वहाँ उसके ऊपर पुनर्विचार होता है। यदि यह सदन सशोधित विधेयक को स्वीकार कर लेता है, तो उसे राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर को भेज दिया जाता है।

विधेयक की स्वीकृति—जैसा कहा जा चुका है, जब विधेयक को दोनो सदन पास कर देते है तो उसके पश्चात् वह राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। राष्ट्रपति उस विधेयक को अपनी स्वीकृति प्रदान कर सकता है, वह अपनी स्वीकृति रोक सकता है, अथवा यदि वह धन विधेयक नही है तो वह उसे अपने सदेश के साथ पुनर्विचार के लिए वापिस कर सकता है (अनुच्छेद 111)। जब राष्ट्रपति द्वारा इस प्रकार वापिस किया गया विधेयक पुनर्विचार के बाद भी उसी रूप मे ससद द्वारा पारित कर दिया जाता है, तो उस समय राष्ट्रपति उस विधेयक को अपनी स्वीकृति देने के लिए बाध्य है।

गैर-सरकारी विधेयक—ऊपर बताया जा चुका है कि गैर-धन विधेयको को दो श्रेणियो मे बाँटा जा सकता है—सरकारी और गैर-सरकारी। गैर-सरकारी विधेयक उन विधेयको को कहते है जिनका ससद मे प्रस्तुतीकरण ससद के व्यक्तिगत सदस्यो के द्वारा होता है। इन विधेयको के सम्बन्ध मे जो सामान्य प्रक्रिया अपनाई जाती है, वह लगभग वही है जिसे सरकारी विधेयको के सम्बन्ध मे अपनाया जाता है। दोनो मे अन्तर केवल निम्नलिखित तीन बातो मे है—

(1) गैर-सरकारी विधेयक को प्रस्तुत करने का नोटिस 1 महीना पूर्व देना होता है।

(2) कोई भी सदस्य एक अधिवेशन मे चार से अधिक विधेयको का नोटिस नही दे सकता।

(3) किस विधेयक का प्रस्तुतीकरण पहले हो और किसका बाद मे, इस बात का निश्चय बैलेट के द्वारा होता है।

इस प्रकार के विधेयको को एक समिति के सुपुर्द कर दिया जाता है जिसे व्यक्तिगत सदस्यो द्वारा प्रस्तुत विधेयको की समिति (Committee on Private Members' Bills) के नाम से पुकारा जाता है। इस समिति की सबसे पहली रचना 1953 मे हुई थी और इसमे अध्यक्ष को मिलाकर 15 सदस्य होते है।

धन विधेयक

भारतीय ससद मे धन विधेयको के सम्बन्ध मे जिस प्रक्रिया को अपनाया जाता है, उसका उल्लेख सविधान की 112 से लेकर 117 धाराओ तक हुआ है। इस सम्बन्ध मे पहली उल्लेखनीय बात यह है कि भारत मे वित्तीय प्रक्रिया उन्ही सिद्धान्तो पर आधारित है जिन्हे ब्रिटेन मे स्वीकार किया गया है। कार्यपालिका अपनी तरफ से न कोई कर लगा सकती है और न कोई धनराशि व्यय कर सकती है। ऐसा करने के लिए उसे ससद के निम्न सदन की स्वीकृति आवश्यक है। परन्तु निम्न सदन अपनी पहलकदमी पर न कोई कर प्रस्तावित कर सकता है और न कोई खर्चा ही, इसी प्रकार उसे कर मे वृद्धि अथवा खर्चे मे वृद्धि करने का भी अधिकार नही है। ये सभी काम कार्यपालिका के प्रस्ताव के द्वारा ही हो सकते है।

जैसा कहा जा चुका है, धन विधेयक केवल लोकसभा मे ही प्रस्तुत किया जा सकता है। लोकसभा द्वारा पारित किये जाने के उपरान्त उसे राज्य सभा के पास भेज दिया जाता है। परन्तु राज्य सभा को उसे अस्वीकार करने का अधिकार नही है। वह उसे चौदह दिन के भीतर अपने सुझाव के साथ वापिस कर सकती है, किन्तु उन सुझावो को मानना या न मानना लोकसभा की

इच्छा पर है। यदि लोकसभा उस विधेयक को दुबारा अपने मूल रूप में ही पारित कर दे तो राज्य सभा की स्वीकृति के न होने पर भी वह राष्ट्रपति के पास उसकी स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति की शक्ति भी नहीं के बराबर है। अतः यह कहा जा सकता है कि धन विधेयक के क्षेत्र में लोकसभा का निर्णय ही अंतिम होता है।

बजट—संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक वित्तीय वर्ष में राष्ट्रपति संसद के दोनों सदनों में उस वर्ष के भारत सरकार की अनुमानित आय तथा व्यय का विवरण रखवायेगा। इस विवरण को वार्षिक वित्तीय विवरण अथवा बजट के नाम से पुकारा जाता है। भारत में बजट को दो भागों में प्रस्तुत किया जाता है—रेलवे बजट और सामान्य बजट। रेलवे बजट का सम्बन्ध केवल रेलवे की अनुमानित आय एवं व्यय के साथ होता है तथा उसे संसद में रेल मन्त्री के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। सामान्य बजट में भारत सरकार के अन्य मन्त्रालयों की आय एवं व्यय का उल्लेख होता है तथा उसका प्रस्तुतीकरण वित्तमन्त्री के द्वारा किया जाता है। दोनों प्रकार के बजट का स्वरूप एक सा होता है तथा संसद में उनको पारित करने की प्रक्रिया भी एक सी होती है। भारतीय संसदीय प्रक्रिया की इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि हमारे यहाँ ब्रिटेन की भाँति बजट के ऊपर विचार समूचे सदन की समिति में नहीं होता परन्तु सदन की साधारण बैठकों में होता है जिनमें अध्यक्षता स्वयं स्पीकर ही करता है। यद्यपि बजट को पास करने का उत्तरदायित्व लोकसभा को ही सौंपा गया है तथापि उसे राज्य सभा के सम्मुख भी पेश किया जाता है और वहाँ भी उसके ऊपर बहस होती है। बजट में अनुमानित व्यय को दो भागों में दिखाया जाता है—(1) व्यय की वह राशि जो संचित निधि पर भारित होती है (Charged upon the Consolidated Fund) तथा (2) अन्य व्यय की रकम। प्रथम श्रेणी में निम्नलिखित व्यय सम्मिलित होते हैं

(1) राष्ट्रपति का वेतन, उसके भत्ते तथा उसके पद से सम्बद्ध अन्य खर्चे (2) संसद के दोनों सदनों के अध्यक्ष एवं उपाध्यक्षों के वेतन और भत्ते (3) ऋण चुकाने के सम्बन्ध में व्यवस्था (interest and sinking fund charges) (4) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन उनके भत्ते और पेन्शन आदि (5) कोई भी वह व्यय जिसे संविधान अथवा संसद कानून द्वारा ऐसा घोषित कर दे तथा सर्वोच्च न्यायालय के संगठन का पूरा व्यय, रियासतों के राजाओं को दी जाने वाली निजी थैलियाँ (Privy Purses) तथा संघीय लोक सेवा आयोग का पूरा व्यय।

उपर्युक्त श्रेणी में सम्मिलित खर्चों के ऊपर सदन में मतदान नहीं होता परन्तु उन पर विवाद हो सकता है। संचित निधि पर भारित एवं अन्य खर्चों की अनुमानित राशियाँ अनुदानों की माँगों (Demands for grants) के रूप में लोकसभा में रखी जाती हैं। सभा को उनमें कटौती करने का अथवा उन्हें अस्वीकार करने का अधिकार प्राप्त है परन्तु वह उनमें वृद्धि नहीं कर सकती। जैसा कहा जा चुका है कि अनुदानों माँगें केवल राष्ट्रपति की सिफारिश पर ही लोक सभा में रखी जा सकती है।/

बजट पर साधारण वाद विवाद—बजट के प्रस्तुत किये जाने के थोड़े दिनों बाद संसद के दोनों सदनों के आय व्यय के प्रस्ताव पर साधारण वाद विवाद होता है। इसके लिए दो तीन दिन दिये जाते हैं। यह वाद विवाद के मुख्यतः आय सम्बन्धी प्रस्तावों में निहित मूल सिद्धान्तों अथवा उनकी नीति पर केन्द्रित होता है उसमें आय व्यय सम्बन्धी विस्तार की बातों पर विचार किया जाता। इस विवाद के समय कटौती प्रस्ताव भी पेश नहीं किये जा सकते। इस अवसर पर सदस्य प्रशासन की नीतियों का सिंहावलोकन करते हैं तथा प्रशासन से सम्बद्ध अपनी शिकायतों की अभिव्यक्ति भी करते हैं। मारिस जोन्स ने लिखा है कि "यह वह अवसर है जबकि प्रत्येक सदन अपनी मनोदशा को व्यक्त करता है और सरकार उसके द्वारा यह सीख सकती है कि आने वाले चरणों में उसके किसी विशिष्ट प्रस्ताव का किस प्रकार स्वागत किया जायेगा।

मांगों पर मतदान—अनुदानों पर सामान्य विवाद के पूर्ण हो जाने के बाद बजट के सम्बन्ध

से राज्य सभा की प्रभावशाली भूमिका की भी इतिश्री हो जाती है। इसके उपरान्त अनुदानों की माँगों पर मतदान होता है। इन माँगों का सम्बन्ध बजट के उस भाग से है जिसमे व्यय का उल्लेख होता है तथा उन्हे कार्यपालिका के सदस्य अनुरोध के रूप मे इसलिए प्रस्तुत करते है ताकि प्रशासन को चलाया जा सके। प्रत्येक मन्त्रालय की माँगो को लोकसभा के समक्ष अलग-अलग प्रस्तुत किया जाता है तथा उन पर अलग-अलग मतदान होता है। लोकसभा के नेता के परामर्श से स्पीकर प्रत्येक मन्त्रालय की माँगो तथा समूचे बजट के व्यय वाले भाग के लिए समय निश्चित करता है। जैसे ही समय पूरा हो जाता है, विवाद बन्द कर दिया जाता है और माग पर मतदान कराया जाता है। इसी प्रकार बजट के व्यय वाले भाग पर विवाद निश्चित दिन को शाम के पाँच बजे खत्म कर दिया जाता है और वे सभी मागे जिन पर विवाद चाहे आरम्भ भी न हुआ हो, मतदान के लिए सदन के सम्मुख रख दी जाती है।

प्रतिवर्ष जो साधारण अनुदान देते है उनके अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्रपति पूरक माँगों (Supplimentary grants) को भी सदन के सम्मुख प्रस्तुत करता है। उनके सम्बन्ध मे भी इसी प्रक्रिया का पालन किया जाता है। इसी प्रकार लोकसभा को अग्रिम (advance) अनुदान तथा अपवाद (exceptional) अनुदान देने का भी अधिकार प्रदान किया गया है। इसमे लेखानुदान (vote of account) को महत्त्वपूर्ण समझा जाना चाहिए। इसका आशय यह है कि उक्त अनुदान की माँग तथा आय के ऊपर संसद द्वारा विचार पूर्ण होने के पूर्व ही सरकार के आवश्यक खर्चो के हेतु वित्तीय वर्ष के प्रारम्भिक काल के लिए एक बड़ी धनराशि पेशगी अनुदान के रूप मे स्वीकार कर दी जाती है। फलस्वरूप आय-व्यय प्रक्रिया को 31 मार्च से पूर्व पूरा करना आवश्यक नहीं रहा।

करो की स्वीकृति और वित्त विधेयक—विनियोग अधिनियम (Appropriations Act) के पारित होने के उपरान्त सदन बजट के दूसरे भाग अर्थात् आय एवं कर-सम्बन्धी प्रस्तावो पर विचार करता है। कुछ कर स्थायी होते है जिन पर सदन प्रतिवर्ष विचार नही करता। जिन कानूनो द्वारा कर आरोपित किये जाते है, उनके अन्तर्गत कार्यपालिका उनकी दरो को घटाने अथवा बढ़ाने-सम्बन्धी कार्यवाही करती है। कुछ कर ऐसे है जिनकी दरो को ससद प्रतिवर्ष निर्धारित करती है। इस प्रकार के करो मे आय-कर (Income-tax), आयात-निर्यात कर (Customs Duties), उत्पादन महसूल (excise-duties) शामिल है। आगामी वर्ष के लिए सभी कर-सम्बन्धी प्रस्तावो को एक विधेयक के रूप मे संसद के सन्मुख प्रस्तुत किया जाता है। यही विधेयक वास्तव मे आय विधेयक होता है। उसके पारित होने के पश्चात् ही नये कर-सम्बन्धी प्रस्ताव प्रभावी होते है। नये कर-सम्बन्धी प्रस्तावो को वर्ष मे किसी भी समय लाया जा सकता है, उन्हे भी वित्तीय विधेयक के रूप मे पारित होने के बाद लागू किया जाता है।

संसदीय समितियाँ

आधुनिक व्यवस्थापिका मे संसदीय समितियो का महत्त्व अत्यधिक होता है। वस्तुत ससद का वास्तविक काम समितियो के माध्यम से ही होता है। संसद के पास न तो इतना समय है और न उसके पास इतनी क्षमता ही है कि वह उन समस्त कार्यो का निष्पादन कर सके जो उसे सौंपे गए है। अत जैसा लोकसभा के भूतपूर्व सचिव एम० एन० कौल ने कहा है—'संसद नीति की विवेचना करती है, परन्तु जब तक ऐसी समितियाँ न हो जो उनके ब्यौरे का विवेचन कर सके, और जहा वे लोग जो प्रशासन चलाते है, आकर अपनी गवाही न दे सके, जहाँ मामलो की अच्छी तरह जाँच न हो सके, संसदीय नियन्त्रण दुर्बल रहेगा।' जहाँ तक विधायी कार्य का सम्बन्ध है, संसद और उसकी समितियो के बीच काम का विभाजन अत्यन्त आवश्यक है। संसद किसी भी विधेयक मे सन्निहित केवल सामान्य सिद्धान्तो की जाँच कर सकती है, उससे अधिक की वास्तव मे संसद से अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। संसद द्वारा सामान्य विवेचना के उपरान्त विधेयक

ममिनिया क हवाल कर न्यि जात ह जना उन पर यारीना क माथ विचार किया जाता ै। अन्त म जब व समिति की मिफारिश ग्रथवा मुभाव क माथ ममन म वापिस आत ह तो वही उन पर अतिम निणय नता है। समिनि म काम मन्न की अपक्षा अधिक प्रभावा हाना है। समिनि ययाथ म ममन का ही एक छोटा रूप है क्योंकि नमम मन्न क प्रत्यक वग का प्रतिनिधित्व दन का प्रयाम किया जाता है। समिनि और मन्न क काम करन म एक बडा अतर यह ह कि ममिति की बठका म दलगत राजनीति की वह ग्रभिव्यक्ति नहा हाता जो मन्न की साधारण बठका म हाती ह। नमक अतिरिक्त ममिनि की बठक चूकि गुप्त हाता हैं नमलिए उनम मदस्या को उम प्रकार क भाषण करन की भी आवश्यकता नहा है जिनका व मन्न म बहुधा प्रदशन किया करत हैं। नन ममिनिया द्वारा किया जान वाला काम निस्सन्देह नतना महत्वपूण ह कि नागन मुकर्जी न ता यहा तक मुभाव दिया ह कि समन क औपचारिक कामा म कमी की जानी चाहिए तथा ममिनिया क काम का बढाया जाना चाहिए ताकि मन्स्या की प्रनिभा एव मवा का अधिक मक्रिय रूप म काम म लाया जा सक।

भारत की ममिति प्रणाली की एक उल्लेखनीय बात यह है कि नमार यहा स्थायी समितिया की व्यवस्था नहा की गई ह। जब किमी विधयक का किमी ममिनि क हवाल करन का निणय लिया जाता है उस ममय उस उद्देश्य की पूर्ति क लिए एक अस्थायी प्रवर समिनि का भा नियुक्त कर लिया जाता ह। परन्तु नमक बावजूद मन्न म कुछ नियमित समिनिया भी है जिन्ह चार श्रणिया म बाटा जा मकता है—(1) सामान्य समितिया (2) जाच समितिया (3) विधायी ममितिया और (4) वित्तीय समिनिया। नन समिनिया की रचना क लिए मामान्यत तीन तरीक प्रयोग म लाय जात ह। प्रवर ममिनिया तथा दो वित्तीय ममितिया (लोक लखा समिति और अनुमान समिति) का छोडकर शष अन्य मभी समिनिया क सदस्या का मनोनयन स्पीकर क द्वारा हाता ह। प्रवर ममितिया क सदस्या क नामा का विधयक का प्रस्तुतकर्ता पश करता है। अनुमान ममिति तथा लोक लखा ममिनि क मदस्या का सानुपातिक प्रतिनिधित्व क आधार पर लोकसभा के द्वारा निर्वाचन होता ह।

1 सामान्य समितिया—नन ममिनिया क अतगत जा समितिया शामिल है व इस प्रकार है—नियम समिति (Rules Committee) काय सचालन परामशदात्री समिति (Business Advisory Committee) मामान्य उद्देश्य ममिनि (General Purposes Committee) गृह समिति (Home Committee) और सरकारी आश्वामना की समिनि (Committee on Government Assurances)। यहा नन समिनिया की सक्षिप्त विवचना आवश्यक है।

नियम समिति म 15 सदस्य हात ह जिन्ह स्पीकर मनोनीत करता है। स्पीकर स्वय नस समिति का अध्यक्ष होता है। नस समिति का काम मन्न क काय-सचालन की प्रक्रिया पर विचार करना तथा उमका निष्पादन करना ह तथा यदि आवश्यक हो ता प्रक्रिया को सुधारन के लिए उपाया की मिफारिश करना है। नम समिनि की बठका म नमके सदस्या के अतिरिक्त अन्य सदस्या को भी *आमन्त्रित किया जा सकता है। 1954 तक प्रक्रिया क नियमा म स्पीकर समिनि की* सिफारिशा पर परिवतन किया करता था। परन्तु अब ममिति की मिफारिश मन्न क सम्मुख प्रस्तुत की जाती हैं तथा सन्न ही उन्ह स्वीकार करता है।

सन्न क कायक्रम तथा समय का निर्धारण **काय सचालन परामशदात्री समिति** की सहायता स होता है। नस समिनि म 15 सदस्य हात ह और स्पीकर नस ममिति का भी अध्यक्ष होता ह। समिनि की मिफारिश पर तथा लोकसभा क नता एव विरोधी गुटा क नताओ क परामश स स्पीकर सन्न क कायक्रम का सचालन करता है। कभी कभी वह समिति अपनी पहल पर यह सिफारिश भी करती है कि सावजनिक महत्व क कुछ विषया का मदन क सम्मुख प्रस्तुत किया जाय तथा वह उनक लिए समय भी निश्चित करती है। समिनि की मिफारिशें अभी तक सवसम्मति स हुई हैं फलत सदन न भी उसके प्रतिवदना और मिफारिशा का एकमत स स्वीकार किया ह।

सामान्य उद्देश्य समिति की रचना 1954 मे हुई थी। उसमे 20 सदस्य होते हैं जिनमे अध्यक्ष मण्डल (Panel of Chairmen) के सदस्य, विभिन्न दलो के नेता तथा कुछ अन्य सदस्य शामिल होते है। इस समिति का भी अध्यक्ष स्पीकर होता है। इस समिति का काम सदन के सगठन एव उसकी कार्य-प्रणाली मे सुधार के सम्बन्ध मे स्पीकर को परामर्श देना है। इस समिति की सिफारिशो पर ही स्वचालित मतगणना प्रणाली का समारम्भ हुआ है, सदस्यो के लिए क्लब की स्थापना हुई है तथा ससदीय रिपोर्टों को जल्द छापने की व्यवस्था की गयी है।

गृह समिति मे 12 सदस्य होते है तथा उसकी रचना प्रति वर्ष स्पीकर के द्वारा की जाती है। इस समिति का काम सदस्यो के लिए आवास की सुविधा की व्यवस्था करना है।

सरकारी आश्वासनो की समिति भारत की एक अपनी निराली सस्था है। मॉरिस-जोन्स ने उसे 'पूर्णत भारत का अपना आविष्कार' बताया है। इस समिति की स्थापना 1953 मे हुई थी। उसमे 15 सदस्य होते है। इस समिति का काम समय-समय पर मन्त्रियो द्वारा सदन मे दिये गये आश्वासनो की जॉच करना है तथा इस बात की रिपोर्ट करना है कि उन आश्वासनो को किस सीमा तक कार्यान्वित किया गया है और आश्वासनो के कार्यान्वियन मे आवश्यकता से अधिक समय तो नही लगाया गया।

2 **जॉच समितियॉ**—इस श्रेणी के अन्तर्गत दो समितियॉ रखी जाती है—विशेषाधिकार समिति (Privileges Committee) तथा याचिका समिति (Committee on Petitions)।

विशेषाधिकार समिति मे 15 सदस्य होते हे और इसकी रचना सदन के गठित होने के समय होती है। इस समिति का काम सदन और उसके सदस्यो के अधिकारो तथा सम्मान की रक्षा करना है। विशेषाधिकार का प्रश्न अनेक प्रकार से उठ सकता है। किसी समाचार-पत्र मे सदन के किसी सदस्य अथवा सदन की कार्यवाही के सम्बन्ध मे आपत्तिजनक लेख अथवा समाचार प्रकाशित हो सकता हे, कोई सदस्य किसी अन्य सदस्य के विरुद्ध अपमानजनक भाषण दे सकता है, कोई सदस्य स्पीकर के निर्णय पर आपत्तिजनक तरीके से अपने मत को व्यक्त कर सकता है—स्पष्टत ये सभी परिस्थितियॉ विशेषाधिकार के प्रश्न को जन्म दे सकती है। इस प्रकार के प्रश्न को विशेषाधिकार समिति को सौप दिया जाता है। समिति इस प्रश्न की जॉच करती है, वह इसके लिए गवाह बुला सकती है, वह सम्बद्ध व्यक्तियो से सफाई मॉग सकती है। इतना करने के बाद समिति का अध्यक्ष सदन के समक्ष अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करता है, उसके उपरान्त सदन का नेता यह प्रस्तावित करता हे कि उक्त मामले मे क्या कार्यवाही की जाए। सदन उस प्रस्ताव के ऊपर अपना निर्णय लेता है।

याचिका समिति मे भी 15 सदस्य होते है और उसकी रचना भी सदन के गठन के समय पर ही स्पीकर के द्वारा होती हे। कोई भी मन्त्री इस समिति का सदस्य नही बन सकता। इस समिति का काम उन याचिकाओ पर निर्णय लेना होता है जो सदन के सन्मुख व्यक्तियो अथवा सस्थाओ के द्वारा प्रस्तुत की जाती है। प्रत्येक याचिका की जॉच करने के लिए समिति गवाहो को बुला सकती हे। अपनी जॉच पूरी करने के बाद समिति अपना प्रतिवेदन सदन के सन्मुख प्रस्तुत करती हे जिसमे वह यह सुझाव देती हे कि याचिका मे निहित शिकायतो का कैसे निराकरण किया जाये।

3 **विधायी समितियॉ**—विधायी समितियो के अन्तर्गत निम्न समितियॉ आती है—(अ) प्रवर समितियॉ, (ब) व्यक्तिगत सदस्यो द्वारा प्रस्तुत विधेयको एव प्रस्तावो की समिति, तथा (स) अधीनस्थ कानून-निर्माण की समिति (Committee on Subordinate Legislation)।

जैसा कहा जा चुका है कि **प्रवर समितियो** के सदस्यो का नामाकन स्वय विधेयक के प्रस्तुत-कर्ता के द्वारा किया जाता है। इन समितियो की सदस्य-सख्या निश्चित नही होती। समिति के सदस्यो मे से किसी एक को स्पीकर उसका अध्यक्ष मनोनीत कर देता हे। यह अध्यक्ष सामान्यत शासक दल से सम्बद्ध होता है। इन समितियो को गवाही के लिए किसी भी व्यक्ति को अपने सन्मुख

उपस्थित होने का आदेश देने का अधिकार है। कभी-कभी समितियाँ विधेयक की अधिक विस्तृत जाँच के लिए उप-समितियों का भी गठन करती हैं। कभी-कभी दोनों सदनों की संयुक्त प्रवर समितियों को भी नियुक्त किया जाता है। इस प्रकार की समितियों में लोकसभा एवं राज्य सभा के सदस्यों में 2 और 1 का अनुपात होता है।

व्यक्तिगत सदस्यों के विधेयकों एवं संकल्पों से सम्बद्ध समिति की रचना 1953 में हुई थी। इसमें 15 सदस्य होते हैं जिनका मनोनयन स्पीकर के द्वारा एक वर्ष की अवधि के लिए होता है। डिप्टी स्पीकर इस समिति का अध्यक्ष होता है। सरकारी विधेयकों के सम्बन्ध में जो काम कार्य संचालन परामर्शदात्री समिति को सौंपा गया है वह काम गैर-सरकारी विधेयकों के सम्बन्ध में इस समिति को सौंपा गया है। विधेयकों के महत्त्व तथा उनकी आवश्यकता के आधार पर गैर सरकारी विधेयकों को श्रेणियों में बाँटा जाता है। समिति इसी आधार पर यह निश्चित करती है कि उसके ऊपर कितने समय तक विचार किया जाय। संविधान में संशोधन से सम्बद्ध गैर-सरकारी विधेयकों की जाँच इस समिति के द्वारा इनके प्रस्तुतीकरण के पहले की जाती है। इसी प्रकार समिति इस बात की भी जाँच करती है कि कोई विधेयक संसद की कानून बनाने की क्षमता से परे तो नहीं है।

अधीनस्थ कानून रचना से सम्बद्ध समिति का काम उन नियमों की जाँच करना है जो संसद द्वारा प्रदत्त शक्ति के अधीन सरकार की कार्यपालिका शाखा के द्वारा निर्मित किये गये हैं। इस समिति की सबसे पहले स्थापना 1953 में हुई थी और इसका काम यह था कि वह प्रदत्त व्यवस्थापन (Delegated Legislation) पर संसद के नियन्त्रण को ढीला न होने दे। इस समिति के 15 सदस्य होते हैं जिन्हें स्पीकर मनोनीत करता है। अपने काम के सम्पादन में समिति को निम्न बातों पर ध्यान रखना होता है—(1) क्या यह उस कानून के सामान्य दिशा के अनुकूल है जिसको कार्यान्वित करने के लिए उसकी रचना हुई है (2) क्या उसमें वह मामला शामिल तो नहीं है जिसके ऊपर संसद द्वारा पारित कानून की आवश्यकता है (3) क्या उसके द्वारा कर आरोपित किये गये हैं (4) क्या वह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से न्यायालयों का क्षेत्र मर्यादित करता है (5) क्या वह कानून के किसी प्राविधान को किसी पिछली तिथि से तो प्रभावी नहीं बनाता जिसकी कानून के अन्तर्गत उस शक्ति प्रदान नहीं की गयी है (6) क्या उसमें कोई ऐसा व्यय तो सन्निहित नहीं है जो सार्वजनिक राशि अथवा संचित निधि पर भारित हो (7) क्या वह कानून के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किसी शक्ति की व्यवस्था तो नहीं करता जो असाधारण अथवा अप्रत्याशित हो (8) क्या उसके प्रकाशन अथवा संसद के समक्ष उसके प्रस्तुतीकरण में आवश्यकता से अधिक विलम्ब तो नहीं हुआ तथा (9) क्या किसी कारण से उसके स्वरूप अथवा उद्देश्य में स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इस समिति का काम अत्यधिक महत्वपूर्ण है। उसके पास यह उत्तरदायित्व है कि वह संसद की प्रभुसत्ता तथा नागरिकों के अधिकारों की कार्यपालिका के अतिक्रमणों से रक्षा करे। इसका आशय यह कदापि नहीं है कि इस समिति का काम प्रशासन का विरोध करना है। वस्तुतः मन्त्रालयों और समिति के बीच एक बड़ी सीमा तक सहयोग पाया जाता है। इस समिति के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि इसकी बैठकों में सदस्य दलगत भावना से प्रेरित होकर काम नहीं करते अतः उनके निर्णय निष्पक्ष होते हैं।

4 **वित्तीय समितियाँ**—मारिस जोन्स ने लिखा है कि—"यदि यह सत्य है कि कोई भी विधानमण्डल अपनी समितियों के द्वारा जाना जाता है तो यह आशा करना बुद्धिसंगत होगा कि वित्तीय समितियों को मुख्य रूप से विशेष महत्त्व माना जाय। वित्तीय समितियों के अन्तर्गत तीन महत्त्वपूर्ण समितियों के नाम लिये जाते हैं। वे हैं—(1) अनुमान समिति (Estimates Committee) (2) लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee) तथा (3) सार्वजनिक उद्योग धन्धों की समिति (Committee on Public Undertakings)।

अनुमान समिति मे 30 सदस्य होते है जिन्हे एक वर्ष की अवधि के लिए लोकसभा अपने सदस्यो मे से सानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर निर्वाचित करती है। इस समिति का काम मुख्यत प्रशासकीय व्यय मे मितव्ययिता लाना है। अत वह बजट प्रस्तावो की विस्तारपूर्वक जॉच करती है। उसकी आलोचनाओ और सुझावो ने प्रशासन मे अपव्यय को रोकने मे एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। समिति को निम्नलिखित काम सौपे गये है—

(1) यह बताना कि बजट अनुमानो मे सन्निहित नीति के अन्तर्गत सगठन मे किस प्रकार मितव्ययिता और कार्य-कुशलता लाई जाय।

(2) प्रशासन मे कार्य-कुशलता और मितव्ययिता लाने के लिए वैकल्पिक नीतियो का सुझाव देना।

(3) इस बात की जॉच करना कि अनुमानो मे निहित नीतियो की सीमा के अन्तर्गत क्या धन का विनियोजन सही हो रहा है।

(4) ससद के समक्ष अनुमानो को प्रस्तुत करने के स्वरूप के सम्बन्ध मे सुझाव देना।

पिछले वर्षो मे इस समिति ने सरकार के ऊपर प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष दोनो तरीको से प्रभाव डाला है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उसके प्रभाव मे निरन्तर वृद्धि हो रही है और अब उसका प्रभाव इतना व्यापक है कि बजाय इसके कि वह फिजूलखर्ची के विरुद्ध केवल चौकीदारी का काम सम्पादित करे, वह आज 'एक प्रकार से ससद का तृतीय सदन' बन चुकी है।

लोक लेखा समिति को एक प्रकार से अनुमान समिति का पूरक समझा जाना चाहिए। अनुमान समिति का काम सार्वजनिक व्यय के अनुमानो की जॉच करना है, जबकि लोक लेखा समिति का काम यह देखना है कि क्या सार्वजनिक व्यय उन मदो पर किया गया जिनके लिए उसे स्वीकृति दी गयी थी।

इस समिति की सदस्य-सख्या 22 है, जिसमे 15 लोकसभा मे से लिए जाते ह और 7 राज्य सभा मे से। इनका निर्वाचन दोनो सदनो के द्वारा एक वर्ष की अवधि के लिए किया जाता है। कोई भी मन्त्री इस समिति का सदस्य नही हो सकता। लोकसभा की प्रक्रिया नियम 241 [1] के अनुसार यह समिति भारत सरकार के व्यय के लिए लोकसभा द्वारा अनुदत्त राशियो का विनियोग दिखाने वाले लेखो, भारत सरकार के वार्षिक वित्त लेखो और लोकसभा के सामने रखे गये ऐमे अन्य लेखो की जॉच करती है।

लोक लेखा समिति को निम्न कर्तव्य भी सौपे गये है—(1) राजकीय निगमो, व्यापार तथा निर्माण योजनाओ एव परियोजनाओ की आय तथा व्यय दिखाने वाले लेखा विवरणो की जॉच करना, जिन्हे तैयार करने की राष्ट्रपति ने उपेक्षा की हो या जो कि किसी विशेष निगम, व्यापार सस्था अथवा परियोजना के लिए वित्त व्यवस्था विनियमित करने वाले सविहित नियमो के उपबन्धो के अन्तर्गत तैयार किये गये हो तथा उन पर नियन्त्रक एव महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन की जॉच करना, (2) स्वायत्तशासी तथा अर्वस्वायत्तशासी निकायो का आय तथा व्यय दिखाने वाले लेखा विवरणो की जॉच करना, जिसका लेखा परीक्षण नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक द्वारा राष्ट्रपति के निर्देशो के अन्तर्गत अथवा सम्द की किसी सविधि के अनुसार किया जा सके, तथा (3) उन मामलो मे नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन पर विचार करना जिनके सम्बन्ध मे राष्ट्रपति ने उससे किन्ही प्राप्तियो की लेखा-परीक्षा करने की अथवा किसी भी अन्य प्रकार के लेखो की परीक्षा करने की अपेक्षा की हो।

यह बताने की आवश्यकता नही कि ससद की एक समिति के द्वारा सरकार के लेखो की जाच उसकी अनियमितताओ के ऊपर निस्सन्देह एक रोक है। इससे सरकारी विभागो को अपने काम के सचालन मे अधिक सावधानी बरतने की प्रेरणा मिलती ह। इसकी रिपोर्ट सदन के सन्मुख विचारार्थ प्रस्तुत की जाती ह और इस प्रकार सार्वजनिक लेखा सम्बन्धी कमियाँ सबके सामने आती है।

वित्तीय समितियों में आयु में सबसे अधिक छोटी सार्वजनिक उद्योग धन्धों की समिति है। इसकी स्थापना सन् 1964 में हुई थी। इसके सदस्य संख्या 15 है जिनमें से 10 लोकसभा में से और 5 राज्य सभा में से निर्वाचित किये जाते हैं। इस समिति को निम्न काम सौंपे गये हैं—

(1) उन सार्वजनिक उद्योगों के प्रतिवेदनों और लेखों की जांच करना जो इस समिति को विशेष रूप से सौंपे गये हैं (2) सार्वजनिक उद्योगों के सम्बन्ध में यदि नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक का कोई प्रतिवेदन हो तो उसकी जांच करना (3) सार्वजनिक उद्योगों की स्वायत्तता एवं कार्यकुशलता को ध्यान में रखते हुए इस बात की जांच करना कि उनका प्रबन्ध व्यापार के सिद्धान्तों तथा बुद्धिसंगत व्यापारिक आचरणों के अनुकूल हो रहा है अथवा नहीं और (4) सार्वजनिक उद्योगों से सम्बद्ध लोक लेखा समिति एवं अनुमान समिति में निहित उन कार्यों का सम्पादन करना जो (1) (2) और (3) के अन्तर्गत नहीं आते तथा जिनके निष्पादन का दायित्व उस स्पीकर के द्वारा सौंपा गया हो। आजकल देश में सरकारी क्षेत्र में 83 उद्योग धन्धे हैं और उनमें 3 अरब 50 करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई है। उनकी कार्य प्रणाली का कोई भी पहलू ऐसा नहीं है जिसकी समिति ने भली प्रकार जांच न की हो। समिति का काम सार्वजनिक उद्योगों के दैनिक प्रशासन की देख रेख करना नहीं है और न उनका काम इनकी नीतियों की जांच करना है। इसका काम केवल उनके कार्यक्रमों, प्रबन्ध, वित्तीय कार्य संचालन आदि का परीक्षण करना है। इन उद्योगों पर समुचित देख रेख को कायम करने में यह समिति उपयोगी सिद्ध हुई है।

भारतीय संसद—एक मूल्यांकन

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय संसद देश की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण निकाय है। वस्तुतः देश की समस्त महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर—चाहे वे राष्ट्रीय हों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय यहां विचार विमर्श होता है। इस विचार विमर्श में देश के सभी वर्गों के लोग रुचि लेते हैं। जब संसद किसी महत्त्वपूर्ण समस्या पर विचार करती है तो उस समय लोग हजारों की संख्या में दर्शक गैलरी में पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। जनता की शिकायतों को व्यक्त करने के क्षेत्र में भी संसद की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। यह सत्य है कि संसद में विरोधी दल कभी अधिक शक्तिशाली नहीं रहा तथापि संसद में उसके योगदान को कम करके नहीं आंका जा सकता। सच बात यह है कि संसद में विरोधी समुदायों ने अपनी शक्ति से अधिक प्रभाव को प्रदर्शित किया है।

संसद को अधिक प्रभावशाली बनाने के मार्ग में अनेक बाधायें हैं इनमें भाषाओं की अनेकता को एक बड़ी बाधा माना जाना चाहिये। संविधान की 120वीं धारा में लिखा है कि संसद में कार्य का संचालन हिन्दी अथवा अंग्रेजी में होगा परन्तु उसमें यह व्यवस्था भी की गई है कि स्पीकर किसी ऐसे सदस्य को अपनी मातृ भाषा में भाषण करने का अधिकार प्रदान कर सकता है जो अपने आपको उपर्युक्त दोनों भाषाओं में से किसी में अच्छी प्रकार से व्यक्त करने में असमर्थ हो। अधिकांश सदस्य हिन्दी अथवा अंग्रेजी में अपने आपको व्यक्त कर सकते हैं परन्तु दक्षिण भारत से आने वाले बहुत से सदस्य ऐसा करने में असमर्थ हैं। पिछले दिनों में अनुवाद की सुविधा की व्यवस्था की गई है परन्तु यह व्यवस्था अभी तक पूर्ण सफल नहीं हो सकी है।

भारतीय विधायकों की अनुभवहीनता तथा वांछित ज्ञान के अभाव को एक दूसरी बाधा माना जा सकता है। भारत के विधायकों के सम्बन्ध में पामर तथा टिंकर का यह मत यहां उल्लेखनीय है—वे केवल अनुभवहीन ही नहीं हैं वरन् कम शिक्षित भी हैं। उन्हें कम वेतन भी मिलता है तथा अधिकांशतः उन्हें कठिन परिस्थितियों में रहना होता है। उनके लिए पर्याप्त रूप से सहायता की भी व्यवस्था नहीं है और उन्हें नोट तथा भाषणों और प्रतिवेदनों को तैयार करने में कोई सहायता नहीं मिलती। यहां तक कि बहुत से सदस्य संसद की उन सुविधाओं को भी प्रयोग में नहीं लाते जो उन्हें प्राप्त हैं। उनके लिये गम्भीर चिन्तन अथवा अध्ययन के लिये समय अथवा अवसर निकालना एक दुष्कर कार्य है। उनके रहने का तरीका तथा उनके रहने के प्रबन्ध

उन्हे सुगमता से उन लोगो का शिकार बना देते है जो उनके इर्द-गिर्द सभी समय घूमा करते है। बहुधा उनका अपने निर्वाचको से सम्बन्ध टूट जाता है, यदि निर्वाचको की राजनीति मे दिलचस्पी है तो उन्हे स्थानीय निकायो तथा राज्य के विधानमण्डल मे अपने प्रतिनिधित्व मे अधिक रुचि है अपेक्षाकृत सुदूर नई दिल्ली मे स्थित अपने प्रतिनिधियो मे।'

अत इस पृष्ठभूमि मे भारत की राजनीतिक पद्धति मे ससद की भूमिका का मूल्याकन करना कठिन काम है। यह ठीक है कि वह देश मे कानून निर्मित करने का सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण अधिकरण है, परन्तु सच बात यह है कि बुनियादी प्रश्नो का समाधान ससद के द्वारा नही होता। वास्तव मे औसत ससद सदस्य को देखते हुए ससद मे इस काम की अपेक्षा भी नही की जा सकती। फलत ससदीय पद्धति मे उससे जिस भूमिका की आशा की जानी चाहिये, उसे निबाहने मे वह असमर्थ रही है। यथार्थ मे यह दुर्बलता केवल भारतीय ससद की ही नही है, इसे ब्रिटेन मे भी अवलोकित किया जा सकता है जहाँ मुख्य शक्ति अब मन्त्रिमण्डल तथा सिविल सर्विस के द्वारा परिचालित होती है। परन्तु इन सीमाओ के होते हुए भी भारत की ससद ने पिछले वर्षो मे अनेक बार इस तथ्य का प्रमाण दिया है कि वह प्रशासकीय यन्त्र का एक आवश्यक हिस्सा है। देश के सभी प्रधानमन्त्रियो ने उसकी कार्यवाहियो मे सक्रिय रूप से भाग लिया है, वस्तुत उनका अपने दल मे नेतृत्व भी इस बात पर अवलम्बित होता है कि वे ससद के विभिन्न वर्गो मे अपने लिये किस सीमा तक समर्थन प्राप्त कर सकते है। 1969 मे काग्रेस की फूट के बाद यह बात स्पष्ट रूप से व्यक्त हो गई थी।

प्रश्न

1 राज्य सभा और लोकसभा के पारस्परिक सम्बधो पर प्रकाश डालते हुए यह बताइए कि क्या भारतीय द्वितीय सदन शक्तिहीन सदन है?
2 लोकसभा की रचना कैसे होती है?
3 लोकसभा के स्पीकर पर एक सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।
4 भारत मे गैर-वित्तीय विधेयको को किस प्रकार पारित किया जाता है?
5 वित्तीय विधेयको को पारित करने के सम्बन्ध मे सविधान मे क्या व्यवस्थाये की गई है?
6 ससदीय समितियो पर एक टिप्पणी लिखिये।

संघीय न्यायपालिका (THE UNION JUDICIARY)

संघीय संविधान की बहुत सी विशेषताओं में से एक आवश्यक विशेषता यह है कि उसमें एक स्वतन्त्र एवं सुसंगठित न्यायपालिका की व्यवस्था होनी चाहिए। संघीय राज्य में संघ सरकार तथा इकाइयों की सरकारों के बीच शक्तियों का बंटवारा होता है। इस प्रकार की शासन प्रणाली में अधिकार-क्षेत्रों के प्रश्नों पर दोनों प्रकार की सरकारों के बीच अथवा इकाइयों की सरकारों के बीच विवाद उठ सकते हैं। यही नहीं संघीय राज्य में सरकार की विभिन्न शाखाओं की शक्तियों को भी मर्यादित कर दिया जाता है अतः यदि सरकार की कोई शाखा अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करती है तो विवाद उठ सकते हैं। इन सभी विवादों का निवारण करने के लिए निष्पक्ष एवं शक्तिशाली न्यायपालिका की आवश्यकता है।

भारत में सर्वोच्च न्यायालय न केवल राज्य के संघात्मक स्वरूप की रक्षा करता है अपितु उसे यह दायित्व भी सौंपा गया है कि वह सरकार द्वारा सत्ता के दुरुपयोग के विरुद्ध नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करे। वस्तुतः सभी लोकतान्त्रिक राज्यों में न्यायपालिका से इस काम की अपेक्षा की जाती है। संविधान सभा में सर्वोच्च न्यायालय के इस काम पर पर्याप्त रूप से बल दिया गया था। वस्तुतः एक सदस्य ने तो इसे लोकतन्त्र का प्रहरी (watch dog of democracy) घोषित किया था और इसी आधार पर सदस्यों ने यह मांग की थी कि न्यायपालिका को कार्यपालिका के नियन्त्रण से मुक्त होना चाहिये। संविधानकारों ने न्यायालय की स्वतन्त्रता को कायम रखने के लिए अग्रलिखित आठ व्यवस्थायें की हैं

1 नियुक्ति—सर्वोच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के उन न्यायाधीशों के परामर्श से होती है जिनसे राष्ट्रपति इस सम्बन्ध में परामर्श लेना चाहता है परन्तु मुख्य न्यायाधीश को छोड़कर अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के समय राष्ट्रपति मुख्य न्यायाधीश से परामर्श लेना आवश्यक है।

2 योग्यताएं—न्यायाधीशों की नियुक्ति को राजनीतिक प्रभावों से मुक्त रखने के लिए संविधान में उनके लिए न्यूनतम योग्यतायें बहुत ऊंची रखी गयी हैं।

जो व्यक्ति न्यायाधीशों के पद पर नियुक्त किया जाए उसे भारत के नागरिक होने के अतिरिक्त (अ) किसी भी उच्च न्यायालय में न्यायाधीश के पद पर पांच वर्ष तक काम करने का अनुभव होना चाहिए अथवा (ब) वह दस वर्ष तक किसी उच्च न्यायालय में वकील रह चुका हो अथवा (स) वह राष्ट्रपति की राय में कानूनशास्त्र तथा न्यायशास्त्र का प्रख्यात विद्वान हो।

योग्यताओं की सूची में इस अन्तिम प्रावधान को शामिल करने का अभिप्राय केवल यह था कि सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति एक अधिक विस्तृत दायरे में से की जाय। इस प्रकार इस प्रावधान के अन्तर्गत एक ऐसे विधिशास्त्री को जो किसी विश्वविद्यालय में विधिशास्त्र का अध्यापन कर रहा हो। सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया जा सकता था।

3 अवधि—संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान की भांति भारतीय संविधान न्यायाधीशों की अवधि जीवन पर्यन्त नहीं बनाता इस सम्बन्ध में उसने यह व्यवस्था की है कि वे 65 वर्ष की आयु तक अपने पद पर काम कर सकते हैं। भारत में औसत आयु को देखते हुए 65 वर्ष की आयु निश्चय ही बहुत अधिक है।

4 **सेवा-निवृत्त होने के बाद वकालत करने का निषेध**—कोई भी सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश अवकाश प्राप्त करने के उपरान्त भारत के किसी भी न्यायालय मे वकालत नही कर सकता। परन्तु सविधान की कोई भी व्यवस्था उसे भारत सरकार के अन्तर्गत किसी ऐसे काम का उत्तरदायित्व लेने से नही रोकती जिसमे उसके विशेष ज्ञान की आवश्यकता है। वस्तुत सविधान सभा मे इस बात की ओर इशारा भी किया गया था कि इस सम्बन्ध मे न्यायाधीशो तथा लोक सेवा आयोग के सदस्यो को एक ही जैसा समझा जाना चाहिए, परन्तु इस दृष्टिकोण को सविधान सभा ने स्वीकार नही किया।

5 **पदच्युति**—सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश केवल प्रमाणित कदाचार अथवा अयोग्यता के आधार पर अपने पद से च्युत किया जा सकता है। ससद को इस सम्बन्ध मे यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह इस कदाचार अथवा अयोग्यता की जॉच करने के लिए प्रक्रिया निश्चित करे। परन्तु यह प्रक्रिया चाहे जो भी हो, किसी न्यायाधीश को हटाने के लिए यह आवश्यक है कि ससद का प्रत्येक सदन उपस्थित एव मतदान मे भाग लेने वाले सदस्यो के दो-तिहाई बहुमत से इस आशय का प्रस्ताव पारित करे, ये सदस्य सदन की कुल सदस्य-सख्या के आधे से अधिक होने चाहिएँ। इस प्रकार का प्रस्ताव राष्ट्रपति को सम्बोधित किया जायेगा और वह उस पर अपना आदेश देगा।

6 **वेतन**—भारत मे न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को कायम रखने के उद्देश्य से न्यायाधीशो के वेतन को व्यवस्थापिका के नियन्त्रण से मुक्त रखा गया है। इस सम्बन्ध मे सविधान मे यह प्राविधान है कि प्रत्येक न्यायाधीश को 4000 रुपया मासिक वेतन दिया जायेगा तथा मुख्य न्यायाधीश का वेतन 5000 रुपया मासिक होगा। इसके अतिरिक्त प्रत्येक न्यायाधीश को रहने के लिए मुफ्त मकान तथा कुछ अन्य भत्ते और सुविधाएँ भी दी जायेगी। वित्तीय सकट के समय ससद द्वारा पारित कानून के द्वारा न्यायाधीशो के वेतन को कम किया जा सकता है।

7 **सहायक कर्मचारियो को नियुक्त करने का अधिकार**—सविधानकार केवल इतने से ही सन्तुष्ट नही थे। उन्होने एक व्यवस्था और की जिसके अनुसार न्यायालय को अपने कार्यालय तथा सहायक कर्मचारियो के ऊपर पूरा नियन्त्रण प्रदान किया गया है। इस प्राविधान की अनुपस्थिति मे न्यायालय की स्वतन्त्रता का वास्तव मे कोई अर्थ नही हो सकता था। अत सर्वोच्च न्यायालय मे काम करने वाले सभी कर्मचारियो की नियुक्ति मुख्य न्यायाधीश के द्वारा की जाती है। उनकी सेवा की परिस्थितियो का निर्धारण भी न्यायालय के द्वारा होता है तथा उनके वेतन, भत्ते आदि का व्यय भारत की सचित निधि पर भारित होता है।

8 **आलोचना से मुक्ति**—अन्त मे, न्यायालय की स्वाधीनता को सुरक्षित रखने के लिए सविधान मे यह भी व्यवस्था की गई है कि न्यायाधीशो द्वारा सरकारी अधिकारी की हैसियत से लिये गये निर्णयो के लिए उनकी आलोचना नही की जा सकती। इसका अर्थ यह कदापि नही है कि न्यायालय के निणय अथवा किसी न्यायाधीश के मत का आलोचनात्मक विश्लेषण नही किया जा सकता। जिस बात का निषेध किया गया है वह केवल यह है कि निर्णयो को देने के सम्बन्ध मे न्यायाधीशो की ईमानदारी मे सन्देह व्यक्त नही किया जा सकता।

सर्वोच्च न्यायालय का सगठन

सविधान के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय मे मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त अधिक से अधिक सात अन्य न्यायाधीश हो सकते है, इसके साथ ही सविधान ने ससद को न्यायाधीशो की सख्या मे वृद्धि करने का अधिकार प्रदान किया है। ससद ने पिछले वर्षो मे अपनी इस शक्ति का प्रयोग किया है, फलत आज न्यायाधीशो की सख्या सात मे बढकर चौदह हो गयी है और इनमे मुख्य न्यायाधीश शामिल नही है। जैसा कहा जा चुका है, इन न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा उन न्यायाधीशो के परामर्श से की जाती है, जिनसे वह परामर्श लेना चाहता है, और उनमे मुख्य न्यायाधीश का परामर्श आवश्यक होता है। यद्यपि सविधान के अनुसार न्यायाधीश उच्च न्यायालय

का दस वष का अनुभव प्राप्त एडवोकेट अथवा पाँच वष का अनुभव प्राप्त उच्च न्यायालय का न्यायाधीश अथवा प्रख्यात विधिशास्त्री हो सकता है तथापि आज तक जितने भी न्यायाधीश नियुक्त हुए हैं उनमे कोई भी ऐसा नहा हुआ है जिसको उक्त योग्यताओ म स अन्तिम योग्यता क आधार पर नियुक्त किया गया हो। चूँकि न्यायाधीशो क लिए सेवा निवृत्त होन की आयु 65 वष मानी गयी है इसलिए सर्वोच्च न्यायालय क न्यायाधीशा म प्राय निरन्तर परिवतन होते रहते है।

सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार क्षेत्र

सर्वोच्च न्यायालय क अधिकार क्षेत्र को तीन शीर्षको म विभाजित किया जा सकता है—प्राथमिक अपीलीय तथा परामर्शदात्री। यहाँ इनकी विवेचना आवश्यक है।

(1) प्राथमिक अधिकार-क्षेत्र—सर्वोच्च न्यायालय को निम्नलिखित विवादो क विषय म प्राथमिक अधिकार क्षेत्र प्राप्त है—(1) जो विवाद भारत सरकार तथा किसी अन्य राज्य सरकार क बीच उठे (2) जिस विवाद म भारत सरकार तथा एक या अधिक राज्य सरकार एक ओर हो तथा अन्य राज्य एक अथवा अधिक राज्य दूसरी ओर हो और (3) जब कभी दो अथवा अधिक राज्यो क बीच कोई ऐसा विवाद उठे जिसम कि कानून अथवा तथ्य का कोइ प्रश्न अन्तग्रस्त हो और जिसके ऊपर किसी कानूनी अधिकार का अस्तित्व अथवा विस्तार निभर हो। यहा यह उल्लेखनीय है कि भारत तथा संयुक्त राज्य अमरीका जसे अन्य सघीय राज्यो म एक बडा अन्तर यह है कि भारत म सर्वोच्च न्यायालय को भारतीय सघ क विभिन्न राज्यो म रहने वाले नागरिको क बीच पाये जाने वाले विवादो क ऊपर प्राथमिक अधिकार-क्षेत्र नहीं है इस प्रकार के विवाद उसके समक्ष अपील म प्रस्तुत किये जा सकते हैं। परन्तु एक क्षेत्र ऐसा है जिसम संविधान क अन्तगत कोई भी नागरिक सीधा सर्वोच्च न्यायालय के पास जा सकता है और वह क्षेत्र अनुच्छेद 32 क अन्तगत आता है। इस अनुच्छेद म यह व्यवस्था की गयी है कि मूल अधिकारो क उल्लघन की स्थिति म कोई भी नागरिक अपनी याचिका के साथ सर्वोच्च न्यायालय म जा सकता है। यहा यह बात ध्यान म रखने योग्य है कि इस क्षेत्र पर न्यायालय का एकमात्र अधिकार नहीं है इस पर राज्यो क उच्च न्यायालयो का भी अधिकार है।

(2) अपीलीय अधिकार क्षेत्र—सर्वोच्च न्यायालय को दीवानी और फौजदारी क मुकदमो म उच्च न्यायालयो की अपील सुनने का अधिकार प्राप्त है। सर्वोच्च न्यायालय के इस क्षेत्राधिकार को तीन शीर्षको क अन्तगत बाँटा जा सकता है—सांविधानिक दीवानी और फौजदारी।

(अ) सांविधानिक—संविधान के 132वें अनुच्छेद के अनुसार यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद म संविधान सम्बन्धी कोइ प्रश्न निहित है तो भारत क्षेत्र क किसी भा उच्च न्यायालय क निर्णय की अपील सर्वोच्च न्यायालय म की जा सकती है चाहे उसका सम्बन्ध दीवानी फौजदारी अथवा अन्य कायवाहियो क बारे म क्यो न हो। यदि उच्च न्यायालय इस आशय का प्रमाण पत्र न दे और सर्वोच्च न्यायालय को यह विश्वास हो जाय कि विवाद म संविधान सम्बन्धी प्रश्न सन्निहित है तो उस स्थिति म सर्वोच्च न्यायालय स्वय ही ऐसा प्रमाण पत्र देकर अपील की विशेष आज्ञा प्रदान कर सकता है। जब किसी पक्ष को उच्च न्यायालय स आवश्यक प्रमाण पत्र प्राप्त हो जाता है या जब सर्वोच्च न्यायालय अपील के लिए विशेष आज्ञा प्रदान कर देता है तो विवाद ग्रस्त कोई भी पक्ष सर्वोच्च न्यायालय स इस आशय की अपील करने का अधिकारी हो जाता है कि उच्च न्यायालय ने संविधान की व्याख्या गलत आधार पर की है अथवा कानून के प्रश्नो को गलत अर्थो म लिया है। अपीलार्थी सर्वोच्च न्यायालय की आज्ञा स अन्य आधारो पर भी अपील कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय म जो अन्य अथवा नया आधार लिया जाता है या लिया जायगा उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह सांविधानिक आधार पर ही आश्रित हो।

(ब) दीवानी—संविधान क 133वें अनुच्छेद क द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को दीवानी के मुकदमो म अपीलीय अधिकार क्षेत्र प्रदान किया गया है। उच्च न्यायालयो के निर्णय अथवा आदेश

के विरुद्ध किसी भी ऐसे दीवानी मामले मे सर्वोच्च न्यायालय मे अपील की जा सकती है, यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि—

(i) विवादग्रस्त विषय की धनराशि प्रथम न्यायालय मे बीस हजार मे कम नही थी और अपील मे आये हुए विवाद मे भी कम नही है, अथवा

(ii) निर्णय, डिग्री अथवा अन्तिम आदेश मे भी इतने धन अथवा सम्पत्ति का अधिकार सम्बन्धी प्रश्न उलझा हुआ है। परन्तु यदि उच्च न्यायालय का निर्णय निम्न न्यायालय के निर्णय के प्रतिकूल नही है तो फिर एक और प्रमाण-पत्र आवश्यक होगा जिसमे उच्च न्यायालय प्रमाणित करेगा कि अभी और भी कानून के प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है। यदि कोई पक्ष ऐसा प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लेता है तो फिर उसे अधिकार है कि वह सांविधानिक प्रश्न पर भी विवाद उठा सके।

(स) **फौजदारी**—संविधान की 134वी धारा के अन्तर्गत फौजदारी मुकदमो मे उच्च न्यायालयो के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय मे उस समय अपील की जा सकती है, जबकि—

(i) उच्च न्यायालय ने अपने अधीनस्थ न्यायालय द्वारा मुक्त किये गये अभियुक्त को मृत्यु दण्ड दिया हो, अथवा

(ii) उच्च न्यायालय ने अपने अधीनस्थ न्यायालय मे कोई मुकदमा अपने यहाँ मँगाकर किसी अभियुक्त को मृत्यु दण्ड दिया हो, अथवा

(iii) उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद सर्वोच्च न्यायालय मे पुनर्विचार के लिए उपयुक्त है।

संविधान की धारा 134 (2) के अनुसार संसद कानून द्वारा शर्तो और परिसीमाओ के अधीन जिनका वर्णन कानून मे किया जाये, सर्वोच्च न्यायालय को भारत राज्य क्षेत्र के किसी उच्च न्यायालय के फौजदारी विवाद मे दिये निर्णय के विरुद्ध अपील लेने और सुनने की शक्ति प्रदान कर सकती है। परन्तु जब तक धारा 134 (2) के अन्तर्गत संसद कानून की रचना नही कर सकती, संविधान के अन्तर्गत उपर्युक्त अवस्थाओ को छोडकर अन्य मामलो मे राज्यो के उच्च न्यायालयो के निर्णय के विरुद्ध फौजदारी के मुकदमो मे सर्वोच्च न्यायालय मे अपील नही की जा सकेगी। अत यदि कभी कोई उच्च न्यायालय यह प्रमाण-पत्र देता है कि 'मामला सर्वोच्च न्यायालय मे अपील किये जाने योग्य है' तो ऐसा प्रमाण-पत्र काफी सोच-विचार कर दिया जाना चाहिए।

सर्वोच्च न्यायालय स्वविवेक मे भारत राज्य क्षेत्र के किसी न्यायालय अथवा न्यायाधिकरण द्वारा किसी मामले मे दिये हुए किसी निर्णय अथवा आदेश के विरुद्ध अपील की अनुमति दे सकता है, परन्तु यह बात सशस्त्र सेना से सम्बद्ध किसी न्यायाधिकरण के किसी निर्णय अथवा आदेश के सम्बन्ध मे लागू नही होती (अनुच्छेद 136)। सर्वोच्च न्यायालय को अपने निर्णय अथवा आदेश पर पुनरवलोकन (review) की शक्ति भी प्राप्त है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा घोषित कानून भारत राज्य क्षेत्र मे स्थित सभी न्यायालयो मे मान्य होगा।

(द) **परामर्शदात्री**—संविधान के 143वे अनुच्छेद के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार प्राप्त हुआ है। यदि कभी भी राष्ट्रपति को ऐसा प्रतीत हो कि किसी कानून अथवा तथ्य के प्रश्न पर सर्वोच्च न्यायालय की राय जानना अच्छा है तो वह उस प्रश्न को सर्वोच्च न्यायालय को विचार करने के लिए सौंप सकता है। न्यायालय उचित सुनवाई के बाद राष्ट्रपति को अपनी सम्मति का प्रतिवेदन देगा, परन्तु राष्ट्रपति इस परामर्श को मानने के लिए बाध्य नही है। उस सम्मति को अन्य न्यायालय भी कानूनी रूप मे स्वीकार करने को बाध्य नही है।

अपने कार्य-काल मे सर्वोच्च न्यायालय को अभी तक मुख्यत चार बार इस प्रकार के परामर्श देने का अवसर प्राप्त हुआ है। पहला अवसर 1951 मे उस समय आया था जब राष्ट्रपति ने उससे तीन कानूनो की वैधता के बारे मे अपनी राय देने को कहा था। वे कानून थे—दिल्ली लॉज एक्ट, 1912 (Delhi Laws Act, 1912), अजमेर-मारवाड (एक्सटेन्शन ऑफ लॉज) एक्ट, 1947 [Ajmer-Marwara (Extension of Laws) Act, 1947] तथा पार्ट 'सी'

स्टेट्स (लाज) एक्ट 1950 [Part C States(Laws) Act 1950]। इन कानूनों के ऊपर सर्वोच्च न्यायालय एकमत से कोई राय नहीं दे सका। परन्तु फिर भी न्यायाधीशों द्वारा व्यक्त विभिन्न मतों का यह कहकर स्वागत किया गया था कि विधायी शक्ति के हस्तान्तरण के ऊपर वे अच्छा प्रकाश डालते हैं।

दूसरी बार सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श 1957 में केरल शिक्षा विधेयक की वैधता के प्रश्न पर माँगा गया था। इस विधेयक के द्वारा केरल सरकार ने अपने राज्य में प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा प्रणाली का पुनर्गठन करने का प्रयास किया था। इस विधेयक में कुछ प्राविधान ऐसे भी थे जो सरकार को ऐसे स्कूलों का प्रबन्ध अपने हाथों में लेने की अनुमति देते थे जो निजी अभिकरणों के द्वारा प्रकाशित होते थे। चूंकि इस विधेयक का सम्बन्ध संविधान में निहित सम्पत्ति के अधिकार के साथ था अतः उस पर राष्ट्रपति की अनुमति लेना आवश्यक था। राष्ट्रपति ने इस विधेयक को सर्वोच्च न्यायालय को परामर्श के लिए सौंप दिया। अपने इस परामर्श में सर्वोच्च न्यायालय ने भाषायी और धार्मिक अल्पसंख्यकों को संविधान द्वारा दिये गये शिक्षा और संस्कृति सम्बन्धी अधिकारों के आश्वासनों की व्याख्या की थी। इस परामर्श को संविधान के विकास में सर्वोच्च न्यायालय का एक महत्त्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है।

1964 में सर्वोच्च न्यायालय को उत्तर प्रदेश विधान सभा बनाम राज्य के उच्च न्यायालय वाले विवाद में एक बार फिर एक महत्त्वपूर्ण सांविधानिक प्रश्न पर अपना मत व्यक्त करने का अवसर प्राप्त हुआ था। भारत में विधानमण्डलों के विशेषाधिकार के क्षेत्र के सम्बन्ध में इस मत की भी विशिष्ट भूमिका रही है।

1974 में सर्वोच्च न्यायालय से इस प्रश्न पर परामर्श माँगा गया कि क्या किसी संविधान सभा के भंग होने की स्थिति में राष्ट्रपति का चुनाव कराया जा सकता है जिसका उत्तर सर्वोच्च न्यायालय ने स्वीकारात्मक रूप में दिया।

संविधान के संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय

सर्वोच्च न्यायालय को संविधान की व्याख्या के क्षेत्र में अंतिम शक्ति प्राप्त है अतः उसे संविधान का संरक्षक बताया गया है। संविधान के 141वें अनुच्छेद में लिखा है कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा घोषित कानून भारत राज्य क्षेत्र में स्थित सभी न्यायालयों को मान्य होगा। जहाँ तक संविधान में निहित मूल अधिकारों का प्रश्न है उनकी सुरक्षा का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को ही सौंपा गया है। संविधान की 13वीं धारा में लिखा है कि राज्य कोई ऐसा कानून नहीं बना सकता है जिनसे तीसरे अध्याय में सन्निहित मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता हो। इसका अर्थ यह हुआ कि संविधान की 13वीं धारा के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय को कानून की वैधता की जाँच करने का अधिकार प्राप्त है। संयुक्त राज्य अमरीका में सर्वोच्च न्यायालय का यह अधिकार एक न्यायिक निर्णय पर आधारित है परन्तु भारत में यह अधिकार स्वयं संविधान में निहित है। परन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं है कि भारतीय सर्वोच्च न्यायालय को संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय से इस मामले में अधिक शक्ति प्राप्त है। वस्तुतः हमारे यहाँ सर्वोच्च न्यायालय की यह शक्ति अनेक प्रकार से सीमित है। संविधानकारों ने इस बात का पूरा ध्यान रखा था कि कहीं सर्वोच्च न्यायालय व्यवस्थापिका का तीसरा सदन न बन जाय। इसलिए उन्होंने स्वयं संविधान में इस प्रकार की व्यवस्था की है जिससे सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियों को मर्यादित किया जा सके।

जैसा कहा जा चुका है संविधान में न्यायिक समीक्षा का प्राविधान पाया जाता है परन्तु वह एक भिन्न प्रकार का प्राविधान है। संविधान लिखित है और उसकी रचना एवं संघात्मक व्यवस्था वाले राज्य के लिए हुई है जिसमें संघीय एवं राज्यों के विधानमण्डलों की विधायी क्षमता का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि विधानमण्डलों द्वारा निर्मित कानून

सविधान की 7वी सूची मे उल्लिखित शक्तियो के अनुरूप होना चाहिए। सविधान के 246वे अनुच्छेद मे विधायी क्षमता के क्षेत्र परिभाषित किये गये है, विधानमण्डलो को अपने क्षेत्राधिकार के सदर्भ मे सर्वोच्च शक्ति प्राप्त है। अत अपने-अपने क्षेत्र मे सघ और राज्य दोनो प्रकार के विधानमण्डल सर्वोच्चता का उपभोग करते है। इस सीमा तक भारत की सावैधानिक प्रणाली ब्रिटेन की प्रणाली से मिलती-जुलती है। इससे भिन्न सयुक्त राज्य अमरीका मे शक्तियो के विभाजन की प्रणाली ने वहाँ के सर्वोच्च न्यायालय को व्यापक शक्तियाँ प्रदान की है। वहाँ काग्रेस की शक्ति सीमित एव परिभाषित है तथा वे सभी शक्तियाँ जिनका निषेध राज्यो के लिए नही किया गया है तथा जो काग्रेस की विधायी क्षमता के बाहर नही है, राज्यो की व्यवस्थापिकाओ को सौपी गयी हैं। अमरीका मे शक्तियो का यह वितरण एक नीति के अधीन हुआ था और वह नीति यह थी कि सघ की सरकार की अपेक्षा राज्यो की सरकारो को अधिक शक्ति प्रदान की जाये यद्यपि बाद मे बहुत सी बातो के कारण वहाँ राज्यो की अपेक्षा सघ को अधिक शक्तियाँ प्राप्त हो गई। वहाँ न्यायपालिका सविधान की व्याख्या करती है तथा राज्यो अथवा सघ सरकार की क्या शक्तियाँ हैं, इस बात का निर्णय इस आधार पर होता है कि न्यायाधीशो ने सविधान की व्याख्या किस प्रकार की है। सयुक्त राज्य अमरीका मे एक प्रचलित लोकोक्ति यह है—'अमरीका मे हम सविधान के अधीन रहते है और सविधान वह है जो हमे न्यायाधीश बताते है।' फलत पिछले वर्षो मे अमरीका मे एक चीज का उदय हुआ है जिसे वहाँ न्यायालयो का 'बौद्धिक मापदण्ड' (intelletual yard-stick) की सज्ञा प्रदान की गई है। भारत मे न्यायपालिका के लिए यह सब कुछ करना सम्भव नही है। यहाँ दोनो प्रकार के विधानमण्डलो का क्षेत्राधिकार बडी अच्छी तरह से परिभाषित हैं, यहाँ तक कि समवर्ती क्षेत्राधिकार मे कोई अस्पष्टता नही है और अवशिष्ट विषय भी सघ की ससद को सुस्पष्ट शब्दो मे सौपे गये है। ऐसी स्थिति मे सर्वोच्च न्यायालय के लिए शक्तियो के वितरण के सम्बन्ध मे कुछ भी करने को बाकी नही है। अत भारत मे सर्वोच्च न्यायालय के लिए यह सम्भव नही है कि वह 'निहित शक्तियो के सिद्धान्त' (Doctrine of Implied Powers) जैसा कोई सिद्धान्त विकसित कर सके। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत मे न्यायिक समीक्षा सविधान की 246वी धारा मे सन्निहित प्राविधानो के अधीन है।

सविधान मे मौलिक अधिकारो का भी एक अध्याय है और इसमे एक अनुच्छेद ऐसा भी हैं जो प्रत्येक भारतीय नागरिक को सावैधानिक उपचारो का अधिकार प्रदान करता है। सविधान की इन व्यवस्थाओ ने एक दूसरे क्षेत्र मे न्यायिक समीक्षा को आमन्त्रित किया है। सविधान की 12वी और 13वी धारायें कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के अतिक्रमणो के विरुद्ध मूल अधिकारो को उनकी सुरक्षा का आश्वासन देती है। फलत न्यायलायो को यह अधिकार प्राप्त है कि वे यह देखे कि कोई भी कानून मूल अधिकारो के प्रतिकूल तो नही है। न्यायालयो को न्यायिक समीक्षा का अधिकार सविधान की 32वी धारा के अन्तर्गत भी प्राप्त है जिसने नागरिको के सावैधानिक उपचारो के अधिकार को मान्यता प्रदान करके उन्हे यह शक्ति प्रदान की है कि वे मूल अधिकारो की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय मे प्रार्थना-पत्र दे सकते है और न्यायालय बन्दीप्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध अधिकार, प्रच्छा तथा उत्प्रेषण के लेख जारी कर सकता है। इस प्रकार का अधिकार राज्यो के उच्च न्यायालयो को भी प्रदान किया गया है। न्यायालयो की इस शक्ति के सम्बन्ध मे सर्वोच्च न्यायालय के प्रथम मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति कानिया ने ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य मुकदमे मे अपना निर्णय देते हुए कहा था—'सविधान मे अनुच्छेद 13 (1) (2) को अत्यधिक सावधानी के कारण शामिल किया गया है। उनकी अनुपस्थिति मे भी यदि किसी कानून के द्वारा मूल अधिकारो का उल्लघन होता तो न्यायलय को उसे उस सीमा तक अवैध घोषित करने का अधिकार था जिस सीमा तक उसमे मूल अधिकारो का अतिक्रमण होता हो। यहा भी सयुक्त राज्य अमरीका तथा भारत के सर्वोच्च न्यायालयो की शक्तियो मे अन्तर अवलोकित किया जा सकता है। अमरीका मे सविधान के तीसरे सशोधन को छोडकर जिसमे शान्ति काल

में नागरिकों के पक्ष में मनिकों को निरस्त करने का निषेध किया गया है शेष अन्य प्रावधान केवल व्यवस्थापिका की शक्तियों को मर्यादित करते हैं और जब भी वहां की व्यवस्थापिका कोई ऐसा कानून बनाती है जो उसके अधिकार क्षेत्र से बाहर हो तो उस स्थिति में यदि सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष उससे सम्बद्ध कोई विवाद प्रस्तुत हो तो सर्वोच्च न्यायालय को उस कानून को अवैध घोषित करने का अधिकार है। अमरीका में कांग्रेस को अधिकारों को नियन्त्रित करने की शक्ति प्राप्त नहीं है अतः किसी कानून में सन्निहित नीति अथवा उद्देश्य की न्यायिक विवेचना की जांच की जा सकती है। यदि वहां अमरीका में सर्वोच्च न्यायालय की शक्ति इसलिए और बढ़ गई है क्योंकि उसे जीवन स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों की सुरक्षा का दायित्व सौंपा गया है तथा नागरिकों को इन अधिकारों में केवल कानून की प्रक्रिया के द्वारा ही वंचित किया जा सकता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि कानून की प्रक्रिया (Due process of law) शब्दावली अत्यधिक अस्पष्ट है और इसलिए इसकी व्याख्या भी अलग-अलग रही है। अनुभव साक्षी है कि यदि संविधान के प्रावधानों में अस्पष्टता पाई जाती है तो उस स्थिति में यह अनिवार्य है कि उसकी व्याख्या करने वाले अभिकरण (न्यायपालिका) की शक्तियां अधिक होनी चाहिये। भारतीय संविधान कार इस तथ्य से अवगत थे अतः उन्होंने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि संविधान में कोई अस्पष्टता न रहे।

भारत में सर्वोच्च न्यायालय को किसी कानून की न्यायिक समीक्षा का अधिकार केवल इसलिए नहीं दिया जा सकता क्योंकि उसमें किसी अधिकार का परिसीमन किया गया है उसे यह अधिकार केवल इसलिए दिया जा सकता है कि वह इस बात की जांच करे कि कानून द्वारा आरोपित सीमाएं संविधान में निहित उन प्रावधानों से मेल खाती हैं अथवा नहीं जिनमें सीमाओं का उल्लेख किया गया है। कानून का उद्देश्य अथवा उसकी नीति कुछ भी हो सकती है परन्तु न्यायालय को उसकी जांच करने का कोई अधिकार नहीं है।

स्पष्ट है कि भारत में न्यायपालिका को व्यवस्थापिका का तीसरा सदन नहीं माना गया। अतः उससे यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वह कानून की रचना करेगा। कानून बनाना व्यवस्थापिका का काम है और ऐसा होना उचित भी है। आखिर व्यवस्थापिका के सदस्य जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं इसलिए उनकी इच्छा के ऊपर न्यायपालिका द्वारा आरोपित इस प्रकार का अंकुश उचित नहीं है। न्यायपालिका को संविधान के संरक्षक का उत्तरदायित्व दिया गया है इसलिए उसे न्यायिक समीक्षा का भी अधिकार प्राप्त है।

सर्वोच्च न्यायालय तथा मूल अधिकारों का संशोधन

मार्च 1967 में एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा कि संसद को संविधान में निहित मूल अधिकारों में कोई परिवर्तन करने का अधिकार प्राप्त नहीं है। दूसरे शब्दों में संसद को मूल अधिकारों की सूची में किसी भी प्रकार का संशोधन करने की शक्ति प्राप्त नहीं है। इस सम्बन्ध में संविधान की निम्नलिखित दो धाराओं की व्याख्या के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं पाया जाता

धारा 13 (2)—राज्य कोई ऐसा कानून नहीं बनायेगा जो इस भाग (भाग 3) द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनता या न्यून करता हो और इस खण्ड के उल्लंघन में निर्मित प्रत्येक कानून उल्लंघन की सीमा तक अवैध होगा।

धारा 368—इस संविधान के संशोधन का सूत्रपात उस आशय के विधेयक के किसी भी सदन में प्रस्तुतीकरण के द्वारा किया जा सकेगा तथा जब प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की सम्पूर्ण सदस्य संख्या के बहुमत से तथा उस सदन में उपस्थित तथा मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो तिहाई से अन्यून बहुमत से वह विधेयक पारित हो जाता है तब वह राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जायेगा तथा विधेयक को ऐसी अनुमति प्राप्त हो जाने के उपरान्त विधेयक

के निबन्धनो के अनुसार सविधान सशोधित हो जायेगा।

परन्तु यदि ऐसा सशोधन—

(अ) धारा 54, 55, 73, 162, अथवा 241 मे, अथवा

(आ) भाग 5 के अध्याय 4, भाग 6 के अध्याय 5 या भाग 11 के अध्याय 1 मे, अथवा

(इ) सातवी अनुसूची की सूचियो मे से किसीएक मे, अथवा

(ई) ससद के राज्यो के प्रतिनिधित्व मे, अथवा

(उ) इस धारा के उपबन्धो मे कोई परिवर्तन करना चाहता है तो ऐसे उपबन्ध करने वाले विधेयक को राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिए प्रस्तुत किये जाने के पहले उस सशोधन के लिए उन विधानमण्डलो से पारित सकल्पो द्वारा अनुसमर्थन भी अपेक्षित होगा।

मार्च 1967 मे सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष जो विवाद प्रस्तुत था वह 'गोलकनाथ वनाम पजाव राज्य' के नाम से प्रख्यात है। इस विवाद मे अनुच्छेद 31 मे निहित सम्पत्ति के अधिकार को सविधान (सत्रहवे सशोधन) कानून, 1964 के द्वारा न्यून करने की ससद की शक्ति को चुनोती दी गई थी और न्यायालय ने उस पर अपना यह निर्णय दिया था कि ससद की सविधान को सशोधित करने की शक्ति सविधान की 248वी धारा मे निहित उसकी विधायी शक्ति का ही एक रूप है, अत सावैधानिक सशोधन कानून उस क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत है जिसे अनुच्छेद 13 के द्वारा पारिभाषित किया गया है, अत यह सशोधन कानून अवैधानिक है। दूसरे शव्दो मे इस निर्णय का अर्थ है कि ससद को सविधान मे सशोधन के द्वारा भी मूल अधिकारो को न्यून अथवा खत्म करने का अधिकार प्राप्त नही है। यदि भारत सरकार मूल अधिकारो के सम्वन्ध मे सविधान मे सशोधन करना चाहती है तो उसे अनुच्छेद 248 तथा सघ सूची के 97वे विपय (Item) मे निहित अवशिष्ट शक्तियो के कार्यान्वियन के अन्तर्गत नई सविधान सभा को बुलाने का आयोजन करना चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय ने मूल अधिकारो को ससद की सावैधानिक शक्ति से परे बना दिया। इसके पूर्व ससद 1951, 1955 और 1964 मे प्रथम, चतुर्थ और सत्रहवे सशोवनो के द्वारा सविधान मे निहित मूल अधिकारो को सशोधित कर चुकी थी। 1967 के अपने निर्णग के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय ने इन सशोधनो को भी अवैध घोषित कर दिया। परन्तु चूकि ये सशोधन इस निर्णय से वहुत पहले किये जा चुके थे तथा पिछली तिथि से उन्हे अवैध करने से अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती थी, अत यह कहा गया कि वे लागू रहेगे।

सर्वोच्च न्यायालय का उपर्युक्त निर्णय निस्सन्देह अत्यधिक दूरगामी प्रभाव वाला था। इस निर्णय ने अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नो को जन्म दिया। क्या ससद सविधान मे सशोधन करने के लिये प्रभुसत्ता-सम्पन्न नही हे ? इस निर्णय का न्यायपालिका पर सविधान के सरक्षक के रूप मे क्या प्रभाव पडेगा ? क्या इस निर्णय के परिणामस्वरूप सविधान इतना दुस्सशोध्य वन जाएगा कि जन-इच्छा द्वारा कोई भी सुगम परिवर्तन न किया जा सके। पिछले दिनो मे इन प्रश्नो के जो उत्तर दिये गये हे वे एक दूसरे के विरोधी हे। उदाहरण के लिये यदि के० एम० मुशी ने कहा कि मूल अधिकारो को ससद की दया पर नही छोडा जा सकता तो इसके विपरीत सुख्यात वकील एन० सी० चटर्जी ने राष्ट्रपति से यह अनुरोध किया था कि ससद की प्रभुसत्ता के मामले को सन्देह से ऊपर उठाया जाये। यदि कुछ लोगो ने सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय का स्वागत किया तो देश के अधिकाश चिन्तनशील व्यक्तियो के मन मे यह आशका घर कर गई कि सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय प्रगतिशील विधायन के मार्ग मे वाधक सिद्ध होगा।

गोलकनाथ के मामले मे सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के उपरान्त देश के राजनीतिक जीवन मे अत्यन्त द्रुतगति के साथ परिवतन उपस्थित हुए हे और इन परिवर्तनो की वैधता को अनेक वार सर्वोच्च न्यायालय मे चुनौती दी गई। जव-जव इस प्रकार के मामले सर्वोच्च न्यायालय

म प्रस्तुत किये गये न्यायालय ने अपना निर्णय यथास्थिति के पक्ष में दिया। 1969 में सरकार ने 14 बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने का निश्चय किया और उसने इस आशय का एक विधेयक संसद में पेश किया। इस विधेयक को जहाँ देश के प्रगतिशील जनमत का समर्थन प्राप्त था वहीं स्वतन्त्र पार्टी जनसंघ तथा पुरानी कांग्रेस ने उसका इस आधार पर विरोध किया कि उससे देश की अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और वह सम्पत्ति के मूल अधिकार का अतिक्रमण करता है। संसद ने विधेयक को पारित कर दिया परन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने उसे असांविधानिक घोषित कर दिया। न्यायालय का मत था कि संविधान ने प्रतिकर के अधिकार की प्रत्याभूति दी है जो अर्जित की जाने वाली सम्पत्ति के बराबर होना चाहिये जिस तरीके से बैंकों की सम्पत्ति का मूल्यांकन किया गया है उसमें उनकी तनख्वाहों के महत्त्वपूर्ण अंगों को सम्मिलित नहीं किया गया है फलत बैंकों का पूरा प्रतिकर नहीं दिया जा रहा है जो कि संविधान द्वारा दी गई गारन्टी के विरुद्ध है इसलिये विधेयक अवैध है। कुछ दिन बाद संसद ने इस सम्बन्ध में संशोधित विधेयक को पारित किया और वही कानून बना।

1970 में भारत सरकार ने भूतपूर्व नरेशों के विशेषाधिकारों तथा उनको दी जाने वाली प्रिवी पर्सों (Privy Purses) का अन्त करने के लिये संविधान के संशोधन हेतु 24वां संशोधन विधेयक संसद में प्रस्तुत किया। इस विधेयक को लोकसभा ने आवश्यक दो तिहाई बहुमत से पारित कर दिया परन्तु राज्यसभा में वह थोड़ी सी कमी के कारण वांछित दो तिहाई बहुमत प्राप्त नहीं कर सका। उसके बाद सरकार ने उसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए राष्ट्रपति से एक अध्यादेश निकलवाया जिसके द्वारा सभी नरेशों से मान्यता छीन ली गई तथा उनके विशेषाधिकारों एवं पर्सों का अन्त कर दिया। इस आदेश के विरुद्ध कुछ नरेशों ने सर्वोच्च न्यायालय में अपील की न्यायालय ने राष्ट्रपति के आदेश को अवैध घोषित कर दिया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अपने निर्णय में मुख्य न्यायाधिपति हिदायतुल्ला ने तो प्रिवी पर्सों को सम्पत्ति घोषित किया और कहा कि उनका अन्त करने का अर्थ है संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों में हस्तक्षेप। निश्चय ही सर्वोच्च न्यायालय का यह निर्णय ऐसा था जिसे सामाजिक प्रगति के मार्ग में रोड़ा माना जा सकता था। वस्तुतः इसी पृष्ठभूमि में 1971 के लोकसभा के मध्यावधि चुनावों में कांग्रेस की विजय के महत्त्व को समझा जा सकता है। इन चुनावों के परिणामों से यह स्पष्ट है कि जनता सामाजिक और आर्थिक जीवन में परिवर्तन चाहती है। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय जनता की लोकतान्त्रिक इच्छा के कार्यान्वयन में बाधक सिद्ध हुए हैं। फलत पिछले दिनों में न्यायालय की प्रतिष्ठा को आंच पहुंची है। निस्सन्देह यह स्थिति वांछनीय नहीं है। अतः इसका अन्त करने के लिये संविधान में 25वें और 26वें संशोधनों के द्वारा संसद को उसकी प्रभुसत्ता को दिलाने का फिर से प्रयास किया गया है। संविधान में आवश्यक परिवर्तन और उसकी सीमा में रहते कानून बनाना संसद का अधिकार है और ऐसा होना भी चाहिए। न्यायालय कोई विधायी सदन नहीं है उसका काम तो केवल संविधान का संरक्षण करना और कानूनों का अंतिम निर्वचन करना है।

197- में सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख केशवानन्द भारती का मुकद्दमा आया। मुद्दा यह था कि क्या संसद ने संविधान में 24 25 26 और 29वें संशोधन करके अपनी सीमा का अतिक्रमण किया है। इस सम्बन्ध में मुख्य न्यायाधीश सीकरी ने अपने निर्णय में कहा कि संसद को मूल अधिकारों को समाप्त करने का अधिकार नहीं है। वह उन्हें संशोधित कर सकती है उनको बदलती हुई परिस्थितियों के साथ तालमेल बढाने के लिए उनमें कुछ हेर फेर कर सकती है तथा उन्हें नियन्त्रित भी कर सकती है। किन्तु इस प्रक्रिया में अधिकार नष्ट नहीं होने चाहिए। संविधान के ढांचे के अन्दर इन तत्त्वों को भी सन्निहित बताया गया—संविधान की सर्वोच्चता सरकार का राजतान्त्रिक तथा लोकतान्त्रिक स्वरूप देश की प्रभुसत्ता संविधान का धर्मनिरपेक्ष तथा संघात्मक ढांचा और राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता।

मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध मे विवाद

बात 1973 की है। मूल अधिकारो से सम्बद्ध मुकदमो का निर्णय सर्वोच्च न्यायालय ने उस दिन घोपित किया था जिसके एक दिन बाद मुख्य न्यायाधीश सीकरी सेवा-निवृत्त होने वाले थे। अत उनके स्थान पर एक नये मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति होनी थी। राष्ट्रपति ने इस पद पर ए० एन० राय को नियुक्त किया। परन्तु ऐसा करके उन्होने तीन ज्येष्ठ न्यायाधीशो—शेलेट, हेडगे और ग्रोवर—के इस पद पर नियुक्त होने के दावे की उपेक्षा कर दी। ए० एन० राय की इस नियुक्ति के विरोध मे तीनो न्यायाधीशो ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। फलत यह विचार सामने आया कि सरकार के इस काम से देश मे लोकतन्त्र की हत्या हो गई है, कानून और न्याय की समूची इमारत ढहकर नीचे गिरने लगी है। उदाहरण के लिए भारतीय क्रान्ति दल के अध्यक्ष चरणसिह ने अपने एक भापण मे कहा कि देश शनै शनै अधिनायकतन्त्र की ओर जा रहा है। इसी प्रकार मार्क्सवादी कम्युनिस्ट नेता ए० के० गोपालन और पी० राममूर्ति ने एक सयुक्त वक्तव्य मे कहा कि 'तीन ज्येष्ठ न्यायाधीशो की उपेक्षा करके मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति से हमारे इस दृष्टिकोण को वल पहुँचा है कि सत्तावादी प्रवृत्तियाँ बडी तेजी के साथ बढ रही है।' इसी प्रकार का मत भूतपूर्व न्यायाधीश के० एस० हेडगे ने अपने त्यागपत्र के बाद दिये गये सम्वाददाता सम्मेलन मे व्यक्त किया। उन्होने कहा कि देश मे लोकतन्त्र के लिए आवश्यक सभी तत्त्व एक-एक करके नष्ट किये जा रहे हे। देश मे शक्तिशाली विरोधी दल का अभाव है, जागरूक लोकमत की अनुपस्थिति है, क्योकि देश के अधिकाश लोग साक्षर भी नही है, प्रेस की स्वतन्त्रता का भी धीरे-धीरे लोप हो रहा है क्योकि आज प्रेस की स्वतन्त्रता का केवल एक ही अर्थ है और वह है सरकार की प्रशसा करने की स्वतन्त्रता। चौथा आवश्यक तत्त्व है स्वतन्त्र न्यायपालिका, अब उसका भी सफाया कर दिया गया है।

भारत मे न्यायपालिका एव व्यवस्थापिका के बीच पाया जाने वाला विवाद 1973 मे कोई यकायक उठकर खडा नही हो गया। वास्तव मे उसका जन्म 1967 मे उस समय हुआ था जबकि सर्वोच्च न्यायालय ने गोलकनाथ के मुकदमे मे यह निर्णय दिया था कि ससद को मूल अधिकारो, विशेषत सम्पत्ति के अधिकार को सशोधित करने का अधिकार नही है। यद्यपि सरकार और विपक्ष मे से किसी ने भी इस विवाद के सम्बन्ध मे अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण इन शब्दो मे नही किया है, तथापि इस तथ्य से इनकार नही किया जा सकता कि उस समय से लेकर बराबर अब तक सरकार के इन दोनो अगो के बीच सघर्ष की स्थिति बनी रही है। यहाँ ध्यान मे रखने की बात यह भी है कि सर्वोच्च न्यायालय के हाल के निर्णय से भी इस सघर्ष का पूर्ण रूप से निराकरण नहीं हुआ हे क्योकि इस निर्णय मे जहाँ मूल अधिकारो को सशोधित करने के ससद के अधिकार को मान्यता प्रदान की गयी है, वहाँ उसमे यह भी कहा गया है कि वह इन अधिकारो को इस प्रकार सशोधित नही कर सकती जिससे सविधान की आत्मा ही नष्ट हो जाये और चूँकि सर्वोच्च न्यायालय ने यह अधिकार अपने मे सन्निहित माना है कि कोई भी सशोधन इस कसौटी पर खरा उतरता ह अथवा नही, इसलिए यह नही कहा जा सकता कि व्यवस्थापिका एव न्यायपालिका के बीच पाये जाने वाले विवाद का अन्तिम समाधान हो चुका है। वस्तुत मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति से सम्बद्ध विवाद को इसी पृष्ठभूमि मे समझा जाना चाहिए।

इस सन्दर्भ मे सरकार के लिए यह उचित ही था कि वह मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति करते समय उसकी योग्यताओ के अतिरिक्त इस बात को भी ध्यान मे रखे कि उसकी किस प्रकार के 'सामाजिक दर्शन' मे आस्था हे। इस सम्बन्ध मे लोकसभा मे सरकार के दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए तत्कालीन इस्पात-मन्त्री मोहन कुमारमगलम ने कहा था कि न्यायाधीश के निर्णय उसके दृष्टिकोण एव उसके दर्शन से प्रभावित होते हे। 'हमारे लिए इसकी उपेक्षा करना मूर्खता होगा। अराजनीतिक न्यायाधीश जैसा अद्भुत व्यक्ति हमे कही नही दिखाई देता।' अपने भापण मे

कुमारमंगलम ने मूल अधिकारों के मुकदमे में न्यायाधीशों के निर्णयों का उल्लेख किया और कहा कि ये विभिन्न निर्णय इस बात के द्योतक हैं कि मूल अधिकारों एवं नीति निर्देशक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में इन न्यायाधीशों के दृष्टिकोण में समानता नहीं है। उन्होंने कहा कि सरकार का यह कर्तव्य और अधिकार है कि वह इस निर्णय पर पहुँचने के पूर्व कि कोई न्यायाधीश सर्वोच्च न्यायालय को किसी निश्चित समय पर नेतृत्व प्रदान करे अथवा नहीं, उसकी न्यायिक निष्ठा एवं कानून के ज्ञान के अतिरिक्त उसके दर्शन एवं उसके दृष्टिकोण का भी ध्यान में रखे। उन्होंने कहा कि सरकार प्रतिबद्ध न्यायाधीश नहीं चाहती। परन्तु ऐसे न्यायाधीश अवश्य चाहती है जो आगे की ओर देखने वाले हों पीछे की ओर नहीं। कुमारमंगलम ने अपने भाषण में ब्रिटेन, कनाडा, संयुक्त राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया जैसे लोकतांत्रिक देशों में राजनीतिक व्यक्तियों के न्यायाधीश के पद पर नियुक्त होने के उदाहरण दिये। परन्तु उन्होंने कहा कि भारत में इस सम्बन्ध में स्थिति भिन्न रही है यहाँ राजनीतिक पार्टियों के सदस्यों को न्यायाधीश के पद पर नियुक्त नहीं किया जाता।

भारतीय सर्वोच्च न्यायालय का मूल्यांकन ✓

यह बात निर्विवाद है कि संघीय शासन प्रणाली में सर्वोच्च न्यायालय जैसे अभिकरण की आवश्यकता है। भारत में सर्वोच्च न्यायालय ने इस भूमिका को अदा करने का प्रयास किया है और बहुत से मामलों में उसकी यह भूमिका प्रशंसनीय भी रही है। परन्तु इतना होते हुए भी इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि आज के युग के मुख्य प्रश्न पर जो सम्पत्ति के अधिकार के साथ सम्बद्ध है उसका दृष्टिकोण रूढ़िवादी रहा है। ऊपर गोलकनाथ, बैंकों का राष्ट्रीयकरण तथा प्रिवी पर्सों के मुकदमों का उल्लेख किया जा चुका है इन सभी मामलों में न्यायालय का दृष्टिकोण यथास्थिति को कायम रखने के पक्ष में था। उसको बदलने के पक्ष में नहीं था। अपने इस दृष्टिकोण के बावजूद भी सर्वोच्च न्यायालय को आज तक जनसाधारण ने सामान्य रूप से सम्मान ही प्रदान किया है उसे जनता आलोचना एवं क्रोध का शिकार नहीं बनाया है। वस्तुतः ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योंकि भारतीय संविधान न्यायपालिका को असीमित शक्ति प्रदान नहीं करता तथा भारत में मूल अधिकारों का स्वरूप भी उतना ही सर्वमान्य नहीं है जितना कि वह संयुक्त राज्य अमरीका में पाया जाता है। संविधान की यह दूरदर्शिता इस बात की गारण्टी है कि भारत में न्यायाधीशों की सरकार कभी कायम नहीं हो सकेगी। परन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि भारत के सांविधानिक शासन में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर का यह कथन उद्धरणीय है—"भारतीय संविधान का आगामी विकास एक बड़ी सीमा तक सर्वोच्च न्यायालय के काम तथा इस विकास को न्यायालय द्वारा दिखाई गई दिशा के ऊपर निर्भर करेगा। समय समय पर संविधान के निर्वचन के समय सर्वोच्च न्यायालय को उन परस्पर विरोधी शक्तियों का सामना करना पड़ेगा जो तत्कालीन समाज में काम कर रही होंगी। जहाँ उसका काम संविधान की व्याख्या करना है वहाँ वह अपने कर्त्तव्यों के निष्पादन में अपने समय की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक प्रवृत्तियों की उपेक्षा नहीं कर सकता। ... । उसे दिखाई पड़ने वाली परस्पर विरोधी शक्तियों के बीच में सन्तुलन कायम रखना है।

प्रश्न

1. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए संविधान में क्या प्राविधान किए गये हैं?
2. सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार क्षेत्र बताइये।
3. मूल अधिकारों के संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका बताइये।

8

राज्य और संघीय क्षेत्रों का शासन

(GOVERNMENT OF THE STATES AND THE UNION TERRITORIES)

यद्यपि सविधानकारो ने समूचे सविधान मे किसी एक भी स्थान पर 'सघवाद' (Federalism) शब्द का प्रयोग नही किया है तथापि इस तथ्य की उपेक्षा नही की जा सकती कि सविधान सभा मे 'सघवाद' के सारतत्त्व की विस्तारपूर्वक विवेचना की गई थी, तथा अन्त मे जब सविधान बनकर सामने आया तो उसमे 'सघवाद' के तत्त्व आसानी से अवलोकित किये जा सकते थे। सविधान मे भारत को राज्यो का सघ (Union of States) बताया गया है तथा इस सघ अथवा यूनियन मे जो राज्य सम्मिलित है उनके नाम सविधान की प्रथम सूची मे उल्लिखित है। विश्व के अन्य सविधानो से भिन्न आरम्भ मे भारतीय सघ की इन इकाइयो को तीन श्रेणियों मे विभाजित किया गया था—'क' श्रेणी के राज्य, 'ख' श्रेणी के राज्य तथा 'ग' श्रेणी के राज्य। सघात्मक शासन प्रणाली के इस जटिलस्वरूप की यथार्थ मे उन ऐतिहासिक परिस्थितियो के आधार पर ही व्याख्या की जा सकती है जिनमे भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई थी। परन्तु राज्यो का इस प्रकार का वर्गीकरण बहुत दिन नही चल सकता था, उनका पुनर्गठन आवश्यक था। यथार्थ मे पुनर्गठन की यह प्रक्रिया आरम्भ से ही शुरू हो गई थी। 1956 मे इसका पहला परिणाम सामने आया, किन्तु उससे देश के जनमानस को पूर्णरूप से सन्तोष नही मिल सका। अत यह काम बाद तक चलता रहा। फलत भारतीय सघ मे आज 21 राज्य है।[1] इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी प्रदेश है जो वैधानिक दृष्टि से केन्द्र के आधीन है, इन्हे 'केन्द्र प्रशासित प्रदेश' कहा गया है।

भारतीय सघ के इन राज्यो के सम्बन्ध मे एक उल्लेखनीय बात यह है कि सयुक्त राज्य अमरीका के राज्यो की भाँति इनका अपना अलग सविधान नही है। यदि इसका कोई अपवाद है तो वह जम्मू-कश्मीर का राज्य है जिसे अपना अलग से सविधान बनाने का अधिकार दिया गया है। समूचे देश का एक ही सविधान है और इस सविधान मे ही राज्य सरकारो की शासन-व्यवस्था का विवरण दिया हुआ है। केन्द्र की सरकार की ही भाँति राज्यो की शासन-प्रणाली भी ससदीय प्रकार की उत्तरदायी शासन-प्रणाली है। सविधान मे इन राज्यो का कार्यक्षेत्र पहले से ही परिभाषित कर दिया गया है। साधारणत यह वह क्षेत्र है जिसमे केन्द्र सरकार उनके मामले मे हस्तक्षेप नही करती। यहाँ राज्यो की शासन-प्रणाली की विवेचना आवश्यक है।

राज्यो की कार्यपालिका (State Executive)

जैसा कहा जा चुका है कि राज्यो मे कार्यपालिका का सगठन केन्द्र की भाँति ही किया गया है। फलत राज्यो की कार्यपालिका को भी दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—औपचारिक कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका। राज्यपाल राज्य मे सामान्यत औपचारिक

[1] इन राज्यो के नाम इस प्रकार है—(1) आन्ध्र प्रदेश, (2) असम, (3) बिहार, (4) गुजरात, (5) हरियाणा, (6) हिमाचल प्रदेश, (7) जम्मू और कश्मीर, (8) केरल, (9) मध्य प्रदेश, (10) महाराष्ट्र, (11) कर्नाटक, (12) नागालैण्ड, (13) उडीसा, (14) पजाब, (15) राजस्थान, (16) तमिलनाडु, (17) त्रिपुरा, (18) उत्तर प्रदेश, (19) पश्चिमी बगाल, (20) मणीपुर, (21) मेघालय।

कार्यपालिका का प्रतिनिधित्व करता है यद्यपि ऐसे उदाहरण हैं जबकि राज्यपालों ने अपने पद की मर्यादा का उल्लंघन किया है। मन्त्रिमण्डल में राज्यों की वास्तविक कार्यपालिका शक्तियाँ निहित हैं। यहाँ इन दोनों प्रकार की कार्यपालिकाओं की समीक्षा अप्रासंगिक नहीं होगी।

1 राज्यपाल का पद तथा उसका उभरता हुआ स्वरूप

संविधान के अन्तर्गत राज्य की कार्यपालिका शक्तियाँ राज्यपाल में निहित हैं। राज्य का शासन यथार्थ में उसी के नाम से परिचालित होता है। जब संविधान सभा में राज्यों के अध्यक्ष के पद पर विचार किया जा रहा था तब यह प्रस्तावित किया गया था कि राज्यपाल का निर्वाचन सम्बद्ध राज्य की जनता के द्वारा होना चाहिये। परन्तु इस सुझाव को संविधान सभा ने स्वीकार नहीं किया। सभा का मत था कि जनता द्वारा निर्वाचित राज्यपाल तथा विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी मुख्य मन्त्री के बीच सह-अस्तित्व सम्भव नहीं है। यही नहीं 1947 से लेकर 1949 तक शासन के संचालन का जो अनुभव संविधानकारों ने प्राप्त किया था उससे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि यदि देश में राष्ट्रीय एकता स्थापित करना है तो यह आवश्यक है कि राज्यपाल केन्द्र और राज्यों को जोड़ने वाली सांविधानिक कड़ी के रूप में काम करें। अतः यह निर्णय किया गया कि राज्यपाल की नियुक्ति संघीय कार्यपालिका के द्वारा होना चाहिये तथा उसे पदच्युत करने का अधिकार भी उसी का होना चाहिये। व्यवहार में इसका अर्थ था कि राज्यपाल की नियुक्ति प्रधानमन्त्री तथा गृह मन्त्रालय के द्वारा होगी। परन्तु इस सम्बन्ध में कालान्तर में एक परम्परा विकसित हुई जिसके अनुसार राज्यपाल को नियुक्त करने में पूर्व संघ की सरकार सम्बद्ध राज्य के मुख्य मन्त्री से परामर्श लेती थी। परन्तु इस परिपाटी का सभी जगह पालन नहीं किया गया। उदाहरण के लिये केन्द्र सरकार ने जब श्रीप्रकाश को मद्रास का राज्यपाल नियुक्त किया था तब उसने वहाँ के मुख्य मन्त्री से परामर्श नहीं लिया था। इसी प्रकार उड़ीसा में जब कुमारस्वामी राजा को राज्यपाल नियुक्त किया था तो उस समय भी वहाँ के मुख्य मन्त्री से सलाह नहीं माँगी गई थी। यह स्थिति उस समय थी जब श्री नेहरू देश के प्रधानमन्त्री थे। जबकि कांग्रेस दल की सरकारें देश के सभी राज्यों में स्थापित थीं। स्पष्टतः कांग्रेसी मुख्य मन्त्रियों से नेहरू जी का विरोध करने की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। परन्तु श्री नेहरू के निधन के उपरान्त विशेषतः चौथे आम चुनाव के उपरान्त इस स्थिति में एक मौलिक परिवर्तन उपस्थित हुआ। इस नयी पृष्ठभूमि में यदि किसी राज्य में मुख्य मन्त्री के परामर्श के बिना राज्यपाल की नियुक्ति की जाती तो उसकी अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं हो सकती थी। इस सम्बन्ध में पश्चिमी बंगाल में मुख्य मन्त्री एवं राज्यपाल के पारस्परिक सम्बन्धों का उदाहरण दिया जा सकता है। इस राज्य में धर्मवीर को राज्यपाल के पद पर राज्य सरकार के परामर्श के बिना नियुक्त किया गया था। मार्च 1969 में मुख्य मन्त्री अजय मुखर्जी ने केन्द्र से धर्मवीर को वापिस बुलाने का आग्रह किया क्योंकि वह राज्य के प्रशासन को मन्त्रिमण्डल के सहयोग के साथ संचालित करने में असमर्थ थे। परन्तु केन्द्र ने इस माँग को यह कहकर ठुकरा दिया कि संघ सरकार इस परिपाटी के विरुद्ध है कि राज्य सरकारों की इच्छा के अनुसार राज्यपालों की नियुक्ति की जाय। परन्तु केन्द्र सरकार को बाद में यह करने के लिये बाध्य होना पड़ा।

राज्यपाल की नियुक्ति से सम्बद्ध सांविधानिक व्यवस्था एवं उसके अभिसमयों की विवेचना से स्पष्ट है कि भारतीय प्रणाली संघीय शासन प्रणाली के सिद्धान्त से मेल नहीं खाती। यदि भारत में संसदीय शासन प्रणाली के अन्तर्गत राज्यपाल को औपचारिक कार्यपालिका बनाना अभीष्ट था तो ऐसा उसे राज्य विधानमण्डल के द्वारा निर्वाचित कराकर भी किया जा सकता था। यथार्थ में राज्यपाल की नियुक्ति की प्रचलित प्रणाली उसे औपचारिक कार्यपालिका की भूमिका अदा करने की अपेक्षा संघ सरकार के अभिकर्ता की भूमिका अदा करने के लिए विवश करती है।

राज्यपाल की शक्तियाँ

संविधान के अन्तर्गत राज्यपाल को अनेक शक्तियाँ प्राप्त है। इन शक्तियो को चार शीर्षको मे विभाजित किया जा सकता है (अ) कार्यपालिका शक्तियाँ, (ब) विधायी शक्तियाँ (स) वित्तीय शक्तियाँ, (द) न्यायिक शक्तियाँ।

(अ) कार्यपालिका शक्तियाँ—जैसा कहा जा चुका है कि राज्य की कार्यपालिका शक्तियाँ राज्यपाल मे निहित की गई है। उसका यह अधिकार है कि मन्त्रिमण्डल उसे अपने निर्णयो से अवगत कराये तथा उसे राज्य के प्रशासन मे सम्बद्ध सूचनाये प्रदान करे। मुख्य मन्त्री की नियुक्ति उसी के द्वारा होती है तथा मुख्य मन्त्री की सिफारिश पर वह अन्य मन्त्रियो को नियुक्त करता है। मुख्य मन्त्री की अभ्यर्थना पर वह राज्य के अन्य महत्त्वपूर्ण अधिकारियो की नियुक्ति करता है, जैसे, एडवोकेट जनरल तथा लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष एव सदस्यो की नियुक्ति। राज्यपाल की कार्यपालिका शक्तियो की परिधि मे वे सभी विषय आते है जो सविधान की सातवी अनुसूची मे उल्लिखित है और जिनके सम्बन्ध मे राज्य के विधानमण्डल को कानून बनाने का अधिकार है। जहाँ तक समवर्ती सूची मे दिये हुए विषयो का सम्बन्ध है, राज्यपाल की शक्तियो को राष्ट्रपति के अधीन माना गया है।

(ब) विधायी शक्तियाँ—सविधान ने राज्यपाल को राज्य विधानमण्डल का एक अग बनाया है तथा उसकी रचना मे उसे कुछ भूमिका प्रदान की है। 333वे अनुच्छेद के अन्तर्गत वह राज्य विधानसभा मे आग्ल-भारतीय समुदाय के सदस्यो को उस स्थिति मे मनोनीत कर सकता है, यदि उसकी राय मे इस समुदाय के लोगो का विधान सभा मे प्रतिनिधित्व नही हुआ है। 1969 मे पारित 23वे सशोधन ने राज्यपाल की इस शक्ति को थोडा मर्यादित कर दिया है, अब वह एक से अधिक सदस्य को मनोनीत नही कर सकता। जिन राज्यो मे द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका पायी जाती है, उनमे राज्यपाल को विधान परिषद् मे कुछ ऐसे सदस्यो को मनोनीत करने का अधिकार प्राप्त है जिन्होने साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारिता आन्दोलन तथा समाज सेवा के क्षेत्र मे ख्याति अर्जित की हो। सविधान की 192वी धारा मे यह व्यवस्था की गई है कि यदि विधान सभा का कोई भी सदस्य 191वे अनुच्छेद मे उल्लिखित शर्तों को पूरा नही करता तो उसके सम्बन्ध मे राज्यपाल का निर्णय अन्तिम होगा। परन्तु निर्णय लेने के पूर्व राज्यपाल के लिये यह आवश्यक बताया गया है कि वह उसके सम्बन्ध मे चुनाव आयोग की राय जान ले। राज्यपाल को विधान सभा के स्पीकर और डिप्टी स्पीकर के पदो के आकस्मिक तरीके मे रिक्त हो जाने की स्थिति मे यह अधिकार प्राप्त है कि वह स्थायी प्रबन्ध के न होने तक सभा की बैठको मे अध्यक्षता करने के लिये किसी सदस्य को मनोनीत कर दे। इसी प्रकार वह विधान-परिषद् मे अध्यक्ष एव उपाध्यक्ष के पदो के रिक्त हो जाने पर अस्थायी अध्यक्ष को मनोनीत कर सकता है।

राज्यपाल को दोनो सदनो के सयुक्त अधिवेशन को अथवा किसी एक सदन को अथवा दोनो सदनो को अलग-अलग सम्बोधित करने का अधिकार है। सामान्यत वह विधानमण्डल के अधिवेशन के आरम्भ होते समय उसके सयुक्त अधिवेशन मे अपना अभिभाषण करता है, वास्तव मे यह अभिभाषण उसी प्रकार का है जैसे सघीय ससद मे राष्ट्रपति का होता है।

राज्य विधानमण्डल के द्वारा पारित कोई भी विधेयक कानून उस समय तक नही बन सकता जब तक कि उसे राज्यपाल की अनुमति प्राप्त न हो जाये। इन विधेयको को राज्यपाल अपनी स्वीकृति दे सकता है, उन्हे वह स्वीकृति देने से इनकार भी कर सकता है तथा उसे यह अधिकार भी प्राप्त है कि वह उन्हे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख ले। उसके अतिरिक्त सविधान ने उसे यह अधिकार भी सौपा है कि वह इन विधेयको को अपने सुझावो के साथ व्यवस्थापिका को लौटा दे। परन्तु यदि विधानमण्डल उन्हे दुबारा उसी रूप मे पारित कर दे तो उस स्थिति मे राज्यपाल उन्हे स्वीकृति प्रदान करने के लिए विवश है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि

रा्यपाल को धन विधयक को रोकने का अधिकार नहा है। कोइ भी धन विधेयक विधानसभा म उस समय तक प्रस्तुत नहा किया जा सकता जब तक कि उस पारित करने की अभ्यथना पर रा्यपाल के हस्ताक्षर न हो।

सविधान रा्यपाल को अध्यादश जारी करने का भी अधिकार प्रदान करता ह। एसा उस समय किया जा सकता है जबकि रा्य क विधानमण्डल का अधिवेशन न हो रहा हो। रा्यपाल द्वारा जारी किय गये अध्यादश को वही बधता प्राप्त ह जो विधानमण्डल द्वारा पारित कानून को मिली हुई होती है। परन्तु यह विधानमण्डल के अधिवशन के प्रारम्भ होने के 6 सप्ताह बाद केवल उस स्थिति म प्रभावशाली हो सकता है यदि उस विधानमण्डल की स्वीकृति प्राप्त हो जाय।

(स) वित्तीय शक्तियाँ—सविधान न रा्य की वित्तीय यवस्था का नियन्त्रण करने का उत्तरदायित्व रा्यपाल को सौपा ह। इस सम्बन्ध म उस जो शक्तियाँ प्रदान की गइ है व है (1) कोई भी धन विधयक रा्यपाल की पूव अनुमति क बिना रा्य की विधान सभा म प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। (11) रा्यपाल रा्य के बजट को विधान सभा म प्रस्तुत कराता है। (111) रा्य की आकस्मिकता निधि का नियन्त्रण रा्यपाल क अधिकार म ह। इस निधि म स वह रा्य की सरकार का आकस्मिक व्यय क लिए अग्रिम राशि द सकता है परन्तु इसकी बाद म रा्य विधान सभा द्वारा पुष्टि आवश्यक है।

(द) न्यायिक शक्तियाँ—सविधान की 161वा धारा न रा्यपाल को कुछ एसी शक्तियाँ सौंपा ह जिनकी प्रकृति अध-न्यायिक ह। इसम कहा गया ह कि रा्यपाल उन विषयो स सम्बद्ध अपराधो म जो रा्य की कायपालिका शक्ति की परिधि म आत ह अपराधियो को क्षमा कर सकता है तथा उनकी सजा म कमी अथवा परिवतन कर सकता ह। यहा यह तात्पय है कि रा्यपाल को किसी एस अपराधी को क्षमा करन का अधिकार नहा है जिसन सघ सरकार क कानून का उल्लघन किया है एस अपराधी को क्षमा करन की शक्ति कवल राष्टपति को दी गई ह।

निष्कष—सविधान क उपयक्त प्राविधाना स एसा लगता ह कि रा्यपाल रा्य की वास्तविक कायपालिका है तथा उसकी स्थिति ब्रिटिश शासनकाल क प्रान्तो के गवनरो स मिलती जुलती है। परन्तु सामान्यत व्यवहार म एसा नहीं ह। रा्यपाल स आम तौर पर इस बात की अपक्षा की जाती है कि वह अपनी शक्तियो का कार्यान्वयन मन्त्रिमण्डल के परामश पर करगा। सविधान क 163व अनुच्छद की पहली उप धारा म लिखा है कि—रा्यपाल के कार्यों क निष्पादन म सहायता एव परामश दने के लिए एक मन्त्रिमण्डल होगा और वह उस केवल उन विषयो को छोडकर—जिनम उसस सविधान के द्वारा अथवा सविधान क अतगत अपन विवक स काम करने की अपक्षा की जाती ह सभी अन्य विषयो म सहायता करेगा। यह बताने की आवश्यकता नहा कि इस प्रकार का प्राविधान राष्टपति क सम्बन्ध म नहीं पाया जाता। परन्तु साधारण काल म सविधान न रा्यपाल को कोई एसा काय नहा सौंपा ह जिसकी कार्यान्विति वह अपन विवेक स कर सक। इसका कवल एक अपवाद ह और वह है असम का राज्यपाल जिस केवल कबायली एव सीमान्त क्षत्रो क प्रशासन क सचालन म अपने विवक का प्रयोग म लान की छूट दी गई है। इसक अतिरिक्त रा्यपाल को अपन विवक क द्वारा यह भी निश्चित करन का अधिकार है कि मुख्य मन्त्री क पद पर किसको नियुक्त किया जाय विधान सभा का भग किया जाय अथवा नहीं तथा रा्य म सावधानिक यवस्था क भग हो जान का प्रतिवदन राष्टपति क पास किस प्रकार भेजा जाय। इस प्रकार यह स्पष्ट ह कि सामान्यत रा्यपाल स यह आशा की जाती है कि वह रा्य क प्रशासन म औपचारिक अध्यक्ष की भूमिका अदा करगा। यह ठीक है कि सविधान म कहीं यह नहीं लिखा है कि रा्यपाल को प्रत्यक स्थिति म अपन मन्त्रियो का परामश स्वीकार करना चाहिय। परन्तु ससदीय शासन प्रणाली के अतगत जिस भारत म अपनाया गया है यह आवश्यक है कि कुछ अपवादपूण परिस्थितियो को छोडकर साधारणत रा्यपाल को अपन मन्त्रिमण्डल क परामश स ही काम करना चाहिय। ससदीय प्रणाली क अतगत औपचारिक अध्यक्ष अपने द्वारा

निष्पादित कार्यों के लिये उत्तरदायी नही होता, उसमे उत्तरदायित्व मन्त्रिमण्डल का ही होता है। अत यह स्वाभाविक ही है कि वास्तविक शक्तियाँ उस अभिकरण मे निहित हो जिसके पास उन शक्तियो के निष्पादन का उत्तरदायित्व है। चूकि राज्यपाल के पास कोई वास्तविक उत्तरदायित्व नही है, अत अपवादपूर्ण परिस्थितियो को छोडकर उसके पास कोई वास्तविक शक्ति नही है। सविधान सभा मे तो डा० अम्बेदकर ने यहाँ तक कहा था कि शक्तियो की वात तो दूर है, राज्यपाल के तो कोई काम भी नही है, उसके तो केवल कर्त्तव्य है। उन्होने राज्यपाल के दो कर्त्तव्य वताये थे—(1) मन्त्रिमण्डल को सत्ता मे वनाये रखना और यह देखना कि वह इस सम्वन्ध मे अपने विवेक को प्रयोग मे कव लाये, तथा (2) मन्त्रिमण्डल को परामर्श देना, उसे चेतावनी देना, उसे विकल्प सुझाना, तथा उससे पुनर्विचार की माग करना। के० एम० मुन्शी ने कहा था कि 'राज्यपाल को मन्त्रिमण्डल की इच्छा के विरुद्ध काम करने का कोई अधिकार नही है, उसकी स्थिति वैसी ही है जैसी ब्रिटेन मे राजा अथवा रानी की है।' टी० टी० कृष्णमाचारी ने यह मत व्यक्त किया था कि राज्यपाल केवल 'सावैधानिक अध्यक्ष है जिसके पास वास्तविक प्रशासन मे हस्तक्षेप करने की कोई शक्ति नही है।' अपने एक लेख मे एच० वी० कामथ ने राज्यपाल के पद पर टिप्पणी करते हुए लिखा था कि वह 'उस कठपुतली से कुछ अधिक है जिसे एक तरफ से मुख्य मन्त्री नियन्त्रित करता है तथा दूसरी तरफ से राष्ट्रपति, जिसका अर्थ है वास्तव मे प्रधानमन्त्री।' वस्तुत 1950 से लेकर 1957 तक राज्यपाल इतने शक्तिहीन थे कि कुछ राज्यपाल स्वय अपने भाग्य को कोसने लगे थे और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि उनके पद का कोई महत्त्व नही है। अपने एक लेख मे डा० के० वी० राव ने सरोजिनी नायडू का यह वाक्य उद्धृत किया है जिसमे उन्होने अपने आपको 'सोने के पिजडे मे वन्द चिडिया' वताया था। डा० राव ने अपने इस लेख मे यह भी लिखा है कि मुख्य मन्त्री भी राज्यपालो को कोई विशेष महत्त्व नही देते थे, तथा कुछ राज्यपालो ने इसकी नेहरू जी से शिकायत भी की थी। परन्तु इस शिकायत पर कोई ध्यान नही दिया गया, उल्टे नेहरू जी ने इन राज्यपालो से कहा कि उनकी शिकायत का कोई औचित्य नही है। ऐसी परिस्थिति मे यदि डी० एम० के० जैसी पार्टियो ने राज्यपाल का पद समाप्त करने की माँग की थी इसमे कोई आश्चर्य की वात नही है।

परन्तु ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह तो तस्वीर का केवल एक पहलू है। यह ठीक है कि राज्यपाल के कार्य सामान्यत औपचारिक है और उनका निष्पादन भी आम तौर पर मन्त्रियो के परामर्श पर ही होता है। किन्तु जैसा कहा जा चुका है कि कुछ स्थितियो मे उसे अपने विवेक के अनुसार आचरण करने की छूट भी दी गई है। ऐसी स्थिति उस समय उत्पन्न हो सकती है जवकि आम चुनाव के वाद राज्य विधान सभा मे किसी भी दल को स्पष्ट वहुमत प्राप्त न हो अथवा सत्तारूढ दल मे फूट पड गई हो। ऐसे अवसरो पर यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि मुख्य मन्त्री किसको वनाया जाये। स्पष्टत ऐसी स्थितियो मे राज्यपाल को अपने विवेक से काम करने की पूरी छूट है। चौथे आम चुनाव से पूर्व भी इस प्रकार की स्थिति कम से कम तीन वार उत्पन्न हुई थी। सर्वप्रथम 1952 मे मद्रास विधान सभा मे किसी भी दल को स्पष्ट वहुमत प्राप्त नही था। परन्तु वहाँ के राज्यपाल ने राजगोपालाचारी को मुख्य मन्त्री वनाया, यद्यपि वह विधान मण्डल के सदस्य भी नही थे। 1957 मे यह स्थिति केरल और उडीसा मे पैदा हुई और इन राज्यो के राज्यपालो ने अपने विवेक के आधार पर मुख्य मन्त्री का चयन किया।

राज्यपाल सघ सरकार के अभिकर्ता के रूप मे

जव किसी राज्य मे सावैधानिक व्यवस्था भग हो जाती है तो उस समय भी राज्यपाल की शक्ति औपचारिक न होकर वास्तविक हो जाती है। जव कोई राज्यपाल सविधान की 356वी धारा के अन्तर्गत राष्ट्रपति के पास इस आशय का प्रतिवेदन भेजता है कि राज्य का शासन सविधान

के प्राविधानों के अनुसार मर्यादित नहीं किया जा सकता उस समय स्पष्टतः वह अपने विवेक के अनुसार ही आचरण करता है। वस्तुतः जुलाई 1959 में जब केरल के राज्यपाल रामकृष्ण राव ने राष्ट्रपति के पास अपना प्रतिवेदन भेजा था तो उन्होंने मुख्य मन्त्री ई. एम. एस. नम्बूदिरीपाद से कोई परामर्श नहीं किया था। मुख्य मन्त्री ने स्पष्ट शब्दों में इस बात की शिकायत भी की थी। यही नहीं यदि 356वें अनुच्छेद के अन्तर्गत राज्य के शासन का उत्तरदायित्व केन्द्र अपने हाथों में ले लेता है उस समय राज्यपाल की स्थिति औपचारिक शासक की नहीं रहती वह तब वास्तविक शासक बन जाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राज्यपाल के अनेक उत्तरदायित्व हैं और उन्हें पूरा करते समय वह मन्त्रिमण्डल के परामर्श की उपेक्षा भी कर सकता है। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए राज्यपाल को यह अधिकार प्राप्त है कि वह विधानमण्डल द्वारा पारित किसी भी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता है। यह बात आम तौर पर कही जाती है कि केरल के राज्यपाल ने वहाँ के शिक्षा विधेयक (1957) को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए सुरक्षित करते समय अपने मन्त्रिमण्डल का परामर्श नहीं लिया था। फिर बाद में उन्होंने जब मन्त्रिमण्डल को पदच्युत करने का प्रतिवेदन राष्ट्रपति के पास भेजा तो उस समय भी उन्होंने मुख्य मन्त्री अथवा मन्त्रिमण्डल को अपने विश्वास में नहीं लिया था। उक्त दोनों अवसरों पर यह कहा गया था कि राज्यपाल ने राज्य के सांविधानिक अध्यक्ष की भूमिका अदा न करके केन्द्र के अभिकर्ता की भूमिका अदा की थी।

चौथे आम चुनाव के बाद राज्यपाल की भूमिका—चौथे आम चुनाव के बाद देश की राजनीतिक स्थिति में मौलिक परिवर्तन उपस्थित हुए। इन चुनावों के बाद कांग्रेस का राजनीतिक सत्ता पर एकाधिकार समाप्त हो गया तथा देश के अनेक राज्यों में गैर कांग्रेसी मिले जुले मन्त्रिमण्डलों की स्थापना हुई। इन मन्त्रिमण्डलों की रचना किसी वैचारिक साम्य के आधार पर नहीं हुई थी उनका यदि कोई आधार था तो वह था कांग्रेस विरोधवाद। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि इनमें सत्ता एवं पदों के लिए मन्त्रिमण्डल में शामिल दलों के बीच संघर्ष एवं तनाव की स्थिति पायी जाती। ये दल सामान्यतः सरकार का समर्थन उस समय तक करते थे जब तक कि उन्हें सरकार से कुछ पाने की आशा होती थी और जैसे ही उसकी आशा धूमिल हो जाती थी वे अपना समर्थन वापिस ले लेते थे। इस प्रकार एक के बाद दूसरे संयुक्त मोर्चे के मन्त्रिमण्डल का पतन होता गया। मार्च 1967 से लेकर मार्च 1972 तक देश के विभिन्न राज्यों में 24 बार सरकारों का पतन हुआ तथा 15 बार राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। राज्य विधान सभाओं के 5वें आम चुनाव के पूर्व देश के सात राज्य राष्ट्रपति शासन के अधीन थे। इस काल में दल बदल मनोवृत्ति अपनी चरम सीमा पर थी। अतः इस स्थिति में यह अपेक्षा भी नहीं की जा सकती थी कि राज्यों में कोई स्थायी मुख्य मन्त्री और कोई स्थायी मन्त्रिमण्डल काम कर सकेगा। स्पष्टतः इस स्थिति में राज्यपालों से भी यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे संविधान के 163वें अनुच्छेद के अनुसार मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर ही काम करेंगे।

जब तक विधानसभा में किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त था और उसमें अपने दल के नेता को चुनने की क्षमता थी तब तक राज्यपाल के लिए इस मामले में अपने विवेक को प्रयोग में लाने की कोई गुंजाइश नहीं थी। परन्तु जब दो या तीन दल अथवा उनके गठबन्धन बहुमत के समर्थन का दावा करते हों अथवा अपने को मन्त्रिमण्डल की रचना करने का अधिकारी बताते हों तो उस समय राज्यपाल का यह काम हो जाता है कि वह निश्चित करे कि मुख्यमन्त्री किसे बनाया जाय। चौथे आम चुनाव के उपरान्त इस प्रकार के मामले अनेक बार प्रस्तुत हुए हैं।

एक दूसरा मामला जिसमें राज्यपालों ने अपने विवेक का प्रयोग किया है वह व्यवस्थापिका के सत्र अथवा सदनों के अधिवेशनों को बुलाना अथवा उनका समापन करना अथवा उन्हें भंग करने से सम्बद्ध है। जब राज्यों के शासन में स्थायित्व पाया जाता था इस शक्ति का प्रयोग

मुख्य मन्त्री के परामर्श से होता था, परन्तु सयुक्त विधायक दलो के मन्त्रिमण्डलो के युग मे जब कोई मुख्य मन्त्री विधान सभा मे बहुमत का समर्थन अपने दल के सदस्यो के दल-बदल के कारण अथवा सयुक्त मोर्चे के किसी घटक के उससे हट जाने के कारण खो देता था, तो उसे यह प्रलोभन होता था कि वह कुछ दिनो अपने पद पर बना रहे ताकि विरोधी सदस्यो को लालच देकर वह अपने साथ ले सके और व्यवस्थापिका मे अपने बहुमत को दुबारा कायम कर सके। यदि मुख्य मन्त्री ने बहुमत का समर्थन विधानमण्डल के अधिवेशन के समापन के फौरन बाद खोया है तो वह सविधान की 174 (1) वी धारा के अनुसार छ महीने तक विधान सभा के अधिवेशन बुलाये बिना अपने पद पर बना रह सकता है। कुछ मामलो मे राज्यपालो ने मुख्य मन्त्री से कहा कि वे विधान सभा के अधिवेशन को बुलाकर यह पता लगाये कि उन्हे बहुमत का समर्थन प्राप्त है। यदि मुख्य मन्त्री ने ऐसा करने से इनकार कर दिया तो राज्यपाल ने अपने विवेक का प्रयोग करके उसे पदच्युत कर दिया। इस प्रकार की घटना सबमे पहले पश्चिमी बगाल मे घटी। वहाँ डा० पी० सी० घोष के नेतृत्व मे 17 विधायको ने अजय मुखर्जी के नेतृत्व मे गठित सयुक्त मोर्चे की सरकार से अपना समर्थन वापिस ले लिया। राज्यपाल धर्मवीर ने मुख्य मन्त्री से कहा कि 23 नवम्बर, 1967 तक विधान सभा का अधिवेशन बुलाकर अपनी स्थिति का परीक्षण करे। मुख्य मन्त्री ने राज्यपाल का परामर्श यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि विधान सभा का अधिवेशन छ महीने की अवधि मे कभी भी बुलाया जा सकता है तथा वह राज्यपाल के परामर्श को स्वीकार करने के लिए बाध्य नही है। इस पर राज्यपाल ने मुख्य मन्त्री को पदच्युत कर दिया और उनके स्थान पर डा० पी० सी० घोष को नियुक्त कर दिया। यदि अन्य राज्यों में राज्यपालो ने समान परिस्थिति मे ऐसा किया होता तो सम्भवत पश्चिमी बगाल के राज्यपाल के कार्य की आलोचना न की जाती। किन्तु ऐसा नही हुआ। लगभग उसी समय जब धर्मवीर ने अजय मुखर्जी के मन्त्रिमण्डल को पदच्युत किया, बिहार मे राज्यपाल अनन्त शयनम आयगर ने अपने राज्य के मुख्य मन्त्री से यह आग्रह नही किया कि उन्हे विधान सभा का अधिवेशन बुलाना चाहिए। यद्यपि वहाँ भी एक बडी सख्या मे सयुक्त मोर्चे के घटको मे से दल-बदल हुए थे। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश मे राज्यपाल गोपाल रेड्डी ने भारतीय क्रान्ति दल के नेता चरणसिह की विधान सभा को बुलाने की माँग को उस समय ठुकरा दिया था जबकि काग्रेस मे फूट पड चुकी थी तथा मुख्य मन्त्री चन्द्रभानु गुप्त को विधान सभा का केवल अल्पमत का समर्थन प्राप्त था। इसके अतिरिक्त ऐसे मुख्य मन्त्रियो के भी उदाहरण ह जिन्होने अपने मन्त्रिमण्डल के लिए सकट उपस्थित होने पर स्पीकर के द्वारा विधान सभा के अधिवेशन का स्थगन करवा दिया और फिर राज्यपाल के द्वारा उसका समापन करवा दिया।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि राज्यपालो ने अपनी इन सावैधानिक शक्तियो का प्रयोग इस प्रकार से नही किया जिससे उनकी राजनीतिक निष्पक्षता की अभिव्यक्ति होती हो। अत यह स्वाभाविक ही था कि गैर-काग्रेसी दलो के नेता राज्यपालो के इन कार्यो की आलोचना करते। इस सदर्भ मे देश के राजनीतिक क्षेत्रो मे राज्य के प्रशासन मे राज्यपाल की भूमिका की पर्याप्त रूप मे चर्चा हुई है। नम्बूदिरीपाद ने कहा है कि सामान्यत राज्यपाल के पद पर उन व्यक्तियो की नियुक्ति हुई है जो या तो काग्रेस पार्टी के नेता रह चुके ह अथवा जो भारतीय सिविल सर्विस के सदस्य रह चुके है। इन दोनो श्रेणियो मे से किसी से भी निष्पक्षता के साथ काम करने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। पहली श्रेणी के लोग जो हमेशा राजनीति मे रहे ह, 'राजनीति एव दलो से ऊपर' नही रह सकते। दूसरी श्रेणी के राज्यपालो मे 'जिन्होंने समान स्वामिभक्ति के साथ ब्रिटिश एव काग्रेसी शासको की सेवा की है', इस बात की आशा नही की जा सकती कि वे राजनीतिक विवादो मे तटस्थ रह सकेगे।

उपर्युक्त वाद-विवाद के सन्दर्भ मे कुछ लोगो ने यह सुझाव दिया है कि राज्यपालो द्वारा शक्ति के दुरुपयोग को रोकने के लिए कुछ हिदायते (Guidelines) होनी चाहिये। परन्तु इससे समस्या का समाधान हो सकेगा, यह बात सन्देहास्पद है। कुछ समय पूर्व आयोजित एक परिचर्चा मे

उप राष्ट्रपति श्री गोपाल स्वरूप पाठक ने यह मत व्यक्त किया था कि बहुत सम्भव है इन हिदायतों और संविधान की व्यवस्थाओं के बीच टकराव की स्थिति उत्पन्न हो जाय उस हालत में वे न्यायिक व्याख्या की कसौटी पर खरी नहीं उतर सकेंगी। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की हिदायतों से चाहे उनमें कितना ही अधिक ब्यौरा क्यों न हो यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वे सभी समस्याओं का समाधान कर सकेंगी। वास्तव में ये समस्यायें इसलिए पैदा नहीं हुई है क्योंकि संविधान की व्यवस्थाये अस्पष्ट है। सच बात यह है कि इन समस्याओं के जन्म के लिए भारत में आधुनिक युग में प्रचलित सिद्धान्तहीन राजनीति ही उत्तरदायी है जिसमें प्रत्येक राजनीतिक समुदाय ने अपने तुच्छ राजनीतिक स्वार्थों को प्राप्त करने के लिए हर प्रकार के सम्भव अवसरवाद का परिचय दिया है। अत यदि देश में संविधान की व्यवस्थाओं का कार्यान्वयन अपेक्षित है तो यह आवश्यक है कि राजनीतिक दलों के अनुशासन को एक वास्तविकता रूप दिया जाये तथा संसदीय शासन तन्त्र के नियमों का ईमानदारी के साथ पालन किया जाय।

2 मन्त्रि-परिषद्

संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि राज्य में राज्यपाल को उन विषयों को छोड़कर जिनमें वह अपने विवेक से काम करने के लिए स्वतन्त्र है सहायता एवं परामर्श देने के लिए एक मन्त्रि परिषद् होगा। मन्त्रि परिषद् की नियुक्ति के लिए जो पद्धति बताई गई है वह निम्नलिखित है।

राज्यपाल मुख्य मन्त्री को नियुक्त करता है। इस नियुक्ति को करते समय राज्यपाल को यह बात ध्यान में रखनी होती है कि जिस व्यक्ति को मुख्य मन्त्री के पद पर नियुक्त किया जा रहा है उसे विधान सभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त है अथवा नहीं। राज्य में अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राज्यपाल के द्वारा मुख्य मन्त्री की सिफारिश पर होती है। मन्त्रियों के लिए यह आवश्यक है कि वे विधान मण्डल के सदस्य हों किन्तु यदि कोई मन्त्री नियुक्त होने से पूर्व राज्य की व्यवस्थापिका का सदस्य नहीं है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह छ महीने के भीतर सदस्य बन जाय अन्यथा वह अपने पद पर बना नहीं रह सकेगा। मन्त्रियों में विभागों का वितरण मुख्य मन्त्री के द्वारा किया जाता है।

संविधान ने राज्य की कार्यपालिका शक्तियों को वास्तविक रूप में मन्त्रि परिषद में निहित किया है। यद्यपि शासन का परिचालन राज्यपाल के नाम से होता है तथापि यथार्थ में सभी निर्णय मन्त्रियों के द्वारा लिये जाते हैं और सामान्यत राज्यपाल उन निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए बाध्य है। मुख्य मन्त्री का यह काम है कि वह राज्यपाल को मन्त्रि परिषद् के निर्णयों से अवगत कराये तथा उसके समक्ष विधायन के प्रस्ताव प्रस्तुत करे। यदि राज्यपाल को किसी निर्णय से सम्बद्ध कोई अधिक जानकारी हासिल करनी है तो वह मुख्य मन्त्री से इस बात का आग्रह कर सकता है कि वह उसे पूरी जानकारी दे। राज्यपाल मन्त्रि परिषद् को परामर्श दे सकता है और वह उसे चेतावनी भी दे सकता है। संविधान के अनुसार मन्त्री अपने पदों पर राज्यपाल के प्रसाद काल में ही बने रह सकते है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ है कि राज्यपाल यदि चाहे तो किसी मन्त्री को पदच्युत कर सकता है। परन्तु ऐसा इसलिए सम्भव नहीं है क्योंकि मन्त्रि परिषद् को संविधान ने विधान सभा के प्रति उत्तरदायी बताया है और लोकतन्त्र में वास्तविक शक्तियाँ उसको सौंपी जाती है जिसके पास उनके निष्पादन का उत्तरदायित्व है।

संविधान की 164 (2)वी धारा में लिखा है कि मन्त्रि परिषद् अपने कामों के लिए सामूहिक रूप से राज्य की विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि मन्त्री अपने पदों पर केवल उस समय तक बने रह सकते हैं जब तक कि उन्हें विधान सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है। मन्त्री व्यवस्थापिका के सदस्य होते है। उन्हें उसकी बैठकों तथा उसकी कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार है। वे उसकी बैठकों में सरकारी विधेयकों को प्रस्तुत करते है तथा उन्हें पारित करवाने का उत्तरदायित्व भी उन्हीं का होता है।

राज्य के विधानमण्डल को मन्त्रियो के कार्यों की देख-रेख करने तथा उन्हे नियन्त्रित करने के लिए वे सभी साधन उपलब्ध हे जो किसी भी ससदीय लोकतन्त्र मे व्यवस्थापिका सदनो को दिये जाते हे। ये सूचनाये पाने के लिए मन्त्रियो से प्रश्न एव पूरक प्रश्न पूछ सकते है। सरकार के कार्यों की आलोचना करने के लिए उन्हे स्थगन प्रस्ताव को प्रस्तुत करने का अधिकार प्राप्त है। अन्तत उन्हे मन्त्रि-परिषद् के विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव को पारित करने का भी अधिकार है। अत निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि यदि मन्त्रिमण्डलो की रचना मे व्यवस्थापिका की भूमिका होती हे तो उनको मारने मे भी उसका हाथ कुछ कम नही होता। परन्तु जहाँ यह सही हे, वहाँ दूसरी तरफ यह भी सच है कि मन्त्रि-परिषद् के सदन विधानमण्डल मे बहुसख्यक दल अथवा दलो के गुट के नेता होते हे। अत उनके लिए विधान सभा के सदस्यो को प्रभावित करना कोई कठिन बात नही है। अपने इसी प्रभाव के आधार पर उन्हे सामान्यत अपने सभी विधायी प्रस्तावो को पारित करवाने मे सफलता प्राप्त हो जाती है। यदि दलीय अनुशासन कठोर हे तथा विधान सभा मे सरकार का बहुमत स्पष्ट है तो मन्त्रि-परिषद् के लिए अपने अस्तित्व के लिए चिन्तित होने की कोई आवश्यकता नही है। वास्तव मे विधान सभा को मन्त्रि-परिषद् को अपदस्थ करने का अवसर केवल तभी प्राप्त हो सकता है जबकि सरकार के विधानमण्डलीय समर्थक विश्वास के योग्य नही हे, उस स्थिति मे उनसे दल-बदल करवाकर सरकार को अपदस्थ किया जा सकता है।

3 मन्त्रि-परिषद् मे मुख्य मन्त्री का स्थान

जैसा कहा जा चुका हे कि भारत मे केन्द्र और राज्यो दोनो मे ससदीय प्रकार की कार्य-पालिका को अपनाया गया है। अत मोटे तौर पर राज्यो के मुख्य मन्त्रियो को वही शक्तियाँ प्राप्त हे तथा उसके वही काम हें जो सघ की सरकार मे प्रधानमन्त्री को दिये गये है। प्रधानमन्त्री की ही भाँति मुख्य मन्त्री भी अपने मन्त्रिमण्डल के साथियो को चुनता है और वही उनके बीच विभागो का वितरण करता है। उसे यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह यदि चाहे तो किसी मन्त्री को उसके पद से हटा सकता है, तथा आवश्यकता पडने पर वह मन्त्रियो के विभागो मे हेर-फेर कर सकता है। उसी के माध्यम से सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त कार्यान्वित होता है। वह मन्त्रि-परिषद् तथा राज्यपाल और व्यवस्थापिका एव राज्यपाल के बीच की कडी है।

परन्तु ऊपर जो कुछ कहा गया है वह केवल औपचारिकता है। वास्तव मे ऐसे मुख्य मन्त्री थोडे हुए है जिन्होने नेहरू जी अथवा शास्त्री जी अथवा इन्दिरा गाधी की जैसी शक्तियो का उपभोग किया हो। इस प्रकार के मुख्य मन्त्रियो मे पश्चिमी बगाल मे बी० सी० राय और उत्तर प्रदेश मे गोविन्दवल्लभ पत के नाम लिये जा सकते है। परन्तु इन मुख्य मन्त्रियो को जो प्रतिष्ठा प्राप्त थी, वह सविधान की किसी व्यवस्था के कारण नही थी, अपितु उसका कारण उनके अपने नेतृत्व की क्षमता थी। स्पष्टत यह प्रतिष्ठा उन मुख्य मन्त्रियो को नही मिल सकती थी जिनमे नेतृत्व के उन गुणो का अभाव था।

राज्य के विधानमण्डल

भारत के प्रत्येक राज्य मे विधानमण्डल की व्यवस्था की गई है, आठ राज्यो[1] के विधान-मण्डलो मे दो सदन पाये जाते हे और शेष मे केवल एक। राज्यपाल विधानमण्डल का आवश्यक अग हे। राज्यो के दूसरे सदन को 'विधान-परिषद्' का नाम दिया गया हे और प्रथम सदन को 'विधान सभा' का।

[1] ये आठ राज्य हैं—बिहार, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, मध्य प्रदेश और जम्मू-कश्मीर। पजाब के पुनर्गठन के पूर्व वहा भी विधान-परिषद् की व्यवस्था थी। परन्तु बाद मे वहा विधान-परिषद् का अन्त कर दिया गया है

संविधान सभा में यह एक विवादग्रस्त प्रश्न था कि राज्यों में दूसरे सदन की स्थापना की जाय अथवा नहीं। फलतः प्रत्येक राज्य में इस प्रश्न का निर्णय उस राज्य के प्रतिनिधियों के बहुमत से किया गया। इस प्रकार क श्रेणी के तीन राज्यों—असम, मध्य प्रदेश और उडीसा—ने दूसरे सदन की स्थापना का विरोध किया। ख श्रेणी के छ राज्यों ने द्विसदनात्मक व्यवस्था पद्धति के पक्ष में मतदान किया। अत संविधान की 168वीं धारा में इन राज्यों के लिए दो सदनों की व्यवस्था की गई है। परन्तु 169वीं धारा में यह व्यवस्था की गई है कि किसी भी राज्य में दूसरे सदन का संघ की संसद उस स्थिति में खतम कर सकती है यदि उस राज्य की विधान सभा पूर्ण बहुमत से उस आशय का प्रस्ताव पारित कर दे बशर्ते कि मतदान में भाग लेने वाले सदस्य कुल सदस्य-संख्या के दो तिहाई हों। इसी प्रकार इसी प्रक्रिया के द्वारा उन राज्यों में जहाँ केवल एक सदन पाया जाता है विधान सभा दूसरे सदन की स्थापना के पक्ष में प्रस्ताव पारित कर दे तो संसद उस राज्य के लिए इस आशय का एक कानून बना सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किसी राज्य में विधानमण्डल द्विसदनीय हो अथवा एक-सदनीय इस बात का निर्णायक उस राज्य की स्वयं विधान सभा है। पंजाब और पश्चिमी बंगाल में विधान-परिषदों का उन्मूलन हो चुका है। बिहार विधान सभा दूसरे सदन को खतम करने के पक्ष में प्रस्ताव पारित कर चुकी है। पिछले दिनों में इन सदनों की कड़ी आलोचना की गई है। लोगों ने कहा है कि उनमें सार्वजनिक धन का अपव्यय होता है तथा उनके द्वारा व्यवस्थापिका में उन लोगों को पिछवाड़े से स्थान दिलाया जाता है जिन्हें आम चुनाव में जनता ने ठुकरा दिया था।

1 विधान-परिषद् ✓

गठन—संविधान में विधान-परिषद् की रचना के सम्बन्ध में निम्नलिखित व्यवस्था की गई है—

(1) विधान-परिषद् की कुल सदस्य-संख्या विधान सभा की सदस्य संख्या के एक तिहाई से अधिक नहीं होगी परन्तु उसकी न्यूनतम संख्या 40 होनी चाहिए। इसका केवल एक अपवाद है और वह है जम्मू और कश्मीर का राज्य जहाँ की विधान-परिषद् में केवल 36 सदस्य हैं। इसका कारण यह है कि उस राज्य का अपना अलग से संविधान है जिसके अनुसार वहाँ की विधान सभा और विधान-परिषद् के सदस्यों की संख्या निश्चित की गई है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि संविधान ने राज्यों की विधान-परिषदों की सदस्य-संख्या निर्धारित नहीं की है उसमें केवल अधिकतम और न्यूनतम संख्या का निर्धारण किया है।

(2) इन सीमाओं के अन्तर्गत राज्य की विधान परिषद् में अग्रलिखित पाँच वर्गों का प्रतिनिधित्व होगा (i) परिषद् के एक तिहाई सदस्यों का निर्वाचन राज्य की स्थानीय संस्थाओं के द्वारा होगा। (ii) परिषद् के 1/12 सदस्य विश्वविद्यालयों के कम से कम तीन वर्ष पुराने स्नातकों या उनके समान योग्यता वाले राज्य के निवासियों के द्वारा होगा। (iii) कुल सदस्यों के 1/12 सदस्य राज्य की माध्यमिक शिक्षा संस्थाओं तथा उनसे उच्च स्तर के कम से कम तीन वर्ष पुराने शिक्षकों द्वारा चुने जायेंगे। (iv) कुल सदस्यों के 1/12 सदस्य राज्य की विधान सभा के सदस्यों द्वारा उन सदस्यों में से चुने जायेंगे जो विधान सभा के सदस्य नहीं हैं। (v) शेष सदस्य यानी कुल सदस्य-संख्या के 1/6 सदस्यों को राज्य का राज्यपाल मनोनीत करेगा।

उपर्युक्त प्रथम चार वर्गों के सदस्यों का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के आधार पर एकल संक्रमणीय मत द्वारा सम्पन्न होते हैं। अन्तिम वर्ग के सदस्यों का मनोनयन राज्यपाल उन व्यक्तियों में से करता है जिन्होंने साहित्य, कला, विज्ञान, सहकारिता आन्दोलन, समाज सेवा आदि में विशिष्ट योगदान दिया है।

विधान परिषद् की इस रचना व्यवस्था में संसद को परिवर्तन करने का अधिकार है।

सदस्यों की योग्यता तथा अयोग्यता—विधान-परिषद् की सदस्यता के लिए अग्रलिखित

योग्यताओ का निर्धारण किया गया है—

(i) वह भारत का नागरिक हो। (ii) उसकी आयु कम से कम 30 वर्ष हो। (iii) उसमे वे सभी योग्यताये हो जिनका निर्धारण ससद कानून-निर्माण करके निश्चित करे।

ऐसा कोई भी सदस्य जो निम्नलिखित मे से किसी एक श्रेणी मे आ जाता है विधान-परिषद् का सदस्य नही रह सकता—

(i) वह किसी न्यायालय द्वारा पागल घोषित कर दिया गया है। (ii) वह दिवालिया हो गया है। (iii) उसने सघ सरकार अथवा किसी राज्य सरकार के अन्तर्गत किसी लाभ के पद को ग्रहण कर लिया है। (iv) उसने अपनी इच्छा से किसी विदेशी राज्य की नागरिकता प्राप्त कर ली है। (v) उसने किसी अन्य विदेशी राज्य के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की है। (vi) वह ससद द्वारा निर्मित किसी कानून के अन्तर्गत विधान-परिषद् की सदस्यता के लिए अयोग्य हो। (vii) यदि वह सदन की अनुमति प्राप्त किये बिना 60 अथवा उससे अधिक दिनो तक सदन की बैठको मे अनुपस्थित रहा है, तथा (viii) यदि वह विधानमण्डल के दोनो सदनो का सदस्य है तो उसके लिए एक सदन की सदस्यता से त्यागपत्र देना आवश्यक है।

अवधि—विधान-परिषद् एक स्थायी सदन है तथा उसे भग नही किया जा सकता। उसके सदस्य 6 वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते है तथा प्रति तीसरे वर्ष उसके एक तिहाई सदस्य अवकाश ग्रहण करते रहते है।

2 विधान सभा

गठन—विधान सभा राज्य विधानमण्डल का निचला सदन है। सविधान के अनुसार उसके सदस्यो का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से बालिग मताधिकार के आधार पर होना है। उसमे अधिक से अधिक 500 तथा कम से कम 60 सदस्य हो सकते है। सविधान के कार्यान्वयन के पूर्व देश मे साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्र कायम थे। सविधान ने निर्वाचन की इस प्रणाली का अन्त कर दिया है तथा उसने सयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रो की स्थापना की है। परन्तु इसके साथ ही उसमे अल्पसख्यको तथा पिछडी हुई जातियो के प्रतिनिधित्व के लिए स्थानो को सुरक्षित रखने की व्यवस्था है। सविधान की 332वी धारा मे लिखा है कि विधान सभा मे निम्न वर्गो के लिए स्थान सुरक्षित रखे जायेगे—

(i) अनुसूचित जातियाँ,

(ii) अनुसूचित आदिम जातियाँ।

सविधान मे यह भी व्यवस्था है कि यदि राज्यपाल की राय मे आग्ल-भारतीय समुदाय को राज्य की विधान सभा मे पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नही है, तो वह अपने विवेक से जितने सदस्यो का मनोनयन आवश्यक समझता हो मनोनीत कर सकता है। आरम्भ मे अनुसूचित जातियो, अनुसूचित आदिम जातियो तथा आग्ल-भारतीयो के लिए स्थानो को केवल दस वर्ष के लिए सुरक्षित रखा गया था, परन्तु इस अवधि को दस-दस वर्ष के लिए दो बार बढाया जा चुका है। अब यह अवधि 1980 मे खत्म होगी।

सदस्यो की योग्यता—विधान सभा के सदस्यो के लिए सविधान मे निम्नलिखित योग्यताये निर्धारित की गई है—(i) वह भारत का नागरिक हो, (ii) उसकी आयु कम से कम 25 वर्ष हो, (iii) उसके पास वे सभी योग्यताये हो जिन्हे कानून के द्वारा राज्य के विधानमण्डल ने निर्धारित किया हो।

अवधि—विधान सभा का निर्वाचन पाँच वर्ष की अवधि के लिये होता है। सकट काल मे ससद एक बार मे उसकी अवधि एक वर्ष के लिए कानून के द्वारा बढा सकती है, परन्तु सकट काल की समाप्ति के छ महीने के उपरान्त उसकी अवधि को नही बढाया जा सकता। विधान सभा का विघटन इस अवधि के भीतर भी किया जा सकता है। ऐसा विघटन मुख्य मन्त्री के परामर्श पर

राज्यपाल द्वारा किया जाता है।

राज्य विधानमण्डलों की शक्तियाँ और कार्य

राज्यों के विधानमण्डलों को उन सभी विषयों पर कानून बनाने का अधिकार है जिनका राज्य सूची में उल्लेख है। सामान्यतः इस क्षेत्र पर राज्य विधानमण्डल का एकमात्र अधिकार है। इसके अतिरिक्त वह समवर्ती सूची में उल्लिखित विषयों पर भी कानून बना सकता है। परन्तु इस क्षेत्र में राज्य विधानमण्डल का एकाधिकार नहीं है। यदि इस सूची में दिये हुए विषयों पर संघ की संसद और राज्य विधान सभा दोनों का कानून है तो जिस सीमा तक राज्य का कानून संघ के कानून के प्रतिकूल है तो उस सीमा तक वह कानून अवैध हो जाता है। परन्तु यदि उस कानून को राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हो गई है तो वह संघ के कानून के प्रतिकूल होने के बावजूद भी वैध माना जायगा।

विधानमण्डल को मुख्यतः विधान सभा को राज्य के वित्त पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त है। राज्य का विधानमण्डल ही सब कर सम्बन्धी प्रस्तावों को कानूनी रूप देता है। विधान सभा खर्चों की माँगों को स्वीकार करता है और विधानमण्डल द्वारा विनियोग अधिनियम के पारित करने के बाद ही सरकार संचित निधि से व्यय के हेतु धन निकाल सकती है। वित्तीय क्षेत्र में विधानमण्डल की शक्तियों पर कोई सीमायें नहीं हैं सिवाय इसके कि कुछ खर्चे संचित निधि पर भारित होते हैं और उन पर विधानमण्डल को बातचीत करने का अधिकार तो होता है किन्तु उन पर मतदान का अधिकार नहीं है।

संविधान ने केन्द्र और राज्य दोनों में ही संसदीय कार्यपालिका की स्थापना की है। फलतः राज्यों में वास्तविक कार्यपालिका सामूहिक रूप से विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। यदि विधान सभा अपने बहुमत से कोई निन्दा अविश्वास अथवा काम रोको प्रस्ताव पारित कर दे तो मन्त्रि परिषद् को त्याग पत्र देना होता है। जैसा कहा जा चुका है कि सामान्य परिस्थिति में विधान सभा के लिए मन्त्रिमण्डल को अपदस्थ करना सम्भव नहीं होता। परन्तु प्रश्नों, स्थगन प्रस्तावों आदि के द्वारा वह सरकार की नीतियों तथा उसके कार्यों का पर्दाफाश अवश्य कर सकती है। बताने की आवश्यकता नहीं कि लोकतन्त्र में कोई भी सरकार विधान सभा की इन शक्तियों की उपेक्षा नहीं कर सकती।

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त संविधान ने राज्यों के विधानमण्डलों को दो अन्य काम भी सौंपे हैं। वे हैं—संविधान की संशोधन प्रक्रिया में भाग लेना तथा राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेना।

संविधान की उन धाराओं को जिनका सम्बन्ध राज्यों की शक्तियों के साथ है तभी संशोधित किया जा सकता है जबकि संविधान संशोधन विधेयक को केन्द्रीय संसद एक विशेष बहुमत से पारित करे और आधे से अधिक राज्यों के विधानमण्डल उसका अनुसमर्थन करें। संविधान में संशोधन के लिए राज्य विधानमण्डल के दोनों सदनों (यदि दो सदन हों तो) की स्वीकृति आवश्यक है।

राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेते हैं।

राज्य विधानमण्डलों की शक्तियों पर प्रतिबन्ध

राज्य विधानमण्डलों की शक्तियाँ असीमित नहीं हैं। संविधान ने उनकी शक्तियों के ऊपर निम्नलिखित प्रतिबन्ध लगाये हैं—

(1) कुछ ऐसे विषय हैं जिन्हें राज्य सूची में निहित किया गया है किन्तु जिन पर राज्य के विधानमण्डल तब तक कानूनों का निर्माण नहीं कर सकते जब तक कि उन पर राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति प्राप्त न हो जाय।

(2) समवर्ती सूची के विषयों पर राज्य विधानमण्डल कानून तो बना सकते हैं किन्तु यदि

वह ससद के किसी भी कानून के विरोध मे है तो ऐसी स्थिति मे केन्द्रीय कानून वैध होगा और राज्य का कानून गैर-कानूनी, यदि राज्य के कानून को राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है तो राज्य का कानून वैध होगा और ससद का कानून गैर-कानूनी।

(3) कुछ ऐसे विषय है जिन पर राज्य विधानमण्डल कानूनो का निर्माण तो कर सकता है, किन्तु वे तब तक कानून का रूप धारण नही कर सकते जब तक कि राष्ट्रपति उन्हे स्वीकृति प्रदान न कर दे। ऐसे विधेयक राष्ट्रपति के पास राज्यपाल के द्वारा भेजे जाते है।

(4) सकट-कालीन स्थिति मे सघीय ससद राज्य सूची मे उल्लिखित सभी विषयो पर कानून बना सकती है।

(5) यदि राज्य मे सावैधानिक व्यवस्था असफल हो जाती हे, तो राष्ट्रपति को राज्य की विधान सभा को विघटित करने का अधिकार प्राप्त है तथा वहाँ इसके बाद नये चुनावो की व्यवस्था की जाती है। इस अवधि मे केन्द्रीय ससद को राज्य-सूची के सभी विषयो पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

(6) यदि राज्य-सभा दो-तिहाई बहुमत से इस आशय का प्रस्ताव पारित कर दे कि राज्य-सूची मे उल्लिखित किसी एक विषय पर अथवा कुछ विषयो पर सघीय ससद को कानून बनाना चाहिए, तो उस स्थिति मे एक वर्ष की अवधि के लिए राज्यो के विधानमण्डलो को उन पर कानून बनाने के अधिकार से वचित कर दिया जाता है। इस अवधि को बढाया जा सकता है।

(7) राज्य स्वय राज्य-सूची के किसी भी विषय को विधि-निर्माण हेतु सघीय ससद को सौप सकता है।

विधानमण्डल के दोनो सदनो के बीच सम्बन्ध

जिस राज्य मे द्विसदनात्मक विधानमण्डल पाया जाता है, उसमे निम्न सदन अर्थात् विधान सभा को ही वास्तविक शक्तियाँ प्राप्त होती है। उच्च सदन अर्थात् विधान-परिषद् केवल द्वितीय सदन ही नही है, यथार्थ मे वह गौण सदन है। वित्तीय मामलो मे अन्तिम और एकमात्र शक्ति विधान सभा को ही दी गई है। धन-विधेयक का जन्म विधान सभा मे ही होता हे। वहाँ से पारित होने के बाद उसे विधान-परिषद् मे भेज दिया जाता है। परिषद् के पास उस पर विचार करने के लिए केवल चौदह दिन होते है। यदि इस बीच मे परिषद् उस पर कोई निर्णय नही ले पाती तो उसके बावजूद भी उसे राज्यपाल के पास उसकी स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अनुदानो की माँगो पर मतदान करने का अधिकार केवल विधान सभा को ही प्राप्त है।

जहाँ तक गैर-धन विधेयको का प्रश्न है, उनके सम्बन्ध मे भी विधान सभा की शक्तियाँ विधान-परिषद् की शक्तियो से अधिक है। यदि कोई विधेयक विधान सभा के द्वारा पारित होने के उपरान्त (i) परिषद् के द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाय, अथवा (ii) परिषद् उसे प्राप्त करने के तीन महीने के भीतर उस पर कोई कार्यवाही न करे, अथवा (iii) परिषद् उस विधेयक को ऐसे सशोधनो के साथ पारित करे जो विधान सभा को मान्य नही है, तो उस स्थिति मे यदि विधान सभा उक्त विधेयक को दुबारा उसी रूप मे पारित कर दे जिसमे उसने उसे पहले पारित किया था, तो वह विधेयक राज्यपाल के पास स्वीकृति के लिए भेज दिया जायेगा।

विधान-परिषद् के पास कार्यपालिका को नियन्त्रित करने की कोई शक्ति नही दी गई है। इस सम्बन्ध मे यदि परिषद् को कोई शक्ति मिली हुई हे तो वह केवल उससे सूचनाये प्राप्त करने की शक्ति है। ऊपर बताया जा चुका है कि सविधान ने कार्यपालिका को नियन्त्रित करने की शक्ति केवल विधान सभा को सौपी है।

राज्यों की न्यायपालिका

भारतीय संघ-व्यवस्था के अंतर्गत राज्यों की न्यायपालिका की स्थिति अन्य विशिष्ट संघों में कुछ भिन्न प्रकार की है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमरीका में राज्यों के अपने अलग संविधान हैं और राज्यों की न्यायपालिकाएं उन्हीं संविधानों के अनुसार स्थापित की जाती हैं और उन्हीं से अपनी शक्ति प्राप्त करती हैं। संघीय संविधान तथा सरकार का उनसे केवल यही सम्बन्ध है कि संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान का उल्लंघन करते हुए उनके संगठन तथा अधिकार क्षेत्र का निर्धारण नहीं हो सकता। राज्यों में संघीय कानून को लागू करने के लिए पृथक् संघीय न्यायालय स्थापित किये गये हैं। इस प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका के राज्यों में दो प्रकार के न्यायालय स्थापित हैं जिनके मध्य परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु भारत में समूचे देश के लिए एकीकृत न्याय व्यवस्था है। इसका मुख्य कारण एक ही संविधान का होना है। यद्यपि न्यायालयों की उच्चाच्च परम्परा में सर्वोच्च न्यायालय देश का उच्चतम न्यायालय है तथापि प्रत्येक राज्य में न्यायालय के शीर्ष पर उच्च न्यायालय है। राज्य के समस्त निम्न स्तरीय न्यायालय उच्च न्यायालय के अधीन कार्य करते हैं। सर्वोच्च न्यायालय न्यायपालिका की उच्च शृंखला के शीर्ष में है परन्तु राज्यों के उच्च न्यायालयों के ऊपर उसका अधिकार क्षेत्र केवल अपीली है न कि नियन्त्रणकारी। स्वयं उच्च न्यायालय भी अभिलेख न्यायालय है और उनकी सृष्टि संविधान द्वारा की गयी है। यह व्यवस्था इसलिए की गयी है ताकि राज्यों का प्रधान न्यायालय होने के नाते उनकी स्वतन्त्रता बनी रहे।

उच्च न्यायालयों के संगठन तथा अधिकारों का स्रोत स्वयं भारत का संविधान है। प्रत्येक राज्य में एक उच्च न्यायालय होता है। इस संविधान के अनुसार दो राज्यों का एक ही उच्च न्यायालय भी हो सकता है। ऐसी व्यवस्था तभी की जाती रही है जबकि किसी राज्य के विभाजन से दो राज्य बन जाते हैं परन्तु कालान्तर में उनमें से प्रत्येक राज्य अपना पृथक् उच्च न्यायालय स्थापित कराता आया है। राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की संख्या निश्चित नहीं की गयी है। इसका निर्धारण करने की शक्ति राष्ट्रपति को दी गयी है जो समय समय पर राज्य विशेष की आवश्यकतानुसार इसका निर्धारण करता रहता है। इस प्रकार प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य कई न्यायाधीश होते हैं। इन सबकी नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। उच्च न्यायालय का न्यायाधीश ऐसे व्यक्ति को बनाया जाता है जो भारत का नागरिक हो उसकी उम्र 62 वर्ष से अधिक न हो, वह राज्यों के न्यायालयों में दस वर्ष तक न्यायाधीश या वकील रह चुका हो। इस प्रकार उच्च न्यायालयों में राज्यों की न्यायिक सेवाओं में काम करने वाले अनुभवी न्यायाधीशों तथा वकीलों दोनों को लिया जा सकता है। नियमित न्यायिक सेवा में नियुक्त किये गये न्यायाधीश अपने कार्यकाल के उपरान्त पेंशन भी प्राप्त करते हैं। मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति करने में राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा सम्बन्धित राज्य के राज्यपाल से परामर्श लेता है और अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के बारे में उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से। मुख्य न्यायाधीश को 4000 रु तथा अन्य न्यायाधीशों को 3500 रु मासिक वेतन सम्बन्धित राज्य की संचित निधि से दिया जाता है। व्यय की यह मद व्यवस्थापिका के मताधीन नहीं है। किसी न्यायाधीश के कार्यकाल में इसे उसके अहित में कम नहीं किया जा सकता। अवकाश ग्रहण करने पर उच्च न्यायालय का न्यायाधीश उसी उच्च न्यायालय में वकालत नहीं कर सकता। उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को राष्ट्रपति स्थानान्तरित कर सकता है। यह प्राविधान सार्वजनिक हित में उनकी योग्यता तथा अनुभव का लाभ उठाने के लिए किया गया है। इसका उद्देश्य न्यायालय की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाना नहीं है। इन प्राविधानों का मुख्य उद्देश्य उच्च न्यायालयों की स्वतन्त्रता को बनाये रखना है।

अधिकार क्षेत्र—उच्च न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र की व्याख्या संविधान में उस रूप में

नही की गयी है जिस रूप मे उच्चतम न्यायालय की की गई है । उच्च न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय की भाँति प्रारम्भिक, अपीली तथा प्रशासनिक तीन प्रकार के अधिकार रखते हे । सर्वोच्च न्यायालय की भाँति उच्च न्यायालय भी अपनी प्रादेशिक सीमा के अन्तर्गत सविधान निर्वचन तथा नागरिको के मौलिक अधिकारो के सरक्षण सम्बन्धी प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र का उपभोग करते हैं, और इस निमित्त वे आवेदनो की सुनवाई करके आदेश जारी करते है । वे अपनी प्रादेशिक अधिकार सीमा के अन्तर्गत सैनिक न्यायाधिकरणो को छोडकर अन्य सभी न्यायालयो तथा न्यायाधिकरणो के निर्णयो के विरुद्ध अपीले सुनते हे । यदि उच्च न्यायालय को यह प्रतीत होने लगे कि कोई विवाद जो उसके अधीन निम्न न्यायालयो मे चल रहा है, साविधानिक व्याख्या चाहता है, तो उस मामले को अपने पास मँगा सकता है और या तो स्वय उसकी सुनवाई करके निर्णय देता है या साविधानिक व्याख्या दे देने के उपरान्त उसी न्यायालय को सुनवाई करने तथा निर्णय देने के हेतु वापिस कर सकता है । दीवानी और फौजदारी के समस्त विवादो मे जिला न्यायालयो के निर्णयो के विरुद्ध उच्च न्यायालय मे अपीले की जा सकती है । माल के विवादो मे यद्यपि राज्य का अन्तिम न्यायालय 'बोर्ड ऑफ रेवेन्यू' है, तथापि उसके निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय मे भी अपील की जा सकती है, बशर्ते कि विवाद मे कोई ऐसा मामला हो जिसमे साविधानिक निर्वचन करने की बात अन्तर्निहित हो । उच्च न्यायालय अपने सम्पूर्ण कार्यालय तथा न्यायालय के कर्मचारी-वृन्द पर प्रशासनिक नियन्त्रण रखता है । साथ ही कुछ अश मे उसका प्रशासनिक नियन्त्रण राज्य के जिला न्यायालयो के ऊपर भी रहता है । यद्यपि जिला न्यायाधीशो की नियुक्ति राज्यपाल के द्वारा की जाती है, तथापि उनकी नियुक्ति करने मे राज्यपाल उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा राज्य लोक सेवा आयोग का परामर्श लेता है । उच्च न्यायालय अपनी न्यायिक प्रक्रिया का निर्धारण स्वय करता है, साथ ही राज्य के निम्न न्यायालयो को भी इस सम्बन्ध मे आदेश देता है, वह उनके कार्यो का निरीक्षण भी करता है । सर्वोच्च न्यायालय की भाँति उच्च न्यायालय को राज्य सरकार को परामर्श देने सम्बन्धी अधिकार प्राप्त नही है । चूँकि राज्यो मे राज्यपाल पद के अस्थायी रूप से खाली होने पर 'उप-राज्यपाल' सदृश किसी पद का प्राविधान नही है, अत ऐसी स्थिति आने पर उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश राज्य के कार्यकारी राज्यपाल का कार्य करता है । परन्तु उस अवधि मे वह उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का कार्य नही करता ।

उच्च न्यायालयो को साविधानिक निर्वचन तथा नागरिको के मौलिक अधिकारो का सरक्षण करने की शक्ति प्रदान करने का एक मुख्य उद्देश्य यह था कि विशाल देश मे यदि यह शक्ति केवल सर्वोच्च न्यायालय के हाथ मे रहती, तो नागरिको के साविधानिक उपचारो के मौलिक अधिकार की प्रभावशीलता समाप्त हो जाती । उन्हे सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष जा सकने मे कठिनाई प्रतीत होती । साथ ही सर्वोच्च न्यायालय का कार्यभार भी बहुत बढ जाता । यदि कभी उच्च न्यायालयो के पास अत्यधिक कार्य बढ जाता है तो उसे निबटाने के लिए अस्थायी रूप से अतिरिक्त न्यायाधीश भी नियुक्त किये जाते है ।

राज्यो मे अधीन न्यायालय—उच्च न्यायालयो के नीचे श्रेणीबद्ध क्रम मे न्यायपालिका की व्यवस्था का निर्धारण सविधान द्वारा नही किया गया है । यह अधिकार राज्य की विधानसभाओ को प्रदान किया गया है कि वे अपने राज्य मे इसका सगठन करने के हेतु विधि-निर्माण स्वय कर ले । इसलिए विभिन्न राज्यो मे निम्न-स्तरीय न्यायपालिका सगठन के विवरणात्मक रूपो मे किंचित विविधता का होना स्वाभाविक है । परन्तु कुछ आधारभूत सिद्धान्त जिनके अनुसार राज्यो मे न्यायपालिका का सगठन किया गया है, सर्वत्र बहुत कुछ मिलते-जुलते है, क्योकि ब्रिटिश काल मे चलती आयी न्यायिक व्यवस्था को स्वतन्त्र भारत मे भी बनाये रखा गया है । परन्तु आवश्यकतानुसार उनमे परिवर्तन तथा परिवर्धन किये जाते रहे है । जो मुख्य बाते सर्वत्र समान रूप मे पायी जाती है, वे इस प्रकार है

प्रत्येक राज्य को न्यायिक दृष्टि से जिलो मे विभक्त किया गया है । कुछ जिले प्रशासनिक

जिला क रूप म ह और वहा पर न्यायिक सगठन क निमित्त दो या तीन जिला को भी एक जिल क रूप म सगठित किया गया है। न्यायालय तीन प्रकार क हैं दीवानी फौजदारी तथा माल।

जम्मू और कश्मीर राज्य की विशेष स्थिति

भारतीय सघ की अन्य इकाइयो की भाति जम्मू और कश्मीर भी भारतीय सघ का एक अग ह। परन्तु उसका आन्तरिक सविधान अलग रहा है तथा केन्द्र के साथ सम्बन्धा म भी उसकी विशिष्ट स्थिति को मान्यता दी जाती रही है।

प्रश्न है कि सविधान न जम्मू और कश्मीर राज्य को अन्य राज्या स भिन्न पद क्यो दिया है ? इस प्रश्न का उत्तर हम उन विशिष्ट परिस्थितियो म मिल सकता है जिनम कश्मीर न पाकिस्तानी आक्रमण क उपरान्त भारतीय सघ म शामिल होने का निर्णय लिया था। ऐसा करन म वहाँ की जनता का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। परतु पाकिस्तान न इस समय तक अपना आक्रमण बन्द नहा किया था उल्टे उसन धर्म क आधार पर इस समूचे राज्य पर अपना दावा जताना आरम्भ कर दिया था। इस पृष्ठभूमि म भारत सरकार न कश्मीर की जनता को यह आश्वासन दिया कि राज्य म सामान्य स्थिति की स्थापना म वह जनमत सग्रह के द्वारा वहा की जनता का परामर्श लगा। अत यह आवश्यक था कि जम्मू और कश्मीर के राज्य को सविधान म एक विशिष्ट पद प्रदान किया जाता।

जम्मू और कश्मीर राज्य तथा भारत क सावैधानिक सम्बन्धा का उल्लेख भारत क सविधान म हुआ है। उसम लिखा है कि सविधान की केवल दो धाराय जम्मू और कश्मीर क राज्य पर लागू होगी। वे हैं—धारा 1 और 370। अनुच्छेद 1 म कहा गया है कि जम्मू और कश्मीर का राज्य भारतीय सघ का एक भाग है। अनुच्छेद 370 म इस राज्य की विशिष्ट स्थिति को स्वीकार किया गया है तथा यह कहा गया है कि सविधान क अन्य प्राविधाना को राष्ट्रपति एस सशोधना क साथ लागू कर सकगा जो राज्य की सरकार को मान्य हो। 26 जनवरी 1950 को राष्ट्रपति न एक आदेश क द्वारा यह घोषणा की कि जम्मू और कश्मीर राज्य क सदभ म सघीय ससद की विधायी शक्ति केवल सघ और समवर्ती सूची क उन विषया तक सीमित रहगी जो इस राज्य के प्रवेश पत्र क प्राविधाना स मल खाते हो। इसका अर्थ यह हुआ कि सघ सूची क 97 विषया म स केवल 36 विषया पर ससद द्वारा बनाय गये कानून जम्मू और कश्मीर क राज्य म लागू हो सकग। सविधान क 22 अध्याया म स 9 अध्याय तो वहा लागू हो नहा किय जा सकत थे।

1954 के बाद की स्थिति—उपयुक्त व्यवस्था उस समय तक चलती रही जब तक कि राज्य न सविधान सभा का निर्वाचन नहीं कर लिया। सभा न फरवरी 1954 म एकमत स भारत म शामिल होन के निर्णय की सम्पुष्टि कर दी। इसक बाद धीरे धीरे राज्य क भारतीय सघ म पूर्ण विलयन क लिए कदम उठाय जान लग। पहला कदम 1954 मे उस समय उठाया गया जब राष्ट्रपति न इस सम्बन्ध म एक आदेश निकाला। इस आदेश क अनुसार सविधान का पहला दूसरा तीसरा पाचवाँ ग्यारहवाँ बारहवा और तेरहवा अध्याय राज्य क ऊपर लागू माना गया। इन सबस भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस आदेश क द्वारा सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार क्षेत्र जम्मू और कश्मीर राज्य म भी लागू कर दिया गया।

26 फरवरी 1958 को राष्ट्रपति न एक दूसरे आदेश क द्वारा एकीकरण की प्रक्रिया को एक कदम और आग बढ़ाया। इस आदश क द्वारा भारत क महालेखा परीक्षक को जम्मू और कश्मीर क राज्य म भी क्षेत्राधिकार प्रदान किया गया। इसक अन्तगत चुनाव आयोग तथा सर्वोच्च न्यायालय का अपीलीय क्षेत्र भी इस राज्य म लागू कर दिया गया। अब अन्य राज्या की भाँति जम्मू और कश्मीर क उच्च न्यायालय क न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति क द्वारा हो होती है। बाद म एक आदेश क द्वारा यह व्यवस्था भी की गई कि अन्य राज्या की भाति इस

राज्य से भी लोकसभा के सदस्यो का निर्वाचन बालिग मताधिकार के आधार पर होगा, पहले इनका निर्वाचन राज्य की विधान सभा के द्वारा होता था।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि जम्मू और कश्मीर कानूनी एव सावैधानिक दृष्टि से न केवल भारत का अभिन्न अग है, अपितु शनै-शनै उसका भारत के साथ एकीकरण हुआ है तथा केन्द्र सरकार के साथ उसके सम्बन्ध अब लगभग वैसे ही है जैसे अन्य राज्यो के है। परन्तु इसके साथ मे यह बात भी अवलोकित की जा सकती है कि कुछ मामलो मे इस राज्य की सावैधानिक स्थिति अन्य राज्यो से भिन्न है। उदाहरण के लिए सघ की ससद भारतीय सघ के अन्य राज्यो के सीमान्तो मे हेर-फेर कर सकती है, परन्तु ऐसा वह जम्मू और कश्मीर के सम्बन्ध मे नही कर सकती। द्वितीय, अन्य राज्यो का कोई अपना अलग से सविधान नही है, परन्तु इस राज्य का अपना पृथक् सविधान है। तृतीय, आन्तरिक उपद्रवो के आधार पर राष्ट्रपति जम्मू और कश्मीर के राज्य मे सकट-काल की घोषणा राज्य सरकार की अनुमति के बिना नही कर सकता। इसी प्रकार राष्ट्रपति को इस राज्य के सन्दर्भ मे यह शक्ति भी प्राप्त नही है कि सावैधानिक व्यवस्था के असफल हो जाने की स्थिति मे वह राज्य के शासन को अपने अधिकार मे ले। देश के कुछ राष्ट्रवादी तत्वो ने यह माँग प्रस्तुत की है कि इस राज्य का भारतीय सघ के साथ पूर्ण एकीकरण होना चाहिए तथा सविधान के 370वे अनुच्छेद का अन्त कर देना चाहिए। परन्तु ऐसा राज्य की जनता की इच्छा के आधार पर ही हो सकता है। गजेन्द्रगडकर आयोग ने भी अपने प्रतिवेदन मे यही सुझाव दिया है कि इस प्रश्न को राज्य की सरकार और जनता के निर्णय पर छोड दिया जाये।

सघीय क्षेत्रो का शासन

मूल सविधान के प्राविधानो के अनुसार भारतीय सघ मे आरम्भ मे तीन प्रकार की इकाइयाँ थी—'क' श्रेणी के राज्य, 'ख' श्रेणी के राज्य, और 'ग' श्रेणी के राज्य। इनके अतिरिक्त अण्डमान और निकोबार के द्वीपो को 'घ' श्रेणी का राज्य कहा गया था। 'ग' श्रेणी के राज्यो मे जो इकाइयाँ शामिल की गई थी वे इस प्रकार थी—हिमाचल प्रदेश, बिलासपुर, भोपाल, कच्छ, मणीपुर, त्रिपुरा, विन्ध्य प्रदेश, अजमेर, कुर्ग और दिल्ली। 1954 मे बिलासपुर को हिमाचल प्रदेश मे शामिल कर दिया गया।

यद्यपि इन इकाइयो को 'राज्य' की सज्ञा प्रदान की गई थी तथापि अन्य दो श्रेणियो की इकाइयो और इनमे मौलिक अन्तर थे। इन इकाइयो को केन्द्र के साथ अपने सम्बन्धो मे वह स्वायत्तता प्राप्त नही थी जो पहली दो श्रेणियो से सम्बद्ध इकाइयो को प्राप्त थी। उनके ऊपर राष्ट्रपति या तो चीफ कमिश्नर के माध्यम से शासन करता था या लेफ्टीनेन्ट गवर्नर के माध्यम से इस प्रकार इन इकाइयो मे एक प्रकार का द्वैध शासन कायम था। स्पष्टत यह व्यवस्था अच्छी प्रकार से काम नही कर सकती थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सघर्ष तथा अनुत्तरदायित्व की भावनाओ का उदय स्वाभाविक था।

राज्य पुनर्गठन आयोग (States Reorganization Commission) ने इन राज्यो की समस्या पर गहराई के साथ विचार किया। आयोग का यह निष्कर्ष था कि 'ग' श्रेणी के राज्यो मे निहित असगतिपूर्ण यथास्थिति का अन्त किया जाना चाहिए। आयोग की सिफारिश थी कि इन क्षेत्रो का प्रतिनिधित्व होना चाहिए तथा यह कहा कि इन क्षेत्रो मे लोकतन्त्र को कार्यान्वित करने के लिए प्रशासन मे जनता का परामर्श लिया जाना चाहिए, परन्तु जनता को प्रशासन को सचालित करने का अधिकार नही दिया जाना चाहिए।

राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशो के आधार पर सविधान का सातवाँ सशोधन पारित किया गया। इस प्रकार जो राज्यो का पुनर्गठन हुआ उसमे 'ग' श्रेणी के पाँच राज्यो को समाप्त करके उन्हे पडोस के राज्यो के साथ मिला दिया गया। जो राज्य समाप्त किये गये, वे थे—अजमेर,

भापान कुग वच्छ और विन्ध्य प्रन्ग । जो न्कान्या सघीय क्षत्र कह्नाया उनका हम दा श्रणिया म विभाजित कर सकत है । पहली श्रणी म व क्षत्र हैं जिनम विधान सभाजा तथा मन्त्रि-परिषन्‌ की व्यवस्था की गइ है । दूसरी श्रणी म व क्षत्र है जिनम इस प्रकार की न्यवस्था नही है ।

अ विधान सभाग्रा वाले मघीय क्षत्रा का शासन

न्स प्रकार क क्षत्रा म निम्ननिखित न्कान्या आती है—(1) हिमाचन प्रन्ग (2) मणीपुर (3) त्रिपुरा (4) पाण्नीचरी और (5) गोआ डामन न्यू। पहन तीन क्षत्र ता भारतीय सघ म पहन स न्ी गामिन थ । न्नक निय 1956 म रान्या क पनगठन के उपरान्त सघ की समन्‌ ने एक कानून क द्वारा एक क्षत्रीय परिषद्‌ (Territorial Council) की स्थापना की थी । 1957 म य परिषन्‌ अपन अस्तित्व म आयी । हिमाचन प्रन्ग म इस परिषद्‌ की सन्स्य-सख्या 41 थी तथा मणीपुर और त्रिपुरा म 30 । न्नकी नक्तिया अत्यधिक सीमित था परन्तु न्सक बावजूद न्ह स्थानीय सस्थाआ से अधिक नक्तिया प्राप्त था । गोआ न्‍ामन न्यू पर 1961 तक पुतगालिया का अधिकार था परन्तु जब इन्ह विन्शी दामता स मुक्ति प्राप्त हो गई तो न्न क्षत्रा को भी भारतीय सघ म एकीकृत कर निया गया । आरम्भ म यहा सनिक शासन की स्थापना की गइ कानान्तर म नागरिक प्रशासन न सनिक प्रशासन का स्थान न निया और नफ्टीनन्ट गवनर उसका प्रमुख बना । 1 नवम्बर 1954 का पाण्नीचरी का प्रशासन भी भारत क हाथ म आ गया न्सक प्रशासन का दायित्व एक चीफ कमिन्नर का सौंपा गया । उसको परामन व सहायता दन क निय छ पापन्‌ य और 40 निर्वाचित सदम्या की एक सभा थी ।

सितम्बर 1962 म भारत की ससद न चौन्हवा सनोधन पारित किया । उसके पश्चात 1 जुनाई 1963 स हिमाचन प्रदन मणीपुर और त्रिपुरा की क्षत्रीय परिषन्‌ विधान सभाआ म परिणित हो गइ और न्सी प्रकार पाण्नीचरी का निर्वाचित सभा को भी विधान सभा का नाम दे न्यिा गया । न्स सम्बन्ध म जा कानून बना उसम मुख्यत अग्रनिखित व्यवस्थाय की गन्‌—

(1) मणीपुर त्रिपुरा न्मिाचन प्रदन गोआ डामन डयू एव पाण्नीचरी प्रत्येक क्षत्र क निय एक विधान सभा बनी । हिमाचन प्रन्श की विधान सभा म सन्स्या की सख्या 40 रखी गन्‌ और नप अन्य क्षत्रा के निय 30 । (2) विधान सभा की अवधि पाच वप निश्चित की गइ परन्तु असाधारण स्थिति म उसे न्मम पन्न भी विघटित करन का प्राविधान ह । (3) यदि किसी विधान सभा न्‍ारा पारित किसी भी कानून का कान्‌ भी प्राविधान ससद द्वारा बनाय गय किसी कानून स मल नहा खाता तो ससन्‌ न्‍ारा निर्मित कानून असगति की सीमा तक अवध हा जायगा । (4) प्रत्येक क्षेत्र का प्रशासन प्रतिवप वित्तीय वप क निय आर्थिक वित्तीय विवरण विधान सभा म प्रस्तुत करवाता है पर तु उस पर राष्ट्रपति की पूव अनुमति प्राप्त की जाती है । (5) प्रत्यक क्षत्र म प्रशासक का उसके कार्यों म सहायता व परामन के निए एक मन्त्रिमण्डन का न्यवस्था की गई है ।

ब एस सघीय क्षत्र जिनम विधान सभाय नहा है

दिन्नी—न्सक प्रशासन का उत्तरन्ायित्व प्रत्यक्ष न्प से सघीय ससद के हाथा म है । न्सका दख रख सघ सरकार क गृह मन्त्री के द्वारा हाती है । 1957 क म्युनिसिपन कारपारन्नन कानून क अनुसार समूच दिन्नी क्षत्र क निय—जिसम शहरी और ग्रामीण सभी क्षत्र शामिन हैं—एक निगम की स्थापना हुई है । निगम म 100 सदस्य और 6 एल्डरमन ह । 1966 म दिन्नी क निय ससद न एक और कानून पारित किया जिस दिल्ली प्रशासन अधिनियम क नाम स जाना जाता है । न्स कानून क न्‍ारा दिन्नी क निय एक मटापानिटन कौंसिल (Metropolitan Council) की रचना न्‌ई है । न्मकी कुन सदस्य सख्या 61 है इस कौंसिन का कुछ विधायी काय सौंप गय हैं । न्निी क्षेत्र क मुख्य कायपानिका अधिकारी को नफ्टीनन्ट गवनर का नाम न्यिा गया है तथा उसके कार्यों म सहायता एव परामन के लिय चार कायकारी पापन्‌ (Executive

Councillors) तथा एक मुख्य पार्षद की व्यवस्था की गई है। इस कानून ने दिल्ली के लिये एक पृथक उच्च न्यायालय की भी स्थापना की है।

अन्डमान और निकोबार द्वीप समूह—ये द्वीप बगाल की खाडी मे स्थित है। यहाँ की जनसख्या भी बहुत कम है। यहाँ के सम्पूर्ण क्षेत्र का प्रशासन एक चीफ कमिश्नर के हाथो मे है। प्रशासन की राजधानी पोर्ट ब्लेयर मे है, जहाँ एक म्युनिस्पैलिटी है।

लक्कादीव, मिनीकाय और अमिनीदीव द्वीप समूह—ये द्वीप समूह अरब सागर मे स्थित है। इनका कुल क्षेत्रफल और जनसख्या बहुत ही कम है। इनका प्रशासन एक सघ सरकार द्वारा नियुक्त प्रशासक के द्वारा सचालित होता है।

दादरा और नागर हवेली—ये क्षेत्र पहले पुर्तगाल के अधीन थे। 11 अगस्त 1961 को इन क्षेत्रो को भारतीय सघ मे मिला लिया गया। अब उनका प्रशासन सघ सरकार द्वारा एक सघीय क्षेत्र के रूप मे होता है।

नेफा (North East Frontier Agency—NEFA)—प्रशासन को सचालित करने के लिए नेफा को पाँच कमिश्नरियो मे बाँटा गया है। प्रत्येक कमिश्नरी का कार्यभारी एक राजनीतिक अधिकारी (Political Officer) है। उनके अतिरिक्त क्षेत्रो के लिए अतिरिक्त अधिकारी भी है। प्रत्येक कमिश्नरी उप-कमिश्नरियो मे विभाजित है। राजनीतिक अधिकारी की सहायता के लिए चिकित्सा अधिकारी, कृषि अधिकारी, शिक्षा निरीक्षक आदि है।

चण्डीगढ—पजाब के विभाजन के पश्चात् हरियाणा और पजाब के बीच यह विवाद उत्पन्न हो गया कि चण्डीगढ पर किसका अधिकार हो। चूँकि कोई भी पक्ष अपने दावे को छोडने को तैयार नही था, इसलिए चण्डीगढ को केन्द्रीय-शासित सघीय क्षेत्र घोषित कर दिया गया। चण्डीगढ का लोकसभा मे एक प्रतिनिधि है।

सघीय क्षेत्रो का आधुनिक स्वरूप

पिछले दिनो मे कुछ सघीय क्षेत्रो को पूर्ण राज्य का दर्जा दे दिया गया है। उन क्षेत्रो के नाम है—हिमाचल प्रदेश (1970), मेघालय (1971), मणीपुर (1971) तथा त्रिपुरा (1971)।

पूर्वी सीमान्त पर स्थित क्षेत्रो को नये नामो के साथ सघीय क्षेत्रो के रूप मे मान्यता दी गई हे। वे है—मीजोरम (1971) तथा अरुणाचल (1971)। इस प्रकार अब भारतीय सघ मे 21 राज्य है तथा 9 केन्द्र-शासित सघीय क्षेत्र दिल्ली, अण्डमान-निकोबार द्वीप समूह, लक्कादीव-मिनीकाय-अमीनदीव द्वीप समूह, दादरा-नागर हवेली, गोआ-डामन-ड्यू, पाण्डीचेरी, चण्डीगट, मीजोरम, तथा अरुणाचल।

प्रश्न

1 राज्यपाल की सावैधानिक स्थिति की विवेचना करते हुए यह बताइये कि उसमे सावैधानिक अध्यक्ष तथा केन्द्रीय सरकार के अभिकर्त्ता दोनो का किस प्रकार समन्वय हुआ है ?
2 चौथे आम चुनाव के बाद राज्यपालो ने अपनी भूमिका को किस प्रकार निभाया है ?
3 राज्यो के विधान-मण्डलो की रचना किस प्रकार होती है तथा उनके कौन-कौन से प्रमुख कार्य है ?
4 राज्यो के मत्रिमण्डल मे मुख्य मत्री के पद की विवेचना कीजिए।
5 राज्य के उच्च न्यायालय (High Court) के सगठन व शक्तियो का वर्णन कीजिए।
6 जम्मू-कश्मीर राज्य की सावैधानिक स्थिति पर एक टिप्पणी लिखिये।
7 सघीय क्षेत्रो के शासन पर एक निबन्ध लिखिये।

9

भारतीय सघवाद का स्वरूप
(NATURE OF INDIAN FEDERALISM)

प्रस्तावना

पिछले अध्याय म जमा कहा जा चुका है सविधान के द्वारा भारत म सघीय व्यवस्था है परन्तु उसम कहा भी फेडरेशन शब्द का प्रयोग नही किया गया है। वस्तुत सविधान म भारत को राज्यो की यूनियन कहकर पुकारा गया है। प्रारूप समिति के अध्यक्ष डा अम्बेडकर ने सविधान सभा के समक्ष इस शब्दावली के प्रयोग म प्राप्त होने वाले लाभो की व्याख्या की थी। उन्होने कहा था कि इस शब्दावली से दो महत्वपूर्ण तथ्यो की अभिव्यक्ति होती है—प्रथम भारत म सघवाद इकाइयो के बीच किसी समझौते का परिणाम नहा है और द्वितीय सघ म सम्मिलित होने वाली इकाइयो को उसम पृथक होने का अधिकार नहा है। यथार्थ म भारत म सघ की रचना एकात्मक राज्य के पुनर्गठन के द्वारा हुई है स यु रा अमरीका की भाति स्वतन्त्र और प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यो के बीच होने किसी सविदा के परिणामस्वरूप नहा। अत यह स्वाभाविक ही है कि वह राज्यो का एक स्थायी सघ होगा। परन्तु इसका आशय यह कदापि नहीं है कि भारत की शासन प्रणाली सघात्मक नहा है। यथार्थ म उसम सघवाद के लक्षणो को अत्यधिक स्पष्ट रूप स अवलोकित किया जा सकता है। सर्वप्रथम उसम सघ और राज्यो के बीच शक्तियो का बटवारा हुआ है इसके लिए तीन सूचिया निर्मित की गई हैं सघ सूची समवर्ती सूची तथा राज्य-सूची इन सूचियो पर केन्द्र और राज्य दोनो के कार्यक्षेत्र को पहले स ही परिभाषित कर दिया गया है। साधारणत राज्य अपने निश्चित क्षेत्र म सघ सरकार के हस्तक्षेप से मुक्त हैं। अत यह कहा जा सकता है कि राज्य भारतीय सघ म स्वायत्तता प्राप्त कार्ड है। दोनो प्रकार की सरकारें अपनी अपनी शक्तिया प्रत्यक्ष रूप म सविधान स प्राप्त करती हैं। द्वितीय सविधान को राज्य का सर्वोच्च कानून माना गया है। उसके प्रावधान सभी सरकारो के लिए बाध्यकारी है न तो केन्द्र की सरकार उनका अपवाद हो सकती है और न राज्य की सरकारें। इसका अर्थ यह भी हुआ कि उपर्युक्त दोनो प्रकार की सरकारो को सविधान म उल्लिखित शक्तियो के विभाजन को अपनी इच्छा के अनुसार बदलने का अधिकार नहा है। तृतीय सविधान लिखित है और एक सीमा तक दुसशोध्य भी। चतुर्थ भारत म एक स्वतन्त्र न्यायपालिका की व्यवस्था की गई है और उसे सविधान की व्याख्या करने की शक्ति प्राप्त है। सर्वोच्च न्यायालय तथा राज्यो के उच्च न्यायालयो को केन्द्रीय ससद अथवा राज्य विधानमण्डलो द्वारा पारित किसी भी कानून को इस आधार पर अवैध घोषित करने का अधिकार है कि उसके द्वारा सविधान की किसी व्यवस्था का उल्लघन होता है।

परन्तु हमारे सविधान म सघात्मक व्यवस्था को उस रूप म स्वीकार नहीं किया गया जिस रूप म उसे अन्य सघ राज्यो म माना गया है। वस्तुत उसम इतने हेर-फेर किये गये है कि कुछ लोगो ने उसे अर्ध-सघ (Quasi federation) कहा है। के सी व्हीयर के अनुसार भारत ऐसा सघ राज्य होने के बजाय जिसम एकात्मक तत्त्व गौण रूप म पाये जाते हो ऐसा एकात्मक राज्य है जिसम सघात्मक तत्त्व गौण रूप म पाये जाते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि सविधानकारो ने फेडरेशन शब्द का कहा प्रयोग नहा किया उसके स्थान पर उन्होने यूनियन

शब्द का प्रयोग किया है। इससे इस दृष्टिकोण को बल मिलता है कि भारतीय सविधान का केवल वाह्य स्वरूप सघात्मक है किन्तु उसकी आत्मा एकात्मक है। समूचे सविधान मे वल एकरूपता तथा केन्द्र की शक्ति के ऊपर है। सविधान के एकात्मक पहलू को निम्न प्रकार देखा जा सकता है।

1 सविधान के एकात्मक तत्त्व

(1) **शक्तिशाली केन्द्र की रचना**—सविधान ने एक ऐसे शक्तिशाली केन्द्र की रचना की है, जिसकी तुलना ससार के किसी अन्य सघीय सविधान के साथ नही हो सकती। सम्भवत सविधानकारो ने ऐसा इसलिए किया क्योकि उस समय भारत साम्प्रदायिक गृह-युद्ध की ज्वाला मे से होकर गुजर रहा था और वे देश की स्वतन्त्र सत्ता को विघटनकारी शक्तियो की चुनौती का सामना करने के लिए समर्थ बनाना चाहते थे। इसका दूसरा कारण यह था कि सविधानकार इस तथ्य से परिचित थे कि भारत मे केन्द्रीय सत्ता के दुर्बल होने की स्थिति मे राष्ट्र का अस्तित्व ही सकट मे पड चुका है। फलत तीन विषय-सूचियो मे जो सबसे अधिक लम्बी सूची है, वह सघ सूची है, जिसमे 97 विषय है। इसके अतिरिक्त समवर्ती सूची है जिसमे 47 विषय है और जिसके ऊपर केन्द्रीय सरकार को आवश्यकता पडने पर अधिकार दिया गया है तथा जिसके सम्बन्ध मे यह व्यवस्था भी की गई है कि यदि समवर्ती सूची मे उल्लिखित किसी विषय पर केन्द्र और राज्य की व्यवस्थापिकाओ के द्वारा बनाये गये कानूनो मे विरोध है तो केन्द्र का कानून चलेगा और राज्य का कानून अवैध माना जायेगा। यही नही, सविधान ने अवशिष्ट शक्तियो को भी केन्द्र को ही सौपा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय सविधान मे जो शक्तियो का बँटवारा हुआ है, वह मूलत केन्द्र को अधिक शक्ति प्रदान करने की भावना से अनुप्राणित है।

(2) **समूचे सघ के लिए एक सविधान की व्यवस्था**—भारत मे अन्य सघो की भाँति इकाइयो को अपना अलग-अलग सविधान बनाने का अधिकार प्रदान नही किया गया है अपितु समूचे देश के लिए एक ही सविधान है। सविधान सभा केवल सघ की ही सविधान सभा नही थी, बल्कि वह राज्यो की भी सविधान सभा थी। फलत उसने जिस सविधान की रचना की, उसमे जहाँ सघ की शासन-प्रणाली का उल्लेख है, वहाँ उसमे राज्यो की शासन-प्रणाली का भी वर्णन हुआ है। डा० अम्बेदकर के शब्दो मे 'सघ और राज्यो के सविधान का एक ही ढाँचा है जिसमे से कोई भी नही निकल सकता और उन्हे उसी के अन्तर्गत काम करना है।' इस नियम का केवल एक ही अपवाद है और वह है जम्मू-कश्मीर का राज्य जिसे कुछ विशिष्ट कारणवश अपने सविधान को बनाने का अधिकार दिया गया था।

(3) **दुहरी नागरिकता का अभाव**—सभी पारस्परिक सघीय प्रणालियो मे नागरिको की दुहरी नागरिकता स्वीकार की गई है, परन्तु इस सम्बन्ध मे भारतीय सघ अन्य सघो से भिन्न है। भारत मे सविधान केवल एक ही प्रकार की नागरिकता स्वीकार करता है और वह है भारतीय नागरिकता। भारत मे विभिन्न राज्यो की अपनी-अपनी पृथक् नागरिकता की व्यवस्था नहीं है।

(4) **सकटकालीन प्राविधान**—पारम्परिक सघीय सविधानो के ढाँचो मे एक प्रकार की दुरुहता पायी जाती है। किसी भी परिस्थिति मे उनके सघीय स्वरूप को नही बदला जा सकता, यदि ऐसा किया जाना आवश्यक है तो उसके लिए सविधान को सशोधित करना पडेगा। परन्तु भारत मे बिना सशोधन किये ही सघात्मक राज्य को एकात्मक राज्य मे बदला जा सकता है। इस प्रकार भारतीय सविधान समय एव परिस्थितियो के अनुसार सघात्मक एव एकात्मक दोनो प्रकार के राज्यो की व्यवस्था करता है। भारतीय सविधान का यह एक ऐसा पहलू है जिसकी मिसाल किसी अन्य सघीय राज्य मे नही मिल सकती।

(5) **साधारण स्थिति मे भी केन्द्र की शक्ति मे अभिवृद्धि करने की व्यवस्था**—हमारे

सविधान का एव असाधारण पहलू यह है कि उसम साधारण स्थिति म भी केन्द्र की विधायी शक्ति म अभिवृद्धि करन के प्राविधान पाये जाते हैं। साधारणत राज्यों के विधानमण्डलों को राज्य सूची म दिय हुए विषयों पर कानून बनाने का अधिकार है। परंतु सविधान की 249वी धारा म लिखा है कि यदि राज्य सभा दो तिहाई बहुमत से इस आशय का प्रस्ताव पारित कर दे कि राज्य सूची म उल्लिखित किसी विषय अथवा विषयों पर केन्द्रीय कानून का होना राष्ट्रीय हित म है तो उस स्थिति म सघ की ससद उस विषय अथवा उन विषयों पर कानून बना देगी। स्पष्टत इस प्रकार की व्यवस्था भी किसी अन्य सघ म नही पायी जाती।

(6) **इकाइयों की प्रादेशिक अखण्डता के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की सुनिश्चितता का न होना**—अन्य सघों की भांति भारतीय सघ की इकाइयों की प्रादेशिक अखण्डता के सम्बन्ध म सविधान म किसी प्रकार की गारन्टी नही दी गई है। सघीय ससद को उनके सीमान्तों म हेर फेर करके नये राज्यों की रचना करने का अधिकार प्राप्त है उसे यह शक्ति भी प्राप्त है कि वह किसी राज्य के क्षेत्रफल को घटा अथवा बढ़ा दे तथा उसे यह अधिकार भी प्रदान किया गया है कि वह किसी राज्य की सीमाओं को अथवा उसके नाम को बदल दे। सविधान की तीसरी धारा म लिखा है कि उपयुक्त प्रकार के परिवर्तन राष्ट्रपति की सिफारिश पर केन्द्रीय ससद के द्वारा पारित कानून से किये जा सकते हैं इसके सम्बन्ध म केवल एक ही शर्त है और वह यह है कि राष्ट्रपति अपनी सिफारिश करने के पूर्व सम्बद्ध राज्य अथवा राज्य की राय जान ले। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति के लिए सम्बद्ध राज्य अथवा राज्यों की इस मामले म स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक नही माना गया है। केन्द्रीय सरकार ने सविधान के इसी प्राविधान के अन्तर्गत देश के राजनीतिक मानचित्र म बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं। इस दिशा म एक कदम उस समय उठाया गया जबकि 1956 म राज्य पुनर्गठन आयोग की स्थापना की गई। कालान्तर म असम के राज्य म से एक राज्य नागालैण्ड निर्मित किया गया। पजाब के दो भाग कर दिये गये—पजाब और हरियाणा। 1970 म असम के अन्तर्गत मेघालय के एक स्वायत्त राज्य की स्थापना की गई।

(7) **राज्य सभा म इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व का न दिया जाना**—सामान्यत पारम्परिक सघीय राज्यों म इकाइयों को द्वितीय सदन म समान प्रतिनिधित्व दिये जाने की व्यवस्था पायी जाती है। सयुक्त राज्य अमरीका म प्रत्येक राज्य चाहे वह बड़ा हो अथवा छोटा सीनेट म दो प्रतिनिधि भेजता है ऐसी ही व्यवस्था स्विट्जरलैण्ड म पायी जाती है जहां प्रत्येक कैन्टन सघ के द्वितीय सदन म दो प्रतिनिधि भेजता है और प्रत्येक अर्ध कैन्टन एक प्रतिनिधि। किन्तु भारत म प्रत्येक राज्य अपनी जनसंख्या के आधार पर राज्य सभा म अपने अपने प्रतिनिधि चुनता है।

(8) **राष्ट्रपति द्वारा गवर्नरो की नियुक्ति**—भारतीय सविधान म राज्यों के गवर्नरों की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा हो ऐसी व्यवस्था पायी जाती है यद्यपि गवर्नर से यह आशा की जाती है कि वे राज्यों म केवल सांविधानिक अध्यक्ष की भूमिका अदा करें परंतु उन्हें अपने कार्यों के लिए राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी माना गया है। व्यवहार म राज्यों के गवर्नरों की भूमिका राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप म अधिक होती है राज्य के सांविधानिक अध्यक्ष के रूप म कम। अनुभव साक्षी है कि गवर्नरों के माध्यम से सघ की कार्यपालिका ने राज्यों के शासन म एक बड़ी सीमा तक हस्तक्षेप किया है। इस प्राविधान के कारण राज्यों की स्वायत्तता उपहासास्पद बन गई है।

(9) **मूल अधिकारो मे एकरूपता**—सामान्यत अन्य सघीय प्रणालियों म कानून प्रशासन तथा न्यायिक सरक्षण के मामलों म विभिन्नताएं पायी जाती है। किन्तु भारत म इस प्रकार की विभिन्नता को कोई स्थान नही दिया गया है। क्योंकि सविधानकारों को आशंका थी कि यदि इस विभिन्नता को सीमाओं का अतिक्रमण करने दिया गया तो उससे देश म अव्यवस्था फैल जायगी। फलत सविधान म एकरूपता पर बल दिया गया और इसके लिए तीन तरीकों को अपनाया गया है

(क) समूचे देश के लिए उन्होंने समन्वित न्यायपालिका (integrated judiciary) की रचना की है (ख) समूचे देश के लिए उन्होंने एक ही प्रकार के असैनिक एव फौजदारी कानूनों का

स्थापित किया है, तथा (ग) उन्होंने समूचे देश के लिए समन्वित शिक्षा-प्रणाली की व्यवस्था की है। वित्तीय प्रशासन को भी इस प्रकार निर्मित किया गया है जिसमे समूचे देश की वित्तीय स्थिति की देखभाल कम्पट्रोलर जनरल तथा आडीटर जनरल कर सके। यही नहीं, समूचे देश के लिए चुनावो की व्यवस्था चुनाव आयोग के द्वारा की जाती है।

(10) **सविधान मे दु सशोध्यता की न्यूनता**—भारतीय सविधान ससार के अन्य सघीय सविधानो की अपेक्षा कम दु सशोध्य है। जैसा कहा जा चुका है कि सविधान की कुछ व्यवस्थाएँ ऐसी है जिन्हे सकटकाल मे बिना किसी सशोधन के बदला जा सकता है। इसके अतिरिक्त कुछ प्राविधान ऐसे है जिन्हे केवल ससद द्वारा पारित कानून के द्वारा ही बदला जा सकता है। कुछ अन्य प्राविधानो को बदलने के लिए ससद के दोनो सदनो के अलग-अलग दो-तिहाई मतो की आवश्यकता होती है, बहुत थोडे से मामलो मे सशोधन करने के लिए आधे राज्यो की स्वीकृति की आवश्यकता होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय सविधान मे सशोधन की प्रक्रिया अन्य सघीय राज्यो की अपेक्षा कम जटिल है। फलत सविधान मे यह निश्चितता एव अन्तिमता नही पायी जाती जो अन्य सघो के सविधानो मे पायी जाती है।

2 सघ और राज्यो के बीच सम्बन्ध

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सविधान ने देश मे जिस सघ की स्थापना की है, उसका रुझान निश्चयात्मक रूप से एकात्मकता की ओर है। सविधान के इन उपबन्धो की बहुत आलोचना की गई है। कुछ आलोचको ने तो यहा तक कहा है कि सघ और राज्यो के बीच शक्तियो का वितरण इस प्रकार किया गया है कि राज्यो की स्थिति नगरपालिकाओ के समान हो गयी है। वस्तुत इस प्रकार की आलोचनाएँ अतिशयोक्तिपूर्ण है, और उनसे पूर्णरूपेण सहमत होना कठिन है। किन्तु फिर भी उनमे निहित सत्य अथवा असत्य का पता लगाने के लिए सघ एव राज्यो के बीच विभिन्न क्षेत्रो मे पाये जाने वाले पारस्परिक सम्बन्धो की समीक्षा की जाये।

(अ) विधायी सम्बन्ध

जैसा कहा जा चुका है कि भारत मे शक्तियो को तीन सूचियो मे बाँटा गया है—सघ सूची, समवर्ती सूची और राज्य सूची।

(1) **सघ सूची**—सघ सूची मे राष्ट्रीय महत्त्व के 97 विषय है जिनमे से कुछ इस प्रकार है—प्रतिरक्षा, विदेश सम्बन्ध, सैन्य शक्ति, शस्त्रास्त्र, युद्ध और शान्ति, आणविक शक्ति तथा उसके निर्माण के लिए आवश्यक प्राकृतिक प्रसाधन, देशीयकरण, मुद्रा-निर्माण, लोक ऋण, विदेशी ऋण, रिजर्व बैंक, विदेश व्यापार अन्तर्राज्यीय व्यापार एव वाणिज्य, नियमन तथा उनका विनियमन, आयात एव निर्यात, तम्बाकू और अफीम आदि पर महसूल, बैंकिंग, बीमा, शेयर बाजार, नाप-तौल के प्रतिमान, उद्योग नियन्त्रण, खानो, खनिज पदार्थो तथा तेल ससाधनो का विनियमन एव विकास, राष्ट्रीय सग्रहालयो का आरक्षण, ऐतिहासिक स्मारक, भारत का सर्वेक्षण, सघीय लोक-सेवाएँ, ससद व राष्ट्रपति के निर्वाचन, सर्वोच्च न्यायालय का गठन, जनगणना, शान्तिनिकेतन, सीमा-शुल्क तथा निर्यात-शुल्क, निगम-शुल्क, उत्पादन-शुल्क, सम्पदा-शुल्क, समाचार-पत्रो के क्रय-विक्रय पर कर, अलीगढ, बनारस एव उस्मानिया विश्वविद्यालय आदि।

उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि उसमे ऐसे सभी विषय सम्मिलित हैं जिन्हे राष्ट्रीय महत्त्व का माना गया है। परन्तु इस सूची का महत्त्व केवल उन विषयो के कारण नही है जिन्हे उसमे शामिल किया गया है, उसका महत्त्व इस सूची के साथ दिये गये अन्य प्राविधानो के कारण भी है। उदाहरणस्वरूप, सूची मे 52वे नम्बर पर लिखा है—'उद्योगधन्धे जिन पर ससद द्वारा पारित कानून सार्वजनिक हित मे सघ का नियन्त्रण वाछनीय घोषित करे।' इस व्यवस्था के फलस्वरूप सघ सरकार ने लोहे और इस्पात के बहुत से उद्योगो को तथा 1971 मे कोयले की खानो पर अपना

नियन्त्रण स्थापित कर लिया था। इसी प्रकार विश्वविद्यालय जहाँ राज्य सूची में आते हैं वहाँ संविधान ने संसद को यह अधिकार प्रदान किया है कि वह किसी भी संस्था को राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था घोषित कर सकती है और इस प्रकार वह उसे संघ सरकार के नियन्त्रण में ला सकती है। संसद ने अपनी इसी शक्ति का प्रयोग करके जामिया मिलिया, इण्डियन स्कूल आफ इण्टरनेशनल स्टडीज तथा गुरुकुल विश्वविद्यालय को अपने नियन्त्रण में ले लिया। इससे यह प्रमाणित है कि इस सूची से संघीय संसद की पूरी शक्तियों का अनुमान नहीं हो सकता, उसकी शक्तियों का सही मूल्यांकन करने के लिए संविधान के अन्य प्रावधानों को भी देखना आवश्यक है।

(ii) समवर्ती सूची—इस सूची में राष्ट्रीय और स्थानीय महत्त्व के 47 विषय सम्मिलित हैं। समवर्ती सूची की व्यवस्था भारतीय संघ की कोई अपनी विशेषता नहीं है। वस्तुतः विश्व के अन्य संघीय संविधानों में इस प्रकार की व्यवस्था इसलिए की गई थी ताकि शक्तियों की दो सूचियों में वितरण से जो जटिलता उत्पन्न हो उसे कम किया जा सके तथा केन्द्र को आवश्यकता पड़ने पर स्थानीय महत्त्व के विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार दिया जा सके। जैसा बताया जा चुका है कि इस सूची में उल्लिखित विषयों पर संघ और राज्य दोनों को कानून बनाने का अधिकार है परन्तु यदि संघ और राज्य के कानूनों में कोई अन्तर्विरोध है तो उस स्थिति में संघ का कानून माना जायगा राज्यों का नहीं। इस सूची में वर्णित विषयों में से मुख्य निम्नलिखित हैं—फौजदारी कानून व प्रक्रिया, सिविल प्रणाली, निवारक निरोध, विवाह और विवाह विच्छेद, दिवालियापन तथा ऋण शोध क्षमता, प्रामाणपत्र, ट्रस्ट और साझेदारी, मजदूर संघ, आर्थिक तथा सामाजिक नियोजन, सामाजिक सुरक्षा और बीमा, शरणार्थियों की सहायता, पुनर्वास, खाद्य पदार्थों में मिलावट, रोजगार और बेरोजगारी, विधि, चिकित्सा तथा व्यवसाय, जन्म मरण के आंकड़े, श्रम कल्याण, मूल्य नियन्त्रण, कारखाने, बिजली, समाचार-पत्र, पुस्तकें तथा मुद्रणालय आदि।

1954 में पारित तृतीय संशोधन के अनुसार इस सूची में एक विषय और जोड़ा गया है जो इस प्रकार है—(अ) ऐसे किसी उद्योग धन्धे के उत्पादन जिन्हें संसद के कानून के द्वारा सार्वजनिक हित में संघ के नियन्त्रण के योग्य घोषित किया जा चुका है तथा उसी प्रकार के उत्पादनों के आयात, (ब) खाद्यान्न जिनमें तिलहन और खाने वाले तेल शामिल हैं, (स) पशुओं का चारा जिनमें खल सम्मिलित है, (द) कपास और बिनौले तथा (य) कच्चा जूट। इस संशोधन द्वारा प्रदत्त शक्ति के अन्तर्गत ही संघ सरकार ने एक राज्य से दूसरे राज्य में तथा एक राज्य के भीतर एक स्थान से दूसरे स्थान में खाद्यान्न के लाने तथा ले जाने को नियन्त्रित किया था।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि समवर्ती सूची में उल्लिखित विषयों पर संघ एवं राज्यों के बीच संघर्ष की स्थिति का निराकरण करने के लिए एक अभिसमय विकसित हुआ है जिसके अनुसार संघ सरकार राज्यों की सरकारों को समवर्ती सूची में दिये गये किसी विषय पर यदि उसकी इच्छा कानून बनाने की है तो वह उस इस आशय की सूचना भेज देती है। राज्यों की सरकार इस अवसर का लाभ उठाकर संघ की सरकार को उस सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण से अवगत करा सकती है। इसी प्रकार राज्यों की सरकारें भी जब वह ऐसा करना होता है केन्द्र को अपने प्रस्ताव की सूचना भेज देती हैं और वे सामान्यतः उस समय तक कानून नहीं बनातीं जब तक कि संघ का कानून मन्त्रालय उसे अपनी स्वीकृति प्रदान नहीं कर देता।

(iii) राज्य सूची—इस सूची में 66 विषय हैं और उन पर कानून बनाने का अधिकार सामान्यतः राज्यों को ही प्राप्त है। दूसरे शब्दों में साधारण स्थिति में इस सूची में वर्णित विषयों पर संघ की संसद को कानून बनाने के अधिकार से वंचित रखा गया है। इस सूची में जिन विषयों को सम्मिलित किया गया है उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—सार्वजनिक व्यवस्था, पुलिस, न्याय प्रशासन, जेल तथा सुधारालय, स्थानीय शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई, मादक पेय, शिक्षा, पुस्तकालय, अजायबघर, कृषि, सिंचाई, पशुपालन, मत्स्य व्यवसाय, चिकित्सालय, वन्य पशुओं की रक्षा, ग्राम-सुधार, सार्वजनिक निर्माण कार्य, गैस व गैस निर्माण, मण्डियाँ और मेले

राज्यगत व्यापार एव वाणिज्य, कृषि आय-कर, भूमि-कर, मनोरजन-कर, विलासिता की वस्तुओ पर कर, स्थानीय क्षेत्र के माल के प्रवेश पर कर, समाचार-पत्रो को छोडकर अन्य वस्तुओ पर बिक्री-कर, विज्ञापन पर कर, वस्तुओ की उत्पत्ति तथा उनका वितरण, नाटक घर आदि।

उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि सामान्यत ऐसे उन सभी विषयो को राज्यो के अधिकार-क्षेत्र मे सम्मिलित किया गया है जिनका सम्बन्ध सामाजिक कल्याण के साथ है। इस सूची से यह भी भासित होता हे कि राज्यो को पर्याप्त मात्रा मे स्वायत्तता प्रदान की गई है। किन्तु यथार्थ मे यह स्वायत्तता उतनी वास्तविक नही है जितनी कि वह दिखाई पडती है। ऐसा इसलिए है क्योकि सघ सरकार को विशिष्ट परिस्थितियो मे सविधान के द्वारा यह शक्ति प्राप्त है कि वह राज्य सूची मे दिये हुए विषयो के ऊपर भी कानून बनाये।

राज्य सूची मे उल्लिखित विपयो पर केन्द्रीय ससद के हस्तक्षेप की एक अन्य स्थिति भी हो सकती है। सविधान की 253वी धारा मे लिखा है कि अपने अन्तर्राष्ट्रीय अनुबन्धो के पालन के लिए केन्द्र की ससद राज्य सूची मे दिये गये ऐसे सभी विपयो पर कानून बना सकती है जिनका सम्बन्ध उन अनुबन्धो के साथ है। इस प्रकार सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि राज्यो के विधानमण्डलो का राज्य सूची मे गिनाये गये विषयो पर कोई एकाधिकार नही है, यद्यपि यह सही हे कि सविधान के लागू होने के बाद केन्द्र ने इन प्राविधानो का दुरुपयोग करके राज्यो की स्वायत्तता के लिए कोई खतरा प्रस्तुत नही किया है।

(iv) **अवशिष्ट शक्तियाँ**—जो विषय उपर्युक्त तीनो सूचियो मे वर्णित नही है, उनका प्रशासन सघ सरकार को सौपा गया है। सयुक्त राज्य अमरीका मे ये शक्तियाँ राज्य सरकारो को सापी गई है, इस प्रकार भारतीय सविधान की यह व्यवस्था अमरीकी सविधान की व्यवस्था से भिन्न है। किन्तु यह व्यवस्था कनाडा के सविधान से मिलती-जुलती है, वहाँ भी इन शक्तियो को केन्द्र मे निहित किया गया है।

सघ और राज्यो के बीच पाये जाने वाले विधायी सम्बन्धो के बारे मे एक उल्लेखनीय बात यह है कि सविधान ने राज्यो के विधानमण्डलो को भी यह अधिकार प्रदान किया है कि वे यदि आवश्यक समझे तो राज्य सूची मे उल्लिखित किसी विषय अथवा विषयो पर कानून बनाने का अधिकार केन्द्र की ससद को समर्पित कर दे। सविधान की 252वी धारा मे यह प्राविधान है कि यदि दो अथवा दो से अधिक राज्यो के विधानमण्डल इस आशय का प्रस्ताव पारित कर दे तो केन्द्र की ससद उनके लिए उस विपय पर कानून बना सकती है और इस प्रकार बनाये गये कानून को राज्य के कानून द्वारा सशोधित नही किया जा सकता। वस्तुत सविधान की इस व्यवस्था को सघीय प्रणाली का उल्लघन करने के लिए केन्द्र की सरकार के पास राज्यो की ओर से एक स्थायी निमन्त्रण की सज्ञा प्रदान की जा सकती है। बहुत सम्भव है कि अधिकाश राज्यो मे तथा केन्द्र मे किसी एक दल का शासन हो तथा कुछ थोडे से राज्यो मे अथवा किसी एक राज्य मे किसी दूसरे दल का शासन हो। उस स्थिति मे केन्द्र का शासक दल राज्यो मे स्थित अपने दल की सरकारो के साथ साँठ-गाँठ करके केन्द्र की ससद को अपरिमित विधायी शक्तियो को हडपने का अवसर दे सकती है।

(ब) प्रशासनिक सम्बन्ध

किसी भी सघीय शासन-प्रणाली की सफलता के लिए यह परमावश्यक है कि सघ तथा राज्यो की सरकारो के बीच पारस्परिक सहयोग हो। परन्तु प्रत्येक सघीय राज्य मे कुछ ऐसी शक्तियाँ अवश्य पायी जाती ह, चाहे वे दृश्य हो अथवा अदृश्य, जिन्हे यदि कानून द्वारा मर्यादित न किया जाय, तो वे विवादो एव सघर्षो को जन्म दे सकती हे, जिनके परिणामस्वरूप राज्य के अस्तित्व को भी खतरा पहुँच सकता है। अत प्रत्येक सघ मे इस प्रकार की सम्भावना का निराकरण करने के लिए कुछ न कुछ प्रबन्ध अवश्य कर लिये जाते ह। भारतीय सविधान मे भी इस

प्रकार के प्रबन्ध की व्यवस्था है। वस्तुत इन प्रबन्धों के मूल म दो उद्देश्य निहित हैं—प्रथम सघीय ससद के अधिकार क्षेत्र म आने वाले विषयों पर सघ के नियन्त्रण को प्रभावशाली बनाना तथा द्वितीय सघ और राज्यों के बीच सघर्ष की स्थिति को उत्पन्न न होने देना। यह स्वाभाविक ही है कि इस प्रबन्ध म केन्द्र की स्थिति को सर्वोपरि स्थान मिलता तथा राज्यों की स्थिति को हीन रखा जाता। यहा यह उल्लेखनीय है कि सविधान म सघ और राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करते समय 1935 के अधिनियम का अनुकरण किया गया है। केन्द्रीय सरकार राज्यों पर निम्नलिखित ढग स अपने नियन्त्रण का प्रयोग म ला सकती है—

(1) **राज्य सरकारों को निर्देश देना**—सयुक्त राज्य अमरीका म सघीय सरकार द्वारा राज्य सरकारों के निर्देश देने को अच्छा नहीं माना जाता। किन्तु भारतीय सविधान सघ को निम्न स्थितियों म निर्देश देने का अधिकार प्रदान करता है—

(अ) सविधान की 26वी धारा म लिखा है कि प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार होगा जिसम ससद द्वारा निर्मित कानूनों का तथा उन वर्तमान कानूनों का जो उस राज्य म लागू हैं पालन सुनिश्चित रहे तथा सघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य म ऐसे निर्देश देने तक विस्तृत होगा जो भारत सरकार को उस प्रयोजन के लिए आवश्यक दिखाई दे।

इस प्रावधान के मूल म दो सिद्धान्त निहित हैं जिनका उल्लेख स्वय डा अम्बेडकर ने सविधान सभा म किया था। डा अम्बेडकर के ही शब्दों म—प्रथम सिद्धान्त यह है कि समवर्ती सूची के बारे म कानून चाहे उसे ससद ने बनाया हो या राज्य विधानमण्डल ने उसे कार्यान्वित करने की शक्ति साधारणतया राज्यों म निहित होगी। दूसरे यह कि समवर्ती सूची म से किसी विषय के बारे म कानून की रचना करते समय यदि ससद के विचार म केन्द्रीय सरकार को उसका परिपालन करवाने तथा कार्यान्वित करने की शक्ति होनी चाहिए तो ससद ऐसा करने म समर्थ होगी।

क्या यह वाछनीय है कि केन्द्रीय सरकार के कानूनों पर कोई अमल न किया जाय और वे केवल कागज पर लिखे कानून मात्र हो रह जायें। सविधान ने केन्द्र को यह दायित्व सौंपा है कि वह छुआछूत का उन्मूलन करे। क्या यह बात युक्तिसगत कही जा सकती है कि केन्द्र एक विधेयक पारित कर शान्ति स बैठ जाय और प्रतीक्षा करता रहे कि राज्य सरकार किस प्रकार उक्त विधेयक की क्रियान्विति करती है।

राज्य सरकार द्वारा इन आदेशों के पालन न करने की स्थिति म राष्ट्रपति अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत घोषणा कर सकता है कि राज्य म सावैधानिक व्यवस्था असफल हो गई है और वह इस घोषणा के द्वारा राज्य द्वारा सम्पादित होने वाले सब कामों को अथवा किसी एक काम को अपने हाथ म ले सकता है।

(ब) सविधान ने सघ की कार्यपालिका को यह दायित्व भी सौंपा है कि वह यह देखे कि राज्य और सघ के बीच कोई सघर्ष उत्पन्न न होने पाये। सविधान की 257वी धारा म लिखा है कि राज्य की सीमाओं के अन्दर केन्द्र की कार्यपालिका शक्ति को सकुचित अथवा अवरुद्ध न किया जाय। यदि किसी सघीय अभिकरण को किसी राज्य म अपने कर्तव्य का परिपालन करने म कठिनाई होती हो तो सघीय कार्यपालिका राज्य सरकार को आवश्यक निर्देश दे सकती है।

(स) कुछ विषय ऐसे है जिनके सम्बन्ध म केन्द्र को यह अधिकार प्राप्त है कि वह उन मामलों के ऊपर राज्यों को सलाह परामर्श देता रहे। इस प्रकार के विषयों म राष्ट्रीय तथा सैनिक महत्त्व के सचार-साधनों का निर्माण और पोषण राज्यों के सीमान्तों म रेलवे लाइनों की सुरक्षा आदि शामिल है। सविधान ने ससद को यह शक्ति भी प्रदान की है कि वह किन्हीं राज पथों को अथवा जलमार्गों को अथवा नौकागम्य नदियों को राष्ट्रीय महत्त्व का घोषित कर दे और

फिर उनके नियन्त्रण को केन्द्र के हाथो मे सौप दे।

यह बहुत सम्भव है कि केन्द्र द्वारा निर्देशित कार्यो के सम्पादन मे राज्यो को अपने सामान्य व्यय से अधिक व्यय करना पडे। अत सविधान मे यह व्यवस्था की गई है कि इस प्रकार के कार्यो के लिए जो अतिरिक्त व्यय राज्यो को करना पडे, उसकी क्षतिपूर्ति की जानी चाहिए। व्यवस्था के अनुसार सघ राज्यो के साथ एक करार करेगा जिसमे यह निश्चित कर दिया जायेगा कि सघ कितनी राशि देगा। यदि सम्बद्ध पक्षो को इस सम्बन्ध मे कोई समझौता करने मे सफलता न मिले तो उस स्थिति मे मामला मुख्य न्यायाधीश के समक्ष मध्यस्थता के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है और वह यह निश्चित करेगा कि राज्य ने उस कार्य के लिए कितना अतिरिक्त व्यय किया है। राज्य को उतनी ही राशि अतिरिक्त व्यय के लिए दी जाएगी।

(2) **सघीय कार्यो का राज्य सरकारो को सौंपना**—सविधान का 258वा अनुच्छेद सघीय कार्यपालिका को यह अधिकार प्रदान करता है कि वह अपने क्षेत्र मे आने वाले कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य राज्य की सम्मति से राज्य सरकार अथवा उसके किसी अधिकारी को सौप दे। ससद को यह भी शक्ति प्राप्त है कि वह अपने किसी कानून द्वारा (जो राज्यो पर लागू होता है) राज्य के अधिकारियो को कोई भी शक्ति कार्य अथवा उत्तरदायित्व सौप सके। सघ सरकार राज्य और उसके अधिकारियो द्वारा उक्त कार्य के लिए किये गये व्यय की अदायगी राज्य सरकार को करेगी। यह व्यवस्था है कि इस सम्बन्ध मे उत्पन्न होने वाले किसी भी विवाद का निर्णय भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा नियुक्त मध्यस्थ करेगा।

सविधान की 207वी धारा भारत सरकार को यह शक्ति प्रदान करती है कि वह किसी विदेशी राज्य की सरकार के साथ किये गये समझौते के आधार पर किसी भी राज्य-क्षेत्र मे कोई भी कार्यपालिका, व्यवस्थापिका अथवा न्यायपालिका सम्बन्धी कार्य ग्रहण कर सकती है। 260वी धारा मे यह व्यवस्था की गई है कि भारतीय राज्य-क्षेत्र मे सर्वत्र सघ की, तथा प्रत्येक राज्य की सार्वजनिक क्रियाओ, न्यायिक कार्यवाहियो तथा अभिलेखो आदि को पूर्ण मान्यता प्रदान की जाएगी। इसकी प्रामाणिकता सिद्ध करने की रीति एव शर्तो तथा उनके प्रभाव का निर्धारण ससद द्वारा निश्चित रीति के अनुसार होगा।

यहाँ उल्लेखनीय बात यह भी है कि सविधान की 355वी धारा ने सघ सरकार को यह कर्तव्य सौपा है कि वह बाह्य आक्रमण तथा आन्तरिक गडबडी से राज्य सरकार की रक्षा करे और इस बात का ध्यान रखे कि प्रत्येक राज्य मे शासन का परिचालन सविधान के अनुसार हो।

(3) **अखिल भारतीय सेवाये**—भारतीय सविधान द्वारा यह व्यवस्था भी की गई है कि सघ सरकार एव राज्य सरकारो के अलग-अलग सार्वजनिक अधिकारी होगे जिनका अपना-अपना अधिकार क्षेत्र होगा। परन्तु साथ ही मे सविधान मे यह व्यवस्था भी की गई है कि भारतीय प्रशासन सेवा तथा भारतीय पुलिस सेवा का कार्य-क्षेत्र सघ एव राज्य दोनो मे समान रूप से होगा। सविधान की 312वी धारा मे ससद को यह शक्ति प्रदान की गई है कि वह राष्ट्रीय हित मे कानून द्वारा सघ एव राज्यो के लिए अखिल भारतीय सेवाओ की रचना के लिए उपबन्ध कर सकती है। वस्तुत यह प्राविधान भारतीय सविधान की एक अनोखी विशेषता है।

(4) **आर्थिक सहायता**—यदि किसी सघ की इकाइयो की विधायी एव प्रशासकीय स्वायत्तता को औपचारिक बनाने के स्थान पर उसे कुछ वास्तविक स्वरूप प्रदान करना अपेक्षित है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि इकाइयो को आर्थिक स्वायत्तता प्रदान की जाए। परन्तु इस सिद्धान्त की कठोर क्रियान्विति सम्भव नही है। अत सामान्य रूप से प्रत्येक सघात्मक सविधान मे इस प्रकार की व्यवस्था की जाती है कि करो से प्राप्त कुछ धनराशि का सघ सरकार तथा राज्य सरकारो के बीच विभाजन हो जाया करे। परन्तु इस व्यवस्था से भी राज्य सरकारो का काम नही चल पाता, फलत उन्हे केन्द्र की आर्थिक सहायता का मुह देखना पडता है। भारतीय सविधान की 275वी धारा मे यह व्यवस्था की गई है कि वह राज्यो के राजस्वो के सहायक अनुदान के रूप

म एमा राशियाँ कानून द्वारा निर्धारित कर कि उन्हें कितन धन की आवश्यकता है। इसी धारा म यह भी कहा गया है कि अनुदान के रूप म राज्या को दी गई धनराशिया भारत क सचित निधि पर भारित हा। सविधान न विशप रूप स दा स्थितिया म राज्या का केन्द्र द्वारा आर्थिक सहायता दिलान की व्यवस्था की है—

(अ) यदि किसी भी राज्य न भारत सरकार की पूव सहमति स ऐसी विकास योजनाआ के कार्यान्वयन का उत्तरदायित्व अपन हाथा म ल लिया हा अथवा जिनका उद्देश्य अनुसूचित क्षत्रा के प्रशासकीय स्तर का ऊचा करना हा तो उसक लिए सम्बद्ध राज्य को अनुदान दिया जा सकता है। परन्तु यह अनुदान भारत की सचित निधि पर भारित होगा।

(ब) असम के राज्या का अनुसूचित क्षत्रा क विकास क लिए सहायक अनुदान दिया जा सकता है।

उपयुक्त विवचना स प्रमाणित है कि आर्थिक सहायता क माध्यम स सघ की सरकार का सहायता प्राप्त करन वाल राज्या पर अपना नियन्त्रण स्थापित करन का अवसर मिल जाता है। आर्थिक सहायता सदैव किसी शत क साथ दी जाती है तथा वह सघीय सरकार के विनियमा के अधान रहती है। यह स्वाभाविक भी है कि जा धन व्यय करता है वह अपनी इच्छानुसार नीति भी निर्धारित कर।

(स) वित्तीय सम्बन्ध

जसा कहा जा चुका है कि सघ राज्य म इकाइया का वास्तविक स्वायत्तता प्रदान करन के लिए आर्थिक स्वायत्तता का भी व्यवस्था की जाती है। फलत प्रत्यक सघ म केन्द्र और इकाइया को उनके अपन विधायी एव कायपालिका सम्बन्धी कार्यों क निष्पादन के लिए अलग अलग वित्तीय प्रसाधन सौंप जात है। परन्तु इस सिद्धान्त का पूर्णरूपेण पालन किसी भी सविधान म नहा हो सका है।

इस सम्बन्ध म भारतीय सविधान म पाइ जान वाली स्थिति बहुत अधिक असन्तोषजनक है। राज्या का जो प्रसाधन दिए गए है वे बहुत अधिक अपर्याप्त है। अत यह व्यवस्था की गई है कि कुछ कर एस हाग जिन्हे सघ की सरकार लगायगी तथा जिनका सग्रह या तो सघ की सरकार करगी और या राज्य की सरकार और जिनस प्राप्त आय का या ता आशिक रूप से राज्य का द दिया जाएगा या पूण रूप स। इसक अतिरिक्त सविधान द्वारा किया गया वित्तीय प्रसाधना का वितरण न ता अन्तिम है और न अपरिवतनीय। सविधान रचना के समय यह व्यवस्था की गइ थी कि वित्तीय प्रसाधना का वितरण उसी प्रकार किया जायगा जिस प्रकार 1935 के अधिनियम म किया गया था। परन्तु साथ ही म यह व्यवस्था भी की गई थी कि राष्ट्रपति प्रत्यक पाँच वष क पश्चात् एक वित्त आयाग नियुक्त किया करगा जा उसे सघ और राज्या क बीच वित्तीय प्रसाधना क वितरण तथा सघ द्वारा राज्या का दिय जान वाल अनुदान क सिद्धान्ता क सम्बन्ध म परामश देगा। इस प्रकार भारतीय सविधान म सघ और राज्या के बीच पाय जान वाल आर्थिक सम्बन्धा म एक अनोखा लचकीलापन पाया जाता है जिसकी मिसाल हम किसी अन्य सघीय राज्य म नहीं दिखाई पडती।

प्रसाधनों का वितरण—सघ और राज्या क बीच आय क वितरण का उल्लख सातवी सूची म हुआ है और जसा कहा जा चुका है कि उसका आधार वह वितरण है जो 1935 क अधिनियम म किया गया था। इस प्रकार सघ सरकार का व सभी प्रसाधन प्रदान किय गय हैं जो सघ सूची के अन्तगत आत हैं तथा राज्या को व प्रसाधन सौंपे गय है जो राज्य सूची म उल्लिखित हैं। समवर्ती सूची म किसी भी प्रकार क करा का प्राविधान नहीं है। इस वितरण के सम्बन्ध म एक उल्लखनीय बात यह है कि जहा राज्या का अपन द्वारा लगाय गये करा स प्राप्त सम्पूण आय को अपने पास रखन का अधिकार है किन्तु जिन करा को लगान का अधिकार सघ

को दिया गया है, उनमे से कुछ कर ऐसे है जिनसे प्राप्त आय या तो पूर्णत राज्यो को दे दी जाती है, अथवा वह उन्हे आशिक रूप से दी जाती है। सविधान ने इस प्रकार के करो की चार विभिन्न श्रेणियाँ बतायी है। प्रथम श्रेणी मे वे कर आते है जो केन्द्र की सरकार के द्वारा लगाये जाते है, किन्तु जिनका सग्रह राज्यो के द्वारा होता है और जिनसे प्राप्त आय को राज्य पूर्णत अपने पास रख लेते है। इस प्रकार के करो मे मुद्राक शुल्क तथा औषधीय और प्रसाधनीय सामग्री (toilets) पर शुल्क सम्मिलित है। द्वितीय श्रेणी के कर वे है जो सघ के द्वारा आरोपित और सगृहीत किये जाते है, परन्तु जिनसे प्राप्त आय को राज्यो को दे दिया जाता है। इस प्रकार के करो मे कृषि भूमि को छोडकर अन्य सभी प्रकार की सम्पत्ति के उत्तराधिकार-विषयक शुल्क, कृषि भूमि से अन्य सम्पत्ति विषयक शुल्क, रेल, समुद्र अथवा वायु द्वारा ले जाये गये माल और यात्रियो पर सीमा कर, शेयर बाजार और सट्टा बाजार के सौदो पर मुद्राक शुल्क से अन्य कर आदि। तृतीय श्रेणी मे आय कर आता है जिसे सघ की सरकार आरोपित भी करती है तथा सगृहीत भी, किन्तु जिससे प्राप्त आय को सघ और राज्य दोनो के बीच बाँट दिया जाता है। चौथी श्रेणी मे वे कर आते है जिन्हे सघ आरोपित करता है तथा जिनके सग्रह का दायित्व भी सघ सरकार के पास ही होता है, किन्तु जिनका सघ राज्यो के पास हिस्सा बाँट कर लेता है। इस प्रकार के करो मे औषधि एव प्रसाधनिक सामग्री के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ पर उत्पादन शुल्क शामिल है।

अनुदान—सविधान मे सघ द्वारा राज्यो को अनुदान दिये जाने का भी प्राविधान पाया जाता है। सविधान की 273वी धारा मे लिखा है कि विहार, उडीसा, पश्चिमी बगाल तथा असम के राज्यो को जूट तथा जूट-उत्पादनो के निर्यात शुल्क के बदले मे सघ अनुदान देगा तथा अनुदान की राशि राष्ट्रपति के द्वारा निर्धारित की जायेगी। सविधान मे सघ को यह कर्त्तव्य सोपा गया है कि वह अनुसूचित कबायली क्षेत्रो मे प्रशासकीय स्तर को ऊपर उठाने के लिए तथा उनके कल्याण के कार्यो को निष्पादित करने के लिए काम करे और इस सम्बन्ध मे वह राज्यो को वित्तीय सहायता प्रदान करे। सविधान की 275वी धारा मे इस प्रकार के अनुदान का उल्लेख है। यह सघीय सरकार का काम है कि वह इस प्रकार दिये जाने वाले अनुदानो की राशि निर्धारित करे तथा यह भी निश्चित करे कि उस राशि को किस प्रकार खर्च किया जाना है। यह बताने की आवश्यकता नही कि इन अनुदानो के माध्यम से सघ को राज्यो को अपने नियन्त्रण मे रखने का अवसर प्राप्त हुआ है। पिछले वित्त आयोगो की सिफारिशो के परिणामस्वरूप राज्यो को हस्तान्तरित किये जाने वाले वित्तीय प्रसाधनो की राशि मे, जिसमे अनुदान शामिल है, उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। 1952 मे यह राशि 60 और 65 करोड के बीच मे थी, अब यह बढकर 550 करोड रुपये से भी अधिक है।

275वी धारा के अन्तर्गत राज्यो को जो अनुदान सघ से प्राप्त होता है, उससे कही अधिक राशि उन्हे अनुदान के ही रूप मे 282वी धारा के अन्तर्गत प्राप्त होती है। यह अनुदान नियोजन के कार्यान्वियन के लिए राज्यो को दिया जाता है। इस अनुदान को प्राप्त करने के लिए सामान्यत राज्यो को बराबर की राशि स्वय व्यय करनी होती है। इस अनुदान के सम्बन्ध मे ध्यान मे रखने योग्य एक बात यह है कि वह राज्यो को उन विषयो के ऊपर व्यय करने के लिए दिया जाता है जिनका सम्बन्ध राज्य सूची के साथ है। उदाहरण के लिए 1959–60 के बजट मे 60 विषयो पर व्यय करने के लिए अनुदान की व्यवस्था की गई थी, जिसमे 20 करोड रुपया सामान्य और तकनीकी शिक्षा के लिए था, 17 करोड की राशि सामुदायिक विकास के लिए निर्धारित की गई थी, 8 करोड रुपया कृषि और मत्स्य-पालन के लिए निश्चित किया गया था तथा 7 5 करोड रुपये की राशि मलेरिया उन्मूलन के लिए निर्धारित की गई थी। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के अनुदान के द्वारा भी सघ सरकार को राज्यो के ऊपर नियन्त्रण रखने मे बडी सहायता मिली है।

केन्द्र द्वारा राज्यों को दिये जाने वाले ऋण—संघ और राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्धों के परिचालन में केन्द्र द्वारा राज्यों को दिये जाने वाले ऋणों की भूमिका कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वस्तुतः पंचवर्षीय योजनाओं के आरम्भ होने के पूर्व राज्यों को संघ द्वारा दिये जाने वाले ऋणों का कोई विशेष महत्त्व नहीं था, यथार्थ में यह राशि बहुत थोड़ी होती थी। उदाहरणस्वरूप 1948 से लेकर 1951 तक कुल 50 करोड़ रुपये के ऋण संघ ने राज्यों की सरकारों को दिये थे। परन्तु प्रथम पंचवर्षीय योजना के काल में यह राशि बढ़कर 900 करोड़ रुपये पर पहुंच गई। अकेले 1964–65 के वर्ष में राज्यों को 690 80 करोड़ रुपये के ऋण संघ सरकार ने दिये थे।

यह सही है कि यह बात राज्यों की इच्छा पर निर्भर करती है कि वे केन्द्र से ऋण लें अथवा न लें। परन्तु कोई भी राज्य ऋण लेने से इनकार केवल उस स्थिति में कर सकता है जबकि वह अपने आर्थिक विकास की भी आकांक्षा का ही परित्याग कर दे। स्पष्टतः ऐसा करना किसी भी राज्य के लिए सम्भव नहीं हो सकता। अतः बाध्य होकर उन्हें केन्द्र से ऋण लेने पड़ते हैं और जब वे केन्द्र की सरकार के पास ऋण की याचिका के साथ जाते हैं तो उन्हें उसके समक्ष अपनी वह योजना भी प्रस्तुत करनी होती है जिसकी कार्यान्विति के लिए उन्हें ऋण की आवश्यकता है। केन्द्रीय सरकार उनकी याचिका को केवल उस स्थिति में स्वीकार कर सकती है जबकि उसे उनकी योजना भी मान्य हो। इस प्रकार यह प्रकट है कि केन्द्रीय ऋणों की राज्यों की स्वायत्तता के क्षेत्र में संघ सरकार के हस्तक्षेप की ही अभिव्यक्ति है।

नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक—लेखा परीक्षण को भारतीय संविधान में संघ सरकार के एकाधिकारी क्षेत्र में रखा गया है। इस कार्य को निष्पादित करने के लिए केन्द्र में नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक की व्यवस्था है तथा राज्यों में लेखा परीक्षक की। परन्तु वास्तव में ये सभी अधिकारी संघ सरकार के अभिकर्त्ता हैं। राज्य सरकारों का उसके स्वयं लेखों का परीक्षण करने वाले अधिकारी के ऊपर भी कोई नियन्त्रण नहीं होता। नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक का पद अर्ध-न्यायिक है तथा उसकी नियुक्ति स्वयं राष्ट्रपति के द्वारा होती है तथा उसके कार्य करने की परिस्थितियों का निर्धारण भी संसद द्वारा पारित कानून के द्वारा होता है। यह काम इस अधिकारी का है कि वह यह बताये कि संघ तथा राज्यों की सरकारें अपने आय-व्यय के लेखे को किस प्रकार रखेंगी और उसको यह अधिकार भी प्राप्त है कि वह उनके लेखों का परीक्षण कराये।

वित्तीय संकट और राज्यों की स्वायत्तता—संविधान की 360वीं धारा के अन्तर्गत राष्ट्रपति को वित्तीय संकट की घोषणा करने का अधिकार प्राप्त है। इस संकट की अवधि के काल में राज्यों को संघीय करों में उनके भाग से वंचित किया जा सकता है, राष्ट्रपति राज्यों को यह आदेश दे सकता है कि वे अपने वित्त विधेयकों को उसकी स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखें तथा संघ सरकार को किसी भी राज्य की वित्तीय क्रियाओं को नियन्त्रित करने का निर्देश दे सकता है। संक्षेप में वित्तीय संकट के समय राज्यों की वित्तीय स्वायत्तता को अल्पकाल के लिए पूर्णतः स्थगित रखा जा सकता है।

3 क्या भारत एक संघ है ?

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय संविधान में संघ को इतनी अधिक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं जिनके माध्यम से वह राज्यों के आन्तरिक मामलों में बड़ी सुगमतापूर्वक हस्तक्षेप कर सकता है। संघ सरकार की इतनी अधिक शक्तियों के कारण बहुधा यह प्रश्न पूछा जाता है कि भारत को संघ बताने का क्या औचित्य है। वस्तुतः यह प्रश्न कोई नया नहीं है, उसे यथार्थ में उस समय भी उठाया गया था जबकि संविधान की रचना हो रही थी और उस पर संविधान सभा में विवाद भी हुआ था। संविधान सभा के कुछ सदस्यों का यह मत था कि संविधान में संघात्मक सिद्धान्त की निर्ममतापूर्वक हत्या की गई है। इसके विपरीत डा. अम्बेदकर का मत था कि संविधान दुहरी राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना करता है एक केन्द्र में तथा दूसरी छोर पर

राज्यो मे, और प्रत्येक को अपने-अपने क्षेत्र मे सविधान के द्वारा सम्प्रभु शक्तियॉ प्राप्त है।' उनके इस दृष्टिकोण का सविधान सभा के अनेक सदस्यो ने समर्थन किया। उदाहरण के लिए श्री नेहरु ने कहा कि 'स्पष्टत राज्यो को स्वायत्तता प्राप्त है।'

परन्तु इतना होते हुए भी बहुत से राजनीतिक नेताओ तथा साविधानिक विशेषज्ञो ने यह मत व्यक्त किया है कि भारत एक सघ नही है। पहले के० सी० ह्वीअर के इस मत का उल्लेख किया जा चुका है जिसमे उसने यह कहा था कि भारत एक एकात्मक राज्य है, जिसमे सघात्मक तत्त्व गौण रूप से पाये जाते हैं। इसी प्रकार के दृष्टिकोण को आइवर जेनिंग्स तथा एलन ग्लैडहिल ने व्यक्त किया हे कि भारतीय सविधान मे जो सघात्मक तत्त्व पाये जाते हे वे तो यथार्थ मे केवल एक नकाब है जिनके द्वारा उसकी एकात्मकता को छिपाने का प्रयास किया गया है। के० एम० मुशी ने भी जो स्वय प्रारूप समिति के सदस्य थे, इस मत को व्यक्त किया है कि 'भारत फेडरेशन नही है, अपितु वह एक यूनियन हे।' कुछ दिन हुए प्रशासकीय सुधार आयोग ने सघ-राज्य सम्बन्धो का अध्ययन करने के लिए एक अध्ययन दल नियुक्त किया था। इस अध्ययन दल ने भी अपने प्रतिवेदन मे यह लिखा है—'भारत की राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप सघात्मक है, किन्तु उसमे परम्परागत सघो के सार का अधिकाशत अभाव हे।'

इसके विपरीत कुछ अन्य विद्वानो का मत है कि भारत मे सघात्मक शासन के सभी तत्त्व पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए के० सन्थानम का मत है कि 'इसमे कोई सन्देह नही हो सकता कि भारत एक सघ हे।' पॉल एच० एपलबी ने भारतीय सविधान को 'अत्यधिक सघात्मक' घोषित किया है। कुछ लोगो ने भारत मे एकात्मक शासन को स्थापित करने की मॉग की है। इनमे सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश मेहर चन्द महाजन तथा भारतीय जनसघ शामिल है। एकात्मक शासन को स्थापित करने की मॉग से भी यह भासित होता है कि इन लोगो के मतानुसार भारत मे सघात्मक व्यवस्था कायम है जिसे वे अवॉछनीय मानते ह।

ऊपर जिस विवाद को साराश रूप मे व्यक्त किया गया है, वह केवल कोई शब्दो का झगडा नही है। वस्तुत उसमे भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का मूलभूत मूल्याकन सन्निहित है। अत यह आवश्यक है कि हम उन आधारो की समीक्षा करे जिन्होने भारतीय सविधान की सघात्मकता पर एक प्रश्न-चिन्ह खडा कर दिया हे।

इस सन्दर्भ मे जो पहली बात कही जाती है वह यह है कि सविधान मे 'फेडरेशन' शब्द को जान-बूझकर प्रयुक्त नही किया गया है और उसके स्थान पर 'यूनियन' शब्द का प्रयोग किया गया ह। डा० अम्बेदकर ने सविधान सभा मे 'यूनियन' शब्द के प्रयोग को लाभकारी सिद्ध करने का प्रयत्न किया था, परन्तु उनकी व्याख्या से स्थिति तो स्पष्ट नही हुई, कुछ भ्रमो मे अवश्य वृद्धि हो गई। इस भ्रम का एक उदाहरण हमे राज्य सभा मे गोविन्द वल्लभ पन्त के उस भाषण मे देखने को मिला जिसमे उन्होने कहा था, 'हम एक यूनियन मे रहते हे, एक फेडरेशन मे भी नहीं' (We live in a union, not even in a federation)। यहॉ यह उल्लेखनीय है कि 'यूनियन' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थो मे हुआ हे, उसे सघात्मक राज्यो के लिए भी प्रयुक्त किया गया हे और एकात्मक राज्यो के लिए भी। उदाहरण के लिए सयुक्त राज्य अमरीका के सविधान की प्रस्तावना मे 'यूनियन' शब्द के द्वारा उस देश का वर्णन किया गया हे। यह बात निर्विवाद है कि सयुक्त राज्य अमरीका एक सघ ह। परन्तु दूसरे छोर पर 'यूनियन' शब्द दक्षिणी अफ्रीका के राज्य के साथ भी प्रयुक्त होता है, जो निस्सन्देह एक एकात्मक राज्य हे। वस्तुत 'यूनियन' शब्द के प्रयोग से सविधान की सघात्मकता पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता। अत हमे इससे अधिक वजनदार तर्को की विवेचना करने की आवश्यकता हे।

भारत के सघीय राज्य न होने के पक्ष मे जो दूसरा तर्क दिया जाता हे और जो पहले तर्क की अपेक्षा निश्चय ही अधिक शक्तिशाली हे, वह यह ह कि हमारे यहॉ केन्द्र को अत्यधिक शक्तियॉ प्रदान की गई ह, यहा तक कि अवशिष्ट विषयो को भी केन्द्र मे ही निहित कर दिया गया हैं। यह

तक कोई नया तर्क नहीं है इसे अनेक बार संविधान सभा में भी दोहराया गया था। परन्तु इस तर्क के सम्बन्ध में भी एक बात कही जा सकती है कि विश्व के समस्त संघीय संविधानों में कोई भी दो संविधान ऐसे नहीं हैं जिनमें शक्तियों का विभाजन एक-सा हुआ हो। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह भी है कि आज संसार के सभी देशों में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रकार अन्य संविधानों में केन्द्रीयकरण विकास की एक लम्बी प्रक्रिया के बाद सम्पन्न हुआ है। किन्तु भारत में ऐसा सब कुछ नहीं हुआ यहाँ तो केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को संविधान के द्वारा ही मान्यता प्रदान कर दी गई है। वस्तुतः ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योंकि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का दीर्घ काल से शक्तिशाली केन्द्र को स्थापित करने का ध्येय था। यदि उसने दुर्बल केन्द्र की व्यवस्था को स्वीकार किया था तो इसलिए था कि मुस्लिम लीग की पृथकतावादी माँग के साथ किसी भी प्रकार का कोई समझौता हो जाय। परन्तु विभाजन के पश्चात् इस प्रकार की कोई आवश्यकता भी नहीं रह गई थी। अतः इस नवीन पृष्ठभूमि में शक्तिशाली संघ की स्थापना की जा सकती थी।

भारतीय संविधान में अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र को सौंपी गई हैं परन्तु इस आधार पर भी संविधान के संघात्मक स्वरूप को चुनौती नहीं दी जा सकती। संसार का कोई ऐसा अनोखा देश नहीं है जहाँ इस प्रकार की व्यवस्था पाई जाती हो। कनाडा में भी अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र में ही निहित की गई हैं किन्तु उसमें उसके संघात्मक स्वरूप पर कोई अन्तर नहीं आया है। यहाँ इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि संविधान के इस प्रावधान से संघ की शक्ति में अभी तक कोई वृद्धि नहीं हुई है। शक्तियों के वितरण की तीनों सूचियाँ इतनी विशद और ब्यौरेवार हैं कि उनमें अब किसी नई शक्ति को जोड़ने का कोई प्रश्न शेष नहीं है। फलतः संविधान के कार्यान्वयन के लगभग 24 वर्ष हो चुके हैं और इस प्रावधान को अभी तक व्यवहार में लाने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि केन्द्र को अधिक शक्ति प्रदान कर देने से किसी भी संविधान के संघात्मक तत्त्व नष्ट नहीं हो जाते। यथार्थ में संविधानवाद का मूल सिद्धान्त शक्तियों का संघ और इकाइयों के बीच विभाजन है और यह विभाजन ऐसा होना चाहिए जिससे संघ की सरकार अपनी इच्छा से इकाइयों की शक्ति को कम न कर सके तथा संघ एवं इकाइयों की सरकारें प्रत्यक्ष रूप से संविधान से ही अपनी शक्तियाँ प्राप्त करें। दूसरे शब्दों में संघीय संविधान में इकाइयों की स्वायत्तता को मान्यता दी जानी चाहिए। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं है कि स्वायत्तता का क्षेत्र कितना विशद अथवा कितना सीमित है महत्त्व की बात केवल इतनी है कि इकाइयों की स्वायत्तता जिस क्षेत्र में स्वीकार की जाय वह निश्चित होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में डा० अम्बेडकर का संविधान सभा में यह कथन उल्लेखनीय है कि जो क्षेत्र राज्यों के पास छोड़ा गया है उसमें वे उसी प्रकार सम्प्रभु हैं जिस प्रकार केन्द्र उस क्षेत्र में सम्प्रभु है जो उसे सौंपा गया है। यह कथन ऊपर से देखने पर अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है क्योंकि संविधान में ऐसे प्रावधानों का अभाव नहीं है जो केन्द्र को राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप का अधिकार प्रदान करते हैं अथवा जिनसे उसे संकट काल में राज्य की सम्पूर्ण स्वायत्तता को हड़प जाने की क्षमता प्राप्त होती है। यहाँ उनमें से कुछ प्रावधानों का उल्लेख किया जा सकता है। सर्वप्रथम संविधान की तीसरी धारा को लिया जा सकता है। इस धारा ने संघीय व्यवस्थापिका को राज्यों की सीमाओं में हेर-फेर करने की तथा इस प्रकार नये राज्यों की रचना का अधिकार दिया है। संविधान की चौथी धारा में लिखा है कि इस प्रकार जो परिवर्तन किये जायेंगे उन्हें संशोधन नहीं माना जायेगा। इसलिए इस प्रकार के परिवर्तनों को संसद के साधारण कानून के द्वारा व्यवहार में लाया जा सकता है। यह सही है कि इस प्रकार के परिवर्तनों को संसद में प्रस्तावित करने के पूर्व संघ की सरकार से यह अपेक्षा की गई है कि वह सम्बद्ध राज्य अथवा राज्यों से इस सम्बन्ध में परामर्श करे। परन्तु उनका परामर्श संघ के लिए बाध्यकारी होगा यह

कही नही लिखा हे। सघ की ससद ने इसी शक्ति के आधार पर 1963 मे आन्ध्र के राज्य की रचना की थी और आन्ध्र की रचना की प्रक्रिया मे हैदराबाद के राज्य का लोप हो गया। इसी शक्ति के आधार पर 1956 मे राज्यो का पुनर्सगठन कानून (States Reorganisation Act) निर्मित किया गया था, जिसके द्वारा भारत के राजनीतिक मानचित्र मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये थे। पिछले वर्षो मे इसी शक्ति के आधार पर नागालैण्ड राज्य की असम राज्य के पुनर्गठन के द्वारा रचना की गई, इसी प्रकार पुराने पजाब को बॉटकर पजाब और हरियाणा के नये राज्यो को जन्म दिया गया। अत यह कहा जा सकता है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से सविधान की तीसरी धारा ने सघ को राज्यो के जीवन और मृत्यु का निर्णय देने का अधिकार दिया है। इस धारा पर टिप्पणी करते हुए के० पी० मुखर्जी ने लिखा है कि यदि यह एकात्मक सरकार की परिभाषा नही है, तो मैं नही जानता कि वह क्या है।' इस सत्य से इनकार नही किया जा सकता कि तीसरी धारा ने सघ सरकार को वह शक्ति प्रदान की है जो विश्व के किसी भी सविधान मे सघ को प्राप्त नहीं है। यथार्थ मे ससार के सभी सघो मे जहॉ सघ की अखण्डता को कायम रखने का वचन दिया जाता है, वहाँ उनमे इकाइयो की अखण्डता को भी कायम रखने का आश्वासन दिया जाता है। अत यह बात स्वीकार करनी पडेगी कि सविधान की तीसरी धारा सघात्मक सिद्धान्त के प्रतिकूल हे। परन्तु इतना मानने के बाद भी यह लिखना आवश्यक है कि सविधान मे तीसरी धारा को इसलिए स्थान दिया गया था क्योकि 1950 मे भारत के राजनीतिक मानचित्र को ब्रिटिश सरकार से उत्तराधिकार मे प्राप्त किया गया था और यह स्पष्ट था कि साम्राज्यवाद की यह विरासत बहुत दिन नही चल सकती थी। यदि सविधान की रचना के समय ही इस मानचित्र मे आवश्यक परिवर्तन करने का प्रयास किया गया होता, तो उसके फलस्वरूप देश मे इतना उग्र विवाद जन्म ले लेता कि उसका प्रतिकूल प्रभाव सविधान रचना पर भी पडता। अत यह उचित समझा गया कि इस कार्य को अभी स्थगित कर दिया काये तथा उसका निष्पादन सविधान द्वारा स्थापित ससद के द्वारा हो।

तीसरी धारा के अतिरिक्त भी सविधान मे ऐसे अन्य प्राविधान भी है जिनसे साधारण तथ असाधारण दोनो प्रकार की स्थितियो मे राज्यो की स्वायत्तता पर ऑच पहुँचती है। इन प्राविधानो का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है और उनके सम्बन्ध मे भी इस सत्य से इनकार नही किया जा सकता कि उनसे केन्द्र को बहुत अधिक शक्तियॉ प्राप्त हुई है तथा राज्यो की स्वायत्तता पर उनका प्रतिकूल प्रभाव पड सकता है।

जहॉ तक 356वीं धारा के अन्तर्गत आने वाली सकटकालीन व्यवस्थाओ का, राज्यो मे साविधानिक प्रणाली के असफल हो जाने वाले प्राविधानो का, प्रश्न है, कुछ बाते ध्यान मे रखी जानी आवश्यक है। यद्यपि सविधान मे कहा गया है कि सघ राज्यो के प्रशासन को अपने हाथो मे केवल उस समय ले जबकि राज्य मे सविधान के अनुसार शासन का सचालन हो ही न सकता हो तथा इस आशय का प्रतिवेदन उसके पास राज्य के गवर्नर से आया हो। परन्तु यदि केन्द्र और राज्य मे भिन्न-भिन्न दलो की सरकारे है, तो उस स्थिति मे केन्द राज्य के गवर्नर से अपनी इच्छानुसार रिपोर्ट लिखवा लेगा तथा फिर वहॉ के शासन को अपने अधिकार मे ले लेगा। यह सही हे कि ऐसा अभी तक बहुत कम हुआ है, परन्तु ऐसा हुआ है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता। 1958 मे केरल मे नम्बूदिरीपाद मन्त्रिमण्डल को बरखास्त कर दिया गया तथा वहाँ राष्ट्रपति शासन स्थापित किया गया। चौथे आम चुनाव के बाद अनेक राज्यो मे राष्ट्रपति शासन की घोषणा की गई, जिनमे हरेक को उचित नही ठहराया जा सकता। किन्तु इमे सविधान का दोष नहीं कहा जा सकता, यह दोष तो उनका ह जिनके पास सविधान को कार्यान्वित करने का उत्तर-दायित्व ह। स्पष्टत ये व्यवस्थाये भी अल्पकालीन ह तथा उनमे सविधान का सघात्मक स्वरूप आवश्यक रूप से नष्ट नही होना। यहॉ यह बात भी उल्लेखनीय ह कि इस प्रकार के प्राविधान भारतीय सविधान की कोई अपनी अनोखी विशेषता नहीं हे, उनका अनोखापन केवल इस तथ्य मे

है कि यहाँ उन्हें अन्य संविधानों की अपेक्षा अधिक विशद बनाया गया है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अपनी केन्द्रोन्मुखी प्रवृत्तियों के बावजूद भारतीय संविधान का स्वरूप संघात्मक है। वस्तुतः लोग इस तथ्य को स्वीकार करते हैं किन्तु उनका कहना है कि संविधान की कार्यान्विति इस प्रकार हो रही है जो उसके निर्माताओं की इच्छा के सर्वथा प्रतिकूल है। बहुधा यह शिकायत की जाती है कि बढ़ते हुए केन्द्रीयकरण के परिणामस्वरूप राज्यों की स्वायत्तता में निस्सन्देह कमी आई है। उदाहरणस्वरूप डी० एम० के० के स्वर्गीय नेता श्री अन्नादोराई ने इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए एक बार कहा था कि संघीय संविधान के कार्यान्वयन में राज्यों की शक्तियों के लिए खतरा प्रस्तुत हो रहा है तथा राज्यों की स्थिति अब केवल खैरात पाने वाले निगम (dole getting corporation) की रह गई है। इसी प्रकार का मत स्वतन्त्र पार्टी के नेता श्री राजगोपालाचारी ने भी व्यक्त किया था। उनकी शिकायत थी कि राज्यों की स्वतन्त्रता को भुलाया जा रहा है तथा समूचे भारत में बिना विचारे एकात्मक राज्य को स्थापित किया जा रहा है। इस प्रकार की शिकायत का मुख्य उद्गम वास्तव में राष्ट्रीय नियोजन है तथा नियोजन की क्रियान्विति में योजना आयोग की भूमिका है। समस्या के इस पहलू पर प्रकाश डालते हुए तरलोक सिंह ने जो योजना आयोग के सदस्य भी रह चुके हैं एक बार यह लिखा था—राष्ट्रीय नियोजन ने केन्द्र की भूमिका में वृद्धि की है तथा उसमें केन्द्र और राज्यों के उत्तरदायित्वों के विभेद को कम करने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

यह सही है कि नियोजित अर्थव्यवस्था ने राज्य सम्बन्धों को केन्द्रोन्मुख बनाया है परन्तु इस प्रवृत्ति को जन्म देने के लिए संविधान को उत्तरदायी ठहराना उचित नहीं है। वस्तुतः इसके लिए दो कारण उत्तरदायी हैं और इनमें से किसी एक को संविधान का अपरिवर्तनीय अथवा अनिवार्य अंग नहीं माना जा सकता। प्रथम राज्यों को केन्द्र से प्रचुर मात्रा में आर्थिक सहायता प्राप्त होती है और द्वितीय 1967 के आम चुनावों के पूर्व तक देश के केवल एक राजनीतिक दल का राजनीतिक शक्ति पर एकाधिकार था। यहाँ यह कहा जा सकता है कि राज्यों को अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए केन्द्र का मुँह इसलिए ताकना पड़ता है क्योंकि संविधान ने उन्हें पर्याप्त वित्तीय प्रसाधन प्रदान किये हैं। यथार्थ में बात ऐसी नहीं है। राज्यों की आर्थिक दुर्बलता का एक बड़ा कारण यह है कि राज्यों की सरकारों ने राजनीतिक कारणों से प्रेरित होकर अपने यहाँ स्थित वित्तीय प्रसाधनों का पूर्णरूपेण प्रयुक्त नहीं किया है और न उनमें ऐसा करने की इच्छा पायी जाती है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि वे केन्द्र पर आश्रित रहें। केन्द्र से सहायता लेने के बाद वे सहायता से उत्पन्न परिणामों से बचने की आशा नहीं कर सकते।

जैसा कहा जा चुका है कि 1967 तक कांग्रेस का केन्द्र एवं राज्यों की सरकारों पर सभी जगह एकाधिकार था। सन् दस में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्तियों को एक बड़ी सीमा तक बढ़ावा दिया था। एक समय में ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योंकि उस समय देश की बागडोर राष्ट्रीय आन्दोलन के जाने-पहचाने नेताओं और विशेषकर जवाहरलाल नेहरू के हाथों में थी। राज्यों के नेता पथ प्रदर्शन एवं परामर्श के लिए उनकी ओर देखा करते थे। परन्तु 1964 में नेहरू जी के देहान्त के उपरान्त स्थिति में निश्चय ही एक परिवर्तन आया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नेहरू जी और लालबहादुर शास्त्री के उत्तराधिकारियों के चयन में राज्यों के मुख्यमन्त्रियों ने एक निर्णायक भूमिका अदा की थी।

नार्मन डी० पामर ने लिखा है कि स्वतन्त्रता के उपरान्त भारतीय राजनीतिक जीवन के बहुत से अन्तर्विरोधों में से एक अन्तर्विरोध यह है कि यहाँ केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण दोनों की शक्तिशाली प्रवृत्तियों का एक साथ विकास हुआ है। जहाँ देश में राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने वाले तत्त्व पाये जाते हैं वहाँ ऐसे तत्त्वों का भी अभाव नहीं है जो देश को विघटन की ओर

ले जा सकते है। आज भी देश के राजनीतिक जीवन मे सम्प्रदायवाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद तथा भाषावाद आदि बुराइयो को अवलोकित किया जा सकता है। इन बुराइयो को देखकर बहुधा कुछ निराशावादियो ने यह सन्देह व्यक्त किया है कि कालान्तर मे भारतीय सघ का विघटन हो जायेगा। उदाहरणस्वरूप पॉल एच० एपलबी ने अपने प्रतिवेदन मे यह प्रश्न पूछा है 'क्या भाषायी विभाजनो तथा अपने प्रशासन के एक बडे भाग के लिए राज्यो के ऊपर असाधारण निर्भरता की पृष्ठभूमि मे भारत अपनी राष्ट्रीय एकता एव शक्ति को कायम रखने मे समर्थ हो सकेगा ?'

यहाँ इन भविष्यवाणियो की विवेचना करने की आवश्यकता नही है। हमारे लिए केवल इस तथ्य को मान्यता देना पर्याप्त है कि भारत मे क्षेत्रीय विभिन्नताये तथा स्थानीय भावनाये पायी जाती है और राज्य इन भावनाओ के प्रतीक है। पिछले दिनो मे इन्ही राज्यो मे केन्द्रीकरण के विरुद्ध प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति हुई है। यह स्वाभाविक ही है कि भारत जैसे बडे आकार के देश मे जहाँ विभिन्न भागो की ऐतिहासिक परम्पराये भी न केवल एक दूसरे के साथ मेल नही खाती, अपितु उनमे एक प्रकार का टकराव भी पाया जाता है, क्षेत्रीय विभिन्नताये विकसित हो। वस्तुत ये विभिन्नताये ही इस बात की सबसे बडी गारन्टी है कि यहा अत्यधिक केन्द्रवाद विकसित नही हो सकता। यदि सीमाओ का उल्लघन करके केन्द्रवाद को विकसित करने का प्रयास किया गया तो इसका परिणाम राष्ट्र की एकता के लिए घातक होगा। भारतीय सविधान मे शक्तिशाली केन्द्र को स्थापित करने की आकाक्षा तथा क्षेत्रीय भावनाओ की अवहेलना न करने की इच्छा के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया गया है। ऐसी स्थिति मे यह आवश्यक था कि भारतीय सविधान मे अन्य सघात्मक सविधानो की तुलना मे कुछ भिन्नताये पायी जाती। भारतीय सघ के सम्बन्ध मे ध्यान मे रखने योग्य बात यह है कि उसकी रचना सयुक्त राज्य अमरीका अथवा स्विट्जरलैण्ड के सविधानो की भाँति उस समय नही हुई जबकि राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध मे निषेधात्मक धारणा पायी जाती थी। आज राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध मे स्वीकारात्मक विचार पाये जाते है और ऐसी स्थिति मे यदि सघ के कार्यक्षेत्र को सविधान मे व्यापक बना दिया गया तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है। नियोजन का विचार भी वास्तव मे राज्य के कार्यक्षेत्र की स्वीकारात्मक धारणा के साथ सम्बद्ध है और नियोजन के कार्य मे केन्द्र और राज्य दोनो ही एक प्रकार से साझीदार है। यह सही है कि इसमे सघ की साझीदारी अधिक है, परन्तु इसके साथ मे सही यह भी है कि राज्यो के सहयोग के बिना सघ कुछ भी न कर सकने की स्थिति मे होगा। इसी आधार पर कुछ लोगो ने भारतीय सघवाद को सहकारी सघवाद की सज्ञा प्रदान की है।

4 वित्त आयोग

सविधान की 280वी धारा मे वित्त आयोग की व्यवस्था की गई है। सघात्मक प्रणाली के सिद्धान्त एव व्यवहार मे इसे भारत का मौलिक योगदान घोषित किया जा सकता है। यद्यपि 1940 मे इस प्रकार के आयोग की स्थापना की सिफारिश कनाडा मे की गई थी, परन्तु उसकी कभी कार्यान्विति नही हुई। अत वित्त आयोग के प्राविधान को भारतीय सविधान की अपनी विशेषता समझी जानी चाहिए।

यद्यपि सविधान मे सघ और राज्य के बीच पाये जाने वाले वित्तीय सम्बन्धो का ब्यौरेवार वर्णन पाया जाता है तथापि सविधानकार जानते थे कि कोई भी प्रबन्ध, चाहे उसे कितनी ही सावधानी से क्यो न बनाया जाये, हर परिस्थिति के लिए सन्तोषप्रद नही हो सकता। अत यह सोचा गया कि पाँच वर्ष की अवधि के उपरान्त वित्त आयोग की स्थापना की जानी चाहिए और इस आयोग का यह दायित्व होना चाहिए कि वह पिछले पाँच वर्ष मे दिये वित्तीय परिवर्तनो को ध्यान मे रखकर सघ और राज्यो के बीच वित्तीय प्रसाधनो का पुनर्वितरण करे।

सविधान की 280वी धारा मे यह व्यवस्था की गई है कि सविधान के व्यवहार मे आने के दो वर्ष बाद राष्ट्रपति एक वित्त आयोग की रचना करे, यह काम इसके बाद हर पाँच वर्ष बाद

या उसके पूर्व दुहराया जाना चाहिए। इसी धारा में वित्त आयोग के गठन के सम्बन्ध में यह निश्चय किया गया कि उसमें एक अध्यक्ष के अतिरिक्त चार सदस्य और होंगे। 1951 के वित्त आयोग अधिनियम (1955 में संशोधित) में अध्यक्ष तथा सदस्यों की योग्यतायें निर्धारित की गई हैं। अध्यक्ष के लिए यह आवश्यक माना गया है कि उसे सार्वजनिक जीवन का अनुभव होना चाहिए तथा सदस्यों के लिए कहा गया है कि वे (1) या तो उच्च न्यायालय के न्यायाधीश रह चुके हों अथवा उसमें न्यायाधीश बनने की योग्यता हो अथवा (2) उन्हें सरकार के वित्त तथा लेखों का विशिष्ट ज्ञान हो अथवा (3) उन्हें वित्तीय मामलों एवं प्रशासन के सम्बन्ध में व्यापक अनुभव हो अथवा (4) उन्हें अर्थशास्त्र का विशेष ज्ञान हो। यद्यपि आयोग की स्थिति केवल परामर्श देने वाले अभिकरण की है तथापि अभी तक इसके किसी परामर्श को ठुकराया नहीं गया है।

संविधान की 280 (3) धारा में वित्त आयोग के कार्यों को निर्धारित किया गया है। उसे राष्ट्रपति को तीन प्रकार की सिफारिशें करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया है—प्रथम करों से प्राप्त आय को संघ और राज्यों के बीच किस प्रकार वितरित किया जाय, द्वितीय भारत की संचित निधि में से राज्यों को किन सिद्धान्तों के आधार पर अनुदान दिया जाय, और तृतीय स्वस्थ वित्तीय प्रशासन की स्थापना के लिये राष्ट्रपति द्वारा पूछे गये मामलों पर परामर्श।

अभी तक पांच वित्त आयोगों की रचना की जा चुकी है। पहला 1952 में स्थापित किया गया था, द्वितीय 1957 में, तृतीय 1961 में, चौथा 1965 में और पांचवां 1968 में निर्मित हुए थे। इन आयोगों की सिफारिशों के फलस्वरूप आयकर से प्राप्त धन में से राज्यों को दिये जाने वाले हिस्से में निरन्तर वृद्धि होती रही है। प्रथम वित्त आयोग की स्थापना के पूर्व राज्यों को दी जाने वाली राशि आय की 50 प्रतिशत थी अब यह बढ़कर 75 प्रतिशत हो गई है। वित्त आयोगों की विभिन्न सिफारिशों के फलस्वरूप राज्यों को विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन शुल्कों में भी कुछ हिस्सा मिलने लगा है।

वित्त आयोगों ने अब तक जो सिफारिशें की हैं उनकी विवेचना से यह स्पष्ट है कि इन आयोगों की भूमिका सहकारी संघवाद का संवर्धन करने वाली रही है। बहुधा यह कहा जाता है कि भारतीय संविधान में पाये जाने वाले वित्तीय उपबन्धों की योजना भारतीय संघवाद की सामान्य प्रकृति के अनुकूल ही हुई है। संघ सरकार राज्य सरकारों की अपेक्षा अधिक स्थिर और शक्तिशाली है। परन्तु ऐसा होना आवश्यक भी था और वांछनीय भी क्योंकि इसके बिना देश का नियोजित ढंग से आर्थिक विकास नहीं हो सकता था। परन्तु इस सम्बन्ध में संविधानकारों ने एक बात का विशेष ध्यान दिया और वह बात यह थी कि राज्यों की स्थिति स्थायी रूप से अत्यधिक दुर्बल न रहे। वित्त आयोग के प्रावधान ने थोड़े थोड़े समय के बाद संघ और राज्यों के पारस्परिक वित्तीय सम्बन्धों के अध्ययन की व्यवस्था की है। इस अध्ययन के आधार पर इन सम्बन्धों में परिवर्तन किये गये हैं जिनसे राज्यों की स्वायत्तता को लाभ पहुंचा है।

5 क्षेत्रीय परिषदें

क्षेत्रीय परिषदों (Zonal Councils) की स्थापना 1956 के राज्य पुनर्गठन अधिनियम के अन्तर्गत हुई थी। इसके पूर्व भारत में मुख्यतः तीन प्रकार के राज्य पाये जाते थे। 1956 के अधिनियम ने जहां राज्यों का पुनर्गठन किया वहां उसने क और ख श्रेणी के राज्यों के बीच में विभेद को भी समाप्त कर दिया। चूंकि राज्यों का पुनर्गठन मुख्यतः भाषा के आधार पर हुआ था इसलिये कुछ क्षेत्रों में यह आशंका व्यक्त की गई कि इसके कारण देश में विघटनकारी शक्तियों को बढ़ावा मिलेगा। यह आशंका पूर्णतः निराधार भी नहीं थी क्योंकि इसके पूर्व भाषा के आधार पर बहुत अधिक उग्र दंगे हो चुके थे। इसी पृष्ठभूमि में प्रधानमंत्री नेहरू ने 21 दिसम्बर 1955 को राज्य पुनर्गठन आयोग के प्रतिवेदन पर विचार विमर्श के समय यह सुझाव प्रस्तुत किया कि देश को चार अथवा पांच बड़े क्षेत्रों में बांट दिया जाय तथा हरेक क्षेत्र की एक क्षेत्रीय

परिषद् स्थापित कर दी जाये। नेहरू जी ने कहा कि इस प्रकार की व्यवस्था से देश मे सामूहिक चिन्तन की आदत विकसित होगी। गोविन्दवल्लभ पन्त ने कहा कि क्षेत्रीय परिषदो के मूल मे जो उद्देश्य सन्निहित है वह यह है कि राष्ट्र की एकता को मजबूत बनाया जाये। नेहरू जी के सुझाव को ससद ने स्वीकार कर लिया। फलत समूचा देश निम्नलिखित पाँच क्षेत्रो मे विभाजित कर दिया गया—

(1) **उत्तरी क्षेत्र**—इसमे पजाब, राजस्थान, जम्मू-काश्मीर तथा दिल्ली और हिमाचल प्रदेश[1] के केन्द्र-शासित प्रदेश शामिल है। पजाब के विभाजन के बाद इसमे हरियाणा राज्य भी शामिल कर दिया गया है।

(2) **दक्षिणी क्षेत्र**—इसमे आन्ध्र प्रदेश, मद्रास (अब तमिलनाडु) और केरल के राज्य शामिल है तथा मैसूर (अब कर्नाटक) को इसकी बैठको मे स्थायी रूप से निमन्त्रित किया जाता है।

(3) **मध्य क्षेत्र**—इसमे केवल दो राज्य सम्मिलित है—उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश।

(4) **पूर्वी क्षेत्र**—इसमे पश्चिमी बगाल, असम, बिहार, उडीसा, नागालैण्ड[2] तथा मणीपुर और त्रिपुरा के केन्द्र-शासित प्रदेश शामिल है।

(5) **पश्चिमी क्षेत्र**—इसमे महाराष्ट्र, गुजरात तथा मैसूर के राज्यो को सम्मिलित किया गया है।

क्षेत्रीय परिषदो के उद्देश्य

23 अप्रैल 1957 को उत्तरी क्षेत्र की परिषद् का उद्घाटन करते हुए तत्कालीन गृह-मन्त्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने क्षेत्रीय योजना के उद्देश्यो पर प्रकाश डालते हुए 6 बाते बतायी थी जो अग्रलिखित है—

(1) देश मे भावनात्मक एकता की रचना करना।

(2) स्थानीय, क्षेत्रीय, भाषायी प्रवृत्तियो के विकास को रोकना।

(3) कुछ मामलो व पृथक्करण से उत्पन्न प्रभावो को दूर करने मे सहायता देना ताकि पुनर्गठन, समन्वयन और आर्थिक विकास की प्रक्रियाये एक दूसरे के साथ मिल सके।

(4) सघ और राज्यो के बीच पारस्परिक सहयोग मे वृद्धि करना ताकि समान हित के लिये एक-सी नीतियो को विकसित किया सके तथा समाजवादी समाज की स्थापना के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके।

(5) प्रमुख विकास योजनाओ की कार्यान्विति मे एक दूसरे के साथ सहयोग करना।

(6) क्षेत्रो और देश के बीच किसी प्रकार का राजनीतिक सन्तुलन स्थापित करना।

क्षेत्रीय परिषदो का सगठन

प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद् की रचना निम्न अधिकारियो के द्वारा होती है—(1) राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त एक केन्द्रीय मन्त्री, (2) क्षेत्र मे सम्मिलित प्रत्येक राज्य का मुख्य मन्त्री, (3) इन राज्यो के दो अन्य मन्त्री जिन्हे वहाँ के गवर्नर ने मनोनीत किया हो, (4) क्षेत्र मे सम्मिलित प्रत्येक केन्द्र-शासित प्रदेश का एक प्रतिनिधि जिसे राष्ट्रपति मनोनीत करे। क्षेत्रीय परिषद् का अध्यक्ष केन्द्रीय मन्त्री होता है। अभी तक पाचो क्षेत्रीय परिषदो मे इस पद के उत्तरदायित्वो का निष्पादन केन्द्रीय गृह-मन्त्री ने किया है। उसकी अनुपस्थिति मे यह उत्तरदायित्व राज्यो के मुख्य मन्त्रियो को सौपा जाता है और वे बारी-बारी से इस पद को ग्रहण करते है।

[1] 25 जनवरी 1971 को हिमाचल प्रदेश को भी पूर्ण राज्य का दर्जा दे दिया गया।
[2] नागालैण्ड को पूर्ण राज्य का दर्जा 1962 मे प्राप्त हुआ था।

प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद् में कुछ परामर्शदाता भी होते हैं। इनमें क्षेत्र में स्थित राज्यों के मुख्य सचिव, विकास आयुक्त तथा योजना आयोग का एक प्रतिनिधि सम्मिलित किया जाता है। परामर्शदाताओं को परिषद् की बैठकों में भाग लेने का अधिकार होता है परन्तु वे उनमें मतदान नहीं कर सकते। प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद् का अपना सचिवालय होता है जिसकी रचना एक सचिव तथा उन अधिकारियों और सहायकों के द्वारा होती है जिन्हें परिषद् नियुक्त करना चाहे। क्षेत्र में स्थित प्रत्येक राज्य का मुख्य सचिव बारी बारी से एक वर्ष के लिये क्षेत्रीय परिषद् के सचिव के कार्यों का सम्पादन करता है। संयुक्त सचिव की नियुक्ति उन अधिकारियों में से की जाती है जिनका क्षेत्र में स्थित किसी राज्य के साथ सम्बन्ध नहीं है। उसकी नियुक्ति परिषद् के अध्यक्ष के द्वारा होती है। सचिवालय का मुख्य कार्यालय क्षेत्रीय परिषद् के मुख्य कार्यालय में होता है।

क्षेत्रीय परिषदों की बैठकें सामान्यतया तीन महीने में एक बार होती हैं। इस सम्बन्ध में परिपाटी यह है कि बैठकें बारी बारी से क्षेत्र में स्थित राज्यों में की जायें। बैठकों में निर्णय उपस्थित सदस्यों के बहुमत के द्वारा लिये जाते हैं।

क्षेत्रीय परिषदों के कार्य

क्षेत्रीय परिषदें ऐसे किसी भी विषय पर विचार विमर्श कर सकती हैं जिनमें क्षेत्र में सम्मिलित राज्यों की तथा संघ की रुचि हो। ये परिषदें केवल परामर्श देने वाली संस्थायें हैं तथा वे संघ सरकार तथा सम्बद्ध राज्यों की सरकारों को उन मामलों में परामर्श देती हैं जिन पर इन्होंने विचार किया है। सामान्यतः इन परिषदों में निम्न विषयों पर विचार किये जाते हैं—

(अ) आर्थिक एवं सामाजिक नियोजन से सम्बद्ध कोई विषय।

(ब) सीमान्त विवादों, भाषायी अल्पसंख्यकों तथा अन्तर्राज्यीय यातायात से सम्बद्ध विषय।

(स) राज्यों के पुनर्गठन से सम्बद्ध कोई मामला।

यहाँ क्षेत्रीय परिषदों की अभी तक की उपलब्धियों के विषय में कुछ कहना अप्रासंगिक न होगा। इस सम्बन्ध में पहली बात यह है कि इन परिषदों की सफलतायें कुछ ऐसी नहीं हैं जिनसे इनके अस्तित्व का औचित्य प्रतिपादित होता हो। इन परिषदों के माध्यम से न तो राज्यों के बीच अथवा राज्यों एवं संघ के बीच सहयोग में वृद्धि हुई है और न उन तनावों का निराकरण हुआ है जिसके लिये इन परिषदों की स्थापना हुई थी। परन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि इन परिषदों को हम पूर्णरूप से अनुपयोगी समझ लेना चाहिये। इन परिषदों ने क्षेत्रों की सामूहिक सुरक्षित पुलिस, वित्तीय अधिकारियों के लिये सामूहिक प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना, अन्तर्राज्यीय सड़क परिवहन के युक्तीकरण (rationalisation) आदि मामलों को तय करने में कुछ सफलता अवश्य मिली है। परन्तु अधिकांश मामले ऐसे हैं जिन्हें इन परिषदों के द्वारा सुलझाया नहीं जा सका है।

यदि क्षेत्रीय परिषदों ने उन आशाओं को पूरा नहीं किया है जिनकी उनसे अपेक्षा की जाती थी तो उन्होंने उन आशंकाओं को भी सही प्रमाणित नहीं किया है जिनके भय से उनको स्थापित किया गया था। अपने आरम्भ के दिनों से ही इन परिषदों के विरुद्ध तीन प्रकार की आपत्तियाँ व्यक्त की गई थीं। चूँकि इन परिषदों के साथ केन्द्रीय सरकार को भी सम्बद्ध रखा गया था इसलिये कुछ लोगों को यह आशंका थी कि इनके माध्यम से केन्द्र राज्यों के शासन पर अधिकाधिक नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयत्न करेगा। अतः यह कहा गया कि क्षेत्रीय परिषदों की रचना केन्द्रीयकरण की ओर एक कदम है जिसका अर्थ है राज्यों की स्वायत्तता में कमी। इसी मत को श्री वी॰ वी॰ गिरि ने भी 1956 में व्यक्त किया था तथा उन्होंने इन्हें भविष्य में स्थापित होने वाले एकात्मक राज्य की ओर कदम बताया था। इसके विपरीत कुछ दूसरे लोगों का कहना है कि क्षेत्रीय समितियों ने राज्यों के बीच सहयोग का माध्यम बनने की बजाय उनके बीच संघर्षों और तनावों को जन्म दिया है। वस्तुतः इन दोनों दृष्टिकोणों के साथ

सहमत होना कठिन हे। इनके सम्बन्ध मे गोविन्दवल्लभ पन्त ने सही कहा था कि वे केवल 'अन्तर्राज्यीय फोरम हे जिनसे न तो केन्द्र की शक्ति पर आँच आती है और न राज्यो की।'

6 भारतीय सघ और चौथा आम चुनाव

ऊपर कहा जा चुका है कि भारतीय सघ मे केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को जन्म देने मे दो कारणो की विशेष भूमिका रही है—केन्द्र द्वारा राज्यो को दी जाने वाली आर्थिक सहायता तथा एक दल के हाथ मे समूची राजनीतिक सत्ता पर एकाधिकार। मई 1964 मे जवाहरलाल नेहरू के देहान्त के उपरान्त स्थिति मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया तथा जैसा कहा जा चुका है 1964 मे नेहरू के उत्तराधिकारी की खोज के काम मे तथा इसी प्रकार 1966 मे लालबहादुर शास्त्री के उत्तराधिकारी की खोज मे राज्यो के मुख्य मन्त्रियो ने एक निर्णायक भूमिका अदा की थी। वस्तुत नेहरू के अन्तिम दिनो मे ही देश के राजनीतिक जीवन मे राज्यो की भूमिका महत्त्वपूर्ण होने लगी थी। जैसा माइकल ब्रेकर ने लिखा है—'नेहरू के अन्तिम दिनो मे ही सत्ता का विकेन्द्रीकरण आरम्भ हो गया था । इस सम्बन्ध मे उत्तराधिकार ने तो केवल इतना किया कि उसने राज्यो के बढते हुए प्रभाव की प्रवृत्ति को सामने ला खडा कर दिया।' यथार्थ मे नेहरू के अन्तिम दिनो मे अन्तरराज्यीय सम्बन्धो की ऐसी अनेक समस्याएँ थी जिनका समाधान नही हो सका था। अत यह स्वाभाविक ही था नेहरू जैसे व्यक्तित्व के उठ जाने के बाद यह समस्या और भी अधिक उग्र होती। चौथे आम चुनाव के पूर्व 1966 मे भूतपूर्व एर्टोनी जनरल एम० सी० सीतलवाड ने कहा था कि 'केन्द्र दुर्बल हो गया है। शक्ति-सन्तुलन अब खिसक कर राज्यो के पास पहुँच गया है।' ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक ही था कि चौथे आम चुनाव मे यह प्रवृत्ति खुलकर सामने आती। इस चुनाव मे राजनीतिक सत्ता पर एक दल का एकाधिकार समाप्त हो गया तथा विभिन्न राज्यो मे विभिन्न दलो की, सामान्यत मिली-जुली सरकारे स्थापित हुई। स्वतन्त्रता के पश्चात् यथार्थ मे यह पहला अवसर था जबकि केन्द्र को एक साथ विभिन्न राज्यो मे विभिन्न दलो की सरकारो का सामना करना पडा था। वस्तुत इसे भारतीय सघवाद के लिए परीक्षा का पहला अवसर घोषित किया जा सकता है। इस पृष्ठभूमि मे यह अनिवार्य था कि बल सविधान के सघात्मक पहलुओ पर दिया जाता जिनकी एकदलीय प्रभुत्व के काल मे उपेक्षा की गई थी।

आरम्भ मे नयी गैर-काग्रेसी सरकारो को इस बारे मे सन्देह था कि केन्द्र उन्हे वाँछित सहयोग प्रदान करेगा तथा सघ-राज्य सम्बन्धो के नये ढाँचे को विकसित करने के लिये उनके साथ निबाहने का प्रयत्न करेगा। अत यह स्वाभाविक था कि राज्यो के नये नेता केन्द्रीकरण का विरोध करते तथा राज्यो के लिये अधिक स्वायत्तता की माँग करते। सत्ता मे आने के फौरन बाद मद्रास के डी० एम० के० के मुख्य मन्त्री स्वर्गीय अन्नादोराई ने केन्द्रीकरण के विरुद्ध सघर्ष करने के अपने निश्चय की घोषणा की। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के महामन्त्री पी० सुन्दरैया ने केन्द्र की इकाइयो पर हावी रहने की शक्तियो के विरुद्ध देशव्यापी आन्दोलन का आह्वान किया। केरल की सरकार ने केन्द्रीय सरकार को ज्ञापन दिया जिसमे यह माँग की गई कि केन्द्र-राज्य सघटन की स्थापना की जाय जो केन्द्र और राज्य सरकारो के बीच आर्थिक सम्बन्धो के परिचालन मे राष्ट्रीय फोरम की भूमिका अदा करे। इस ज्ञापन मे यह सुझाव भी दिया गया कि राज्यो के वित्तीय प्रसाधनो मे और वृद्धि की जाय। 'राज्यो की स्वायत्तता' विषय पर हुई एक विचार-गोष्ठी मे भाषण करते हुए अन्नादोराई ने कहा कि 'केन्द्र की शक्ति राज्यो की शक्ति मे निहित ह और उसकी प्राप्ति तभी हो सकती ह जबकि उस शक्ति को राज्यो मे विकेन्द्रित किया जाय जिस पर आज केन्द्र का अधिकार हे।' 'केन्द्र को अपने पास केवल उतनी शक्ति रखनी चाहिए जिससे कि वह राष्ट्र की अखण्डता एव प्रभुसत्ता की रक्षा कर सके, उसे शेष शक्ति राज्यो को दे देनी चाहिये।' इसी बात को और अधिक स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त करते हुए सुन्दरैया ने 'राज्यो के लिये पूर्ण स्वायत्तता' की माँग की और कहा कि 'केन्द्र को केवल प्रतिरक्षा और पर-राष्ट्र विषयक मामलो

पर नियन्त्रण रखना चाहिए। नवम्बर 1971 म एक प्रस्ताव क द्वारा मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी व पोलित्ब्यूरो न राज्यो क लिए आत्म निर्णय के अधिकार की भी माग की है।

यहाँ यह उल्लखनीय है कि राज्यो क लिए अधिक स्वायत्तता की माग कवल वामपथी दलो की ही नही है उसम अन्य दल भी शामिल है। 1967 म आ प्र के कांग्रेसी मुख्य मन्त्री ब्रह्मानन्द रेड्डी न कहा था कि केन्द्र और राज्यो क बीच वित्तीय प्रसाधनो का अधिक उचित वितरण होना चाहिए। अकाली नेता सन्त फतहसिंह ने भी राज्यो को अधिक शक्ति दिय जान की माग का समथन किया ताकि राज्यो क प्रशासन म केन्द्र का व्यापक हस्तक्षेप रोका जा सके। यहा तक कि जनसघ न भी राज्यो और केन्द्र के बीच वित्तीय प्रसाधनो के पुनर्वितरण की आवश्यकता का अनुभव किया है।

सघ और राज्यो क बीच तनावो की अभिव्यक्ति कवल शब्दो क द्वारा होकर समाप्त हो गई हो ऐसी बात नहीं है। वस्तुत चौथ चुनाव क बाद उन्ह काय रूप म भी व्यक्त किया गया। उदाहरण के लिए करल क मन्त्रिमण्डल न कन्द्रीय सवाओ म नियुक्त अपन यहा क नागरिको की पूव गतिविधियो क मामल म पुलिस द्वारा जाँच करान क काम म सहयोग करन स इन्कार कर दिया। इसक पश्चात् 19 सितम्बर 1968 को जब कन्द्रीय सरकार क कमचारियो न हडताल की तो करल की सरकार न हडताल का सामना करन के काम म कन्द्र क साथ सहयोग करन स इन्कार कर दिया। यही नहीं इसक कुछ दिन बाद उन सभी व्यक्तियो के खिलाफ चलाय जान वाले मुकदमो को वापिस ल लिया जिन्ह इस हडताल क सिलसिल म गिरफ्तार किया गया था।

उपयुक्त पृष्ठभूमि म तमिलनाडु की सरकार न 1970 म पी वी राजमन्नार की अध्यक्षता म तीन सदस्यो की एक समिति इस उद्दश्य स नियुक्त की कि वह केन्द्र और राज्यो क पारस्परिक सम्बन्धो की जाच करें और वह यह बताय कि भारत म लोकतन्त्र को शक्तिशाली बनान क लिए इन सम्बन्धो म क्या सुधार करन की आवश्यकता है। इस समिति की सिफारिश निम्नलिखित थी—

(1) प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता म समस्त राज्यो क मुख्य मन्त्रियो की एक अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना होनी चाहिए। इस परिषद की स्वीकृति क बिना कोई भी ऐसा विधयक प्रस्तुत नही किया जाना चाहिए जिसस राज्यो क अधिकारो पर आच आती हो।

(2) आधुनिक योजना आयोग को विघटित कर दना चाहिए तथा उसक स्थान पर ऐसे मण्डल की स्थापना की जानी चाहिए जिसम विज्ञान तकनीक कृषि तथा अथशास्त्र क विशेषज्ञ हो। य विशषज्ञ राज्यो को योजना क सम्बन्ध म परामश द। प्रत्येक राज्य म भी इस प्रकार के योजनामण्डल होन चाहिए।

(3) वित्त आयोग एक स्थायी अभिकरण होना चाहिए तथा कन्द्र को राज्यो को पर्याप्त मात्रा म वित्तीय प्रसाधन सौपन चाहिए ताकि राज्य कन्द्र पर अधिक आश्रित न रहे।

(4) सघीय और समवर्ती सूचो म स कुछ विषयो को राज्य सूची म स्थानान्तरित कर दना चाहिए।

(5) राज्यपाल की नियुक्ति राज्य मन्त्रिमण्डल के परामश स होनी चाहिए अथवा इसके लिए एक उच्चस्तरीय समिति की रचना होनी चाहिए तथा जो व्यक्ति एक बार इस पद पर काम कर चुका है उस दुसरी बार किसी अन्य सरकारी पद पर नियुक्त नही किया जाना चाहिए। सविधान म इस आशय का सशोधन किया जाना चाहिए जिसम राज्यपालो क लिए एक प्रकार की आचार सहिता बनायी जा सके। सविधान की 164वी धारा को जिसम लिखा है कि मन्त्री राज्यपाल क प्रसाद काल म काम कर सकत हैं सविधान स निकाल दना चाहिए।

(6) राज्यो क अधिकार क्षेत्र म आन वाल विषयो स सम्बद्ध मुकदमो म राज्य का उच्च न्यायालय सर्वोच्च होना चाहिए। परन्तु वे विवाद जिनका सम्बन्ध सविधान के निवचन क साथ है सर्वोच्च न्यायालय म भेज जा सकत है।

यदि राज्यो ने केन्द्र के विरुद्ध विरोध का झण्डा बुलन्द किया था, तो केन्द्र ने भी अनावश्यक रूप से राज्यो के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप किया था। उदाहरणस्वरूप उसने वगाल और पजाव मे कानून द्वारा स्थापित सरकारो को तोडकर अपनी कठपुतली सरकारो को कायम किया। केन्द्र से शह पाकर इन राज्यो के गवर्नरो ने जो भूमिका अदा की वह निश्चय ही वैसी नही थी जैसी कि राज्य के सावैधानिक अध्यक्ष की होनी चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट है कि सघ और राज्य के वीच तनाव को जन्म देने मे दोनो ने अपना-अपना योगदान दिया था। कुछ क्षेत्रो मे इस तनाव का अन्त करने के लिए यह सुझाव दिया गया है कि देश से सघीय शासन-प्रणाली को समाप्त करके एकात्मक शासन पद्धति को कायम कर देना चाहिए। इस प्रकार के मत को व्यक्त करने वालो मे भारतीय जनसघ प्रमुख है। किन्तु यथार्थ मे यह निराशावादी दृष्टिकोण है और यह सौभाग्य की वात हे कि देश के वहुसख्यक लोगो ने इसे स्वीकार नही किया है। वास्तव मे यह दृष्टिकोण इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि भारत जैसे विशाल एव विभिन्न भाषाओ और विभिन्न सस्कृतियो के देश मे सघवाद का कोई दूसरा विकल्प नही हो सकता। एकात्मक शासन-प्रणाली से क्षेत्रीय भावनाओ का निराकरण नही हो सकता। सच वात तो यह है कि भारत मे राज्यो की स्वायत्तता को मानकर ही राष्ट्रीय एकता को सम्भव वनाया जा सकता हे। साथ ही, राज्यो का भी यह कर्तव्य है कि वे अपनी स्वायत्तता को अतिरजित रूप मे न जताएँ। यथार्थ मे केन्द्र और राज्य दोनो के नेताओ की वुद्धिमत्ता इस वात को देखने मे है कि उनमे से कोई भी अपने-अपने अधिकारो का दावा इस सीमा तक न करे जिससे राष्ट्र की एकता के लिए ही खतरा उत्पन्न हो जाये।

प्रश्न

1. ह्वीअर के मत का परीक्षण कीजिये कि भारतीय सविधान मूलत एकात्मक सविधान है जिसमे सघात्मक तत्त्व गौण रूप से पाये जाते हे।
2. भारतीय सविधान मे केन्द्र और राज्यो के विधायी, प्रशासकीय और वित्तीय सम्बन्धो को निर्धारित करने के लिये क्या व्यवस्था की गई हे ?
3. क्षेत्रीय परिषदो पर एक निवन्ध लिखिए।

10
सांविधानिक संशोधन और उसकी प्रक्रिया
(THE CONSTITUTIONAL AMENDMENT AND ITS PROCESS)

कहा जा चुका है कि संविधाननिर्माताओं ने देश के लिए संघीय संविधान की व्यवस्था की थी। संघीय संविधानों का एक आवश्यक गुण उनकी दुष्परिवर्तनशीलता (rigidity) को माना गया है परन्तु भारतीय संविधाननिर्माताओं का यह आरम्भ से ही मत था कि उनके देश का संविधान संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान की भाँति इतना दुःसाध्य नहीं होना चाहिए। यथार्थ में वे ऐसा संविधान निर्मित करना चाहते थे जिसमें दुःसाध्य (rigid) और सुसाध्य (flexible) दोनों प्रकार के संविधानों का समन्वय हो। ऐसा करने का कारण यह था कि जहाँ यह आवश्यक था कि संविधान को राजनीतिक दलों के हाथ में खिलौना बनने से रोका जाय वहाँ यह भी अपेक्षित था कि उसके विकास को अवरोधित न किया जाय। इस सम्बन्ध में संविधान सभा में नेहरू जी के भाषण का यह अंश उद्धरणीय है—जहाँ हम चाहते हैं कि यह संविधान इतना ठोस और स्थायी होना चाहिए जितना वह हो सकता है वहाँ हम यह भी समझना चाहिए कि संविधानों में कोई स्थायित्व नहीं होता। उसमें एक मात्रा में लचीलापन भी होना चाहिए। यदि आप सब बातों को कठोर और स्थायी बना देंगे तो आप राष्ट्र की जीवित क्रियाशील एवं अवयवी जनता का विकास रोक देंगे। हम किसी भी स्थिति में इस संविधान को इतना कठोर नहीं बनाना चाहिए कि वह बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको न ढाल सके। वस्तुतः नेहरू जी का यह दृष्टिकोण सांविधानिक सिद्धान्त की आधुनिकतम मान्यताओं से मेल खाता था। उदाहरण के लिए मुलफोर्ड (Mulford) ने लिखा है—संशोधित न होने वाला संविधान समय का सबसे बड़ा अत्याचार है। इसी प्रकार मुनरो (W. B. Munro) ने भी लिखा है—संशोधित न होने वाले संविधान की कल्पना असम्भव है यथार्थ में यह एक अन्तर्विरोध से युक्त शब्दावली है। भारतीय संविधानकार इस तथ्य से भलीभाँति अवगत थे। उनका यह निश्चित मत था कि संविधान की प्रक्रिया ही यथार्थ में संविधान को बदलती हुई परिस्थितियों की चुनौती का सामना करने की क्षमता प्रदान कर सकती है। फलतः संविधान की 368वीं धारा (20वाँ अध्याय) में उन्होंने इस प्रक्रिया का उल्लेख किया है।

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि भारतीय संविधान के इस पहलू पर विद्वानों में मतैक्य का अभाव है। यदि कुछ विद्वानों को उसमें दुःसाध्यता के ही तत्त्व दृष्टिगोचर हुए हैं तो कुछ दूसरे विद्वानों ने उसमें सुसाध्यता का अवलोकन किया है। उदाहरणार्थ आइवर जेनिंग्स (Ivor Jennings) का मत है कि भारतीय संविधान एक दुःसाध्य संविधान है। अपने मत के समर्थन में जेनिंग्स ने दो तर्क प्रस्तुत किये हैं। प्रथम संविधान के संशोधन की विधि साधारण कानून बनाने की विधि की अपेक्षा भिन्न है तथा द्वितीय संविधान का आकार बड़ा बना है जिससे परिणामस्वरूप उसमें संशोधन की गुंजाइश ही बहुत कम रह गई है। परन्तु दूसरी तरफ एलेक्जेन्ड्रोविक्ज (Alexendrowics) जैसे लेखक भी हैं जिनका मत है कि भारतीय संविधान पर दुःसाध्यता का आरोप नहीं लगाया जा सकता। सच बात यह है कि भारतीय संविधान में दुःसाध्यता के दोषों को कम करने का प्रयत्न किया गया है। फलस्वरूप संविधान में ऐसी व्यवस्था भी की गई है कि आपातकाल में बिना किसी संशोधन के संघात्मक राज्य को एकात्मक राज्य में परिवर्तित कर दिया जाय। इस प्रकार की व्यवस्था विश्व के किसी अन्य संघीय संविधान में नहीं है।

सशोधन की प्रक्रिया

सविधान की 368वी धारा मे सशोधन की प्रकिया उल्लिखित है। इसके अनुसार ससद विधेयक के रूप मे सविधान मे सशोधन को प्रस्तावित कर सकती है और यह विधेयक उसके किसी भी सदन मे प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार के विधेयक को पारित करने के लिए सविधान मे विशेष व्यवस्था की गई है। सर्वप्रथम, उसके पारित होने के लिए यह आवश्यक माना गया है कि ससद के दोनो सदन उसे अलग-अलग एक ही रूप मे अपने उपस्थित एव मतदान करने वाले सदस्यो के दो-तिहाई वहुमत से स्वीकार करे तथा इस विधेयक पर मतदान करने वालो की सख्या प्रत्येक सदन मे उसकी कुल सदस्य-सख्या का वहुमत होना चाहिए। इसका अर्थ हुआ कि सशोधन के पारित होने के लिए लोकसभा मे कम से कम 263 सदस्यो तथा राज्य सभा के 119 सदस्यो का समर्थन अत्यन्त आवश्यक है। दूसरे, ससद द्वारा उपर्युक्त विधि से पारित होने के उपरान्त विधेयक को राष्ट्रपति के सन्मुख उसकी स्वीकृति के लिये प्रस्तुत किया जायेगा तथा उसकी कार्यान्विति केवल उसी समय हो सकेगी जवकि उसे राष्ट्रपति भी स्वीकार करले। सामान्यत सशोधन के सम्बन्ध मे इसी प्रकिया को व्यवहार मे लाया जाता है, परन्तु सविधान मे कुछ भागो को सशोधित करने के लिये यह आवश्यक माना गया है कि उसे कम से कम आधे राज्यो के विधान मण्डलो का समर्थन प्राप्त होना चाहिए। जिन साविधानिक व्यवस्थाओ को सशोधित करने के लिए इस प्रकार की प्रक्रिया को आवश्यक वताया गया है, वे निम्नलिखित है—

(1) राष्ट्रपति को चुनने वाला निर्वाचक मण्डल (अनुच्छेद 54)
(2) राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रकिया (अनुच्छेद 55)
(3) सघ एव राज्यो की कार्यपालिका सत्ता का विस्तार (अनुच्छेद 72 व 162)
(4) सघ शासित प्रदेश के उच्च-न्यायालय (241वॉ अनुच्छेद)
(5) सर्वोच्च न्यायालय से सम्वद्ध अध्याय (5वे भाग का चौथा अध्याय)
(6) राज्यो के उच्च-न्यायालय (छठे भाग का 5वॉ अध्याय)
(7) सघ एव राज्यो के वीच विधायी शक्ति वितरण (11वे भाग का पहला अध्याय)
(8) सातवी अनुसूची मे उल्लिखित शक्तियो की सूची,
(9) ससद के दोनो सदनो मे राज्यो का प्रतिनिधित्व, तथा
(10) 368वॉ अनुच्छेद।

जिन सशोधनो के लिए राज्यो की स्वीकृति आवश्यक है, उन्हे राष्ट्रपति के सन्मुख उस समय तक प्रस्तुत नही किया जा सकता जव तक कि उन्हे राज्यो के विधानमण्डलो के द्वारा स्वीकार नही कर लिया जाता।

सविधान मे सशोधन के लिए उपर्युक्त प्रक्रिया के साथ ही उसकी कुछ व्यवस्थाये ऐसी भी है जिन्हे सशोधित करने के लिए केवल ससद द्वारा पारित साधारण कानून को ही पर्याप्त माना गया है। ऐसे प्राविधानो मे नये राज्य की रचना, प्रचलित राज्यो का पुनर्गठन तथा राज्यो के द्वितीय सदनो का उन्मूलन आदि शामिल है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारत मे सविधान को सशोधित करने के लिए तीन प्रकार की विधियाँ पाई जाती है। प्रथम, सविधान के ऐसे प्राविधान है जिन्हे सशोधित करने के लिए ससद के वहुसख्यक उपस्थित सदस्यो का दो-तिहाई वहुमत आवश्यक है। द्वितीय, कुछ ऐसे प्राविधान है जिनमे सशोधन करने के लिए ससद के समर्थन के अतिरिक्त आधे से अधिक राज्यो के विधानमण्डलो की स्वीकृति आवश्यक मानी गई है। तृतीय, सविधान की कुछ ऐसी भी व्यवस्थाये है जिन्हे ससद अपने साधारण वहुमत से ही वदल सकती है।

सशोधन की प्रक्रिया की आलोचना

सविधान मे सशोधन की उपर्युक्त प्रक्रियाओ की देश के विभिन्न क्षेत्रो मे आलोचना की

गई है। इस सम्बन्ध में पहली आपत्ति यह कही जाती है कि हमारे देश में संशोधन के मामले में जनता की इच्छा को जानने का प्रयत्न न करना दोषपूर्ण है तथा उस पर केवल संसद का एकाधिकार स्थापित करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। आलोचकों का यह भी कहना है कि इस सम्बन्ध में जनता को विश्वास में लेना इसलिए और भी अधिक आवश्यक था क्योंकि यहाँ संविधान के निर्माण के समय भी जनता की इच्छा को जानने का प्रयास नहीं किया गया था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संयुक्त राज्य अमरीका, स्विट्जरलैण्ड तथा आस्ट्रेलिया आदि देशों में संशोधन को पारित करने में जनमत-संग्रह की व्यवस्था की गई है। भारत में इस व्यवस्था की अनुपस्थिति को न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः इस आलोचना का औचित्य इसलिए और भी अधिक है क्योंकि हमारे देश में सत्ता मुख्यतः अभी तक एक ही दल के हाथों में रही है जिसी दल ने देश के संविधान की रचना भी की थी। यथार्थ में इस कथन में एक बड़ी मात्रा में सत्य पाया जाता है कि आधुनिक संविधान कांग्रेस दल का संविधान है।

संविधान की इस व्यवस्था पर भी आलोचकों ने आपत्ति व्यक्त की है कि संशोधन के विधेयक को केवल उसी समय कार्यान्वित किया जाय जबकि उसे राष्ट्रपति की भी स्वीकृति प्राप्त हो जाय। यह आलोचना सैद्धान्तिक भी है और राजनीतिक भी। विश्व में सम्भवतः कोई भी देश ऐसा नहीं है जहाँ सांविधानिक शक्तियों को जनता अथवा जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के अतिरिक्त किसी अन्य अभिकरण में निहित किया गया हो। वस्तुतः इस शक्ति का क्रियान्वयन उन्हीं के द्वारा होना चाहिए तथा इसमें किसी अन्य का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। परन्तु भारत में इस सिद्धान्त को पर्याप्त मात्रा में सम्मान प्रदान नहीं किया गया है। राष्ट्रपति अपनी शक्तियाँ संविधान के द्वारा प्राप्त करता है तथा उसे यह शक्ति भी प्राप्त है कि वह संविधान के प्रस्ताव को कानूनी रूप भी प्रदान करे। निस्सन्देह यह व्यवस्था अत्यन्त असाधारण है। राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्रपति संघ सरकार का एक अधिकारी है। यद्यपि उसके निर्वाचन में राज्यों के विधानमण्डलों के सदस्य भी भाग लेते हैं। संविधान में राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक माना गया है कि वह अपने मन्त्रि-परिषद् के परामर्श पर काम करे। यदि राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा स्वीकृत किसी संशोधन के प्रस्ताव को केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर राष्ट्रपति अस्वीकार कर दे तो उस समय संघात्मक व्यवस्था तथा राज्यों की स्वायत्तता के लिए निस्सन्देह एक खतरा पैदा हो जाएगा। इस आपत्ति के विरोध में आयरलैण्ड तथा बर्मा के संविधानों का उल्लेख किया जा सकता है जहाँ इस प्रकार की व्यवस्था पाई जाती है। इन देशों में यह प्रावधान केवल एक औपचारिकता है और इस आधार पर कुछ लोगों ने यह मत व्यक्त किया है कि भारत में भी राष्ट्रपति की इस शक्ति को औपचारिकता ही समझा जाना चाहिए। परन्तु इस दृष्टिकोण के साथ सभी विधिशास्त्री सहमत नहीं हैं।

कतिपय विद्वानों ने इस बात की भी आलोचना की है कि संविधान में कुछ क्षेत्र ऐसे निश्चित कर दिये गये हैं जिनमें संशोधन करने के लिए राज्यों के विधानमण्डलों की स्वीकृति आवश्यक मानी गई है। स्पष्टतः इस व्यवस्था का मूल उद्देश्य संविधान के संघीय स्वरूप को कायम रखना था और इसलिए जिन क्षेत्रों को संसद की एकाधिकारी शक्तियों से मुक्त रखा गया है वे हैं जिनमें राज्यों की अधिकतम रुचि हो सकती है। फलतः इस क्षेत्र में देश की समूची न्यायिक प्रणाली को स्थान दिया गया है क्योंकि न्यायालयों को विधायन की न्यायिक समीक्षा का अधिकार प्राप्त है और इसलिए संसद द्वारा ऐसा कुछ भी नहीं किया जाना चाहिए जिससे राज्यों के लिए कठिनाई अथवा परेशानी पैदा हो। सिद्धान्त रूप में संविधान के इस वर्गीकरण से किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि उसके कुछ भाग बहुत अधिक मौलिक हैं तथा कुछ कम मौलिक। परन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि संविधान के केवल उन्हीं भागों को अधिक मौलिक माना जाना चाहिए जिनका उल्लेख संविधान के दसवें भाग में हुआ है। वस्तुतः संविधान के कुछ अन्य भाग भी हैं जिन्हें कम महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाना चाहिए। उदाहरण के लिए संविधान के

छठे भाग को लिया जा सकता है जिसमे राज्यो की सावैधानिक व्यवस्था का उल्लेख है अथवा तेरहवे भाग को लिया जा सकता है जिसमे अन्तर्राज्यीय के व्यापार सचार आदि का उल्लेख है। इमी प्रकार सविधान के 18वे अध्याय (सकटकालीन व्यवस्थाये) अथवा तीसरे अध्याय (मूल-अधिकार) को भी कम महत्त्वपूर्ण नही माना जा सकता। निम्सन्देह सविधान की इन सभी व्यवस्थाओ मे राज्यो के विधानमण्डलो की स्वाभाविक रुचि है और उनको सशोधित करने का समद का एकाधिकार किसी भी दृष्टि से उचित नही ठहराया जा सकता। अनुभव साक्षी है कि पिछले वर्षो मे सविधान की इन कमियो के कारण केन्द्र और राज्यो के बीच तनाव पैदा हुआ है।

सावैधानिक सशोधन

सविधान का समारम्भ 26 जनवरी 1950 को हुआ था, तबसे लेकर अब तक 24 वर्ष हो चुके ह। इम बीच मे 32 सशोधन पारित हो चुके हे और कुछ ससद के विचाराधीन है। यहाँ इन सशोधनो का सक्षिप्त उल्लेख अप्रासगिक न हागा।

पहला सशोधन 1951 मे पारित हुआ था। इसके द्वारा अनुच्छेद 10, 19 और 61 को सशोधित किया गया था, तथा सविधान मे दो नये अनुच्छेद 31 (अ) और 51 (ब) तथा एक नवीन अनुसूची—नवी अनुसूची जोडी गई थी। इन सशोधनो की आवश्यकता इसलिए हुई थी क्योकि राज्यो के उच्च-न्यायालयो ने तथा सर्वोच्च न्यायालय ने कुछ ऐसे निर्णय दिये थे जो सरकार के दृष्टिकोण से मेल नही खाते थे। इस सशोधन के अनुसार अनुच्छेद 19 मे स्वतन्त्रता के अधिकार के प्रयोग पर राज्य की सुरक्षा, विदेशो से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार के हित मे अथवा न्यायालय के अपमान अथवा अपराध को उकसाने पर प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था की गई। अनुच्छेद 31 (अ) के अनुसार, राज्य का कोई भी ऐसा कानून जो राज्य द्वारा किमी भी जमीदारी अथवा भूमि पर अधिकारो को अर्जित करने वाला हो, इस आधार पर अवैध नही ठहराया जा सकता कि वह इस भाग मे वर्णित अधिकारो का उल्लघन करता है। 31 (ब) मे यह व्यवस्था की गई है कि नवी अनुसूची मे सम्मिलित कानूनो को अवैध नही ठहराया जायेगा। इम अनुसूची मे विभिन्न राज्यो के विधानमण्डलो द्वारा पारित जमीदारी उन्मूलन सम्बन्धी कानूनो का उल्लेख है।

दूसरा सशोधन 1952 मे पारित हुआ। इसके अनुसार अनुच्छेद 81 को सशोधित किया गया। इस अनुच्छेद मे लोकसभा के निर्वाचन की विधि दी गई है। चूकि इस सशोधन का प्रभाव लोकसभा मे राज्यो के प्रतिनिधित्व पर पडता था, अत उसकी पुष्टि राज्यो के द्वारा कराई गई।

तीसरा सशोधन 1954 मे समवर्ती सूची के 33वे स्थान को इस प्रकार किया गया जिससे केन्द्रीय सरकार का ससद द्वारा पारित कानून की स्थिति मे सभी प्रकार के उद्योग-धन्धो, खाद्यान्नो, पशुओ के आहार, कपास और जूट पर नियन्त्रण स्थापित हो सके।

चौथा सशोधन 1955 के द्वारा सम्पत्ति के अधिकार मे कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये। इसके द्वारा अनुच्छेद 31 के खण्ड 6 के स्थान पर यह खण्ड रखा गया है—'कोई भी सम्पत्ति अनिवार्य रूप से सिवाय सार्वजनिक प्रयोजन के लिए अर्जित न की जायेगी और न सिवाय ऐसे कानून द्वारा जो सम्पत्ति के अर्जन के लिए प्रतिकर (Compensation) की व्यवस्था करे और जो या तो प्रतिकर की राशि नियत करे अथवा उन सिद्धान्तो तथा तरीको को स्पष्ट करे जिनके द्वारा प्रतिकर निर्धारित किया जायेगा तथा दिया जायेगा और ऐसे किमी भी कानून के विरुद्ध किमी न्यायालय मे इस आधार पर कोई कार्यवाही न की जा सकेगी कि उसके द्वारा प्रतिकर की व्यवस्था अपर्याप्त है।'

पाँचवा सशोधन भी 1955 मे ही पारित हुआ। उसके अनुसार अनुच्छेद 3 के इस उपबन्ध मे राज्यो की सीमाओ मे परिवर्तन सम्बन्धी कोई भी विधेयक समद के किसी भी सदन मे राष्ट्रपति

की पूर्व सिफारिश के बिना प्रस्तुत न किया जा सकेगा और यदि ऐसे विधेयक का सम्बन्ध स्थापित राज्यों की सीमाओं व नामों से हुआ हो तो राष्ट्रपति को उस पर सम्बद्ध राज्य अथवा राज्यों के विधानमण्डलों के मत को जानना अनिवार्य होगा। यहां यह उल्लेखनीय है कि इस संशोधन के फलस्वरूप ही राज्यों के पुनर्गठन का कार्य निश्चित अवधि के भीतर सम्पन्न हो सका था।

छठां संशोधन 1956 के द्वारा सातवीं सूची के 92 अंश के उपरान्त 92 (अ) जोड़ा गया है जो इस प्रकार है— समाचार-पत्रों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की बिक्री और खरीद पर कर जहाँ कि ऐसी बिक्री और खरीद अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अथवा वाणिज्य के सम्बन्ध में हो। इस संशोधन को ध्यान में रखकर राज्य सूची के अंश 54 में भी अपेक्षित परिवर्तन किया गया है।

सातवां संशोधन भी 1956 में पारित किया गया तथा उसके द्वारा राज्यों के पुनर्गठन के सम्बन्ध में अनेक परिवर्तन किये गये। इन परिवर्तनों को निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है। सर्वप्रथम संविधान की प्रथम अनुसूची में परिवर्तित करके विभिन्न पुनर्गठित राज्यों की सीमाओं का उल्लेख किया गया है तथा संघीय क्षेत्रों की सीमाओं को भी बताया गया है। द्वितीय सम्बद्ध अनुच्छेदों में परिवर्तन करके चौथी अनुसूची में विभिन्न राज्यों के राज्य सभा में प्रतिनिधियों की संख्या में आवश्यक परिवर्तन किये गये हैं। इस पुनर्वितरण के फलस्वरूप अब राज्य सभा की कुल सदस्य संख्या 220 हो गई है। इसी प्रकार लोकसभा की रचना में भी आवश्यक परिवर्तन किये गये हैं। ऐसे ही परिवर्तन विभिन्न राज्यों की विधान सभाओं की सदस्य संख्या उनके उच्च न्यायालय के संगठन तथा अधिकार क्षेत्र आदि के सम्बन्ध में हुए हैं। भाग ग के राज्यों के स्थान पर संघीय क्षेत्रों के प्रशासन सम्बन्धी अनुच्छेदों 229 एवं 240 में आवश्यक परिवर्तन किये गये हैं। इस संशोधन के द्वारा अनुच्छेद 258 के बाद अनुच्छेद 258 (अ) जोड़ा गया है जो इस प्रकार है— संविधान में अन्य व्यवस्था के रहते हुए किसी राज्य का गवर्नर भारत सरकार की सहमति से भारत सरकार अथवा उसके अधिकारियों को शर्त सहित अथवा रहित किसी भी ऐसे मामले में कार्य सौंप सकता है जो कि राज्य की कार्यपालिका शक्ति के क्षेत्र में आता हो। इस संशोधन के फलस्वरूप राज्य प्रमुखों की व्यवस्था को सदैव के लिए अन्त कर दिया गया।

आठवां संशोधन 1959 में पारित हुआ। इसके द्वारा अनुच्छेद 534 को संशोधित किया गया है। जिसके फलस्वरूप अनुसूचित जातियों व जनजातियों एवं आंग्ल भारतीयों के लिए आरक्षित स्थानों की व्यवस्था आगामी दस वर्षों के लिए बढ़ा दी गई।

नवां संशोधन 1960 के अनुसार संविधान की प्रथम अनुसूची में इसलिए परिवर्तन किया गया जिससे 1958 में भारत व पाकिस्तान की सरकारों के बीच जो समझौता हुआ था उसके अनुसार भारत के कुछ क्षेत्रों को सुगमतापूर्वक पाकिस्तान को हस्तान्तरित किया जा सके।

दसवां संशोधन 1961 में दादरा और नागर हवेली को पुर्तगाली आधिपत्य से मुक्त कराने की पृष्ठभूमि में पारित किया गया। इसके अनुसार इन क्षेत्रों का भारत के साथ एकीकरण किया गया और उसका प्रशासन राष्ट्रपति द्वारा बनाये गये विनियमों के अधीन रखा गया।

ग्यारहवां संशोधन 1961 के अनुसार उप राष्ट्रपति के चुनाव के लिए निर्वाचन मण्डल के निर्माण हेतु संसद के दोनों सदनों की बैठक की आवश्यकता नहीं रही। इसी संशोधन के द्वारा अनुच्छेद 61 में यह परिवर्तन हुआ है कि राष्ट्रपति और उप राष्ट्रपति के चुनाव को इस आधार पर चुनौती न दी जायगी कि निर्वाचन में चुनाव के समय कोई स्थान रिक्त था।

बारहवां संशोधन 1961 के द्वारा गोआ दामन और डयू को भारतीय संघ में एक इकाई के रूप में स्थान दिया गया और उन्हें सातवां संघीय क्षेत्र बनाया गया।

तेरहवां संशोधन 1962 के द्वारा नागालैण्ड (सोलहवां राज्य) की रचना हुई और उसने नागाओं के लिए कुछ विशिष्ट रक्षण की व्यवस्था की। इस संशोधन के द्वारा नागालैण्ड के गवर्नर को भी कुछ विशेष उत्तरदायित्व सौंप गये हैं।

चौदहवाँ सशोधन 1962 के द्वारा हिमाचल प्रदेश, मणीपुर, त्रिपुरा, गोआ, डामन ओर ड्यू तथा पाण्डिचेरी मे 'ग भाग के राज्यो के अनुरूप विधानमण्डलो तथा मन्त्रि-परिषदो की व्यवस्था की गई तथा इसके अतिरिक्त इन क्षेत्रो से लोकसभा के लिए निर्वाचित होने वाले सदस्यो की सख्या 20 से बढाकर 25 कर दी गई।

पन्द्रहवाँ सशोधन 1963 के द्वारा राज्यो के उच्च-न्यायालयो के न्यायाधीशो की सेवा-निवृत आयु 60 से बढाकर 62 कर दी गई। इसके द्वारा यह व्यवस्था की गई कि सरकारी सेवाओ मे काम करने वाले कर्मचारियो के विरुद्ध विभागीय कार्यवाही के लिए केवल एक ही वार जाँच की जायेगी।

सोलहवाँ सशोधन 1963 के अन्तर्गत राज्य सरकारो को यह शक्ति प्रदान की गई, जिसमे कि वे ऐसी सभी कार्यवाहियो पर प्रतिबन्ध लगा सके जिनका उद्देश्य देश की एकता को खण्डित करना हो तथा वे राजनीतिक दलो द्वारा भारतीय सघ से पृथक् होने को चुनाव का प्रश्न बनाने की भी मनाही कर सकती है। इस सशोधन के द्वारा 19वे अनुच्छेद मे भी इस आशय का परिवर्तन किया गया है जिससे पृथकतावादी प्रचार पर प्रतिबन्ध लगाया जा सके।

सत्रहवाँ सशोधन 1964 मे पारित किया गया, इसके द्वारा अनुच्छेद 31 (अ) मे सम्पत्ति (estate) शब्द को और अधिक व्यापक बना दिया गया तथा नवी अनुसूची मे विभिन्न राज्यो द्वारा पारित भूमि सुधार कानूनो को स्थान दे दिया गया है।

अठारहवाँ सशोधन 1966 मे पारित हुआ, और उसके अनुसार पजाब और हरियाणा के दो राज्यो की तथा चण्डीगढ के सघीय क्षेत्र की रचना की व्यवस्था की गई है।

उन्नीसवाँ सशोधन 1966 मे पारित हुआ। उसके अनुसार अनुच्छेद 324 (1) मे से इन शब्दो को निकाल दिया गया—'ससद अथवा राज्य विधान मण्डलो के निर्वाचनो के अथवा उनसे सम्बद्ध सन्देहो एव विवादो के निर्णय के लिए निर्वाचन अधिकरणो (Election Tribunals) की नियुक्ति समेत।' इसके पारित होने के उपरान्त चुनाव याचिकाओ की सुनवाई सीधे उच्च-न्यायालयो मे होगी तथा याचिकादाताओ को सर्वोच्च न्यायालय मे अपील करने का अधिकार होगा।

बीसवे सशोधन 1966 ने उन न्यायिक पदाधिकारियो की, जिनकी नियुक्ति सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रभावित घोषित कर दी गई थी, नियुक्तियो, तैनातियो, तबादलो और उनके द्वारा दिये गये निर्णयो, आज्ञप्तियो, सज्ञाओ एव अन्य आदेशो को वैध कर दिया।

इक्कीसवाँ सशोधन 1966 के द्वारा सिन्धी भाषा को भी सविधान की आठवी अनुसूची मे सम्मिलित कर लिया गया है।

बाइसवाँ सशोधन 1966 ने निर्वाचन सम्बन्धी कानूनो मे परिवर्तन किये जैसे निर्वाचन अधिकरणो का अन्त।

तेईसवाँ सशोधन 1969 मे पारित हुआ जिसके द्वारा अनुसूचित जातियो एव जनजातियो के लिये लोकसभा तथा राज्यो की विधान सभाओ मे आरक्षण तथा लोकसभा व राज्यो की विधान सभाओ मे नामजदगी द्वारा आँग्ल-भारतीय समुदाय के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था को 10 वर्ष आगे 1980 तक के लिये बढा दिया गया। इस सशोधन मे इस प्रकार के आरक्षण की व्यवस्था नागालेण्ड राज्य के लिये नही की गई है। साथ ही मे इसके प्राविधान के अनुसार किसी भी राज्य मे आँग्ल-भारतीय समुदाय के एक से अधिक प्रतिनिधि को मनोनीत नही किया जायेगा।

सविधान मे 24वाँ सशोधन 1970 मे प्रस्तुत किया गया, परन्तु वह पारित नही हो सका। इसका सम्बन्ध पुराने नरेशो के विशेषाधिकारो तथा उनके प्रिवी पर्सो (Privy Purses) के उन्मूलन करने के साथ था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 1969 मे काग्रेस दल मे फूट पड चुकी थी तथा काग्रेस का वह भाग जो सिण्डीकेट के नाम से जाना जाता था इस सावैधानिक सशोधन के विरुद्ध था। यह बताने की आवश्यकता नही कि देश के अन्य सभी दक्षिणपन्थी दल इस सशोधन के विरोध मे थे। फलत वह राज्य सभा मे अपेक्षित दो-तिहाई बहुमत को प्राप्त

करने म असमर्थ था। यहाँ उल्लेखनीय बात यह भी है कि 1967 म गोलकनाथ के मुकदमे म सर्वोच्च न्यायालय ने जो निर्णय दिया था उसके अनुसार संसद को संविधान के तीसरे अध्याय को संशोधित करने की शक्ति से वंचित कर दिया गया था। फलत इन्दिरा गांधी की सरकार अपने समाजवादी कार्यक्रम को पूरा करने म अपने आप को असमर्थ पा रही थी। इसलिए उन्होंने राष्ट्रपति को लोकसभा को भंग करने तथा नये चुनाव करवाने का परामर्श दिया। ये चुनाव फरवरी 1971 में हुए। अपने चुनाव घोषणा-पत्र म इन्दिरा गांधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस ने यह कहा कि वह अपने कार्यक्रम को लागू करने के लिए संविधान म आवश्यक संशोधन करेगी। चुनाव म कांग्रेस को 518 के सदन म 350 स्थानों पर सफलता प्राप्त हुई। निस्सन्देह कांग्रेस की यह सफलता इस बात की अभिव्यक्ति थी कि देश की जनता सर्वोच्च न्यायालय के विरुद्ध निर्णयों से संतुष्ट नहीं थी। इस पृष्ठभूमि म 24वें और 25वें संशोधन को पारित किया गया।

चौबीसवाँ संशोधन विधेयक जुलाई 1971 म प्रस्तुत किया गया और अगस्त 1971 म यह संसद के दोनों सदनों के द्वारा आवश्यक बहुमत से पारित कर दिया गया। इसके अनुसार संसद को तीसरे अध्याय समेत समूचे संविधान को संशोधित करने की शक्ति प्रदान की गई। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये संविधान की 368वीं धारा म आवश्यक परिवर्तन किये गये हैं। इस संशोधन के द्वारा 368वें अनुच्छेद के शीर्षक म परिवर्तन किया गया है। पहले मूल शीर्षक था संविधान का संशोधित करने की प्रक्रिया, अब उसके स्थान पर जो शीर्षक प्रयुक्त किया गया है वह यह है—संविधान को तथा उसकी प्रक्रिया को संशोधित करने की संसद की शक्ति।

इस संशोधन के द्वारा 13वीं धारा म भी आवश्यक परिवर्तन किये गये हैं। 13वीं धारा म संसद अथवा राज्यों के विधानमण्डलों को संविधान के तीसरे अध्याय के प्रतिकूल कानून न बनाने का निर्देश दिया गया था। इस संशोधन म यह व्यवस्था की गई है कि संशोधित 368वीं धारा के अन्तर्गत निर्मित संशोधन को 13वीं धारा के प्रतिकूल नहीं ठहराया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त इस संशोधन के द्वारा 368वें अनुच्छेद म एक दूसरा उपबन्ध जोड़ा गया जिसके अनुसार यह व्यवस्था की गई कि संसद संविधान के किसी भी भाग को इस अनुच्छेद म उल्लिखित प्रक्रिया के अन्तर्गत परिवर्तित कर सकती है अथवा उसे समाप्त कर सकता है। इस संशोधन म यह भी व्यवस्था की गई कि जब कोई विधेयक संसद के दोनों सदनों के द्वारा पारित होने के उपरान्त राष्ट्रपति के समक्ष स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाय तो वह उसे स्वीकृति प्रदान करने के लिए बाध्य होगा।

पच्चीसवाँ संशोधन भी 1971 म पारित हुआ। उसके अनुसार अनुच्छेद 31 (2) म प्रयुक्त मुआवजा शब्द हटा दिया गया तथा उसके स्थान पर राशि (amount) शब्द प्रयोग किया गया है। उसम यह भी व्यवस्था की गई है कि यदि राज्य किसी सार्वजनिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किसी सम्पत्ति को अपने अधिकार म लेना चाहे तो अनुच्छेद 19 (1) (F) म सन्निहित प्रावधान राज्य को ऐसा करने म रोक नहीं सकेंगे। इसके अतिरिक्त इस संशोधन के द्वारा संविधान म एक नए अनुच्छेद 31 (C) को जोड़ा गया है जिसके अनुसार यदि कोई कानून 39 (B) और (C) म निहित नीति निर्देशक सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए बनाया जाए और उसम इस आशय की घोषणा कर दी गई हो तो उस कानून को इस आधार पर अवैध घोषित नहीं किया जा सकता कि उसके द्वारा संविधान की 14, 19 और 31 धाराओं का उल्लंघन होता है। यदि इस प्रकार का कानून राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा बनाया गया है तो उसकी कार्यान्विति केवल उस समय हो सकेगी जबकि उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो जाय।

छब्बीसवाँ संशोधन 1971 के द्वारा भूतपूर्व नरेशों के प्रिवी पर्सों को समाप्त किया गया है।

सत्ताइसवें संशोधन के द्वारा देश के पूर्वी सामान्त राज्यों को पुनर्गठित किया गया है। इस प्रकार मणिपुर, त्रिपुरा, मेघालय और अरुणाचल के नये राज्यों की रचना हुई है तथा मिजोरम को एक नया केन्द्र शासित प्रदेश कायम किया गया है।

अठाइसवे मशोधन 1971 के द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत राष्ट्रपति आपातकालीन घोषणा सम्पूर्ण देश मे न करके देश के किसी एक भाग मे कर सकता है।

उनतीसवे मशोधन 1972 के द्वारा अनुच्छेद 31 मे ऐसा प्राविधान किया गया जिसके अन्तर्गत कृषि भूमि सुधार कानूनो के अन्तर्गत जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित करके सम्बन्धी राज्य सरकारो के कानूनो के अन्तर्गत निर्धारित सीमा से अधिक कृषि-भूमि का अधिग्रहण किये जाने की स्थिति मे प्रतिकर के रूप मे उसकी धनराशि को बाजार भाव पर न देने की व्यवस्था थी। परन्तु केरल भूमि सुधार अधिनियम पर सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के उपरान्त इसे वापिस ले लिया गया।

तीसवाँ सशोधन 1972 का उद्देश्य सर्वोच्च न्यायालय के दीवानी विवादो की अपील सुनने के कार्यभार को हल्का करना था। इसमें यह व्यवस्था है कि उच्च न्यायालयो द्वारा निर्धारित धनराशि (बीस हजार रुपये) से अधिक वाले विवादो मे निर्णय दे दिये जाने पर उनके सम्बन्ध मे सर्वोच्च न्यायालय मे अपील का आधार केवल निर्धारित धनराशि मे अधिक का विवाद होना ही नही होगा, अपितु अपील तभी की जा सकेगी जबकि उच्च-न्यायालय यह प्रमाण-पत्र दे कि विवाद सर्वोच्च न्यायालय मे अपील योग्य है अथवा उसमे सविधान का निर्वचन अन्तर्ग्रस्त है इसलिए अपील की जा सकती है।

इकतीसवाँ सशोधन भी 1972 मे पारित हुआ। इसके अनुसार अनुच्छेद 314 को निरस्त करके स्वतन्त्रता से पूर्व चले आये भारतीय सिविल सेवा के अधिकारियो को प्राप्त विशेष अधिकारो तथा सेवा शर्तों के सरक्षणो को समाप्त कर दिया गया।

बतीसवाँ सशोधन 1973 मे पारित हुआ। इसके अनुसार लोकसभा की सदस्य-सख्या 525 मे बढाकर 545 कर दी गई, इनमे 525 सदस्य राज्यो से चुनकर आयेगे तथा सघीय क्षेत्रो से 20। इसमे यह भी व्यवस्था की गई है कि परिसीमन आयोग (Delimitation Commission) द्वारा सीटो मे किये गये हेर-फेर के फलस्वरूप राज्यो को जो अभी तक सीटे प्राप्त है उनमे कोई कमी नही आयेगी। इसमे यह भी व्यवस्था की गई है कि उसके प्राविधान नागालैण्ड, मेघालय, अरुणाचल तथा मिजोरम पर लागू नही होगे।

तैंतीसवाँ सशोधन विधेयक तथा 34वाँ सशोधन विधेयक ससद मे प्रस्तुत किये जा चुके हैं। तैंतीसवे सशोधन विधेयक का उद्देश्य विधानमण्डलो मे सदस्यो द्वारा दल-बदल को नियन्त्रित करना है।

चौंतीसवाँ सशोधन विधेयक का उददेश्य बलपूर्वक विधानमण्डलो के सदस्यो से त्याग-पत्र लेने को अप्रभावी बनाना है।

प्रश्न

1. भारतीय सविधान मे उल्लिखित सशोधन की प्रक्रिया की आलोचनात्मक विवेचना कीजिये।
2. चौबीसवें और पच्चीसवें सशोधन पर एक निबन्ध लिखिये।

11
मताधिकार एव निर्वाचन
(FRANCHISF AND ELECTION)

1 मताधिकार

ससार क सभी देगा म लोकतात्रिक व्यवस्था क परिचालन क लिए व्यापक वालिग मताधिकार गुप्त मतदान तथा स्वतन्त्र एव निष्पक्ष चुनाव की पद्धति को आवश्यक माना गया है। इस दृष्टि स भारत ससार का निस्सन्देह सबस बडा लोकतन्त्र है। सविधान की व्यवस्था है कि प्रत्यक भारतवासी चाहे वह स्त्री हो या पुरुष यदि उसकी आयु 21 या उसस अधिक है तो वह मतदान म भाग ल सकता है कवल उन लोगा को मताधिकार नहा दिया गया है जिन्होने किसी निर्वाचन क्षेत्र म निश्चित अवधि तक निवास न किया हो अथवा जिनका दिमाग खराब हो अथवा जो किसी भ्रष्ट अथवा गर कानूनी कार्यों क सम्बन्ध म किसी न्यायालय के द्वारा दण्डित हो चुक हो। ब्रिटिश शासन काल म मताधिकार क ऊपर अनक प्रतिबन्ध थे। सविधान न एक ही बार म इन सभी प्रतिबन्धा का अन्त कर दिया है। सविधान का यह कदम कितना क्रातिकारी था इसका अनुमान इस बात स लगाया जा सकता है कि 1935 के सविधान क अन्तगत कवल 3 करोड 50 लाख भारतीया का मताधिकार प्राप्त था आज इनकी सख्या 25 करोड पर पहुँच गई है। इस प्रकार दश क लगभग 50 प्रतिशत नागरिका को मताधिकार प्राप्त है। यदि हम यह बात ध्यान म रख कि भारत क अधिकाश निर्वाचक निरक्षर हैं तथा उन्ह लोकतान्त्रिक प्रक्रियाओ का कोई अनुभव नहा है तो हम इस निष्कष पर पहुँचेंगे कि दश के प्रत्यक वालिग को मताधिकार प्रदान करन का निश्चय एक क्रातिकारी कदम था। प्रथम आम चुनाव के बाद चुनाव आयोग न अपन प्रतिवदन म सविधान सभा म कहा था कि यह निश्चय भारत के साधारण व्यक्ति म तथा उनकी व्यावहारिक बुद्धि म विश्वास का परिचायक है।

जिस समय मताधिकार का प्रश्न सविधान सभा के समक्ष प्रस्तुत था उस समय कुछ लोगा ने यह आशका व्यक्त की था कि भारत म यह परीक्षण खतरनाक सिद्ध होगा। उनका कहना था कि राजनीतिक नता लोगा के अज्ञान का लाभ उठायगे और इस प्रकार देश म अधिनायकतन्त्र क लिए माग प्रशस्त होगा। कुछ अन्य लोगा का कहना था कि इतने व्यापक मताधिकार का व्यावहारिक रूप दन म अनक कठिनाइया प्रस्तुत होगी। परन्तु सविधान सभा ने इन आपत्तिया का अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार क लोगा को उत्तर देत हुए सविधान सभा क अध्यक्ष डा राजन्द्र प्रसाद न कहा था—मैं इसस भयभीत नहा होता। मैं गाव क लोगा को जानता हू जो इस व्यापक निर्वाचन मण्डल के बहुमत की रचना करते हैं। मरी राय म हमारे लोगो के पास विवेक एव सामान्य बुद्धि है। उनक पास सस्कृति भी है जिसे मिथ्या सभ्यता म विश्वास करने वाले शायद समझ न सक परन्तु जो ठोस है। उनम वह क्षमता भी है जिसस व अपने तथा देश के हितो म यदि व उनको समझा दिये जायें रुचि ल सकते हैं।

प्रश्न है कि क्या सविधानकारो न भारत के निर्वाचका म जिस विश्वास को व्यक्त किया था वह पिछले चुनावो क अनुभव से सही प्रमाणित हुआ है? इस प्रश्न का उत्तर प्राय दो प्रकार से दिया जाता है। पहला उत्तर मुख्य चुनाव आयुक्त श्री वर्मा ने 1969 म एक भाषण म दिया था। उन्होंने कहा था—जसा मेरा अनुभव रहा है मतदाता को धन का प्रलोभन दिया

जा सकता है, वह किसी प्रत्याशी के वाहनो मे लाया और ले जाया जा सकता है, परन्तु इन सुविधाओ को प्रयोग मे लाने के बाद भी उसे उस प्रत्याशी के पक्ष मे मतदान करने मे सकोच नही होगा जिसे वह अच्छा समझता है।' दूसरा मत एम० सी० छागला का है, उन्होने भी एक भाषण मे अपने अनुभव के ही आधार पर यह कहा था कि बालिग मताधिकार एक ऐसी नेकी है जिसका महत्त्व अतिरजित करके बताया गया है। उन्होने कहा कि उससे देश मे 'सम्प्रदायवाद एव बिरादरीवाद की जडे मजबूत हुई है। ऐसे औसत विधायको का उदय हुआ है जिनमे सत्ता के लिए भूख है तथा जिन्हे केवल निजी स्वार्थो को पूरा करने की लालसा है।' वस्तुत उपर्युक्त दोनो उत्तर सही है। यदि यहाँ के निर्वाचको ने सम्प्रदायवाद एव बिरादरीवाद के दृष्टिकोणो से प्रेरित होकर मतदान किया है तो उन्होने देश के सन्मुख प्रस्तुत राजनीतिक एव आर्थिक समस्याओ को समझने का भी प्रयास किया है और उन्होने उस राजनीतिक दल को अपना मत दिया है जो उनके मतानुसार उन समस्याओ का सन्तोपजनक उत्तर दे सकता था।

व्यापक मताधिकार के साथ, हमारे सविधान ने 'एक व्यक्ति, एक वोट' के सिद्धान्त को भी मान्यता प्रदान की है। सविधान समान निर्वाचन-क्षेत्रो की भी व्यवस्था करता है, वास्तव मे सविधान के इस प्राविधान को 'एक व्यक्ति, एक वोट' के सिद्धान्त का पूरक ही माना जाता चाहिए। सविधान ने साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रो का अन्त करके उस आधार को नष्ट करने की तरफ एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया हे, जिसने भारतीय राष्ट्रवाद मे पृथकता के तत्त्वो को पनपाया था। इसका आशय यह कदापि नही है कि हमारे यहाँ अल्पसख्यको अथवा पिछडे हुए लोगो के प्रतिनिधित्व की कोई व्यवस्था नही है। सविधान मे पिछडी तथा परिगणित जातियो के लिए आम प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रो मे स्थान सुरक्षित रखे गये है परन्तु सविधान की यह व्यवस्था अल्पकालिक है। सविधान के 331वे अनुच्छेद मे राष्ट्रपति तथा राज्यो के राज्यपालो को ऐंग्लो-इडियनो को लोकसभा तथा राज्य विधानसभा मे मनोनीत करने का अधिकार प्रदान किया है। सविधान की यह व्यवस्था भी स्थायी नही है।

2 निर्वाचन

लोकतन्त्र के सफल परिचालन के लिए यह आवश्यक हे कि राज्य मे स्वतन्त्र एव निष्पक्ष चुनावो की व्यवस्था की जाय। अत चुनाव के मामले मे कोई भी अनुचित रूप से दबाव न डाल सके इसे सम्भव बनाने के लिए सविधान मे एक स्वतन्त्र अभिकरण की व्यवस्था की गई है जिसे चुनाव आयोग का नाम दिया गया है। इस आयोग को ससद, राज्यो के विधानमण्डलो, राष्ट्रपति एव उप-राष्ट्रपति के चुनावो के अधीक्षण, निदेशन व नियन्त्रण, निर्वाचित सूचियो को तैयार कराने और निर्वाचन सम्बन्धी विवादो के निर्णय कराने आदि के उत्तरदायित्व सौपे गये है। चुनाव आयोग को परामर्शदात्री कार्य भी सौपे गये हे। सविधान के 103वे अनुच्छेद के अनुसार आयोग राष्ट्रपति तथा राज्यपाल को क्रमश ससद एव राज्य विधानमण्डलो की निर्योग्यताओ से सम्बद्ध किसी भी प्रश्न पर अपना परामर्श देगा।

सविधान ने आयोग को एक स्वतन्त्र अभिकरण के रूप मे स्थापित किया हे। अत उसे कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के नियन्त्रण से मुक्त रखने के लिए सविधान के 324वे अनुच्छेद मे यह व्यवस्था की गयी है कि मुख्य चुनाव आयुक्त को उसके पद से उसी प्रकार हटाया जा सकता ह जैसे कि सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को। परन्तु जबकि न्यायाधीश 64 वर्ष की आयु तक अपने पद पर बने रह सकते ह, मुख्य आयुक्त की नियुक्ति किसी भी सीमित अवधि के लिए की जा सकती ह।

चुनाव आयोग मे एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त है जो उसका अध्यक्ष होता है तथा अन्य आयुक्त हो सकते ह, जिनकी सख्या समय-समय पर राष्ट्रपति द्वारा निश्चित की जायेगी। इन आयुक्तो की नियुक्ति राष्ट्रपति ससद द्वारा विहित नियमो के अधीन करता है। राज्य विधानमण्डलो

के निर्वाचनों में आयोग की सहायता के लिए चुनाव आयोग के परामर्श से राष्ट्रपति प्रादेशिक आयुक्त (Regional Commissioner) भी नियुक्त कर सकता है। इन आयुक्तों की अवधि और सेवा की शर्तें भी राष्ट्रपति नियम बनाकर निर्धारित करता है परन्तु यह आवश्यक है कि वे संसद द्वारा निर्मित कानूनों के अनुसार हों।

देश में चुनावों की व्यवस्था करने के लिए संसद ने दो कानूनों का निर्माण किया है। वे हैं—जन प्रतिनिधित्व कानून 1950 (People s Respresentation Act 1950) और जन प्रतिनिधित्व कानून 1951 (People s Respresentation Act 1951)। इन कानूनों के द्वारा मतदाताओं की योग्यताएं निश्चित की जाती हैं मतदाता सूचियों की रचना की जाती है निर्वाचन क्षेत्रों का निर्धारण होता है संसद तथा राज्य विधानसभाओं की सदस्य संख्या को निर्धारित किया जाता है निर्वाचनों का प्रबन्ध एवं संचालन की प्रशासनिक व्यवस्था का गठन होता है निर्वाचन विवादों का निबटारा तथा उप चुनावों की व्यवस्था की जाती है। पिछले 20 वर्षों में इन कानूनों तथा उनके अन्तर्गत निर्मित नियमों में आवश्यकतानुसार संशोधन किये गये हैं। इन संशोधनों का उद्देश्य चुनावों की विशुद्धता की रक्षा करना है तथा चुनावों में होने वाले भ्रष्टाचार को कम करना है। यदि इस भ्रष्टाचार को रोकने में हमें सफलता नहीं मिलती तो उस स्थिति में हमारे चुनाव एक तमाशा मात्र रह जायेंगे। वस्तुतः चुनावों की विशुद्धता की रक्षा की समस्या ने भारतीय जनतन्त्र के सम्मुख एक प्रश्न चिह्न खड़ा कर दिया है। हमारे यहां न केवल जाली मतदान के उदाहरण पाये जाते हैं परन्तु चुनावों में मतदाताओं को डराने धमकाने तथा बलपूर्वक मतदान करने पर रोक जाने के उदाहरण भी कम नहीं हैं। इन बुराइयों को रोकने के लिए कई उपाय किये गये हैं। उदाहरण के लिए जाली मतदान के अवसर समाप्त करने के लिए कुछ दिन पूर्व प्रतिपत्र (counter foil) सहित मतपत्रों की एक नवीन व्यवस्था का प्रयोग आरम्भ किया गया था। मतदाताओं को बलपूर्वक मतदान करने पर जाने से रोकने की प्रथा को बन्द करने के लिए चलते फिरते वाले मतदान केन्द्रों (mobile polling booths) का आरम्भ किया गया है। संसद अथवा विधानमण्डलों के लिए चुनावों के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की चुनाव याचिका कानून द्वारा निर्धारित ढंग से उपयुक्त अधिकारी को दी जाएगी। यहां यह उल्लेखनीय है कि अभी तक राज्यों के विधानमण्डलों ने निर्वाचनों के सम्बन्ध में कोई कानून नहीं बनाये हैं। अतः देश की चुनाव पद्धति का पूर्ण निर्धारण संसद द्वारा निर्मित कानूनों के द्वारा ही होता है।

निर्वाचन-क्षेत्रों का सीमांकन—चुनावों को निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र रूप से आयोजित करने के लिये यह परमावश्यक है कि निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन न्यायपूर्ण ढंग से किया जाय। इसलिए 327वें अनुच्छेद द्वारा राष्ट्रपति को यह अधिकार प्रदान किया गया कि वह संसद तथा राज्य विधानमण्डलों के निर्वाचनों के लिए कानून के द्वारा निर्वाचन क्षेत्रों के सीमांकन की व्यवस्था करे। पहले आम चुनाव के लिये निर्वाचन-क्षेत्रों का सीमांकन जन प्रतिनिधित्व कानून 1950 के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा जारी किये गये आदेश के द्वारा किया गया था। यह आदेश संसद के अनुमोदन के बाद ही कार्यान्वित हो सकता था। अतः जब उसे संसद के सम्मुख प्रस्तुत किया गया तो उसने उसमें अनेक संशोधन किये। इन संशोधनों के सम्बन्ध में यह शिकायत थी कि संसद द्वारा किये गये संशोधन दलगत दृष्टिकोण से अनुप्राणित थे। 1952 के चुनाव के लिये की गई यह व्यवस्था सन्तोषजनक प्रमाणित नहीं हुई। इसके सम्बन्ध में चुनाव आयोग ने अपने प्रतिवेदन में कहा कि यह प्रक्रिया किसी सन्तोषजनक अथवा सुचारु रूप से नहीं चली। फलतः आयोग ने इस काम के निष्पादन के लिए एक स्वतन्त्र अभिकरण की स्थापना की सिफारिश की। फलतः संसद ने 1952 में सीमांकन आयोग अधिनियम 1952 (Delimitation Commission Act 1952) पारित किया। इस अधिनियम में यह प्राविधान है कि दस वर्ष के उपरान्त प्रत्येक जनगणना के साथ निर्वाचन-क्षेत्रों का सीमांकन किया जाना चाहिए। इस आयोग में तीन सदस्य होते हैं जिनमें दो सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयों के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश होते हैं तथा तीसरा सदस्य मुख्य चुनाव

आयुक्त होता है। इस आयोग की सहायता के लिये प्रत्येक राज्य से दो या सात सहायक सदस्यो का प्राविधान है। ये सहायक सदस्य सम्बद्ध राज्य से लोकसभा के लिये अथवा राज्य विधानमण्डलो के लिये निर्वाचित सदस्यो मे से चुने जाते है। इस प्रकार इस आयोग की रचना मे प्रत्येक राज्य तथा मुख्य राजनीतिक दलो को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है। निर्वाचन-क्षेत्रो के सीमाकन के लिये जिस प्रक्रिया को विहित किया गया है, उसमे इस बात की व्यवस्था है कि जनता के लोग व्यक्तिगत रूप से अथवा सागठनिक रूप से आयोग के प्रस्तावो के सम्बन्ध मे अपनी आपत्तियाँ अथवा सुझाव प्रस्तुत कर सकते हैं। इन आपत्तियो तथा सुझावो पर सार्वजनिक बैठको मे विचार आवश्यक माना गया है। इसके उपरान्त ही आयोग सीमाकन आदेश की घोषणा करता है, जो अन्तिम होता है तथा जिसके विरुद्ध किसी न्यायालय मे अपील नही की जा सकती।

3 निर्वाचनतन्त्र और निर्वाचन प्रक्रिया

चुनाव आयोग का एक महत्त्वपूर्ण काम विभिन्न राजनीतिक दलो को मान्यता प्रदान करना है। प्रथम आम चुनाव के बाद आयोग ने इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए एक कसौटी तैयार की। इसके अनुसार राष्ट्रीय दल के रूप मे केवल उस दल को मान्यता दी जा सकती थी जिसने ससद के चुनाव मे कुल डाले गये मतो के कम से कम 3 प्रतिशत मत प्राप्त किये हो। इसी प्रकार राज्यीय दल के रूप मे उस राजनीतिक दल को मान्यता प्राप्त हो सकती थी जिसको विधानसभा के लिये कुल डाले गये मतो का 3 प्रतिशत मत प्राप्त हुए हो। इस प्रकार उस समय केवल 4 दलो को राष्ट्रीय दल के रूप मे मान्यता प्राप्त हुई। वे दल थे—काग्रेस, कम्युनिस्ट पार्टी, प्रजा समाजवादी पार्टी और भारतीय जनसघ। इनके अतिरिक्त उसने 19 दलो को राज्यीय दलो के रूप मे स्वीकार किया। तीसरे आम चुनाव के लिये चुनाव आयोग ने देश एव राज्यो मे विभिन्न दलो की स्थिति पर पुनर्विचार किया। इस प्रकार आयोग ने आरक्षित चुनाव-चिन्ह प्रदान करने के लिये लोकसभा एव राज्यो की विधानसभाओ के चुनावो मे 16 दलो को मान्यता प्रदान की।

चुनाव आयोग को जो दूसरा काम सौपा गया है वह है राजनीतिक दलो को आरक्षित चुनाव-चिन्ह प्रदान करना। आयोग का यह काम निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण है। यदि चुनाव-चिन्ह के प्रश्न पर दो राजनीतिक दलो के बीच मे कोई विवाद उत्पन्न हो जाये तो उस स्थिति मे आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह निष्पक्ष रूप से न्यायिक ढग से विधान का निबटारा करने का प्रयास करेगा। 1971 के लोकसभा के मध्यावधि चुनावो के अवसर पर सत्तारूढ काग्रेस तथा सगठन काग्रेस के बीच अविभाजित काग्रेस के चुनाव-चिन्ह दो दलो की जोडी पर विवाद उत्पन्न हो गया था। चुनाव आयोग ने अपना निर्णय सत्तारूढ काग्रेस के पक्ष मे दिया तथा अपने निर्णय के समर्थन मे उन्होने बहुमत के नियम को तर्क के रूप मे प्रस्तुत किया। सगठन काग्रेस ने इस निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय मे अपील कर दी। सर्वोच्च न्यायालय ने मुख्य चुनाव आयुक्त के निर्णय की कार्यान्विति को रोक दिया, परन्तु बाद मे जब उसने इस विवाद मे अपना अन्तिम निर्णय दिया तो उसने भी चुनाव आयुक्त के फैसले को दुहराया।

उपर्युक्त कार्यो के अतिरिक्त चुनाव आयोग को कुछ अन्य काम सौपे गये है। वे निम्नलिखित है—(1) राजनीतिक दलो को आकाशवाणी पर चुनाव भाषणो की सुविधाये दिलवाना, (2) राजनीतिक दलो के लिये आचार सहिता को निर्मित करना, (3) प्रत्याशियो द्वारा कुल व्यय की राशि को निर्धारित करना, (4) मतदाताओ को राजनीतिक प्रशिक्षण देना, (5) निर्वाचन याचिकाओ (Election Petitions) आदि के सम्बन्ध मे सरकार को आवश्यक परामर्श देना। इनके अतिरिक्त आयोग से यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह समय-समय पर सरकार को अपने कार्यो के सम्बन्ध मे प्रतिवेदन भेजता रहेगा तथा चुनाव-प्रक्रिया को अधिक सुचारु बनाने के लिये सुझाव देता रहेगा।

निर्वाचन प्रक्रिया का आरम्भ इस सम्बन्ध म राष्ट्रपति द्वारा जारी की गयी अधिसूचना स होता है। यह अधिसूचना जन प्रतिनिधित्व कानून 1951 की 14वा धारा क अन्तगत जारी की जाती है तथा उस वतमान लोकसभा की अवधि की समाप्ति पर ही जारी किया जा सकता ह। विधान सभा क निर्वाचन के लिय इस आशय की अधिसूचना राज्य क राज्यपाल क द्वारा जारी की जाती है। इसक उपरान्त चुनाव आयोग मतदान की तिथियो की घोषणा करता है। इस घोषणा को निर्वाचन प्रक्रिया का दूसरा चरण कहा जा सकता है। इस घोषणा म नामजदगी पत्रो की जाच की तिथि चुनाव सघष स नाम वापिस लेन की तिथि और मतदान की तिथि सभी का उल्लेख होता है। प्रत्याशियो को 1966 के उपरान्त चुनाव अभियान क लिय कवल 20 दिन दिय जात हैं। आयोग का मत है कि यह काल 15 दिन किया जा सकता है।

4 निर्वाचन-पद्धति म सुधारो की समस्या

यद्यपि भारत म चुनावो की पद्धति को यथासम्भव निर्दोष बनान का प्रयास किया गया है तथापि यह नही कहा जा सकता कि हमारे देश म चुनाव की पद्धति के विरुद्ध कोई शिकायत की गजाइश नहा है। वस्तुत पिछले वर्षों म इस सम्बन्ध म ससद तथा उसके बाहर अनेक बार चर्चा की जा चुकी है। चुनाव पद्धति स सम्बद्ध पहला प्रश्न जिसन लोगो का ध्यान आकर्षित किया है मतदान की आयु क साथ जुडा हुआ है। सविधान का प्राविधान है कि प्रत्यक भारतवासी जिसकी आयु 21 वष है मतदान म भाग ल सकता है। इस सम्बन्ध म यह सुझाव दिया गया है कि यह आयु घटाकर 18 वष कर देनी चाहिय। इस सुझाव का कुछ लोगो न विरोध किया है। इन लोगो न अपन विरोध के समथन म मुख्यत दो तक प्रस्तुत किय है। उनका पहला तक यह है कि मतदान की आयु को घटा देन क परिणामस्वरूप मतदाता सूची म लगभग 5 करोड लोगो की वृद्धि हो जायगी फलत चुनाव के व्यय म भी वृद्धि होगी। अत प्रशासन म मितव्ययिता लान के लिय यह आवश्यक है कि इस कदम को न उठाया जाय। इस सम्बन्ध म जो दूसरा तक दिया गया है वह यह है कि 21 वष स कम आयु के लडको और लडकियो म वाछित मानसिक परिपक्वता का अभाव होता है अत यह मताधिकार उनको द दिया गया तो इसके परिणाम दश के लिय भयकर होग।

निर्वाचन स सम्बद्ध एक दूसरा प्रश्न यह है कि क्या मतदान को अनिवाय कर देना चाहिय? भारत के सदभ म यह प्रश्न इसलिय प्रासगिक है क्योकि अभी तक पाच आम चुनाव जो हो चुके है उनम मतदान एसा नही हुआ जिसे सन्तोषजनक कहा जा सके। औसतन अभी तक मतदान का प्रतिशत 45 और 48 क बीच म रहा है। मतदान का यह यून प्रतिशत दो बातो का द्योतक है प्रथम यह कि भारतीय मतदाता को देश म लोकतान्त्रिक प्रणाली म काम करने क ढग से असन्तोष है दूसर भारत म लोकतान्त्रिक चेतना का जन मानस म अपनी जडो को जमान म अभी तक सफलता प्राप्त नही हो सकी है। उपयक्त दोनो स्थितिया लोकतन्त्र की सफलता क लिए शुभ नहा कही जा सकती। अत यह अत्यन्त आवश्यक है कि लोकतान्त्रिक प्रक्रिया का परिचालन इस प्रकार हो जिसस देश के अधिकाधिक निर्वाचक उसम भाग ल सकें। इस पृष्ठभूमि म कुछ दिन पूव मुख्य चुनाव आयुक्त एस पी सन वर्मा ने अनिवाय मतदान का सुझाव दिया था।

यदि चुनावो म जनता खुलकर बडी सख्या म भाग लेने लगे तो उसके कुछ निश्चित एव स्पष्ट लाभ होग। इसक परिणामस्वरूप लोकतन्त्र की जड जनसाधारण की सक्रिय रुचि म गहरी जम जायगी और इससे लोकतान्त्रिक सस्थाओ क प्रति उनकी आस्था फिर स लौटन लगेगी। इसका एक दूसरा नतीजा यह भी होगा कि धूत और स्वार्थी राजनीतिज्ञ देश की राजनीति को उस प्रकार नियन्त्रित नही कर पायेंग जसा कि व आज कर रहे है। यदि प्रत्यक मतदाता मतदान-केन्द्र पर जाने लग तो चुनाव म भ्रष्टाचार की सम्भावना भी स्वत मर्यादित हो जायगी। धनी प्रत्याशी घूस दकर कुछ मतदाताओ के वोट खरीद सकते है। परन्तु वे समूचे निर्वाचको क मत खरीद सकग इसकी कोई सम्भावना नहा है। इस सम्बन्ध म अन्तिम बात यह है कि इसस देश म दल बदल की

रोक-थाम की दिशा मे प्रभावशाली कदम उठाये जा सकेंगे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि लोकतान्त्रिक प्रक्रिया मे अधिकाधिक लोगो की साझेदारी की आवश्यकता से इनकार नही किया जा सकता। प्रश्न है कि क्या इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए मतदाता को मतदान केन्द्र पर आने के लिए विवश किया जा सकता है ?

मुख्य चुनाव आयुक्त ने इस प्रकार की बाध्यता को आरोपित करने को उचित ठहराया है। अपने मत के समर्थन मे उन्होने कुछ ऐसे देशो के नाम गिनाये है जहाँ उन नागरिको को दण्डित किया जाता है जो जान-बूझकर मतदान करने नही जाते। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड मे मताधिकार का प्रयोग न करने वालो को जुर्माना देना होता है। चिली मे ऐसे लोगो को जेल भेजा जा सकता है। इन देशो का हवाला देकर सेन वर्मा ने कहा है कि भारत मे भी मताधिकार के प्रयोग न करने को दण्डनीय अपराध घोषित किया जा सकता है। मुख्य चुनाव आयुक्त ने यह भी कहा है कि ससद को इस प्रकार के कानून को निर्मित करने की शक्ति सविधान के 327वे अनुच्छेद के अन्तर्गत प्राप्त है।

वस्तुत यह सुझाव इस मान्यता पर आधारित है कि मताधिकार केवल अधिकार नही है, वह एक कर्त्तव्य भी है। अत यदि कोई नागरिक अपने कर्त्तव्य का पालन न करे तो उसे इसके लिए बाध्य किया जा सकता है और इससे उसकी स्वतन्त्रता के ऊपर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही पडता। इस तर्क मे निहित सत्य से इनकार नही किया जा सकता। परन्तु इसके साथ ही इस सत्य की उपेक्षा नही की जा सकती कि मतदान को अनिवार्य बना देने से वाछित फल की प्राप्ति नही की जा सकती।

भारतीय निर्वाचन-पद्धति के विरुद्ध एक शिकायत यह भी की गयी है कि उसमे बहुधा उस दल को सरकार बनाने का अवसर मिल जाता है जिसे देश के बहुमत का समर्थन प्राप्त नही है। ऐसा इसलिए सम्भव हो जाता है क्योकि प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र से जिस प्रत्याशी को निर्वाचित घोषित किया जाता है, उसे अन्य प्रत्याशियो की अपेक्षा सबसे अधिक मत मिले होते है, परन्तु यह आवश्यक नही है कि उसके द्वारा प्राप्त मतो की सख्या अन्य पराजित उम्मीदवारो को प्राप्त मतो के योग से अधिक हो। 1952, 1957, 1962 और 1967 के आम चुनावो मे काग्रेस को प्राप्त मत क्रमश 44 99, 47 67, 44 73 और 40 82 थे, परन्तु उसे प्रथम तीन चुनावो मे लगभग 70 प्रतिशत स्थान प्राप्त हुए थे, जबकि चौथे चुनाव मे स्थानो की सख्या घटकर 53 प्रतिशत के लगभग आ गयी थी। 1971 के चुनाव मे भी ऐसा ही हुआ। 1962 के चुनाव मे काग्रेस ने मद्रास राज्य मे लोकसभा के 41 स्थानो के लिए कुल डाले गये वोटो का 45 26 प्रतिशत प्राप्त किया और उसे 30 स्थान मिले, परन्तु 1967 के चुनाव मे उसे केवल तीन स्थान प्राप्त हुए, यद्यपि उसे प्राप्त मतो मे केवल 4 प्रतिशत की कमी हुई।

अत भारतीय निर्वाचन-पद्धति की इस असगति को दूर करने के लिए पिछले वर्षो मे कुछ क्षेत्रो से यह सुझाव आया कि देश मे सानुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को शुरू किया जाना चाहिए। परन्तु यह सुझाव सामान्यत लोगो को मान्य नही है। इसके विरुद्ध मुख्य आपत्ति यह है कि वह विधानमण्डल मे राजनीतिक दलो की बहुलता को जन्म देता है। भारत मे यह बीमारी पहले से ही मौजूद है और यदि इस प्रणाली का सूत्रपात कर दिया गया तो रोग के और अधिक बढने की सम्भावना है। आजकल भी चुनाव आयोग के पास 75 राजनीतिक दलो का पजीकरण हो चुका है। ऐसी स्थिति मे यह बात बुद्धिसगत नही है कि इस पद्धति को देश मे अपनाया जाये।

भारतीय निर्वाचनो के सम्बन्ध मे एक आम शिकायत उसमे होने वाली धाँधली और बेईमानी को लेकर की जाती है। स्वय चुनाव आयोग ने इस शिकायत के औचित्य को स्वीकार किया है। 1951 के जन प्रतिनिधित्व कानून मे निर्वाचन से सम्बद्ध भ्रष्ट आचरण मे निम्न बाते गिनायी गयी थी—घूस, अनुचित दबाव, धर्म, मूलवश, जाति अथवा भाषा के आधार पर किसी प्रत्याशी के पक्ष मे मतदान करने की अपील करना, अथवा किसी प्रत्याशी को वोट न करने की अपील करना, भारत के विभिन्न वर्गो के लोगो के बीच धर्म, सम्प्रदाय, बिरादरी तथा भाषा के

आधार पर तनाव पैदा करना तथा चुनाव म निर्धारित राशि स अधिक धन व्यय करना। इसी कानून म यह व्यवस्था भी की गयी है कि चुनाव याचिका म उसके प्रमाणित हो जान पर निर्वाचित उम्मीदवार का निर्वाचन निरस्त हो जाता है।

भारत म जाति के साथ धम का चोली दामन का साथ रहा है। अत यह स्वाभाविक ही है कि जाति एव धम द्वारा थोप गये पूर्वाग्रहो स ग्रसित भारतीय जनता का धर्म के आधार पर मतदान करन के लिए पदलोलुप प्रत्याशी प्रभावित कर। सभी चुनावो म यह भी एक आम शिकायत रही है कि राजनीतिक दलो न धार्मिक अल्पसंख्यको को नाना प्रकार के प्रलोभन देकर उनके मत प्राप्त करन का प्रयत्न किया है। बहुधा यह भी देखा गया है कि इन अल्पसंख्यको न सामूहिक रीति स अपना मतदान किया है और इसका प्रभाव निर्णायक रूप म निर्वाचनो पर पड़ा है।

उपर्युक्त विवेचना स स्पष्ट है कि भारत की निर्वाचन पद्धति म सुधार की समस्या आज इसलिए प्रस्तुत है क्योंकि भारतीय समाज का सगठन अभी तक उस आधार पर नहीं हो पाया है जिसे लोकतान्त्रिक प्रणाली के विकास के लिए समीचीन कहा जा सके। परन्तु इस सम्बन्ध म अच्छी बात यह है कि भारतीय समाज म गतिशीलता का अभाव नहीं है। वह निरन्तर उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर है। विकास के नये तत्त्वो का प्रभाव समाज के सभी वर्गों पर एक-सा नहीं रहा है। गतिहीनता स गतिशीलता की ओर जाने की प्रक्रिया के समय भारतीय समाज म सन्निहित अनेक अन्तरो की अभिव्यक्ति हुई है। इनम एक पीढ़ी और दूसरी पीढ़ी के बीच के अन्तर स्त्री और पुरुष के अन्तर ग्रामीण एव शहरी क्षेत्रो म निवास करन वालो के अन्तर विशेष रूप स उल्लेखनीय है। फलत तनावो एव सामाजिक सघर्षों का उदय उन क्षेत्रो म भी हुआ है जिन्हे परम्परागत रूप म सन्तुलित क्षेत्र कहा जाता था। पहले प्रत्येक भारतीय की स्थिति समाज म निश्चित थी वस्तुत उसका निर्धारण उसके जन्म के साथ ही हो जाता था। परन्तु अब स्थिति बदल रही है। यह ठीक है कि अभी यह बात पूर्ण रूप स निखर कर हमारे सामन नहीं आयी है किन्तु इस बात स इनकार नहीं किया जा सकता कि परिवर्तन की प्रक्रिया का आरम्भ हो चुका है तथा समय के साथ हमारे चुनावो के साथ जो बहुत सी बुराइयाँ जुड़ी हुई है और जिनका सम्बन्ध हमारे समाज के ढाचे के साथ है उनका स्वत लोप हो जायगा। उनका निराकरण कानून के द्वारा नहीं किया जा सकता।

प्रश्न

1. भारत म स्वतन्त्र निर्वाचनो को सम्भव बनाने के लिए क्या व्यवस्थाए की गई हैं?
2. क्या आपकी राय म भारतीय निर्वाचन पद्धति को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए किन्ही सुधारो की आवश्यकता है? यदि हाँ तो बताइये कि ये सुधार क्या होने चाहिए?

\ 12

राजनीतिक दल
POLITICAL PARTIES)

1 भारत मे दलीय प्रणाली की विशेषताएँ

भारतीय राजनीतिक दलो के अध्ययन के आरम्भ मे प्रस्तावना के रूप मे भारतीय दलीय प्रणाली की विशेपताओ की सक्षिप्त विवेचना समीचीन होगी। बर्क के अनुसार राजनीतिक दल ऐसे लोगो का एक निकाय हे जो किन्ही मान्य सिद्धान्तो के आधार पर राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि चाहते हो। वे नागरिक जो एक समुदाय मे राजनीतिक इकाई के रूप मे काम करने को तैयार हो उन्हे एक राजनीतिक दल का सदस्य माना जा सकता है। अत दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि वह ऐसे लोगो का निकाय है जिनका सार्वजनिक प्रश्नो के प्रति एक सा दृष्टिकोण है तथा जो सामूहिक क्रियाओ के द्वारा सरकार का नियन्त्रण प्राप्त करने के लिये इसलिये प्रयत्न करते हे ताकि उनके दृष्टिकोण के अनुसार ही उन प्रश्नो का समाधान किया जा सके।

भारत मे राजनीतिक दलो का विकास उस तरीके से नही हुआ जैसे पश्चिम के देशो मे हुआ था। यहाँ राजनीतिक दल का उदय किसी कुलीनतान्त्रिक सत्तारूढ वर्ग को अपदस्थ करने के लिये नही हुआ था, अपितु उसका उद्देश्य विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वाधीनता सघर्ष का परिचालन करना था। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि राष्ट्रीय काग्रेस न केवल विदेशी दासता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे सगठित हुई थी बल्कि उसका उद्देश्य भारतीय समाज मे सन्निहित उन तत्त्वो का भी उन्मूलन करना था जो सामाजिक प्रगति के मार्ग मे अवरोध प्रस्तुत करते थे। 1947 मे स्वतन्त्रता के उपरान्त काग्रेस सगठन का विघटन आरम्भ हो गया। वस्तुत औपनिवेशिक शासन के अन्तिम दिनो मे ही कम्युनिस्ट काग्रेस से अलग हो गये थे। 1947 मे अपने कानपुर अधिवेशन के बाद सोशलिस्टो ने भी काग्रेस से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। 1959 मे राजगोपालाचारी और के० एम० मुन्शी के नेतृत्व मे घोर दक्षिणपन्थियो ने भी काग्रेस से अपना नाता तोड लिया। इस प्रकार काग्रेस के विघटन के परिणामस्वरूप देश मे चार राजनीतिक दलो की स्थापना हो गई। परन्तु चूँकि इनमे काग्रेस ही सबसे अधिक सगठित थी इसलिये शासन की बागडोर सामान्यत उसी के हाथ मे रही। स्वतन्त्रता के समय से लेकर 1967 तक देश के राजनीतिक क्षितिज पर काग्रेस इस प्रकार छायी रही कि कुछ लेखको ने भारत को 'एक प्रभुत्वपूर्ण दलीय प्रणाली' (One Dominant Party System) घोषित कर दिया। यद्यपि भारत की दलीय प्रणाली का यह नामकरण सामान्यत सभी क्षेत्रो मे स्वीकार कर लिया गया तथापि 'काग्रेस' के प्रभुत्व की चरम सीमा के समय भी वह केवल आशिक रूप से ही सही था। उससे दलीय प्रणाली मे वास्तविकता से अधिक असन्तुलन के अस्तित्व का आभास होता था। यह सही है कि काग्रेस का लोकसभा मे हमेशा पूर्ण बहुमत रहा, परन्तु इसके साथ मे यह भी सही है कि 1952 से लेकर अब तक जितने भी राष्ट्रीय चुनाव हुए है उनमे किसी मे भी काग्रेस को मतदाताओ के पूर्ण बहुमत का कभी समर्थन प्राप्त नही हुआ। राज्यो के सन्दर्भ मे एक दल के प्रभुत्व की बात और भी अधिक भ्रमोत्पादक है क्योकि जहाँ केरल जैसे राज्य का उदाहरण मौजूद हे जिसमे काग्रेस को कुछ समय तक विरोधी बैंचो पर बैठने के लिए विवश होना पडा था तो वहाँ ऐसे भी अनेक उदाहरण है जिनमे यह प्रमाणित है कि शासक दल ओर विरोधी दलो के बीच बहुत अधिक असन्तुलन नही था।

उपयुक्त विवेचना की पृष्ठभूमि में भारतीय दलीय प्रणाली की विशेषताओं को व्यक्त किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में पहली उल्लेखनीय बात यह है कि भारत में दलीय पद्धति का विकास उस राजनीतिक वेग में हुआ है जिसका अवलोकन स्वतन्त्रता के पूर्व भी किया जा सकता था तथा जिसकी संस्थागत अभिव्यक्ति भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वारा होती थी। दूसरी बात यह है कि स्वतन्त्रता के पूर्व और उसके बाद भी कुछ समय तक राजनीतिक दलों के सदस्यों की सामाजिक पृष्ठभूमि एक सी थी इन लोगों का सम्बन्ध ऊपर की जिरादरियों के अग्रजों पढ़े लिखे वर्ग के साथ होता था। इसी वर्ग में से विरोधी समुदायों का भी उदय हुआ। यथार्थ में स्वतन्त्रता के पूर्व भी कांग्रेस में गुट थे। स्वतन्त्रता के बाद इस गुटबन्दी में वृद्धि ही हुई है। ये गुट ही कालान्तर में विभिन्न राजनीतिक दलों में परिवर्तित हो गये। जैसा कहा जा चुका है देश के विभिन्न दल एक समय कांग्रेस के ही अन्दर किसी न किसी गुट के साथ सम्बद्ध रह चुके हैं। परन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि इन गुटों के विभिन्न राजनीतिक दलों में संगठित होने के बाद कांग्रेस के अन्दर की गुटबन्दी समाप्त हो गई। वास्तव में गुटबन्दी भारत के राजनीतिक दलों की एक विशेषता है। फलतः सत्तारूढ़ दल के असन्तुष्ट गुट तथा विरोधी दलों के असन्तुष्ट गुटों के बीच कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं है। स्पष्टतः इस प्रकार के संगठनों के सदस्यों को अनुशासित करना कोई आसान बात नहीं है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अनुशासनहीनता तथा दल बदल भारतीय राजनीतिक दलों की एक मुख्य विशेषता है। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि हमारे देश में राजनीतिक दलों का संगठन मुख्यतः किसी निश्चित विचारधारा के आधार पर नहीं हुआ इस नियम के केवल दो ही अपवाद हैं—कम्युनिस्ट पार्टी और जनसंघ।

भारतीय राजनीतिक दलों के सम्बन्ध में एक दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि उन पर नेताओं का व्यक्तिगत प्रभाव आवश्यकता से अधिक है। उदाहरण के लिए एक लम्बे समय तक नेहरू जी का व्यक्तित्व कांग्रेस संगठन पर आच्छादित रहा और आज यही बात श्रीमती इन्दिरा गांधी के सम्बन्ध में कही जा सकती है। व्यक्ति पूजा कांग्रेस की कोई अपनी विशेषता नहीं है इसका अवलोकन अन्य राजनीतिक दलों में भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ तमिलनाड में द्रमुक का उदय अन्नादुराई के व्यक्तित्व से पृथक करके नहीं समझा जा सकता। इसी प्रकार पश्चिमी बंगाल और केरल में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी की शक्ति को ज्योति बसु तथा ई० एम० एस० नम्बूदिरीपाद की लोकप्रियता के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है।

भारतीय राजनीतिक दलों के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण उल्लेखनीय बात यह है कि यहाँ वे अपने विरोध को व्यक्त करने के लिए केवल सांविधानिक तरीकों का ही प्रयोग नहीं करते अपितु वे आन्दोलनों का भी मार्ग अपनाते हैं। वस्तुतः यह स्थिति हमें औपनिवेशिक काल में लड़े गये राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन से विरासत के रूप में प्राप्त हुई है।

भारतीय दलों का वर्गीकरण

पिछले दो दशकों में भारत के राजनीतिक दलों में विविधता आयी है और कुछ नये तत्त्वों का उदय हुआ है जिनके प्रभाव से अखिल भारतीय राजनीतिक दल भी अछूते नहीं रह सके हैं। एक बार नेहरू जी ने भारत में राजनीतिक दलों की स्थिति के विषय में कहा था—कांग्रेस के अतिरिक्त भारत में वर्तमान राजनीतिक दलों को चार समूहों में बाँटा जा सकता है कुछ ऐसे राजनीतिक दल हैं जिनके अपने आर्थिक सिद्धान्त हैं। फिर कम्युनिस्ट पार्टी और उसके साथी संगठन हैं। विभिन्न नेताओं को लिए हुए अनेक साम्प्रदायिक दल हैं जो निश्चित रूप से संकीर्ण साम्प्रदायिक विचारधारा का अनुसरण करते हैं और चौथे वर्ग में अनेक स्थायी दल और समूह हैं जिनका प्रभाव प्रान्तीय और संकीर्ण है।

इस वर्गीकरण में स्थिति के सन्दर्भ में थोड़ा-सा संशोधन करने से भारतीय राजनीतिक दलों को इस क्रम में रखा जा सकता है—

(1) **अखिल भारतीय स्तर के दल**—इस श्रेणी के अन्तर्गत वे राष्ट्रीय दल आते है जिनका सगठन समूचे देश के स्तर पर पाया जाता है। इनके अपने सिद्धान्त है, अपना आर्थिक कार्यक्रम है तथा उसे लागू करने की एक व्यवस्थित योजना है। इस प्रकार के दलो मे काग्रेस, कम्युनिस्ट पार्टी, सयुक्त सोशलिस्ट पार्टी और स्वतन्त्र पार्टी का उल्लेख किया जा सकता है।

(2) **क्षेत्रीय अथवा राज्य-स्तरीय दल**—इस श्रेणी के अन्तर्गत उन सभी दलो को सम्मिलित किया जा सकता है जिनका प्रभाव किसी क्षेत्र अथवा राज्य तक ही सीमित है। उदाहरणार्थ तमिलनाडु मे डी० एम० के०, हरियाणा मे विशाल हरियाणा पार्टी, केरल मे केरल काग्रेस और बिहार मे झारखण्ड पार्टी तथा उत्तर प्रदेश मे भारतीय क्रान्ति दल के नाम इस श्रेणी के दलो के सन्दर्भ मे लिये जा सकते है।

भारत जैसे विशाल देश मे क्षेत्रीय दलो का होना स्वाभाविक ही समझा जाना चाहिए। वस्तुत इतने बडे देश मे जहाँ विभिन्न भाषाये और संस्कृतियाँ पायी जाती है, जहाँ भौगोलिक असमानताये जीवन का यथार्थ है, वहाँ यह अनिवार्य है कि क्षेत्रीय समस्याओ का उदय हो। स्पष्टत इन समस्याओ के निराकरण के लिए राजनीतिक दलो की आवश्यकता होती है। क्षेत्रीय दल इसी आवश्यकता को पूरा करते है। 1967 के चुनावो के समय से देश की राजनीति मे इन दलो का महत्त्व विशेष रूप से बढ गया है। इस चुनाव के समय ही देश के विभिन्न राज्यो मे क्षेत्रीय-स्तर के दलो का सगठन हो चुका था। उदाहरण के लिए, बगाल मे बगला काग्रेस, उडीसा मे उत्कल काग्रेस जैसे दल स्थापित हो चुके थे और इन्होने उस चुनाव मे भाग भी लिया था। यह सही है कि बगला काग्रेस का अब काग्रेस मे विलयन हो चुका है तथापि इस सत्य की उपेक्षा नही की जा सकती कि ये सगठन बगाल और उडीसा की विशिष्ट राजनीतिक पृष्ठभूमि मे हुए थे। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि 1967 के बाद इनमे से कुछ का प्रभाव इतना अधिक बढ गया कि अखिल भारतीय स्तर के दलो को इनके साथ समझौता करने के लिए बाध्य होना पडा। 1971 के मध्यावधि चुनाव मे काग्रेस का डी० एम० के० के साथ समझौता इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

(3) **क्षेत्रीय किन्तु जातीय अथवा वर्गीय दल**—कुछ दल ऐसे भी है जो किसी क्षेत्र-विशेष मे ही किसी जाति अथवा वर्ग-विशेष के हितो का प्रतिनिधित्व करते है। इस प्रकार के दलो मे केरल मे मुस्लिम लीग अथवा पजाब मे अकाली दल के नाम लिए जा सकते है। कुछ ऐसे भी दल हो सकते है जिनका गठन किसी क्षेत्र-विशेष मे ही निश्चित लक्ष्यो की प्राप्ति के लिये किया जाता है। इस प्रकार के दलो मे गुजरात मे महागुजरात परिषद, महाराष्ट्र मे सम्पूर्ण महाराष्ट्र समिति, आन्ध्र मे तेलगाना प्रजा समिति के नाम लिये जा सकते है।

(4) **साम्प्रदायिक दल**—इस वर्ग मे उन दलो को सम्मिलित किया जाता है जिनका उद्देश्य किसी सम्प्रदाय विशेष के हितो की रक्षा करना अथवा उन्हे आगे बढाना है। इस प्रकार के दलो मे हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग, रामराज्य परिषद, जनसघ आदि दलो को शामिल किया जा सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सभी साम्प्रदायिक दलो का स्वरूप एक सा नही है। उदाहरण के लिए रामराज्य परिषद् का स्वरूप साम्प्रदायिक होने के साथ-साथ परम्परावादी भी है जबकि जनसघ के स्वरूप मे परम्परावादी, साम्प्रदायिक एव आधुनिक तीनो तत्त्वो का समावेश हुआ है।

(5) **पूर्णतया जातीय दल**—कुछ ऐसे राजनीतिक दल भी है जिनका सगठन केवल किसी जाति विशेष तक सीमित है। इस श्रेणी के दलो मे रिपब्लिकन पार्टी का नाम मुख्य रूप मे लिया जा सकता है।

2 विशिष्ट राजनीतिक दल और उनके कार्यक्रम

उपर्युक्त प्रस्तावना के सन्दर्भ मे हम भारत के राजनीतिक दलो तथा उनके कार्यक्रम की विवेचना कर सकते है। निस्सन्देह भारत का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली दल भारतीय

राष्ट्रीय काग्रेस हैं। इसलिए हम अपने अध्ययन का आरम्भ उसी से करेंगे।

(1) भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस (फूट से पहले और फूट के बाद)

स्वतन्त्रता से पूर्व काग्रेस की गणना राजनीतिक दलों के अन्तर्गत नहीं की जा सकती थी। यथार्थ में उस समय उसका स्वरूप एक राष्ट्रीय आन्दोलन था जिसमें देश के वे सभी लोग शामिल थे जिन्हें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता से प्यार था। उस समय काग्रेस यदि औपनिवेशिक दासता के विरुद्ध संघर्ष के लिए एक व्यापक मोर्चे की रचना कर रही थी तो दूसरी तरफ वह देश के सामाजिक नैतिक एवं आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए भी देशवासियों का आह्वान कर रही थी। फलत जहा उसने विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध छेड़े जाने वाले संघर्ष का रूपरंग निश्चित किया वहा उसने उन नीतियों और कार्यक्रमों की समीक्षा भी की जिनके माध्यम से देश को प्रगति के मार्ग पर आगे ले जाया जा सकता था। 1931 में अपने कराची अधिवेशन में उसने एक घोषणा पत्र पारित किया था जिसमें यह बताया गया है कि स्वराज की रूपरेखा क्या होगी ? द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर जब प्रान्तीय विधान सभाओं के चुनाव हुए तो उस समय काग्रेस ने एक 12 सूत्री कार्यक्रम देश की जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जिसमें से कुछ मुख्य बातें निम्न हैं—(i) भारत के प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार एवं समान अवसर उपलब्ध कराना (ii) सामाजिक अत्याचार एवं अन्याय से पीड़ित व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करना (iii) गरीबी के अभिशाप को दूर करना तथा जनता के जीवन-स्तर को ऊपर उठाना (iv) उद्योगों एवं कृषि का आधुनिकीकरण करना तथा (v) धन के सभी साधनों तथा उत्पादन एवं वितरण के सभी तरीकों पर सामाजिक नियन्त्रण स्थापित करना।

काग्रेस का संगठन—जब देश स्वतन्त्रता संघर्ष में से होकर गुजर रहा था तब गाधी जी तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्य नेताओं ने काग्रेस की एकता को कायम रखने के लिए भरसक प्रयत्न किया था यद्यपि उनके इस प्रयत्न के परिणामस्वरूप काग्रेस का स्वरूप एक छतरी संगठन (Umbrella organization) का रहा वह एक शुद्ध राजनीतिक दल का रूप कभी धारण नहीं कर सका। परन्तु स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त गाधी जी ने यह मत व्यक्त किया था कि काग्रेस को राजनीतिक दल के रूप में काम नहीं करना चाहिए। उनका सुझाव था कि काग्रेस को विघटित करके उसे लोक सेवक संघ के रूप में दूसरे प्रकार से संगठित किया जाना चाहिए तथा संसदीय क्षेत्र ऐसे नये संगठनों के लिए छोड़ देना चाहिए जिन्हें स्पष्ट राजनीतिक एवं आर्थिक कार्यक्रम के आधार पर संगठित किया गया हो।

गाधी जी का यह सुझाव कार्यान्वित नहीं हो सका क्योंकि काग्रेस के नेता सत्ता प्राप्त करने के उपरान्त उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। परन्तु एक दृष्टि से उनका ऐसा करना भारतीय लोकतन्त्र के लिए शुभ रहा उसने उसे स्थायित्व प्रदान किया। काग्रेस का संगठन समूचे देश में व्याप्त था यहा तक कि उसकी शाखाए प्रत्येक गाव में पाई जाती थी। अत जब अंग्रेजों के जाने के बाद काग्रेस के नेताओं के हाथों में सत्ता हस्तान्तरित हुई तो वे अपने संगठन के बलबूते पर भारत में लोकतान्त्रिक व्यवस्था को कायम रखने में समर्थ हो सके। फलत लोकतन्त्र को भारत में वे दुर्दिन नहीं देखने पड़े जो उसे पाकिस्तान अथवा बर्मा में देखने पड़े थे।

स्वतन्त्रता के पश्चात् काग्रेस ने अपने दलीय संविधान में अनेक बार परिवर्तन किये हैं उसे ऐसा करने के लिए इसलिए विवश होना पड़ा है ताकि वह अपने संगठनात्मक ढाचे को अपने नूतन लक्ष्यों एवं उद्देश्यों के अनुकूल बना सके। 1947 में देशी रजवाड़ों का भारतीय संघ में विलयन हो गया 1956 में राज्यों का पहली बार पुनर्गठन हुआ इसके उपरान्त 1960 और 1966 में पुनर्गठन के काम की पुनरावृत्ति हुई। देश के संघीय ढाचे में हुए इन परिवर्तनों की पृष्ठभूमि में यह आवश्यक था कि क्षेत्रीय इकाइयों का भी पुनर्गठन किया जाय। यहा यह उल्लेखनीय है कि इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप काग्रेस के संघात्मक स्वरूप पर कोई आच नहीं आई है।

1948 तक कांग्रेस सगठन की सबमे छोटी इकाई कांग्रेस पचायत थी। परन्तु यह अनुभव किया गया कि दलीय यन्त्र पर प्रभावी नियन्त्रण कायम करने की दृष्टि से ग्राम एक अत्यधिक छोटी इकाई है। फलत जब यू० एन० ढेवर कांग्रेस के अध्यक्ष थे, कांग्रेस सगठन को नये प्रकार से सगठित करने का प्रयत्न किया गया। सगठन की इस नई योजना के अनुसार अब ग्राम का स्थान मण्डल ने ले लिया। प्रति 20000 की जनसख्या पर एक मण्डल की रचना की गई और उसमे यह व्यवस्था की गई कि उसमे प्रति एक हजार पर एक प्रतिनिधि चुनकर आया करेगा। परन्तु थोडे दिनो मे यह महसूस किया गया कि मण्डल-प्रणाली के द्वारा भी कांग्रेस जन-सगठन के रूप मे अपनी भूमिका कारगर रूप से अदा नही कर सकती। अत एक नवीन समिति—क्षेत्रीय समिति (Block Committee) की रचना की गई। इसके लिए यह व्यवस्था की गई कि इनमे प्रति 2000 की जनसख्या पर एक प्रतिनिधि निर्वाचित होकर आयेगा।

1967 के निर्वाचन के उपरान्त यह आवश्यकता महसूस की गई कि कांग्रेस की प्रत्येक विधान सभा निर्वाचन-क्षेत्र मे भी एक सगठनात्मक इकाई होनी चाहिए। 1969 मे अपने बगलौर अधिवेशन मे कांग्रेस ने इस आशय का एक प्रस्ताव पारित भी कर दिया था। समूचे देश मे कांग्रेस की 20 प्रदेश समितिया है तथा इनके अतिरिक्त प्रत्येक केन्द्र-शासित क्षेत्र मे भी उसकी एक सगठनात्मक शाखा है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कांग्रेस का सगठन समूचे देश मे व्याप्त है। वस्तुत देश मे कोई ऐसा दल नही है जो इस दृष्टि से कांग्रेस का मुकाबला कर सके।

कांग्रेस दल का सर्वोच्च कार्यपालिका अभिकरण वर्किंग कमेटी है। उस मे अध्यक्ष के अलावा कुल 20 सदस्य होते हैं, इनमे से दस अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के द्वारा निर्वाचित होते हैं तथा शेष सदस्य अध्यक्ष द्वारा मनोनीत किये जाते है।

वर्किंग कमेटी अपने कार्यो के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के प्रति उत्तरदायी होती है। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठके वर्किंग कमेटी के द्वारा ही बुलायी जाती है। दल के सगठन पर जहाँ केन्द्रीय नेताओ का नियन्त्रण स्पष्टत दिखाई पडता है वहाँ राज्यो के नेता भी प्रभावशून्य नही है। राज्य विधान सभाओ के लिए दलीय प्रत्याशियो के नाम प्रस्तावित करना उन्ही का काम है। यद्यपि अपने इस अधिकार का वे समुचित प्रयोग करने मे आमतौर पर अपनी दलीय गुटबन्दियो के कारण असफल रहते है तथापि उनके इस अधिकार के महत्त्व से इनकार नही किया जा सकता।

दलीय ढाँचे मे ससदीय बोर्ड का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसमे कांग्रेस अध्यक्ष के अतिरिक्त 6 अन्य सदस्य होते है। विभिन्न राज्यो तथा केन्द्र के विधानमण्डलो के कांग्रेस सदस्यो को अनुशासित करना तथा उनके कामो के बीच मे ताल-मेल बैठाना उसी के अधिकार-क्षेत्र मे आता है। सरकार की नीतियो को निर्मित करने मे भी उसकी एक विशिष्ट भूमिका रही है।

कांग्रेस की आन्तरिक गुटबाजी—कांग्रेस सगठन के मुख्य अगो का सक्षिप्त विश्लेषण भी इस तथ्य की अवहेलना नही कर सकता कि यह दल किसी सुनियोजित कार्य-प्रणाली के अन्तर्गत काम नही करता, अपितु वह अपने मे सन्निहित गुटो के माध्यम से काम करता है। यथार्थ मे कांग्रेस का कोई भी सदस्य ऐसा नही है जो किसी न किसी गुट के साथ सम्बद्ध न हो। गुटो का कांग्रेस के जीवन के साथ आज इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि हम जिस प्रकार किसी हिन्दू की उसके वर्ण के बिना कल्पना नही कर सकते, उसी प्रकार किसी कांग्रेसी की भी उसके गुट के बिना कल्पना नहीं की जा सकती।

किसी-दल मे गुटो का अस्तित्व उसकी जीवनशक्ति के लिए शुभ नही होता, उससे उसकी राजनीतिक स्थिरता पर कुप्रभाव पडता है। यह ठीक है कि एक लम्बे समय तक लोक सभा मे कांग्रेस दल की एकता पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही पडा, यद्यपि गुटबाजी से वह भी मुक्त नहीं था। 1969 की घटनाओ के बाद उसके कुप्रभाव केन्द्र मे भी दृष्टिगोचर होने लगे। किन्तु राज्यो

म तो गुटबाजी के बुरे परिणाम आरम्भ से ही अवलोकित किये जा सकते थे। राज्यों में दलीय अनुशासन हमेशा से ही निम्न स्तर का रहा फलत दल राज्यों की राजनीति में प्रभावी भूमिका भी अदा नहीं कर सका। काग्रेस के आन्तरिक संघर्ष में गुटों ने प्रतियोगी दबाव समूहों के रूप में काम किया इस संघर्ष में सिद्धान्तों और विचारधारा के लिए कोई स्थान नहीं था और यदि था तो वह केवल नाममात्र के लिए ही था। वस्तुत इसी स्थिति ने काग्रेस में अनुशासनहीनता को जन्म दिया है इसके कारण किसी काग्रेसी की अपने दल के प्रति निष्ठा के सम्मुख सदैव एक प्रश्न चिह्न लगा रहता है।

काग्रेस के इसी पराभव को रोकने के लिए विशेषत 1963 के तीन उप चुनावों में काग्रेस की पराजय के उपरान्त नेहरू जी ने काग्रेस को पुनर्गठित करने के लिए 6 मुख्य मन्त्रियों तथा अपने मन्त्रिपरिषद् के 6 सदस्यों का त्याग पत्र कामराज योजना के अन्तर्गत स्वीकार किया था। इस योजना का उद्देश्य दल के वरिष्ठ नेताओं को सरकारी पदों से मुक्ति दिलाकर दल को संगठित करने के काम में लगाना था। केन्द्र में तो इस योजना को लागू करने में कोई विशेष कठिनाई उपस्थित नहीं हुई क्योंकि वहाँ अन्तिम निर्णय नेहरू जी जैसे शक्तिशाली नेता के हाथों में था परन्तु राज्यों में इस योजना को लागू करने में अनेक कठिनाइयाँ प्रस्तुत हो गई। केन्द्रीय नेतृत्व उन्हें रोकने में असमर्थ रहा। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश में चन्द्रभानु गुप्त के बाद सुचेता कृपलानी ने मुख्य मन्त्री का कार्य भार सम्भाला। वह मुख्य मन्त्री के पद पर इसलिए आसीन हो सकीं क्योंकि भूतपूर्व मुख्य मन्त्री के समर्थक अपने नेता के अपदस्थ होने से प्रसन्न नहीं थे तथा वे एक ऐसे व्यक्ति को मुख्य मन्त्री बनाना चाहते थे जिसे नेहरू जी नहीं चाहते थे। इसके बाद जैसा होना चाहिए था उत्तर प्रदेश में काग्रेस के अन्दर की गुट स्पर्धा बढ़ गई।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि कामराज योजना अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफल रही। नेताओं को केवल दल मात्र से दल के पराभव को रोका नहीं जा सका और न उससे दल के अन्दर की गुटबाजी पर ही कोई वाछित प्रभाव पड़ा। अब दल के अन्दर विरोधी गुट का अस्तित्व कोई रहस्य नहीं था दल आन्तरिक तनावों से जकड़ा हुआ था दल के सदस्य अपनी स्वार्थ सिद्धि में व्यस्त थे तथा दल के हितों को आगे बढ़ाने में किसी की भी रुचि नहीं थी। इस पृष्ठभूमि में यदि 1967 के आम चुनावों में काग्रेस को महत्त्व की हानी पड़ी तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या थी ?

सदस्यता—काग्रेस की सदस्यता दो प्रकार की है—प्राथमिक और सक्रिय। कोई भी ऐसा व्यक्ति जिसकी आयु 18 वर्ष है तथा जो काग्रेस के उद्देश्यों में आस्था रखता है काग्रेस का सदस्य बन सकता है बशर्ते कि वह किसी अन्य दल का सदस्य न हो। वह व्यक्ति जो दो वर्षों तक लगातार काग्रेस का प्राथमिक सदस्य रह चुका है तथा जिसकी आयु 21 वर्ष है 25 रुपया का चन्दा देकर अथवा 25 प्राथमिक सदस्यों की भरती करके काग्रेस की सक्रिय सदस्यता प्राप्त कर सकता है। काग्रेस संगठन अपने सदस्यों से जिस आचरण की अपेक्षा करता है उससे यह प्रतीत नहीं होता कि उसमें कहीं आधुनिकता भी है। उदाहरण के लिए काग्रेस के सक्रिय सदस्यों के लिए खादी पहनना अनिवार्य है यद्यपि इस नियम का सम्मान सामान्यत उसके उल्लंघन के द्वारा ही होता है उसके पालन के द्वारा नहीं। काग्रेसजनों के लिए जो कर्त्तव्य बताये गये हैं वे भी आम तौर पर अराजनीतिक है। काग्रेस के संविधान में सक्रिय सदस्यों के लिए यह व्यवस्था की गई है कि वे प्रतिदिन अपना कुछ समय रचनात्मक कार्यक्रम में लगाये। रचनात्मक कार्यक्रम में निम्न बातें शामिल है—साम्प्रदायिक एकता खादी और ग्रामोद्योग बुनियादी शिक्षा मद्य निषेध हरिजन कल्याण अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन गो सेवा प्राकृतिक चिकित्सा का प्रशिक्षण कुष्ठ निवारण प्रौढ़ शिक्षा आदि। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन कार्यों का काग्रेस के राजनीतिक उद्देश्यों के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि इस आचार संहिता का पालन भी काग्रेसी होली दिवाली विशेष पर्वों पर ही करते है।

काग्रेस का आर्थिक कार्यक्रम—स्वाधीनता सग्राम के दिनो मे ही काग्रेस ने देश मे व्याप्त निर्धनता को दूर करने के लिए नियोजित अर्थव्यवस्था के विचार को विकसित किया था। 1955 मे अपने अवाडी सम्मेलन मे काग्रेस ने यह घोषणा की कि वह देश मे 'समाजवादी ढाँचे का समाज' स्थापित करना चाहती है। परन्तु यह प्रस्ताव भी इतना अधिक अस्पष्ट था कि लोगो ने उसकी भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की। रूढिवादियो की दृष्टि मे यह प्रस्ताव देश मे उग्र समाजवाद की ओर ले जाने वाला पहला कदम था, जबकि वामपन्थियो का विश्वास था कि उसके अन्तर्गत देश मे पूजीवाद और निजी पूजी का विकास होगा।

1956 मे काग्रेस ने औद्योगिक नीति के सम्बन्ध मे एक नया प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव मे यह कहा गया था कि राज्य को औद्योगिक क्षेत्र मे अधिक सक्रिय भूमिका अदा करनी चाहिए। मिश्रित अर्थतन्त्र के ढाँचे मे निजीक्षेत्र के पास अत्यधिक सीमित क्षेत्र होना चाहिए तथा उसके पास कृषि, लघु उद्योग-धन्धे तथा व्यापार के अतिरिक्त कुछ और नही होना चाहिए। इसके परिणामस्वरूप देश मे सार्वजनिक क्षेत्र मे पूँजी की रचना हुई है तथा द्वितीय पचवर्षीय योजना के बाद से उसमे निरन्तर वृद्धि हुई है। कालान्तर मे काग्रेस ने 'ससदीय लोकतन्त्र पर आधारित समाजवादी राज्य' की स्थापना को अपने लक्ष्य के रूप मे स्वीकार किया। परन्तु इस प्रस्ताव मे सन्निहित उद्देश्य का काग्रेस की करनी के साथ कोई सम्बन्ध नही था। यहाँ यह लिखने की आवश्यकता है कि काग्रेस की कथनी और करनी के बीच पाये जाने वाले इन अन्तर्विरोधो का अर्थव्यवस्था पर कोई अच्छा प्रभाव नही पडा। यह ठीक है कि इन नीतियो के घोषित होने के बाद देश मे सार्वजनिक क्षेत्र का विकास हुआ है। किन्तु इस सत्य के साथ हम इस बात की भी उपेक्षा नही कर सकते कि इस पूरे काल मे देश मे एकाधिकारी पूँजी का भी विकास हुआ है। निश्चय ही इसे समाजवाद की सज्ञा प्रदान नही की जा सकती। जहाँ तक सार्वजनिक क्षेत्र के विकास का प्रश्न है, वहाँ यह स्मरणीय है कि इससे सम्बद्ध उद्योगो के बारे मे यह आम शिकायत है कि न तो उनमे कार्यकुशलता पायी जाती है और न ही उनसे वाँछित मुनाफे की प्राप्ति हो रही है। वस्तुत इन उद्योगो ने देश मे समाजवादी अर्थतन्त्र को लोकप्रिय बनाने के बजाय जनमानस मे उसकी उपयोगिता के सम्मुख प्रश्न चिन्ह लगा दिया है।

काग्रेस ने चौथा आम चुनाव इसी पृष्ठभूमि मे लडा था। अत जैसा स्वाभाविक था चुनाव मे उसे मुह की खानी पडी, देश के अधिकाश राज्यो मे उसे विरोधी बेंचो पर बैठने के लिए विवश होना पडा। यद्यपि केन्द्र मे उसका बहुमत कायम रहा, तथापि यहाँ भी उसकी स्थिति पहले जैसी नही थी। अत इस सन्दर्भ मे उसे अपने नीतियो पर पुनर्विचार करने के लिए विवश होना पडा। मई 1967 मे अपनी वर्किग कमेटी की बैठक मे काग्रेस ने एक दस-सूत्री कार्यक्रम को अपनाया। कार्यक्रम मे निम्नलिखित बाते थी—

1 बैंको का राष्ट्रीयकरण, 2 आम बीमा का राष्ट्रीकरण, 3 आयात और निर्यात मे राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओ के आधार पर प्रगति, 4 खाद्यान्न मे राज्य व्यापार, 5 सहकारिता के क्षेत्र का विस्तार, 6 एकाधिकारी पूँजी का सचालित ढग से खात्मा, 7 लोगो की न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति, 8 नगरो की भूमि के मूल्यो मे वृद्धि को रोकना, 9 ग्रामो मे पुनर्निर्माण कार्य, भूमि सुधार आदि, तथा 10 भूतपूर्व राजाओ को दी जाने वाली प्रिवी पर्सो का खात्मा।

काग्रेस फूट के बाद—1969 मे काग्रेस का विभाजन हो गया। काग्रेस का एक भाग श्रीमती गाधी के नेतृत्व मे और दूसरा सिण्डीकेट के नेताओ के प्रभाव मे चला गया था। दिसम्बर 1969 के अन्त मे इन दोनो काग्रेस सगठनो के अलग-अलग अधिवेशन हुए। पुरानी काग्रेस ने अपना अधिवेशन अहमदाबाद मे निजलिगप्पा की अध्यक्षता मे किया और नयी काग्रेस का अधिवेशन बम्बई मे जगजीवन राम के सभापतित्व मे हुआ। इन पृथक् अधिवेशनो से अविभाजित काग्रेस के 84 वर्ष लम्बे इतिहास का एक युग समाप्त हो गया। अब दो दल सामने आ गये—काग्रेस और सगठन काग्रेस। दोनो दलो के कार्यक्रमो और नीतियो मे अन्तर है। यह बात 1971 के मध्यावधि

चुनाव में दोनों दलों द्वारा जारी किये गये चुनाव घोषणा-पत्रों में स्पष्ट हो जायगा।

सत्तारूढ़ कांग्रेस दल का चुनाव घोषणा-पत्र—सत्तारूढ़ कांग्रेस दल ने 24 जनवरी 1971 को जो चुनाव घोषणा-पत्र जारी किया उसमें निम्नलिखित बातें थीं—

(i) कांग्रेस का विचार निजी सम्पत्ति को समाप्त करना नहीं है किन्तु उसका दृष्टिकोण यह अवश्य है कि अधिक लोगों में सम्पत्ति का स्वामित्व विकेन्द्रित हो। अतः वह इस बात के लिए प्रयत्न करेगी कि उचित सीमा के ऊपर निजी सम्पत्ति तथा आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण कम भी न होने दिया जाय क्योंकि यह जनतन्त्र और सामाजिक न्याय की विचारधारा के प्रतिकूल है।

(ii) भारत में अधिकांश लोगों का भूमिहीन और छोटे किसानों में है अतः इनकी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए यह आवश्यक है कि उनका सम्बन्ध कार्यक्रम का समारम्भ ग्रामों के साथ हो हो। इस दिशा में कृषि विकास के लिए आधुनिकतम वैज्ञानिक तरीकों का प्रयोग आवश्यक है। कांग्रेस इस बात के लिए प्रयत्न करेगी कि कृषि विकास के लाभ छोटे और मध्यम किसानों में तथा भूमिहीन कृषकों में सभी को समान रूप से प्राप्त हों। इसके लिए छोटे किसानों को ऋण आदि की सुविधा दी जायगी ताकि वे भी वैज्ञानिक तरीकों से कृषि करके लाभान्वित हो सकें। सूखे क्षेत्रों में खेती के लिए और भी अधिक व्यापक कार्यक्रम बनाया जायगा।

(iii) औद्योगिक विकास में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों की प्रमुख भूमिका होगी। सार्वजनिक उद्योगों का संगठन और संचालन इस ढंग से होना चाहिए कि इनके लिए अधिक से अधिक पूँजी जुटाने के साधन मिलें। अतः इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कांग्रेस ने आम बीमा का राष्ट्रीयकरण, आयात निर्यात के व्यापार में सरकार का अधिकाधिक भाग लेने और जहाँ जनता का धन लगा हो उन उद्योगों में सरकार की बढ़ती हुई भूमिका, खाद्य निगम की कार्यवाहियों के विस्तार और सहकारी समितियों के सहयोग द्वारा सरकारी क्षेत्र में विस्तार का प्रस्ताव किया है।

(iv) निजी क्षेत्र की कार्य प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जो देश को समाजवाद की ओर ले जाने में सहायक हो सके। अतः नये उद्योग पिछड़े क्षेत्रों में स्थापित होने चाहिए। उद्योगों का आधिपत्य तथा आर्थिक शक्ति चन्द हाथों में ही न सिमट जाए इस बात को ध्यान में रखते हुए निजी उद्योगों को यथोचित प्रोत्साहन दिया जायगा।

(v) आय नीति के साथ वास्तविक वेतन और मूल्य नीति का अभिन्न सम्बन्ध है। कांग्रेस इसके लिए सुसंगठित नीति बनायेगी तथा उसे कार्यान्वित करेगी।

(vi) घोषणा-पत्र में रोजगार कार्यक्रम को प्रभावी ढंग से चलाने पर भी बल दिया गया है।

(vii) शिक्षा और जन कल्याण के महत्त्व को भी घोषणा पत्र में मान्यता प्रदान की गयी है। पिछड़े वर्ग के शिशुओं के लिए तो इस कार्यक्रम की कार्यान्विति आरम्भ हो चुकी है।

(viii) विज्ञान और टेक्नोलॉजी के क्षेत्र में एक राष्ट्रीय वैज्ञानिक और तकनीकी योजना तैयार की जायगी जिसे आर्थिक योजना के साथ संगठित किया जायगा।

(ix) कांग्रेस निम्न और मध्यम वर्ग के लोगों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उनके मकान का आवास-कार्यक्रम हाथ में लेगी।

(x) अल्पसंख्यकों के अधिकारों और हितों की सुरक्षा की जायगी। धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त के आधार पर सभी अल्पसंख्यकों को अपनी शैक्षणिक संस्थाएँ अपने व्यय से खोलने तथा स्थापित करने और उनका प्रबन्ध चलाने का अधिकार होगा। भाषायी अल्पसंख्यकों के बच्चों को प्रारम्भिक स्तर पर उनकी मातृभाषा में ही शिक्षा देने की व्यवस्था की जायगी।

(xi) विभिन्न भाषायी साहित्यिक गतिविधियों को प्रोत्साहित किया जायगा। उर्दू को उसका वह उपयुक्त स्थान दिलाने का प्रयास किया जायगा जिससे उसे अब तक वंचित रखा गया है।

(xii) सेवाओं की भर्ती में इस बात का प्रयत्न किया जायगा कि अल्पसंख्यकों के साथ किसी भी प्रकार का भेदभाव न हो सके।

(xiii) समाज के कमजोर वर्गों के शैक्षणिक, रोजगार तथा आर्थिक हितों की ओर विशेष

रूप से ध्यान दिया जायेगा।

(xiv) विदेश नीति के क्षेत्र मे काग्रेस उसी नीति का अनुगमन करेगी जिसकी रचना नेहरू जी के समय मे हुई थी। इस प्रकार काग्रेस गुट-निरपेक्षता तथा सैनिक गठवन्धनो से अलग रहने की नीति का अनुसरण करती रहेगी। पडोसी राष्ट्रो के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करना उसकी विदेश नीति का एक मुख्य सिद्धान्त होगा। अत काग्रेस पाकिस्तान और चीन के साथ सम्वन्धो को सामान्य बनाने के लिए प्रयत्न करेगी। किन्तु काग्रेस देश की प्रतिरक्षा की ओर उदासीनता की नीति नही बरतेगी, अत वह सशस्त्र सेनाओ को अधिकाधिक सुदृढ बनाने के लिए प्रयास करेगी।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस चुनाव घोषणा-पत्र के आधार पर काग्रेस को लोकसभा के 515 स्थानो मे से 352 पर सफलता प्राप्त हुई। कुछ लोगो ने कहा है कि काग्रेस की यह जीत वास्तव मे इन्दिरा गाधी की 'वैयक्तिक जीत' थी। किन्तु इस प्रकार का मत व्यक्त करने वाले यह भूल जाते है कि काग्रेस ने 1967 का चुनाव भी इन्दिरा गाधी के नेतृत्व मे ही लडा था और उस चुनाव मे काग्रेस को धूल चाटने के लिए विवश होना पडा था। यदि श्रीमती गाधी 1971 का चुनाव अपने व्यक्तिगत करिश्मे से जीत सकती थी तो 1967 मे वह यह करिश्मा क्यो नही दिखा सकी ? वास्तव मे यह जीत इन्दिरा गाधी की कोई निजी जीत नही थी, वह तो उस नारे की जीत थी जो उन्होने विरोधी दलो के 'इन्दिरा हटाओ' नारे के जवाब मे दिया था। उनका नारा था—'गरीबी हटाओ'। काग्रेस घोषणा-पत्र मे इस नारे की अभिव्यक्ति इन शब्दो मे हुई थी—गरीबी हटनी चाहिये। असमानता कम होनी चाहिये। अन्याय का अन्त होना चाहिये। ये हमारे अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिये आवश्यक कदम है, हमारा लक्ष्य है एकताबद्ध एव शक्तिशाली भारत—वह भारत जो अपने प्राचीन एव स्थायी आदर्शो मे आस्था रखता है, परन्तु जो अपने विचारो एव उपलब्धियो मे आधुनिक है तथा जो भविष्य का सामना कल्पना एव विश्वास के साथ करने को तैयार है।

वस्तुत भारतीय मतदाता ने काग्रेस के पक्ष मे जो मतदान किया था उसका आधार चुनाव घोषणा-पत्र का यही अश था। अत काग्रेस की इस जीत को इन्दिरा गाधी की व्यक्तिगत विजय नही कहा जा सकता। चुनाव के पहले 14 बैंको का राष्ट्रीयकरण करके तथा राजाओ के प्रिवी पर्सो को समाप्त करके जनमानस मे उन्होने यह चेतना भी उत्पन्न की थी कि वह वास्तव मे देश को समाजवाद की ओर ले जाना चाहती है। इस सन्दर्भ मे यह स्वाभाविक ही था कि देश की जनता उनके 'गरीवी हटाओ' के नारे मे वास्तविकता का अवलोकन करती। देश की जनता अपनी स्थिति मे परिवर्तन चाहती थी, वह देश की अर्थव्यवस्था को अधिक न्यायपूर्ण आधार पर सगठित करना चाहती थी। 'गरीबी हटाओ' के नारे मे उसे अपनी आकाक्षाओ की अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर हो रही थी। अत 1971 के चुनावो मे काग्रेस की विजय को इन्दिरा गाधी का चमत्कार नही, वल्कि इस नारे का चमत्कार समझा जाना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि इन्दिरा गाधी के नेतृत्व मे काग्रेस की राजनीति पहले की अपेक्षा अधिक उग्र हुई है। दल के आन्तरिक विरोधो का निराकरण करने के लिए उन्होने जो तरीका अपनाया है वह भी एक नया तरीका है। अव वह दल के अन्तर्विरोधो का समाधान करने के लिए दल के सहयोगी नेताओ से वात करने की अपेक्षा जनता से सीधे वात करती है। यथार्थ मे काग्रेस के सिण्डीकेट नेताओ को अपदस्थ करने मे उन्हे इस तरीके से आशातीत सफलता प्राप्त हुई थी, उनका यह तरीका आज भी जारी है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि नयी काग्रेस अव पूर्णत बदल चुकी है। वास्तव मे नयी काग्रेस का आन्तरिक चरित्र भी वैसा ही है जैसा कि पुरानी काग्रेस का था। यदि पुरानी काग्रेस मे विचारधारा की एकरूपता का अभाव था, तो नयी काग्रेस भी उस वीमारी से मुक्त नही है। उदाहरण के लिए काग्रेस मे आज भी सुब्रह्मण्यम जैसे लोग मौजूद है जिन्हे टाटा के 'सयुक्त क्षेत्र' (Joint Sector) को स्थापित करने के प्रस्ताव मे कोई

खराबी नहीं दीखता। इसी प्रकार यदि पुरानी कांग्रेस में जाती सम्प्रदायता की बीमारी पाई जाती थी तो नयी कांग्रेस में यह बीमारी पहले की अपेक्षा कई गुनी अधिक है। पुरानी कांग्रेस गुटबाजी में बुरी तरह ग्रसित थी। इस दृष्टि से भी नयी कांग्रेस को पुरानी कांग्रेस का परिमार्जित स्वरूप नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक गरीबी हटाओ के उग्र कार्यक्रम की कार्यान्विति का प्रश्न है वहाँ भी नयी कांग्रेस ने जो निष्क्रियता अभी तक प्रदर्शित की है वह भी अविभाजित कांग्रेस की निष्क्रियता से भिन्न नहीं है। सच बात तो यह है कि अभी तक गरीबी हटाओ कार्यक्रम की कार्यान्विति भी आरम्भ नहीं हुई है।

संगठन कांग्रेस का चुनाव घोषणा-पत्र—संगठन कांग्रेस ने अपने चुनाव घोषणा-पत्र में निम्न बातों पर बल दिया था—

(i) दल ने इस बात का विरोध किया कि सम्पत्ति के अधिकार को संविधान से निकाल दिया जाना चाहिए। उसने दल की लोकतान्त्रिक समाजवादी और धर्म निरपेक्ष समाज में आस्था व्यक्त की ताकि देश में सामाजिक न्याय अवसरों की समानता तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता की स्थापना की जा सके।

(ii) देश में स्वच्छ और ईमानदार प्रशासन की व्यवस्था की जायगी अर्थव्यवस्था को विकेन्द्रित किया जायगा 1975 के वर्ष तक समूचे देश की न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी की जायगी कर प्रणाली तथा लाइसेंस प्रणाली को आसान बनाया जायगा मध्यम और निम्न आय के लोगों के लिए एक वर्ष में 10 लाख मकान बनाये जायेंगे कृषि वस्तुओं के मूल्य इस प्रकार निर्धारित किये जायेंगे जिनसे कृषकों को लाभ पहुँचे तथा 1 हजार करोड़ की ऐसी योजना चालू की जायगी जिससे देश के प्रत्येक नागरिक को रोजगार मिल सके।

(iii) दल ने कहा कि प्रिवी पर्सों को उचित ढंग से समाप्त किया जायगा परन्तु मूलभूत अधिकारों विशेषत सम्पत्ति के अधिकार को रद्द करने अथवा उसमें संशोधन के किसी भी प्रयास का विरोध किया जायगा।

(iv) घोषणा-पत्र में सत्तारूढ़ दल की इस बात के लिए आलोचना की कि उसने आर्थिक विकास तथा सामाजिक न्याय की समस्याओं का समाधान करने के बजाय केवल अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए तिकड़म की राजनीति का सहारा लिया है। उसने देश की राजनीति के लोकतान्त्रिक ढाँचे को कांग्रेस में फूट डालकर तथा कम्युनिस्टों और सम्प्रदायवादियों से साँठ गाँठ करके क्षति पहुँचाई है। उसने न्यायपालिका के विरुद्ध संघर्ष की स्थिति पैदा करके देश में कानून और व्यवस्था की स्थिति में बिगाड़ पैदा किया है।

(v) घोषणा पत्र में सरकार की इसलिए भी आलोचना की गई क्योंकि वह व्यक्तिगत और सार्वजनिक आचरण के मामले में नैतिक मूल्यों के ह्रास के लिए उत्तरदायी है। इसका भारतीय लोकतन्त्र के स्थायित्व पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

(vi) कांग्रेस (संगठन) ने उन समस्त दलों की आलोचना की जो मूल अधिकारों विशेषत सम्पत्ति के अधिकार को समाप्त करने अथवा संशोधित करने की बात करते हैं। घोषणा पत्र में भारतीय जनता को इन लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रताओं की सुरक्षा का आश्वासन दिया गया। कांग्रेस (संगठन) ने यह घोषणा की कि उसका लक्ष्य गरीबी को दूर करना अधिक धन उत्पन्न करके तथा धन का समान वितरण करके जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊपर उठाना है यह काम गरीबी को बाँटकर नहीं किया जा सकता।

(vii) औद्योगिक क्षेत्र में मिश्रित अर्थव्यवस्था के ऊपर बल दिया गया जिसमें सार्वजनिक निजी और सहकारी सभी प्रकार के क्षेत्रों के लिए स्थान होगा तथा जिन्हें समाज के हित में नियन्त्रित करने का सरकार को अधिकार होगा।

(viii) कृषि क्षेत्र में कांग्रेस (संगठन) ने संक्षेप में भूमि सुधारों का उल्लेख किया तथा कहा कि वह अपने पहले के वायदों के अनुसार उन्हें शीघ्रातिशीघ्र लागू करेगी। कृषि वस्तुओं के मूल्यों के

सम्बन्ध मे इस घोषणा-पत्र मे कहा गया था कि किसानो के हितो की पूर्ण रूप से रक्षा की जायगी।

(IX) शिक्षा के क्षेत्र मे सुधारो के ऊपर वल दिया गया तथा यह कहा गया कि शिक्षा-प्रणाली एव सस्थाओ के सचालन मे छात्रो की भी भूमिका होगी। घोषणा-पत्र मे स्त्रियो के अधिकारो का भी उल्लेख किया गया।

(X) मतदाता की आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष की जाय ताकि देश के राजनीतिक जीवन मे युवा पीढी की अधिकाधिक साझेदारी हो सके।

(XI) विदेश नीति के क्षेत्र मे दल ने यह इच्छा व्यक्त की कि 'भारत की विदेश नीति के सन्तुलन को फिर से कायम' किया जाना चाहिए तथा उसे 'वास्तविक गतिशील गुट-निरपेक्षता' का रूप दिया जाना चाहिए। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि काग्रेस (सगठन) ने मध्यावधि चुनाव जनसघ, स्वतन्त्र पार्टी और सयुक्त समाजवादी पार्टी के साथ एक सयुक्त मोर्चा बनाकर लडा था। चुनाव मे इस मोर्चे की तरफ से अकेले काग्रेस (सगठन) के 239 प्रत्याशी मैदान मे थे और इनमे उमे केवल 16 स्थानो पर सफलता प्राप्त हुई। चुनाव के परिणाम इस दल के लिए निश्चय ही निराशाजनक थे। दल के नेताओ के लिए यह पराजय ऐसी थी जो उनके गले के नीचे नही उतर सकती थी, अत उन्होने सत्तारूढ काग्रेस पर यह आरोप लगाया कि उसने चुनावो मे शासनतन्त्र का दुरुपयोग किया है। परन्तु जहाँ तक देश के लोकमत का सम्बन्ध था, उसने यह बात भलीभाँति प्रदर्शित कर दी कि वह केवल सत्तारूढ काग्रेस को ही वास्तविक काग्रेस मानता है।

(II) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (फूट से पहले और फूट के बाद)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—आयु की दृष्टि से भारत के राजनीतिक दलो मे कम्युनिस्ट पार्टी का स्थान काग्रेस के बाद दूसरे नम्बर पर आता है। उसकी स्थापना 1922 मे हुई थी, परन्तु ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता का सबसे अधिक प्रबल विरोधी होने के कारण उसे उसके जन्म के समय ही अवैध घोषित कर दिया गया था। फलत उसे अपने शैशव काल से ही छिपकर काम करना पडा। इसके सविधान का प्रारूप 1931 मे बना था, जिसे 1933 मे पार्टी के प्रथम अधिवेशन मे स्वीकार किया गया।

राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति कम्युनिस्टो का दृष्टिकोण उनके अन्तर्राष्ट्रवाद से हमेशा से प्रभावित रहा है। उन्होने भारत के राष्ट्रीय स्वाधीनता सग्राम को केवल भारतीय जनता का सघर्ष नही माना, अपितु उन्होने कहा कि वह विश्व साम्राज्य के विरुद्ध सघर्ष का एक अभिन्न अग है। अत उन्होने राष्ट्रीय आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रवाद के दृष्टिकोण से देखा। यह खेद की बात है कि 1942 मे भारत छोडो आन्दोलन के प्रति जो स्वीकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए था, उसे अपनाने मे कम्युनिस्ट पार्टी असमर्थ रही। कारण स्पष्ट था। द्वितीय महायुद्ध मे इस समय रूस और ब्रिटेन मिलकर कार्य कर रहे थे। अपने देश के हितो के विरुद्ध होते हुए भी रूस के मित्र ब्रिटेन का विरोध करना कम्युनिस्टो के बूते से बाहर था। फलत कुछ समय के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा से उसका फिर अलगाव हो गया।

इस पृष्ठभूमि मे अगस्त 1947 मे देश स्वतन्त्र हुआ। इस समय कम्युनिस्ट पार्टी मे दो प्रकार के दृष्टिकोण पाये जाते थे। पार्टी के महामन्त्री पी० सी० जोशी का मत था कि स्वतन्त्रता और सत्ता का हस्तान्तरण वास्तविक था तथा कम्युनिस्टो को नेहरू सरकार का समर्थन करना चाहिए। इसके विपरीत दूसरा दृष्टिकोण बी० टी० रणदिवे का था जिनका यह मत था कि वास्तविक स्वतन्त्रता केवल कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व मे ही प्राप्त की जा सकती थी। अत इस दृष्टिकोण के अनुसार कम्युनिस्टो को काग्रेस के साथ सघर्ष करने की आवश्यकता थी।

1948 मे कम्युनिस्ट पार्टी की कलकत्ता मे दूसरी काग्रेस हुई। इस काग्रेस मे पी० सी० जोशी के स्थान पर बी० टी० रणदिवे को पार्टी का महामन्त्री चुना गया। कम्युनिस्ट पार्टी की इस काग्रेस ने स्टालिन के इस मत को मान्यता प्रदान की कि विश्व दो पक्षो मे बँटा हुआ है एक

पक्ष साम्राज्यवादियों का है तथा दूसरा पक्ष समाजवादी शक्तियों का है। इस कांग्रेस में यह निर्णय किया गया कि कम्युनिस्टों को साम्राज्यवाद, सामन्तवाद एवं पूँजीवाद सभी के विरुद्ध निर्मम संघर्ष करने की आवश्यकता है।

महामंत्री बनने के बाद रणदिवे ने उग्र वामपंथी एवं दुस्साहसवादी नीतियों का अनुसरण किया। फलतः देश के विभिन्न भागों में हड़तालें संगठित की गईं, जहाँ-तहाँ पुलिस और पूँजीपतियों के दफ्तरों पर हमले भी किये गये जिनमें कुछ लोग मारे भी गये और कई घायल हुए। इसी के साथ में आन्ध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र में किसानों का छापामार युद्ध भी संगठित किया गया। किन्तु अपेक्षित सर्वहारा की क्रांति न हो सकी। विभिन्न राज्यों की कांग्रेस सरकारों ने कम्युनिस्टों के इस आन्दोलन को कुचलने का भरसक प्रयत्न किया। अनेक राज्यों में कम्युनिस्ट पार्टी पर प्रतिबन्ध लगाया गया, इस संघर्ष के दौरान अनेक कम्युनिस्ट गिरफ्तार हुए, अनेक मारे भी गये। यह स्पष्ट था कि इस दमन से कम्युनिस्ट आन्दोलन कुचला नहीं जा सकता था परन्तु इसके साथ में यह भी स्पष्ट था कि इस प्रकार के दुस्साहसवादी कार्यों से देश में समाजवादी क्रांति का सूत्रपात नहीं किया जा सकता था। इस पृष्ठभूमि में कम्युनिस्ट पार्टी को अपनी नीतियों पर पुनर्विचार करने के लिए विवश होना पड़ा। इसके परिणामस्वरूप रणदिवे को पार्टी के महामंत्री के पद से हटा दिया गया। 1951 में पार्टी का एक विशेष अधिवेशन कलकत्ता में हुआ, इसका उद्देश्य पार्टी को वामपंथी संकीर्णता से मुक्त करना था।

1952 में देश में पहला आम चुनाव हुआ। इस समय तक देश के अनेक राज्यों में कम्युनिस्ट पार्टी पर प्रतिबन्ध लगा हुआ था, उसके बहुत से कार्यकर्ता या तो जेलों में बन्द थे और या वे भूमिगत होकर काम कर रहे थे। परन्तु इन सीमाओं के बावजूद चुनाव के परिणाम कम्युनिस्टों के लिए अत्यन्त सुखद और गैर कम्युनिस्टों के लिए अत्यन्त आश्चर्यजनक सिद्ध हुए। उन्होंने लोकसभा के लिए केवल 70 स्थानों पर चुनाव लड़े थे और इनमें उन्हें 27 सीटों पर सफलता प्राप्त हुई थी। अब लोक सभा में कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस के बाद दूसरे नम्बर की पार्टी थी। इसी प्रकार राज्यों की विधान सभाओं के लिए उसने केवल 587 सीटों पर अपने प्रत्याशी खड़े किये थे और इनमें 181 को सफलता मिली थी। कम्युनिस्टों की इस आशातीत सफलता को ध्यान में रखकर चुनाव आयोग ने फरवरी 1953 में कम्युनिस्ट पार्टी को राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता प्रदान कर दी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस समय तक यह मान्यता केवल 4 दलों को प्राप्त थी, कम्युनिस्ट पार्टी के अतिरिक्त अन्य तीन दल थे—कांग्रेस, प्रजा समाजवादी पार्टी और जनसंघ।

दूसरे आम चुनावों के परिणामों ने कम्युनिस्ट पार्टी की स्थिति को और भी अधिक सुदृढ़ बनाया। लोक सभा में उसे 29 स्थानों पर सफलता प्राप्त हुई। 1952 में उसे कुल 47,12,009 मत प्राप्त हुए थे, 1957 में उसके पक्ष में पड़े मतों की संख्या 1,20,68,452 हो गई थी। इस प्रकार अब यह सीटों की दृष्टि से ही नहीं बल्कि प्राप्त मतों की दृष्टि से भी देश की दूसरी बड़ी पार्टी थी। अब पहली बार देश के लगभग सभी विधानमण्डलों में उसके प्रतिनिधि मौजूद थे। यही नहीं आन्ध्र प्रदेश और पश्चिमी बंगाल में वह मुख्य विरोधी पार्टी थी तथा केरल में उसे शासक दल की भूमिका को अदा करने का अवसर प्राप्त हुआ था। इतिहास में यह पहला अवसर था जब संसार के किसी भाग में बैलट बाक्स के माध्यम से कम्युनिस्टों को अपना शासन स्थापित करने में सफलता प्राप्त हुई थी।

जैसा कहा जा चुका है कम्युनिस्ट पार्टी में राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति हमेशा से विरोधी दृष्टिकोण पाये जाते रहे हैं। 1959 में इसी प्रकार की एक समस्या उस समय प्रस्तुत हुई जबकि भारत और चीन के बीच एक सीमा विवाद उठ खड़ा हुआ। पार्टी की राष्ट्रीय परिषद् ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें मैकमोहन रेखा को भारत की पूर्वी सीमा बताया गया तथा चीन के इस कार्य पर आपत्ति प्रकट की गई कि वह इस सम्बन्ध में पाकिस्तान, सिक्किम और भूटान से

बातचीन कर रहा है। प्रस्ताव मे कहा गया कि चीन को केवल भारत से ही बात नही करनी चाहिए, 1961 मे इस स्थिति को फिर से दुहराया गया। लोक सभा मे कम्युनिस्ट पार्टी के नेता एस० ए० डागे ने सीमा विवाद पर भारत सरकार के दृष्टिकोण का पूर्ण रूप से समर्थन किया। पार्टी के अन्दर कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जिन्हे यह स्थिति मान्य नही थी, इन लोगो का कहना था कि सीमा विवाद मे भारत का दृष्टिकोण गलत था और चीन का सही। इस प्रकार के कम्युनिस्ट पश्चिमी वगाल मे एक वडी सख्या मे पाये जाते थे। फलत पार्टी के अन्दर पाये जाने वाले यह मतभेद पार्टी के बाहर भी व्यक्त किये जाने लगे।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी मे विवादग्रस्त एक तीसरा प्रश्न भी था और वह यह था कि शासक दल के प्रति पार्टी का दृष्टिकोण क्या होना चाहिए? अप्रैल 1961 मे पार्टी सम्मेलन मे अजय घोप और डागे ने यह मत प्रतिपादित किया था कि समाजवादी नीतियो के कार्यान्वयन के लिए कम्युनिस्ट पार्टी को एक 'राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक मोर्चा' को गठित करने का प्रयास करना चाहिए और इस मोर्चे मे काग्रेस के अन्दर पाये जाने वाले वामपथी तत्त्वो को भी स्थान दिया जाना चाहिए। पार्टी सम्मेलन ने डागे-घोष दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया, परन्तु जव राष्ट्रीय परिषद् के निर्वाचन का प्रश्न आया तो उसने पार्टी मे एकता कायम रखने की दृष्टि से सकीर्णतावादी तत्त्वो को भी चुन लिया। इस प्रकार 110 सदस्यो की राष्ट्रीय परिषद् मे जहाँ 60 सदस्य अपने सही दृष्टिकोण के कारण चुने गये थे, वहाँ 50 सकीर्णतावादी भी उनके साथ निर्वाचित कर लिये गये।

तीसरे आम चुनाव के पहले कम्युनिस्ट पार्टी ने जो घोषणा-पत्र जारी किया उसमे यह कहा गया कि कम्युनिस्ट पार्टी काग्रेस को 'प्रतिक्रियावादी' सस्था नही मानती। इसलिए यदि आगामी चुनाव मे काग्रेस की समाजवादी नीतियो की कार्यान्विति को सम्भव बनाने के लिए कम्युनिस्ट तथा अन्य लोकतान्त्रिक प्रत्याशी एक वडी सख्या मे निर्वाचित हो जाते है तो पार्टी को उसी से सन्तोप हो जायगा। 1962 की जनवरी मे महामन्त्री अजय घोष का देहान्त हो गया। उनके निधन के उपरान्त दल मे एकता कायम रखने के लिए पार्टी सविधान मे सशोधन किया गया जिसके फलस्वरूप केन्द्रीय कार्यकारिणी की सदस्य-सख्या 25 से 30 हो गई और सेक्रिटेरियट की 5 से 9। अभी तक पार्टी का मुख्य कार्यपालिका अधिकारी महामन्त्री होता था, अव दो पदाधिकारी हो गये—अध्यक्ष और महामन्त्री। इन दो पदो पर डागे और नम्बूदिरीपाद को निर्वाचित किया गया। परन्तु पार्टी की यह एकता स्थायी सिद्ध नही हो सकी। अक्टूबर 1962 मे चीन ने भारत पर आक्रमण किया। देश के अन्य राजनीतिक दलो के साथ कम्युनिस्ट पार्टी की राष्ट्रीय परिषद् ने भी चीनी आक्रमणकारियो की भर्त्सना की, परन्तु राष्ट्रीय परिषद् मे कुछ सदस्य ऐसे भी थे जो चीनियो की इस आलोचना को गलत मानते थे। इनमे से तीन पार्टी के सेक्रिटेरियट के भी सदस्य थे। अत उक्त प्रस्ताव के पारित होने के बाद इन तीनो—ज्योति बसु, सुन्दरैया और हरीकिशन सिह सुरजीत ने सेक्रिटेरियट से त्याग-पत्र दे दिया। नम्बूदिरीपाद ने महामन्त्री के पद से त्याग-पत्र देने की इच्छा व्यक्त की, किन्तु उन्होने इस पर आग्रह नही किया। इसके बाद अनेक वामपथी कम्युनिस्ट गिरफ्तार कर लिये गये—इनमे नम्बूदिरीपाद, ज्योति बसु, सुन्दरैया और सुरजीत सभी शामिल थे।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि पार्टी के अन्दर आन्तरिक विवाद अव उस स्थिति पर पहुँच गया था जहाँ से किसी भी सम्बद्ध पक्ष के लिए यह सम्भव नही रह गया था कि वह दूसरे के साथ समझौता कर सके। इस पृष्ठभूमि मे अप्रैल 1964 मे राष्ट्रीय परिषद् की एक बैठक हुई। इस बैठक मे से 32 सदस्य उठकर चले आये, बाहर आने वालो मे गोपालन और नम्बूदिरीपाद भी शामिल थे।

जुलाई 1964 मे इन्ही के नेतृत्व मे तेनाली मे विरोधी कम्युनिस्टो का एक सम्मेलन हुआ

और इस प्रकार कम्युनिस्ट आन्दोलन म एक पहला दरार पडी। अपन तनाली अधिवेशन म इन कम्युनिस्टो न अपनी नीति की घोषणा करत हुए कहा कि वतमान भारतीय राज्य क साथ उनका कोई समझौता नहा हो सकता तथा नेहरू की नीतिया क साथ उनका पूण विरोध है क्योकि उनम सयुक्त राष्ट्र अमरीका की नव उपनिवेशवादी और आक्रमणकारी योजनाओ के कार्यान्वयन क लिए माग प्रशस्त होता है।

8 सितम्बर 1964 को लोक सभा के 32 कम्युनिस्ट सदस्यो म 11 ने गोपालन के नतृत्व म अपना एक अलग गुट बना लिया फलत सदन म कम्युनिस्ट पार्टी की स्थिति दूसर बड़े दल की नहा रही।

14 सितम्बर को राष्ट्रीय परिषद् न उन सब लोगो को पार्टी सदस्यता स निकाल दिया जिन्होने तनाली सम्मेलन म भाग लिया था।

नयी पार्टी न अपना नाम कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) रखा। अविभाजित कम्युनिस्ट पार्टी के लगभग एक तिहाई सदस्यो न नयी पार्टी की सदस्यता स्वीकार करली।

इन पार्टियो की राजनीतिक स्थिति को समझन क लिए इनके 1971 क घोषणा पत्रो की विवेचना आवश्यक है।

कम्युनिस्ट पार्टी का चुनाव घोषणा-पत्र—कम्युनिस्ट पार्टी न अपन चुनाव घोषणा-पत्र म यह कहा था कि उसका चुनाव लक्ष्य दक्षिणपथी प्रतिक्रियावादी शक्तियो को पराजित करना तथा उनके इस प्रयास को विफल बनाना है कि वे क म अपनी सत्ता स्थापित कर सक तथा एक एसी लोकसभा की रचना कर सक जिसका रुझान पिछली लोकसभा की अपेक्षा अधिक वामपथी और अधिक लोकतान्त्रिक हो तथा जो सविधान म मूलभूत परिवतनो को लाने और ससद की सर्वोच्चता को स्थापित करन के लिए वचनबद्ध हो।

घोषणा पत्र की प्रस्तावना म पार्टी न सिण्डीकेट जनसघ और स्वतन्त्र पार्टी क गठबन्धन की कट शब्दो म आलोचना की थी तथा यह कहा था कि हमारे वाममार्गी आन्दोलन को हमेशा क लिए नष्ट करने के लिए सयुक्त समाजवादी पार्टी क नतत्व न लोकतन्त्र और समाजवाद क इन शत्रुओ के साथ खुले रूप स गठबन्धन करना स्वीकार किया है। पार्टी न सत्तारूढ काग्रस की भी इसलिए आलोचना की कि बको के राष्ट्रीयकरण क बाद जनता म जो आशाय जागृत हुई थी उन्ह पूरा करने म वह असमथ रहा है।

कम्युनिस्ट पार्टी न अपन घोषणा पत्र म माक्सवादी पार्टी की भी आलोचना की। उसन माक्सवादियो के इस दृष्टिकोण को गलत बताया कि सत्तारूढ काग्रस और महा गठबन्धन की पार्टियो म कोई अन्तर नहीं हैं। उसन कहा कि इन दोनो से अपनी दूरी को समान रखने की ओट म माक्सवादी पार्टी यथाथ म कम्युनिस्ट पार्टी तथा अन्य लोकतान्त्रिक पार्टियो को अपन आक्रमण का लक्ष्य बना रही है। पार्टी न माक्सवादियो पर वामपथी एकता जन सगठनो एव जन-आन्दोलन म फूट डालने का आरोप लगाया। अपन तथाकथित उग्रवाद की आड म माक्सवादियो को सिण्डीकेट क साथ समझौता करने म और दक्षिणपथी प्रतिक्रियावाद क चुनाव को ताल मेल करन म कोई सकोच नहा हुआ है। इस प्रकार माक्सवादी पार्टी सिण्डीकेट जनसघ और स्वतन्त्र पार्टी का खेल खेल रही है।

घोषणा पत्र म यह माग नहा की गई थी कि सम्पत्ति के अधिकार को सविधान म स्थान न दिया जाय परन्तु उसम यह अवश्य कहा गया है कि एकाधिकारी पूजीपतियो भूतपूव नरेशो जमीदारो तथा अन्य सम्पन्न व्यक्तियो क सम्पत्ति के अधिकार को सीमित किया जाय। उसने माग की कि सर्वोच्च न्यायालय क गठन म आवश्यक सुधार किय जायें एकाधिकारी पूजी द्वारा नियन्त्रित सस्थानो का राष्ट्रीयकरण किया जाय प्रगतिशील भूमि-सुधार किय जायें राज्यो के विधानमण्डलो क द्वितीय सदन समाप्त किय जायें तथा मतदान की आयु 21 स 18 वष कर दी जाय।

घोषणा-पत्र मे कुछ सांविधानिक सुधारो की भी माँग की गयी। इस सम्बन्ध मे पहली माँग यह थी कि प्रिवी पर्सो तथा भूतपूर्व नरेशो के विशेषाधिकारो के सम्बन्ध मे जो प्राविधान संविधान मे पाये जाते है उन्हे वहाँ से हटाया जाय। दूसरी माँग यह थी कि इण्डियन सिविल सर्विस के अधिकारी जो अभी भी सेवारत है, उन्हे अनिवार्य रूप से सेवानिवृत्त कर दिया जाय तथा संविधान के 314वे अनुच्छेद को भी संविधान से निकाला जाय ताकि 'ब्रिटिश शासन के इन दासो' को दिये जाने वाले संरक्षण का अन्त किया जा सके।

कम्युनिस्ट पार्टी ने यह भी माँग की कि सांविधानिक संशोधनो को पारित करने के लिए दोनो सदनो के मिले-जुले अधिवेशनो को करने की व्यवस्था की जाय, देश की मौलिक एकता को ध्यान मे रखते हुए राज्यो को अधिक शक्तियाँ प्रदान की जाये तथा गवर्नरो के पद खत्म किये जाये। उसने यह भी प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि संसद की सर्वोच्चता को फिर से स्थापित करने के लिए भी संविधान मे संशोधन किये जाये। इसके हेतु पार्टी का यह सुझाव था कि संसद द्वारा व्यक्त जनता की इच्छा न्यायपालिका की चुनौती से परे होनी चाहिए। उसका यह भी सुझाव था कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की संख्या पर कोई भी सांविधानिक प्रतिबन्ध नही होना चाहिए तथा मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति केवल ज्येष्ठता के आधार पर नही होनी चाहिए तथा संसद को साधारण बहुमत से किसी भी न्यायाधीश को पदच्युत करने का अधिकार होना चाहिए।

कृषि के क्षेत्र मे पार्टी की माँग थी कि भूमि की हदबन्दी नीची की जाए, हदबन्दी के लिए परिवार को इकाई माना जाये तथा इस सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार के अपवादो को मान्यता न दी जाये। उसने अतिरिक्त भूमि को भूमिहीनो मे वितरित करने का वचन दिया।

औद्योगिक क्षेत्र मे पार्टी का कहना था कि एकाधिकारी संस्थानो का राष्ट्रीयकरण किया जाए तथा विदेशी पूंजी पर राज्य का अधिकार स्थापित किया जाय। उसने यह भी कहा कि सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार होना चाहिए ताकि वह राष्ट्र की अर्थव्यवस्था मे एक निर्णायक भूमिका अदा कर सके।

मूल्यो के सम्बन्ध मे कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणा-पत्र मे यह माँग की गई थी कि कीमतो को स्थिर रखने के लिए प्रभावी कदम उठाये जाने चाहिए, अग्रिम व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाये जाने चाहिएँ तथा सट्टे के ऊपर बैंको को उधार नही देना चाहिए। पार्टी ने इस बात का भी सुझाव दिया कि दैनिक आवश्यकताओ की वस्तुओ का वितरण सस्ते मूल्य की दुकानो के माध्यम से किया जाना चाहिए।

पार्टी ने देश मे प्रचलित शिक्षा-प्रणाली को भी बदलने की माँग की ताकि देश के धर्म-निरपेक्ष एव तकनीकी आधार को शक्तिशाली बनाया जा सके। घोषणा-पत्र मे यह भी कहा गया कि छात्रो को शिक्षा संस्थाओ के प्रबन्ध मे भाग दिया जाना चाहिए तथा वैज्ञानिक संस्थाओ को अधिक स्वायत्त बनाना चाहिए।

कम्युनिस्ट पार्टी ने साम्प्रदायिक शक्तियो को खत्म करने के लिए प्रभावी प्रशासकीय कदम उठाने की माँग की तथा यह कहा कि अल्पसंख्यको एव पिछडी हुई जातियो के अधिकारो की रक्षा के लिए आवश्यक कार्यवाही की जानी चाहिए।

विदेश नीति के क्षेत्र मे पार्टी ने कहा कि 'उपनिवेश-विरोध, साम्राज्य विरोध तथा सोवियत संघ और अन्य समाजवादी देशो के साथ मैत्री कायम रखने के सिद्धान्तो को ध्यान मे रखकर गुट-निरपेक्षता की नीति का अनुसरण करना चाहिए।' पार्टी ने जातिवाद की नीति की आलोचना की तथा उसने कहा कि ब्रिटिश कॉमनवैल्थ मे भारत को अलग हो जाना चाहिए। उसने वियतनाम के लोकतान्त्रिक गणराज्य, दक्षिण वियतनाम की अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार, जर्मन लोकतान्त्रिक गणराज्य तथा कोरिया के लोकतान्त्रिक जन-गणराज्य को पूर्ण मान्यता प्रदान करने पर आग्रह किया। उसने हिन्द-पाक सम्बन्धो को ताशकन्द समझौते की भावना के अधीन सुधार करने की माँग की तथा यह भी कहा कि चीन के साथ सम्बन्धो को सामान्य बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(iii) समाजवादी पार्टियाँ

भारत मे समाजवादी पार्टियो का इतिहास विलयनो एव विघटनो का इतिहास रहा है। अनेक वार समाजवादी आन्दोलन को एकता के सूत्र मे पिरोने के प्रयास किये जा चुके है, इन प्रयत्नो को तात्कालिक सफलता भी मिली है परन्तु अल्प समय मे ही इनमे फिर से फूट पड गई है। यह क्रम निरन्तर चलता रहा है।

1933–34 मे काग्रेस के अन्दर एक वामपथी सगठन के रूप मे समाजवादी पार्टी का गठन हुआ था, उस समय इसका नाम काग्रेस समाजवादी पार्टी था। 1948 मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त यह काग्रेस से अलग हो गई और इसने अपने आप को भारतीय समाजवादी पार्टी का नाम दिया। प्रथम आम चुनाव के थोडे दिन पूर्व आचार्य कृपलानी के नेतृत्व मे कुछ गाधीवादी कहलाने वाले व्यक्ति भी काग्रेस से अलग हो गये थे और उन्होने अपने आपको किसान-मजदूर प्रजा पार्टी का नाम दिया था। इन दोनो पार्टियो को आशा थी कि चुनाव मे इन्हे काफी सफलता मिलेगी। समाजवादी पार्टी तो यह आशा सजोए वैठी थी कि चुनाव के उपरान्त वह काग्रेस की मुख्य विकल्प होकर सामने आयेगी। परन्तु चुनाव के परिणाम इन दोनो दलो के लिए अत्यन्त निराशाजनक सिद्ध हुए। अत यह आवश्यक समझा गया कि समान विचारधारा वाले दलो को आपस मे मिल जाना चाहिए। इसलिए 12 सितम्वर 1952 को इन दोनो पार्टियो का विलयन हो गया और इस प्रकार प्रजा समाजवादी पार्टी (प्रसोपा) का गठन हुआ। इस विलयन के परिणामस्वरूप दल का नियन्त्रण समाजवादियो के हाथो मे चला गया क्योकि इस नये दल के सभी मन्त्री पुराने समाजवादी ही थे, परन्तु दल के सम्मानित स्थान किसान-मजदूर प्रजा पार्टी के सदस्यो को दिये गये। आचार्य कृपलानी नये दल के अध्यक्ष वने और अशोक मेहता उसके महामन्त्री।

उक्त दलो के विलयन मे कोई कठिनाई नही हुई। यह कार्य सुगमतापूर्वक इसलिए सम्पन्न हो गया क्योकि वातचीत के दौरान विचारधारा से सम्वद्ध प्रश्नो को नही उठाया गया, केवल आम सिद्धान्तो की चर्चा की गई। परन्तु थोडे दिनो साथ रहने के अनुभव ने यह प्रमाणित कर दिया कि दोनो के कार्यक्रम, काम करने का तरीका, प्रचार, भाषा आदि सभी मे वहुत अन्तर थे। वस्तुत पुरानी समाजवादी पार्टी मे ही विचारधारा की समानता का अभाव था, किसान-मजदूर प्रजा पार्टी के साथ विलयन करके उसमे एक नये असमान तत्त्व को स्थान दिया गया। अत ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक था कि दल के आन्तरिक सघर्ष खुलकर सामने आते।

प्रसोपा के अधिकाश नेताओ का यह मत था कि उन्हे उन राज्यो मे जिनमे कम्युनिस्ट और साम्प्रदायिक शक्तियाँ मजवूत हे काग्रेस का समर्थन करना चाहिए। 1953 मे इस सम्वन्ध मे जयप्रकाश नारायण और नेहरू जी मे वातचीत भी हुई थी। परन्तु यह दृष्टिकोण डा० राम मनोहर लोहिया और उनके युवा साथियो की समझ मे नही आया। इनका कहना था कि हमे काग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी दोनो को समान दूरी पर रखना चाहिए। इसी वीच 1954 मे ट्रावनकोर-कोचीन (अव केरल) मे ट्रावनकोर-तामिलनाद काग्रेस ने राज्य के तमिल भाषी क्षेत्रो को मद्रास राज्य मे मिलाने के लिये सत्याग्रह आरम्भ कर दिया। इस समय इस राज्य मे थानू पिल्ले के नेतृत्व मे प्रसोपा का मन्त्रिमण्डल कायम था, जो अल्पमत मे होते हुए भी काग्रेस के समर्थन से वहाँ टिका हुआ था। इस मन्त्रिमण्डल के समय मे तमिल सत्याग्रहियो के ऊपर गोली चला दी गई। डा० लोहिया ने माँग की कि इस गोलीकाण्ड के वाद थानू पिल्ले मण्त्रिमण्डल को त्याग-पत्र दे देना चाहिए। मुख्य मन्त्री ने इस माँग को अस्वीकार कर दिया। इस पृष्ठभूमि मे दल मे एक आन्तरिक सकट उत्पन्न हो गया। इसका निराकरण करने के लिए नागपुर मे नवम्वर 1954 मे दल का एक सम्मेलन हुआ, जिसमे एक प्रस्ताव पारित किया गया जिसके अनुसार गोलीकाण्ड पर खेद तो व्यक्त किया गया, परन्तु मन्त्रिमण्डल से त्याग-पत्र देने को नहीं कहा गया। इस प्रस्ताव के पारित होने के वाद डा० लोहिया ने दल से त्याग-पत्र दे दिया और उन्होने दिसम्वर 1955 मे समाज-

वादी पार्टी के नाम से एक नये दल का गठन किया। ससद के चार प्रसोपा सदस्यो ने तथा 39 राज्य विधायको ने लोहिया की नयी पार्टी की सदस्यता स्वीकार कर ली। लोहिया ने सत्ता पर उसका अधिकार स्थापित करने के लिए एक मान अवधि योजना तैयार की। यहा इस योजना की विवेचना करने की कोई आवश्यकता नही है क्योकि इस समय समाजवादी आन्दोलन सत्ता प्राप्त करने के आस पास भी कहा नही था। इस पृष्ठभूमि मे दोनो पार्टियो ने 1957 का चुनाव अलग अलग लड़ा। चुनाव के फलस्वरूप प्रसोपा को ससद मे 19 स्थान प्राप्त हुए और लोहिया की पार्टी को मात। पहले चुनाव के बाद प्रजा समाजवादी पार्टी प्राप्त मतो की दृष्टि से देश की दूसरी बड़ी पार्टी थी। यद्यपि प्राप्त सीटो की दृष्टि मे कम्युनिस्ट का स्थान काग्रेस के बाद आता था। 1957 के चुनाव के बाद तो इन दोनो पार्टियो द्वारा प्राप्त मतो की कुल सख्या भी कम्युनिस्ट पार्टी से कम थी। अत इस सन्दर्भ मे दोनो पार्टियो के हित मे यही था कि वे एक दूसरे के साथ विलयन के लिए पुन बातचीत चलाये। यह बातचीत हुई भी परन्तु ससे कोई वाछित फल नही निकला। लोहिया का कहना था कि प्रसोपा को समाजवादी पार्टी का कार्यक्रम स्वीकार कर लेना चाहिए। यह प्रस्ताव प्रसोपा को मान्य नही था क्योकि इसको मानने का अर्थ था लोहिया के आगे पूर्ण समर्पण। फलत कुछ वर्षों के लिए यथास्थिति बनी रही।

तीसरे आम चुनाव के बाद एकीकरण के लिए बातचीत को फिर से शुरू किया गया। दोनो पार्टियाँ इस तथ्य की उपेक्षा नही कर सकती थी कि आपस मे लडने के कारण चुनाव मे उनकी स्थिति खराब हुई है। विलयन का यह आन्दोलन सर्वप्रथम उत्तर प्रदेश मे आरम्भ हुआ। दिसम्बर 1962 मे इन दोनो की विधानमण्डलीय शाखाओ ने विधानमण्डल मे एक सयुक्त विधान मण्डलीय पार्टी की स्थापना कर ली और उन्होने उसे यूनाइटेड सोशलिस्ट पार्टी का नाम दिया। प्रश्न था कि इस सम्बन्ध मे जो कुछ यू पी मे हुआ है उसे क्या केवल एक क्षेत्रीय घटना माना जाय अथवा उसे एक अखिल भारतीय रूप दिया जाय। यहा यह उल्लेखनीय है कि यूनाइटेड सोशलिस्ट पार्टी ने लोहिया की पार्टी के कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया था। जैसा कहा जा चुका है कि लोहिया इतने दिनो से इसी की माग करते आये थे। अत इस सन्दर्भ मे समाजवादी पार्टी के भरतपुर अधिवेशन मे अधिकाश प्रतिनिधियो ने प्रसोपा के साथ विलयन के प्रस्ताव का समर्थन किया। इसलिए इस अधिवेशन ने अपने राष्ट्रीय नेताओ को प्रसोपा के नेताओ से इस सम्बन्ध मे बातचीत चलाने का अधिकार प्रदान किया। फलत दोनो दलो के बीच बातचीत हुई। प्रसोपा मे कुछ लोग पुनरेकीकरण की वाछनीयता मे सन्देह रखते थे। इस प्रकार के लोगो मे अशोक मेहता का नाम विशेष रूप मे उल्लेखनीय है। अप्रैल 1964 मे उन्होने प्रसोपा से त्याग पत्र दे दिया और काग्रेस की सदस्यता स्वीकार कर ली। अशोक मेहता के प्रसोपा को छोड़ने के बाद विलयन के लिए आवश्यक भूमि तैयार हो गई। मई 1964 मे दोनो दलो के अधिवेशन हुए प्रसोपा का अधिवेशन रामगढ मे बुलाया गया और समाजवादी पार्टी का गया मे। जून 1964 के आरम्भ मे नये दल की स्थापना हो गई। इस दल को सयुक्त समाजवादी पार्टी का नाम दिया गया। एस एम जोशी नये दल के अध्यक्ष चुने गये और राजनारायण सिह उसके महामन्त्री बने। परन्तु यह गठबन्धन बहुत दिनो तक नही चल सका।

जनवरी 1965 मे ससोपा की राष्ट्रीय समिति का बनारस मे अधिवेशन हुआ। इस समिति की बैठक मे से पुरानी प्रसोपा के एन जी गोरे एवं एम पी और उनके 11 सहयोगी बाहर चले आये। उसी दिन उन्होने यह घोषणा की कि प्रसोपा के समाजवादी पार्टी के साथ विलयन को रद्द किया जा रहा है तथा प्रसोपा को पुनर्जीवित किया जा रहा है। परन्तु इस बात को प्रसोपा के ही पुराने नेता एस एम जोशी और करल के नेता चन्द्रशेखरन ने स्वीकार नही किया। बनारस मे जोशी को ससोपा का अध्यक्ष दुबारा चुन लिया गया इस बार महामन्त्री राम सेवक यादव चुने गये।

रामेश के नेतृत्व मे असन्तुष्ट गुट ने अलग बैठक की और उन्होने ससोपा की एक तदर्थ

राष्ट्रीय समिति को नियुक्त किया। प्रेम भसीन इस समिति के महामन्त्री चुने गये। फरवरी 1965 मे एन० जी० गोरे को दल का अध्यक्ष चुना गया।

चौथे आम चुनाव को इन दोनो दलो ने अलग-अलग लडा तथा उसके लिए उन्होने अलग-अलग घोषणा-पत्र जारी किये। प्रसोपा ने अपने घोषणा-पत्र मे कहा कि भूमि सुधारो को प्रभावी ढग से लागू किया जाय, बजर भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए भूमि सेना सगठित की जाय, क्षेत्रीय प्रणाली का अन्त किया जाय, 1 लाख से ऊपर की जनसख्या वाले नगरो मे राशनिग आरम्भ किया जाय तथा किसानो को कृषि वस्तुओ का उचित मूल्य दिया जाय। पार्टी ने यह भी माँग की कि भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए विशेष अदालते गठित की जाये, प्रशासन के विरुद्ध लोगो की शिकायतो को दूर करने के लिए एक स्वतन्त्र अधिकारी की नियुक्ति की जाय, मतदाताओ को अपने प्रतिनिधियो को वापिस बुलाने का अधिकार दिया जाय, चुनावो के तीन महीने पूर्व मन्त्रिमण्डलो के त्याग-पत्र ले लिये जाये तथा अन्तरराज्यीय विवादो का निराकरण करने के लिए एक आयोग गठित किया जाय।

ससोपा ने अपने घोषण-पत्र मे केन्द्र और राज्यो मे गैर-काग्रेसी सरकारो की स्थापना के लिए आह्वान किया। उसने कहा कि सघ और राज्यो के सम्बन्धो को फिर से इस प्रकार परिभाषित किया जाय ताकि केन्द्र राज्यो मे स्थापित 'जनता की सरकारो' का गला न घोट सके। आर्थिक मामलो मे ससोपा का सुझाव था कि व्यक्तिगत व्यय 1500 रुपये से अधिक नही होना चाहिए तथा इससे अतिरिक्त आय राज्य के पास जमा हो जानी चाहिए जो उसके स्वामी को या उसके उत्तराधिकारियो को 25-30 वर्ष के बाद लौटा दी जाय। घोषणा-पत्र मे यह भी कहा गया कि सिचाई की एक सप्तवर्षीय योजना तैयार की जानी चाहिए तथा वह भूमि, जो न्यूनतम उत्पादन देने मे असमर्थ रहे उस पर राज्य का अधिकार हो जाना चाहिए।

लोकसभा के चुनाव मे ससोपा को 23 स्थान प्राप्त हुए और प्रसोपा को 13। इसी प्रकार राज्यो की विधान सभाओ मे ससोपा को 175 सीटो पर सफलता मिली और प्रसोपा को 106 सीटो पर। यदि इन आँकडो की तुलना 1962 के चुनाव-परिणामो से की जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि चौथे चुनाव मे प्रसोपा की शक्ति क्षीण हुई थी तथा उनके मुकाबले मे ससोपा की शक्ति मे वृद्धि हुई थी। चुनावो के बाद जब 8 राज्यो मे मिली-जुली सरकारे बनी तो दोनो पार्टियो ने उनमे हिस्सा बँटाया।

1969 मे जब काग्रेस मे फूट पड जाने के परिणामस्वरूप इन्दिरा गाधी के मन्त्रिमण्डल का ससदीय बहुमत समाप्त हो गया तो उस समय इन दोनो दलो ने उसके प्रति भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण अपनाये। वस्तुत इस प्रश्न पर ससोपा मे आन्तरिक एकता का अभाव था। एस० एम० जोशी के नेतृत्व मे कुछ सदस्यो का यह विश्वास था कि श्रीमती गाधी को अपनी समाजवादी प्रतिज्ञाओ को कार्यान्वित करने का समय दिया जाना चाहिए। दूसरे गुट मे नेता राजनारायण थे जिनका कहना था कि श्रीमती गाधी की सरकार को अपदस्थ करने के लिए काग्रेस (सगठन) के साथ साँठ-गाँठ की जानी चाहिए। इन दो के अतिरिक्त एक तीसरा गुट कर्पूरी ठाकुर का था। उनका कहना था कि गैर-काग्रेसवाद का तकाजा है कि काग्रेस के दोनो गुटो का विरोध किया जाय। इन मतभेदो का निराकरण करने के लिए ससोपा का एक विशेष अधिवेशन जनवरी 1970 मे सोनपुर मे हुआ। इस सम्मेलन मे एक प्रस्ताव पारित किया गया जिसमे यह कहा गया कि पार्टी सरकार का तख्ता पलटने के लिए किसी भी दल के साथ समझौता करने को तैयार है तथा वह ऐसे दलो के साथ गठबन्धन करने को उद्यत ह जो एक निश्चित समय मे पूरे होने वाले समाजवादी कार्यक्रम मे विश्वास करते हो। इसके बाद राज्यो मे सयुक्त मोर्चे गठित किये गये जिनमे जनसघ और स्वतन्त्र पार्टी को भी स्थान दिया गया। पार्टी-सदस्यो मे इसकी अनुकूल प्रतिक्रिया नही हुई। लोकसभा के 9 ससोपा सदस्यो ने इसकी आलोचना करते हुए कहा कि पार्टी नेतृत्व की यह नीति दल मे फूट के लिए मार्ग-प्रशस्त कर रही ह। इस स्थिति को टालने के लिए

सोनपुर प्रस्ताव की एक सवमा य व्याख्या की ग इसम यह कहा गया कि दन दोना काग्रस पार्टिया का गर समाजवा ी समझना है। इसलिए वह सभी काग्रस सरकारा का चाहे व इन्दिरा गाधी की काग्रस की हो और चाहे सिण्डीकट का उखाड फकने क लिए सभी दला क साथ सहयाग करगा।

ससोपा क उक्त दृष्टिकोण स भिन्न दृष्टिकोण प्रसोपा का था। फरवरी 1970 म दल की राष्ट्रीय कायकारिणी न एक प्रस्ताव पारित किया जिसम यह कहा गया कि वह तात्कालिक समाजवादी नातिया की कायान्विति क लिए मत्ताहढ काग्रस के साथ बातचीत चलान के लिए तथा एस सभा दला क साथ सहयाग करन का तयार है जो राष्ट्रवाद धम निरपेक्षता लोकतन्त्र और समाजवाद म आस्था रखत है। इस प्रस्ताव के एक सप्ताह बाद प्रसोपा न कम्युनिस्ट पार्टी क साथ सामाजिक और आर्थिक समस्याआ क लिए जन आन्दोलना को सगठित करन म सहयाग करने का भी निश्चय किया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 1971 के मध्यावधि चुनाव क पूव य दाना पार्टिया एक दूसर स बहुत दूर पहुँच गई था। अत एसी स्थिति म यह अनिवाय था कि दाना दल चुनाव अलग अलग लडत। इस चुनाव क लिए प्रसोपा ने जो अपना घोषणा पत्र जारी किया उसम कहा गया कि ससद की सर्वोच्चता का फिर स स्थापित करन क लिए श्री नाथपाई द्वारा प्रस्तुत विधयक का कानून का रूप दिया जाय सविधान म सशोधना का सुझाव दन क लिए एक आयाग नियुक्त किया जाय प्रशासन स भ्रष्टाचार दूर किया जाय शहरी सम्पत्ति का परिसीमन किया जाय सम्पत्ति कर लगाया जाय राशनिंग लागू किया जाय तथा उचित मूल्य की दुकान खाली जाय न्यूनतम वेतन का आश्वासन दिया जाय किसाना का कृषि वस्तुआ का उचित मूल्य दिलाया जाय तथा सम्पन्न किसाना स लगान वसूल किया जाय स्त्रिया का हर स्तर तक मुफ्त शिक्षा दी जाय मतदान की आयु 18 वष की जाय बराजगारी का भत्ता तथा वृद्धावस्था क लिए पेशन की व्यवस्था की जाय गुट निरपेक्षता की नीति का अनुसरण वास्तविक ढग स हा हिन्द महासागर को स्वतन्त्र रखा जाय रूजगायन के साथ मैत्री कायम की जाय पाकिस्तान के साथ सम्बन्ध सुधारे जाय चीनी विस्तारवाद को रोकने के लिए एशियाई देशा क साथ सम्बन्ध मजबूत बनाये जाय तथा सयुक्त राष्ट्र सघ का शक्तिशाली बनाया जाय।

ससोपा क चुनाव घोषणा पत्र म निम्न बाता पर बल दिया गया था—

(i) नय सविधान की रचना के लिय एक नवीन सविधान सभा को बुलाया जाय (ii) राज्यपाल और कलक्टर के पदा को समाप्त कर दिया जाय (iii) सभी मुख्य कायपालिका अधिकारिया का निर्वाचन हा (iv) न्याय को कम दामा पर पाने की व्यवस्था की जाय (v) शिक्षा प्रणाली का अग्रजी क आधिपत्य स मुक्त किया जाय (vi) धम निरपेक्षता एव साम्प्रदायिक एकता की रक्षा की जाय (vii) हरिजना क लिए 40 50 प्रतिशत सरकारी नौकरिया सुरक्षित रखी जाय (viii) व्यय का परिसीमन 1500 रुपय पर किया जाय (ix) सात साल की सिचाई योजना तयार की जाय (x) भारी उद्योगा और विदेशी पूजी का समाजीकरण किया जाय (xi) 1000 कराड रुपय की राष्ट्रीय राजगार निधि कायम की जाय (xii) सरकारी कर्मचारिया क हडताल करन क अधिकार का मान्यता दी जाय (xiii) माध्यमिक स्तर तक शिक्षा को अनिवाय बनाया जाय (xiv) गुट निरपक्षता की नीति का रचनात्मक बनाया जाय (xv) राष्ट्रमण्डल म भारत का अलग रखा जाय तथा देश क कृत्रिम विभाजन को समाप्त किया जाय (xvi) तिब्बत का या ता स्वाधीन बनाया जाय अथवा कैलाश मानसरोवर को भारत और चीन के बीच का सीमान्त बनाया जाय।

चौगुट मार्चे क चारा साझीदारा को मध्यावधि चुनाव म मुह की खानी पडी। ससोपा की स्थिति तो विशेष रूप स खराब रही। म ज्ञार लोकसभा म उस कवल तीन स्थान प्राप्त हुए जबकि 1967 के चुनाव म उस 23 स्थाना पर सफलता मिली था। प्रसोपा की स्थिति भी कुछ

अच्छी नही थी। इस बार उसे केवल दो सीटो पर सफलता मिली, पिछली बार उसे 13 सीटे मिली थी। लोकसभा के चुनावो के साथ उडीसा, पश्चिमी बगाल और तमिलनाडु की विधान सभाओ के भी चुनाव हुए थे। यहाँ भी दोनो दलो की स्थिति बहुत खराब थी। 1967 मे प्रसोपा को उडीसा मे 21 सीटो पर सभलता मिली थी, अबकी बार उसे केवल 4 सीटे मिली। इसी प्रकार ससोपा की इस राज्य मे पहले दो सीटे थी, अबकी बार उसे किसी सीट पर सफलता नही मिल सकी। इन दोनो दलो की ऐसी ही स्थिति अन्य राज्यो मे थी। इस सदर्भ मे इन दोनो दलो ने एकता के लिए फिर से प्रयत्न किया। फलत 8 अगस्त 1971 को दोनो दलो ने मिलकर एक नये दल की रचना की जिसे उन्होने सोशलिस्ट पार्टी का नाम दिया। इस पार्टी ने 61 सदस्यो की एक तदर्थ समिति को नियुक्त किया जिसका अध्यक्ष कर्पूरी ठाकुर (ससोपा के अध्यक्ष) को तथा मन्त्री मधु दडवते (प्रसोपा के उपमन्त्री) को निर्वाचित किया गया। परन्तु इस नये दल के अस्तित्व मे आने के थोडे दिन ही वाद उसमे फूट के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। राजनारायण तथा उनके ससोपा के पुराने सात सहयोगियो ने यह माँग की कि उन्हे चौबीसवे सशोधन विधेयक का विरोध करना चाहिये। 27 अगस्त 1971 को एस० एन० द्विवेदी ने दल से त्यागपत्र दे दिया और उन्होने घोषणा की कि वे उडीसा मे काग्रेस और प्रसोपा के गठबन्धन के लिए काम करेगे। इस प्रकार देश मे समाजवादी पार्टियो की पारस्परिक फूट अभी भी ज्यो की त्यो कायम है। उत्तर प्रदेश के चुनावो मे ससोपा, भारतीय क्रान्ति दल के काफी निकट आ गई है और 1974 मे जिन 7 पार्टियो ने आपस मे अखिल भारतीय स्तर पर विलय का प्रस्ताव किया है उसमे ये दोनो भी शामिल हे।

भारतीय जनसघ

इसकी स्थापना 1951 मे हुई थी। वस्तुत इसके पूर्व 1925 मे विजयादशमी के अवसर पर के० बी० हेडगेवार ने 'हिन्दू जाति, धर्म और सस्कृति की रक्षा के लिए तथा प्राचीन हिन्दू राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति' के लिए राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ (आर० एस० एस०) की स्थापना की थी। काग्रेस नेताओ के कारावास के काल मे इसने देश के विभिन्न भागो मे अपनी शाखाये स्थापित कर ली थी। इस काल मे देश मे मुस्लिम सम्प्रदायवाद के उदय ने भी हिन्दुओ मे साम्प्रदायिक भावनाओ को प्रोत्साहित किया। आर० एस० एस० को इस परिस्थिति से बढावा मिला। 1947 मे देश के विभाजन की पृष्ठभूमि मे देश मे सम्प्रदायवादी प्रवृत्तियाँ ऊपर उठकर आयी। अत स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय भारतीय राजनीति का कोई भी विद्यार्थी साम्प्रदायिक शक्तियो की उपेक्षा नही कर सकता था। जनवरी 1948 मे ऐसे ही एक साम्प्रदायिक पागल नाथूराम गोडसे ने महात्मा गान्धी की हत्या कर दी। इसके फलस्वरूप समूचे देश मे आर० एस० एस० तथा अन्य हिन्दू साम्प्रदायिक सगठनो के विरुद्ध रोप की लहर दौड गई। इस सन्दर्भ मे सरकार ने आर० एस० एस० पर प्रतिबन्ध लगा दिया। वाद मे यह प्रतिवन्ध तब हटाया गया जबकि इसके नेताओ ने यह आश्वासन दिया कि उनका सगठन केवल सॉस्कृतिक कार्य करेगा तथा वह अपने आपको राजनीति से दूर रखेगा। इसलिए आर० एस० एस० के कार्यकर्त्ताओ को राजनीतिक कार्यो के सम्पादन के लिये एक नये दल की आवश्यकता थी। जनसघ की स्थापना इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुई थी।

जनसघ के नेताओ ने इस बात का हमेशा प्रतिवाद किया हे कि उनका दल कोई साम्प्रदायिक सगठन है। उसके सबसे पहले अध्यक्ष डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने अनेक बार इस बात का खण्डन किया कि उनके दल का हिन्दू सम्प्रदायवाद के साथ कोई सम्बन्ध है। इस स्थिति को सघ के सभी नेताओ ने अनेक बार दुहराया ह।

जनसघ के सम्बन्ध मे एक पहेली हमेशा से रही ह, वह पहेली यह ह कि आर० एस० एस०

के साथ उसका क्या सम्बन्ध है। सन् 1960 में एक भेंट वार्ता में संघ के एक प्रमुख नेता स्वर्गीय दीनदयाल उपाध्याय ने कहा था कि सांविधानिक दृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल सम्बन्ध यह है कि दल के अनेक सदस्य राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक हैं। आर एस एस एक सांस्कृतिक संगठन है जो राजनीति में भाग नहीं लेता। जनसंघ और आर एस एस में कोई सांविधानिक सम्बन्ध भले हो न हो परन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। उपाध्याय स्वयं आर एस एस के कार्यकर्ता रहे हैं। यथार्थ में जनसंघ को साम्प्रदायिक संगठन का रूप देने में इस तथ्य की एक विशेष भूमिका रही है।

जनसंघ पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के आधिपत्य का एक परिणाम यह रहा है कि उस दल के मुसलमानों के प्रति कभी कोई लगाव नहीं रहा। सच बात यह है कि जनसंघ ने अनेक अवसरों पर अपनी मुस्लिम विरोधी मनोवृत्ति का परिचय दिया है। ऐसी स्थिति में यह भी स्वाभाविक हो है कि जनसंघ पाकिस्तान के विरुद्ध भी एक अजीब दृष्टिकोण का परिचय देता है। द्वितीय चुनाव के पहले संघ ने जो घोषणा पत्र जारी किया था उसमें उसने विभाजन को रद्द करने तथा अखण्ड भारत की स्थापना की मांग की। इसी प्रकार 1960 के उपरान्त जब देश के अनेक भागों में साम्प्रदायिक दंगे हुए तो उस समय जनसंघ का मुस्लिम विरोधी दृष्टिकोण खुलकर सामने आया। उसने भारत सरकार पर यह आरोप लगाया कि उसकी नीति मुसलमानों को खुश करने की है तथा उसे इस नीति का परित्याग कर देना चाहिये। इसने भारतीय मर्यादा और संस्कृति की सराहना की तथा यह मांग की कि गोवध के ऊपर सांविधानिक प्रतिबन्ध लगाया जाय।

चौथे आम चुनाव के बाद जनसंघ ने अपना मुस्लिम विरोधी जिहाद फिर से शुरू कर दिया। उसके नेतृत्व यह कहने लगा कि भारतीय मुसलमान भारतीय संस्कृति और चिन्तन की मुख्य धारा में हमेशा अलग रहे हैं। 1969 में जनसंघ के अखिल भारतीय प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन पटना में हुआ जिसमें यह कहा गया कि सभी विघटनकारी शक्तियों का भारतीयकरण होना चाहिए विशेषत उनका जिनकी निष्ठा भारत के बाहर है और जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से दो राष्ट्र अथवा बहु राष्ट्र के सिद्धान्त में आस्था रखते हैं यद्यपि इसमें कहीं मुसलमानों का नाम नहीं लिया गया था तथापि यह स्पष्ट था कि यह बात किसके लिए कही जा रही है। पार्टी के एक प्रतिष्ठित नेता तथा भूतपूर्व अध्यक्ष बलराज मधोक ने मुसलमानों के एक वर्ग पर यह आरोप लगाया कि वह अभी भी दो राष्ट्रों के सिद्धान्त में विश्वास करता है तथा उसे इस दृष्टिकोण का अविलम्ब त्याग करना चाहिए। 12 फरवरी 1970 को एक भाषण में मधोक ने कहा—यदि भारतीय मुसलमानों को राष्ट्रवादी होना है तो इस्लाम का भारतीयकरण करना आवश्यक है।

पहले आम चुनाव में जनसंघ को 3 प्रतिशत मत प्राप्त हुए उसे लोकसभा में भी कुल तीन सीटें प्राप्त हुई। 1957 के चुनाव में उसकी सीटों की संख्या तीन से बढ़कर चार हो गई। 1962 के चुनाव में इसकी संख्या 14 पर पहुँच गई। 1967 के चौथे चुनाव के बाद लोकसभा में इसके सदस्यों की संख्या बढ़कर 35 पर पहुँच गई थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 1952 से लेकर 1967 तक जनसंघ की शक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। राज्य विधान सभाओं में तो जनसंघ की बढ़ी हुई शक्ति विशेष रूप से व्यक्त हुई। फलत चौथे आम चुनाव के बाद देश के अनेक राज्यों में उसे सरकार में भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ।

जनसंघ की शक्ति मुख्यत देश के हिन्दी भाषी क्षेत्र में ही केन्द्रित है। लोकसभा के उसके एक सदस्य को छोड़कर शेष अन्य सदस्य हिंदी भाषी राज्यों से ही चुने गये हैं। इन राज्यों में मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जहाँ 1967 के चुनाव में उसे लोकसभा की 22 सीटें प्राप्त हुई थीं तथा 175 विधान सभा की सीटों पर सफलता मिली थी। चौथे चुनाव के पूर्व उसने दक्षिण भारत में भी अपने प्रभाव का विस्तार करने का प्रयास किया था। परिणामत आन्ध्र और कर्नाटक के राज्यों की विधान सभाओं में उसे कहने के लिए प्रतिनिधित्व प्राप्त हो गया

था। दक्षिण मे अपने प्रभाव को कायम करने का यह प्रयत्न आज भी जारी है, परन्तु इस प्रयत्न मे उसे कोई विशेष सफलता अभी तक प्राप्त नही हो सकी है। सम्भवत इसका एक बडा कारण यह रहा है कि दक्षिण के लोग उत्तर के 'हिन्दी साम्राज्यवाद' के विस्तार के विरुद्ध है। सघ के राजनीतिक और आर्थिक विचारो की जानकारी हम उसके 1971 के चुनाव घोषणा-पत्र से प्राप्त कर सकते है। अत यहाँ उसका सक्षिप्त वर्णन आवश्यक है।

जनसघ ने अपने घोषणा-पत्र मे असाम्प्रदायिक राज्य के प्राचीन आदर्श मे आस्था व्यक्त की, परन्तु साथ ही मे उसने उस 'छद्म धर्मनिरपेक्षता' को अस्वीकार किया जो अधर्म एव तुष्टिकरण का सम्मिश्रण है। दल न केवल सहिष्णुता का समर्थक है, अपितु वह यह भी चाहता है कि सभी धर्मो के प्रति समान आदर होना चाहिये। सघ ने जिस समतावादी समाज की परिकल्पना की हे उसमे किसी के भी साथ जन्म, आनुवशिकता, बिरादरी अथवा धर्म के आधार पर कोई भी पक्षपात नही किया जायगा।

सघ ने मतदाताओ के समक्ष जो आर्थिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया उसमे निम्नलिखित बाते कही गई थी—

(i) मूल्यो को स्थिर रखने के लिये एक आयोग की स्थापना, जो मुनाफे की दर को नियन्त्रित करे तथा मुनाफाखोरी एव जमाखोरी करने वालो के लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था, (ii) उचित दामो की दुकानो की स्थापना, (iii) 10 प्रतिशत विकास दर को सम्भव बनाने के लिये एक स्वदेशी योजना तैयार करना, (iv) विदेशो से मिलने वाली समूची सहायता को बन्द करना, (v) कम्युनिस्ट देशो से साथ होने वाले व्यापार का राष्ट्रीयकरण, (vi) सम्पत्ति के अधिकार की सुरक्षा, (vii) तीन साल के भीतर सभी कुशल व्यक्तियो को पूर्ण रोजगार दिलाना तथा शेष लोगो के लिये पाँच वर्ष के भीतर रोजगार की व्यवस्था करना, (viii) 14 वर्ष तक के बालको के लिये मुफ्त शिक्षा की व्यवस्था करना, (ix) प्राइमरी स्वास्थ्य केन्द्रो की स्थापना, (x) पूर्वी पाकिस्तान से आये हुए शरणार्थियो को मुआवजा दिलवाना, (xi) जम्मू और कश्मीर के सविधान को रद्द करना तथा उसका भारतीय सघ मे पूर्ण विलयन करवाना, (xii) स्त्रियो के लिये समान अवसरो की व्यवस्था करना, (xiii) आकाशवाणी को एक स्वायत्तता प्राप्त निगम के रूप मे सगठित करना, (xiv) अग्रेजी के स्थान पर भारतीय भाषाओ को प्रोत्साहन देना, (xv) विदेशी बेंको का राष्ट्रीयकरण, (xvi) समस्त विदेशी उपभोक्ता उद्योगो का भारतीयकरण, (xvii) छोटे और मझोले उद्योगो को प्रोत्साहन, (xviii) मजदूरो का प्रबन्ध मे भाग, (xix) एक-सा सिविल कोड, (xx) आणविक शस्त्रास्त्र को तैयार करना।

1971 के चुनाव को लडने के लिए जनसघ ने काग्रेस (सगठन), स्वतन्त्र पार्टी और ससोपा के साथ गठबन्धन किया। परन्तु इसके बावजूद चुनाव मे उसे कुछ विशेष उपलब्धि प्राप्त नही हुई। 1967 मे लोकसभा मे उसे 35 सीटे मिली थी। अब उसकी सीटे घटकर 22 रह गयी।

सघ को इससे भी बुरे दिन उस समय देखने पडे जब उसने मार्च 1972 मे राज्य विधान-सभाओ का चुनाव लडा। 1967 के चुनाव मे इन राज्यो मे उसकी कुल सीटे 176 थी और वह दिल्ली के केन्द्र शासित क्षेत्र मे शासक दल था, परन्तु इस बार उसकी सीटो की सख्या घटकर 105 रह गई तथा दिल्ली के ऊपर से उसका नियन्त्रण हट गया।

6 मई 1972 को सघ की जनरल कौन्सिल ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमे यह कहा गया कि निष्पक्ष एव स्वतन्त्र चुनावो को कराने के लिये आवश्यक सुधार किये जाये। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु उसने यह प्रस्तावित किया कि चुनाव के पहले मन्त्रियो को त्याग-पत्र दे देना चाहिये, तथा उनके द्वारा सरकारी वाहनो के प्रयोग पर पाबन्दी लगा देनी चाहिये, यदि यह सुविधा शासक दल को दी जाती हे तो यह स्वीकृति विरोधी दलो को भी मिलनी चाहिये। उसने यह भी माँग की कि मतो की गणना मतदान-केन्द्रो के अनुसार होनी चाहिये तथा चुनाव आयोग का पुनर्गठन इस प्रकार होना चाहिये जिससे कि वह बहु-सदस्यीय सस्था बन सके।

चुनावो में बुरी तरह से पराजित होने के फलस्वरूप आज जनसंघ के कार्यकर्त्ताओं में चिन्तन की एक प्रक्रिया शुरू हुई है। इस पृष्ठभूमि में संघ की जनरल कौंसिल का अधिवेशन भागलपुर में हुआ। इस अधिवेशन में संघ के दो गुटों के बीच का संघर्ष खुलकर सामने आया। इस समय जनसंघ में मोटे तौर पर दो गुट पाये जाते थे। एक गुट के नेता पार्टी के अध्यक्ष अटल बिहारी वाजपेयी थे और दूसरे गुट के नेता बलराज मधोक और एम एल सोंधी थे। दूसरे गुट ने वाजपेयी को दो चुनावों में लगातार हार के लिये उत्तरदायी ठहराया है। इसका यह भी कहना है कि दल को आर्थिक समस्याओं पर अपनी पुरानी नीतियों को परिवर्तित नहीं करना चाहिये तथा उसे अपनी इन्दिरा विरोधी और कांग्रेस विरोधी नीतियों को जारी रखना चाहिये।

1973 में बलराज मधोक को दल से निष्कासित कर दिया गया और उन्होंने अब एक नया दल राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक संघ की स्थापना की है। 1974 में इन दोनों दलों ने उत्तर प्रदेश विधान सभा का चुनाव अलग अलग लड़ा था परन्तु लोकतान्त्रिक संघ को किसी भी स्थान पर सफलता नहीं मिली।

(iv) स्वतन्त्र पार्टी

अगस्त 1959 में देश में पहली बार एक ऐसे दल का गठन हुआ जो दक्षिणपंथी होने के साथ साथ लोकतान्त्रिक व्यवस्था में आस्था रखने का दावा करता था। दल की रचना के समय यह कहा गया था कि वह कांग्रेस की समाजवादी नीतियों के मुकाबले में प्रगतिशील उदारवादी विकल्प की भूमिका अदा करेगा। यह कहा जाता है कि इस पार्टी की रचना में जल्दी इसलिए की गई थी क्योंकि कांग्रेस ने अपने नागपुर अधिवेशन में सहकारी खेती का प्रस्ताव पारित कर लिया था। जून 1960 में अपनी मद्रास की बैठक में इस दल के उद्देश्यों एवं नीतियों की घोषणा करते हुए यह कहा गया था

हमारा यह मत है कि सामाजिक न्याय और कल्याण को अधिक निश्चयात्मकता के साथ प्राप्त करने के लिये तथाकथित समाजवाद की तकनीकों के अतिरिक्त अन्य मार्गों का अनुगमन किया जा सकता है। सामाजिक न्याय और कल्याण को लाने के लिये हिंसा अथवा राज्य द्वारा आरोपित बाध्यताओं का प्रयोग में नहीं लाना चाहिये परन्तु उसके लिये गांधी जी द्वारा सुझाये गये ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का प्रसार किया जाना चाहिये। सरकार की नैतिक क्रियाओं का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से इस बात के ऊपर बल देना चाहिये कि जिनके पास धन है उन्हें उसे समाज की धरोहर समझना चाहिये तथा उसे विधायी स्वीकृति के आधार पर ऐसे समाजवादी राज्य को स्थापित करने के बजाय जिसमें व्यक्ति की काम करने की प्रेरणा नष्ट हो जाय और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में राज्य तथा उसके अधिकारियों पर उसकी आश्रितता बढ़ जाय जीवन के नैतिक उत्तरदायित्वों को महत्त्वपूर्ण मानना चाहिये।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि अपने आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण में स्वतन्त्र पार्टी एक प्रतिगामी संगठन है। यथार्थ में ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि उसकी रचना ऐसे लोगों एवं वर्गों के द्वारा हुई है जिनका देश के प्रगतिशील लोकतान्त्रिक आन्दोलन के साथ कभी का दूर का भी सम्बन्ध नहीं रहा। उदाहरण के लिये उसके सदस्यों में भूतपूर्व नरेश, पुराने सामन्त तथा एकाधिकारी पूंजीपतियों की बहुलता है उसको नेतृत्व भी उन लोगों का प्राप्त है जिन्हें कांग्रेस में घोर दक्षिणपंथी के रूप में जाना जाता था। इसलिये यदि स्वतन्त्र पार्टी अपने आपको कांग्रेस का प्रगतिशील उदारवादी विकल्प घोषित करती है तो उसके आलोचकों ने उसे दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावाद की अन्धकारपूर्ण शक्ति बताया है। के एम पन्निकर ने लिखा है कि स्वतन्त्र पार्टी का उद्देश्य प्रतिक्रियावादी मोर्चे के अग्रिम दस्ते की भूमिका अदा करना है।

यदि स्वतन्त्र पार्टी की नीतियों तथा उसके चुनाव घोषणा पत्रों की समीक्षा की जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि उसका कार्यक्रम पूर्णतः रूढ़िवादी है। उसे समाजवाद के

साथ पूर्णत अरुचि हे, अत यह स्वाभाविक ही है कि वह कम्युनिस्ट पार्टी की घोर विरोधी हो। स्वतन्त्र पार्टी के राजनीतिक दर्शन को मोटे तौर पर व्यक्तिवादी कहा जा सकता है। आर्थिक क्षेत्र मे वह राज्य के कार्यक्षेत्र के विस्तार का विरोध करती है उसका कहना हे कि देश की अधिकाश राजनीतिक बुराइयाँ 'परमिट-लाइसेस कोटा' राज के कारण पैदा हुई हे। यह ठीक है कि स्वतन्त्र पार्टी के नेता इस बात से इनकार करते ह कि राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध मे उनका दृष्टिकोण अहस्तक्षेप की नीति (lassız faıre) का है, इस के बावजूद भी इस तथ्य को झुठलाया नही जा सकता कि उनके अनुसार राज्य को केवल 'रात्रिकालीन चौकीदार' की भूमिका अदा करनी चाहिये। 1962 के चुनाव घोषणा-पत्र मे स्वतन्त्र पार्टी ने कहा था कि 'सरकार का काम शासन करना है, व्यापार करना नही।' फलत स्वतन्त्र पार्टी नियोजित अर्थव्यवस्था को देश के लिये अहितकर मानती हे। तीसरे चुनाव के पूर्व जारी किये गये घोषणा-पत्र मे उसने योजना आयोग को खत्म करने की बात कही थी। उसने औद्योगिक क्षेत्र मे सरकार की साझेदारी को गलत बताया है। उसके अनुसार इस सम्बन्ध मे सरकार की भूमिका 'सहायक और नियन्त्रक की होनी चाहिए। साझेदार की नही।' यद्यपि पार्टी ने अपनी नीतियो की घोषणा करते हुए जहाँ-तहाँ 'सामाजिक न्याय' का भी उल्लेख किया है, परन्तु इससे निजी औद्योगिक क्षेत्र के प्रति उसके पूर्वाग्रहो को छिपाया नही जा सकता। इसलिये यह भी कोई आश्चर्य की बात नही कि पार्टी उद्योगो पर अधिक करो को आरोपित करने, घाटे की वित्तीय व्यवस्था तथा विदेशी ऋणो आदि का विरोध करती हैं। कृषि के क्षेत्र मे पार्टी भूमि की हदबन्दी तथा सहकारी खेती का विरोध करती है। पार्टी सम्पत्ति के अधिकार की सुरक्षा के प्रति विशेष रूप से सजग है, यही कारण हे कि उसने 17वे, 24वे और 25वे सशोधनो की कटु आलोचना की है।

भारत की विदेश नीति की यदि किसी पार्टी ने सबसे अधिक आलोचना की है तो वह पार्टी स्वतन्त्र पार्टी हे। उसके अनुसार गुट-निरपेक्षता, पचशील और सह-अस्तित्व निरर्थक शब्द ह। चीनी आक्रमण के उपरान्त से वह निरन्तर इस बात की माँग करती आयी हे कि भारत को पश्चिम की गुट-बन्दियो मे शामिल हो जाना चाहिये। वह पाकिस्तान के साथ सम्बन्धो को सुधारने के पक्ष मे हे। इस सम्बन्ध मे कुछ समय पूर्व यह एक आम चर्चा का विषय था कि वह पाकिस्तान को प्रसन्न करने के लिए उसे काश्मीर देने के पक्ष मे है। परन्तु स्वतन्त्र पार्टी के नेताओ ने इस बात का खण्डन किया है।

1967 के आम चुनावो तक स्वतन्त्र पार्टी की उपलब्धियाँ कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही थीं। 1962 के चुनावो मे उसने लोकसभा मे 22 सीटे जीती थी तथा राज्य विधान सभाओ मे उसे 166 स्थान प्राप्त हुये थे। 1967 के चुनावो मे उसे लोकसभा मे 44 स्थान प्राप्त हुये थे। इस प्रकार वह देश की सबसे बडी विरोधी पार्टी थी, राज्यो की विधान सभाओ मे उसे 255 स्थानो पर विजय प्राप्त हुई थी।

1969 मे जब काग्रेस मे फूट उत्पन्न हुई तो स्वतन्त्र पार्टी ने उस फूट का स्वागत किया। रगा और मसानी ने इसे 'अवश्यम्भावी' बताया और कहा कि यह फूट वास्तव मे काग्रेस पार्टी और काग्रेस पार्टी (मार्क्सवादी) के बीच फूट हे। 15 नवम्बर 1969 को एक बयान मे रगा ने कहा कि यदि श्रीमती गाधी की सरकार को पराजित कर दिया जाता है तो यह सम्भव हो सकेगा कि वे आपस मे मिलकर श्रीमती गाधी के गुट का विकल्प प्रस्तुत कर सके। दिसम्बर 1969 मे दल के अध्यक्ष मसानी ने काग्रेस (सगठन), जनसघ, प्रसोपा आर ससोपा के साथ इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बातचीत भी चलाई। परन्तु यह बातचीत इसलिए सफल नही हो सकी, क्योकि गुजरात मे कुछ घटनाय ऐसी घटी जिनके परिणामस्वरूप स्वतन्त्र पार्टी और काग्रेस (सगठन) के बीच तनाव पैदा हो गया। कागेस मे फूट पड जाने के बाद गुजरात के मुख्य मन्त्री हितेन्द्र देसाई ने काग्रेस (सगठन) का साथ दिया, परन्तु उनके काफी समर्थको ने श्रीमती गाधी का समर्थन किया। गुजरात विधान सभा मे स्वतन्त्र पार्टी विरोध की सबसे बडी पार्टी थी। गुजरात

स्वतन्त्र पार्टी के लोकसभा सदस्य श्री पी० जी० देसाई ने यह मत व्यक्त किया कि इस अवसर पर गुजरात में स्वतन्त्र पार्टी को सत्तारूढ़ कांग्रेस के साथ मिलकर हितेन्द्र देसाई की सरकार को अपदस्थ कर देना चाहिये। देसाई का यह दृष्टिकोण स्वतन्त्र पार्टी की राष्ट्रीय कार्यसमिति के गले नहीं उतरा फलतः इन्हें दल की सदस्यता से वंचित कर दिया गया। स्वतन्त्र पार्टी की गुजरात शाखा के सदस्यों ने राष्ट्रीय कार्यकारिणी के इस काम का समर्थन नहीं किया। इस पृष्ठभूमि में कांग्रेस (संगठन) और स्वतन्त्र पार्टी के बीच एक सैद्धान्तिक विवाद आरम्भ हो गया।

जब स्वतन्त्र पार्टी गुजरात में इस आन्तरिक विवाद से ग्रसित थी लोकसभा विघटित कर दी गई तथा नये चुनावों की घोषणा कर दी गई। इन चुनावों के लिए स्वतन्त्र पार्टी ने जो घोषणा-पत्र जारी किया उसमें यह कहा गया कि सत्तारूढ़ कांग्रेस संविधान की मर्यादा का उल्लंघन कर रही है तथा इस काम में उसे कम्युनिस्टों से सहायता मिल रही है। घोषणा पत्र में सत्तारूढ़ कांग्रेस को यथास्थिति की पार्टी बताया गया तथा यह दावा किया गया कि उनका दल वास्तव में एक क्रान्तिकारी दल है जो राजकीय पूंजीवाद और सरकार द्वारा जनता के शोषण का खात्मा चाहता है।

स्वतन्त्र पार्टी ने कहा कि वह देश में ऐसे लोकतन्त्र की स्थापना के लिये दृढ़ संकल्प है जिसमें हरेक के पास पूंजी हो। पार्टी के अध्यक्ष मसानी ने कहा कि इन्दिरा गांधी देश को नियोजित अव्यवस्था की ओर ले जा रही हैं।

चुनाव में इन्दिरा गांधी की सरकार को अपदस्थ करने के लिए स्वतन्त्र पार्टी ने जनसंघ संगठन कांग्रेस और संसोपा के साथ मिलकर एक मोर्चा बनाया। परन्तु इस चुनाव में उसे जबरदस्त पराजय का सामना करना पड़ा। 1967 में वह लोकसभा में दूसरी बड़ी पार्टी थी परन्तु अबकी बार उसका स्थान सातवें नम्बर पर आता था। उसे इस चुनाव में लोकसभा में केवल आठ स्थान प्राप्त हुये थे। उसके दो बड़े नेता—रंगा और मसानी को चुनाव में हार का मुंह देखना पड़ा था। तमिलनाडु की विधान सभा में उसे केवल 6 स्थान प्राप्त हुए जबकि इसके पूर्व 1967 में उसे 20 स्थानों पर सफलता मिली थी। उड़ीसा में उसकी सदस्य-संख्या 49 से घटकर 36 पर रह गई। पश्चिमी बंगाल में उसे एक स्थान मिला था इस बार उससे भी हाथ धोना पड़ा।

1972 में राज्य विधान सभाओं के चुनावों में उसे इसमें भी बड़ी पराजय का सामना करना पड़ा। जिन राज्यों में चुनाव हुआ उनमें उसे कुल मिलाकर 16 स्थान प्राप्त हुए तथा उसको जो मत मिले वे भी कुल मतों के केवल 1.10 प्रतिशत थे। वस्तुतः ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योंकि देश में राजनीतिक वातावरण के अधिकाधिक मात्रा में उग्र होने के फलस्वरूप कोई भी ऐसा दल जो समाजवाद के विरुद्ध हो सफल होने की आशा नहीं कर सकता।

क्षेत्रीय दल

अभी तक हमने जिन दलों की विवेचना की है उनका स्वरूप अखिल भारतीय है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे दल भी हैं जिनका प्रभाव केवल एक क्षेत्र विशेष तक सीमित है। अतः इन दलों को हम क्षेत्रीय दलों के नाम से पुकार सकते हैं। इस श्रेणी के अन्तर्गत जो दल आते हैं उनमें भारतीय क्रान्ति दल अकाली दल और डी० एम० के० प्रमुख हैं। यहां इन दलों की संक्षिप्त विवेचना आवश्यक है।

भारतीय क्रान्ति दल—चौथे आम चुनावों के बाद भारतीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए उनमें से एक क्षेत्रीयता की भावना का उदय था। इन चुनावों के परिणामस्वरूप कांग्रेस पार्टी के प्रभुत्व का अन्त हो गया और क्षेत्रीय पार्टियां तथा खण्डित दल उभर कर सामने आये। उनमें से कुछ तो शीघ्र ही लुप्त हो गये परन्तु कुछ अब भी जीवित हैं। इनमें से कुछ की रचना असन्तुष्ट कांग्रेसियों के द्वारा हुई है—भारतीय क्रान्ति दल (भाक्राद) इसी प्रकार के दलों में से एक है। यह दल नवम्बर 1967 में असन्तुष्ट कांग्रेसियों के इन्दौर के सम्मेलन में स्थापित

हुआ था। इस बैठक मे बिहार के तत्कालीन मुख्य मन्त्री महामाया प्रसाद सिन्हा को दल का अध्यक्ष तथा महाराष्ट्र के डी० के० कुन्ते को महामन्त्री चुना गया था। दल ने गाधीवादी विचारधारा मे अपना विश्वास घोषित किया। परन्तु भाक्रान्द की गाधीवाद मे आस्था मे हमे आधुनिकता दिखाई पडती है। गाधी जी की भाँति वह चर्खे पर बल नही देता, परन्तु वह कृषि के आधुनिकीकरण तथा तकनीकी शिक्षा एव प्रशिक्षण को प्राथमिकता देता है। वह औद्योगीकरण का भी समर्थन करता है, किन्तु इसका सुझाव है कि विकास का क्रम नीचे से शुरू होना चाहिये, ऊपर से नही।

भारतीय क्रान्ति दल मे आन्तरिक दृढता का अभाव है तथा सर्वसाधारण के समर्थन का दावा नही कर सकता। इसका समर्थन करने वाले मुख्यत सम्पन्न किसान हे और चूंकि इस प्रकार के किसानो मे कुछ विशिष्ट जातियो का ही बाहुल्य है, इसलिये सामान्यत इस दल को इन्ही जातियो का दल माना जाता है। उत्तर प्रदेश मे 1969 के मध्यावधि चुनावो मे इसे आशातीत सफलता प्राप्त हुई थी। इसका मुख्य श्रेय इसके सस्थापक नेता चौधरी चरणसिह को है जिन्हे राज्य की राजनीति मे उच्च जातियो के प्रभुत्व के विरुद्ध पिछडी और कृषक जातियो, विशेषत जाटो, अहीरो और कुर्मियो को सगठित करने मे कामयाबी प्राप्त हो गयी थी। इस दल की जडे पश्चिमी उत्तर प्रदेश के गन्ना उत्पादक इलाको मे विशेष रूप से पक्की है। 1967–68 मे जब चरणसिंह के नेतृत्व मे सयुक्त विधायक दल की सरकार गठित हुई थी और चीनी के दाम बहुत बढ गये थे, उस समय गन्ना-उत्पादको ने 200 करोड रुपया कमा लिया था। फलत 1969 के मध्यावधि चुनाव मे उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलो मे उसे जबरदस्त सफलता प्राप्त हुई। इसे पिछडी और अनुसूचित जातियो का भी समर्थन प्राप्त था। परन्तु उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलो मे इसकी स्थिति बहुत अच्छी नही रही। इस चुनाव मे उसने उत्तर प्रदेश विधान सभा मे 98 स्थानो पर सफलता प्राप्त की तथा कुल मतो के 21 29 प्रतिशत मत उसके पक्ष मे पडे।

परन्तु 1971 के लोकसभा के चुनाव मे इसे मुह की खानी पडी। ऐसा सम्भवत इसलिये हुआ क्योकि दल के नेता चौधरी चरणसिंह ने अपनी शक्ति को बहुत बढाकर आँका था। फलत उन्होने चुनाव को अकेले लडने का निर्णय किया, इसलिये उन्होने न तो तथाकथित 'महा गठबन्धन' (Grand Alliance) के साथ हाथ बँटाया और न सत्तारुढ काग्रेस के साथ ही। इसका परिणाम यह हुआ कि दल के उम्मीदवारो को सभी जगह करारी हार का सामना करना पडा। चुनाव के फलस्वरूप लोकसभा मे उसे केवल एक स्थान पर सफलता मिली, जबकि चुनाव के पहले पुरानी लोकसभा मे उसके दस सदस्य थे। पराजित होने वाले उम्मीदवारो मे चौधरी चरणसिह भी शामिल थे। इससे भाक्रान्द की प्रतिष्ठा पर जबरदस्त चोट पहुँची। परन्तु 1974 के उत्तर प्रदेश की विधान सभा के चुनाव मे यह दल मुख्य विरोधी दल के रूप मे उभर कर आया है।

अकाली दल—दूसरा क्षेत्रीय दल अकाली दल है जिसने पजाब के राजनीतिक जीवन मे एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इसकी स्थापना प्रथम महायुद्ध के उपरान्त गुरुद्वारा सुधार आन्दोलन के रूप मे हुई थी। इस सगठन के माध्यम से सिक्खो ने गुरुद्वारो पर नियन्त्रण प्राप्त करने के लिये आन्दोलन किया था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त इस दल ने पजाबी सूबे की स्थापना के लिये आन्दोलन किया। दल के नेता के रूप मे सन्त फतहसिह के अभ्युदय के पूर्व मास्टर तारासिह दल के सबसे प्रमुख नेता थे। स्पष्टत दल का प्रभाव केवल पजाब तक सीमित है और पजाब मे भी वह केवल सिक्खो की अपने प्रति निष्ठा का दावा कर सकता है। इस आधार पर अकाली दल को एक साम्प्रदायिक सगठन घोषित किया जा सकता है। वस्तुत दल के उग्रवादियो ने पजाबी सूबा के स्थान पर 'सिक्ख-गृह-राज्य' (Sikh-Homeland) की माँग की है, जिसमे उसका साम्प्रदायिक स्वरूप भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है।

अकाली दल सदैव मे गुटबन्दी से ग्रसित रहा है। जब तक मास्टर तारासिह जीवित थे तब तक एक गुट का नेतृत्व उनके हाथ मे था और दूसरे का सन्त फतहसिह के हाथ मे।

आज अकाली दल अनेक खण्डों में विभक्त है प्रत्येक नेता के नाम के साथ एक खण्ड जुड़ा हुआ है जैसे—सन्त अकाली दल मास्टर तारासिंह अकाली दल निरजप और अकाली दल।

द्रविड़ मुनेत्र कषगम (डी एम के)—क्षेत्रीय दलों में सबसे अधिक सुदृढ़ द्रविड़ मुनेत्र कषगम है। 1924 में ई वी० आर नायकर के नेतृत्व में इस संगठन ने स्वतन्त्र तमिल राज्य के लिए आन्दोलन करना आरम्भ कर दिया था। बाद में द्रविड़ कषगम के एक अपेक्षाकृत उदार गुट ने सी एन अन्नादुराई के नेतृत्व में नायकर की कठोर नीतियों को चुनौती दी और 1949 में द्रविड़ कषगम से अपना सम्बन्ध विच्छेद करके द्रविड़ मुनेत्र कषगम की स्थापना कर ली। इस पार्टी को जनसाधारण का समर्थन जल्दी प्राप्त हो गया।

1957 के आम चुनावों में द्रविड़ मुनेत्र कषगम ने मद्रास विधान सभा में 15 स्थान जीत लिए। *1962* के चुनाव में भी द्रविड़ मुनेत्र कषगम को लोकसभा में *7* स्थान और राज्य विधान सभा में *50* स्थान प्राप्त हुए। *1967* के चुनावों में विधान सभा में उसे *138* स्थान प्राप्त हुए थे तथा लोकसभा में उसे 15 सीटों पर सफलता मिली थी। फलतः उसे पहली बार मद्रास में मन्त्रिमण्डल को गठित करने का अवसर प्राप्त हुआ। अन्नादुराई ने इस मन्त्रिमण्डल में मुख्यमन्त्री का पद ग्रहण किया। फरवरी 1971 में अन्नादुराई का देहान्त हो गया। अन्नादुराई के स्थान पर एम करुणानिधि मुख्यमन्त्री बने। जब 1971 में लोकसभा भंग हुई तो करुणानिधि ने तमिलनाडु विधान सभा को भी भंग करवा दिया और लोकसभा के चुनाव के साथ उसका भी चुनाव करवाया गया। इस चुनाव में कांग्रेस के समर्थन के साथ उसने 284 के सदन में से 184 स्थान पर विजय पायी तथा लोकसभा में उसके 23 सदस्यों को सफलता मिली। परन्तु अब इस दल में भी फूट पड़ गई है और अन्ना डी एम के के नाम से एक नई पार्टी और बनी है।

भारतीय लोकदल

1971 के चुनावों में कांग्रेस के विरुद्ध कुछ दलों ने एक संयुक्त मोर्चे की रचना की थी जिसे उन्होंने *महा गठबन्धन* की संज्ञा प्रदान की थी। परन्तु *यह गठबन्धन* बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सका। चुनाव में शामिल दल हारने के बाद एक दूसरे से अलग हो गये। इसके उपरान्त 1974 की फरवरी में जब कुछ राज्यों की विधान सभाओं के चुनाव हुए तो उनमें भी इन दलों को सफलता प्राप्त न हो सकी यद्यपि इस चुनाव में उत्तर प्रदेश में भारतीय क्रांति दल संसोपा और मुस्लिम मजलिस के बीच एक गठबन्धन की रचना हो गयी थी। इस प्रकार चुनावों में बार बार हारने के बाद इन दलों में फिर से यह इच्छा पैदा हुई कि कांग्रेस के विरुद्ध गैर-कम्युनिस्ट पार्टियों को मिलाकर एक नयी राजनीतिक पार्टी कायम की जाय। फलतः चरणसिंह की अध्यक्षता में उत्कल कांग्रेस के नेता बीजू पटनायक के निवास स्थान पर सात दलों के प्रतिनिधियों की एक बैठक हुई जिसमें यह निश्चित किया गया कि इन दलों का विलयन करके एक नये दल को स्थापित किया जाय। *इस बैठक में जिन दलों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था उनके नाम इस प्रकार हैं—भाक्राद स्वतन्त्र उत्कल कांग्रेस संसोपा मुस्लिम मजलिस भारतीय खेतीहर संघ और लोकतान्त्रिक दल।* इन दलों का यदि विश्लेषण किया जाय तो हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इनमें भाक्राद और उत्कल कांग्रेस—दो क्षेत्रीय दलों को छोड़कर कोई दल ऐसा नहीं था जो व्यापक समर्थन का दावा कर सकता।

जो भी हो अगस्त 1974 में इन पार्टियों को मिलाकर एक नये दल का उदय हुआ जिसे भारतीय लोकदल का नाम दिया गया। चरणसिंह को इस दल का अध्यक्ष बनाया गया और पीलू मोदी को महामन्त्री। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय लोकदल की रचना मुख्य रूप से उस निराशा के कारण हुई थी जिसका सामना इस दल में शामिल घटकों को अभी तक के चुनावों में अपनी बिखरी हुई शक्ति के कारण करना पड़ा था। *1974* में उत्तर प्रदेश विधान सभा के चुनावों में भाक्राद के नेतृत्व में जो गठबन्धन बना था उसे कांग्रेस को अपदस्थ करने में सफलता प्राप्त न हो

सकी थी। लोकतान्त्रिक दल ने इस चुनाव मे 200 से अधिक प्रत्याशी खडे किये थे और उसे एक भी स्थान पर कामयावी नही मिली थी। यही बात स्वतन्त्र पार्टी के सम्वन्ध मे भी कही जा सकती है। उसने लगभग 300 स्थानो पर चुनाव लडा था और उसे केवल एक स्थान पर सफलता प्राप्त हुई थी। सच बात यह है कि भारतीय लोकदल मे शामिल सभी घटक निराशा की भावना से ग्रसित थे और इस निराशा को दूर करने के लिए उन्होने जो तरीका सोचा वह यह था कि वे सव अपना विलयन एक नये दल मे कर दे।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि भारतीय लोकदल की रचना काग्रेस के मुकाबले मे एक विकल्प प्रस्तुत करने की दृष्टि से की गई थी, कम से कम लोकदल के सस्थापको ने इस आशय का दावा अवश्य किया था। परन्तु यहाँ प्रश्न है कि क्या परस्पर-विरोधी विचारधाराओ को लेकर सत्तारूढ दल के विरुद्ध विकल्प का निर्माण किया जा सकता है? लोकदल मे जो घटक शामिल हुए थे उनमे सवमे प्रमुख भाक्रान्द और उत्कल काग्रेस थी। ये दोनो क्षेत्रीय दल थे और इनका उद्गम भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस मे से ही हुआ था। भाक्रान्द सम्पन्न किसानो की पार्टी थी और उसका उद्देश्य सत्ता मे सम्पन्न किसानो को साझीदारी दिलाना था। उत्कल काग्रेस उडीसा के नवोदित पूँजीपति वर्ग की पार्टी थी। ससोपा अपने को समाजवाद के आदर्श के प्रति प्रतिवद्ध वताती थी। स्वतन्त्र पार्टी देश मे उन्नीसवी शताब्दी मे पायी जाने वाली लेसेज फेयर (laissez faire) व्यवस्था कायम करवाना चाहती थी। मुस्लिम मजलिस मुसलमानो की एक साम्प्रदायिक पार्टी थी। लोकतान्त्रिक दल का उद्गम भारतीय जनसघ से था और उसके नेता वलराज मधोक ने 'इस्लाम के भारतीयकरण' का नारा देकर अपने दृष्टिकोण को भली भाँति व्यक्त कर दिया था। भारतीय खेतीहर सघ इस पूरे जमघट मे एक नगण्य घटक था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय लोकदल मे जो दल शामिल हुए उनकी कोई सुस्पष्ट विचारधारा नही थी। हाँ, एक वात पर उनके बीच कोई मतभेद नही था और वह बात यह थी कि सारा विपक्ष एक साथ रहे ताकि सरकार का विकल्प देश मे पैदा हो।

अगस्त 1974 मे दल की नीतियो की घोषणा करते हुए कहा गया कि वह कृषि, कुटीर और लघु-उद्योग-धन्धो के विकास को वडे और भारी उद्योग-धन्धो के विकास की अपेक्षा प्राथमिकता देगा। अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दल, किसानो को ऋण, सम्मुन्नत वीज, खाद तथा सिचाई की सुविधाये उपलब्ध कराने का प्रयास करेगा। दल वडे किसानो से उत्पादन का एक भाग 'लेवी' के तौर पर वसूलने की नीति का भी समर्थन करता है, परन्तु उसका विश्वास है कि शेष अनाज का व्यापार अनाज के व्यापारियो के द्वारा स्वतन्त्र रूप से चलना चाहिए।

अगस्त 1974 मे अपने जन्म के वाद भारतीय लोकदल ने हरियाणा के एक उप-चुनाव मे सफलता प्राप्त की तथा गुजरात विधान सभा के 1975 के चुनावो मे उसने गैर-कम्युनिस्ट दलो द्वारा निर्मित 'जनता मोर्चा' के घटक के रूप मे हिस्सा लिया और उसे दो स्थानो पर सफलता मिली। वस्तुत भारतीय लोक दल की रचना के वाद भी यह नही कहा जा सकता कि वह अखिल भारतीय स्तर का राजनीतिक दल है। केवल दो ही राज्य ऐसे है जहाँ उसका जन-आधार है और वे राज्य है उत्तर प्रदेश और उडीसा। उसका थोडा प्रभाव हरियाणा और राजस्थान मे भी पाया जाता है।

प्रश्न

1. भारतीय दलीय प्रणाली की विशेषताएँ वताइये।
2. काग्रेस मे पाई जाने वाली गुटवन्दी ने देश की राजनीति को किस प्रकार प्रभावित किया है।
3. भारतीय लोकदल पर टिप्पणी लिखिए।

13
दवाव समूह
(PRESSURE GROUPS)

पिछले वर्षों म दबाव समूहों के महत्व म अत्यधिक वृद्धि हुई है। सामान्यत यह विश्वास किया जाता है कि अनौद्योगिक अथवा परम्परागत समाज म हितगत समुदाय अपेक्षाकृत असगठित रहते हैं तथा उनके प्रभाव म समाज के औद्योगीकरण के बाद ही वृद्धि होती है। भारत के सन्दर्भ म भी यह बात पूर्ण रूप से सही है।

परम्परागत समाजों म लोगों का मुख्य उद्यम कृषि होता है तथा इसमें मुख्य सामाजिक इकाई परिवार और परिवार के प्रकार के समुदाय (जहा सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्ध आमने सामने के होते हैं) होते हैं। आधुनिक समाज की रचना तकनीकी और वैज्ञानिक प्रगति के परिणामस्वरूप हुई है। उसके विकास के साथ बड़े और अवैयक्तिक सगठनों का भी उदय हुआ है) इस प्रकार के सगठनों म ट्रेड यूनियन व्यापारिक और औद्योगिक सगठन आदि शामिल हैं। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि परम्परागत समाज म किसी भी प्रकार के दबाव समूह नहीं होते हैं किन्तु इनका क्षेत्र केवल परिवारों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा तक सीमित रहता है। आधुनिक समाजों म वे उस प्रक्रिया का एक अंग है जिसके द्वारा सगठित समुदाय प्रतियोगी दावों का प्रस्तुत करते हैं और देश के राजनीतिक ढाचा के अन्तर्गत उनका समाधान खोजने का प्रयास करते हैं।

भारतीय समाज म परम्परावाद एव आधुनिकता का अद्भुत समन्वय हुआ है। अत यहा यदि एक तरफ पश्चिम जैसे दबाव समूह पाये जाते हैं तो ऐसे समूहों की भी कमी नहीं है जिनका मुख्य उद्देश्य परम्परावादी है। इस प्रकार के समूहों म साम्प्रदायिक सगठनों तथा जाति बिरादरी पर आधारित समुदायों को रखा जा सकता है। अत यह स्पष्ट है कि भारत के दबाव समूहों को दो श्रेणियों म वर्गीकृत किया जा सकता है। पहली श्रेणी म वे दबाव समूह आते हैं जिन्हें धर्म जाति कबीलों अथवा भाषा के परम्परागत ढाचे के आधार पर सगठित किया गया है। दूसरी श्रेणी म उन समूहों को रखा जा सकता है जिनकी उत्पत्ति समाज के आधुनिक कलों के उदय के कारण हुई है जैसे उद्योग अथवा विश्वविद्यालय।

1 परम्परावादी दबाव समूह

अपनी विभिन्नता या तथा आन्तरिक सगठन के अभाव के बावजूद हिन्दू धर्म ने सब दबाव समूहों म सबसे अधिक शक्तिशाली—कुछ लोग उसे अशुभ भी कह सकते हैं—दबाव समूह राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ को जन्म दिया है जो अपनी सदस्य सख्या 10 लाख बताता है। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ हिन्दू समाज तथा हिन्दू सस्कृति के हितों की रक्षा तथा हिन्दी को उचित स्थान दिलाने के लिए काम करता है। जनसघ के साथ उसके सम्बन्ध भी किसी से छिपे नहीं है। वह उसके माध्यम से अपने राजनीतिक उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यथार्थ म जनसघ और राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ म कोई विशेष अन्तर नहीं है यदि अन्तर है तो केवल इतना ही है जो एक स्वामी या देखरेख म चलने वाली दो दुकानों के बीच होता है जिन पर भिन्न भिन्न वस्तुओं को बेचा जाता है। राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ के कर्णधार जनसघ की दुकान पर राजनीति बेचते हैं और अपनी पुरानी दुकान पर सस्कृति। फलत एक की गणना राजनीतिक दलों म होती है और दूसरे की दबाव समूहों म।

इसी श्रेणी मे ऐसे सगठनो को भी गिनाया जा सकता है जो विशिष्ट धार्मिक समूहो के हितो के लिए काम करते हे। भारतीय ईसाइयो के अखिल भारतीय सम्मेलन, पारसी सेन्ट्रल एसोसियेशन एण्ड पोलिटिकल लीग, एग्लो-इण्डियन एसोसियेशन, आर्य प्रतिनिधि सभा, सनातन धर्म रक्षिणी सभा आदि को इसमे सम्मिलित किया जा सकता है। जाति समूह भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते ह, जैसे हरिजन सेवक सघ, मारवाडी एसोसियेशन, वैश्य महासभा, जाट सभा, त्यागी सभा आदि। ये सभी समुदाय भारत की साम्प्रदायिक राजनीति मे एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हे। उदाहरण के लिए, अनुसूचित जातियो के समूह सरकार पर अपने हितो की रक्षा के लिए बराबर दवाव डालते आये है। उसी के फलस्वरूप सविधान मे 23वॉ सशोधन हुआ है जिसके द्वारा अनुसूचित जातियो के लिए लोकसभा और राज्य विधान सभाओ मे आरक्षित स्थानो की व्यवस्था फिर से 10 वर्ष के लिए बढा दी गई हे। इस समूह ने समय-समय पर यह भी प्रयत्न किया हे कि उनके प्रमुख नेता, जैसे जगजीवन राम को (केन्द्र मे) और गिरधारी लाल को (उत्तर प्रदेश मे) प्रधानमन्त्री अथवा मुख्य मन्त्री बनाया जाय।

तमिलनाडु के सन्दर्भ मे नाडार कास्ट एसोसियेशन (Nadar Caste Association) का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता हे। 1965 मे उसकी सदस्य-सख्या 20 हजार से अधिक थी और उसके वार्षिक अधिवेशन मे 5000 प्रतिनिधियो ने भाग लिया था। 1952 के प्रथम चुनाव के बाद से ही नाडार एसोसियेशन काग्रेस का समर्थन करता आया है। वस्तुत 1968 के नागरकॉयल उपचुनाव मे कामराज की जीत को नाडार जाति के समर्थन सन्दर्भ मे ही समझा जा सकता है। भारत मे, जहॉ राजनीति जाति-बिरादरी से एक बडी सीमा तक प्रभावित होती हे, इन बिरादरियो के समूहो की मतदान के समय निश्चय ही महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। धर्म और जाति-बिरादरी का राजनीति मे इस प्रकार का हस्तक्षेप भारतीय लोकतन्त्र के लिए निस्सन्देह अशुभ हे। परन्तु यह हमारे देश के राजनीतिक जीवन का एक कटु यथार्थ है, इस सत्य से इनकार नही किया जा सकता।

2 आधुनिक दवाव समूह

आधुनिक दबाव समूहो के अन्तर्गत व्यापारिक एव औद्योगिक हित समूहो, कृषि-सम्बन्धी हित समूहो, विश्वविद्यालय अथवा माध्यमिक शिक्षा से सम्बद्ध समुदायो तथा प्रशासकीय कर्मचारी समूहो को शामिल किया जा सकता हे। यहॉ इनकी सक्षिप्त विवेचना आवश्यक हे।

(1) **व्यापारिक एव औद्योगिक हित समूह**—भारत मे व्यापार एव उद्योग के क्षेत्र मे हित समूहो का इतिहास 19वी शताब्दी मे उस समय से आरम्भ किया जा सकता है जबकि 1830 मे ब्रिटिश व्यापारियो ने अपने हितो की रक्षा के लिए चेम्बर ऑफ कॉमर्स की स्थापना की। भारतीय व्यापारियो ने इण्डियन चेम्बर ऑफ कॉमर्स की रचना 1885 मे की। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के साथ ही इस दवाव समूह का जन्म हुआ। भारतीय व्यापार के अधिकृत इतिहास मे इस सम्बन्ध मे लिखा हे—'यह कोई पूर्णत आकस्मिक बात नही हे क्योकि आने वाले वर्षो मे स्वशासन के लिए राजनीतिक आन्दोलन का प्रतिभाग (counterpart) उस आर्थिक आन्दोलन मे हुआ जो भारतीय उद्योग-धन्धो को प्रोत्साहन देना चाहता था।'

1926 मे फेडरेशन ऑफ इण्डियन चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इन्डस्ट्रीज (F I C C I) की स्थापना हुई। 1931 मे स्वय गाधी जी ने फेडरेशन की वार्षिक बैठक का उद्घाटन किया तथा फेडरेशन ने अनेक अवसरो पर ऐसे प्रस्ताव पारित किये जिनके द्वारा उसने राजनीतिक मामलो मे गाधी जी के नेतृत्व का समर्थन किया। यहॉ यह उल्लेखनीय हे कि फेडरेशन की स्थापना औपनिवेशिक काल मे इसलिए हुई थी ताकि भारतीय उद्योगपतियो की ब्रिटिश शासको द्वारा थोपे गये अपमानो और भेदभाव की नीति के विरुद्ध रक्षा की जा सके। फेडरेशन ने मोटे तौर पर राष्ट्रीय आन्दोलन को अपना समर्थन प्रदान किया। वस्तुत ऐसा करना उसके अपने हित मे था

क्योंकि देश की स्वतन्त्रता भारतीय उद्योगपतियों के लिए उन्नति का मार्ग प्रशस्त कर सकती थी।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के उपरान्त फेडरेशन की प्रभाव और शक्ति दोनों में वृद्धि हुई है। 1961 में फेडरेशन के सदस्य निकायों की संख्या 137 थी और 286 एसोसियेट सदस्य थे जिनमें कई बड़ी फर्मों के संगठन भी शामिल थे जैसे हिन्दुस्तान मोटर्स, स्वदेशी मिल्स तथा टाटा आयरन एण्ड स्टील।

फेडरेशन के लक्ष्य निम्नलिखित हैं—आन्तरिक और विदेशी व्यापार, परिवहन, उद्योग, कारखाना में बनी वस्तुओं, वित्त एवं अन्य आर्थिक विषयों में भारतीय व्यवसाय को प्रोत्साहन देना, इन सभी विषयों के बारे में संगठित कार्य करना तथा पूर्वोक्त आर्थिक हितों को प्रभावित करने वाले विधायन अथवा अन्य कार्य को प्रोत्साहन देना, उसका समर्थन अथवा विरोध करने के लिए सभी आवश्यक कदम व उपायों को अमल में उठाना।

फेडरेशन के अतिरिक्त देश में दो अन्य महत्वपूर्ण व्यापारिक एवं औद्योगिक संगठन पाये जाते हैं जिनके नाम हैं— आल इण्डिया मैनूफैक्चरर्स आरगेनाइजेशन तथा एसोसियेटेड चेम्बर्स आफ कामर्स आफ इण्डिया। परन्तु इन दोनों में से कोई भी फेडरेशन जैसा प्रभावी नहीं है हालांकि वे फेडरेशन की गतिविधियों के पूरक अवश्य हैं। आल इण्डिया मैनूफैक्चरर्स एसोसियेशन देश के छोटे उद्योगपतियों का संगठन है तथा एसोसियेटेड चेम्बर्स आफ कामर्स विदेशी पूंजीपतियों का।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारतीय व्यापारिक संगठनों के कांग्रेस के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन के समय से ही अच्छे सम्बन्ध थे। स्वतन्त्रता के बाद कांग्रेस ही सत्तारूढ़ हुई अतः फेडरेशन और कांग्रेस के बीच पुराने सम्बन्ध बने रहे। फेडरेशन के सदस्यों ने चुनाव लड़ने के लिए कांग्रेस को काफी चन्दे दिये और इस प्रकार उन्होंने सरकार की नीतियों को अपने पक्ष में प्रभावित किया। वस्तुतः एक लम्बे समय तक कांग्रेस कल्याणकारी राज्य और समाजवादी ढांचे के समाज की स्थापना के नारे के बावजूद देश में पूंजीवादी अर्थतन्त्र को पनपाती रही। इसके मूल में मुख्य बात यही रही कि कांग्रेस के कुछ नेताओं के साथ इनके बड़े घनिष्ठ सम्बन्ध थे। कांग्रेस के नेताओं ने इनके साथ अपने इन सम्बन्धों को उचित भी ठहराया। उदाहरण के लिए जब कम्पनियों और व्यापारिक संस्थानों द्वारा राजनीतिक पार्टियों को चन्दा देने पर पाबन्दी लगाने का विधेयक प्रस्तुत करते हुए भूपेश गुप्त ने राज्य सभा में यह कहा कि कांग्रेस पार्टी आज कटघरे में खड़ी है। यदि वे इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करते तो यह बात समूचे संसार को विदित हो जायगी कि वे अपनी राजनीतिक स्थिरता के लिए टाटा के करोड़ों की सम्पत्ति पर निर्भर करते हैं तो इसका उत्तर देते हुए लालबहादुर शास्त्री ने कहा कि कांग्रेस ने लगभग चार हजार उम्मीदवार खड़े किये थे और उनमें से कुछ को छोड़कर जिनके पर्याप्त साधन थे, शेष सभी उम्मीदवारों के लिए धन खोजना था और यदि उसे धन की खोज करनी है तो उसे चन्दा भी करना है। जब किसी ने यह पूछा कि समाजवादी ढांचे के समाज का क्या हुआ तो शास्त्री जी ने कहा उद्योगपतियों में राजनीतिक समझ है और यदि वे अपने हिस्सेदारों तथा साधारण सदस्यों की बैठक के परामर्श से कुछ राजनीतिक दलों को चन्दा देने का निर्णय करते हैं तो मैं नहीं जानता कि इससे हमें इतनी अधिक परेशानी क्या होती है? जो भी हो, इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि व्यापारिक संगठनों ने एक लम्बे समय तक सरकार की नीतियों को प्रभावित किया है और आज भी यह बात नहीं कही जा सकती कि सरकार अब इनके प्रभाव से पूर्ण रूप से मुक्त हो चुकी है।

1972 में देश के पूंजीपतियों की ओर से जिनमें टाटा प्रमुख है एक स्मृतिपत्र सरकार को दिया गया था जिसमें यह सुझाव दिया गया था कि सरकार और निजी पूंजीपतियों को मिलकर संयुक्त क्षेत्र (Joint Sector) में उद्योग धन्धे स्थापित करने चाहियें। इस स्मृतिपत्र का सरकार के नेताओं पर प्रभाव न पड़ा हो ऐसी बात नहीं है। उदाहरण के लिए कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में केन्द्रीय मन्त्री श्री सुब्रह्मण्यम ने इस सुझाव का समर्थन किया था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्यापारिक और औद्योगिक दबाव समूहों की भारतीय राजनीति को प्रभावित करने में एक

महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

(2) **ट्रेड यूनियनें**—भारत मे ट्रेड यूनियनो का सगठन प्रथम महायुद्ध के वाद से शुरू हुआ। आरम्भ मे काग्रेस के अनेक नेताओ का ट्रेड यूनियन आन्दोलन के साथ सम्वन्ध था। उदाहरण के लिए 1920 मे जव अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काग्रेस की स्थापना हुई तो उसके पहले अध्यक्ष लाला लाजपत राय थे। वाद के वर्षो मे इस पद को सुशोभित करने वाले अन्य काग्रेसी नेता थे—चितरजन दास, सरोजिनी नायडू, जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाष चन्द्र वोस।

अपने आरम्भिक वर्षो मे ट्रेड यूनियन आन्दोलन ने जो माँगे प्रस्तुत की, वे यद्यपि मूलत आर्थिक थी तथापि उनके राजनीतिक स्वरूप की उपेक्षा नही की जा सकती। वहुधा लोग इस वात की शिकायत करते है कि ट्रेड यूनियन आन्दोलन राजनीति मे हस्तक्षेप करता है जो अवाँछनीय है। इस प्रकार के लोगो की मान्यता है कि इस गलत प्रवृत्ति के लिए कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट उत्तरदायी है। जव से ट्रेड यूनियन ग्रान्दोलन पर इन लोगो का नियन्त्रण कायम हुआ है तभी से इस प्रवृत्ति का जन्म हुआ है। परन्तु यह वात सत्य के विलकुल विपरीत है। सत्य यह है कि भारत मे ट्रेड यूनियन ग्रान्दोलन का सूत्रपात ही राजनीतिक नेताग्रो ने किया था। उसका उद्देश्य भी राजनीतिक था, ट्रेड यूनियन नेता उस राजनीतिक आन्दोलन को व्यापक आधार प्रदान करना चाहते थे, जिसमे वे स्वय शामिल थे, ताकि राजनीतिक सत्ता के हस्तान्तरण के समय सत्ता गोरे साहवो के हाथ से निकलकर काले साहिवो के हाथो मे न चली जाये। राजनीतिक नेताओ मे गाँधी जी का दृष्टिकोण इससे भिन्न था। उनका कहना था कि जव तक मजदूरो मे ग्रपने अधिकारो तथा उत्तरदायित्वो के प्रति जागरूकता पैदा न हो जाये, उन्हे राजनीति मे भाग नही लेना चाहिए। ग्रत उनके निर्देश के अनुसार अहमदावाद मे एक आन्दोलन सगठित हुग्रा जिसे मजूर महाजन का नाम दिया गया। इसने ग्रपने आपको राजनीति से एक लम्वे समय तक दूर रखा, किन्तु जब 1942 मे 'भारत छोडो' आन्दोलन आरम्भ हुग्रा तव यह सगठन अपने आपको उस ग्रान्दोलन से अलग नही रख सका। उस समय आन्दोलन के समर्थन मे इसने अहमदावाद मे हडतालो को सगठित किया। स्वतन्त्रता के उपरान्त इस सगठन ने अपने राजनीतिक स्वरूप को कायम रखा। आज मजूर महाजन के कार्यकर्त्ता इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन काग्रेस के प्रमुख नेताओ मे से है और उन्हे राजनीति मे भाग लेने से लेशमात्र भी सकोच नही है।

राजनीतिक नेताओ का ट्रेड यूनियनो मे भाग लेने का एक परिणाम यह हुआ कि आज ट्रेड यूनियन आन्दोलन पूर्णत विभक्त है तथा उसकी एकता नष्ट हो चुकी है। इस प्रकार भारत मे लगभग सभी राष्ट्रीय पार्टियो की अपनी-अपनी ट्रेड यूनियन है और इन ट्रेड यूनियनो मे आपस मे जवरदस्त प्रतिस्पर्धा है। कम्युनिस्टो का आल-इण्डिया ट्रेड यूनियन काग्रेस पर नियन्त्रण है, काग्रेस के प्रभाव मे इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन काग्रेस है, हिन्द मजदूर सभा को सोशलिस्ट नियन्त्रित करते है, मार्क्सवादी पार्टी का प्रभाव सेन्टर ऑफ इण्डियन ट्रेड यूनियन पर है तथा रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी आदि छोटे वामपथी दलो ने भी यूनाइटेड ट्रेड यूनियन काग्रेस नामक सगठन की रचना कर ली है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस दौड से जनसघ भी अलग नही है, उसका भी एक ट्रेड यूनियन सगठन है जिसे उन्होने भारतीय मजदूर सघ का नाम दिया है।

ट्रेड यूनियनो का देश की राजनीति पर काफी प्रभाव रहा है, विशेषकर ऐसे नगरो और क्षेत्रो मे जहाँ सगठित मजदूरो की वडी सख्या रहती है। देश की औद्योगिक एव श्रमनीतियो के निर्माण मे उन्होने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका ग्रदा की है परन्तु उनका यह प्रभाव उतना नही है जितना होना चाहिए। इसका मुख्य कारण उनकी पारस्परिक अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा है। उनके आपस मे सम्वन्ध अत्यधिक कटु रहे है और उन्होने किसी ऐसी आचरण सहिता को भी विकसित नही किया है जिससे समान लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए वे एक-दूसरे के साथ सहयोग कर सके। अनेक वार उनमे एकता कायम करने के प्रयास भी किये गये है, किन्तु यह एकता केवल उस समय तक कायम रही है जब तक उनसे सम्वद्ध राजनीतिक दलो के लिए एकता कायम रखना उपयोगी था।

निस्सन्देह इस स्थिति को वांछनीय नहीं कहा जा सकता। अतः इसका निराकरण करने के लिए यह आवश्यक है कि ट्रेड यूनियन आन्दोलन को अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा से मुक्त करने का प्रयास किया जाय।

(3) **किसान संगठन**—भारत कृषि प्रधान देश है और देश की जनसंख्या में मजदूरों की अपेक्षा किसानों की संख्या बहुत अधिक है। परन्तु ट्रेड यूनियनों की स्थापना पहले हुई, किसान संगठन बहुत बाद में स्थापित हो सके। 1920 के बाद गांधी जी ने किसानों के स्थानीय आन्दोलनों को संगठित किया। इन आन्दोलनों में बिहार में चम्पारन और गुजरात में बारदोली के सत्याग्रहों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन आन्दोलनों के फलस्वरूप अखिल भारतीय किसान आन्दोलन के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार हो गयी।

1930 के बाद कांग्रेस की राजनीति अधिक उग्र होने लगी। 1931 में कांग्रेस ने मूल अधिकारों का एक चार्टर तैयार किया जिसमें स्वराज्य की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी। इसमें किसानों की स्थिति को सुधारने पर बल दिया गया था। अतः इस सन्दर्भ में यह आवश्यक था कि कांग्रेस के कार्यकर्ताओं का ध्यान किसान आन्दोलन को संगठित करने की ओर जाता। फलस्वरूप 1936 में अखिल भारतीय किसान सभा का जन्म हुआ। किसान सभा में काम करने वाले कांग्रेसी सामान्यतः समाजवादी और कम्युनिस्ट जैसे वामपंथी विचारधारा के ही लोग थे। इसलिए आरम्भ से ही किसान सभा वामपंथी संगठन रहा है। कालान्तर में इस पर कम्युनिस्टों का पूर्ण नियन्त्रण कायम हो गया। अखिल भारतीय किसान सभा को राष्ट्रीय संगठनों के फेडरेशन के रूप में संगठित किया गया है।

किसान सभा पर कम्युनिस्टों के प्रभाव स्थापित होने के कारण समाजवादियों ने अपना अलग किसान संगठन कायम कर लिया। उन्होंने उसे 'हिन्द किसान पंचायत' का नाम दिया। कुछ दिनों बाद छोटे वामपंथी दलों ने भी एक अखिल भारतीय किसान संगठन को जन्म दिया जिसे उन्होंने 'यूनाइटेड किसान सभा' का नाम दिया। हरित क्रान्ति के सन्दर्भ में जब जाति बिरादरी के नाम पर बड़े सम्पन्न किसानों ने हरिजन खेत मजदूरों को सताना आरम्भ कर दिया तो कम्युनिस्टों ने खेत मजदूरों का 1968 में एक अलग संगठन कायम कर लिया जिसे उन्होंने 'अखिल भारतीय खेत मजदूर यूनियन' का नाम दिया। इस प्रकार कम्युनिस्टों के प्रभाव में ग्रामीण क्षेत्रों में दो संगठन काम कर रहे हैं—किसान सभा और खेत मजदूर यूनियन। इन ग्रामीण संगठनों के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि मजदूर संगठनों से सर्वथा भिन्न इनका प्रभाव देश की राजनीति पर उतना व्यापक नहीं रहा है जितना होना चाहिए था। इसका कारण यह है कि देहात में जाति बिरादरी की भावना, गुटबाजी तथा आर्थिक असमानता की चेतना इतनी अधिक है कि कोई भी संगठन उचित रूप में काम नहीं कर पा रहा।

(4) **विद्यार्थी संगठन**—भारत में संगठित विद्यार्थी आन्दोलन का सूत्रपात भी औपनिवेशिक काल में ही हो गया था। वस्तुतः 1936 में अखिल भारतीय विद्यार्थी फेडरेशन की स्थापना के पूर्व देश के अनेक प्रान्तों में नौजवान लीग स्थापित थीं और इन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन के सर्वाधिक लोकप्रिय नेता नेहरू जी का पथ प्रदर्शन प्राप्त था।

1939 में जब द्वितीय महायुद्ध का आरम्भ हुआ तो उस समय विद्यार्थी फेडरेशन पर कम्युनिस्टों का प्रभाव स्थापित हो गया। यथार्थ में उस समय देश के नौजवानों को गांधी जी की युद्ध के सम्बन्ध में दुलमुल नीति समझ में नहीं आ रही थी। 1945 में कांग्रेस के प्रभाव में अखिल भारतीय स्टूडेण्ट कांग्रेस की स्थापना हुई। कालान्तर में समाजवादियों ने भी समाजवादी युवजन सभा की रचना कर दी। थोड़े समय के पश्चात् कांग्रेस के प्रभाव में एक नये अखिल भारतीय संगठन की स्थापना हुई जिसे नेशनल यूनियन आफ स्टूडेन्ट्स का नाम दिया गया। जनसंघ के प्रभाव में विद्यार्थी परिषद् संगठन का उदय हुआ है।

विद्यार्थी संगठनों ने जहां विश्वविद्यालयी शिक्षा की समस्याओं पर आन्दोलन किये हैं वहां देश की अन्य समस्याओं के प्रति भी उन्होंने उदासीनता नहीं दिखाई है। उदाहरण के लिए उन्होंने

वेरोजगारी, विश्वशान्ति, वियतनाम मे युद्ध-वन्दी आदि अनेक मसलो पर छात्रो को आन्दोलित किया है। इससे स्पष्ट है कि भारत का विद्यार्थी वर्ग राजनीतिक चेतना मे किसी से कम नही है। परन्तु दुर्भाग्य की वात यह है कि देश के सभी विद्यार्थी सगठन राजनीतिक दलो की प्रतिस्पर्धा के केन्द्र वने हुए है। फलत विद्यार्थी राजनीतिक दलवन्दियो मे आवश्यकता से अधिक भाग लेते है। इसके परिणामस्वरूप विश्वविद्यालयो मे वडे पैमाने पर अव्यवस्था पाई जाने लगी है।

(5) **महिला सगठन**—देश मे स्त्रियो के अधिकारो की रक्षा के लिए एक लम्वे समय से महिलाओ के सगठन सक्रिय रहे है। उनमे सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण अखिल भारतीय महिला सम्मेलन (All India Women's Conference) है। कुछ समय तक उस पर कम्युनिस्टो का प्रभाव रहा, परन्तु वाद मे वह गैर-कम्युनिस्टो के प्रभाव मे आ गया। इसका प्राथमिक उद्देश्य स्त्री-समाज के कल्याण के लिए विभिन्न प्रकार के कार्य करना तथा उनकी कानूनी व सामाजिक स्थिति को सुधारना है। जव ससद के समक्ष हिन्दू कोड विल प्रस्तुत था तो उस समय इस सगठन ने दवाव समूह के रूप मे सक्रिय भूमिका अदा की थी।

(6) **प्रशासकीय कर्मचारी समूह**—अपने हितो की रक्षा के लिए तथा अपने कार्यो मे सरकार के अनावश्यक हस्तक्षेप को रोकने के लिए विभिन्न स्तर के कर्मचारियो ने भी अपने-अपने सगठनो की स्थापना की है। इस प्रकार के सगठनो मे आल इण्डिया रेलवेमैन फेडरेशन, आल इण्डिया पोस्टल एण्ड टेलीग्राफ वर्कर्स यूनियन, आल इण्डिया बैंक एम्पलॉयीज एसोसियेशन, आल इण्डिया यूनीवर्सिटी कालेज टीचर्स एसोसियेशन आदि महत्त्वपूर्ण है। इन सगठनो ने सरकार को अनेक वार अपनी नीतियो को कर्मचारियो के पक्ष मे निर्मित करने के लिए वाध्य किया है।

दवाव समूहो की कार्यविधि

जैसा कहा जा चुका है कि इन दवाव समूहो का प्रमुख कार्य अपने हितो का सरक्षण और उनकी वृद्धि करना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वे अनेक उपाय काम मे लाते है—कभी-कभी इन उपायो से कानून की सीमाओ का भी अतिक्रमण हो जाता है। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय मे देश ने गाधी जी से विदेशी नौकरशाही के विरुद्ध सघर्ष करने के लिए सत्याग्रह की तकनीक सीखी थी। भारत के आधुनिक दवाव समूहो ने न केवल सत्याग्रह की परम्परा को कायम रखा है, अपितु उन्होने उसे विकसित भी किया है। वस्तुत उनकी कार्य-प्रणाली मे जहाँ देश के राष्ट्रीय आन्दोलन की विरासत के तत्त्व मौजूद है वहाँ उनमे वे तत्त्व भी पाये जाते है जिन्हे पश्चिम के दवाव समूह काम मे लाते है। उनके द्वारा अपनाये जाने वाले उपायो को निम्न प्रकार गिनाया जा सकता है

(1) **लोवीइग (Lobbying)**—इस तरीके का प्रयोग सवसे पहले अमरीकी दवाव समूहो ने किया था। इसके माध्यम से दवाव समूह प्रशासकीय अधिकारियो, विशेषत विधानमण्डल के सदस्यो पर प्रभाव डालने के लिए प्रयत्न करते है। परन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नही है कि इनका कार्य विधानसभाओ के सत्रावसान के वाद समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत ये समूह अपना कार्य निरन्तर करते रहते है। उनका काम प्रशासकीय अधिकारियो तथा सामान्य जनता को भी प्रभावित करता है—प्रशासकीय अधिकारियो को इसलिए क्योकि कानून और अधिनियमो की व्याख्या उन्ही के द्वारा होती है और सामान्य जनता को इसलिए क्योकि जनता द्वारा उनके दृष्टिकोण का समर्थन उन्हे सुगमतापूर्वक अपने लक्ष्यो को प्राप्त करा सकता है।

(2) **व्यापक प्रचार**—दवाव समूह प्रचार के सभी साधनो को काम मे लाते है। लेखन, प्रकाशन, भाषण, सभाओ का आयोजन आदि उसके समान माध्यम है। पत्र-पत्रिकाओ एव लेखो के माध्यम से ये जनता को अपने दृष्टिकोण से अवगत कराते है। जनमत को प्रभावित करने मे उनका लक्ष्य निर्वाचन मे ऐसे दलो अथवा उम्मीदवारो की सफलता होती है जो उनके विशिष्ट

हिता के सरक्षण का आश्वासन द । यह स्पष्ट है कि य चनाव म अपन प्रत्याशी खडे नहा करत य कवल समथन देते है और प्रचार हतु य कायकर्त्ता और आर्थिक सहायता भी दत ह ।

(3) **हडताल घिराव बद और प्रदशन**—प्रशासन को अपने दृष्टिकोण क प स म निणय करान क लिय य प्रदशन हडताल बद और घिराव का भी सहारा लेत हैं । हडताल और प्रदशन का प्रयाग तो राष्ट्रीय आदोलन क समय म हा शुरू हो गया था । घिराव और बद सघप की नइ तकनीक है जिनका प्रयोग माट तौर पर 1967 क बाद स शुरू हुआ है । इन माध्यमा से दबाव समूह दा लक्ष्या को प्राप्त करन का प्रयास करत है । प्रथम असतोष की अभियक्ति और द्वितीय अपने प स म लोकमत का निमाण । यदि अपन पक्ष म लाकमत को निर्मित करन म उह सफलता मिल जाती हे तो यह आशा की जा सकती है कि लाकमत क दबाव स अपनी मागा को पूरा करान म भी उह सफलता मिल सकगी ।

(4) **यायपालिका को शरण**—कभी कभी दबाव समूह विधानमण्डल द्वारा पारित किय एम विधयक को रद्द करवान क निए अथवा कायपालिका द्वारा निर्मित किसी ऐसी नीति को अवध घोषित करवान क निए जिनस उनक किसी हित पर आघात पहचता हैं यायपालिका की भी शरण लत है । पिछल वर्षो म बका क राष्टीयकरण तथा प्रिवी पस और विशपाधिकार विधयक राष्टपति क आदश क विरुद्ध एसे ही समूहा क द्वारा सर्वाच्च यायालय म याचिका प्रस्तुत की गयी थी ।

निष्कप

उपयक्त विवचना स स्पष्ट है कि दबाव समूहा और राजनीतिक दला म अन्तर है । यह सच है कि भारत म य दबाव अभी उस प्रकार विकसित नहा हुए ह जिस प्रकार व पश्चिम क दशा म विकसित ह । यहा नहा भारत म इनक सम्बध म इस समय तक कोई आचार सहिता (rule of the game) भी नहा बन सकी है । फलत य समूह किसी भी प्रशासकीय नीति अथवा काय क प्रति विरोध यक्त करन क लिए आम तौर पर प्रत्यक्ष कायवाही का सहारा लत हैं । फलस्वरूप समूच दश म आयदिन दग और उपद्रव होत रहत है । कुछ लोगा का कहना है कि य उपद्रव राष्ट्रीय आदोलन की विरासत है । एक सीमा तक यह बात सही भी हो सकती हे परन्तु अधिक सही बात यह है कि दश म जनसख्या ता बहुत है और उसकी आवश्यकताओ को पूरा करन क लिए साधन बहुत कम । एसी स्थिति म असतोष का अभिव्यक्ति स्वाभाविक है । यहा नहा यदि अधिकारी जनता की मागा की उपक्षा करत है ता उस स्थिति म यह स्वाभाविक ही ह कि असतोप की अभियक्ति उग्र रूप स हो ।

प्रश्न

1 भारतीय दबाव समूहो का वर्गीकरण कीजिए ।
2 भारतीय दबाव समूहा न राजनीति को प्रभावित करन क लिए कौन कौन सी कायविधि को अपनाया है ?

14
भारतीय लोकतन्त्र की समस्याएँ
(PROBLEMS OF INDIAN DEMOCRACY)

1 जातिवाद (Casteism)

भारतीय समाज एक परम्परावादी समाज है, परन्तु लोकतन्त्र एक आधुनिक अवधारणा है जो अपने सफल कार्यान्वियन के लिए कुछ ऐसी बातो की अपेक्षा करती है जिनका परम्परावादी समाज की मान्यताओ के साथ कोई मेल नही हो सकता। जातिवाद उन्ही बातो मे से एक है। यहाँ उसकी सक्षिप्त विवेचना आवश्यक है।

यह बताने की आवश्यकता नही है कि भारत की सामाजिक पद्धति का सगठन जाति की सरचना के आधार पर हुआ है। परन्तु जब हम जाति और राजनीति के अन्तर्सम्बन्धो की विवेचना करते है तो सामान्यत हम गलत प्रश्न से अपने अध्ययन का आरम्भ करते है—'क्या जाति-प्रणाली का लोप हो रहा है ?' वस्तुत इसके स्थान पर जो प्रश्न होना चाहिये वह यह है कि राजनीति के प्रभाव के फलस्वरूप जाति किस प्रकार का रूप धारण कर रही है तथा जाति-ग्रस्त समाज मे राजनीति का क्या रूप है ? जो भारतीय राजनीति मे जातिवाद की उपस्थिति की शिकायत करते है, वे वास्तव मे इस प्रकार की राजनीति की कल्पना करते है जिसका कोई आधार नही है। इन लोगो को न तो राजनीति के सम्बन्ध मे सही समझ है और न जाति-प्रणाली के। *वास्तव मे लोकतान्त्रिक राजनीति के अन्तर्गत राजनीति की प्रक्रिया प्रचलित सरचनाओ को इस* प्रकार प्रयोग मे लाती है जिससे उससे सम्बद्ध पक्ष अपने लिए समर्थन प्राप्त कर सके तथा अपनी स्थिति को सुदृढ बना सके। जिस समाज मे जाति को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सगठन माना जाता है, उसमे यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि राजनीति इस सगठन के माध्यम से अपने आप को सगठित करने का प्रयास करे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जिसे हम राजनीति मे जातिवाद के नाम से पुकारते है, वह वास्तव मे जाति का राजनीतिकरण है। जब राजनीति मे जाति की अभिव्यक्ति होती है तो उसके माध्यम से जाति और रक्त सम्बन्धो पर आधारित समुदाय अपने लिए राजनीतिक लाभ प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील होते है। राजनीतिक नेता जाति समुदायो को इसलिए सगठित करते है ताकि उनके समर्थन से उन्हे सत्ता तक पहुँचने मे सहायता मिल सके। यदि राजनीतिक नेताओ को अपने लिये समर्थन प्राप्त करने के लिए जाति समुदायो के अतिरिक्त कोई दूसरे प्रकार के समुदाय उपलब्ध है तो उन्हे उनको भी प्रयोग मे लाने मे सकोच नही होता।

यह बताने की आवश्यकता नही कि जाति-प्रणाली भारतीय समाज का एक परम्परागत पहलू है। यह सही है कि पिछले वर्षो मे पश्चिम के प्रभाव के परिणामस्वरूप भारतीय समाज का आधुनिकीकरण हुआ है, परन्तु यह आधुनिकीकरण समाज के पारम्परिक रूप का पूर्णत उन्मूलन करने मे असफल रहा है। फलत देश मे दो भिन्न प्रकार की सस्कृतियो की अलग-अलग धारायें प्रवाहित होती रही है एक पारम्परिक सस्कृति है और दूसरी है प्रबुद्ध लोगो की सस्कृति। पारम्परिक सस्कृति धर्म-प्रधान है, उसमे जाति की प्रधानता है, उसमे वैज्ञानिक दृष्टिकोण के लिए कोई स्थान नही है, अपितु उसमे अन्ध-विश्वासो को स्थान दिया जाता है। सक्षेप मे वह जिस समाज की रचना करती है, वह मूलत तग समाज (closed society) है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति

का समाज म स्थान उसक जन्म क साथ ही निश्चित हो जाता है। इसक विपरीत प्रबुद्ध सस्कृति (elite culture) धर्म निरपेक्ष है उसका आधार वैज्ञानिक दृष्टिकोण है तथा उसम जाति पिरामिडी जसे पारम्परिक सगठनो स निये कोई स्थान नही है। वास्तव इस प्रकार की सस्कृति क माध्यम स जिस समाज की रचना होती है उस आवश्यक रूप स एक मुक्त समाज (open society) होना चाहिए। भारत म औपनिवेशिक काल से ही उक्त दोनो प्रकार की सस्कृतियो का अस्तित्व अवलोकित किया जा सकता था। वस्तुत उस समय य दोनो सस्कृतिया एक दूसरे क समानान्तर चल रही था। पारम्परिक सस्कृति जनसाधारण की सस्कृति थी और प्रबुद्ध सस्कृति अग्रजी पढे लिख लोगो की। उस समय इन दोनो सस्कृतियो क विलयन का अथवा एक सस्कृति का दूसरी सस्कृति को किसी प्रकार स प्रभावित करन की किसी न कल्पना भी नही की थी। यथार्थ म उस समय इसकी कोई विशेष आवश्यकता नही था। हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन भी मुख्यत अग्रजी पढे लिख मध्यम वर्गीय लोगो का आन्दोलन था। परन्तु जब देश स्वाधीन हुआ और उसक साथ वयस्क मताधिकार क आधार पर चुनाव शुरू हुए तो उसके फलस्वरूप आधुनिक प्रभावो न भारतीय समाज म धीरे धीरे प्रवेश करना आरम्भ कर दिया। जनसाधारण जो पारम्परिक सस्कृति स अनुप्राणित थ यकायक इस स्थिति म पहुँच गय क्योकि उनक पास वोट सत्ता म बोट थ और लोकतन्त्र म सत्ता को प्राप्त करने क लिए इन वोटो का मूल्य था। अत जिन्ह सत्ता की आकाक्षा थी उन्ह वोटो को प्राप्त करन क लिय जनसाधारण क पास पहुचने की आवश्यकता थी। यह स्पष्ट है कि जनसाधारण को अपन पक्ष म मिलान क लिए यह भी जरूरी था कि उनसे उस भाषा म बात की जाय जो उनक लिए बुद्धिग्राह्य हो। जाति प्रणाली इस प्रकार की भाषा को प्रस्तुत करती थी। एसी स्थिति म यदि राजनीति म जाति की भूमिका अधिकाधिक महत्वपूर्ण होती गई तो इसम आश्चर्य की कोई बात नही थी।

यहा इस बात पर भी बल देने की आवश्यकता है कि राजनीति क सामाजिक सगठन के विभिन्न चरण विभिन्न प्रकार क नतत्व तथा विभिन्न प्रकार की सगठनात्मक क्षमता की अपेक्षा करत है। इसलिए जब राजनीतिक प्रक्रिया एक चरण स निकलकर दूसरे चरण म पहुचता है तब एक प्रकार की योग्यता स सम्पन्न नतृत्व का स्थान दूसर प्रकार की क्षमताओ स सम्पन्न लोग ल लत है। अत आरम्भ म नतत्व उन लोगो क हाथो म था जिन्होन पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण की थी तथा जिन्ह यहाँ की पद्धति क राजनीतिक सगठनो क परिचालन का अनुभव था। इस म य आवश्यकता एस नताओ की थी जो एस प्रशासको क साथ काम कर सक जिनका दृष्टिकोण और रहन सहन पाश्चात्य था जिन्ह वाद विवाद तथा सद्धान्तिक बहस म भाग लने की रुचि थी जिनक पास कानून का ज्ञान था तथा जो छोट मोट आन्दोलनो म भाग लन क लिए सार्वजनिक मामलो म रुचि लन वाल व्यक्तियो को आकर्षित करने की क्षमता रखत थ। भारतीय सामाजिक सस्तरण म सबस उच्च स्थान पर होन क कारण इस प्रकार क व्यक्ति सामान्यत ब्राह्मणो म ही मिल सकत थ। उनक पास उच्च शिक्षा था उन्होन अग्रजी शिक्षा भी प्राप्त की था तथा साथ ही पीढियो स उन्होने भारत क पारम्परिक ज्ञान को भी प्राप्त किया था। इसक अतिरिक्त प्रशासन क साथ भी उनका सम्बन्ध अनक पीढियो स चला आ रहा था। इस प्रकार इस चरण क राजनीतिक नतत्व की आवश्यकताय इस जाति क सदस्यो क द्वारा पूरी होती थी। अत यह कोई आश्चर्य की बात नही कि इस काल म नतृत्व सामान्यत ब्राह्मणो क ही हाथो म रहा। कालान्तर म जब राजनीति जनसाधारण की ओर अधिक उन्मुख हुई तो उसका आधार भी व्यापक हो गया। इस नयी परिस्थिति म राजनीति क परिचालन क लिए एस व्यक्तियो की आवश्यकता थी जिनक पास प्रबन्धकीय और सगठनात्मक क्षमता हो। बताने की आवश्यकता नही कि इस क्षमता क साथ मोल-तोल करन की और निबन्ध करन की योग्यता भी जुडी हुई है।

स्पष्टत इस प्रकार की क्षमतायें उन बिरादरियो म अधिक मात्रा म पायी जाती थी जिनका सम्बन्ध व्यापार और कृषि क साथ था। फलत राजनीति म अब जिन लोगो का बोल

बाला कायम हुआ वे या तो व्यापारी और उद्योगपति थे और या वे कुलक थे। ये लोग उन प्रबुद्ध लोगो की अपेक्षा कम आधुनिक थे, जिन्हे उन्होने अपदस्थ किया था। उनका रुझान भी ग्रामोन्मुख था, उनकी भाषा भी ऐसी थी जिसे आधुनिक नही कहा जा सकता। सच बात यह है कि राजनीति मे जातिवाद की समस्या की अभिव्यक्ति अपने गम्भीर रूप मे इसी चरण के साथ शुरू होती है।

कालान्तर मे पुरानी मान्यताओ का लोप होने लगा और उनके स्थान पर नये राजनीतिक मूल्यो का उदय होने लगा। इस स्थिति को जन्म देने मे जो कारण सहायक हुए उनमे शिक्षा और तकनीक का प्रसार, ग्रामो का नगरीकरण तथा स्थिति के प्रतीको मे परिवर्तन को मुख्य रूप से गिनाया जा सकता है। इस स्थिति के उदय होने के साथ राजनीतिक प्रक्रिया के विकास का तीसरा चरण आरम्भ होता है। इस चरण मे नये और व्यापक सम्बन्धो की रचना हुई, आत्म-परितुष्टि की नई कसौटी विकसित की गई, भौतिक लाभो की प्राप्ति के लिए लोगो की आकाक्षा बढी तथा परिवारो का एक स्थान से दूसरे स्थानो को स्थानान्तरण एक आम बात बन गई। इस प्रकार स्थानीय अथवा विशिष्ट जाति अथवा सम्प्रदाय की भक्ति के स्थान पर जो नई भक्ति विकसित हुई वह अधिक आधुनिक थी। जो एक प्रकार से अपनी जीविका कमाते थे, जो एक ही प्रकार के काम की परिस्थितियो मे अपना गुजारा करते थे, उनके बीच निश्चय ही एक प्रकार से समान हित पाये जाते थे, चाहे उनकी जाति-बिरादरी कुछ भी क्यो न हो। इस प्रकार का दृष्टिकोण सामान्यत नगरो मे कारखानो और मिलो मे काम करने वाले श्रमिको तथा मध्यम-वर्गीय नौकरी-पेशा लोगो मे देखता जा सकता है। इसका अभिप्राय यह कदापि नही है कि इस तीसरे चरण मे जाति के प्रभाव का लोप होने लगा है। वस्तुत भारत एक ऐसा देश है जिसमे शताब्दियो का सह-अस्तित्व अवलोकित किया जा सकता है। परन्तु इसके साथ ही इस सत्य की उपेक्षा नही की जा सकती कि उस प्रक्रिया का समारम्भ हो चुका है जिसकी अन्तिम परिणति धर्मनिरपेक्ष समाज की स्थापना मे होने की आशा की जा सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जब भारत के पारस्परिक समाज का लोकतान्त्रिक राजनीति के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ तो उसके परिणामस्वरूप नये सामाजिक मूल्य भी विकसित हुए और इस प्रकार समाज के आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार हुई है। पिछले वर्षो का अनुभव साक्षी है कि जहाँ बिरादरी बहुत बडी है, वहाँ उसमे एकरूपता नही है और जहाँ वह बहुत छोटी है तो वह सख्या की दृष्टि से किसी शक्ति की रचना नही करती। दूसरे, यदि कोई राजनीतिक दल अथवा नेता किसी एक बिरादरी के साथ अपनी आत्मीयता स्थापित कर लेता है तो उसके फलस्वरूप अन्य बिरादरियाँ उससे विमुख हो जाती है और यह तथ्य उस दल अथवा नेता के पराभव का कारण सिद्ध होता है। अत चुनाव की राजनीति के परिचालन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि बहु-जातीय समर्थन को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाये। इस प्रकार इस राजनीति के द्वारा जहाँ जाति के टुकडे हुए है वहाँ उसने उसके अन्य बिरादरियो के साथ सम्बन्ध भी स्थापित किये है। जिन राजनीतिक दलो अथवा नेताओ ने इस तथ्य की अवहेलना की है उन्हे अन्ततोगत्वा असफलता का मुँह देखना पडा है।

(इतना होते हुए भी भारतीय राजनीति अभी भी एक बडी सीमा तक जातिवाद से प्रभावित है। इस स्थिति को जन्म देने मे सबसे बडी भूमिका देश के सबसे बडे राजनीतिक दल काग्रेस की रही है। परन्तु 1969 मे काग्रेस मे विभाजन हो जाने के बाद जातिगत राजनीति पर भी प्रतिकूल प्रभाव पडा है। इस विभाजन के फलस्वरूप ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है जिसमे जातिवादी राजनीति को अपना स्थान छोडने के लिए बाध्य होना पडा। अब जनता के सन्मुख प्रश्न यह था कि काग्रेस का कौनसा भाग जनतन्त्र एव समाजवाद के लक्ष्यो की सिद्धि की ओर अग्रसर होने पर कटिबद्ध है। राज्यो की राजनीति भी इसके प्रभाव से अछूती नही बची। काग्रेस के नेताओ के दो भागो मे बँट जाने के कारण जातियो के निश्चयो मे भी विभाजन हो गया। फलत जिस प्रकार काग्रेस दल के दो भाग हो गये, उसी के साथ जातिगत राजनीति मे भी दरार पड गयी।

इस उथल पुथल का एक स्पष्ट रूप यह देखने में आया कि 1971 के लोकसभा के मध्यावधि चुनावों में जातिवाद पर आधारित राजनीति उग्र रूप धारण नहीं कर सकी। यह ठीक है कि प्रत्याशियों के चयन में राजनीतिक दल सामान्यत जातिवाद के विचार से प्रभावित हुए परन्तु चुनाव में जातिवाद की कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं रही। यथार्थ में यह चुनाव अपने ढंग का अद्भुत था जिसमें मुख्य बिन्दु इन्दिरा हटाओ बनाम गरीबी हटाओ बन गया और मतदाताओं ने अपना निर्णय देते हुए जाति के स्थूल तत्त्व को वह प्रधानता नहीं दी जिसका रूप पिछले चुनावों में देखने में आता था।

यदि 1969 के बाद की भारतीय राजनीति की विवेचना की जाय तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि जिस अनुपात में राजनीति उग्र हुई है उसी अनुपात में उसे जातिवाद के कुप्रभावों से मुक्ति प्राप्त हुई है। यथार्थ में जनता यथास्थिति में आमूल परिवर्तन चाहती है वह उस अन्यायपूर्ण व्यवस्था का अब और भार सहन करने के लिए तैयार नहीं है जो उसके ऊपर शताब्दियों से लादा गया है। जाति प्रथा यथास्थिति की द्योतक है वह सामन्ती समाज का अवशेष है। अत उसका लोकतन्त्र और समाजवाद के उच्च आदर्शों के साथ कोई मेल नहीं है। इसलिए जब भी जनता के समक्ष उग्र विकल्प प्रस्तुत किये गये हैं तो उसने यथास्थिति के मुकाबले में उन्हीं का चयन किया है। अत यदि जातिवाद का सही अर्थों में मुकाबला करना अपेक्षित है तो यह आवश्यक है कि लोकतन्त्र और समाजवाद के आदर्शों को प्राप्त करने के लिए इमानदारी से कदम उठाये जायें।

2 सम्प्रदायवाद (Communalism)

जातिवाद की भाँति सम्प्रदायवाद भी भारतीय लोकतन्त्र के समक्ष एक जटिल समस्या है। यथार्थ में यह कोई नई समस्या नहीं है। यह समस्या उस समय भी प्रस्तुत थी जबकि देश राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर रहा था। इस समस्या के बावजूद भी यदि 1947 में देश परतन्त्रता की बेड़ियों को काटने में सफल हुआ तो ऐसा इसलिए नहीं हुआ क्योंकि हमने अपकार के लिए अपनी इस समस्या को भुलाकर शत्रु के विरुद्ध कोई संयुक्त मोर्चा बना लिया था परन्तु हम देश को स्वतन्त्र कराने में इसलिए सफलता मिली थी क्योंकि शत्रु द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त इस योग्य नहीं रह गया था कि वह भारत जैसे विशाल देश पर अपने नियन्त्रण को आगे चला सकता।

स्वतन्त्रता के बाद भी इस समस्या का निराकरण करने में हम असफल रहे हैं। आज भी देश में साम्प्रदायिक दंगे होते हैं और यदि दंगे नहीं भी होते तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि देश के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के बीच पूर्ण सद्भावना पाई जाती है। यदि ऐसा होता तो यहाँ साम्प्रदायिकता के आधार पर राजनीतिक दलों का संगठन ही सम्भव नहीं हो पाता। प्रश्न है कि इस सम्प्रदायवाद का कारण क्या है तथा इसने भारतीय राजनीति को किस प्रकार प्रभावित किया है? यहाँ इसकी विस्तृत समीक्षा की आवश्यकता है।

जवाहरलाल नेहरू ने भारत के सम्बन्ध में लिखते हुए उसे अनेकता में एकता कहकर पुकारा था। उनके इस कथन के आगे एक प्रश्न चिह्न लगा है कि भारत में एकता पाई जाती है परन्तु उसकी अनेकता उसके राजनीतिक जीवन का एक कटु यथार्थ है। भारत एक बहु धर्मावलम्बी देश है इसमें अनेक मतों को मानने वाले रहते हैं जिनमें हिन्दू मुसलमान सिक्ख ईसाई पारसी और बौद्ध प्रमुख हैं। हिन्दू भारत में बहुसंख्यक हैं जबकि अन्य सम्प्रदाय अल्पसंख्यक हैं। इन अल्पसंख्यकों में मुसलमान सबसे अधिक मुख्य हैं क्योंकि संख्या की दृष्टि से इनका नम्बर हिन्दुओं के बाद आता है। औपनिवेशिक शासन के काल में अंग्रेजों ने इन सम्प्रदायों के पारस्परिक मतभेदों को उनमें फूट डालने के लिए इस्तेमाल किया और इसकी अन्तिम परिणति देश के विभाजन में हुई। परन्तु विभाजन के बाद भी देश में मुसलमान बड़ी संख्या में बने रहे। देश के

राष्ट्रीय नेताओ ने उन्हे जीवन, धर्म और सम्पत्ति की सुरक्षा का आश्वासन दिया था । सविधान के द्वारा भी उन्हे उनके अधिकारो की सुरक्षा के सम्बन्ध मे आश्वस्त किया गया था । परन्तु ऐसा पाकिस्तान मे नही किया गया । फलत वहाँ से हिन्दू वडी सख्या मे भारत शरणार्थी वनकर आये । इस सन्दर्भ मे सम्प्रदायवाद की समस्या का कोई समाधान सम्भव नही हो सकता था ।

स्वतन्त्रता के फौरन वाद देश मे विशाल पैमाने पर साम्प्रदायिक दगे हुए और इन दगो का कोई विशेष कारण नही था । कभी दगा इसलिए हो गया क्योकि श्रीनगर मे एक ब्राह्मण लडकी को मुसलमान वनाकर उसकी एक मुसलमान के साथ शादी कर दी गई थी, तो कभी दगा इसलिए हो गया क्योकि मेरठ मे एक मुसलमानो की मीटिग पर हिन्दुओ ने विरोध प्रदर्शित किया था । कभी दगा इसलिए हो गया क्योकि होली के त्यौहार पर हिन्दुओ ने मुसलमानो के ऊपर रग फेक दिया तो कभी दोनो सम्प्रदायो के लोग आपस मे इसलिए लड मरे क्योकि जव एक आवारा गाय ने एक मुसलमान डवल रोटी वनाने वाले की कुछ रोटियाँ खा ली तो उस मुसलमान ने उस गाय को मारा जिससे उस गाय की मृत्यु हो गई । निस्सन्देह, इन छोटी-छोटी वातो पर देश मे काफी खून खरावी हो चुकी है । प्रश्न है कि देश के स्वाधीन होने के वाद भी ये दगे क्यो होते है ? इस प्रश्न के ऊपर मे मुख्यत तीन कारण गिनाये जा सकते है—मुस्लिम पृथकतावाद, हिन्दू सम्प्रदायवाद तथा सरकार की उदासीनता । यहाँ इन तीनो कारणो की समीक्षा अपेक्षित है ।

स्वतन्त्रता के वाद कुछ मुसलमान नेताओ ने विभाजन की भूल को स्वीकार किया था । उन्होने इस गलती को सुधारने के लिए अपने सह-धर्मावलम्बियो को यह परामर्श भी दिया था कि उन्हे देश मे ऐसी पार्टियो और व्यक्तियो को समर्थन देना चाहिए जो धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद और आर्थिक न्याय मे आस्था रखते है तथा उन्हे राष्ट्र की मुख्य-धारा मे अपने आपको विलीन कर देना चाहिए ताकि उनके माथे से यह कलक हट जाये कि वे देश के विभाजन के लिए उत्तरदायी थे । इस प्रकार का परामर्श देने वाले नेताओ मे मद्रास के मौहम्मद इस्माइल तथा नवाव इस्माइल खाँ मुख्य थे । परन्तु ये विचार कार्यरूप मे परिणत नही किये जा सके क्योकि कुछ मुस्लिम सगठन मुसलमानो को इस वात का उपदेश दे रहे थे कि उन्हे अपनी सस्कृति, धर्म, भाषा और अन्य हितो की रक्षा के लिए अपने आपको पृथक् सगठनो मे सगठित करना चाहिए / जमायते-इस्लामी ने मुसलमानो को यह परामर्श दिया कि 1952 मे हुए प्रथम आम चुनाव का वहिष्कार करना चाहिए, क्योकि इन चुनावो के द्वारा इस्लामिक राज्य की स्थापना नही हो सकती । 1948 मे वची-खुची मुस्लिम लीग ने मुसलमानो के लिए पृथक् निर्वाचन की माँग की । वस्तुत वे मुसलमान नेता जो इस प्रकार की वात करते थे, वे लोग थे जिनके पास आधुनिकता छू तक नही गई थी, जिनका दृष्टिकोण धार्मिक कट्टरता से परिपूर्ण था और जो हमेशा यह वेसुरा राग अलापते थे कि हिन्दू और मुस्लिम सस्कृति मे कोई साम्य नही है तथा उनके वीच कभी कोई एकता स्थापित नही की जा सकती । इस प्रकार के मुसलमान नेताओ ने मार्च 1971 मे हुए लोकसभा के मध्यावधि चुनाव के पूर्व समूचे भारत के मुसलमानो का एक सम्मेलन आयोजित किया था जिसमे मुसलमानो के हितो की रक्षा के सम्बन्ध मे आधे दर्जन प्रस्ताव पारित किये गये थे । इनमे अल्पसख्यको के जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा, उर्दू की रक्षा, नौकरियो मे मुसलमानो के लिए स्थानो को सुरक्षित रखना, अलीगढ विश्वविद्यालय की वर्तमान स्थिति को कायम रखना तथा सानुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली को देश मे चालू करना शामिल थे । इस सम्मेलन ने एक अखिल भारतीय राजनीतिक परामर्श समिति की भी स्थापना की जो समूचे देश के स्तर पर मुसलमानो की गतिविधियो मे ताल-मेल वैठा सके । निस्सन्देह मुस्लिम धर्मान्धता तथा पिछडेपन ने उनके वीच मे सम्प्रदायवाद का कभी पूर्ण उन्मूलन नही होने दिया । सामाजिक पिछडेपन के साथ-साथ मुसलमान आर्थिक रूप मे भी पिछडे हुए रहे । स्वतन्त्रता के वाद भी उन्होने शिक्षा के प्रसार का वाछित लाभ नही उठाया, फलत सरकारी नौकरियो मे भी उन्हे उस अनुपात

म जगह नहा मिन सका जिम व चाहत थ। इसक परिणामस्वरूप मुसलमाना म निराशा क भाव का उदय हुआ है मुस्लिम सम्प्रदायवाद का जम देन म इस कारण का एक विशप योगदान रहा है। इसक अतिरिक्त भारतीय राजनीति म मुस्लिम सम्प्रदायवाद का उत्पत्ति क लिए पाकिस्तान को भी एक सीमा तक उत्तरदायी बताया जा सकता है। जब भी भारत म कोई साम्प्रदायिक दगा हुआ पाकिस्तान न उस समय अग्नि म घी डालन का काम किया। उदाहरण क लिए जब हजरतबल की मस्जिद म पवित्र बाल की चोरी हुई तो उस समय तत्कालीन पाकिस्तानी विदेश मन्त्री जुल्फिकार अली भुट्टो न अपन एक बयान म कहा था कि यह चोरी भारत सरकार का साजिश म हुई है। पाकिस्तान न भारत की मुस्लिम जनता का राष्ट्रीय जीवन स अलग रखन का हमेशा स प्रयत्न किया है और उस अपन इस प्रयत्न म पूर्ण असफलता मिली हो एसी बात नहा है। इस परिस्थिति म यदि स्वतन्त्रता क बाद भी भारत म मुस्लिम सम्प्रदायवाद कायम रहा तो इसम कोई आश्चय की बात नहा थी।

जहा सम्प्रदायवाद क लिए मुसलमान सम्प्रदायवादी उत्तरदायी ह वहा इसक लिए हिन्दू सम्प्रदायवाद कम उत्तरदायी नहा है। स्वतन्त्रता क पहल भी भारत म हिन्दू साम्प्रदायिक सगठन थ जिनम हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ क नाम मुख्य रूप म लिय जा सकते ह। इन सगठनो न इस बात क ऊपर हमशा जोर दिया कि भारत हिन्दुआ का देश है तथा अन्य धर्मावलम्बी विशेषत मुसलमान इस देश म विजातीय तत्त्व की रचना करत ह।

ऊपर 1970 म हुए मुस्लिम सम्मेलन का उल्लेख किया जा चुका है। इस सम्मेलन क बाद हिन्दू महासभा न अपन एक प्रस्ताव म यह माग की कि मुसलमाना का सरकारी स्तर पर पाकिस्तान भेज देना चाहिए। 1965 क युद्ध म पाकिस्तान क विरुद्ध युद्ध क शहीद हुए अब्दुल हमीद क सम्बन्ध म लिखत हुए गोलवलकर न कहा कि वह तो वस हा ह जस कि भाग म स्वत म तुलसी का पौधा। शिव सेना क बाल ठाकरे न इस्लाम क दूर खतर म हिन्दुआ को आगाह करत हुए कहा—हिन्दुओ को न केवल हिन्दू रहना चाहिए वल्कि कट्टर हिन्दू होना चाहिए तथा उन्ह अपन धम क लिए जहाद करन वाला होना चाहिए। मुझ यह कहन म कोई लज्जा नहा है कि मैं एक कट्टर हिन्दू है। स्पष्ट है कि इस प्रकार क प्रचार का उपस्थिति म देश म सम्प्रदायवाद का उन्मूलन नहा किया जा सकता था।

सम्प्रदायवाद का पनपान म सरकार का उदासीनता की भी एक निश्चित भूमिका रही है। सच बात यह ह कि केन्द्र और राज्या की सरकारा न इस समस्या का निराकरण करन क लिए कोई मजबूत कदम नहा उठाय। उन्हान इस समस्या क कारणा की भी कोई समीक्षा नहा की। अत सम्प्रदायवाद क रोग का कोई निदान नहा हो सका। एसी स्थिति म उपचार का कोई प्रश्न ही नहा उठ सकता था।

सरकार का प्रशासकीय यन्त्र भी इस समस्या का समाधान क लिए अनुपयुक्त सिद्ध हुआ है। साम्प्रदायिक उपद्रवा क समय सरकारी अधिकारिया न न कवल सामयिक कार्यवाही करन म सकोच किया है अपितु शिकायत तो यह भी ह कि उन्हान उपद्रवा को बढ़ान का भी काम किया है। उदाहरण क लिए 1972 म जब उत्तर प्रदेश क एक नगर फिरोजाबाद म साम्प्रदायिक उपद्रव हुआ तो उस समय कुछ ससद सदस्या न प्रधानमन्त्री को एक ज्ञापन दिया था जिसम उन्हान स्थानीय पुलिस अधिकारिया पर यह आरोप लगाया था कि उन्हान दगा को उकसावा देन का काम किया था। इस प्रकार क अनक उदाहरण प्रस्तुत किय जा सकत ह जिनस यह प्रमाणित होता है कि साम्प्रदायिक तत्त्वा की सरकारी विभागा म गहरी जड़ ह। निश्चय ही इस प्रकार क अधिकारिया क माध्यम स साम्प्रदायिक समस्या क समाधान की अपक्षा नहा की जा सकती।

पिछल वर्षा म अनक बार साम्प्रदायिक दलो पर प्रतिबन्ध लगान की माँग की गई है। परन्तु इस माग को सरकार न हमशा यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि सविधान क अन्तगत यह सम्भव नहा है। यदि इस तक को स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी सरकार क पास

साम्प्रदायिकता का दमन करने के लिए अनेक साधन मौजूद है। जब निवारक नजरबन्दी कानून को पारित किया गया था उस समय सरकार ने यह आश्वासन दिया था कि इसका प्रयोग साम्प्रदायिक तत्त्वो के विरुद्ध किया जायगा। परन्तु ऐसा शायद ही कभी हुआ हो।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि देश मे साम्प्रदायिक समस्या के समाधान के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सरकार के नेता ईमानदारी के साथ धर्मनिरपेक्ष हो। यदि उनकी धर्म-निरपेक्षता बाह्य आडम्बर से अधिक कुछ नही है तो ऐसी स्थिति मे सविधान मे निहित उच्च आदर्श केवल पवित्र सकल्प मात्र रह जायेगे, उनका कोई व्यावहारिक महत्त्व नही होगा।

3 क्षेत्रीयता (Regionalism)

भारत की अनेकता को व्यक्त करने वाली दूसरी समस्या क्षेत्रीयता की है। सम्प्रदायवाद के अन्तर्गत व्यक्ति राष्ट्र की अपेक्षा अपने सम्प्रदाय को अधिक प्यार करते है, क्षेत्रीयता के प्रभाव के अधीन व्यक्ति राष्ट्र के मुकाबले मे उस क्षेत्र को अधिक महत्त्व देते है जिसमे उनका निवास है। सम्प्रदायवाद मुख्यत देश के दो बडे सम्प्रदायो के सन्दर्भ मे देखा जा सकता है, जबकि क्षेत्रीयता की बीमारी ऐसी है जो समूचे देश मे व्याप्त है। कभी-कभी उसकी अभिव्यक्ति सगठित एव सुनियोजित आन्दोलनो के माध्यम से भी हुई है। इन आन्दोलनो को मुख्यत चार प्रकार की माँगो के आधार पर सगठित किया गया है—(i) भारतीय सघ से पृथक् होने की माँग, (ii) पृथक् राज्यत्व को प्राप्त करने की माँग, (iii) पूर्ण राज्यत्व को प्राप्त करने की माँग, तथा (iv) अन्तर-राज्यीय विवाद।

प्रश्न है कि स्वतन्त्रता के उपरान्त देश मे क्षेत्रीयतावाद का उदय क्यो हुआ? इस सम्बन्ध मे ध्यान मे रखने योग्य पहली बात यह है कि भारत जैसे विशाल बहुभाषा-भाषी एव बहु-सस्कृतियो वाले देश मे क्षेत्रीयता का उदय कोई आश्चर्यजनक बात नही है। यथार्थ मे इसकी अभिव्यक्ति राष्ट्रीय आन्दोलन के समय मे भी होती थी। परन्तु स्वाधीन होने के बाद यह समस्या उग्र रूप मे देश के सामने प्रस्तुत हुई। इसके अनेक कारण थे

(1) **आर्थिक कारण**—क्षेत्रीयता को जन्म देने वाले कारणो मे सबसे पहले आर्थिक कारणो को रखा जा सकता है। स्वाधीन होने के बाद जब देश मे आर्थिक विकास का कार्यक्रम आरम्भ किया गया, तो उसके फलस्वरूप कुछ क्षेत्र तो बहुत अधिक विकसित हो गये, जबकि कुछ अन्य क्षेत्र अत्यधिक रूप से पिछड गये। इन पिछडे हुए क्षेत्रो मे असन्तोष का उदित होना स्वाभाविक बात थी। मिजो और नागा विद्रोहो को वास्तव मे इसी पृष्ठभूमि मे समझा जा सकता है।

(2) **भाषा और सास्कृतिक कारण**—भारत मे क्षेत्रीयता का सम्बन्ध भाषा के साथ अनिवार्य रूप से है। इसी भाषा को आधार मानकर अनेक क्षेत्रो के लोगो ने अपने लिए पूर्ण राज्यत्व की माँग की है और जब यह माँग स्वीकार नही की गई तो उसके फलस्वरूप क्षेत्रीयता के अधीन उग्र आन्दोलनो का सूत्रपात हुआ है। इस प्रकार भाषावाद को क्षेत्रीयता का एक मुख्य कारण माना जा सकता है। वस्तुत भारत मे भाषा द्वारा अनुप्राणित क्षेत्रीयता के अनेक उदाहरण मौजूद है। सबसे पहले तेलगू-भाषी लोगो ने आन्ध्र राज्य की स्थापना के लिये आन्दोलन किया। इसके बाद महाराष्ट्र और गुजरात के राज्यो की स्थापना के लिए जो आन्दोलन चला, वह भी भाषावाद से ही अनुप्राणित था। इसी प्रकार पजाबी सूबा के आन्दोलन के मूल मे भी भाषा-सिद्धान्त की एक प्रमुख भूमिका रही थी।

भाषा के साथ सस्कृति अनिवार्य रूप से जुडी हुई है। तमिलनाडु के लोगो को अपनी तमिल भाषा और तमिल सस्कृति के ऊपर बहुत अधिक गर्व है तथा वे अपनी सस्कृति की अपेक्षा शेष भारत की सस्कृति को तुच्छ मानते है। यदि उन्होने आरम्भ मे अपने राज्य को भारतीय सघ से

अलग करने की बात करें तो उसे हम इसी सन्दर्भ में समझना चाहिए।

इस सम्बन्ध में पहला करने योग्य काम यह है कि देश के राजनीतिक वातावरण को सुधारा जाय। आज देश में विभिन्न सम्प्रदाय जाति और क्षेत्र के लोगों में एक दूसरे के प्रति वांछित विश्वास का अभाव है। इस अविश्वास की स्थिति में राष्ट्रीय एकता की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

भाषा सम्बन्धी विवाद भी राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है। भाषा के प्रश्न को लेकर आज देश में इतनी अधिक गुत्थियाँ हो चुकी हैं कि लोग खुले मस्तिष्क से इस समस्या पर विचार करने के लिए भी बहुधा तैयार नहीं मिलते। अतः इस विवाद का शीघ्रातिशीघ्र समाधान अत्यन्त आवश्यक है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह अपेक्षित है कि विभिन्न भाषायी समुदायों के बीच अधिकाधिक मात्रा में सांस्कृतिक आदान प्रदान हो। वस्तुतः ऐसा करके ही उनके बीच पायी जाने वाली अविश्वास की दीवार को गिराया जा सकता है।

राष्ट्रीय एकीकरण की स्थापना के लिए यह भी आवश्यक है कि हमारी शिक्षा प्रणाली हमारे देश की राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुकूल हो। इसलिए विभिन्न स्तरों पर पाठ्यक्रम ऐसे हों जो विद्यार्थियों में यह चेतना पैदा कर सकें कि वे पहले भारतीय हैं और बाद में कुछ और। इसी प्रकार पाठ्यक्रम ऐसे होने चाहिए जो छात्रों में धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण को विकसित करने में सहायक हो सकें। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बहुत जरूरी बात यह है कि इतिहास के अध्ययन और अध्यापन में मूलभूत परिवर्तन किये जायें।

शिक्षा संस्थाओं के धार्मिक सम्प्रदाय अथवा जातियों के ऊपर नाम रखने की परम्परा का भी अन्त किया जाना परमावश्यक है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि लोगों में एक दूसरे के धर्म के प्रति सहिष्णुता विकसित की जाय। यदि सरकारी कर्मचारी अपने कर्तव्यों के निष्पादन में किसी धर्म विशेष के अनुयायियों के प्रति पक्षपात करते पाये जायें तो उनके लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की जानी आवश्यक है।

राष्ट्रीय एकीकरण को सम्भव बनाने के लिए यह भी आवश्यक है कि यहाँ आर्थिक विकास की योजनाओं को इस प्रकार कार्यान्वित किया जाये जिससे देश के विभिन्न क्षेत्रों के बीच पायी जाने वाली आर्थिक असमानताओं का अन्त हो सके। पिछड़े हुए क्षेत्र न केवल राजनीतिक असन्तोष की रचना करते हैं अपितु वे उन सम्भावनाओं को भी जन्म देते हैं जो राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता को खतरे में डालने के लिए पर्याप्त है। अतः राष्ट्रीय एकता के लिए यह भी आवश्यक है कि आर्थिक लाभों को न्यायपूर्ण ढंग से वितरित किया जाय।

अन्त में इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भावनात्मक एकता की स्थापना करना आवश्यक समझा जाना चाहिए। देश में दो बार राष्ट्रीय एकीकरण सम्मेलन हो चुके हैं परन्तु इन सम्मेलनों में जो कुछ भी निश्चित किया गया उस पर कभी भी व्यावहारिक रूप में अमल नहीं किया गया। राष्ट्रीय एकता को कानून के द्वारा बलपूर्वक किन्हीं लोगों पर लादा नहीं जा सकता और न इसकी उपलब्धि राजनीतिक समझौतों के द्वारा ही सम्भव है। इसके विकास के लिए बड़े धैर्य और अध्यवसाय की जरूरत है।

प्रश्न

1. भारतीय राजनीति में जातिवाद के उदय के कारणों की समीक्षा कीजिए।
2. स्वतन्त्रता के बाद भी भारतीय राजनीति सम्प्रदायवाद से क्यों प्रभावित है?
3. पिछले वर्षों में भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयता की भावना की किस प्रकार अभिव्यक्ति हुई है?
4. भारत में राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या पर एक निबन्ध लिखिए।

15

भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्त्व

(NATURE AND DETERMINANTS OF INDIAN POLITICS)

परम्परागत एव अर्वाचीन मूल्यो का सघर्ष

अनेक देशी और विदेशी विद्वानो ने भारतीय समाज को गतिहीन समाज की सज्ञा प्रदान की है। वस्तुत इस गतिहीनता का प्रभाव हम अपने समाज मे आज भी—गणतन्त्र की स्थापना के पच्चीस वर्ष बाद भी अवलोकित कर सकते ह। यह ठीक है कि भारतीय समाज पूर्णत गतिहीन नही हे, उसमे गतिशीलता के तत्त्व भी विद्यमान है। सच बात यह है कि भारतीय सामाजिक जीवन मे सन्निहित गतिहीनता का अध्ययन केवल सापेक्ष रूप से हो सकता है। परन्तु प्रश्न यह हे कि क्या स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् भारत के गतिहीन समाज मे गतिशीलता की अभिव्यक्ति हुई हे अथवा नही और यदि हुई हे तो उसका भारत के सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर क्या प्रभाव पडा है ?

यहाँ आरम्भ मे ही यह बात उल्लेखनीय है कि भारत मे सामाजिक अन्तर्विरोधो ने विस्फोटक स्थिति को कभी जन्म नही दिया। फलत भारतीय समाज का विकास अन्य देशो की भाँति नही हो सका। इसके विपरीत भारत इस अर्थ मे एक अद्भुत देश है क्योकि उसमे अभी तक इतिहास मे जितनी भी सामाजिक पद्धतियाँ रही हे, उन सबका एक आश्चर्यजनक समन्वय पाया जाता है। इस प्रकार हमारे देश मे आज भी कबायली लोग पाये जाते है जिनकी सभ्यता हमे आज भी आदिम समाज की सभ्यता की याद दिलाती हे। हमारे देश मे आज भी बधे हुए मजदूरो (bonded labour) के रूप मे दास-प्रथा के अवशेष दृष्टिगोचर होते हे। जमीदारी प्रथा और प्रिवी पर्सो (privy purses) के खात्मे के बाद भी हमारे समाज का सामन्ती स्वरूप किसी से छिपा हुआ नही ह और यह बात भी सर्वविदित हे कि इस शताब्दी के आरम्भिक चरण मे ही देश मे पूँजीवादी अर्थतन्त्र का उदय हो चुका था। (टाटा के स्टील कारखाने की स्थापना 1910 मे हुई थी)। इसके साथ देश के नगरीकरण (urbanization) तथा आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओ का भी समारम्भ हुआ था। इस प्रकार देश मे परस्पर विरोधी सामाजिक शक्तियो का अस्तित्व बना रहा। इस सम्बन्ध मे जवाहरलाल नेहरू का यह कथन उल्लेखनीय हे कि 'भारत मे शताब्दियाँ एक साथ रहती है' (In India, centuries live together)। इस प्रकार यह स्पष्ट हे कि भारतीय समाज के विकास के इतिहास मे किसी भी समय कोई क्रान्तिकारी उथल-पुथल नही हुई, यहाँ तक कि नवीन स्वतन्त्र भारत के अभ्युदय के उपरान्त भी यह नहीं जा सकता कि हमारा समाज अथवा हमारी राजनीति लोकतान्त्रिक क्रान्ति के दौर मे से होकर गुजर रही हे।

1947 मे सत्ता उन भारतीयो को हस्तान्तरित की गई जो उस समय के भारत के राजनीतिक जीवन मे महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। भारतीय नेताओ ने सत्ता प्राप्त करने के लिए न केवल ब्रिटिश साम्राज्यवादियो से बातचीत और एक प्रकार की सौदेबाजी की थी, बल्कि उन्होने यह सौदेबाजी यहाँ के सामन्ती नरेशो के साथ भी की थी। इस सबका परिणाम यह हुआ कि देश मे पाये जाने वाले सामन्ती तत्त्वो ने यहा की नव-नियोजित अर्थव्यवस्था के सुचारु रूप मे सचालित होने के मार्ग मे अनेक बाधाये उपस्थित की। इसका सबसे बडा प्रमाण यह ह कि भूमि की हद-बन्दी (land ceilings) और 'हरित क्रान्ति' के हल्ला-गुल्ला के बाद भी ग्रामीण भारत सामन्ती

शोपण से अपने आप को अभी तक मुक्त नही कर सका है। यही नही भारतीय राजतन्त्र और समाज का सामन्ती स्वरूप आज जाति बिरादरी साम्प्रदायिक एव कबायली तनावो म व्यक्त हो रहा है। इनके फलस्वरूप सामाजिक गतिशीलता को धक्का पहुचा है तथा राज्य व्यवस्था को बाध्य होकर गतिहीनता की स्थिति को स्वीकार करना पडा है।

आधुनिक भारतीय समाज पिछले समाजो से कम से कम दो अर्थों म भिन्न है। पहला अर्वाचीन युग म देश म जन समूह की राजनीति (mass politics) का उदय और विकास हुआ है। यह बताने की आवश्यकता नही कि प्राचीन भारत इस प्रकार की राजनीति स सवथा अनभिज्ञ था। दूसरे सामन्ती सामाजिक शक्तियो के अस्तित्व के कारण जन समूह की राजनीति देश म लोकतान्त्रिक आन्दोलनो को बल पहुचाने म असफल रही है। इसके सवथा प्रतिकूल सामन्ती बुराइयो क कारण जन समूह की राजनीति की अभिव्यक्ति बहुधा ऐस आन्दोलनो म हुई है जिनम देश म उच्छृखलता एव अनुशासनहीनता को बढावा मिला है।

स्वाधीनता क पश्चात जनसाधारण को राजनीति म सक्रिय होने क अवसर दो बातो क कारण प्राप्त हुए पहला वयस्क मताधिकार तथा दूसरा आर्थिक नियोजन। परन्तु जहा इनके कारण जनसाधारण राजनीति म सक्रिय हुए वहा इन्होने सामन्ती तत्त्वो को भी सक्रिय होने क लिए विवश किया। वस्तुत सामन्ती अवशेषो के लिए यह सक्रियता इसलिए आवश्यक थी क्योकि इसके बिना वे अपने पृथकतावादी अस्तित्व को कायम नही रख सकते थ। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आरम्भ म ही भारत म जन समूह की राजनीति का उदय अस्वस्थ वातावरण म हुआ। 1947 से पूव इस प्रकार की स्थिति नही थी। इसके मुख्य रूप स दो कारण थ। प्रथम साधारणत लोग अपनी बिरादरी स निकलकर राजनीति और सरकार के साथ कोई सीधा सम्पक स्थापित करने का प्रयत्न नही करते थे और दूसरे जो लोग राष्ट्रीय आन्दोलन क माध्यम स राजनीति म सक्रिय होते थ उनकी समूची गतिविधिया केवल एक उद्देश्य स उ प्रेरित थी—देश स विदेशी साम्राज्यवादी को निकालना। इस सम्बन्ध म मारिस जोस का यह कथन उल्लेखनीय है—ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय राष्ट्रवाद का केवल एक शक्तिशाली मित्र था और वह था ब्रिटिश शासन, उसे सगठित करने वाला समान शत्रु। आज जब वह शत्रु शारीरिक रूप से अनुपस्थित है यह स्वाभाविक है कि भारतीय समाज के अन्तर्विरोध और विभिन्नताय जो औपनिवेशिक दासता क विरुद्ध सघर्ष के काल म बहुत अधिक मुखर नही थी सामने उभर कर आय। जन समूह की राजनीति ने इन अन्तर्विरोधो की अभिव्यक्ति को और अधिक सुस्पष्ट बना दिया है, वस्तुत यह सुस्पष्टता दिन पर दिन बढती जा रही है। यथाथ म इन अन्तर्विरोधो ने एक बडी मात्रा तक भारतीय राजनीति को निर्धारित किया है।

प्रश्न है कि ये अन्तर्विरोध क्या है जो भारतीय राजनीति म विघटनकारी तत्त्वो क रूप म काम कर रहे हैं? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। वस्तुत इन अन्तर्विरोधो क अन्तगत हम उन सभी तत्त्वो को शामिल कर सकते है जो एक स्वस्थ राष्ट्र क रूप म भारत क विकास को अभी तक अवरोधित करते रहे है। जातिवाद सम्प्रदायवाद क्षेत्रवाद भाषावाद आदि की गणना इस तत्त्वो की श्रेणी म की जानी चाहिए।

परन्तु यह तसवीर का एकमात्र पहलू नही है एक दूसरा पहलू भी है जो भारतीय राजनीति क उज्ज्वल पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। धम निरपेक्षता लोकतन्त्र समाजवाद और गुट निरपेक्षता हमारे देश की राजनीति के उज्ज्वल पक्ष की अभिव्यक्ति हैं। सच बात यह है कि इन दोनो पहलुओ का सम्बन्ध किन्ही मूल्य और आस्थाओ क साथ है। पहले पक्ष क मूल्य और आस्थायें रूढियो और परम्पराओ क साथ बधे हुए हैं। जातिवाद सम्प्रदायवाद क्षत्रीयतावाद आदि बुराइया की जड हमारे देश की सामन्ती संस्कृति म निहित हैं जबकि धम निरपक्षता लोकतन्त्र और समाजवाद अर्वाचीन अवधारणायें हैं। भारत की राजनीति आधुनिकता और परम्परावाद क बीच चल रहे इस द्वन्द्व से प्रभावित हुई है। अत यहा उनकी विवेचना समीचीन है।

भारतीय राजनीति को प्रभावित करने वाले आधुनिक तत्त्व

पिछले अध्याय मे परम्परावादी मूल्य-व्यवस्था का प्रनिनिधित्व करने वाले तत्त्वों—जातिवाद, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता आदि की विवेचना की जा चुकी है। परन्तु जैसा कहा जा चुका है कि भारतीय राजनीति को प्रभावित करने वाले केवल वे ही तत्त्व नही है। परम्परावादी मूल्य-व्यवस्था से सर्वथा भिन्न एक दूसरा पक्ष भी है जिसने हमारे देश की राजनीति के स्वरूप को निर्धारित करने मे एक निर्णायक भूमिका अदा की है। इस पक्ष का सम्बन्ध आधुनिक मूल्यो एव आस्थाओ के साथ है। धर्म-निरपेक्षता, लोकतन्त्र और समाजवाद की अवधारणाओ का सम्बन्ध आधुनिक मूल्यो के साथ है। यहाँ भारतीय सन्दर्भ मे इन तत्त्वो के व्यावहारिक पक्ष की विवेचना अपेक्षित है।

(1) **धर्म-निरपेक्षता**—सविधानकारो ने देश मे जिस राजनीतिक प्रणाली की स्थापना की, उसका स्वरूप धर्म-निरपेक्षता था, यह बात असन्दिग्ध है। सविधान मे सन्निहित धर्म-निरपेक्षता की अपनी कुछ विशिष्टताये है। सर्वप्रथम, यह धर्म-निरपेक्षता उदार है। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि भारत हिन्दू-बहुसख्यक राज्य है तथापि यहाँ सविधान के द्वारा सभी अल्पसख्यक सम्प्रदायो के सदस्यो के मूल अधिकारो की सुरक्षा की व्यवस्था है। उदाहरण के लिए सविधान के 25वे अनुच्छेद के द्वारा भारत के प्रत्येक नागरिक को किसी भी धर्म को मानने, उसके अनुसार आचरण करने तथा उसका प्रचार करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। दूसरे, भारत मे धर्म-निरपेक्षता अमर्यादित नही है। इसका अर्थ यह है कि यहाँ राज्य सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता अथवा जनता के स्वास्थ्य को ध्यान मे रखकर धार्मिक स्वतन्त्रता के ऊपर प्रतिबन्ध आरोपित कर सकता है। तीसरे हमारे यहाँ धर्म-निरपेक्षता को एक गतिशील विचार के रूप मे मान्यता दी गयी है। इसका आशय यह है कि यद्यपि हमारे देश मे धर्म को राजनीति मे हस्तक्षेप करने की अनुमति प्राप्त नही है, तथापि राजनीति को धर्म के मामले मे हस्तक्षेप करने की छूट है। उदाहरण के लिए राज्य को किसी भी सम्प्रदाय के निजी कानून (personal law) को परिवर्तित करने का अधिकार प्राप्त है।

प्रश्न है कि धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त ने भारतीय राजनीति को किस सीमा तक प्रभावित किया है? ऊपर कहा जा चुका है कि देश की राजनीति को प्रभावित करने वाला एक तत्त्व साम्प्रदायिकता है, परन्तु इस साम्प्रदायिकता के बावजूद भारत की जनता ने प्रत्येक मौके पर अपनी असाम्प्रदायिक राजनीतिक समझ का परिचय दिया है। उदाहरण के लिए डा० जाकिर हुसैन और फखरुद्दीन अली अहमद का राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचन हमारी धर्म-निरपेक्षता का भी परिचायक है। इस सम्बन्ध मे हमारे देश मे भूतपूर्व अमरीकी राजदूत चेस्टर बाउल्स का यह कथन उल्लेखनीय है कि 'नेहरू की महानतम उपलब्धि एक ऐसे राज्य की रचना है जिसमे साढे चार करोड मुसलमानो को जिन्होंने पाकिस्तान न जाने का निर्णय किया था, शान्तिपूर्ण तरीके से रहने तथा अपनी इच्छा के अनुसार पूजा करने की स्वतन्त्रता है।'

प्रश्न है कि देश के राजनीतिक दलो ने धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त को किस सीमा तक व्यावहारिक रूप प्रदान किया है? वैसे तो देश मे असाम्प्रदायिक एव धर्म-निरपेक्ष दलो की कमी नही है, परन्तु सत्य यह है कि धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त का अनुसरण सामान्यत केवल वामपथी दलो ने और विशेषत कम्युनिस्ट पार्टियो ने ही किया है। फलत उन राज्यो की राजनीति जहाँ वामपथी दलो विशेषत कम्युनिस्ट आन्दोलन का प्रभाव है, धर्म-निरपेक्ष है तथा वहाँ प्रयत्नो के बावजूद भी साम्प्रदायिक दलो का प्रभाव नगण्य रहा। इस सम्बन्ध मे केरल और पश्चिमी बगाल के उदाहरण दिये जा सकते है। केरल मे ई०एम०एस० नम्बूदिरीपाद एक हिन्दू ब्राह्मण को पताम्बी के एक मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्र से अपने आप को निर्वाचित करवाने मे कठिनाई नहीं होती। इसी प्रकार पश्चिमी बगाल मे भी वामपथी राजनीति असाम्प्रदायिक एव धर्म-निरपेक्ष है। एक अर्थ मे वह केरल की अपेक्षा अधिक असाम्प्रदायिक है। आज तक पश्चिमी बगाल मे किसी भी वामपथी दल ने किसी भी साम्प्रदायिक पार्टी के साथ किसी भी प्रकार का ताल-मेल नहीं किया

है। यहा यह उल्लेखनीय है कि कम्युनिस्ट पार्टियां ने सामान्यतः चुनाव जीतने के लिए पक्षपातियां नहीं खोजी है। फलतः उनकी राजनीति में अन्य दलों की अपेक्षा धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त के प्रति अधिक निष्ठा पाई जाती है।

(2) **लोकतन्त्र और समाजवाद**—संविधानकारों ने जान-बूझकर देश में लोकतान्त्रिक पद्धति की स्थापना की है। 1964 में देश के प्रधान सत्तारूढ़ दल कांग्रेस ने लोकतान्त्रिक समाजवाद का लक्ष्य स्वीकार किया। वास्तव में समाजवाद ध्येय है जिसे लोकतान्त्रिक तरीकों से प्राप्त करना है और उसमें नियोजन का स्थान प्रमुख है। सामान्यतः लोग अभी तक यह मानते आये हैं कि लोकतन्त्र और समाजवाद दो परस्पर विरोधी विचारधाराएं हैं और इसलिए उन दोनों में कोई मेल नहीं हो सकता। परन्तु आज के युग में यह विचार अप्रासंगिक है क्योंकि लोकतन्त्र केवल राजनीतिक अधिकारों और शासन में जनता की साझेदारी का ही प्रश्न नहीं है बल्कि उसका ध्येय अधिकाधिक मात्रा में सामाजिक एवं आर्थिक न्याय समान अवसर और औद्योगिक क्षेत्र में लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना करना है। अतः यह स्पष्ट है कि राजनीतिक लोकतन्त्र आर्थिक लोकतन्त्र के बिना अर्थहीन है। वस्तुतः समाजवाद आर्थिक लोकतन्त्र का ही दूसरा नाम है।

भारत के नवीन गणराज्य के संस्थापक देश में आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे यह बात संविधान की अनेक व्यवस्थाओं से स्पष्ट है। सर्वप्रथम संविधान की प्रस्तावना के माध्यम से संविधानकारों ने देश में एक ऐसे राज्य की रचना का आश्वासन दिया है जिसमें प्रत्येक भारतीय नागरिक को आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक न्याय की उपलब्धि हो सकेगी। इसके अतिरिक्त संविधान के चौथे अध्याय में भी संविधानकारों ने अपने इस आश्वासन को दुहराया है। यहां यह उल्लेखनीय है कि भारतीय संविधान का अपना एक दर्शन है और वह दर्शन है सामाजिक परिवर्तन। यह परिवर्तन लोकतान्त्रिक समाजवाद की दिशा में होना चाहिए यह बात भी स्पष्ट है।

संविधान के लागू होने के बाद यथास्थिति और सामाजिक परिवर्तन का प्रतिनिधित्व करने वाली शक्तियों के बीच निरन्तर संघर्ष की स्थिति पायी जाती रही है। यथास्थिति की शक्तियों ने अपने हितों की प्राप्ति के लिए बहुधा न्यायालयों की शरण ली है और सामाजिक परिवर्तन की शक्तियों ने संसद की। भारतीय गणतन्त्र के पिछले 25 वर्ष इस बात के साक्षी हैं कि कुछ अस्थायी पराजयों के बावजूद भी इस संघर्ष में उन शक्तियों की विजय हुई है जो लोकतन्त्र और समाजवाद में आस्था रखते हैं। फलस्वरूप पिछले वर्षों में देश में सार्वजनिक क्षेत्र का विकास हुआ है आज इस क्षेत्र में 2 हजार अरब रुपया लगा हुआ है। सार्वजनिक क्षेत्र आने वाले युग में भारतीय समाजवाद की एक शक्तिशाली आधार शिला सिद्ध होगा ऐसी आशा की जा सकती है।

पिछले वर्षों में संविधान के कुछ प्रावधानों को भी इसलिए संशोधित कर दिया गया है ताकि समाजवाद की ओर देश के अभियान को किसी भी प्रकार बाधित न किया जा सके। चौबीसवें और पच्चीसवें संशोधन को इसी दिशा में एक कदम समझा जाना चाहिए।

लोकतान्त्रिक समाजवाद ने देश के जन मानस को अपनी ओर आकर्षित किया है यह बात भी असंदिग्ध है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि प्रत्येक चुनाव में देश के मतदाताओं ने उन दलों को विजयी बनाया है जो सामाजिक परिवर्तन के लिए कृत-संकल्प हैं। 1971 का लोकसभा का चुनाव यथार्थ में समाजवादी नारे गरीबी हटाओ की विजय थी।

गत अध्यायों में भारतीय संविधान द्वारा संस्थागत ढांचे की विवेचना की जा चुकी है। परन्तु संस्थाएं रिक्तता के वातावरण में काम नहीं करतीं। उनकी कार्यविधि एक निश्चित सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि में होती है। पिछले अध्याय में हमने इसलिए उन समस्याओं का उल्लेख किया था जो आज भारतीय लोकतन्त्र के समक्ष प्रस्तुत हैं। संवैधानिक संस्थाओं में अपने आप को सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल ढालने की प्रवृत्ति पाई जाती है। कोरा सांविधानिक ढांचा चाहे उसका स्वरूप कैसा ही क्यों न हो कभी स्थायी नहीं रहता यथार्थ

मे वह हमेशा गतिशीलता की स्थिति मे रहता है। भारत भी इस सामान्य नियम का अपवाद नही हो सकता। इसलिए पिछले वर्षो मे भारतीय राजनीति मे नये मोड उपस्थित हुए है। यहाँ उनकी विवेचना आवश्यक हे।

भारतीय समाज का बदलता हुआ स्वरूप तथा उसका भारतीय राजनीति पर प्रभाव

स्वतन्त्रता के पूर्व भारतीय समाज परम्पराओ पर आधारित एक 'बन्द समाज' (closed society) था। स्वाधीन भारत ने अपनी जीवन यात्रा का आरम्भ ऐसी स्थिति से किया था जहाँ जीवन के समूचे मूल्य जातिवाद, सम्प्रदायवाद एव अन्धविश्वासो के द्वारा निर्धारित होते थे। यहाँ से आरम्भ करके आज वह उस मजिल पर आ पहुँचा है जिसे हम 'खुले समाज' (open society) की सज्ञा प्रदान कर सकते हे। वस्तुत यह एक ऐसी उपलब्धि हैं जिस पर हम भारतवासी उचित रूप से गर्व कर सकते है, परन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नही है कि परम्परावादी समाज की सम्पूर्ण बुराइयो का अन्त हो चुका है तथा भारतीय समाज अब पूर्ण रूप से लोकतान्त्रिक सस्थाओ के कार्यान्वियन के लिए समीचीन पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। यथार्थ मे यदि इस दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो हम निश्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि मजिल अभी भी बहुत दूर हे। सच बात तो यह है कि भारतीय समाज की पुरानी बीमारियाँ अब नये रूप मे हमारे सामने मौजूद हैं। उदाहरण के लिए, जाति-प्रथा और उस पर आधारित ऊँच-नीच की भावना पहले एक सामाजिक बुराई थी। उस रूप मे उसका निस्सन्देह अन्त हो चुका हे, परन्तु अब इस बुराई ने एक राजनीतिक रूप धारण कर लिया है। फलत एक बडी सीमा तक जनसाधारण का राजनीतिक आचरण बिरादरी, जाति अथवा सम्प्रदाय की भावना से अनुप्राणित होता है। क्षेत्रीयता की भावना का भी इस समस्या को जटिल बनाने मे एक योगदान रहा है। इस सबका परिणाम यह हुआ हैं कि पिछले वर्षो मे सकीर्ण आधारो पर राजनीतिक दलो का उदय हुआ हे। इस प्रकार के दलो का स्वरूप जहाँ क्षेत्रीय है वहाँ उनका सगठनात्मक आधार जाति अथवा सम्प्रदाय है। उदाहरणार्थ द्रमुक, अकाली दल तथा भारतीय क्रान्ति दल को लिया जा सकता है। द्रमुक तमिलनाडु की क्षेत्रीय पार्टी है, परन्तु उसकी सदस्यता की सरचना ब्राह्मण-विरोधवाद के आधार पर हुई हे। इसी प्रकार अकाली दल के भी केवल पजाब तक सीमित होने के कारण, क्षेत्रीय दलो मे ही गिनती हो सकती है। परन्तु उसकी रचना भी केवल क्षेत्रीयता के आधार पर हुई हो, ऐसी बात नही हे। उसके निर्माण मे सिख सम्प्रदायवाद की निर्णायक भूमिका रही है। भारतीय क्रान्ति दल भी अखिल भारतीय दल होने का दावा नही कर सकता, वह केवल एक उत्तर प्रदेशीय सगठन है तथा साथ ही मे वह केवल उन बिरादरियो का सगठन है जो कृषि के साथ सम्बद्ध ह। ऐसी बिरादरियो मे मुख्य रूप से जाट, अहीर और कुर्मी आते ह। हरित क्रान्ति के फलस्वरूप इन बिरादरियो की आर्थिक शक्ति मे वृद्धि हुई हे, इसलिए स्वाभाविक रूप से इनकी आकाक्षा राजनीतिक शक्ति पर आधिपत्य स्थापित करने की हे। स्वतन्त्र भारत के आरम्भिक वर्षो मे भी इस प्रकार के दल पाये जाते थे, परन्तु देश के राजनीतिक जीवन पर उनका प्रभाव नगण्य था। किन्तु आज इस प्रकार का दावा नही किया जा सकता। तमिलनाडु मे द्रमुक सत्तारूढ दल हे तथा अकाली दल और भाक्राद पजाब और उत्तर प्रदेश मे विरोधी दलो की भूमिका अदा करते हैं। कुछ समय तक ये दल भी शासक दल रह चुके हैं।

भारतीय राजनीति जातिवाद की भावना से किस सीमा तक ग्रसित ह, इसका अनुमान इस तथ्य से भी लगाया जा सकता हे कि यदि आज राजनीतिक नेताओ को उनकी अपनी बिरादरी का समर्थन प्राप्त नही है तो वे राजनीति मे सफलता प्राप्त करने की आशा नही कर सकते। इस तथ्य के प्रमाण मे दो उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते ह। राजनीतिक नेता के रूप मे चरणसिह तथा कामराज की सफलता की उनकी अपनी-अपनी बिरादरियो मे गहरी जडो के आधार पर ही व्याख्या की जा सकती है। चरणसिह जाट बिरादरी के सम्मानित नेता ह, दूसरी बिरादरी वाले

उन्हें नेता मानने को भी तैयार नहीं हैं। इसी प्रकार कायस्थ अपनी बिरादरी के नेता को बिरादरी से अत्यधिक लोकप्रिय है। स्वाधीनता प्राप्त करने के पूर्व भारतीय राजनीति जातिवाद के इस प्रकार के कुप्रभाव से मुक्त थी। फलतः समूचे राष्ट्रीय आन्दोलन काल में एक बनिया गांधी को राष्ट्रपिता के रूप में स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं था परन्तु आज जाति के राजनीतिकरण के सन्दर्भ में इस बात की आशा नहीं की जा सकती। आज तो प्रत्येक बिरादरी के अपने अपने नेता हैं और यह बीमारी बढ़कर इस स्थिति पर पहुँच चुकी है कि सत्तारूढ़ कांग्रेस में पाये जाने वाले आन्तरिक गुटों की रचना भी एक बड़ी सीमा तक जाति के आधार पर होने लगी है। फलतः जब चुनाव के समय प्रत्याशियों को दल का टिकट दिया जाता है तो उस समय मुख्य ध्यान इस बात पर दिया जाता है कि उनकी बिरादरी क्या है तथा निर्वाचन क्षेत्र में कौन-सी बिरादरी बहुसंख्यक है।

स्वतन्त्रता के आरम्भिक वर्षों में कांग्रेस बहुधा अपना टिकट ऐसे प्रत्याशियों को देती थी जिनका अपने निर्वाचन क्षेत्र से कोई सम्बन्ध नहीं होता था। उदाहरण के लिए मौलाना आजाद का घर कलकत्ता में था परन्तु उन्होंने चुनाव सामान्यतः उत्तर प्रदेश से लड़ा। डा० केसकर महाराष्ट्रियन थे परन्तु उन्होंने भी दो बार उत्तर प्रदेश से चुनाव लड़ा। इसी प्रकार कृष्णा मेनन केरल के निवासी होने हुए भी बम्बई से दो बार कांग्रेस के सफल प्रत्याशी रह चुके थे। परन्तु आज के राजनीतिक सन्दर्भ में इस प्रकार के उदाहरणों को केवल अपवाद के रूप में ही देखा जा सकता है। यदि किसी बाहर वाले (outsider) को टिकट मिल भी गया तो चुनाव में उसके विजय होने की सम्भावना न के बराबर रहती है। 1971 के लोकसभा के चुनाव में जबकि कुछ लोगों के अनुसार देश में इन्दिरा गांधी की आंधी चल रही थी यूनुस सलीम एक बाहर वाले को अलीगढ़ से कांग्रेस का टिकट दिया गया था परन्तु उस आंधी के बावजूद भी यूनुस सलीम चुनाव में विजयी नहीं हो सके थे।

क्षेत्रीयता और जातिवाद की बीमारियों की अभिव्यक्ति जहाँ क्षेत्रीय दलों में हुई है वहाँ कुछ अखिल भारतीय दलों का भी इन भावनाओं को उभारने में कम योगदान नहीं रहा है। उदाहरणार्थ जनसंघ एक अखिल भारतीय दल है और उसका मुख्य आधार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्ता हैं। आरम्भ में यह दल बिरादरीवाद और क्षेत्रीयवाद की बीमारियों से मुक्त था। पिछले वर्षों में उसे भी क्षेत्रीयता और बिरादरी की भावनाओं को उत्तेजित करने में संकोच नहीं हुआ है। यह बात सर्वविदित है कि आन्ध्र के क्षेत्रीय आधार पर बंटवारे की मांग को जनसंघ का समर्थन प्राप्त था।

निस्सन्देह यह एक नई प्रवृत्ति है जिसका उदय पिछले वर्षों में भारतीय राजनीति में हुआ है और जिसकी जड़ें भारतीय समाज के वर्तमान ढांचे स्वरूप में अवलोकित की जा सकती हैं।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के धर्म निरपेक्ष एवं असाम्प्रदायिक स्वरूप को साधारणतः सभी लोगों ने मान्यता प्रदान की है। फलस्वरूप स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त देश के नवीन संविधान में धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से हुई है। परन्तु स्वाधीनता तथा स्वाधीनता के पूर्व के भारत के विभाजन के कुप्रभाव से अभी तक मुक्ति नहीं मिली है। जहाँ देश में साम्प्रदायिक आधार पर राजनीतिक दल संगठित होते रहे हैं वहाँ सम्प्रदायवाद का प्रगतिकरण साम्प्रदायिक दलों के माध्यम से भी हुआ है। यह बात सर्वविदित है कि देश में कुछ राजनीतिक दल ऐसे हैं जिनका आधार शुद्ध साम्प्रदायिक है और इस प्रकार के दलों में हिन्दू, मुसलमान और सिख सभी के साम्प्रदायिक दल शामिल हैं। उदाहरणार्थ यदि जनसंघ और हिन्दू महासभा हिन्दू साम्प्रदायिक दल हैं तो मुस्लिम लीग और मुस्लिम मजलिस मुस्लिम सम्प्रदायवाद के साथ सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार अकाली दल सिख सम्प्रदायवाद से प्रायः रूप जुड़ा हुआ है। साम्प्रदायिक दलों की श्रेणी में आने वाले दल चुनाव के समय अपने अपने सम्प्रदाय के सदस्यों की साम्प्रदायिक भावनाओं को उभारने का प्रयत्न करते हैं और उनके इस प्रकार के प्रयत्नों में उन्हें आंशिक रूप में सफलता भी मिलती है। फलतः किसी हिन्दू बहुसंख्यक निर्वाचन क्षेत्र में मुस्लिम

प्रत्याशी की विजय को साधारणत अपवाद के ही रूप मे देखा जाता है। इसी तरह मुस्लिम-बहुसख्यक निर्वाचन क्षेत्र मे हिन्दू प्रत्याशी की विजय को भी सामान्यत अनहोनी बात ही माना जाता है। मतदाता की इस प्रकार की मन स्थिति को सत्तारूढ दल के रवैये से भी बल पहुँचा है। अभी तक प्रत्येक निर्वाचन के समय काग्रेस ने जिन आधारो को ध्यान मे रखकर टिकटार्थियो के बीच टिकट बाँटे है उनमे उनका तथा निर्वाचन क्षेत्र का साम्प्रदायिक आधार मुख्य रहे है।

ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक ही था कि साम्प्रदायिकता देश की राजनीति पर एक सीमा तक आच्छादित रहती। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिक राजनीति के लिए जहाँ साम्प्रदायिक दल उत्तरदायी है, वहाँ उसके लिए सत्तारूढ काग्रेस का उत्तरदायित्व भी कुछ कम नही है। काग्रेस येन-केन-प्रकारेण सत्ता मे रहना चाहती है। इसलिए प्रत्येक चुनाव के समय सत्ता मे बने रहने के लिए उसे किसी भी प्रकार के हथकडे को अपनाने मे सकोच नही होता। यदि एक तरफ काग्रेसी नेता मसजिदो और दरगाहो मे जाकर मुस्लिम जनता को सम्बोधित कर सकते है तो दूसरी तरफ उन्हे तिरुपति के मन्दिर मे जाकर तथा वहाँ के पुजारी से अपनी विजय के लिए आशीर्वाद लेने मे भी सकोच नही होता। ऐसी स्थिति मे यदि सम्प्रदायवाद हमारे राजनीतिक आचरण को निर्धारित करने मे एक निर्णायक भूमिका अदा करने लगे तो इसमे आश्चर्य की बात ही क्या है ?

1967 के चुनावो के बाद राजनीतिक नेताओ के समक्ष कुछ ऐसी राजनीतिक विवशताये भी पैदा हुई है जिनका सामना करने के लिए उन्होने साम्प्रदायिक दलो के साथ साँठ-गाँठ को एक छोटी बुराई के रूप मे अनिवार्य समझकर स्वीकार कर लिया। उदाहरण के लिए केरल मे काग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी दोनो ने मुस्लिम लीग के साथ गठ-बन्धन किया है, भारतीय क्रान्ति दल ने मुस्लिम मजलिस को 1974 के चुनाव मे अपना साझीदार बनाया था तथा 1967 के बाद देश के विभिन्न राज्यो मे असाम्प्रदायिक दलो ने जनसघ के साथ मन्त्रिमण्डलो की रचना की थी। इसके परिणामस्वरूप देश की राजनीति मे सम्प्रदायवाद को एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हो गया।

स्वतन्त्रता के आरम्भिक दिनो मे असाम्प्रदायिक दलो से साम्प्रदायिक दलो के साथ किसी भी प्रकार का गठ-बन्धन करने की अपेक्षा नही की जा सकती थी, परन्तु आज इस प्रकार के गठ-बन्धन हमारी राजनीति के लिए सामान्य बात बन चुके है, यह प्रवृत्ति शुभ नही है।

अन्त मे यह कहना होगा कि भारतीय लोकतन्त्र के समक्ष आज अनेक समस्याएँ है और लोकतान्त्रिक प्रक्रिया को आगे बढाने के लिए यह आवश्यक है कि उन समस्याओ का सन्तोषप्रद ढग से हल किया जाय। भारत के सामाजिक और राजनीतिक जीवन मे वाछित परिवर्तनो को लाने मे लोकतान्त्रिक राजनीति ने रचनात्मक योगदान दिया है। हमे आशा है कि हमारा लोकतन्त्र इन समस्याओ के हल करने मे समर्थ हो सकेगा।

प्रश्न

1 भारतीय राजनीति के किन्ही दो प्रमुख निर्धारक तत्त्वो की विवेचना कीजिए।

16
भारत की विदेश नीति
(INDIA S FOREIGN POLICY)

कोई भी राष्ट्र रिक्त के वातावरण म नही रहता वस्तुत वह एक ऐसी प्रणाली के अन्तगत रहता है जिसम अनेक राज्य है। इन राज्यों के ऊपर बाहर के राज्यों की प्रणाली का अनिवाय रूप म प्रभाव पडता है। अत किसी भी देश की राजनीति का अध्ययन उसकी विदेश नीति के अध्ययन के बिना पूरा नही माना जा सकता।

आर्थिक और सनिक दृष्टि स भारत कोई महाशक्ति नही है। उसके समक्ष अनेक राजनीतिक और सामाजिक समस्याय भी है जो उसकी राष्ट्रीय एकता के लिए एक बडा खतरा प्रस्तुत करती हैं। परन्तु इसके बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म उसका प्रभाव बहुत अधिक रहा है। इसका एक बडा कारण यह है कि स्वतन्त्रता के पश्चात भारत ने गुट निरपेक्षता की नीति का अनुसरण किया है। परिणामत वह आरम्भ से ही अप्रतिबद्ध विश्व का नेता रहा है। इस स्थिति ने भारत को विश्व राजनीति म वह स्थान दिया है जिसकी वह किसी गुट म शामिल होने के बाद कल्पना भी नही कर सकता था। यह सही है कि पिछले वर्षों म विशेषत चीन के विरुद्ध युद्ध म पराजय पाने के बाद भारत की अन्तराष्ट्रीय प्रतिष्ठा को धक्का लगा था किन्तु बगला देश के स्वाधीन होने के उपरान्त भारत दक्षिण एशिया के सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य के रूप म उभर त हुआ है।

मोटे तौर पर भारत की विदेश नीति को दो युगों म बाटा जा सकता है नेहरू युग और उत्तर-नेहरू युग। जब तक नेहरू जी जीवित थे वे ही भारत की विदेश नीति के निर्माता थे तथा वे ही उसके सबसे बडे प्रवक्ता थे। एक समय तक वह भारत के ही नही अपितु समूचे तीसरे विश्व के सुपरिचित नेता थे। यद्यपि अपने जीवन के अन्तिम दिनों म उनके सम्मान और प्रभाव म कुछ कमी आई थी तथापि इस सत्य से इनकार नही किया जा सकता कि इसके बावजूद उनकी प्रतिष्ठा आखिर तक सर्वाधिक रही। उनके निधन के पश्चात भारत के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान को एक धक्का लगा था।

भारत की विदेश नीति के प्राधार

भारत की विदेश नीति के सन्दर्भ म तीन तत्त्वो के ऊपर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। ये तत्त्व है—भौगोलिक एव सामरिक स्थिति एतिहासिक अनुभव जिसम परम्परागत जीवन पद्धति और उस पर विदेशी प्रभाव दोनो शामिल हैं तथा आन्तरिक शक्तियाँ और दबाव।

यदि भारत के मानचित्र पर दृष्टिपात किया जाय तो हम सहज म ही भारत के भौगोलिक एव सामरिक महत्त्व का अनुमान लगा सकते है। 1903 म भारत के एक भूतपूर्व गवनर जनरल लार्ड कर्जन ने यह भविष्यवाणी की थी कि भारत की भौगोलिक स्थिति उसे अधिकाधिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म अग्रणी स्थान की ओर ले जाने म भूमिका अदा करेगी। 1948 म नेहरू जी ने कहा था कि भारत की स्थिति दक्षिणी दक्षिण पूर्वी और पश्चिमी एशिया म एक धुरी केन्द्र की है।

भारत अपने उत्तर म विश्व के सबसे ऊचे पर्वतो से घिरा हुआ है उसके दक्षिण म हिन्द

महासागर स्थित है, उसके पूर्व मे बगाल की खाडी है और पश्चिम मे अरब सागर। भारत के पश्चिमी सीमान्त पश्चिम पाकिस्तान की सीमाओ से मिलते है तथा पूर्वी सीमान्त बगला देश की सीमाओ से टकराते है। भारत का समुद्री तट 3500 मील लम्बा है तथा यदि पाकिस्तान और बगला देश के साथ मिलने वाले सीमाओ को शामिल कर लिया जाय तो उसके भूमि पर स्थित सीमान्तो की लम्बाई 8200 मील है। भारतीय उपमहाद्वीप के दूसरे राज्य पाकिस्तान के साथ कटुतापूर्ण सम्बन्ध उसे औपनिवेशिक दासता से विरासत के रूप मे मिले है। 1962 मे जब चीन के साथ युद्ध आरम्भ हो गया तो उस समय देश मे पहली बार यह अनुभूति हुई कि पाकिस्तान से मिलने वाले सीमान्तो के अतिरिक्त भी उसके ऐसे अन्य सीमान्त भी है जिनकी सुरक्षा की अवहेलना नही की जा सकती। चीन के साथ उसकी सीमाये 1500 मील लम्बी है। सोवियत सीमाये भारत के काश्मीर प्रदेश से कुछ मील के फासले पर स्थित है। नेपाल और भूटान की सुरक्षा मे भारत की स्वय की सुरक्षा निहित है। नेपाल और भूटान के बीच मे सिक्किम का एक छोटा सा राज्य था जो भारत का एक सरक्षित क्षेत्र था परन्तु जिसका अब भारत मे विलय हो चुका है।

हिन्द महासागर मे भारत की स्वाभाविक अभिरुचि है। एक दीर्घ समय तक भारत का हिन्द महासागर से होकर विदेशी व्यापार हुआ है। अत अपने व्यापार की ही अभिवृद्धि के लिए भारत के लिए यह परमावश्यक है कि वह हिन्द महासागर को एक शान्ति के क्षेत्र के रूप मे विकसित करे। हिन्द महासागर को शान्ति का क्षेत्र बनाने मे भारत की रुचि इसलिये भी है क्योकि इसके साथ उसकी सुरक्षा की समस्या भी अनिवार्य रूप से जुडी हुई है। पिछले वर्षो मे हिन्द महासागर महाशक्तियो की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का अखाडा बना है। यदि इसके परिणाम-स्वरूप भारत मे चिन्ता की लहर दौडी है तो यह स्वाभाविक ही है।

भारत की विदेश नीति के निर्धारण मे उसके ऐतिहासिक अनुभव का योगदान कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही है। भारत ने एक लम्बे समय तक साम्राज्यवादी शोषण एव उत्पीडन का अनुभव किया था। अत 1947 मे अग्रेजो के भारत छोड जाने के बाद भी भारत के जनमानस मे वे सब कडवी यादे अकित थी जिनका सम्बन्ध औपनिवेशिक शासन के साथ था। अत यह आवश्यक था कि भारत की विदेश नीति का स्वरूप साम्राज्य-विरोधी होता।

भारत की विदेश नीति के निर्धारण मे एक प्रमुख भूमिका आन्तरिक शक्तियो और दबावो की रही है। आन्तरिक दृष्टि से भारत शक्तिशाली राज्य नही है। उसमे आन्तरिक दुर्बलताये है, उसमे राष्ट्रीय एकता का अभाव है तथा आर्थिक दृष्टि से वह एक पिछडा हुआ देश है। राजनीतिक दृष्टि से भी नेहरू जी के निधन के पश्चात् स्थिति 1971 के चुनावो तक डावाडोल रही। ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक ही था कि देश की आन्तरिक समस्याये भारत की विदेश नीति को प्रभावित करती। उत्तर-नेहरू काल मे आन्तरिक एव विदेश नीति के बीच की कडी स्पष्ट रूप से अवलोकित की जा सकती थी। 1964 के बाद 1971 तक भारत की विदेश नीति सक्रिय नही थी। इस काल मे भारत ने विश्व की विवादग्रस्त समस्याओ पर ध्यान न देकर केवल इस बात पर ध्यान दिया कि अपने पडोसी राज्यो के साथ उसके सम्बन्ध किस प्रकार सुधारे जाने चाहिए। फलत इस काल मे देश के नीति-निर्माताओ का ध्यान केवल चीन और पाकिस्तान पर केन्द्रित रहा। इस काल मे विरोधी दलो और दबाव समूहो ने भी विदेश नीति को प्रभावित करने मे विशिष्ट योगदान दिया। इस प्रकार के समूहो मे व्यापारिक हित समूह तथा साम्प्रदायिक हित समूहो का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। व्यापारिक समूह जिनमे फेडरेशन आफ इण्डियन चेम्बर्स ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज प्रमुख है पडोसी देशो के साथ अपने व्यापार मे वृद्धि करने के लिए अच्छे सम्बन्ध चाहते थे, फलत उनके दबाव पर भारत ने नेपाल, श्रीलका और बर्मा के साथ अपने सम्बन्धो को प्रगाढ बनाने की दिशा मे कदम उठाये।

गुट निरपेक्षता (Non alignment)

सामान्यत भारत की विदेश नीति गुट निरपेक्षता की नीति के नाम से जानी जाती है। कुछ लेखकों ने जिनमें पश्चिमी लेखक ही प्रमुख हैं गुट निरपेक्षता को तटस्थता का ही पर्याय वाची बताया है। वस्तुत यह विचार भ्रान्तिमूलक है। इस सम्बन्ध में कृष्णा मेनन का संयुक्त राष्ट्र संघ की जनरल असेम्बली में दिये गये भाषण का यह अंश उद्धरणीय है—हम तटस्थ देश नहीं हैं हम युद्ध और शान्ति के सन्दर्भ में तटस्थ नहीं है। हम साम्राज्यवादियों अथवा अन्य देशों द्वारा आधिपत्य स्थापित करने के सन्दर्भ में भी तटस्थ नहीं हैं। हम नैतिक मूल्यों के सम्बन्ध में तटस्थ नहीं हैं। हम उन बड़ी आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं के सन्दर्भ में तटस्थ नहीं हैं जिनका कभी भी उदय हो सकता है। हमारी स्थिति यह है कि हम शीत-युद्ध के सन्दर्भ में गुट निरपेक्ष तथा अप्रतिबद्ध हैं। स्वयं नेहरू जी ने इस सम्बन्ध में एक बार कहा था— जहाँ स्वतन्त्रता को चुनौती दी जाती है जहाँ शान्ति खतरे में है हम न तटस्थ थे और न तटस्थ रहेंगे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गुट निरपेक्षता और तटस्थता समान अर्थ रखने वाले शब्द नहीं हैं। वास्तव में तटस्थता एक निषेधात्मक (negative) विचार है जबकि गुट निरपेक्षता को एक स्वीकारात्मक (positive) विचार समझा जाना चाहिए। इसके अन्तर्गत राज्य अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के ऊपर अपना निर्णय किन्हीं पूर्वाग्रहों के आधार पर नहीं लेते बल्कि स्वतन्त्र रूप से उनमें निहित अच्छाइयों और बुराइयों के आधार पर लेते हैं। स्वाधीन होने के बाद भारत ने विदेश नीति के क्षेत्र में अपनी स्वतन्त्रता को कायम रखने का प्रयास किया है। यहाँ गुट निरपेक्षता के सिद्धान्त में सन्निहित मान्यताओं की विवेचना करना समीचीन होगा।

इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम ध्यान में रखने की बात यह है कि गुट निरपेक्षता कोई अपरिवर्तनीय विचार अथवा सिद्धान्त नहीं है वास्तव में यह एक गतिशील विचार है जो बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने आप को ढालने का प्रयत्न करता है। प्रश्न है कि गुट निरपेक्षता से क्या अभिप्राय है? मोटे तौर पर गुट निरपेक्षता वह सिद्धान्त है जिसको मानने वाला किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संकट के उत्पन्न होने की स्थिति में इस प्रश्न का उत्तर नहीं देता कि कौन सही है बल्कि इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करता है कि क्या सही है। इसका अर्थ यह हुआ कि गुट निरपेक्ष राज्य अपने आप को किसी गुट में नहीं बाँधता बल्कि वह स्वतन्त्र विदेश नीति का अनुगमन करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गुट निरपेक्षता एक स्वीकारात्मक विचार है वह तटस्थता की भाँति निषेधात्मक विचार नहीं है।

गुट निरपेक्षता के सम्बन्ध में ध्यान में रखने योग्य दूसरी बात यह है कि आधुनिक सन्दर्भ में वह साम्राज्यवाद विरोध की सूचक है। इस बात को समझने के लिए यह याद रखना उपयोगी होगा कि आज अधिकांश गुट निरपेक्ष राज्य वे हैं जो कुछ समय पूर्व तक औपनिवेशिक दासता के बन्धनों में जकड़े हुए थे। आज स्वतन्त्र होने के उपरान्त ये राज्य अपनी स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं। वास्तव में ऐसा करके ही वे अपने आप को दासता के अवशेषों से मुक्त कर सकते हैं क्योंकि आज भी इन देशों की अर्थतन्त्र एक बड़ी सीमा तक पुराने साम्राज्यवादी राज्यों के द्वारा नियन्त्रित होता है। यदि इन देशों को स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था की रचना में सफलता मिल जाती है तो उस स्थिति में इनसे साम्राज्यवादी देशों के बाजार की सीमायें सिकुड़ जायेंगी। स्पष्टत यह वह स्थिति है जिसे कोई भी साम्राज्यवादी देश सहर्ष स्वीकार नहीं कर सकता। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए नये राज्यों के लिए यह परमावश्यक है कि वे शक्ति के विभिन्न गुटों से अलग रहकर अपनी अर्थव्यवस्था का निर्माण करें। गुटबाजी में फँस जाने के बाद उनसे इस बात की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती कि वे अपने आर्थिक पुनर्निर्माण पर समुचित ध्यान दे सकेंगे।

यदि गुट निरपेक्षता साम्राज्य विरोध की अभिव्यक्ति है तो उस स्थिति में उसे आवश्यक

रूप से समाजवादी देश का समर्थक होना चाहिए। वास्तव मे समाजवादी देशो ने इन राज्यो के अर्थतन्त्र को अपने पैरो पर खडा होने की क्षमता प्रदान करने मे भारी योगदान दिया है। यह एक जानी-पहचानी बात है कि जहाँ पश्चिम के साम्राज्यवादी राज्यो ने हमे उपभोक्ता वस्तुएँ प्रचुर मात्रा मे दी, वहाँ सोवियत सघ तथा अन्य समाजवादी देशो ने हमारी औद्योगिक क्षमता को बढाने मे योगदान दिया है। अत यह स्पष्ट हे कि गुट-निरपेक्षता कभी भी समाजवादी देशो के विरुद्ध नही हो सकती। इस प्रकार समाजवादी राज्यो के साथ मैत्री-सम्बन्धो को गुट-निरपेक्षता की दूसरी मूलभूत मान्यता घोपित किया जा सकता हे।

गुट-निरपेक्षता की नीति राष्ट्रीय हितो की उपेक्षा नही करती। यथार्थ मे जैसा कहा जा चुका हे कि उसका प्रतिपादन भारत की विशिष्ट भौगोलिक स्थिति, उसके आर्थिक एव राजनीतिक हितो को ध्यान मे रखकर किया गया और सच बात यह है कि इस नीति के अनुसरण से देश को लाभ भी पहुँचा हे। अपने आर्थिक विकास के लिए हमे शक्ति के दोनो गुटो से सहायता प्राप्त हुई है। यदि एक गुट ने हमे उपभोक्ता वस्तुओ की सहायता दी है, तो दूसरे ने हमे भारी उद्योग दिये है जिनकी सहायता से देश आज अपने पैरो पर खडा होने मे समर्थ है। स्पष्टत इस प्रकार की सहायता की उस समय अपेक्षा नही की जा सकती थी, यदि भारत किसी गुट मे शामिल हो जाता। राजनीतिक दृष्टि से भी गुट-निरपेक्षता की नीति देश के लिए लाभकारी सिद्ध हुई है। देश 1947 मे स्वाधीन हुआ था, परन्तु अपनी स्वाधीनता के थोडे ही दिनो मे वह तीसरे विश्व का जाना-पहचाना अधिकृत प्रवक्ता था। 1952 से आरम्भ होने वाले दशक मे भारत की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे इतनी अधिक प्रतिष्ठा वढी थी कि सोवियत प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने यह सुझाव दिया था कि भारत को सुरक्षा परिषद् का स्थायी सदस्य बना देना चाहिए। इस प्रकार राष्ट्रीय हितो की अभिवृद्धि को गुट-निरपेक्षता की तीसरी बुनियादी मान्यता बताया जा सकता है।

उपर्युक्त मान्यताओ की कसौटी पर नेहरू जी के जीवन काल के अन्तिम दिनो की भारतीय विदेश नीति की समीक्षा की जा सकती हे। उस समय देश भयकर आर्थिक सकट मे होकर गुजर रहा था, तीसरी योजना के लक्ष्य खतरे मे पड गये थे, चीन की लडाई ने हमारी अर्थव्यवस्था को पूर्णरूप से झकझोर दिया था। यही नही चीन के विरुद्ध युद्ध मे उसे जो असफलता मिली थी उसने अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे उसके सम्मान को वडा आघात पहुँचाया था। इस पृष्ठभूमि मे स्वय देश मे भारत की विदेश नीति के औचित्य मे सन्देह व्यक्त किया जाने लगा था। ससद मे भी इसकी वडी आलोचना हुई थी। स्वय नेहरू जी ने इस आलोचना के औचित्य को स्वीकार किया था, उन्होने कहा था कि हम अभी तक अवास्तविकता के ससार मे रह रहे थे। परन्तु इसके साथ मे उन्होने यह भी कहा था कि 'हम अपनी वर्तमान कठिनाई के कारण अपने मूल सिद्धान्तो को छोडने नही जा रहे।'

पिछले वर्षो मे चीन और पाकिस्तान ने भारत की गुट-निरपेक्षता को 'दुहरा गठबन्धन' (Double alignment) की सज्ञा प्रदान की थी। इन देशो का कहना था कि भारत ने गुट-निरपेक्षता के नाम पर सयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत सघ दोनो से सहायता प्राप्त की ह। पहले तो उसे दोनो खेमो से सहायता मिलती थी, परन्तु पिछले दिनो मे उसे केवल सोवियत सघ से सहायता मिली हे। इस प्रकार उनका यह निष्कर्ष हे कि भारत की गुट-निरपेक्षता या तो 'दुहरा गठ-बन्धन' का छद्म नाम या अथवा पिछले वर्षो मे उसने सोवियत सघ के साथ प्रगाढ सम्बन्ध कायम करके गुट-निरपेक्षता को तिलाजलि दे दी ह। वस्तुत ये दोनो आलोचनाये गलत ह। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के इतिहास मे ऐसे गुट-निरपेक्ष देशो के उदाहरण मौजूद ह जिन्होने विश्व की दोनो महाशक्तियो से सैनिक और आर्थिक सहायता प्राप्त की थी और जिनकी गुट-निरपेक्षता मे कभी भी किसी ने सन्देह व्यक्त नही किया था। यूगोस्लाविया, सयुक्त अरब गणराज्य (मिस्र) तथा इण्डोनेशिया इसी प्रकार के देश है। दूसरे, यदि पिछले वर्षो मे भारत और सोवियत सघ के सम्बन्धो मे अधिक प्रगाढता आई ह तो ऐसा होना स्वाभाविक ही था। उस समय जबकि

शीत युद्ध अपनी चरम सीमा पर था पश्चिमी गुट विशेषतः अमरीकी विदेश सचिव डलेस गुट निरपेक्षता को अनैतिक मानते थे अथवा उनकी दृष्टि में वह कम्युनिस्ट देशों के साथ गठबन्धन करने के लिए केवल आवरण मात्र था। इसके विपरीत सोवियत संघ ने भारत की गुट निरपेक्षता को सच्चे साम्राज्य विरोध की अभिव्यक्ति माना है यद्यपि भारत की राष्ट्रमण्डल की सदस्यता उसकी समझ में कभी नहीं आई। परन्तु जब कालान्तर में उसके समक्ष यह प्रमाणित होने लगा कि राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के बावजूद भी भारत स्वतन्त्र विदेश नीति का अनुसरण करने की क्षमता रखता है तो उसे भारत के साथ अपने सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने में कोई संकोच नहीं हुआ।

महाशक्तियों के साथ सम्बन्ध

शीत-युद्ध में उग्रता आने के पूर्व भारत और संयुक्त राज्य अमरीका के पारस्परिक सम्बन्धों के ऊपर कभी कोई विचार नहीं करता था। परन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि भारत के अमरीका के साथ कोई मतभेद नहीं थे। उदाहरण के लिए भारत ने काश्मीर के प्रश्न पर अमरीकी दृष्टिकोण की हमेशा आलोचना की। इसके अतिरिक्त भारत ने अमरीका की औपनिवेशिक नीतियों का कभी समर्थन नहीं किया। 1949 में जब चीन के गृह युद्ध में पराजित होने के बाद च्यांग काई शेक को फारमूसा भाग जाने के लिए बाध्य होना पड़ा और वहां कम्युनिस्टों की सरकार कायम हुई तो भारत और अमरीका के बीच एक गहरा मतभेद उपस्थित हो गया क्योंकि भारत ने न केवल चीन के नये राज्य को मान्यता प्रदान कर दी वरन् उसने संयुक्त राष्ट्र संघ में भी उसे स्थान दिलवाने का प्रयत्न किया। इसके उपरान्त जब कोरिया का युद्ध आरम्भ हुआ उस समय भी भारत और संयुक्त राज्य अमरीका के पारस्परिक मतभेद उभरकर सामने आये। अमरीका युद्ध में भारत का सक्रिय सहयोग चाहता था परन्तु इसके विपरीत उसने इस युद्ध में मध्यस्थता के लिए प्रयास किया और जब संयुक्त राष्ट्र संघ की सेनाओं ने 38वीं समानान्तर रेखा को पार किया तो भारत ने उसका डटकर विरोध किया। बाद में जब अमरीका ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देना आरम्भ किया तो यह स्वाभाविक ही था कि दोनों देशों के बीच कड़वाहट पैदा होती। 1957 में प्रधानमन्त्री नेहरू ने संयुक्त राज्य अमरीका की यात्रा की थी। इस यात्रा के परिणामस्वरूप भारत और अमरीका के सम्बन्धों में कुछ सुधार हुआ था। परन्तु इस यात्रा के पश्चात् अमरीकी सरकार ने आइजनहावर सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और लेबनान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए अपनी सेनायें भेजीं। भारत ने अमरीका के दोनों कार्यों का विरोध किया। 1959 में राष्ट्रपति आइजनहावर की भारत यात्रा के बाद दोनों देशों के बीच फिर से अच्छे सम्बन्धों का श्रीगणेश हुआ। परन्तु इसके पश्चात् कुछ ऐसी घटनायें फिर घटीं जिन्होंने दोनों देशों के सम्बन्धों में बिगाड़ पैदा कर दिया। दिसम्बर 1961 में जब भारत ने गोआ को पुर्तगाली दासता से मुक्त किया तो संयुक्त राज्य अमरीका ने भारत के इस कार्य की कटु आलोचना की। उस समय अमरीकी प्रतिनिधि स्टीवेसन ने नाटकीय ढंग से यह घोषणा की थी आज रात्रि को हम उस नाटक के प्रथम अंक को देख रहे हैं जिसका अन्त संयुक्त राष्ट्र संघ की मृत्यु के साथ हो सकता है। पुर्तगाली उपनिवेशवाद के मौन निर्लज्ज समर्थन के उपरान्त यह स्वाभाविक ही था कि भारत में अमरीका विरोधी भावनायें मजबूत होतीं।

अक्टूबर 1962 में जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो उस समय अमरीका ने भारत को सैनिक सहायता दी। परन्तु इस सहायता के देने में भी अमरीका ने उस उदारता का परिचय नहीं दिया जिसकी उससे अपेक्षा की जाती थी। भारत उस समय एक देश के विरुद्ध युद्ध रत था जिसने अमरीकी शासकों की नींद हराम कर रखी थी। अतः इस युद्ध में अमरीका को उन्मुक्त हृदय से सहायता करनी चाहिए थी। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। अमरीकी शासकों की तरफ से कहा गया कि वे आधुनिक शस्त्रास्त्र हमको उसी समय दे सकते हैं जबकि पाकिस्तान के साथ काश्मीर के प्रश्न पर हमारे विवाद का अन्त हो जाय। चूंकि पाकिस्तान से हमारा कोई

समझौता न हो सका, इसलिये जिन शस्त्रास्त्रो की हमे आवश्यकता थी, वे हमको अमरीका से प्राप्त नही हो सके। परन्तु इसके बावजूद भी भारत मे चीनी आक्रमण के उपरान्त अमरीका के लिए सद्भावना मौजूद थी और बहुत सम्भव था कि यह सद्भावना कालान्तर मे स्थायी भी हो जाती। परन्तु ऐसा इसलिये नही हो सका क्योंकि फरवरी 1963 मे जब पाकिस्तान ने काश्मीर का प्रश्न सुरक्षा परिषद् मे फिर से प्रस्तुत किया तो उस समय अमरीकी प्रतिनिधि ने खुलकर पाकिस्तान का समर्थन किया। इससे फिर भारत मे अमरीका के विरुद्ध कटुता की भावनाये पैदा हुई है। 1965 मे जब भारत और पाकिस्तान का युद्ध हुआ उस समय भी अमरीका ने पाकिस्तान को अपना समर्थन दिया। यह वह समय था जब भारत मे अन्न का उत्पादन बहुत कम हुआ था और इस कमी को पूरा करने के लिए अमरीका ने हमे गेहूँ भेजने का वायदा किया था। परन्तु इस युद्ध के पश्चात् अमरीका ने हमे गेहूँ भेजने से इनकार कर दिया। इसी प्रकार 1971 मे बगला देश के मुक्ति-सघर्ष के समय भी अमरीका की सहानुभूति पाकिस्तान के साथ थी। अत इस पृष्ठभूमि मे यदि भारत मे अमरीकी विरोधी भावनाये बलवती हुई है तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है। 1975 मे अमरीका ने पाकिस्तान को हथियार देना फिर से आरम्भ कर दिया। यही नही, हिन्द महासागर मे स्थित डिआगो गार्शिया नामक टापू मे उसने अपना सैनिक अड्डा भी इसी काल मे बनाया। इससे दोनो पक्षो के बीच विरोध बढा है। यथार्थ मे भारत और सयुक्त राज्य अमरीका के पारस्परिक सम्बन्धो का जितना बिगाड आज पाया जाता है उतना पहले कभी नही था।

दूसरी महाशक्ति सोवियत सघ के साथ भारत के सम्बन्धो मे उतार-चढाव आते रहे है। 1946 और 1947 मे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो पर भारत और सोवियत सघ के दृष्टिकोण एक से ही थे। उदाहरण के लिए, भारत और सोवियत सघ के बीच मूलवश के आधार पर भेदभाव, उपनिवेशवाद, नि शस्त्रीकरण, एटम बम तथा वीटो के प्रश्नो पर एक से ही दृष्टिकोण थे। वस्तुत इन दोनो देशो के अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो पर मतैक्य को देखकर डलेस ने कहा था कि 'भारत मे सोवियत कम्युनिज्म अन्तरिम हिन्दू सरकार के माध्यम से अपने प्रभाव का विस्तार कर रहा है।' परन्तु यह स्थिति बहुत दिनो तक नही चली, थोडे ही समय मे यूनान और कोरिया के प्रश्नो पर इन दोनो मे मनमुटाव पैदा हो गया। इसी समय भारत ने ब्रूसेल्स की सन्धि को मान्यता दे दी। निश्चय ही, भारत का यह काम सोवियत सघ को रुचिकर नही हो सकता था। इसी पृष्ठभूमि मे अप्रैल 1949 मे सोवियत प्रेस ने भारत सरकार पर यह आरोप लगाया कि वह ब्रिटिश और अमरीकी साम्राज्यवाद के साथ साँठ-गाँठ कर रही है। परन्तु 1949 के अन्त तक दोनो देशो के सम्बन्धो ने एक दूसरा मोड लिया। इस काल मे चीन मे कम्युनिस्टो की सरकार स्थापित हो गई थी और भारत उसे मान्यता प्रदान करने वाला पहला गैर-कम्युनिस्ट देश था। इसके फलस्वरूप भारत और सोवियत सघ के सम्बन्धो मे भी सुधार होने लगा। परन्तु जून 1950 मे जब कोरिया मे युद्ध आरम्भ हुआ तो भारत ने पश्चिमी देशो के स्वर मे स्वर मिलाकर उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित कर दिया। भारत का यह काम सोवियत सघ मे रोष पैदा करता, यह स्वाभाविक था। भारत को भी अपनी गलती का अनुभव हुआ और उसने अपनी भूल को सुधारने के लिए जुलाई 1950 मे कोरिया मे युद्ध-विराम की अपील की। इस अपील का सोवियत सघ मे समुचित स्वागत किया गया। फलत दोनो देशो के सम्बन्ध मे एक बडी सीमा तक प्रगाढता आई। 1951 मे भारत ने अमरीका के उस प्रस्ताव का समर्थन करने से इनकार कर दिया जिसमे कोरिया मे चीन को आक्रान्ता कहा गया था। भारत-सोवियत सम्बन्धो के ऊपर इसका भी अनुकूल प्रभाव पडा। परन्तु दिसम्बर 1952 मे कोरिया के युद्धबन्दियो के प्रश्न पर सोवियत सघ और भारत के बीच पुन मतभेद पैदा हो गये। विशिंस्की ने सयुक्त राष्ट्र सघ की असेम्बली मे भारत की आलोचना करते हुए यह कहा कि भारत की नीति मे तनाव के बढने की आशका है।

1954 मे अमरीका की प्रेरणा से सीटो और बगदाद पैक्टो की रचना हुई। भारत ने इन सैनिक गुटबन्दियो का कडा विरोध किया। अत इस पृष्ठभूमि मे यह स्वाभाविक ही था कि

सोवियत संघ के साथ उसके सम्बन्धों में सुधार होता। इसी काल में नेहरू जी ने सोवियत संघ की तथा बुल्गानिन और ख्रुश्चेव ने भारत की यात्रा की। इन यात्राओं ने दोनों देशों को एक-दूसरे के समीप लाने में बड़ा योगदान दिया। सोवियत संघ ने काश्मीर और गोआ के प्रश्नों पर भारत का समर्थन करके प्रत्येक भारतवासी के हृदय में अपने लिए सद्भावना को पैदा करने में सफलता प्राप्त की। इसके अतिरिक्त इस काल में सोवियत संघ ने भारत को तकनीकी और आर्थिक सहायता भी प्रचुर मात्रा में प्रदान की। भिलाई के इस्पात कारखाने ने भारत सोवियत मैत्री को एक शक्तिशाली आधार प्रदान किया है। बाद में बोकारो के इस्पात कारखाने के निर्माण में भी सोवियत संघ की सहायता की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

राजनीतिक क्षेत्र में भी दोनों देशों के बीच एक दूसरे के प्रति सद्भावना ही पायी जाती रही है। उदाहरण के लिए निःशस्त्रीकरण के प्रश्न पर भारत ने सोवियत दृष्टिकोण का आम तौर पर समर्थन किया है।

1966 के बाद सोवियत संघ भी विश्व बाजार में शस्त्रास्त्र बेचने लगा और पाकिस्तान भी उसके पास ग्राहक के रूप में पहुँच गया। स्पष्टतः संघ के लिए पाकिस्तान को शस्त्रास्त्र बेचने से इनकार करना सम्भव नहीं हो सकता था। परन्तु भारत में इसकी प्रतिक्रिया अनुकूल नहीं हुई। भारत सरकार ने सोवियत संघ को एक पत्र लिखकर इस सम्बन्ध में अपनी चिन्ता व्यक्त की। दक्षिणपंथी राजनीतिक दलों ने इस पर हल्ला गुल्ला भी बहुत मचाया और उन्होंने अपनी इस माँग को दुबारा दोहराया कि भारत को पश्चिमी गुट में शामिल हो जाना चाहिए। परन्तु उस समय सोवियत संघ ने भारत को यह पक्का आश्वासन दिया कि पाकिस्तान के साथ सोवियत संघ के सम्बन्ध भारत के प्रति मैत्री की कीमत पर निर्मित नहीं किये जायेंगे। सोवियत संघ का यह आश्वासन कितना पक्का था इसका प्रमाण हमें उस समय मिला जबकि बंगला देश के मुक्ति-संघर्ष की पृष्ठभूमि में भारतीय पक्ष का समर्थन करने का उत्तरदायित्व केवल समाजवादी देशों ने ही निभाया था। उस समय 9 अगस्त 1971 को दोनों देशों ने मित्रता और सहयोग की एक संधि पर हस्ताक्षर किये। इस संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए सोवियत विदेश मंत्री ग्रोमिको स्वयं नई दिल्ली आये थे। इस संधि ने भारत-सोवियत सम्बन्धों को और भी अधिक सुदृढ़ बनाया। यह संधि हमारे देश के लिए कितनी उपयोगी थी इसका प्रमाण हमें उस समय मिला जब दिसम्बर 1971 में हमें पाकिस्तान के साथ युद्ध लड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। जैसा कहा जा चुका है इस समय अमरीका खुलकर पाकिस्तान का समर्थन कर रहा था। जब बंगला देश में पाकिस्तान की पराजय सन्निकट थी उस समय उसका सातवाँ बेड़ा बंगाल की खाड़ी में प्रवेश भी कर चुका था। संयुक्त राष्ट्र संघ की असेम्बली और सुरक्षा परिषद् में उसने भारत के विरुद्ध मतदान को संगठित कराने में एक प्रमुख भूमिका अदा की थी। परन्तु उस समय सोवियत संघ के साथ मैत्री ही हमारे काम आई।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि सोवियत संघ के साथ हमारे सम्बन्धों में उतार चढ़ाव आते रहे हैं तथापि दोनों देशों के बीच सद्भावना का कभी कोई अभाव नहीं रहा।

पाकिस्तान के साथ सम्बन्ध

1947 में देश का विभाजन कांग्रेस और मुस्लिम लीग की सहमति से हुआ था फिर भी इसके बाद इन दोनों राज्यों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों में कोई सुधार नहीं हुआ। इसके विपरीत वे निरन्तर बिगड़ते गये। वस्तुतः जिस दो राष्ट्रों के सिद्धान्त के आधार पर पाकिस्तान का जन्म हुआ था उस सिद्धान्त में ही हिन्दुओं और भारत के प्रति घृणा बीज रूप में ही निहित था। इसलिए ऐसी स्थिति में इस बात की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती थी कि इस घृणा करने वाले राज्य के साथ सम्बन्ध साधारण हो सकेंगे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारत ने अनेक

अवसरो पर पाकिस्तान के साथ युद्ध न करने के समझौते का प्रस्ताव रखा है। सबसे पहले 1949 मे इस प्रकार के समझौते का प्रस्ताव उसके सामने रखा गया, 1956 मे नेहरू जी ने इस प्रस्ताव को दोबारा प्रस्तुत किया, नवम्बर 1962 मे पाकिस्तान से एक बार फिर इस आशय की अपील की गई, परन्तु पाकिस्तान इसके लिए कभी तैयार न हुआ। नेहरू जी के निधन के उपरान्त 15 अगस्त 1964 को लालबहादुर शास्त्री ने इस प्रस्ताव को फिर दोहराया। परन्तु भारतीय नेताओ के इन वक्तव्यो का पाकिस्तान के ऊपर कोई प्रभाव न पडा। वस्तुत दोनो देशो के समक्ष कुछ समस्याये भी ऐसी थी जिनका समाधान आसान नही था।

भारत और पाकिस्तान के बीच पाये जाने वाले विवादो मे सबसे अधिक गम्भीर विवाद का सम्बन्ध काश्मीर की समस्या के साथ है।

नवम्बर 1947 मे दोनो देशो की सेनाओ मे खुली लडाई आरम्भ हो गई। भारत ने यह समस्या सुरक्षा परिषद् मे प्रस्तुत की। परिषद् ने समस्या का निराकरण करने के लिए अनेक जॉच एव मध्यस्थता आयोग नियुक्त किये। इनसे युद्ध तो रुक गया, परन्तु दोनो देशो के बीच तनाव खत्म नही हुआ। फलत दोनो देशो के बीच सीमा-सम्बन्धी विवाद उठते रहे, यात्रा सम्बन्धी नियन्त्रण जारी रहे तथा दोनो ने एक दूसरे पर आरोप लगाना बन्द नही किया। इस बीच पाकिस्तान ने अमरीका की सैनिक गुट-बन्दियो की सदस्यता स्वीकार कर ली जिसके परिणामस्वरूप उसे अमरीकी सैनिक सहायता प्रचुर मात्रा मे मिलने लगी। ऐसी स्थिति मे भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धो से यदि और अधिक तनाव उत्पन्न हो गया तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नही थी।

1958 मे पाकिस्तान मे एक सैनिक क्रान्ति हुई जिसके फलस्वरूप जनरल अयूब खॉ वहाँ के सर्वेसर्वा बन गये। इस नये शासन की स्थापना के उपरान्त भारत-पाक सम्बन्धो मे एक नये युग का समारम्भ हुआ। सद्भावना बढी, कुछ समझौते भी हुए। परन्तु इतना होते हुए भी काश्मीर के प्रश्न पर दोनो देशो मे कोई समझौता नही हो सका। नेहरू जी ने इस सम्बन्ध मे एक प्रस्ताव रखा था कि वर्तमान युद्ध-विराम रेखा के आधार पर दोनो पक्षो मे कोई समझौता हो जाना चाहिए। परन्तु पाकिस्तान को यह प्रस्ताव स्वीकार नही था।

कुछ दिन बाद अयूब खॉ ने भारत के समक्ष एक 'सयुक्त-सुरक्षा समझौता' करने का सुझाव रखा। परन्तु भारत इस प्रस्ताव को स्वीकार करने मे इसलिए असमर्थ था क्योकि उससे भारत की गुट-निरपेक्षता पर आघात पहुचता था।

इसी समय दोनो देशो के बीच एक नवीन समस्या पैदा हो गई। यह समस्या कच्छ-सिन्ध सीमान्तो से सम्बद्ध थी। जनवरी 1960 मे इस सम्बन्ध मे दोनो देशो के बीच एक समझौता हुआ जिसमे यह निश्चित हुआ कि दोनो पक्ष इस समस्या का निराकरण करने के लिए आपस मे बातचीत करेंगे। पाकिस्तान सरकार ने पॉच वर्ष तक खामोश रहने के बाद यकायक जून 1965 मे बल-प्रयोग के द्वारा अपने दावो को मनवाने का प्रयत्न किया। कच्छ के रन मे भारतीय सीमाओ के भीतर कुछ भारतीय चौकियो पर पाकिस्तान ने अधिकार स्थापित कर लिया। निस्सन्देह पाकिस्तान का यह काम अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लघन था। ऐसा लगता था कि दोनो देशो मे बडे पैमाने पर युद्ध छिड जाएगा परन्तु ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की अपील पर 30 जून 1965 को दोनो पक्ष युद्ध-विराम के लिए तैयार हो गये।

मामला अन्तर्राष्ट्रीय ट्रिब्यूनल को सौपा गया। ट्रिब्यूनल ने पाकिस्तान के 90 प्रतिशत दावो को अस्वीकार कर दिया।

भारत-पाक सघर्ष—कच्छ के रन पर भारत और पाकिस्तान के बीच जो समझौता हुआ था, उसकी स्याही भी सूखने नही पाई थी, तब तक पाकिस्तान ने भारत के लिए एक दूसरी समस्या खडी कर दी। 5 अगस्त 1965 को हजारो की सख्या मे पाकिस्तानी घुसपैठिये सादा कपडो मे आधुनिक शस्त्रास्त्र से लैस होकर काश्मीर मे घुस आये। निस्सन्देह पाकिस्तान का यह

काम भारत की प्रभुसत्ता एव प्रादेशिक अखण्डता का एक चुनौती था। अत इसका जवाब देने के लिए भारतीय सुरक्षा सेना ने पाकिस्तान से आये हुए इन घुसपठियो का सफाया करना आरम्भ कर दिया। युद्ध विराम रेखा को लाघ कर वे सारे प्रवेश द्वार बन्द कर दिये जहा से होकर पाकिस्तानी हमलावर काश्मीर मे आ रहे थे। जवाब मे पाकिस्तान ने 1 सितम्बर 1965 को अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पार करके जम्मू के छम्ब क्षेत्र मे बहुत बडे पैमाने पर आक्रमण किया। इस आक्रमण मे उसने न केवल आधुनिकतम अमरीकी पैटन टैंको तथा सेबर जेट विमानो का प्रयोग किया अपितु हवाई हमलो मे राकेटो तथा मिसाइलो का भी प्रयोग किया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाकिस्तान ने न केवल युद्ध छेडने मे पहल की बल्कि सघर्ष को व्यापक रूप देने मे भी उसी ने पहलकदमी की। विवश होकर भारत ने भी अन्तर्राष्ट्रीय सीमा का उल्लघन करने तथा पाकिस्तानी क्षेत्र मे अपनी सेनाओ का प्रवेश कराने का फैसला किया।

लगभग तीन सप्ताह के घमासान युद्ध के पश्चात् 23–24 सितम्बर 1965 की रात्रि को दोनो देशो के बीच युद्ध विराम हो गया। इस युद्ध के फलस्वरूप कारगिल से सिन्ध-बाड्मेर तक के मोर्चों पर युद्ध विराम के समय तक लगभग 700 वर्गमील पाकिस्तानी भूमि भारत के अधिकार मे आ चुकी थी। कारगिल की चौकियो के अतिरिक्त टिथवाल (20 वर्ग मील) और उडी-पुछ (200 वर्ग मील) क्षेत्र मे भारत उस प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित करने मे सफल हुआ जिसे काश्मीर की सुरक्षा के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी पाकिस्तान मे स्यालकोट (180 वर्ग मील) लाहौर कसूर (140 वर्ग मील) और सिन्ध (150 वर्ग मील) क्षेत्र पर भी भारतीय सेनाओ का अधिकार हो गया।

कुछ भारतीय भूमि पर पाकिस्तान का भी अधिकार स्थापित करने मे सफलता मिली। जम्मू के छम्ब जोरिया क्षेत्र मे 190 वर्ग मील तथा खेमकरण क्षेत्र मे 20 वर्ग मील भारतीय इलाका पाकिस्तान के अधिकार मे पहुँच गया। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान ने कुछ भूमि राजस्थान मे भी अपने अधिकार मे कर ली।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि युद्ध मे पलडा भारत का ही भारी रहा। यह बात इस तथ्य से और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है कि युद्ध मे भारत ने पाकिस्तान के 50 टैंको पर कब्जा कर लिया और लगभग 500 टैंको को नष्ट कर दिया। सैनिक पर्यवेक्षको के अनुसार पाकिस्तान की दो तिहाई बख्तरबन्द सेना नाकाम हो गई। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान के 75 विमान जो पाकिस्तानी मार करने वाले विमानो के आधे से अधिक हैं भी नष्ट कर दिये।

इस सघर्ष के समय सोवियत सघ एक ऐसा देश था जिसने भारत के न्यायपूर्ण पक्ष का समर्थन किया। सोवियत सघ जानता था कि भारत और पाकिस्तान का सघर्ष औपनिवेशिक युग की एक विरासत है उपनिवेशवादियो ने अपने घृणित स्वार्थों की पूर्ति के लिए सम्प्रदायवाद को प्रोत्साहन दिया था जिसके फलस्वरूप भारत का विभाजन हुआ और भारत तथा पाकिस्तान के बीच मे पारस्परिक शत्रुता एव सघर्ष के लिए भूमिका प्रस्तुत हुई थी। अत सोवियत सघ ने इस शत्रुता का निराकरण करने के लिए भारत और पाकिस्तान के शासनाध्यक्षो को ताशकन्द मे एक दूसरे से इस सम्बन्ध मे बात करने के लिए आमन्त्रित किया। पहले तो पाकिस्तानी राष्ट्रपति अय्यूब ने इस निमन्त्रण को स्वीकार नही किया परन्तु बाद मे वे इसे स्वीकार करने के लिए राजी हो गये। इस प्रकार जनवरी 1966 के पहले सप्ताह मे सोवियत सघ के एक नगर ताशकन्द मे दोनो देशो के शासनाध्यक्षो का एक सम्मेलन सोवियत प्रधानमन्त्री कोसीगिन की उपस्थिति मे आयोजित किया गया। इस सम्मेलन की समाप्ति पर 10 जनवरी 1966 को दोनो शासनाध्यक्षो ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। यह समझौता ताशकन्द घोषणा के नाम से प्रख्यात है।

ताशकन्द घोषणा—इस घोषणा मे केवल 9 अनुच्छेद हैं जो निम्नलिखित है—

(1) दोनो राज्यो ने इस पर सहमति व्यक्त की कि उन्हे अच्छे पडोसियो के सम्बन्ध कायम करने के लिए सयुक्त राष्ट्र सघ के घोषणा पत्र के अनुसार पूरे प्रयत्न करने चाहिए। उन्होने अपने

इस उत्तरदायित्व को भी स्वीकार किया कि वे अपने विवादो को सुलझाने के लिए ताकत से काम नही लेगे।

(ii) दोनो राज्यो के शासनाध्यक्ष इस पर राजी हुए कि दोनो देशो के सब सशस्त्र आदमी 25 फरवरी 1966 तक उन ठिकानो पर वापस लौट जायेगे, जहाँ वे 5 अगस्त 1965 के पहले थे और दोनो देश युद्ध-विराम रेखा पर, युद्ध-विराम की शर्तो का पालन करेगे।

(iii) दोनो राज्यो ने इस पर सहमति व्यक्त की कि उन्हे एक-दूसरे के विरुद्ध प्रचार को रोकना चाहिए तथा ऐसे प्रचार को प्रोत्साहन देना चाहिए जो उनके बीच मैत्री की सम्भावनाओ को विकसित करे।

(iv) उन्होने एक-दूसरे के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करने पर सहमति व्यक्त की।

(v) दोनो राज्यो के शासनाध्यक्षो ने एक-दूसरे के साथ सामान्य राजनयिक सम्बन्धो को स्थापित करने पर भी सहमति प्रकट की।

(vi) भारत के प्रधानमन्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति इस पर भी सहमत थे कि वे भारत और पाकिस्तान के बीच आर्थिक सम्बन्ध, व्यापार, सचार और सास्कृतिक सम्पर्क को पुन स्थापित करने के लिए आवश्यक कार्यवाही पर विचार करेगे।

(vii) उन्होने एक-दूसरे के युद्ध-बन्दियो को रिहा करने को भी स्वीकार किया।

(viii) उन्होने शरणार्थियो, निष्कासितो तथा गैर-कानूनी बसने वालो की समस्याओ से सम्बद्ध प्रश्नो पर एक दूसरे से बातचीत जारी रखने की घोषणा की।

(ix) दोनो शासनाध्यक्ष इस बात पर सहमत हुए कि जिन मामलो का दोनो देशो से सीधा सम्बद्ध है उन पर विचार के लिए दोनो पक्षो की सर्वोच्च एव अन्य स्तरो पर बैठके होती रहेगी।

भारत-पाक सम्बन्धो के इतिहास मे ताशकन्द घोषणा के द्वारा एक नया मोड देने का प्रयास किया गया था। इसके द्वारा दोनो पक्षो ने स्वीकार किया था कि वे भविष्य मे किसी भी झगडे को हल करने के लिए हथियार नही उठायेगे और दोनो देशो के बीच सामान्य, शान्तिपूर्ण एव पारस्परिक सहयोग के सम्बन्धो से जो वातावरण बनेगा, उससे ही वे अपनी समस्याओ का समाधान खोजने का प्रयास करेगे।

1969 मे पाकिस्तान मे दूसरी सैनिक क्रान्ति हुई। याह्या खाँ इस बार सत्तारूढ हुए। परन्तु पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान मे झगडा निरन्तर बढता गया। पाकिस्तान बगला देश की जनता को अपने अमानुषिक अत्याचारो का शिकार बना रहा था। अत उससे बचने के लिए लगभग 1 करोड आदमी शरणार्थी के रूप मे भारत आ गये। निस्सन्देह भारत की अर्थव्यवस्था पर यह बहुत बडा बोझ था। परन्तु भारत इस बोझ को बर्दाश्त करता रहा। उसे आशा थी कि विश्व लोकमत पाकिस्तान को नर सहार करने से रोकेगा। इस सन्दर्भ मे यह स्वाभाविक था कि भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध और भी अधिक बिगडते। फलत 3 दिसम्बर 1971 को दोनो देशो के बीच फिर से युद्ध आरम्भ हो गया। दो सप्ताह के युद्ध के पश्चात् बगला देश मे पाकिस्तानी सैनिको ने आत्मसमर्पण कर दिया। इस युद्ध मे पाकिस्तान को न केवल पूर्वी पाकिस्तान से हाथ धोना पडा, उसे पश्चिम मे भी भारी पराजय का सामना करना पडा। युद्ध मे भारत ने 97000 पाकिस्तानी सैनिको को बन्दी बनाया तथा सिन्ध, पजाब और अधिकृत काश्मीर के महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो को भी अपने अधिकार मे कर लिया। जैसा स्वाभाविक था, युद्ध मे इस करारी पराजय के बाद पाकिस्तान मे याह्या खाँ की सरकार का पतन होता। उनके बाद जुल्फिकार अली भुट्टो वहाँ के राष्ट्रपति बने।

शिमला सम्मेलन के समक्ष समस्याएँ—सत्ता मे आने के बाद भुट्टो के सामने जो सबसे बडी समस्या थी वह युद्ध मे हारे हुए प्रदेशो को वापिस पा जाने की तथा युद्ध-बन्दियो की रिहाई की थी। इसके लिए यह परमावश्यक था कि वह भारत से बात करते। फलत जुलाई 1972 मे

भारतीय प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी और पाकिस्तानी राष्ट्रपति जुल्फिकार अली भुट्टो के बीच शिमला में एक शिखर सम्मेलन आयोजित हुआ।

1971 के युद्ध के बाद दक्षिण एशिया में बंगला देश के रूप में एक नये प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य का उदय हुआ। जनसंख्या की दृष्टि से वह इस क्षेत्र का दूसरा बड़ा राज्य था। अतः उसकी स्थापना के पश्चात् पाकिस्तान का दर्जा तीसरा हो गया। इस पृष्ठभूमि में पाकिस्तान द्वारा भारत की बराबरी के दर्जे की खोज हास्यास्पद ही हो सकती थी। यही नहीं इस बीच में भारत और बंगला देश के बीच अत्यधिक प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे तथा पाकिस्तान के पास अब वह क्षमता नहीं थी कि वह नयी दिल्ली और ढाका के सम्बन्धों में बिगाड़ पैदा कर सके।

उपर्युक्त परिवर्तनों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह है कि बंगला देश के अभ्युदय के उपरान्त स्वयं भारत का शक्ति के एक केन्द्र के रूप में उदय हुआ है। यह ठीक है कि महाशक्तियों की तुलना में भारत की शक्ति बहुत कम है परन्तु जहां तक इस क्षेत्र का सम्बन्ध है कोई भी महाशक्ति उसकी उपेक्षा नहीं कर सकती।

इस पृष्ठभूमि में पाकिस्तान और भारत के बीच शिखर सम्मेलन का आयोजन हुआ। सम्मेलन के सम्मुख जो समस्यायें प्रस्तुत थी उन्हें मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जा सकता है सबसे पहले वे समस्यायें थी जिनका जन्म दिसम्बर 1971 के युद्ध के कारण हुआ था दूसरे वे समस्यायें थी जिनका सम्बन्ध दोनों राज्यों के बीच साधारण सम्बन्धों की स्थापना के साथ था। जहाँ तक पहली श्रेणी की समस्याओं का सम्बन्ध है उनके बारे में उल्लेखनीय बात यह है कि दोनों देश एक-दूसरे के उन क्षेत्रों से अपने सेनाओं को वापिस बुलाये जिन पर उन्होंने युद्ध के समय अधिकार स्थापित कर लिया था। काश्मीर को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में इस समस्या का समाधान कठिन नहीं था क्योंकि दोनों राज्यों के सीमान्त सामान्यतः सुपरिभाषित हैं। परन्तु यह बात काश्मीर के सम्बन्ध में इसलिए नहीं कही जा सकती क्योंकि जो पहली युद्ध विराम रेखा थी उसे अन्तर्राष्ट्रीय सीमा का स्तर प्राप्त नहीं था। वस्तुतः इसके लिए भी पाकिस्तान के नेताओं को उत्तरदायी माना जाना चाहिए क्योंकि जब नेहरू जी ने यह प्रस्तावित किया था कि युद्ध विराम रेखा को थोड़े संशोधनों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय सीमा मान लेना चाहिए तो उस समय पाकिस्तान ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। इस स्थिति में भारत सरकार के लिए देश की जनता को इस बात पर सहमत करना कठिन था कि अधिकृत काश्मीर के उस क्षेत्र से हमारी सेनाएं हटा ली जाय जिस पर दिसम्बर के युद्ध के फलस्वरूप भारत का अधिकार हो गया था। कानूनी दृष्टि से पाक अधिकृत काश्मीर भारत का अंग है इसलिए भारत कानूनी अथवा नैतिक दृष्टि से काश्मीर के उस भाग को पाकिस्तान को लौटाने के लिए बाध्य नहीं है जिसे उसने पाकिस्तान के गैर-कानूनी अधिकार से मुक्त कराया है। यही नहीं इस क्षेत्र के जिन भागों को हमने अपने अधिकार में लिया है वह सामरिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यथार्थ में पिछले समय में पाकिस्तान ने इसी क्षेत्र में अपने अड्डे बनाकर भारत पर आक्रमण किये है। अतः इन ठिकानों को पाकिस्तान को वापिस करने की बात उन लोगों की समझ में कभी भी नहीं आ सकती जिनके ऊपर देश की प्रतिरक्षा का उत्तरदायित्व है। युद्ध द्वारा उत्पन्न दूसरी समस्या का समाधान भी वास्तव में कोई आसान बात नहीं है क्योंकि अधिकांश युद्ध-बन्दियों को बंगला देश में गिरफ्तार किया गया था। उन्होंने भारत और बंगला देश के उच्च सैनिक कमान के समक्ष हथियार डाले थे। जहाँ तक पश्चिमी मोर्चे पर गिरफ्तार किये गये बंदियों का प्रश्न था उनकी रिहाई की समस्या का समाधान कोई कठिन काम नहीं थी। परन्तु पूर्वी मोर्चे पर गिरफ्तार बन्दियों को बंगला देश की सरकार की इच्छा के बिना रिहा नहीं किया जा सकता था। बंगला देश में भी इन बन्दियों की समस्या इस आन्तरिक दबाव के साथ जुड़ी हुई है कि इन बन्दियों में से उन लोगों पर मुकदमा चलाया जाय जिन्होंने मार्च 1971 से लेकर दिसम्बर 1973 तक बंगला देश की जनता के विरुद्ध जघन्य अपराध किये थे। अतः इस समस्या के समाधान के लिए यह आवश्यक है कि पाकिस्तान बातचीत में बंगला देश के

प्रतिनिधियो को शामिल करने के लिए राजी हो। परन्तु ऐसा तभी हो सकता है जबकि पाकिस्तान बगला देश को मान्यता प्रदान करे।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारत और पाकिस्तान के पारस्परिक सम्बन्धो मे सुधार लाने की समस्या वास्तव मे पाकिस्तान-बगला देश के पारस्परिक सम्बन्धो को सुधारने की समस्या के साथ जुडी हुई है। भारत के नेता समस्या के इस पहलू से अवगत थे, इसकी अनुभूति पाकिस्तान के नेताओ को भी थी। परन्तु उनमे यथार्थ को स्वीकार करने के लिए उस साहस का अभाव था जिसकी आवश्यकता थी। वस्तुत शिमला समझौता इस दुर्बलता से ग्रसित था। फिर भी शिमला समझौता सही दिशा मे उठाया गया सही कदम था। इस समझौते के द्वारा दोनो पक्षो ने अपनी इस आकाक्षा को व्यक्त किया था कि वे एक दूसरे के साथ अच्छे पडोसी की भाँति रहना चाहते है। 25 वर्ष तक सघर्ष एव तनाव के वातावरण मे रहने के उपरान्त दोनो पक्षो द्वारा शिमला समझौते को स्वीकार करना निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।

शिमला समझौते की व्यवस्थायें—शिमला समझौते के अन्तर्गत भारत-पाक सम्बन्धो से जुडे हुए अनेक प्रश्नो का उत्तर देने का प्रयास किया गया था। सर्वप्रथम उसमे यह कहा गया था कि दोनो पक्ष अपने बीच पाये जाने वाले सघर्षो का अन्त करना चाहते है तथा वे अपने बीच ऐसे मैत्री एव सद्भावना के सम्बन्ध स्थापित करना चाहते है ताकि शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व, एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और प्रभुसत्ता का सम्मान तथा एक दूसरे के आन्तरिक मामलो मे अहस्तक्षेप के आधार पर उप-महाद्वीप मे स्थायी शान्ति की स्थापना हो सके। इस समझौते के द्वारा दोनो पक्षो ने सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर की व्यवस्थाओ के अनुरूप यह प्रतिज्ञा की कि वे अपनी समस्याओ का समाधान करने के लिए न तो बल-प्रयोग की धमकी देगे और न कभी बल-प्रयोग करेगे। अपने सम्बन्धो का साधारणीकरण करने के लिए उन्होने यह निश्चित किया कि दोनो देशो के बीच डाक, तार व भूमि और वायु के सचार की सुविधाये फिर से आरम्भ की जायेगी। समझौते मे यह भी कहा गया कि दोनो देश आर्थिक और अन्य क्षेत्रो मे एक दूसरे के साथ सहयोग करेगे।

दोनो पक्षो ने अपने बीच मे स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए इस बात पर सहमति व्यक्त की कि वे अपनी सशस्त्र सेनाओ को अपने-अपने सीमान्तो तक वापिस बुला लेगे। जम्मू और काश्मीर के सम्बन्ध मे निश्चित हुआ कि दोनो पक्ष 17 दिसम्बर को हुए युद्ध-विराम के अवसर पर स्थापित नियन्त्रण रेखा का सम्मान करेगे।

समझौते मे इस बात का भी उल्लेख किया गया कि दोनो देशो के नेता दुबारा फिर मिलेंगे, परन्तु इससे पूर्व उनके प्रतिनिधि ऐसे उपायो पर विचार करने के लिए तथा एक दूसरे से बात करने के लिए मिलते रहेगे जिनसे उनके बीच सम्बन्धो को सुधारा जा सके।

शिमला समझौते का महत्त्व और उसकी कार्यान्विति—शिमला समझौते का विश्व की समूची शान्तिप्रिय एव प्रगतिशील जनता ने स्वागत किया था। जब समझौते पर हस्ताक्षर हुए थे, उस समय यह आशा की जाती थी कि अब भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धो मे एक नया मोड आयेगा और अब उस स्थिति का भी अन्त हो सकेगा जिसमे यद्यपि युद्ध तो नही होता, परन्तु जिसे शान्ति की सज्ञा भी प्रदान नही की जा सकती। यह आशा निराधार भी नही थी क्योकि यह पहला अवसर था जबकि दोनो देशो के नेता स्वत इस इरादे से एक दूसरे से मिले थे ताकि वे द्विपक्षीय बातचीत के द्वारा अपनी समस्याओ का समाधान खोज सकें। वस्तुत समझौते मे जो बाते कही गई थी, वे भी इसी बात का इशारा कर रही थी कि सम्भवत उसके द्वारा तनाव एव सघर्षो के दिनो का अन्त हो सकेगा तथा दोनो देश अच्छे पडौसी की भाँति रह सकेंगे। परन्तु समझौते के बाद अभी तक जो कुछ भी हुआ है उससे बहुत अधिक आशा नही बँधती।

भारत और चीन

भारत और चीन के सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे है। आधुनिक समय मे

भी जब 1937 म जापान ने चीन पर आक्रमण किया तो भारतीय राष्ट्रीय काग्रस न चीन क प्रति न कवन मौखिक सहानुभूति प्रदर्शित की बल्कि अपनी सहानुभूति के प्रतीक क रूप म उसन एक डाक्टरी जत्था भी चीन भेजा। 1949 म जब चीन म कम्युनिस्टा की सत्ता स्थापित हुइ तो भारत न नये चीन को तत्कान मायता द दी और इस बात क निए प्रयत्न किया कि उसे विश्व क अय राष्ट्रा स भी मायता मिन जाय तथा सयुक्त राष्ट्र सघ की उस सदम्यता प्राप्त हो जाये।

1950 क अत म दोना देशा के बीच एक छोटा सा मतभेद उस समय पदा हो गया जबकि चीन ने तिब्बत को स्वतन्त्र किया और वहाँ अपनी सत्ता को बनपूवक स्थापित किया। यद्यपि भारत ने तिब्बत पर चीन की प्रभुता को काई चुनौती नही दी तथापि उसका कहना था कि इस प्रश्न का शातिपूण हन खोजने का प्रयत्न किया जाना चाहिए था। 1954 म तिब्बत के सम्बध म भारत और चीन के बीच एक समझौता हुआ जिसकी प्रस्तावना म पचशीन क सिद्धान्तो का उल्लख किया गया है। इस समझौत म उभय पक्षा न यह घोषणा की कि व इन सिद्धान्ता के आधार पर अपन पारस्परिक सम्बधो का परिचालन करग। परन्तु थोडे ही दिना क बाद दोना देशा क बीच फिर स मतभद पदा होने नग। 1956 से लकर 1959 तक तिब्बत क खम्पा लोगो न चीनी आधिपत्य क विरुद्ध विद्राह जारी रखा। चीनी सना न विद्रोहिया का दमन करन क लिए सय बन का प्रयोग किया। फनत हजारा तिब्बतवासिया तथा दलाईलामा को तिब्बत छोडने और भारत म आकर शरण नने क निए विवश होना पडा। भारत सरकार न उह शरण और सहायता दी। चीन ने भारत सरकार के इस काम को पसन्द नही किया।

1956 म चीन ने लद्दाख के एक भाग पर अपना अधिकार स्थापित कर निया। भारत ने जब इसक विरोध म चीन को पत्र निखा तो चीन न इसक उत्तर म यह लिखा कि उसने जिस क्षत्र पर अधिकार किया है वह चीन का भाग है भारत का नही। इसी काल म लद्दाख क अक्साई चिन क्षत्र म चीन न एक सडक भी बना ली। उ ही दिना य सूचनाय भी प्राप्त हुइ कि चीनी सना टुकडिया न नफा प्रदेश म भी घुसन क प्रयत्न किय परतु चीन न भारत पर उल्टा यह आरोप नगाया कि भारतीय सना क दस्ता न भारत तिब्बत सीमा पर तिब्बतियो के सहयोग स चीन के किसी प्रदश पर अधिकार स्थापित कर निया है। इसी समय चीन न कुछ नक्श प्रकाशित किय जिसम भारत क सीमान्तो पर स्थित भागा का चीनी सीमा क भीतर दिखाया गया था। इस स्थिनि म यह स्वाभाविक ही था कि दोना देशो के बीच मतभेदो म उग्रता आ जाती। जब भारत न चीन स इन बाता की शिकायत की तो चीन न कहा कि भारत और चीन की सीमाआ का ठीक स निर्धारण नहा हुआ है। भारत सरकार का इसक उत्तर म यह कहना है कि दोना देशो क बीच की सीमा बहुत पुरान समय स निधारित है। मकमोहन रखा एक एतिहासिक सीमा है। चूंकि चीन को भारत का यह दृष्टिकोण माय नहा था और सीमा पर उसक अतिक्रमण जारी थ अत भारत को अपनी उत्तरी सीमा पर सुरक्षात्मक कदमो को उठान क लिए बाध्य होना पडा।

दिसम्बर 1959 म भारत सरकार ने सीमा पर तनाव कम करन क उद्देश्य स कुछ प्रस्ताव चीन क समुख रखे परन्तु चीन की सरकार ने उह स्वीकार नही किया। भारत इस समय इस बात पर बन दे रहा था कि सीमा विवाद को वार्ता द्वारा हन किया जाय और वार्ता की सफनता के निए चीन भारतीय सीमा स अपनी सनिक टुकडिया को हटा ल। समस्या का समाधान पाने के निए दोनो देशा की सरकारो ने सरकारी अधिकारियो का एक एक अध्ययन दन नियुक्त किया। भारतीय दृष्टिकोण क अनुसार चीन अपने दावो को न्यायोचित सिद्ध करन म असफन रहा है। इस बीच म चीन ने नेपाल और बर्मा के साथ अपने सीमा विवादो का हन करने के लिए समझौन किये तथा उसने पाकिस्तान स भी कहा कि अधिकृत काश्मीर के गिनगित प्रदेश म पाक-चीन सीमा को ठीक स निर्धारित कर लिया जाए। यह बताने की आवश्यकता नही कि भारत ने काश्मीर के किसी भी भाग पर पाकिस्तान क अधिकार को मायता नही दी है। अत चीन का यह काम निश्चय ही भारत विरोधी था। इस पृष्ठभूमि म भारत क लिए अपनी सीमा-सुरक्षा

की व्यवस्था को दृढ करना आवश्यक हो गया।

20 अक्टूबर 1962 को चीनी सेनाओ ने लद्दाख व नेफा दोनो ही क्षेत्रो मे भारतीय प्रदेश पर बडे पैमाने पर आक्रमण किया। भारत सरकार इस आक्रमण के लिए तैयार न थी। इसके अतिरिक्त भूगोल भी चीन की सहायता कर रहा था। अत युद्ध मे चीन का पलडा ही भारी रहा।

चीन के इस आक्रमण से एशिया और अफ्रीका के देशो को विशेष रूप से कष्ट पहुँचा था। अत एशिया के इन दोनो महत्त्वपूर्ण देशो के बीच पाई जाने वाली इस स्थिति का अन्त करने के लिए श्रीलका के प्रधानमन्त्री की पहल पर कोलम्बो मे बर्मा, कम्बोडिया, श्रीलका, घाना, इण्डोनेशिया तथा सयुक्त अरब गणराज्य के प्रतिनिधियो का 10 से 12 दिसम्बर तक एक सम्मेलन हुआ, जिसमे भारत-चीन सघर्ष पर विचार किया गया। 19 जनवरी 1963 को कोलम्बो प्रस्ताव प्रकाशित किये गये जिनमे निम्न बाते कही गई थी—

(1) पश्चिमी क्षेत्र मे चीनी अपनी सैनिक चौकियो को 20 किलोमीटर पीछे हटा ले और भारतीय सरकार अपनी सेना को वर्तमान स्थिति मे रखे।

(2) जब तक सीमा-विवाद का अन्तिम हल न निकले चीनी सेनाओ द्वारा खाली किये गये प्रदेश मे दोनो ओर एक-दूसरे की सहमति पर नागरिक चौकियाँ स्थापित की जाये।

(3) पूर्वी क्षेत्र मे दोनो सरकारो द्वारा मान्यता-प्राप्त यथार्थ नियन्त्रण की रेखा युद्ध-विराम रेखा के रूप मे मानी जाय।

(4) मध्य क्षेत्र के विषय मे यथास्थिति को कायम रखा जाय।

भारत सरकार ने कोलम्बो प्रस्तावो को स्वीकार कर लिया, परन्तु चीन सरकार ने ऐसा नही किया। चूँकि दोनो ही पक्ष इस सम्बन्ध मे अपनी-अपनी स्थिति को त्यागने के लिए तैयार नही थे, अत समस्या जहाँ थी वही बनी रही।

1962 के बाद भारत के समक्ष शत्रुतापूर्ण आचरण करने वाले दो पडोसियो की समस्या हमेशा से रही है। इन दोनो पडोसियो मे भारत की सुरक्षा के लिए चीन का खतरा पाकिस्तान के खतरे की अपेक्षा कही अधिक है। आखिर चीन भारत की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है, जबकि पाकिस्तान भारत की अपेक्षा एक दुर्बल राष्ट्र है। पिछले वर्षो मे भारतीय विदेश-नीति की एक प्रमुख समस्या भारत के विरुद्ध चीन और पाकिस्तान का गठ-बन्धन रही है। इस गठ-बन्धन के अनेक उदाहरण है। 1963 मे पाकिस्तान और चीन के बीच एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार पाकिस्तान ने अधिकृत काश्मीर का एक भाग चीन को दे दिया। 1965 मे भारत-पाक सघर्ष के समय चीन ने भारत को एक अल्टीमेटम दिया तथा 1971 मे चीन ने बगला देश मे पाकिस्तान की नृशस कार्यवाहियो का समर्थन किया तथा भारत-पाक युद्ध मे पाकिस्तान को अपना राजनीतिक समर्थन दिया। उसने पाकिस्तान के साथ अपने सम्बन्धो को सुदृढ बनाने के लिए सयुक्त राष्ट्र सघ मे बगला देश के प्रवेश का विरोध किया है। यथार्थ मे चीन भारत को एक शक्तिशाली पडोसी के रूप मे नही देखना चाहता।

1971 के युद्ध के पूर्व यह लगता था कि भारत और चीन के बीच शायद पारस्परिक समस्याओ के समाधान के लिए कोई बातचीत हो। परन्तु इस युद्ध के समय चीन ने जो दृष्टिकोण अपनाया उसके बाद इस आशा पर तुषारापात हुआ है। फलत जो गतिरोध 1962 मे पैदा हुआ वह आज भी पूर्ववत् कायम है।

एशिया के अन्य राज्यो के साथ भारत के सम्बन्ध

पाकिस्तान और चीन के अतिरिक्त भारत के अन्य पडोसी राज्यो मे मुख्य नेपाल, बर्मा, श्रीलका तथा अफगानिस्तान है। भारत के समीप ही दक्षिण पूर्वी एशिया का क्षेत्र है। अत स्वाभाविक रूप से इन राज्यो के साथ मैत्री-सम्बन्ध कायम रखने मे भारत की रुचि है।

पश्चिमी एशिया और सुदूर पूर्व के देशो के साथ भी भारत के अच्छे सम्बन्ध है। 1958

म भारत के राष्ट्रपति ने जापान की यात्रा की थी उस समय से एशिया के ये दोनो देश एक दूसरे के समीप आये हैं। 1969 मे प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाधी भी जापान गई थी। इस यात्रा के फलस्वरूप दोनो देशो के बीच आर्थिक सहयोग मे वृद्धि हुई है।

टर्की और ईरान को छोडकर पश्चिमी एशिया के अन्य सभी राज्यो के साथ भारत के सम्बन्ध अत्यधिक मैत्रीपूर्ण रहे है। नेहरू जी के अरब राष्ट्रवाद के सुपरिचित नेता नासिर के साथ घनिष्ठ मैत्री थी। दोनो नेताओ का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण मूलत उपनिवेशवाद विरोधी था। अत यह स्वाभाविक ही था कि उनके नेतृत्व म उनके राज्यो के बीच भी सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध हो। 1967 के अरब इजराइल सघर्ष म भी भारत की सहानुभूति अरब देशो के साथ थी। परन्तु 1969 मे रबात म जब इस्लामिक शिखर सम्मेलन हुआ तो पाकिस्तानी प्रभाव म आकर अरब देशो ने भारत को उस सम्मेलन म भाग नही लेने दिया। इससे भारत को निश्चय ही एक धक्का लगा। इसके उपरान्त 1971 के भारत पाक सघर्ष म अरब देशो ने पूर्ण रूप से चुप्पी साध ली। बगला देश म पाकिस्तान द्वारा बरते गये अत्याचारो के विरोध म भी उन्होने कुछ नही कहा। भारत के लिए अरब राज्यो का यह आचरण अप्रत्याशित था। स्वतन्त्र बगला देश की स्थापना तथा युद्ध म पाकिस्तान की पराजय के उपरान्त प्रगतिशील अरब राज्यो ने अपने इस आचरण की सफाई देने की भी कोशिश की थी। किन्तु स्पष्टत यह सफाई सन्तोषजनक नही थी।

भारत और ब्रिटेन

स्वतन्त्रता के बाद भारत और ब्रिटेन के बीच सम्बन्धो म महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप दोनो राज्यो के बीच सद्भावना और मैत्री के सम्बन्ध स्थापित हुए हैं। स्वतन्त्र होने के बाद भारत ने राष्ट्रमण्डल के साथ अपने सम्बन्धो को कायम रखा उसने ब्रिटेन के साथ अपने व्यापारिक और आर्थिक सम्बन्धो को भी पहले जैसे ही बनाये रखा। भारत स्टर्लिंग क्षेत्र का सदस्य है तथा उसकी मुद्रा ब्रिटिश पौण्ड के साथ सम्बद्ध है। अपने आर्थिक विकास की योजनाओ मे भी भारत को ब्रिटेन से पर्याप्त मात्रा म सहायता प्राप्त हुई है।

परन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नही है कि भारत ने ब्रिटेन के सभी कामो का समर्थन किया है। सच बात यह है कि आवश्यकता पडने पर भारत ने ब्रिटेन को अपनी आलोचना का शिकार बनाया है। उदाहरण के लिए 1956 म स्वेज नहर के सकट के दौरान भारत सरकार ने ब्रिटिश कार्यवाही की कटु शब्दो म आलोचना की थी। काश्मीर के प्रश्न पर ब्रिटेन ने सदैव से पाकिस्तान के पक्ष का ही समर्थन किया है इससे भी भारत और ब्रिटेन के बीच मन मुटाव पैदा हुआ है। इसी प्रकार गोआ को पुर्तगाली दासता से मुक्त कराने के लिए जब भारत ने सैनिक कार्यवाही की तो उस समय भी उसे ब्रिटेन का समर्थन प्राप्त नही हो सका। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि भारत और ब्रिटेन के बीच सामान्यत अच्छे सम्बन्ध पाये जाते है तथापि ऐसे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न हैं जिन पर दोनो राज्यो के बीच गम्भीर मतभेद पाये जाते है।

उपसहार

गत 25 वर्षों म अन्तर्राष्ट्रीय एव क्षेत्रीय वातावरण म स्वस्थ परिवर्तन हुए हैं। एशिया और अफ्रीका के अधिकाश देश अपनी अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त कर चुके हैं। आज समाजवादी विश्व पहले की अपेक्षा कही अधिक शक्तिशाली है तथा आज पश्चिम के देश उस स्थिति म नहीं है जिससे वे ससार की शान्ति को कोई खतरा पहुँचा सके। आज के ससार के सम्मुख जो सबसे बडी समस्या है वह सम्पन्न और विपन्न राष्ट्रो के बीच की खाई को पाटने की है। आज विश्व के छोटे और गरीब राष्ट्र भी अपनी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता की रक्षा के प्रति बहुत अधिक सजग हैं अत बडे राष्ट्र उन्हे डरा धमका कर उनसे जो चाहे वह नही करा सकते। पिछले वर्षों म शक्ति के नये केन्द्रो का उदय हुआ है फलत विश्व राजनीति के ढाँचे म अपेक्षित परिवर्तनो के अभ्युदय की प्रक्रिया

आरम्भ हो गई है।

अन्तर्राष्ट्रीय वातवरण मे हुए इन परिवर्तनो के साथ दक्षिण एशिया के क्षेत्र मे भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए है। पाकिस्तान का उसके स्वय के अपने बोझ से पतन हो चुका है प्रभुसत्ता-सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य के रूप मे वगला देश के अभ्युदय से भारतीय उप-महाद्वीप की राज्य-प्रणाली मे एक मौलिक अन्तर आया है। आज भारत इस क्षेत्र के दूसरे बडे राज्य के साथ मैत्री सम्बन्धो के बारे मे आश्वस्त है।

1971 के युद्ध ने दक्षिण एशिया मे उस कृत्रिम शक्ति-सन्तुलन का भी अन्त कर दिया है जिसे पहले तो पश्चिमी देशो ने, विशेषत अमरीका ने स्थापित किया था। वाद मे उसकी स्थापना मे चीन से भी सहयोग किया था। अव उस प्रकार के शक्ति-सन्तुलन के लिए कोई गुजाइश नही है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आज भारत अधिक सुरक्षित वातावरण मे रह रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक प्रणाली मे पिछले वर्षो मे परिवर्तन हुए है उनको जन्म देने मे भारत की निस्सन्देह भूमिका रही है। जिस प्रक्रिया के द्वारा भारत को स्वाधीनता प्राप्त हुई उसने उपनिवेशवाद के उन्मूलन की प्रक्रिया को तेज करने मे एक वडा योगदान दिया। उसकी गुट-निरपेक्षता की नीति विश्व के नये राष्ट्रो को आकर्षक प्रतीत हुई। इसके फलस्वरूप पश्चिमी शक्तियो के तत्त्वावधान मे वह साम्राज्यवादी व्यवस्था विकसित नही हो सकी जो द्वितीय महायुद्ध के पहले पायी जाती थी। उसने विश्व शान्ति उस समय कायम रखने मे सहायता दी जबकि विश्व युद्ध को आरम्भ करने की क्षमता केवल महाशक्तियो तक ही सीमित थी। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसने समाजवादी देशो के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये। यह बात नि सन्देह है कि यह मैत्री विश्व राजनीति मे भारत की प्रतिष्ठा को बढाने मे सहायक सिद्ध हुई है।

अन्त मे, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग पर बल देकर तथा अन्तर्राष्ट्रीय सगठन एव अभिकरणो मे भाग लेने की आवश्यकता को स्वीकार करके भारत ने विश्व शान्ति की सम्भावनाओ को मजबूत बनाया है। यद्यपि भारत की विदेश नीति शान्ति को अपना लक्ष्य मानकर चलती है तथापि पिछले वर्षों मे उसे अनेक वार युद्ध लडने के लिए बाध्य होना पडा है। यदि गोआ पर पुर्तगाली शासन न होता, यदि पाकिस्तान एक ऊल-जलूल राज्य न होता, यदि चीन भारत का पडोसी राज्य न होकर वहाँ स्थित होता जहाँ ब्राजिल है, तो सम्भवत भारत उन युद्धो से बच जाता जो उसे पिछले वर्षों मे लडने पडे है। भारत को पाकिस्तान के विघटन के लिए उत्तरदायी नही कहा जा सकता। यथार्थ मे पाकिस्तान का विघटन तो स्वय पाकिस्तान के जन्म मे ही सन्निहित था। भारतीय विदेश नीति चीन विरोधी भी नही है। वस्तुत पिछले वर्षों मे चीन ने ही भारत विरोधी दृष्टिकोण को अपनाया है।

निष्कर्ष के रूप मे यह कहा जा सकता है कि विदेश नीति के क्षेत्र मे पिछले वर्षों मे भारत की जो उपलब्धियाँ रही है उनके ऊपर भारतवासियो को गर्व करने का उचित अधिकार है। आज का अन्तर्राष्ट्रीय समाज 1946 के अन्तर्राष्ट्रीय समाज की अपेक्षा अधिक न्यायपूर्ण है और जैसा कहा चुका है इस स्थिति को लाने मे भारत की भूमिका निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण रही है।

प्रश्न

1. भारत की विदेश नीति के मूल तत्वो की विवेचना कीजिए।
2. क्या 'तटस्यता' और 'गुट निरपेक्षता' एक ही बात को कहने के दो ढग है ? भारत की विदेश नीति के सदर्भ मे समझाइये।